पुष्प नं० १

शान्ति पथ प्रदर्शन

लेखक

क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी

प्रकाशक

रूप चन्द गार्गीय जैन

व्यवस्थापक

विश्व जैन मिशन

पानीपत (केन्द्र)

श्री वीर निर्वाण सं० २४८९ ईस्वी सन १९६३ विक्रम सं० २०२०

द्वितीय संस्करण २००० शुल्क ७) रुपये

प्रकाशक
विश्व जैन मिशन
जैन स्ट्रीट—पानीपत (केन्द्र)

व्यवस्थापक
रूपचन्द गार्गीय जैन
पानीपत

Self reliance, self knowledge and self control form the path to success.

I am the Way, the Truth and the Life.

Composed By :
Modern Composing and Printing Agency
Near Jagat Cinema
DELHI—6.

Printed By:
Rising Sun Press
Chitla Gate, Chawri Bazar
DELHI—6.

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः
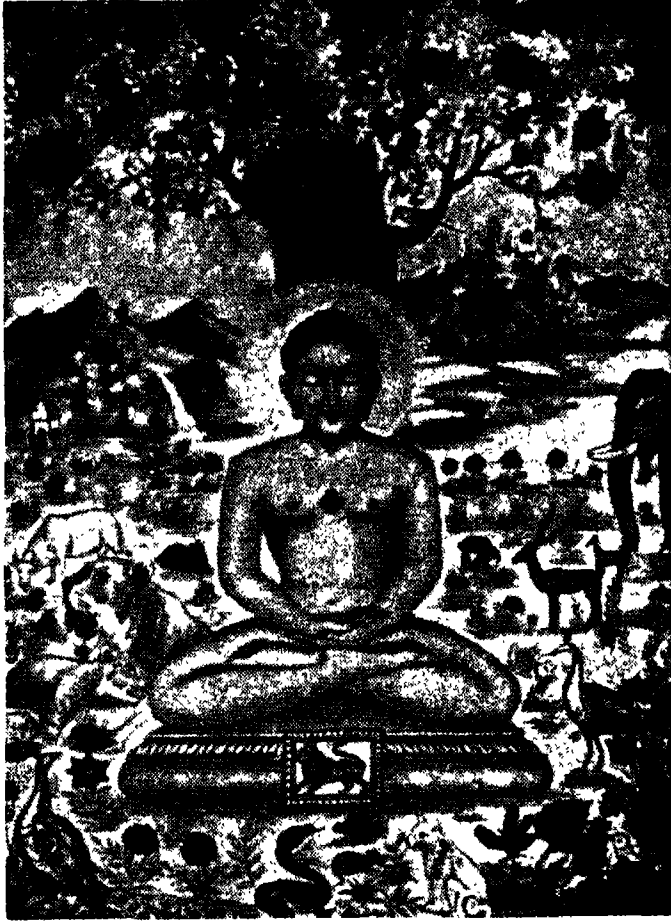
इस युग के अन्तिम तीर्थंकर

भगवान महावीर

जिनका शासन इस समय चल रहा है।

जन्म—सन ईसवी से ५९९ वर्ष पूर्व-चैत्र शु० त्रयोदशी वि० स०
से ५४२ वर्ष पूर्व।

निर्वाण—सन ईसवी से ५२७ वर्ष पूर्व-कार्तिक कृ० १५ वि० स०
से ४७० वर्ष पूर्व।

कुमार काल—३० वर्ष। **आत्म साधना**—१० वर्ष।

अरिहंत अवस्था में दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मामृत वर्षा—३२ वर्ष।

मुखबन्ध

(भारत के सुप्रसिद्ध चिन्तक व हिन्दी साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार देहली)

सब प्राणियों में मनुष्य की यह विशेषता है कि वह जीना ही नहीं चाहता, जानना भी चाहता है। असल में रहने और जीने में यही अन्तर है। रहते हम विवशता से हैं। विचार-विवेक के साथ रहने का आरम्भ होता है कि तभी जीवन का सच्चा अर्थ भी आरम्भ होता है स्वतन्त्रता का प्रारम्भ भी यही है। अर्थात विचार-विवेक स्वाधीन जीवन के अविभाज्य अंग हैं। विचारहीनता से मनुष्य मनुष्यता से पशुता में आ गिरता है।

किन्तु विचार की मर्यादा है। वह द्वैत को जन्म देता है, उसे लांघ नहीं सकता। जीवन के सम्बन्ध में भी उठ कर धारा के मध्य से विचार इस या उस तट की ओर बढ़ने को बाध्य है। नदी में पानी हो तो दो तट हो ही जाते हैं; वैसे ही विचार में यदि सत्य हो तो तट दो बन ही जाने वाले हैं। जड़-चेतन, कर्म-धर्म, भौतिक-आध्यात्मिक वे ही तट हैं।

धर्म और कर्म के बीच सदा तनाव रहा है। धर्म यहां तक गया कि पाप को कर्म की संज्ञा दे दी है और मुक्ति में उस कर्म को ही बाधा और बन्धन बताया गया है। उसी तरह कर्मवादियों ने धर्म को वहम कहा है और उन्नति में उसे ही बाधा और बन्धन के रूप में बिललाया है। अध्यात्मवाद और भौतिक वाद इसी तरह परस्पर विलग और विमुख बने रहे हैं। धर्म और अध्यात्म के वाद ने निवृत्ति पर और अकर्म पर बल दिया है। उसके विरोध में प्रवृत्ति और पदार्थ की उन्नति ने सदा कर्म के आरम्भ-समारम्भ पर ज़ोर डाला है। इस विवाद में से अधिकांश विघटन और वितण्डा ही फलित हुए हैं; जिज्ञासुता नहीं बढ़ी है, न किसी आत्मोत्कर्ष की अनुभूति हो पाई है।

आज की मनःस्थिति यह है कि प्रचलित और अनिवार्य इन दोनों तटों को परस्पर की विमुखता से अधिक सम्मुखता में देखा जाए और समन्वय पूर्वक जीवन को दोनों से मुक्त अथवा युक्त बनाने का यत्न किया जाए। जीवन अपनी स्थिति और गति के लिए दोनों तटों का निर्वाह करता और दोनों को ही स्पर्श करता हुआ प्रवाहित रहता है।

मुझे प्रसन्नता है कि ब्रह्मचारी श्री जिनेन्द्रकुमार का यह ग्रन्थ 'शान्ति पथ प्रदर्शन' जीवन को धर्म-तत्व के नाम पर किसी ऐकान्तिक व्याख्या की ओर नहीं खींचता है। अपितु उस तत्व का जीवन के साथ मेल साधने में योग देता है। अपने अमुक मन्तव्य को, आवश्यकतासे अधिक उस पर बल डाल कर, मतवादी और साम्प्रदायिक भी बना दिया जा सकता है। उससे असहिष्णुता और जड़ता पैदा होती है एवं आत्म-चैतन्य पर क्षति आती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में वह दोष नहीं है। आधार उसकी रचना में जैन-शब्दावलि का लिया गया है और तत्व निरूपण में भी जैन तत्ववाद की भूमिका है। किन्तु पारिभाषिक भाषा का जीवनानुभव से मेल बिठा कर, रचनाकार ने ग्रंथ को पन्थगत से अधिक जीवनगत बना दिया है। इन गुणों से यह ग्रन्थ यदि जैनों के लिए विशेष, तो सामान्यतया हरेक के लिए उपादेय बन गया है।

मानों ग्रन्थकार ने अपनी ओर से ही साम्प्रदायिक अभिनिवेशों का ध्यान रखा है और उन्हें उद्दीपन देने से बचाया है। शब्द की इयत्ता से अधिक सूचकता की ओर उनका संकेत रहा है। इस प्रकार अन्यान्य मतवादों के साथ जैनमत के संगम को यह ग्रन्थ सुगम कर देता है। आत्म, पुद्गल जैन विचार में दो ही हैं। आत्म शुद्ध परमात्म है, और कर्म शुद्ध पुद्गल है। इस तरह परश्वमे जैन विचार में क्रम से नितान्त उत्तीर्ण और मुक्त है। किन्तु ब्रह्मवादी के परब्रह्म और 'एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति' को भी ग्रन्थकार ने परमानन्द के भाव के साथ अपना लिया और अपनी भाषा में समा लिया है। सर्व धर्मसमभाव की यही भूमिका है।

आज के दिन अहिंसा का प्रश्न भी तरह तरह से लोगों को विकल कर रहा मालूम होता है। राष्ट्र-संघर्ष की अवस्था में आसानी से हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को उलझा और सुलझा लिया जा सकता है। इस जगह पर धर्म-विचार की दृष्टि से बड़ी सावधानता की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि हिंसा से परिपूर्ण मुक्ति संदेहावस्था में अकल्पनीय है। इसी से अहिंसा परम धर्म मानना होता है और हिंसा की अपरिहार्यता को लेकर उस सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत ग्रन्थ में उस सावधानता के लक्षण दिखाई देते हैं।

सत्य का तत्व उससे भी जटिल है और नाना प्रश्नों को जन्म देता है। उस सम्बन्ध में ग्रन्थकार का यह वचन मार्मिक है कि "स्वपरहित का अभिप्राय रखकर कीजानेवाली क्रिया सत्य है"। दूसरे शब्दों में सत्य क्रियमाण है, स्थिर ज्ञानस्थ वह नहीं है। यह भी उसमें गर्भित है कि वह क्रियात्मक से अधिक अभिप्रायात्मक या भावात्मक है। अतः मूलतः वह सत्य स्वपर हित मूलक हो जाता है। इस पद्धति से सत्य को अमुक मत, मंतव्य से हटाकर स्वपरहित के अभिप्राय से जोड़ देना मैं परम हितकारी मानता हूँ। धर्म को यदि तत्ववाद की चट्टान से टकरा कर टूटना नहीं है, बल्कि जीवन को प्रशस्त और उज्ज्वल बनाने में लगना है तो उसके अभिप्राय और क्रिया के शोधन का दायित्व वक्ता और व्याख्याता पर आता है और श्री जिनेन्द्र इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रबुद्ध रहे हैं।

कुल मिला कर इस ग्रन्थ और इसके ग्रन्थकार का मैं अभिनन्दन करता हूँ। जैनों में साम्प्रदायिक मतवाद एवं तत्ववाद का साहित्य तो मिलता रहा है। उस सब का जीवन क्रम के साथ मेल बिठा कर प्रकटाने वाला साहित्य अधिक देखने में नहीं आता। इस ग्रन्थ की गणना उसमें की जा सकती है और मुझ जैसे एक जैन के लिये यह परम हर्ष का विषय है।

२५-१-६३ जैनेन्द्र कुमार

ओ३म्

प्रथम संस्करण का प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ अध्यात्म विज्ञान से ओत प्रोत है। अध्यात्म विज्ञान अत्यन्त परिष्कृत और कोमल रुचि वाले व्यक्तियों के लिये है। इस विज्ञान के छात्र का मन इतना कोमल होता है कि स्व अथवा पर के तनिक से भी दुख को देखकर उसे निवारण करने के लिए छटपटाने लगता है। उसे केवल शांति की आकांक्षा होती है। लौकिक सुख भोग वस्तुत: स्थूल रुचि वाले व्यक्तियों को लुभा सकते हैं, कोमल रुचि वालों को नहीं। लौकिक सुख भोगों के साथ अनिवार्य रूप से लगा रहने वाला तृष्णा जनक दुःख जब किसी ऐसे सूक्ष्म रुचि वाले व्यक्ति को संसार से उदासीन बना देता है, तब ही वह व्यक्ति अध्यात्म विज्ञान के रहस्य को समझ पाता है, और यह विज्ञान उसी व्यक्ति के लिये कार्यकारी भी हो सकता है। शेष व्यक्तियों में तो इसका पठन-पाठन, मात्र भोग है, योग नहीं—

"भुक्तये न तु मुक्तये"

किन्तु ऐसे व्यक्ति मन में कोमल होने पर भी अत्यन्त दृढ़ संकल्प शक्ति के होते हैं। जिन विपत्तियों के ध्यान मात्र से हम लौकिक व्यक्तियों का मन कांपने लगता है, उन्हीं विपत्तियों का सामना वह एक शीतल मधुर मुस्कान के साथ किया करते हैं। उनका नारा होता है "करेंगे या मरेंगे',

"कार्यं वा साधयेयम् देह वा पातयेयम्।"

यह मार्ग कोमल-हृदय, परन्तु वीर-पुरुषों का है।

अध्यात्म विज्ञान जीवन विज्ञान है। इसमें जीवन की कला निहित है। जीवन का सौम्य विकास इसका प्रयोजन है। जिस प्रकार लौकिक जीवन अर्थात् रहन सहन का स्तर ऊंचा उठाने के लिये अर्थ शास्त्र, भौतिक शास्त्र अथवा रसायन शास्त्र पढ़ा जाता है, उसी प्रकार अध्यात्मिक जीवन को ऊंचा उठाने के लिये अध्यात्म विज्ञान पढ़ा जाना चाहिए। इस विज्ञान की प्रयोगशाला जीवन है। मन, शरीर और वाणी इस विज्ञान की प्रयोगशाला के यन्त्र हैं। यह विज्ञान जीवन को मृत्यु से अमरत्व, अन्धकार से ज्योति और असत् से सत् की ओर ले जाता है। भारत के बालक बालक को इस विज्ञान के मूल सिद्धान्त पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं। वे सिद्धान्त हैं-दया, दान और दमन।

भौतिक विज्ञान ने हमें जो कुछ दिया उसका निषेध या अनुमोदन करना यहां अभिप्रेत नहीं, परन्तु यह आवश्यक है कि हम उसकी सीमायें समझें। जीवन के उपकरणों-धन, ऐश्वर्य और शरीर का जीवन से तादात्म्य सम्बन्ध मानना समस्त अनर्थ का मूल है। इनमें साधन-साध्य सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। विज्ञान ने हमें नये नये मनोरंजन और यातायात के साधन दिये, तदर्थ विज्ञान का स्वागत है-किन्तु विज्ञान की चकाचौंध में पड़ कर अपने को भूल जाने का कोई अधिकार हमें नहीं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक बीसवीं शती के एक साधक वैज्ञानिक हैं। भारत में अध्यात्म विज्ञान जानने वाले पहले बहुत से साधक हुए, परन्तु उनकी परिभाषावली और लेखनशैली हम बीसवीं शती के लोगों के लिये न उतनी सुगम है और न उतनी आकर्षक। वर्तमान समय में अध्यात्म विज्ञान के प्रति अरुचि का यह भी एक कारण है। प्रस्तुत ग्रन्थ निश्चय ही इस अभाव की पूर्ति करेगा।

रामजस कॉलिज — दयानन्द भार्गव

२५-११-६० — एम० ए०

दो शब्द

घर पर सर्व सुविधायें उपलब्ध होते हुए भी जीवन शान्ति के लिये व्याकुल था । न जाने
किस प्रकार अन्धकारमें चलते २ मैं सहसा ही गुरुवरके द्वारपर पहुँच गया, जहां आकर
मानों मैं आज ही कृतकृत्य हो गया हूँ, ऐसा प्रतीत हो रहा है । मैं एक तुच्छ कीट
उन गुरुओं का आभार प्रदर्शन करने को शब्द कहां से लाऊं । उनके द्वारा प्रदत्त
रहस्य के प्रकाशनार्थ यह जो भाषा निकल रही है, वह भी मेरे हृदय में स्थित
उन ही से चली आ रही है । मैं तो उस अमृत का एक तृषातुर मृग मात्र
हूँ । प्रस्तुत ग्रन्थ की कर्ता तो वह वाणी ही है । मैं तो उसका एक तुच्छ
दास हूँ । इसका लिपि बद्ध करके गुरुदेव के चरणों में अर्पण करते
हुए आज मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है । रहस्य तो गुरुओं का होने
के कारण ठीक ही है, पर इस के सम्पादन में इस तुच्छ बुद्धि
की छद्मस्थता के कारण कहीं भी कोई त्रुटि रह गई हो
तो इस बालक को क्षमा कर देना और विज्ञ जन उसको
सुधार कर पढ़ लेना । इस दूसरे संस्करण के संशोधन
में पंडित बंशीधर जी व ब्रह्मचारी सुरेन्द्रा नाथ
ईसरी वालों ने जो सहयोग दिया उसके लिये
मैं उनका आभारी हूँ । आधुनिक युग में
वैज्ञानिक व सरल भाषा के द्वारा वाणी
का प्रसार करना मेरा और आप
सब का कर्तव्य है आओ हम
सब मिल कर प्रेम-पूर्वक
卐 उसे पूरा करें । 卐
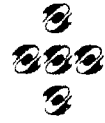
ॐ शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

शान्ति-निकेतन ईसरी
कार्तिक शु० २ श्री वीर सं० २४८९

शान्ति पथ प्रदर्शन के प्रवचन-कर्ता पानीपत पंच कल्याणक के पुण्य अवसर पर बैशाख शु० ३ वि० सं० २०१८ को प्रवचन करते हुए

ब्र० जिनेन्द्र कुमार

जन्म— (पानीपत) ज्येष्ठ कृ० ३ वि० स० १९७९
गृह त्याग—व्रत ग्रहण वि० सं० २०१४
क्षुल्लक दीक्षा—भाद्रपद शु० ३ वि० स० २०१९

ओ३म्

एक सम्मति

(पंडित दयानन्द भार्गव एम० ए० संस्कृत विभागाध्यक्ष रामजस कॉलिज दिल्ली)

मिट्टी की बहुत महिमा है। प्रत्यक्षतः मिट्टी से ही हमारा जन्म होता है, मिट्टी में हमारी स्थिति है तथा मिट्टी में ही हम अन्ततः विलीन हो जाते हैं। ऐसा आभास होता है मानों मिट्टी ही हम सबकी परम प्रतिष्ठा है। परन्तु परमार्थतः मिट्टी स्वाश्रित नहीं, जलाश्रित है। न जल ही स्वाश्रित है; जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर तथा वायु आकाश पर प्रतिष्ठित हैं। तो क्या आकाश ही परम प्रतिष्ठा है ? क्या सब प्राणी अन्ततः आकाश में विलय हो जाते हैं ! आभासतः ऐसा ही प्रतीत होता है, परन्तु परमार्थतः आकाश स्वप्रतिष्ठ नहीं है वह भी ज्ञानालोक पर प्रतिष्ठित है। इस ज्ञानालोक से ही लोकालोक आलोकित हैं। इस ज्ञानालोक को ही हम सब "मैं" की संज्ञा देते हैं। यह "मैं" अथवा आत्मतत्व स्वयंप्रकाश है, स्वप्रतिष्ठ है।

मेरे मानस में अहर्निश प्रवर्तमान संकल्प-विकल्प सब इसी आत्मप्रकाश के रूपान्तर हैं। संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थान्तर सब इसी आत्मा के निमित्त ही तो मुझे प्रिय हैं।

कितना शान्त एवं सौम्य है मेरा यह चिद्रूप ? तनिक अपने मानस में झाँक कर देखूं। अहो ! कैसा अनोखा संसार बस रहा है मेरे अन्तर में ? मेरे मानस के मांसल[1] कूल[2] को विचारों की लहर पर लहर चाटे जा रही है। यह राग, यह द्वेष, यह क्रोध, यह करुणा यह शत्रुता, यह मैत्री, यह उत्साह-अद्भुत भावों के सतरंगी इन्द्रधनुष मेरे मानसाम्बर में निकले रहते हैं। विचार-वीचि[3] पर विचार-वीचि चली आ रही है। क्या एक क्षण के लिये इनकी गति को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता ? क्या मैं इन विचार-वीचियों का प्रवर्तक ही हूँ, नियन्ता नहीं हूँ ? अहो ! मानव की असहायता !! इष्टानिष्ट, हिताहित एवं प्रियाप्रिय-जैसे भी विचार उसे जिस ओर भी धकेलते हैं वह बेबस उसी ओर चाहे-अनचाहे चल देता है।

विचार-वीचि आती है और लौट जाती है, परन्तु वह न खाली आती है और न खाली लौटती है। वह अपने साथ कुछ नवीन रजकण लेकर आती है और कुछ पुराने रजकण बहा लेजाती है। व्यष्टि-रूप में रजकण बदलते रहते हैं, परन्तु समष्टि-रूप में रजकणों की वह परत सदा बनी रहती है। क्या इन रजकणों की मोटी तह के नीचे दबा हुआ आपके मानस का कोमल धरातल कभी इनके भार से छटपटाया है ?

ये रजकण नवीन विचार-विचियों के लिये चुम्बक का काम करते हैं। इन रजकणों की चिर-पिपासा को मानों विचार–वीचियाँ ही शान्त कर सकती हैं। तथा वे विचार-वीचियाँ इनके निमन्त्रण पर आपके सब नियन्त्रणों को विफल बनाकर उछलती-कूदती नित्य नूतन रजकणों सहित आपके मानस में उतर जाती हैं। जिन रजकणों को ये वीचियाँ मानस के धरातल पर छोड़ जाती हैं वे रजकण पुनः नूतन वीचियों को बुला लेते हैं। और यह क्रम सदा चलता रहता है।

---

१. सुदृढ़, २. किनारा, ३. धीमी तरंग (ripple)

मेरे अन्तर्मन का यह इतिहास कितना रोचक है ? परन्तु इस इतिहास के उर में छिपी हुई एक कसक है, एक टीस है। विचार-वीचियों के निरन्तर नर्तन ने मेरे मन में एक दुःखद ममता, एक रागात्मक भावना, उत्पन्न कर दी है। वह ममता-धन, पुत्र, कीर्ति और न जाने अन्य किन किन पदार्थों में व्याप्त हो गयी है। साँस उखड़ा हुआ है, होश गुम हैं, किन्तु फिर भी यह ममता-माया मुझे बेबस दौड़ा रही है। लक्ष्य अज्ञात है, केवल गतानुगतिक-न्याय से दौड़ रहा हूँ। इस दौड़ में जो रुके, वह पागल है; जो आपसे रुकने को कहे, वह मूर्ख है; जो दौड़ से पृथक हो कर एक किनारे पर खड़ा हो कर शान्त-भाव से दौड़ को केवल देख रहा है, वह निठल्ला है; इनकी ओर ध्यान दिये बिना केवल दौड़ते रहो। स्वेद आये, तो पोंछ लो; अश्रु आयें, तो रोक लो; ठोकर लगे, रक्त बहे, तो पट्टी बाँध लो; परन्तु बिना यह पूछे कि जाना कहाँ है बस केवल दौड़ते रहो।

इस दौड़ को देख कर हँसना भी आता है और रोना भी। यूं तो इस दौड़ में बहुत रस है, आकर्षण है। किन्तु क्या आपके जीवन में ऐसे क्षण भी आये हैं जब यह आभास हुआ हो कि यह दौड़ निरर्थक है, निरी मूर्खता है, कोरी मृगतृष्णा है। इस दौड़ में ठोकर खाने पर या किसी अन्य दौड़ने वाले से टकरा जाने पर क्या झनझना कर आपके मन ने कभी यह भी कहा है कि इस दौड़ से दूर हट जायें तो अच्छा है ?

किन्तु इस दौड़ से दूर हटना क्या सरल है ? कुछ समय के लिये बाह्य दौड़धूप से बलात् निग्रह कर भी लिया जाये तो भी आन्तरिक द्वन्द तो रुकता नहीं। यह भी स्पष्ट ही है कि वास्तविक समस्या तो यह आन्तरिक द्वन्द ही है, बाह्य दौड़ धूप तो उस आन्तरिक द्वन्द की प्रतीक मात्र है। इस आन्तरिक द्वन्द को नियन्त्रित करना संसार का कठिनतम तथा कठोरतम-साधन-साध्य कार्य है।

इन कठोर साधनों की सिद्धि के लिये ऐसा सुदृढ़ साधक अपेक्षित है, जो राग-द्वेष के ज्वार-भाटों में शिला के समान अडिग रहे, तनिक भी विचलित न हो। और इस सबके विनिमय म उसे क्या प्राप्त होता है ? कुछ नहीं और सब कुछ। इस दौड़-धूप का अवसान हो जाता है। रज क्षीण हो जाता है तथा उस एकात्मरस, चिदानन्द, आनन्दघनैकरस, शुद्ध, बुद्ध निजस्वरूप की उपलब्धि हो जाती है जिसे प्राप्त करके प्राणी कृतकृत्य हो जाता है। उस अवाङ्मनसगोचर प्रपञ्चोपशम[1] अद्वैत दशा का शेष[2] भी अशेषतः वर्णनकरने में अशक्त है, अस्मदादि अकिञ्चन प्राकृत[3] जनों की तो कथा ही क्या है ?

कदाचित् यह दौड़ एकान्ततः समाप्त न भी हो तो साधक की दौड़ में नियमितता आ जाती है वह दौड़ते हुए भी विवेक नहीं खो बैठता। दौड़ते हुए भी वह यथासम्भव न किसी को ठोकर मारता है; एवं फलस्वरूप, न किसी की ठोकर खाता है। वह दौड़ते हुए भी नहीं दौड़ता। उसकी दौड़ का भी अन्त निकटवर्ती हो समझना चाहिये।

वाष्कलि मुनि ने बाध्व से आत्मा का स्वरूप पूछा। बाध्व ने कहा, "ब्रह्म का स्वरूप सुनो।" यह कह कर बाध्व मौन हो गये। वाष्कलि ने कहा, "भगवन् ! आप मौन क्यों हैं ? आत्मा का स्वरूप बतलाईये न ?" बाध्व फिर भी मौन रहे। वाष्कलि ने कहा, "भगवन् ! आप ब्रह्म का

---

१. संकल्प विकल्प रहित, २. शेष नाग, ३. लौकिक।

स्वरूप क्यों नहीं बतलाते ?" बाध्व बोले, "मैं तो ब्रह्म का स्वरूप बतला रहा हूँ, किन्तु तू नहीं समझता। यह आत्मा उपशान्त है।"

ऐसी शब्दातीत उपशान्त आत्मा का वर्णन इस शान्ति-पथ-प्रदर्शन में है। पन्द्रह पूर्ववर्ष स्टेशनों पर पीने के पानी पर 'हिन्दु पानी' और 'मुस्लिम पानी' लिखा रहा करता था। अब केवल 'पीने का पानी' लिखा रहता है। सौभाग्य से अब हम यह समझने लगे हैं कि पानी हिन्दु या मुस्लिम नहीं होता, वह 'पीने के लिये' होता है। क्या कभी मानव जाति यह भी समझेगी कि धर्म हिन्दु या मुस्लिम, जैन या बौद्ध अथवा ईसाई और यहूदी नहीं होता, वह तो वस्तु के स्वभाव का नाम है ? यदि कभी ऐसे सहज मानव-धर्म की नींव पड़ेगी, तो प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न उस नींव में सुदृढ़ पाषाण का स्थान ग्रहण करेगा,— ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे पुस्तक के प्रणेता के मुखारविन्द से इन प्रवचनों के अमृत-पान का सौभाग्य मिला है। लेखक के क्षुल्लक-दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर एक पत्र में, इन प्रवचनों की जो प्रतिक्रिया मुझ पर हुई—वह मैंने श्लोक-बद्ध करके लेखक की सेवा में प्रेषित की थी। उसी पत्र के अन्तिम अंश के कतिपय श्लोक उद्धृत करते हुए मैं अपनी लेखनी को विश्राम देता हूँ। पंडित रूपचन्द जी गार्गीय के आग्रह पर मूल संस्कृत का पञ्चचामर-छन्द में हिन्दी-पद्यानुवाद भी दे रहा हूँ। श्लोक संख्या में आठ हैं तथा प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण में "सोऽहम्" महावाक्य आता है; अतः चाहें तो इसे "सोऽहमष्टक" भी कह सकते हैं :—

सोऽहम्-अष्टक

अपापविद्धो य इति प्रसिद्धः, स्वयं स्वकीयैर्नियमैर्निबद्धः ।
सिद्धः प्रबुद्धः सततं विशुद्धः, सोऽहं न पापे करवाणि बुद्धिम् ॥१॥

ज्ञानानि सर्वाणि यदाश्रितानि, ज्ञाने च यस्यासफलानि खानि ।
सर्वाणि शास्त्राणि च यत्पराणि, सोऽहं न पापे करवाणि वाणीम् ॥२॥

अध्यात्मशास्त्राणि चिदात्मकं यं, सुखात्मरूपं परमात्मसंज्ञम् ।
देहाद्विभिन्नं शिवमाहुरेनं, सोऽहं न पापे करवाणि देहम् ॥३॥

जन्मादिहेतुः जगतः परन्तु, संसारपाथोनिधिपारसेतुः ।
विमोक्षदेवालयतुङ्गकेतुः, सोऽहं परब्रह्म निरञ्जनोऽस्मि ॥४॥

'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू' 'रणोरणीयान्महतो महीयान्' ।
भान्तं यमेवानुविभाति सर्वं, स ज्योतिषां ज्योतिरहं विधूमः ॥५॥

यथा स्वपुत्रं परिचुम्ब्य माता, न वेत्ति किञ्चिद्धि सुखातिरिक्तम् ।
नान्तर्विपश्यन्न बहिर्न चोभौ, सोऽहं तथानन्दसमुद्रलीनः ॥६॥

आनन्दचैतन्यविलासरूपं, क्रियाकलापादिकसाक्षिणं यम् ।
जानामि नित्यं हृदये विभान्तं, सोऽहं स्वयं ज्ञानघनप्रकाशः ॥७॥

येन स्वयं सा निरमायि माया, तया चलीलामनुसृत्य बद्धः ।
वेदोऽपि जानाति न यस्य भेदं, मायापतिः सोऽहमचिन्त्यरूपः ॥८॥

(पञ्च चामर छन्द)

अपापविद्ध[1], जो प्रसिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध है,
स्वयं स्वकीयपाश से निबद्ध भी स्वतन्त्र है।
प्रसिद्ध शास्त्र में सुखात्मरूप, ज्ञान की प्रभा,
विदेह-रूप कौन है ? अहो, यही स्वयम् 'अहम्'[2]॥

अशेष-वेद-शास्त्र नित्य कीर्त्ति को बखानते
न इन्द्रियादि-गम्य जो समस्त-ज्ञान-मूल है।
गिरा-शरीर-बुद्धि की मलीनता विहीन है,
समस्त-शास्त्र-सार-भूत है यही स्वयम् 'अहम्' ॥

प्रपञ्च-हेतु भी यही, प्रपञ्च-सेतु भी यही,
विमोक्ष-देव-मन्दिरोच्च-भव्य-केतु[3] भी यही ।
यही महान से महान, सूक्ष्म सेऽतिसूक्ष्म है,
कवीन्द्र, प्राज्ञ,[4] सर्वभू, विधूम-ज्योति[5] है यही ॥

यथा स्वकीय-पुत्र का विशाल भाल चूमती,
न जन्मदा[6] स्व-देह को, न अन्य वस्तु जानती ।
तथा प्रमोद के पयोधि की तरङ्ग में रंगा—
हुआ 'अहं' न बाह्य को न अन्त को विलोकता ॥

निजात्म-जन्म-हेतु, ये समस्त लोक की प्रभा,
घन-प्रकाश-रूप, चित्स्वरूप, रूप के बिना ।
क्रिया-कलाप--साक्षि-भूत, चिद्विलास-रूपिणी,
प्रमोद की परा स्थली, अहो, यही स्वयम् 'अहम्' ॥

न वेद भी अभेद्य भेद जानता परेश[7] का,
कभी यहाँ, कभी वहाँ, कभी कहीं, कभी कहीं-
बना स्वयं विशाल एक जाल खेल खेलता,
परन्तु जो कि वस्तुतः विमुक्त है, स्वतन्त्र है ॥

इतिशम्

दयानन्द भार्गव

---

१. पाप रहित २. "मै", ३. ध्वजा, ४. मनीषि, ५. धूएं से रहित आलोक, ६. माता, ७. परमात्मा

चारित्र-चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर महाराज

शान्ति के दूत—शान्ति के आदर्श—चारित्र चक्रवर्ती बालब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ गुरुवर

आचार्य श्री शान्ति सागर जी

जन्म आषाढ़ कृ० ६ वि० सं० १९२९

४१ वर्ष की आयु में क्षुल्लक दीक्षा

४५ वर्ष की आयु में निर्ग्रंथ मुनि दीक्षा

५२ वर्ष की अवस्था में आचार्यपद ग्रहण

८४ वर्ष की अवस्था में महा प्रस्थान

मिति भाद्रपद द्वि० शु० २ वि० सं० २०१२

शान्ति सन्देश

* जब आत्मा अपने स्वरूप
* में स्थित होकर शान्त रहता
* है तब कर्म घबड़ा कर
* भागते है। आत्म-चिन्तन
* द्वारा सम्यग्दर्शन होता है।

प्रकाशकीय वक्तव्य

स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः, शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम् ।
भूयाद्भव-क्लेश-भयोपशान्त्यै, शान्तिर्जिनो मे भगवान शरण्यः ।।

स्वामी समन्तभद्र आचार्य

जिन्होंने अपने दोषों की-अज्ञान तथा रागद्वेष-कामक्रोधादि विकारों की-शान्ति करके (पूर्ण निवृत्ति करके) आत्मा में शान्ति स्थापित की है (पूर्ण सुख स्वरूप स्वाभाविक स्थिति प्राप्त की है) और जो शरणागतों के लिए शान्ति के विधाता हैं वे शान्ति जिन मेरे शरणभूत हैं।

सर्व साधारण मनुष्य समाज के हितार्थ 'शान्ति पथ प्रदर्शन' ग्रन्थ प्रकाशन करते हुए मुझे बड़ा हर्ष व उल्लास हो रहा है, क्योंकि यह मेरी उन भावनाओं का फल है जो मेरे हृदय में उस समय उठी थीं जब कि मैंने यह सुना कि ब्र० जिनेन्द्र कुमार के अपूर्व प्रवचनों के द्वारा मुज़फ्फ़र नगर की मुमुक्षु समाज में अध्यात्म पिपासा जागृत हुई और उसके प्रति एक अद्वितीय बहुमान भी। तब मैंने सोचा कि यह प्रवचन तो बहुत थोड़े व्यक्तियों को सुनने को मिल सकेंगे और हमारे देश का एक बहुत बड़ा भाग इनके सुनने से वंचित रह जायेगा। मैंने उनसे प्रार्थना की कि यह प्रवचन लिपि बद्ध करदें। मेरी तथा मुज़फ्फ़र नगर समाज की प्रार्थना पर उन्होंने वे सब प्रवचन संकलित कर दिये। फल स्वरूप इस बड़े ग्रन्थ शान्ति पथ प्रदर्शन की रचना हो गई, जिसमें जैन दर्शन का सार अत्यन्त सरल व वैज्ञानिक भाषा में जगत के सामने प्रगट हुआ जो धार्मिक साम्प्रदायिकता के विष से भी निर्लिप्त है जिसके कारण सभी विचारों, सभी जातियों व सभी देशों के लोग इससे लाभ उठा सकते हैं। अन्य स्थानों पर भी यही प्रवचन चले जिनसे वहां की समाज बड़ी प्रभावित हुई और उदार हृदय से इसके प्रकाशनार्थ योग दान दिया। मैं इस सहयोग के लिये उन सब का हृदय से आभारी हूँ।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी ने विश्व जैन मिशन के धर्म प्रचार कार्य की प्रगति, तथा असाम्प्रदायिक मानव प्रेम को देख कर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का श्रेय इस संस्था को देने का विचार प्रकट किया, और विश्व जैन मिशन के प्रधान संचालक डा० कामता प्रसाद जी की स्वीकृति से पानीपत केन्द्र द्वारा इसके प्रकाशनकी आयोजना की गई।

ब्र० जिनेन्द्र कुमार, जैन, वैदिक, बौद्ध व अन्य जैनेतर साहित्य के सुप्रसिद्ध पारंगत विद्वान पानीपत निवासी श्री जय भगवान जी जैन एडवोकेट के सुपुत्र हैं। यही सम्पत्ति पैतृक धन के रूप में हमारे युवक विद्वान को भी मिली। अध्यात्म क्षेत्र में आपका प्रवेश बिना किसी बाहर की प्रेरणा के स्वभाव से ही हो गया। बालापने से ही अपने हृदय में शान्ति प्राप्ति की एक टीस छिपाये वह कुछ विरक्त से रहते थे। फल स्वरूप वैवाहिक बन्धनों से मुक्त रहे। इलैक्ट्रिक व रेडियो विज्ञान का गहन अध्ययन करने के पश्चात् आपने अपनी प्रतिभा बुद्धि का व्यापार क्षेत्र में इण्डियन ट्रेडर्स

फर्म की स्थापना करके दस साल तक प्रयोग किया और खूब प्रगति की। परन्तु धन व व्यापार के प्रति इनको कभी आकर्षण न हुआ। अपने दोनों छोटे भाइयों को समर्थ बना देने मात्र के लिए आप अपना एक कर्तव्य पूरा कर रहे थे। इसीलिये कलकत्ता में ठेकेदारी का काम सम्भालने में ज्यों ही वे समर्थ हो गये, आप व्यापार छोड़ कर वापिस पानीपत आगये और सच्चे हृदय से शान्ति की खोज में व्यस्त हो गये। शीघ्र ही आप इस रहस्य का कुछ कुछ स्पर्श करने लगे। यह साधना इन्होंने केवल आठ वर्ष में करली। सन् १९५० में इन्होंने स्वतन्त्र स्वाध्याय प्रारम्भ किया, सन् १९५४ व ५५ में सोनगढ़ रह कर इन्होंने उस स्वाध्याय के सार को खूब मांजा। अध्यात्म ज्ञान के साथ साथ अन्तर अनुभव व वैराग्य भी बराबर बढ़ता गया, यहां तक कि सन् १९५७ में आप व्रत धारण करके गृहत्यागी हो गये। सन् १९५८ में आप ईसरी गये और पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी के सम्पर्क में रह कर आपने सैद्धान्तिक ज्ञान को बढ़ाया और विशेष अनुभव प्राप्त किया।

आपका हृदय अन्तर शान्ति व प्रेम से ओत प्रोत साम्य व माधुर्य का आवास है। सन् १९५९ में प्रथम बार मुजफ्फरनगर की मुमुक्ष समाज के समक्ष इनको अपने अनुभव का परिचय देने का अवसर प्राप्त हुआ, और तब से अब तक इनकी लोक प्रियता इतनी बढ़ गई कि अनेक स्थानों से निमन्त्रण आने लगे और उनको पूरा करना इनके लिये असम्भव हो गया। ज्ञान व अन्तर शान्ति के अतिरिक्त, शारीरिक स्वास्थ्य अत्यन्त प्रतिकूल होते हुए भी इनकी बाह्य चारित्र सम्बन्धी साधना भी अति प्रबल है, जिसकी साक्षी कि इनका समय समय पर किया हुआ परिग्रह प्रमाण व जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी नियन्त्रण देता रहा है। पोष व माघ की सर्दियों में भी आप दो धोतियों व एक पतली सी सूती चादर में संतुष्ट रहे हैं। अब तो आपने वैराग्य बढ़ जाने के कारण और भी विकल्पों व परिग्रह से मुक्ति पाने के लिये भादों शु० तीज सं० २०१९ को ईसरी में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण करली है।

आप इस वैज्ञानिक युग में रूढ़ि व साम्प्रदायिक बन्धनों से परे एक शान्ति प्रिय पथिक हैं। आपकी भाषा बिल्कुल बालकों सरीखी सरल व मधुर है। आठ वर्षों की उनकी गहन स्वाध्याय के फल स्वरूप 'जैनेन्द्र कोष' जैसी महान कृति का निर्माण हुआ है जो जैन वाङ्मय में अपनी तरह की अपूर्व कृति है। इसकी आठ मोटी मोटी जिल्दें हैं। इसके अतिरिक्त भी इनके हृदय से अनेकों ग्रन्थ स्वतः निकलते चले आ रहे हैं, जो उचित व्यवस्था होने पर प्रकाश में आयेंगे।

यद्यपि इस ग्रन्थ में संकलित विषयों को परम्परागत शान्ति पथ अर्थात मोक्ष मार्ग के उद्योतक व साधक भगवत् कुन्दकुन्द, श्री उमास्वामी, श्री पूज्यपाद स्वामी, श्री शुभचन्द्र आदि महान आचार्यों द्वारा रचित आगम से प्रेरणा लेकर लिखा गया है तो भी श्री ब्र० जिनेन्द्र कुमार ने अपने अध्यात्मबल व सम्यक आचार विचार की दृढ़ता से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही आधुनिकतम वैज्ञानिक ढंग से अत्यन्त सरल भाषा में इसका सम्पादन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं है किन्तु सिद्धान्त आधारित शान्ति पथ प्रदर्शक है। पथ पर चलकर ही ध्येय की पूर्ति होती है। जब पथ पर चलता है तब अन्तरंग में ध्येय का साक्षात रहना आवश्यक है और जब अन्तरंग में ध्येय का साक्षात है तो पथ पर चलना सहल हो जाता है। इन दिनों अध्यात्मिक व आचार विषयक साहित्य का बहुत बड़ा निर्माण हुआ है तथा शिक्षण संस्थायें व अध्यात्मिक सन्त भी इस दिशा

में बहुत योग दे रहे हैं परन्तु विषय की जटिलता व अलौकिकता और तत्सम्बन्धी जैन परिभाषाओं के लोक व्यवहरित न रहने के कारण भौतिक आवेशों में रमा हुआ आज का युवक अध्यात्म परम्परा से च्युत होता चला जा रहा है। इन कठिनाइयों को दूर करने में यह ग्रन्थ अवश्यमेव महत्वशाली सिद्ध होगा तथा विश्व को सुख व शान्ति का मार्ग दिखाने में सहायक होगा। यद्यपि अध्यात्म विद्या स्वानुभूति से ही प्राप्त होती है तो भी अनुभव प्राप्त पुरुषों के मार्ग प्रदर्शन से यह साध्य अधिक सहल हो जाता है।

पिछले जमाने में अध्यात्म विद्या, परीक्षोत्तीर्ण अधिकारियों को छोड़कर, सर्व साधारण से गोपनीय रहती चली आयी है परन्तु जब से कागज़ का निर्माण हुआ और प्रकाशन कला का विकास बढ़ा, इस विद्या का साहित्य दिनों दिन लोक सम्पर्क में बढ़ता जा रहा है। इस विज्ञान की चर्चा वार्ता भी बहुत होने लगी है, यह ज्ञान प्रधान युग है परन्तु आचरण में दिन दिन शिथिलता आती जा रही है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस ग्रन्थ में ज्ञान के अनुकूल आचरण धारण करने की ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया गया है। आप्त मीमांसा में कहा है—

"अज्ञानान्मोहतो बन्धो नाज्ञानाद्वीत मोहतः।
ज्ञान स्तोकाच्च मोक्षः स्यात् मोहान्मोहितोऽन्यथा ॥९८॥"

मोही (सम्यक् चारित्र विहीन) का अज्ञान बन्ध का कारण है, परन्तु निर्मोही का अज्ञान (अल्प ज्ञान) बन्ध का कारण नहीं है। अल्प ज्ञान होते हुए भी मुक्ति हो जाती है परन्तु मोही को मुक्ति प्राप्त नहीं होती, (मोह क्षीण हो जाने पर ज्ञान स्वतः पूर्ण हो जाता है)।

ग्रन्थकार का परिश्रम तभी सफल माना जा सकता है जब पाठक जन उनकी भावनाओं को जीवन में उतारने की कोशिश करें। संसार दुःखों से त्रस्त जीव के लिए यह आध्यात्मिक उपदेश एक निमित्त मात्र होगा, यद्यपि यह आत्मा स्वयं ही साध्य है, स्वयं ही साधक है और स्वयं ही साधन है। अतः साधना में देर नहीं करनी चाहिये। कहा भी है—

जम्मणमरण जलोघं दुखयरकिलेससोगवीचीयं।
इय संसार-समुद्दं तरंति चदुरंगणावाए ॥

अर्थ—यह संसार समुद्र जन्म मरण रूप जल प्रवाह वाला, दुःख क्लेश और शोक रूप तरंगों वाला है। इसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप रूप चतुरंग नाव से मुमुक्षु जन पार करते हैं।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव।
चउरो चिट्ठहि आदे तह्मा आदा हु मे सरणं ॥
श्री कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तथा सम्यक तप ये चारों आत्मा में ही हैं, इसलिये आत्मा ही मेरे शरण है।

छीजे सदा तन को जतन यह, एक संयम पालिये।
बहु रुल्यो नरक निगोद माहीं, विषय कषायनि टालिये ।।
शुभ करम जोग सुघाट आया, पार हो दिन जात है।
'द्यानत' धरम की नाव बैठो, शिवपुरी कुशलात है ।।

फाल्गुण शु० ८
वी० नि० सं० २४८६

रूपचन्द गार्गीय जैन
पानीपत

भो भव्य ! सद्गुरु नाविक पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि यदि इस जन्मन मरण रूप भव समुद्र से पार होना चाहता है तो शीघ्र ही धर्म नौका में सवार हो क्योंकि आयु रूपी सूर्य शीघ्र अस्त होने वाला है। यदि पीछे रह गया तो भव बन में भटकता हुआ दुःखों को ही प्राप्त होगा।
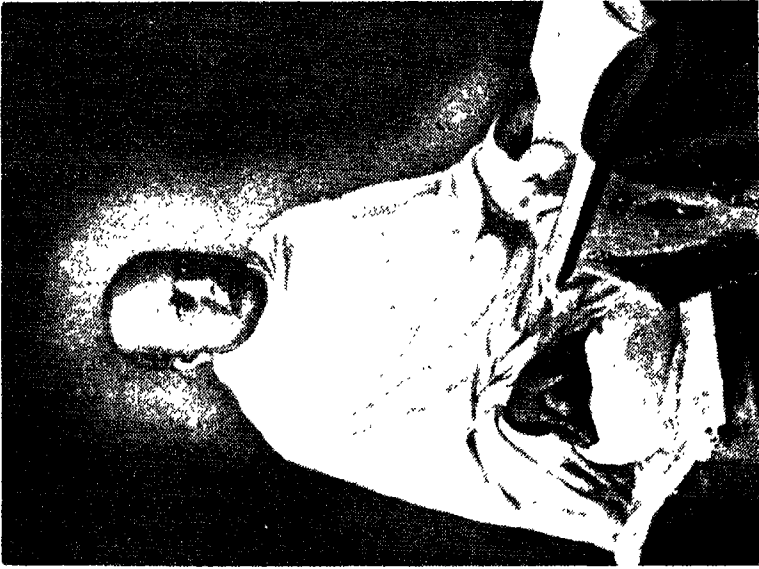
शान्ति-मूर्ति, आध्यात्मिक सन्त

श्री कानजी स्वामी

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जन्म:—बैशाख शु० २ वि० सं० १९४६
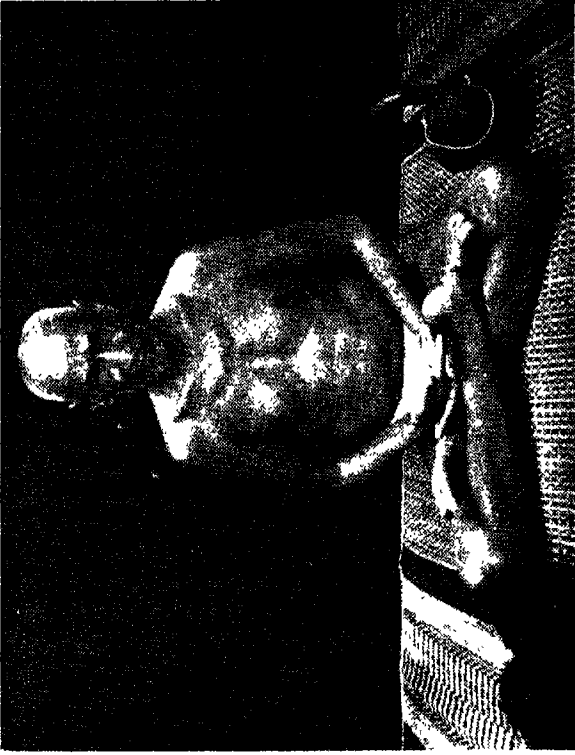
साक्षात धर्म स्वरूप, शान्ति में ओत प्रोत साम्यता के साधक

प्रातः स्मरणीय सन्त प्रवर

श्री १०५ क्षु० गणेश प्रसाद वर्णी

जन्म—(हसेरा) आश्विन कृष्ण ४ वि० सं० १९३०

महा प्रस्थान (ईसरी) भाद्रपद कृ० ११ वि० सं० २०१८
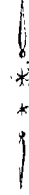
आभार प्रदर्शन

मैं ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी (जो अब क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी के नाम से प्रसिद्ध हैं) का हृदय से आभारी हूँ कि जिन्होंने मेरी छोटी सी प्रार्थना पर लोक कल्याण का इतना बड़ा कार्य, बड़ा परि-श्रम करके पूर्ण किया। इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशनार्थ श्री शिवदयाल मल अनूपसिंह जैन रोहतक और सहारनपुर, इन्दौर, देहली, मुजफ्फरनगर, सिन्दरी, पानीपत के जिन बहनों व भाइयों ने आर्थिक सहायता प्रदान की थी तथा इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन निमित्त भी निम्न प्रकार जिन दातारों ने सहायता प्रदान करके धर्म प्रचार कार्य में सहयोग दिया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। श्री नेमचन्द जी जैन रईस सदर बाजार देहली ने प्रथम संस्करण के वितरण कार्य म विशेष सहायता की, श्री सुमत प्रसाद जैन व श्री अतीश कुमार जैन (पानीपत निवासी) देहली ने इस प्रकाशन को सुन्दर बनाने मे तथा और भी जिन भाईयों ने तन से, मन से व धन से इस पुण्य कार्य में सहयोग दिया है मैं विश्व जैन मिशन की ओर से उन सबको धन्यवाद देता हूँ।
द्वितीय संस्करण के लिये निम्न सहायता प्राप्त हुई--

१	श्री पुरुषोत्तमदास जैन मालिक जयभारत मैटल इन्डस्ट्रीज--जगाधरी	५००)
२	ला० चन्दगीराम जैन (जाटौल निवासी)--देहली	२००)
३	कुमारी इन्दरादेवी M. A. प्रोफेसर	१००)
४	श्रीमती कमलेश कुमारी--देहली	५०)
५	श्री ईश्वरदास सिद्ध सरूप बजाज--देहली	५१)
		९०१

रूप चन्द गार्गीय जैन
पानीपत

शान्ति सुधा कण

दुनिया के आप्त पुरुषों व चिन्तकों द्वारा शान्ति व धर्म के विषय में कही हुई सूक्तियां :--

आत्म स्वभाव ही धर्म है और उसी में शान्ति है। भ० महावीर

जो आत्म स्वभाव में रमता है वही धर्मात्मा है, वही शान्त है। आ० कुन्दकुन्द

धर्म—अहिंसा, संयम, तप—सर्व श्रेष्ठ मंगल है। जिसका मन इस धर्म में लगा रहता है वह अपने स्वभाव को प्राप्त करता है। भ० महावीर

आत्मा का उद्धार और पतन उसके भावों की निर्मलता और मलिनता पर निर्भर है। भ० महावीर

धर्म जीव के वे परिणाम हैं जो उसे दुःख व अशान्ति से निकालकर उत्तम सुख व शान्ति में धर दें। आ० समन्तभद्र

समदर्शी लोग पाप नहीं करते। आचारांग सूत्र

जो धर्म के गौरव को पूज्य मानकर शान्त और नम्र होता है, उसी को सच्चा शान्त और नम्र समझना चाहिये। अपना मतलब साधने के लिये कौन शान्त और कौन नम्र नहीं बन जाता? म० बुद्ध

लोगों को दिखाने के लिए धर्म का आचरण न करो वरना कुछ फल नहीं पाओगे। ईसा मसीह

जब तक आदमी बुरे कामों से मुँह नहीं मोड़ता, तब तक वह अपने अन्दर शान्ति पैदा नहीं करता। जब तक कि दुनिया की चीजों का लोभ उसमें से नहीं जाता, तब तक उसका मन शान्त नहीं होता। उपनिषद्

जो निष्काम, निस्पृह, निर्मम और निरहंकार है उसे ही शान्ति प्राप्त होती है। गीता

आओ हम उन बातों के पीछे लगें जिससे शान्ति आती है। बाइबल

धर्म का लक्ष्य है चिरन्तन सत्य का अनभव। डा० राधाकृष्णन

धर्म एक ही है भले ही रूप उसके सौ हों। बर्नर्ड शा

मनुष्य का बन्धु एक मात्र धर्म है जो मरने के बाद भी आदमी के साथ जाता है, बाकी हर चीज शरीर के साथ मिट जाती है। मनु

सब से बड़ी बात बता रहा हूँ—कामना से, भय से, लोभ से बल्कि जान बचाने के लिये भी धर्म को कभी न छोड़ें। सन्त विदुर

मेरे लिये सत्य से परे कोई धर्म नहीं और अहिंसा से बढ़कर कोई परम कर्तव्य नहीं। म० गान्धी

धर्म के सर्वोच्च पालन के लिए बिलकुल निष्परिग्रह हो जाना जरूरी है। म० गान्धी

समाज में से धर्म को निकाल फेंकने का प्रयत्न बाँझ के पुत्र पैदा करने जितना ही निष्फल है और अगर कहीं सफल हो जाय तो समाज का उसमें नाश है। म० गान्धी

शान्ति परमार्थ की पहली सीढ़ी है। श्री ब्रह्म चैतन्य

जिस घर में शान्ति है वहां भगवान रहते हैं। श्री ब्रह्म चैतन्य

शान्ति के लिये अन्दरूनी परिवर्तन चाहिये बाहरी नहीं। स्वामी रामदास

शान्ति के समान कोई तप नहीं, सन्तोष से बढ़कर कोई सुख नहीं, तृष्णा से बढ़ कर कोई व्याधि नहीं, दया के समान कोई धर्म नहीं। चाणक्य नीति

विश्वास और शान्ति का त्याग प्राणोत्सर्ग हो जाने पर भी न करें। विवेकानन्द

जो न तो लोगों को खुश करने की लालसा रखता है, न उनके नाखुश होने से डरता है-बड़ी शान्ति का आनन्द लेता है। कैम्पिस

अगर तुम्हें अपने में ही शान्ति नहीं मिलती तो बाहर उसकी तलाश व्यर्थ है। रोशे

शान्ति सुख का सब से सुन्दर रूप है। चैनिंग

यदि शान्ति पाना चाहते हो तो लोक प्रियता से बचो। इब्राहम लिंकन

शान्त मन से ज्यादह स्वास्थ्यप्रद और आनन्दप्रद कोई चीज़ नहीं। औरिसन स्वेटमार्डन

दुनिया की तमाम शानो शौकत से बढ़ कर है आत्म शान्ति—स्थिर और शान्त अन्तरात्मा।
शेक्सपियर

पहले स्वयं शान्त बन, तभी औरों में शान्ति का संचार कर सकता है। थामस कैम्पी

जो पूर्ण सद्गुणशील है, उसे ही आन्तरिक शान्ति मिलती है। कनफ्यूशियस

ईश्वर से एक हो जाना ही शान्त होना है। ट्राइन

जो निर्जनता से डरता है और लोगों के संग से खुश होता है, वह अपनी शान्ति खोता है।
फ़ज़ल अयाज़

मौन के वृक्ष पर शान्ति का फल लगता है। अरबी कहावत

विज्ञान और धर्म एक दूसरे के उसी तरह अविरोधी हैं जिस तरह प्रकाश और बिजली
रेवरेण्ड फौकी

पानी में नाव रहे मगर नाव में पानी न रहे, ऐसे ही मुमुक्षु दुनिया में रहे मगर दुनिया उसमें न रहे। रामकृष्ण परम हंस

शान्ति के बाधक कारण रागादिक भावों को हेय समझने से शान्ति का मार्ग तो दिखाई देगा किन्तु शान्ति नहीं मिल सकती। शान्ति तो तभी मिलेगी जब उन बाधक कारणों को हटाया जायेगा।
गणेश प्रसाद वर्णी

सत्य को सजाने की जरुरत नहीं होती, सजाने से उसकी सुन्दरता कम हो जाती है क्योंकि—'सत्यम शिवम् सुन्दरम्'—सत्य शिव और सुन्दर है। म० भगवानदीन
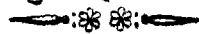
ओ३म्

शान्ति पथ प्रदर्शन के प्रथम संस्करण को पढ़ने के पश्चात् पाठकों के सैंकड़ों प्रशंसा पत्र मेरे पास आये हैं उनमें से इस ग्रन्थ के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सम्मतियां ही यहां पर प्रकाशित कर रहा हूँ।

रूपचन्द गार्गीय जैन 卐

निर्विकल्प ध्यान के अभ्यासी, आदर्श त्यागी ९१ वर्षीय १०५ क्षु० विमल सागर जी शोलापुर— ६-११-६१

शान्ति पथ प्रदर्शन नाम का ग्रन्थ मैंने देखा, आधुनिक ढंग पर सरल भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ बहुत अच्छा है। सामान्य जनता में इसका प्रचार होना संभव है।

श्रीमान ब्र० जिनेन्द्र कुमार के शान्थि पथ का पुरुषार्थ लेख बहुत अच्छा है। ब्रह्मचारी जी सम्यक् ज्ञानी हैं, अच्छे लेखक हैं और अच्छे व्याख्यान पटु भी हैं उनको मेरा आर्शीवाद। २८-१-६३ के पत्र में लिखते हैं—बाल ब्रह्मचारी रहकर क्षुल्लक दीक्षा ली, इस से बड़ा सन्तोष है। ख्याति पूजा आदि के प्यासे नहीं हैं। मैंने बहुत से क्षुल्लक व्रती देखे मगर ऐसे नहीं देखे। 卐

१०५ क्षु० पदमसागर जी दक्षिण प्रान्त से लिखते हैं—

ब्र० जिनेन्द्र ने ग्रन्थ अच्छे ढंग से लिखा है, उन्होंने अपने उद्गार बहुत अच्छी तरह प्रगट किये हैं। सचमुच यह ग्रन्थ विश्व व्यापी होना चाहिये। जैसा ग्रन्थ का नाम है वैसा ही उसका भाव है। मुझे तो स्वाध्याय करने से अति आल्हाद प्रगट हुआ है। 卐

१०५ क्षुल्लक चिदानन्दजी— ६-१-६३

आपने शान्ति पथ प्रदर्शन को प्रकाशन कराकर समाज का बहुत ही उपकार किया है वर्तमान में उस ही का स्वाध्याय कर रहा हूँ। श्री १०५ क्षु० जिनेन्द्र कुमार जी ने यह ग्रन्थ बहुत अनुभव पूर्ण आधुनिक सरल भाषा में लिखा है। गृहस्थ धर्म का पूर्ण रीति से दिग्दर्शन कराया है और समझाया है कि अपना कल्याण किस प्रकार हो सकता है। इस ग्रन्थ को अधिक से अधिक संख्या में छपाकर, इसका घर घर में प्रचार होना चाहिये। 卐

श्री छोटेलाल जी वर्णी अधिष्टाता श्री शान्ति निकेतन बावनगजा जी बड़वानी १८-८-६१

सौभाग्य से शान्ति पथ प्रदर्शन देखने को मिला। पुस्तक की लेखन शैली व भाषा बिल्कुल समयोपयोगी हैं, वर्तमान पाठकों और अध्ययनार्थियों को तत्वावधान कराने में बड़ी ही सरल है। निस्संदेह श्री ब्र० जिनेन्द्र ने इसे लिखकर बड़ी भारी कमी को पूरा किया है। 卐

श्री ब्र० बाबूलाल अधिष्ठाता दि० जैन उदासीन आश्रम इन्दौर.

मुझे शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ के स्वाध्याय का अवसर मिला इतना रोचक लगा कि कई बार पढ़ा—जो रसास्वाद आया उसका वर्णन लेखनी में नहीं कर सकता। इन्दौर में जिन उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों ने इसे पढ़ा अथवा ब्रह्मचारी जी के प्रवचन सुने वे आश्चर्य चकित हो गये और अन्तरंग से उद्‌गार निकले कि 'मानव के लिये शान्ति प्रदायक धर्म के स्वरूप व कर्तव्य का ऐसा सुगम वर्णन हमने आज तक पढ़ा न सुना'। प्राचीन ऋषियों द्वारा लिखित सिद्धान्त ग्रन्थों में श्रुत ज्ञान का महत्वपूर्ण अटूट भण्डार भरा है परन्तु उसकी भाषा व प्रतिपादन शैली इतनी सुगम व आकर्षक नहीं है जो आज का जन साधारण उससे लाभ उठा सके। इस बात की पूर्ति सही अर्थ में इस ग्रन्थ द्वारा हुई है जिसकी भाषा व शैली अत्यन्त सुगम व सरल है। एक बार पढ़ना प्रारम्भ करके छोड़ने को जी नहीं चाहता तथा जिसके पढ़ने मात्र से शान्ति की प्राप्ति होती है तो जीवन में उतारने से क्यों न होगी ? मैं लेखक का परम उपकार मानता हुआ कामना करता हूँ कि मानस मानस के हृदय मन्दिर में शान्ति हेतु शान्ति पथ प्रदर्शन बसे। 卐

श्री गोकलचन्द गंगवाल उदासीन आश्रम बूंदी

जिस सरल शान्ति के उपाय की खोज में था वास्तव में वह विवरण शान्ति पथ ग्रन्थ में पाया।

१४-७-६१

डा० कामता प्रसाद जैन प्रमुख संचालक विश्व जैन मिशन अलीगंज

'शान्ति पथ प्रदर्शन' बाल ब्रह्मचारी (अब क्षुल्लक निग्रन्थ) श्री जिनेन्द्र कुमार जी के प्रवचनों का संग्रह है। कोई भी वस्तु ज्ञान में यद्यपि एक है, परन्तु उसका विवेचन करने की शैलियां अनेक हैं। जैनागम की भाषा में इसे नय कहा जाता है। क्षुल्लक जी की अपनी निराली शैली है—वह अपनी बात अपनी शैली में विश्लेषणात्मक ढंग से कहते हैं—रोचक भी बनाते हैं जिससे कि वह सर्व साधारण जनता के गले उतर जावे। अतः उनके प्रवचन का मूल्याङ्कन उनकी कथन शली और विचाराधीन नय के अनुकूल ही ठीक-ठीक किया जा सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में विषमता तब ही उत्पन्न होती है जब विचारक दूसरे के मत अथवा कृति को अपने दृष्टिकोण से देखता है और विपक्षी के मत और दृष्टिकोण को नजर-अन्दाज कर देता है। जैन विद्वानों में भी कुछ इसी प्रकार का पक्ष—मोह जड़ पकड़ता जा रहा है। वह सोचें कि अनेकान्त धर्म की सिद्धि इससे किस प्रकार होगी ? संसार में सब कुछ अशुद्ध ही अशुद्ध है—न जीव शुद्ध है और न पुद्‌गल। इसका अर्थ यह कि सब कुछ पर्यायाधीन है। परन्तु इसके कारण ही शुद्ध रूप अथवा वस्तुस्वरूप—द्रव्य का यथार्थज्ञान सम्भव है। ज्यों अन्धकार के होने पर प्रकाश का परिज्ञान होता है त्यों ही अशुद्धि है तभी शुद्धि का बोध होता है—अज्ञान है तभी ज्ञान दीखता है। क्षुल्लक जी की शैली में यही विशेषता है, वह बाहर से अन्तर की ओर चले हैं। क्योंकि सारा संसार ही बहिर्दृष्टा और बहिर्जगत में उलझा हुआ है। क्षुल्लक जी बहिर स्थितियों का खराखोटा मूल्यांकन करते हुए अन्तर की ओर बढ़ते हैं। इसीलिए उन्होंने सैद्धान्तिक परिभाषाओं को नये रंगढंग में ला रक्खा है जो बिल्कुल स्वाभाविक है। उनके प्रवचनों में ज्ञान का चमत्कार उत्तरोत्तर बढ़ता चले, इसी में हम सबका कल्याण है।

कामता प्रसदा जैन 卐

वर्तमान में आर्य गुरुकुल भैंसवाल (रोहतक) के प्रिंसिपल वेदों और उपनिषदों के मर्मज्ञ प्रकाण्ड विद्वान पं० विद्यानिधि शास्त्री व्याकरणाचार्य साहित्याचार्य साधू-आश्रम होशियारपुर से लिखते हैं—

मैं ब्र० जिनेन्द्र जी यतिवर का प्रोक्त अति गम्भीर परन्तु सरल भाषा में वर्णित जैनागम प्रतिपादित शान्ति पथ प्रदर्शन का अध्ययन मनन करके कृतार्थ हो रहा हूं। ग्रन्थ क्या है सचमुच एक अमूल्य चिन्तामणि है जिसकी प्राप्ति होने पर सब कामनाओं का अभाव रूप शान्ति पथ का दर्शन होता है। प्रत्येक प्रकरण को सुगमता से समझाते हुए अत्यन्त नम्र तथा अहंकार रहित अपने को तुच्छातितुच्छ मानकर अत्युज्ज्वल निर्मल उच्चतम आत्म तत्व का दर्शन कराया है। १५-१८ तक आस्रव बन्ध का प्रकरण तो इतना हृदयग्राही है जिसे मैं बार बार पढ़ता नहीं थकता। शुभ क्रियाओं से भी हमारा जीवन अपराधमय है यह एक अदभुत आत्म शोधन का मन्त्र बताया है। ये शब्द स्मरण करने योग्य हैं—'शुभ क्रियाओं को करने के लिये कहा जाय तो वे मुझे सुख देने वाली हैं ऐसा मानकर उनको ही हित रूप समझने लगता है। अभिप्राय को बदलने के लिए कहा जाय तो उन क्रियाओं को ही छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है, दोनों प्रकार मुश्किल है। किस प्रकार समझाये। ऐसे कहें तो भी नीचे की ओर जाता है और वैसे कहें तो भी नीचे की ओर ही जाता है। नीचे की ओर जाने को नहीं कहा जा रहा है। भगवन ! ऊपर उठने को कहा जा रहा है'। कमाल कर दिया है। मैं तो लट्टू हो रहा हूं जब उनका जीवन भी वैसा देखता हूं। हे प्रभु ! कृपा करो, जिनेन्द्र जी शत वर्ष जीवी हों।

२४-४-६१ 卐

श्री हीराचन्द वोहरा B. A. LL. B. कलकत्ता

शान्ति पथ प्रदर्शन पुस्तक पढ़कर हृदय अत्यधिक प्रभावित हुआ। बहुत सुन्दर ढंग से लिखी गई है। ऐसा लगता है कि मोक्ष मार्ग प्रकाशक (पं टोडरमल जी रचित) के बाद इस प्रकार की यह रचना अपने ढंग की अद्वितीय है। ऐसी सुन्दरतम पुस्तक का बड़ा व्यापक प्रभाव हो सकता है। प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय के व्यक्ति के लिए पठनीय सामग्री का संकलन श्री पूज्य ब्रह्मचारी जी की एक अपूर्व देन है वे चिरजीवी हों। इस पुस्तक की सराहना के पत्र मेरे पास अजमेर के कई मित्रों से आये हैं।

२८-६-६१ 卐

डा० कस्तूरचन्द जैन एम० ए०
रिसर्च स्कालर जयपुर

शान्ति पथ प्रदर्शन पुस्तक मिली, हार्दिक धन्यवाद। पुस्तक बहुत सुन्दर है एवं आध्यात्मिक रस से ओत प्रोत है। ब्रह्मचारी जी ने अपने हृदय के उद्‌गारों को पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है जिनसे आत्मिक शान्ति का अनुभव होता है। सरल एवं सरस भाषा से पुस्तक की उपयोगिता में और भी वृद्धि हुई है। पानीपत की मिशन शाखा ने इसे प्रकाशित करके प्रशसनीय एवं अनुकर्णीय कार्य किया है।

४-४-६१ 卐

श्रीमान दानवीर जैन रत्न सेठ हीरालाल जैन इन्दौर

मैंने श्री शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ का आद्योपांत अध्ययन किया है। यह ग्रंथ वास्तव में यथा नाम तथा गुण है। भाषा सरल मधुर एवं आकर्षक है। अशांत से अशांत मानव भी कहीं से कोई भी प्रकरण पढ़ना प्रारम्भ करते ही शांति का अनुभव करने लगता है। 卐

गहन से गहन बात को बहुत सरलता से समझाया गया है। वर्तमान के शिक्षित ग्रजू-एटों को स्वाध्याय की रुचि इससे होती है। जैनेतर समाज के लिये भी इसमें अध्ययन एवं मनन के लिए उत्कृष्ट सामग्री है।

यह ग्रंथ साम्प्रदायिकता से परे मात्र धर्म को ही सम्यक रूप से निरुपण करनें वाला है, जो कि आज के समय की परमावश्यकता है। लेखक की विशाल दृष्टि, गहन अध्ययन एवं अनुभव का इसमें पूरा पूरा आभास मिलता है।

सांसारिक दुखों से त्रस्त मानव को यह ग्रन्थ श्रेष्ठ पथ प्रदर्शक एवं परम शांति का दाता है।

वास्तव में संतों की वाणी स्व-परोपकारी होती ही है जो कि मानव को शान्ति की ओर आकृष्ट कर लेती है। इसलिए शांति पाने के इच्छुक सज्जन इस ग्रंथ का मनन कर लाभ प्राप्त करते रहें यही कामना है।

कल्याण भवन इन्दौर

हीरालाल 卐

श्रीमान टीकमचंद जैन मालिक फर्म श्री घीसालाल जतनलाल बैंकर्स नसीराबाद

भौतिक बाह्याडंबरों की चकाचौंध और इस युग विशेष की अर्थ उपार्जन की विभीषिका ने जब इस नश्वर संसार के मानव प्राणी की स्व और पर की आध्यात्मिक चिंतन शक्ति पर वज्रपात कर चैतन्य स्वरूप ज्ञाता दृष्टता, चिदानन्द चिद्स्वरूप आनन्दघन आत्मा को अज्ञान आवरण से आच्छादित कर दिया तब ऐसे दुर्दम समय में शांति पथ के पथिक बनने में निराशा झलकती थी परन्तु आशा की अलौकिक एवं विमल किरण उदित हुई कि हम सब मुमुक्षुओं को सौभाग्य से यह ग्रन्थराज जीवन के उपहार स्वरूप उपलब्ध हुआ।

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि "शांति पथ प्रदर्शन" ग्रन्थराज संजीवनी नें हम अल्पज्ञों को पुनर्जीवित ही नहीं किया है वरन अमृत पान कराया है। इसके लिए हम सब शांति उपासक, वंदनीय पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक जिनेन्द्र कुमार वर्णी जी के अत्यधिक आभारी हैं कि जिनकी कुशाग्र एवं विमल बुद्धि के फल स्वरूप तात्विक विवेचना इतनी वैज्ञानिक सरल भाषा में अनुपम उदाहरणों के साथ हो सकी है कि पाठकों के लिए हृदय स्पर्शी होकर नित्य स्वाध्याय की वस्तु हो गई है। इसी कारण यह भूल में भूल की वास्तविकता को बतलाने वाला यथावत ग्रन्थ किसी एक ही समुदाय विशेष का न रहकर जाति पाँति और वर्ण भेद की संकीर्णता को छोड़कर इस युग विशेष का जन मानस ग्रन्थ है जो इस जैन समाज का गौरव है। अन्त में यह अनुमोदना करता हुआ कि—

"परम शांति दीजे हम सबको
पढ़ें जिन्हें पुनि चार संघ को"

नसीराबाद (राज०)
२१-२-६३

निवेदक
टीकमचन्द गदिया 卐

शान्ति पथ प्रदर्शन पढ़ कर मेरी आत्मा को अत्यन्त शान्ति प्राप्त हुई। इसमें कही हुई बातें आत्मा की गहराई से निकली हुई अनुभव की बातें हैं। जो भाव व्यक्त किंवा अव्यक्त रूप से मेरे अन्तरतम् में जोश मार रहे थे लेकिन शास्त्र-ज्ञान से अपरिचित होने के कारण जिन्हें प्रगट करने का साहस नहीं होता था, उन्हें डंके की चोट इस पुस्तक में देखकर आत्मा को बहुत संतोष हुआ। इसके लिए मैं लेखक का बहुत आभार मानता हूं। इसके पढ़ने के बाद समयसार, प्रवचनसार, नियमसार इत्यादि अमूल्य ग्रन्थ रत्न आसानी से समझ में आ जाते हैं। मुमुक्ष बन्धुओं के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपकारी सिद्ध होगा इसमें मुझे कोई संदेह नहीं मालूम पड़ता।

उगमराज मोहनोत,
मुंसिफ मैजिस्ट्रेट, प्रथम श्रेणी
नसीराबाद (राज०) 卐

पं० ज्ञानचंद जैन 'स्वतन्त्र'
३१-७-६१ संपादक और व्यवस्थापक 'जैन मित्र' सूरत

"शांति पथ प्रदर्शन" ग्रंथ ऐसे मर्मज्ञ विद्वान और अखण्ड ब्रह्मचारी महानुभाव द्वारा लिखा गया है जो सचमुच में शान्ति पथ पर चल रहा है। फिर इस ग्रंथ द्वारा मानव समाज को शांति का मार्ग न मिले ऐसा हो ही नहीं सकता और न माना जा सकता है। ग्रंथ की यही विशेषता महानता और लोक प्रियता है कि न कुछ चन्द महीनों में ही ग्रन्थ हाथों हाथ उठ गया है अब इसके दूसरे संस्सकरण की प्रतीक्षा की जा रही है। मैं इस ग्रंथ का एक बार अक्षरश: स्वाध्याय कर चुका हूँ फिर भी यही बलवती भावना हो रही है कि पुन: एक बार पढ़ूं। जिस साहित्य के पढ़ने में मन भीगा रहे और दोबारा पढ़ने की इच्छा हो और नवीनता मिले वही सत्साहित्य है। इससे अच्छी परिभाषा सत्साहित्य की और कोई नहीं हो सकती। ग्रंथ के रचयिता महानुभाव को अनन्त शांति सुख की प्राप्ति हो। 卐

पं० उग्रसैन M. A. LL. B. रोहतक

पूज्य बाल ब्रह्मचारी १०५ क्षु० जिनेन्द्र कुमार जी द्वारा रचित शांति पथ प्रदर्शन ग्रंथ को पढ़ा, उनका यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में जैन धर्म का दिग्दर्शन विद्वान लेखक ने बड़ी ही सरल तथा आकर्षक भाषा में वैज्ञानिक ढंग से कराया है। जैन धर्म का परिचय प्राप्त करने के इच्छुक जन तथा अजैन सभी बन्धु इसको पढ़कर लाभ उठायेंगे। ग्रंथ बड़ा उपयोगी है, जैन नवयुवकों में इस ग्रंथ का प्रचार खूब होना चाहिए ताकि वे इसे पढ़कर अपने धर्म के सम्बन्ध में कुछ बोध प्राप्त कर सकें। परिषद परीक्षा बोर्ड की उच्च कक्षाओं के धर्म शिक्षा कोर्स में यदि इसे रख लें तो अच्छा रहेगा। ३१-१२-६२ 卐

जैन समाज के प्रसिद्ध कवि धन्यकुमार जैन 'सुधेश'

शांति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ की उपयोगिता एवं महत्ता से मैं प्रभावित हुआ हूँ। श्री जिनेन्द्र जी स्वयं शान्ति पथ के सफल पथिक हैं। अतः उनकी इस रचना में सर्वत्र अनुभूति के दर्शन होते हैं।

उनके द्वारा प्रदर्शित शान्ति पथ पर चलकर संसार शान्ति प्राप्त कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। उनका यह ग्रन्थ वास्तव में शान्ति पथ के पथिकों के लिए ज्योति-स्तम्भ का कार्य करेगा। अतः श्री ब्र० जिनेन्द्र जी का यह प्रशस्त प्रयास प्रत्येक मानव द्वारा अभिनन्दनीय है। २७-३-६१ 卐

श्री आदीश्वर प्रसाद जैन एम० ए० सेक्रेटरी जैन मित्र मण्डल देहली

शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ को घर में सभी रुचि पूर्वक पढ़ रहे हैं, हमें यह बहुत ही उपयोगी व शिक्षाप्रद प्रतीत हुआ है। अन्य ग्रन्थों के पढ़ने में कभी इतनी रुचि और आनन्द नहीं आया। लेखन शैली बहुत ही आधुनिक है। 卐

श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय डालमियानगर

ब्रह्मचारी जिनेन्द्र जी ने अध्यात्म सागर में बहुत गहरी डुबकी लगाकर मूल्यवान रत्न निकाले हैं। 卐

श्री मनोहरलाल जैन M. A. श्री महावीर जी

'शान्ति पथ प्रदर्शन' जैसे वैज्ञानिक एवं आधुनिक शैली वाले ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये हार्दिक बधाई। प्राचीन शैली वाले ग्रन्थों के पढ़ने में अभिरुचि न रखने वाले युवकों के लिये इस प्रकार की शैली जहां आकर्षण का कार्य करती है वहां धार्मिकता के अंकुर उत्पन्न करने में भी सहायक बनती है। १७-७-६१ 卐

श्री निहालचंद पांडया सेल्स टक्स इन्स्पेक्टर टौंक

शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ बहुत ही रहस्य मय प्रतीत हुआ यहां की जैन समाज उसे बहुत रुचि पूर्वक पढ़ रही है। 卐

कु० विद्युल्लता शहा बी० ए० बी० टी० प्रमुख दि० जन श्राविकाश्रम विद्यालय शोलापुर

शान्ति पथ प्रदर्शन पुस्तक बहुत पसंद आयी। आश्रम की बाइयाँ इसे बहुत रुचिपूर्वक पढ़ रही हैं। मैं इसका मराठी में अनुवाद करना चाहती हूँ। इस विषय में ब्र० जिनेन्द्र जी की अनुमति तथा आशीर्वाद भेजने की कृपा करें। १२-२-६२ 卐

श्री पूरनचन्द जैन म० गढ़ाकोटा (सागर)

शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ यथा नाम तथा गुण को चरितार्थ करता है। जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से सरल रोचक शैली में ग्रन्थकार ने जटिल विषयों को रखा है वह अतीव आकर्षक व प्रभावोत्पादक है। कोई भी प्रवचन शुरू करने पर छोड़ने को जी नहीं चाहता। पूरे ग्रन्थ में किसी भी आचार्य के मूल शब्दों को न रखकर किसी विषय का अपनी शैली से विवेचन करना अतीव परिश्रम व अनुभव का कार्य है व मौलिक सूझबूझ है। भोजन शुद्धि की सार्थकता का प्रतिपादन रूढ़ी के ढंग पर न करके वैज्ञानिक ढंग से किया है जो प्रभावशाली है। श्री वीर प्रभु से हार्दिक अभिलाषा है कि इस ग्रन्थ का बड़ा प्रचार हो और लेखक को इस शैली के नये नये ग्रन्थ रचने का उत्साह द्विगुणित हो। २-४-६१ 卐

दि० जैन स्वाध्याय मंडल दमोह

सौभाग्य से शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ का स्वाध्याय कर शान्ति प्रेमियों ने जो शान्ति का अनुभव किया है वह अवर्णनीय है अतः एव आप जयवन्त व प्रकाशवन्त रहें ।

गुलाबचन्द, गुलजारीलाल, भंवरलाल—आदि 卐

(श्री प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री सम्पादक सन्मति सन्देश)

मैंने शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ आद्योपान्त पढ़ा । इसमें आत्म कल्याण में प्रवृत्ति कराने के लिये अनुभव पूर्ण एवं शास्त्र सम्मत विचारधारा देखने को मिली । श्री पूज्य क्षु० जिनेन्द्र जी वर्णी ने बड़े सरल व वैज्ञानिक ढंग से आर्ष सिद्धान्तों को अनुभव पूर्ण भाषा में प्रतिपादन कर समाज का महान उपकार किया है । 卐

(स्वामी गीतानन्द जी गीता कुटीर स्वर्गाश्रम ऋषिकेश)

मैं श्री ब्र० जिनेन्द्र जी रचित शान्ति पथ प्रदर्शन ग्रन्थ का अध्ययन करके यह प्रमाणित करता हूँ कि वास्तव में यह ग्रन्थ अपने नाम के अनुसार ही पाठकों को शान्ति पथ प्रदर्शन करने में यथा योग्य सम्पूर्णतया समर्थ है । यद्यपि इस ग्रन्थ का अध्ययन मैंने अभी संक्षेप में ही किया है किन्तु अल्प-काल के थोड़े से अध्ययन मात्र से ही मैंने यह निष्कर्ष निकाला है कि लेखक ने किसी मत मतान्तर का पक्ष न लेते हुए वैज्ञानिक ढंग से सरल हिन्दी भाषा में जो अपने अनुभव पूर्ण भाव प्रकट किये हैं वह निःसन्देह प्रशंसनीय हैं अतः मैं शान्ति के इच्छुक श्रद्धालु जनता को प्रेरणा करता हूँ कि एक बार इस ग्रन्थ का अध्ययन अवश्यमेव करें ।

(गीता भवन पानीपत) गीतानन्द 卐

श्री जय भगवान जैन ऐडवोकेट

शान्ति पथ प्रदर्शन में संकलित प्रवचनों के प्रवक्ता का जहां यह अभिप्राय व्यक्त है कि वे लोक कल्याणार्थ सभी को शान्ति पथ प्रदर्शन करा सकें वहां उनका यह भी अभिप्राय रहा है कि तदर्थ प्रयुक्त होने वाली भाषा ऐसी सरल व सुबोध हो कि वह शिक्षित तथा अशिक्षित सभी के समझ में आ सके । कोई जमाना था कि तत्वज्ञों के अनुभूत व अनुसन्धानित तथ्यों को समझने के लिये उनके द्वारा आविष्कृत गूढ़ विशिष्ट २ परिभाषाओं को जान लेना आवश्यक होता था, जिसका परिणाम यह हुआ कि तात्विक विद्यायें कुछ इने गिने विद्वानों की ही सम्पत्ति बन कर रह गई और जन साधारण उनके रसास्वादन से वञ्चित रह गया जो कभी भी तत्वज्ञों को अभिप्रेत न था । भाषा अन्ततः भाव अभिव्यंजन का एक माध्यम मात्र है, इसी से उसका महत्व व उपयोगिता बनी है जैसा कि समयसार गाथा ८ में भगवत् कुन्दकुन्द ने कहा है—'न शक्योऽनार्य्योऽनार्य्य भाषां विना तु ग्राहयितुं' अनार्य जन आर्य भाषाको नहीं समझते अतः प्रवक्ता का कर्तव्य है कि जिस देश और युग की जनता को सन्देश देना अभीष्ट हो उन्हीं की भाषा और मुहावरों को वह अपनावे । इन प्रवचनों के प्रवक्ता ने इस दिशा में जो कदम उठाया है वह अत्यन्त सराहनीय और अभिनन्दनीय है । इस ग्रन्थ को प्रकाशन के आरम्भ से ही जो लोकप्रियता मिली है उसके लिये निःसन्देह इसके प्रवक्ता महान श्रेय के पात्र हैं ।

卐 विषय-सूची 卐

संख्या	विषय	पृष्ठ
	१ भूमिका	
	(१) शिक्षण पद्धति क्रम	
१	प्रत्येक कार्य की प्रयोजकता	२
२	श्रोता की पात्रता	३
३	वक्ता की प्रमाणिकता	४
४	विवेचन की अक्रमिकता	६
५	वक्तव्य का विस्तार	६
६	श्रोता के मुख्य दोष	६
७	पक्षपात व साम्प्रदायिकता का निषेध	७
८	वैज्ञानिक व फ़िलास्फ़र बनकर चलने की प्रेरणा	८
९	पक्षपात निषेध की पुनः प्रेरणा	१२
	२ धर्म व शान्ति	
	(२) धर्म का प्रयोजन	
१	धर्म की आवश्यकता क्यों	१४
२	धर्म का प्रयोजन शान्ति	१४
३	उपाय जानने का वैज्ञानिक ढङ्ग	१५
४	वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता	१६
५	अशान्ति का कारण इच्छायें	१७
६	संसार वृक्ष	१७
७	षट्लेश्या वृक्ष	२२
	(३) शान्ति की पहिचान	
१	भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है	२६
२	भोग इच्छाओं का मूल	२६
३	चार कोटि की शान्ति	२७
४	सच्ची व झूठी शान्ति की पहिचान	२९
	(४) धर्म का स्वरूप	
१	सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा	३०
२	धर्म के अनेकों सच्चे व झूठे लक्षण तथा उनका समन्वय	३१
	(५) धर्म का प्रारम्भिक क्रम	
१	अन्तर्ध्वनि व संस्कार मित्र व शत्रु के रूप में	३४
	३ श्रद्धा	
	(६) लक्ष्य बिन्दु	
१	मार्ग की त्रयात्मकता	३७
२	लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व सार्थकता	३७
	(७) श्रद्धा	
१	श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता	४०
	(८) श्रद्धा व ज्ञान का विषय	
१	प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये सात आवश्यक बातें	४५
२	तत्वार्थ शब्द का अर्थ	४७
	४ स्व पर तत्व	
	(९) जीव तत्व	

संख्या	विषय	पृष्ठ
१	'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में	४६
२	'मैं' की खोज अन्तर में	५१
३	'तू' ही में 'मैं' निहित है	५२
	(१०) शान्ति कहाँ है	
१	शान्ति मेरा स्वभाव	५४
२	शान्ति की खोज अनेकों रूपों व विषयों में	५४
३	जल में मीन प्यासी	५५
४	शान्ति का आवास मैं स्वयं हूँ	५६
	(११) अजीव तत्व	
१	मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास	५७
२	जन्म व मृत्यु का रहस्य	५७
३	पुनर्जन्म की सिद्धि	५६
४	उत्पाद व्यय ध्रौव्य	५६
	(१२) स्व-पर भेद विज्ञान	
१	तीन कोटि के पर-पदार्थ	६२
२	राग पर पदार्थ है	६३
३	अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम	६८
४	षट्कारकी पृथकत्व	६६
५	साझे की खेती	७०
६	निमित्त की कथञ्चित सत्यता	७१
७	निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता	७१
८	संकुचित दृष्टि से निमित्त के ग्रहण का निषेध	७२
९	भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टापना	७२
	(१३) ज्ञानधारा व कर्मधारा	
१	ज्ञानधारा व कर्मधारा निर्देश	७४
२	भेदज्ञानी का वास्तविक पुरुषार्थ	७५
	(१४) कर्ता कर्म व्यवस्था	
१	कार्य शब्द का अर्थ	७६
२	कर्त्ता कर्म सम्बन्धी पांच समवाय निर्देश व स्याद्वाद की आवश्कयता	८०
३	स्वभाव निर्देश	८१
४	संयोग या निमित्त निर्देश	८२
५	पुरुषार्थ निर्देश	८३
	(१५) नियति व समन्वय	
१	नियति व भवितव्य निर्देश	८६
२	नियति की सिद्धि	८८
३	अनेकों प्रश्न	९०
४	नियति व पुरुषार्थ का समन्वय	९१
५	नियति व अपराध का समन्वय	९१
६	नियति व भवितव्य में अन्तर	९२
७	नियति व उपदेश का समन्वय	९२
८	नियति का कर्त्ता कौन	९२
९	नियति व अकाल मृत्यु आदि का समन्वय	९३
१०	नियति व आगम विरोध का समन्वय	९३
११	नियति व अनियति का समन्वय	९४
१२	क्या नियति प्रेरक है ?	९६
१३	साधक क्या करे ?	९७
१४	नियति निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय	९७
१५	वस्तु की जटिलता व वस्तु स्वतन्त्रता	१००
१६	उपादेय क्या ?	१०२
१७	कर्मोदय व निज स्वतन्त्रता का समन्वय	१०२
१८	उपसंहार	१०४
	५ आस्रव बन्ध	
	(१६) आस्रव सामान्य	
१	आस्रव का अर्थ अपराध	१०६
२	कार्माण शरीर व उसकी निःसारता	१०६

संख्या	विषय	पृष्ठ
	(१७) अशुभ आस्रव	
१	क्षण-क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध	११०
२	पंचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी राग द्वेष	११०
३	राग द्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता	११२
	(१८) शुभ आस्रव निषेध	
१	पुण्य अपराध	११४
२	पुण्य पाप में समानता	११५
३	पुण्य प्रवृत्ति में इच्छाओं का बल	११६
४	पांच कोटि की शुभ इच्छायें	११७
५	पुण्य का निषेध	११९
६	पुण्य में पाप	११९
७	ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर	१२०
८	अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना	१२१
	(१९) शुभ आस्रव समर्थन	
१	शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध	१२४
२	मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश	१२५
३	चार कोटि की क्रियायें	१२५
४	मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त	१२६
५	चारों क्रियाओं में हेयोपादेयता	१२६
	(२०) बन्ध तत्व	
१	बन्धन शरीरादिक की दासता	१२९
२	तीन दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन	१३०
३	भूल के प्रेरक संस्कार	१३१
४	संस्कारों का निर्माण क्रम	१३१
	६ संवर निर्जरा [गृहस्थ सम्बन्धी]	
	(२१) संवर सामान्य	
१	जीवन में उतारने की प्रेरणा	१३४
२	क्रियाओं में अभिप्राय की मुख्यता	१३५
३	प्रत्येक क्रिया में अन्तरंग व बाह्य दो अंश	१३७
	(२२) देव पूजा	
१	शान्ति का भिखारी मैं	१३९
२	अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति में देवत्व	१४०
३	शान्ति के उपासक का सच्चा देव	१४१
४	यथार्थ पूजा शान्ति का वेदन	१४३
५	वास्तविक पूजन व बहुमान का चित्रण	१४३
६	अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप	१४६
७	देव कौन	१४८
८	पूजा क्या	१४९
९	पूजा की आवश्यकता क्यों	१४९
१०	देव के आश्रय की क्या आवश्यकता	१५०
११	देव से मुझे शान्ति कैसे मिलती है	१५०
१२	पूजा में कर्तावाद क्यों	१५२
१३	पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों	१५३
१४	चित्र का मन पर प्रभाव	१५३
१५	वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता	१५५
१६	कल्पनाओं का बल	१५५
१७	प्रतिमा व जीवित देव में समानता	१५६
१८	देव के प्रति बहुमान व भक्ति	१५६
१९	प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर	१५७
२०	पंच कल्याणक महत्व	१५८
२१	प्रतिमा क्या और कैसे देती है	१५९
२२	भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त	१६०
२३	विकल्पों को सर्वतः व सर्वदा दबाने में असमर्थता	१६१
२४	थोड़ी देर को विकल्प दबाना प्रयोजनीय	१६१
२५	अनुकूल वातावरण की महत्ता	१६१
२६	मन्दिर की अनुकूलता	१६२
२७	मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पों का त्याग	१६५

संख्या	विषय	पृष्ठ
	(२३) गुरु उपासना	
१	तत्वों की पुनरावृत्ति	१६८
२	गुरु परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता	१७०
३	गुरु का जीवन एक शिक्षा है	१७१
४	आदर्श गुरु उपासना	१७१
५	देव व गुरु में कथञ्चित समानता	१७३
६	पर होते हुए भी गुरु का आश्रय क्यों	१७३
७	प्रयोजन वश अनेकों गुरु	१७४
८	गुरु परीक्षा की प्रधान्ता व उसका उपाय	१७५
९	गुरु की यथार्थ पहिचान वीतरागता	१७६
१०	यथार्थ गुरु	१७७
११	अयथार्थ गुरु	१८०
१२	कालादि के बहानों का निराकरण	१८२
	(२४) स्वाध्याय	
१	स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन	१८५
२	स्वाध्याय का अर्थ	१८६
३	स्वाध्याय में विनय का महत्व	१८७
४	शास्त्र परीक्षा	१८८
५	अभिप्राय वश अनेकों शास्त्र	१८९
६	शास्त्र परीक्षा का उपाय	१८९
७	सच्चे शास्त्रों में भी प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक	१९१
	(२५) संयम सामान्य	
१	संयम का सर्व अंगों में एकत्व	१९४
२	संयम का अर्थ	१९४
३	पूर्ण संयम का आदर्श स्वरूप	१९५
४	संयम धारण की प्रेरणा	१९६
	(२६) इन्द्रिय संयम	
१	इन्द्रिय विषयों के दो भाग	१९८
२	इन्द्रिय विषय का अर्थ	१९८
३	स्पर्शनेन्द्रिय संयम	१९९
४	अन्तरंग व बाह्य संयम	२००
५	जिह्वा इन्द्रिय संयम	२०१
६	नासिका इन्द्रिय संयम	२०२
७	चक्षु इन्द्रिय संयम	२०३
८	कर्णेन्द्रिय संयम	२०४
९	मन का संयम	२०४
	(२७) प्राण संयम	
१	दश प्राण	२०६
२	जीवों के भेद प्रभेद	२०६
३	स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि	२०८
४	पांच पाप निर्देश	२१०
५	हिंसा	२१०
६	असत्य	२११
७	चोरी	२११
८	अब्रह्म	२१२
९	परिग्रह	२१२
१०	प्राण पीड़न के १२९६० अंग	२१२
११	हिंसा का व्यापक अर्थ	२१३
१२	सकल व देश प्राण संयम	२१३
१३	कर्तव्य अकर्तव्य निर्देश	२१४
१४	वर्तमान जीवन का चित्रण	२१४
१५	विवेक हीनता	२१५
१६	उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार	२१६
१७	अहिंसा कायरता नहीं	२१७
१८	अहिंसा में लौकिक वीरत्व	२१७
१९	विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय	२१८
२०	अहिंसा में अलौकिक वीरत्व	२१९
२१	विरोधी हिंसा का पात्र	२२१
२२	क्रूर जन्तु शत्रु नहीं	२२२
२३	संयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं	२२५
२४	सर्व सत्व एकत्व, मैत्री व प्रेम	२२६

संख्या	विषय	पृष्ठ
	(२८) निष्परिग्रहता	
१	नग्नता के प्रति भक्ति	२३१
२	नग्नता के प्रति करुणा	२३१
३	नग्नता के प्रति घृणा	२३२
४	जीवन परिवर्तन की प्रेरणा	२३२
५	नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध	२३४
६	किंचित् मात्र भी परिग्रह का निषेध	२३६
७	निष्परिग्रहता व साम्यवाद	२३७
८	विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता	२३७
९	निष्परिग्रहता का विश्व के प्रति उपकार	२३८
१०	निष्परिग्रहता का अर्थ	२३९
११	आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश	२३९
१२	परिग्रह दु:ख के रूप में	२४०
१३	निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है	२४१
	(२९) निर्जरा या तप	
१	तत्व पुनरावृत्ति	२४२
२	तप का प्रयोजन	२४४
३	तप की प्रेरणा	२४५
४	बिना परीक्षा सन्तुष्टि का निषेध	२४६
५	आंशिक तप की सम्भावना	२४८
६	संस्कार तोड़ने का उपाय	२४८
७	तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व	२५०
८	संवर में निर्जरा	२५०
९	संवर निर्जरा में अन्तर	२५१
१०	तप की आवश्यकता क्यों	२५२
११	तप द्वारा शक्ति में वृद्धि	२५२
१२	तप में सफलता का क्रम	२५४
१३	संस्कारों के प्रति सावधानी	२५५
१४	गृहस्थ वातावरण में शान्ति को अवकाश	२५६
१५	एक नवीन संस्कार की आवश्यकता	२५७
१६	नवीन संस्कार का उत्पत्ति क्रम	२५७
१७	अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार	२५८
१८	नवीन संस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किंचित पुरुषार्थ आवश्यक	२५९
१९	कर्तव्य रूप छ: क्रियाओं का निर्देश	२५९
२०	विनय तप	२६०
२१	वैयावृत्ति तप	२६०
२२	स्वाध्याय तप	२६१
२३	त्याग तप	२६१
२४	सामायिक तप	२६१
२५	सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें	२६३
२६	प्रायश्चित की महत्ता व क्रम	२६६
२७	परिणामों के भेद प्रभेदों का पढ़ना	२६६
२८	परिणामों का हिसाब पेटा	२६७
२९	प्रायश्चित में गुरु साक्षी का महत्व	२६७
	(३०) दान	
१	सर्व पदार्थों में दान शक्ति	२६९
२	दान के भेद प्रभेद	२७०
३	पात्र के भेद प्रभेद	२७०
४	स्व पर हित की मुख्यता	२७१
५	दातार व उनके अंतरङ्ग अभिप्राय	२७१
६	दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक	२७२
७	दान का सदुपयोग	२७४
	७ संवर निर्जरा [विरक्त श्रावक सम्बन्धी]	
	(३१) वैराग्य	
१	वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार	२७६
२	वैराग्य का प्रेरक शान्ति का वेदन	२७७
३	वैराग्य का बल अभ्यास	२७८
	(३२) व्रत व शल्य	
१	शल्य का स्वरूप	२८०
२	अणुव्रती	२८०

पृष्ठ	विषय	संख्या
३	योगियों का पराक्रम	२८१
४	परिषह जय	२८२
५	महाव्रती	२८३
६	गृहस्थों को व्रतों व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन	२८४
	(३३) साधु सम्बन्धित संवर	
१	गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर	२८६
२	साधु धर्म के सात मुख्य अंग	२८७
३	समिति	२८७
४	गुप्ति	२८६
	(३४) उत्तम क्षमा	
१	दश धर्मों में एकत्व	२६०
२	क्षमा व क्रोध का अर्थ	२६०
३	आदर्श गृहस्थ की क्षमा	२६१
४	साधु के अन्तरङ्ग शत्रु	२६३
५	चार विकट परिस्थितियों में उठने वाले परिणाम	२६४
६	गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा	२६७
	(३५) उत्तम मार्दव	
१	पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा	२६६
२	आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम	३००
३	लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें	३०३
	(३६) उत्तम आर्जव	
१	आर्जव का लक्षण	३०५
२	गृहस्थ की क्रियाओं में माया	३०५
३	साधु की क्रियाओं में माया	३०६
४	माया जीतने के लिये कुछ विचार	३०७

पृष्ठ	विषय	संख्या
	(३७) उत्तम शौच	
१	सच्चा शौच अन्तर-मल शोधन	३१०
२	गङ्गा तीर्थ की सार्थकता	३११
३	गृहस्थ दशा में लोभ की प्रधानता व पराक्रम	३१२
४	धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा	३१३
५	यथा योग्य नमस्कारादि क्रियाओं के नियम की सार्थकता	३१४
	(३८) उत्तम सत्य	
१	सत्य में अभिप्राय की मुख्यता	३१६
२	पारमार्थिक सत्य पर-पदार्थों में कर्ता बुद्धि का अभाव	३१७
३	हित मित प्रिय वचन ही सत्य है	३१८
४	दश प्रकार वचन सत्य	३१६
५	शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक	३२०
	(३६) उत्तम संयम	
१	यम व नियम	३२१
२	पंचेन्द्रिय जय	३२२
३	पंच महाव्रत	३२३
४	पंच समिति	३२३
५	सप्त शारीरिक क्रियायें	३२४
६	षट आवश्यक	३२५
	(४०) उत्तम तप	
१	तप में दुख नहीं होता	३२७
२	तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद	३२८
३	तप से शरीर की साथकता	३२६
४	किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है	३२६

संख्या	विषय	पृष्ठ
५	अनशन तप	३३०
६	अवमौदर्य तप	३३०
७	वृत्ति परिसंख्यान तप	३३०
८	रस परित्याग तप	३३१
९	विविक्त शय्यासन तप	३३२
१०	काय क्लेश तप	३३२
११	छः प्रकार का अन्तरङ्ग तप	३३३
	(४१) उत्तम त्याग	
१	ग्रहण व त्याग के जीवन में अन्तर	३३६
२	ग्रहण में दुःख	३३६
३	त्याग का प्रयोजन शान्ति	३३७
४	त्याग का प्रयोजन भूखों को दान	३३८
५	विलासता की रौ में पड़ा भारत	३३९
६	गुरुदेव का त्याग शान्ति का सन्देश	३४०
	(४२) उत्तम आकिंचन्य धर्म	
१	अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी	३४१
२	स्वतन्त्रता का उपासक एक योगी-महात्मा गांधी	३४२
३	शान्ति के उपासक को कुछ नहीं चाहिए	३४२
४	दृढ़ संकल्प की महत्ता	३४२
५	षट्कारकी कल्पनाओं की विपरीतता	३४३
६	यहां कोई तेरा नहीं	३४४
७	सच्चा त्याग	३४५
	(४३) उत्तम ब्रह्मचर्य	
१	ब्रह्मचर्य का लक्षण	३४७
२	ब्रह्मचारी का लक्षण	३४८
३	ब्रह्मचारी के मार्ग का अनुक्रम	३४८
४	ब्रह्मचारी के मार्ग की दस स्थितियां	३४९
	(४४) अतिचार	
१	धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना	३५२
२	अतिचार व अनाचार में अन्तर	३५५
	(४५) परिषहजय व अनुप्रेक्षा	
१	तप व परिषह में अन्तर	३५७
२	परिषह जय का लक्षण	३५७
३	परिषहों के भेद	३५८
४	अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढङ्ग	३५९
५	कल्पनाओं का महात्म्य	३६१
६	क्रम से बारह भावनायें व उनके चित्र	३६२
	(४६) चारित्र	
१	चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध	३७२
२	चारित्र में अभ्यास की महिमा	३७३
३	सामायिक आदि पांचों चारित्रों का चित्रण	३७३
४	अन्तरङ्ग व बाह्य चारित्र का समन्वय	३७५
	(४७) निर्जरा व मोक्ष	
१	निर्जरा का परिचय	३७७
२	मोक्ष का लक्षण	३७७
३	मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें	३७८
४	मोक्ष पर अविश्वास	३७८
५	मोक्ष का स्वरूप शान्ति	३७९
	८ समन्वय	
	(४८) शान्ति पथ का एकीकरण	
१	धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय	३८१
२	श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण	३८२
३	धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता	३८३
४	शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य-कारण भाव	३८३

संख्या	विषय	पृष्ठ
५	अन्तरङ्ग व बाह्य का समन्वय	३८४
	(४९) सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा के लक्षणों में समन्वय	
१	सम्यक्त्व के पांच लक्षण	३८७
२	पाँचों लक्षणों में पृथक पृथक शान्ति का समावेश	३८८
३	पांचों लक्षणों की एकता	३८९
	(५०) सम्यक्त्व के अंग व गुण	
१	धर्मी के अनेकों स्वाभाविक चिन्ह	३९१
२	निःशंकता	३९२
३	निराकांक्षता	३९३
४	निर्विचिकित्सा	३९४
५	अमूढ़ दृष्टि	३९६
६	उपगूहन व उपवृंहण	३९७
७	स्थितिकरण	३९८
८	वात्सल्य	३९९
९	प्रभावना	३९९
१०	प्रशम	४००
११	संवेग	४००
१२	अनुकम्पा	४००
१३	आस्तिक्य	४००
१४	मैत्री	४०१
१५	प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थता	४०१
	९ परिशिष्ट	
	(५१) भोजन शुद्धि	
	(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता—	
१	भोजन का मन पर प्रभाव	४०२
२	तामसिक, राजसिक व सात्विक भोजन	४०३
३	सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक	४०४
४	पाचन क्रियाओं की सार्थकता	४०६
	(ख) भोजन शुद्धि व बैक्टेरिया विज्ञान—	
५	बैक्टेरिया परिचय व उनकी जातियां	४०७
६	पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति क्रम	४०८
७	उत्पत्ति मर्यादा काल	४०९
८	बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार	४१०
९	बैक्टेरिया दूर करने का उपाय	४१२
१०	नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम	४१३
११	स्थिति मर्यादा काल	४१४
	(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान	
१२	मन वचन काय व आहार शुद्धि	४१५
१३	द्रव्य क्षेत्र काल व भाव शुद्धि	४१६
१४	भोजन परोसना	४२१
१५	क्रियाओं की शक्यता	४२२
	(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान—	
१५(क)	दूध व दही की भक्ष्यता	४२३
१६	अण्डे व दूध में महान अन्तर	४२४
१७	मांस व अण्डे की अभक्ष्यता	४२६
	मनुज प्रकृति से शाकाहारी (कविता)	४३१
	(५२) सल्लेखना	
१	शान्ति के उपासक की गर्जना	४३३
२	सल्लेखना आत्म हत्या नहीं	४३३
३	साधक व शरीर का सम्बन्ध	४३४
४	अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन	४३६
५	साम्यता	४३६
६	आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर	४३७
	शान्ति गीत	४३८
	संसार वृक्ष (चित्र)	४४९
	तोहे राम मिलेंगे—गीत	४४०
	तेरी महिमा (कविता)	४४०

चित्र परिचय—शान्ति पथ प्रदर्शन

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
१	शिवपुरी जाने के लिए मोक्ष मार्ग रुपी सड़क पर (शान्ति पथ पर) चारित्र रुपी रथ (सवारी) तैयार है। मुमुक्षु को इस पर सवार होने की देर है।	१३
२	परम उपकारी गुरुवर विषयों में लिप्त संसारी जीवों को करुणा करके सम्बोध रहे हैं कि हे भव्यहो! यदि शान्ति प्राप्ति की इच्छा है तो शीघ्र ही धर्म के मार्ग पर आरुढ़ हो जाओ।	२५
३	जन्म जरा मरण के दुःखों से संतप्त संसारी जीवों को शान्ति के मार्ग पर लाने के लिए, धर्म का स्वरूप बताने वाले धर्म नेता—तीर्थंकर महावीर, प्रभु ईसा, भगवान बुद्ध व महात्मा गान्धी।	३३
४	संस्कार मनुष्य के शत्रु हैं और अन्तर्ध्वनि मित्र, दोनों अपने अपने रथ में स्वार हैं युद्ध के लिए। यदि मनुष्य विवेक से काम ले और अन्तर्ध्वनि की अवहेलना न करे तो वह संस्कारों पर विजय प्राप्त करलेगा, फलस्वरूप संस्कार रण क्षेत्र से भाग जायेंगे। रह जायेगी अकेली अन्तर्ध्वनि जिसके आधार से तू शान्ति पथ पर चलता रहेगा।	३६
५	जिस में सच्ची श्रद्धा है वही निर्भय और वीर है। यहां पर सच्ची श्रद्धा के धारी कुमार वर्धमान एक ऐसे मस्त खूंखार हाथी को काबू में कर रहे हैं जिसने अनेकों को मार्ग में रौंद डाला था। यह चित्र तत्वार्थ की सच्ची श्रद्धा के बल पर मोह रुपी मस्त हाथी को परास्त करने का चित्रण भी है।	४४
६	यह चित्र तत्वार्थ का बोधक है—जीव द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है, जानना उसकी पर्याय है, अर्थात ज्ञान गुण व उसकी पर्यायों वाले जीव तत्व का श्रद्धान अभीष्ट है। यह व्यक्ति जो बैठा है ज्ञान धारा में लीन है।	४८
७	इस चित्र में सामने जो साधक की एक सौम्य मूर्ति दिखाई दे रही है वह अन्तरंग में चित प्रकाश, ज्ञान पुञ्ज 'मैं' को अनुभव करने वाला तो जीव तत्व है। इसी में शान्ति निवास करती है जिसे यह जीव अनादि काल से भूला हुआ है तथा इसको तलाश में है। पद्मासन से बैठा यह शरीर, शास्त्र, पिच्छी, कमण्डल, मकान सब अजीव हैं।	५३
८	यह लोक सब जीव और अजीव तत्व का पसारा है। स्व और पर का भेद विज्ञान प्राप्त करके, अहिंसा व सत्य के आधार पर इस जीव को निज शान्ति की सिद्धि यहाँ तक कि परमात्म पद की प्राप्ति हो जाती है तथा इन्हीं के आधार पर लोक में विश्व शान्ति की भी सिद्धि होती है।	६१

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
९	दीपक स्वपर प्रकाशक है, इसी प्रकार जीव में ज्ञान गुण स्वपर प्रकाशक है अतः ज्ञान से स्वपर भेद विज्ञान की प्राप्ति करके केवल ज्ञाता दृष्टा बने रहना अर्थात् कर्ता व भोक्ता पने के भाव को त्याग कर राग द्वेष का दूर करना अभीष्ट है। इसी में निज शान्ति की प्राप्ति का रहस्य छिपा है।	७३
१०	राज दरबार लगा है, सामन्त लोग खड़े हैं। कुछ अपराधियों को महाराज के सामने पेश किया जा रहा है। ये सभी स्व पर भेद विज्ञान के विवेक से शून्य हैं—कर्मधारा में लीन हैं, अतः इसका फल संसार परिभ्रमण के रूप में भोगना पड़ेगा। पृष्ठ ४८ पर जो व्यक्ति बैठा वस्तु स्वरूप का विचार कर रहा है—वह ज्ञान धारा में लीन है उसे स्व पर का विवेक है।	७८
११	अन्तरंग शुद्ध परिणति व आहार दान के पुरुषार्थ और उत्तम पात्र श्री वीर प्रभु के निमित्त का फल—कारागार में जंजीरों से बन्धी राजपुत्री सती चन्दन बाला ने जब श्री वीर प्रभु को आहार चर्या के लिये आते देखा तो उसके आहार दान के भाव जागृत होते ही सब बन्धन कट गये और उसके भाग्य ने पलटा खाया। ऐसा था श्री वीर प्रभु के निमित्त का प्रभाव।	८५
१२	एक साधक का चित्र—ये हैं परम उपास्य और ज्ञान धारा के प्रतीक जिनकी नियति में मुक्ति रूप भवितव्य प्रकाशमान है। जिन्हों ने कर्मधारा रूप, मुक्ति के प्रतिकूल निमित्तों को त्याग कर ज्ञान धारा रूप आत्म संयम, तप, त्याग आदि अनुकूल निमित्तों को जुटा कर आत्म ध्यान रूप पुरुषार्थ के द्वारा निज आत्म स्वभाव को प्राप्त किया है।	१०५
१३	एक एतिहासिक घटना—शुभ व अशुभ आस्रव का फल। मैना सती के पिता पहुपाल को शुभ व अशुभ कर्मों के फल पर श्रद्धा न थी, वह अपनी सन्तान को प्रारब्ध का स्वयं अपने को कर्तामानता था, वह कर्मधारा रूप प्रवृत्ति में मग्न था, किन्तु मैना सती अपने पूर्वके बन्धेकर्मों के फलस्वरूप ही सुख दुख पर विश्वास रखती थी। इस कारण से उस के पिताने उसका विवाह एक अशुभ कर्म फल के भोक्ता कुष्ट रोग से ग्रस्त राजा अरिदमन के पुत्र राजकुमार श्रीपाल के साथ कर दिया जो अपने अन्य कुष्टी साथियों के साथ जंगलों में विपदा ग्रस्त फिरता था। वह सती मैना भी अपने रोगी पति व उसके साथियों के साथ रहने लगी और उनकी सेवा टहलकरनें लगी। धर्म संस्कारों के फलस्वरूपउस ने जंगल में ही भगवान की प्रतिमा के सामने सिद्ध भगवान की पूजा भक्ति का बड़ा पाठ किया, पश्चात भगवान के न्हवन के गन्धोदक को श्रीपाल तथा उस के साथियों के शरीर पर लगाया तो मैना सती के सत पुरुषार्थ व शुभ कर्म के निमित्त से तथा उन सभी के शुभ आस्रवके फलस्वरूप उनका वह कुष्ट रोग जाता रहा। ऐसा है शुभ व अशुभ आस्रव के फल का स्वरूप।	१०९

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
१४	यह जीव इच्छा रूपी वेश्याओं के साथ मगन हो रहा है और शान्ति रानी को धकेल कर नीचे गिरा रक्खा है यह इसके अशुभ आस्रव का फल है, परन्तु वह पति भक्त शान्ति रानी अनादि काल से अपमानित होते हुए भी मधुरता से अपनी ओर बुला रही है कि हे स्वामिन ! एक बार मेरे मुख पर दृष्टि डाल कर तो देखो, यदि आपको मेरे अन्दर रूचि हो जावे तो मेरी संगति कर लेना अन्यथा न करना। जब यह जीव शान्ति की ओर आकृष्ट होता है तो इच्छायें किं-कर्तव्य विमूढ़ सी होकर खड़ी रह जाती हैं।	११३
१५	एक विकल्प—प्रभु शान्ति फल बांट रहे हैं, जो व्यक्ति सही अभिप्राय पूर्वक कार्य कर रहा है उसे मिष्ट फल भी मिल रहा है और जो अज्ञान पूर्वक अन्धवत कार्य कर रहा है उसे वह फल नहीं मिलता। यदि शुभ क्रिया में अभिप्राय है शान्ति का तो फल भी शान्ति मिलेगा और यदि अभिप्राय में भोगाकांक्षा का राग है तो फल अशान्ति रूप ही मिलेगा।	१२३
१६	यह है शुभ संस्कार बन्धन का एक दृष्य । जो व्यक्ति प्रभु की मूर्ति को ध्यान से अन्तरंग शुभ अभिप्राय पूर्वक देख रहे हैं वे शुभ संस्कार दृढ़ कर रहे हैं तथा अन्त में शान्ति फल को प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि प्रभु जिन की प्रतिमा मानस्थम्भ के शिखर पर विराजमान हैं पूर्ण शान्ति के प्रतीक हैं।	१३३
१७	यह संवर तत्व के प्रतीक ज्ञान धारा में रंगे हुए शुभ व अशुभ विकल्पों से रहित आत्मध्यान में मग्न एक साधक का चित्र है जिनकी अन्तरंग क्रिया तो सभी लौकिक विकल्पों से रहित निज आत्म गुणों के चिन्तन रूप तथा पूर्ण शान्ति के अनुभव रूप है तथा बहिरंग क्रिया शरीर की निश्चलता है। यद्यपि दैत्य गण उन्हें अपने ध्येय से डिगाने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु ये योगी निर्भय और निश्चल खड़े हैं।	१३८
१८	देवालय के शान्त वातावरण में स्वाध्याय में तल्लीन एक साधू गुरुवर बैठे हैं। यहां मन्दिर में अन्य लौकिक विकल्पों से मुक्ति मिलती है। इसी लिये बहुत से शान्ति के इच्छुक इस ओर चले आ रहे हैं, यहाँ इनको मिलेंगे देव दर्शन, देव पूजा, गुरु उपासना का संयोग तथा स्वाध्याय करने व उपदेश सुनने का अवसर।	१६७
१९	ये हैं २८ मूल गुण धारी आदर्श गुरु जिनके दर्शन मात्र से एक अलौकिक शान्ति मिलती है, जीवन को प्रेरणा देने वाला उपदेश मिलता है। ये पर पदार्थों सम्बन्धी विकल्पों से दूर रह कर स्व हित का साधन करते हैं। तथा मुमुक्षु जन को अध्यात्म मार्ग का उपदेश देकर पर हित करते हैं,ऐसे वीतरागी, परोपकारी शान्ति के आदर्श गुरु की विनय भक्ति करना तथा इनके बताये हुए मार्ग पर चलना गुरु उपासना है।	१८४
२०	ये है आठ जिल्दों में जैनेन्द्र प्रमाण कोष। प्रत्येक जिल्द में करीब पांच सौ पृष्ठ हैं। इसके सम्पादक श्री ब्र० जिनेन्द्र जी पानीपत न बड़ा परिश्रम करके इसमें जन आगम के समस्त मूल सैद्धान्तिक शब्दों व विषयों को वर्णानुक्रम से संकलित कर दिया है। इसमें	

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
	प्रमाणिक ऋषियों के आर्ष वाक्यों के प्रमाण सैद्धान्तिक विषयों की पुष्टि में प्रस्तुत किये गये हैं।	१६३
२१	मन व पाँचों इन्द्रियों के अनावश्यक विषयों पर काबू पाने वाले सच्चे देश भक्त तथा समय की मांग के पारखी दानवीर भामाशाह अपने हृदय सम्राट तथा आन बान के पक्के वीर यशस्वी योद्धा राणा प्रताप को उनके अत्यन्त आपत्ति काल में उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मुक्त हस्त से धन भेंट कर रहे हैं। संयम से धन बचता है तथा संयमी ही इसका सदुपयोग कर सकता है।	२०५
२२	ये हैं प्राण संयम के अनन्य आदर्श, अहिंसा व निष्परिग्रहता की साक्षात मूर्ति, विकल्प जालों व लौकिक संस्कारों से पूर्णतया मुक्त, निज अध्यात्म विभूति व पूर्ण शान्ति के भोक्ता भगवान महावीर जिन के प्रभाव से वैर विरोधी जीव भी वैर त्याग कर शान्त हो जाते थे।	२३०
२३	अपनी पूर्ण आत्म शुद्धि के लिये छह प्रकार का अन्तरंग व छह प्रकार का बहिरंग तप का साधन करके अनादि काल से लगे दुष्ट संस्कारों को नष्ट करने वाले, पूर्ण शान्ति व अध्यात्म रस के भोक्ता ज्ञान ध्यान में लीन योगी सन्त।	२६७
२४	(१) शास्त्र भण्डार स्थापित करने व आत्म कल्यान करने वाले धर्म शास्त्रों का दान करने से जिज्ञासु जन का ज्ञान बढ़ता है व धर्म प्रभावना होती है, यह है ज्ञान दान। (२) आहार दान से साधु व योगी जन आत्म कल्यान के मार्ग में लगे रहकर निज व पर उपकार करते हैं—यहां पर युग की आदि में असाधारण दातार राजा श्रेयांस असाधारण पात्र आदि-ब्रह्मा श्री ऋषभ देव को आहर दान दे रहे हैं।	२७५
२५	गृहस्थ अवस्था में इन्द्रिय विषय भोगों से वैराग्य को प्राप्त समस्त संकल्प विकल्प जाल से मुक्ति के हेतु राजकुमार वर्धमान राज पाट के अधिकार व धन सम्पदा तथा कुटुम्बी जन को छोड़ कर स्वात्मविभूति व अलौकिक निज शान्ति की प्राप्ति के लिये बन को चले गये और पंच महाव्रतों को ग्रहण कर केश-लोच कर रहे हैं।	२७६
२६	२८ मूल गुणधारी सच्चे महाव्रती साधू के चित्त में कोई शल्य नहीं रहता। ऐसे ध्यानस्थ तपस्वी यशोधन के गले में जब राजा श्रेणिक ने मरा हुआ सर्प डाल दिया तो वे निःशल्य ध्यान में मग्न रहे। पता लगने पर रानी चेलना ने आकर बड़ी सावधानी से सांप को गले से हटाया। ध्यान समाप्त होने पर बड़े साम्य भाव से ऋषि-राज ने दोनों को धर्म वृद्धि दी। राजा ने प्रभावित हो कर व्रत ग्रहण किये।	२८५
२७	मन वचन व काय गुप्ति के साधक योगी—सर्प का उपसर्ग होने पर भी ध्यान में निश्चल खड़े हैं। सर्प के भय का इन के मन में कोई विकार नहीं, वचन से कोई शब्द उसको भगाने का कहते नहीं, काय भी निश्चल है चाहे सर्प उसे डसे या अन्य भी कोई आपत्ति आये।	२८६

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
२८	उत्तम क्षमा धर्म के प्रतीक एक योगी, जिनके समक्ष में जाति विरोधी जीव भी शान्त व क्षमाशील बैठे हैं।	२९८
२९	मार्दव धर्म के प्रतीक—आठ प्रकार के मद विशेषतया ज्ञान के मद से रहित जैन सिद्धान्त के उच्च कोटि के विद्वान डाक्टर ए० एन० उपाध्याय अपने अध्ययन कक्ष में।	३०४
३०	आर्जव धर्म का प्रतीक—एक सरल परिणामी, दरिद्र विद्वान ब्राह्मण राजा भोज के महल में, जिसका परिचय चित्र के साथ दिया है।	३०९
३१	उत्तम सत्य धर्म के प्रतीक—दो तीर्थंकरों की प्राचीन प्रतिमायें एक मन्दिर में। कुछ प्रतियों में इस स्थान पर दयालु बुद्ध का चित्र है जो मन वचन व काय से अहिंसा व सत्य के प्रतीक थे।	३२०
३२	उत्तम संयम व उत्तम तप के प्रतीक योगेश्वर जिनके आगे बड़े २ मुकुट धारी राजा नत मस्तक होकर अपने को धन्य मानते हैं।	३२६
३३	उत्तम तप के प्रतीक ध्यानस्थ योगी श्री देशभूषण व श्री कुलभूषण जिनका विशेष परिचय चित्र के साथ दिया है।	३३५
३४	त्याग धर्म के प्रतीक—अध्यात्मवेत्ता, निजानन्द रसभोक्ता, नाटक समयसार के रचयिता, सन्तोष के धनी पंडित बनारसी दास जी।	३४०
३५	संवर वृक्ष जिसके गुप्ति रुपी तने पर संयम, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परिषह जय रूप शाखायें फूटती हैं और उन पर मुक्ति रुपी फल लगते हैं।	३४६
३६	उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के पालन करने वाले एक ध्यानस्थ योगी।	३५२
३७	सिंह के बच्चे—सिंह निर्भयता का प्रतीक है। लोग इसको क्रूर जन्तु कहते हैं किन्तु सिंह के प्रेम, कृतज्ञता व माध्यस्थता के कई दृष्टान्त पृष्ठ २२३ पर दिये हैं। अज्ञान वश इसे अपना विरोधी समझ कर गोली का निशाना बनाते हैं, यह मनुष्य की क्रूरता है विरोधी हिंसा नहीं है। मनुष्य को सभी प्राणियों का रक्षक होना चाहिये।	३५६
३८	अनित्य भावना का द्योतक चित्र।	३६२
३९	अशरण भावना।	३६३
४०	संसार भावना—संसार सागर में चार गति का दिग्दर्शन।	३६४
४१	एकत्व भावना—योगी बता रहे हैं कि एक मात्र तेरी आत्मा ही तेरी हितू है अन्य नहीं	३६६
४२	अशुचि भावना—एक सुन्दर शरीर किस प्रकार रोगी हो जाता है तथा हाड़ माँस रुधिर से भरा है।	३६७
४३	आस्रव भावना—(१) वध बन्धन आदि से पाप आस्रव होता है।	

संख्या	चित्र परिचय	पृष्ठ
	(२) दूसरों की सेवा से पुण्य का आस्रव होता है, महात्मा गान्धी एक रोगी की परिचर्या कर रहे हैं।	३६७
४४	निर्जरा भावना—(१) अनादि काल से लगे चले आ रहे कर्मों की संयम तप द्वारा किस प्रकार निर्जरा होती है।	
	(२) कर्मों की निर्जरा हो जाने पर आत्मा कैसा निर्मल हो जाता है।	३६८
४५	लोक भावना—तीन लोक के स्वरुप का विचार करना। लोक के शिखर भाग में सिद्ध परमात्मा विराजते हैं उसके नीचे स्वर्गादिक हैं बीच के मध्य लोक में ही मनुष्य व तिर्यंच रहते हैं। नीचे अधोलोक में नरक हैं। इस प्रकार तीन लोक मनुष्याकार है।	३६९
४६	बोधि दुर्लभ भावना।	३७०
४७	(१) धर्म भावना—धर्म कल्प वृक्ष।	
	(२) धर्म का फल—आत्मा की शुद्धता अर्थात् मुक्त अवस्था।	३७१
४८	धर्म नौका।	३७६
४९	निर्जरा व कर्मों से पूर्ण मुक्ति हो जाने पर मोक्ष दशा में देह रहित आत्मा का आकार।	३८०
५०	सम्यक्त्व प्राप्ति पर एक राजकुमार आत्म साधना व शान्ति प्राप्ति के लिये महलों को छोड़ कर बन की ओर जा रहे हैं।	३९०
५१	इस युग के एक आदर्श साधु गुरुवर १०८ आचार्य शान्तिसागर जी ने जीवन के अन्तिम दिनों में यम सल्लेखना ग्रहण कर के एक महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया है। आपने आंखों की ज्योति क्षीण होने पर ही, ठीक २ संयम न पल सकने के कारण उचित समय पर सल्लेखना ग्रहण की तथा अन्तिम समय तक अत्यन्त शान्ति पूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हुए इस नश्वर देह का त्याग किया। सल्लेखना के समय का यह चित्र भादों कृष्ण पक्ष वि० सं० २०१२ का है।	४३८
५२	यह संसार वृक्ष है—इस का वर्णन पृष्ठ १७-२१ में किया गया है। संसार की जन्म मरण रूप ८४ लाख योनियों में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ यह प्राणी जब मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है तो संसार को बढ़ाने वाले विषय भोगों में लिप्त हो जाता है। तथा संसार से पार करने वाले परोपकारी सद्गुरु के सदुपदेश की भी अवहेलना करता है और अनेक संकट सहन करता हुआ मनुष्य जन्म को खो देता है तथा मर कर चतुर्गति रूप संसार में ही भ्रमण करता रहता है—ऐसी दयनीय अवस्था है संसारी जीव की।	४३९

शुध्दि पत्र

शान्ति पथ प्रदर्शन के इस दूसरे संस्करण के लिये पाठकों की मांग थी कि टाईप कुछ मोटा होना चाहिये अतः इसे black-phase का नया टाईप भरवा कर छपाया गया, परन्तु इस टाईप में एक यह दोष रहा कि कुछ अक्षरों में मात्रायें पृथक लगानी पडीं जिसके कारण से छपते समय कुछ मात्रायें टूट गई इनमें कुछ अक्षरों में उ, ए और ऐ की मात्रायें हैं जो अक्षर के नीचे और ऊपर पृथक रहने से टूटी हैं उन्हें पाठक आसानी से स्वयं सुधार सकते हैं। यहां पर हम वही अशुद्धियाँ दर्ज कर रहे हैं जो अक्षरों के हेर फेर से प्रूफ के संशोधन में रह गई हैं अतः ग्रन्थ पढ़ने से पहले पाठक इन्हें सुधार लेवें।

नोटः—पृष्ठ ७६ पर लाईन ७,८ व ६ भूल से छप गई हैं।

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	लगु	लगूं
१६	४	प्रयगो	प्रयोग
२२	१५	रंगों रूप	रंगों के रूप में
५०	१८	कहन	करने
६२	५	के पदार्थ	के पर पदार्थ
६४	१२	इक	इन
६४	२०	पर जानते	पर को जानते
६४	२७,२८	'पको	आप को
६६	२८	कटस्थ	कूटस्थ
७६	६	५—एककार्य···	५—पुरुषार्थ
८५	१२	जागृ	जागृत
६५	११	वद्ध	वृद्ध
६५	१५	अद्वत	अद्वैत
१०२	५	उपदेश क्या	उपादेय क्या
११५	२४	छीन	कुछ छीन
११६	३२	यह बत	यह बात
१२६	३	चोथी लिया	चौथी क्रिया
१२७	७	एक उपभोग	एक उपयोग
१२८	४	रूप निर्जरा	निर्जरा रूप
१२८	६	प्रयोजवान	प्रयोजनवान
१४०	३६	छकु	कुछ
१६१	३३	मौफरीन	मौरफीन
१७५	८	र्यपन्त	पर्यन्त

पृष्ठ	लाईन	अशुद्ध	शुद्ध
१८०	१५	नृणासन	तृणासन
१९३	३३	जित्र	चित्र
२०४	२९	जिन प्रशंसा	निज प्रशंसा
२२२	१४	सम्यता	साम्यता
२३८	१८	घणा	घृणा
२६१	२५	देयकृत	देवकृत
२६२	२५	वृद्धि	बुद्धि
२८१	२४	दिशा	दशा
३०९	२२	सद्धान्वा	सद्धान्धवा:
३०९	२७	राजा का पद	राजा का मद
३२०	१५	असक्तता	आसक्तता
३२९	८	तप के	तप के प्रतीक
३४०	२८	अभ्य	अभय
३४०	२९	निखारे	निरवारे
३४५	२	और तू	तू और
३४६	१७	गुप्ती	गुप्ति
३४६	२१	एँमा	ऐसा
३५५	४	एक समय में	एक साल में
३५७	२६	अहने	अपने
३६७	१०	बन्ध बन्धन	बध बन्धन
३६९	३	स्वार्थसिद्धि	सर्वार्थ सिद्धि
३७०	चित्र	बोधि दुलभ	बोधि दुर्लभ
३८७	११	न हना	न कहना
३८७	१६	से कर	से करने में आता है।
३८७	१७	सच्चे देव,	सच्चे देव, सच्चे गुरु,
३९१	१६	प्रमार	प्रकार
३९१	२२	छइच्क	इच्छुक
३९१	२५	उपगहन	उपगूहन
४०८	३१	Fitcion	Fiction
४०४	९	Growht	Growth
४१०	१०	Conutable	Countable
४१५	११	भाग करने	भोग करने

शान्ति पथ प्रदर्शन

❀ मंगलाचरण ❀

कार्तिक के पूर्ण चन्द्रमा वत तीन लोक में शान्ति की शीतल ज्योति फैलाने वाले हे शान्ति चन्द्र वीतराग प्रभु ! जिस प्रकार प्रारम्भ में ही जग के इस अधम कीट को, भाई बन्धुओं की राग रूप कर्दम से बाहर निकाल कर आपने इस पर अनुग्रह किया है, उसी प्रकार आगे भी सदा उसकी सम्भाल करना।

संस्कारों को ललकार कर उनके साथ अद्वितीय युद्ध ठानने वाले महा पराक्रमी बाहुबली ! जिस प्रकार कर्दम से बाहर निकाले गए इस कीट के सर्व दोषों को क्षमा कर, इसका बाह्य मल आपने पूर्व में ही धोया था, उसी प्रकार आगे भी इस निर्बल को बल प्रदान करना। ताकि पुनः मल की ओर इसका गमन न हो।

महान उपसर्ग विजयी हे नागपति ! जिस प्रकार व्रतों की यह निधि प्रदान कर, इस अधम का आपने उस समय उद्धार किया था, उसी प्रकार आगे भी इसे उस महान निधान से वञ्चित न रखना।

हे विश्व मातेश्वरी सरस्वती ! कुसंगति में पड़ा मैं आज तक तेरी अवहेलना करता हुआ, अनाथ बना दर दर की ठोकरें खाता रहा। माता की गोद के सुख से वंचित रहा। अब मेरे सर्व अपराधों को क्षमा कर। मुझे अपनी गोद में छिपा कर भव के भय से मुक्त करदे।

हे वैराग्य आदर्श गुरुवर ! मुझको अपनी शरण में स्वीकार किया है, तो अब अत्यन्त शुभ चन्द्र ज्योति प्रदान करके मेरे अज्ञान अन्धकार का विनाश कीजिये।

१

❀ शिक्षण पद्धति क्रम ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ३० जून १९५९

प्रवचन नं० १

१—प्रत्येक कार्य की प्रयोजकता, २—वक्ता व श्रोता की पात्रता, ३—वक्ता की प्रमाणिकता, ४—वक्तव्य की क्रमिकता ५—वक्तव्य का विस्तार, ६—श्रोता की पात्रता, ७—पक्षपात व साम्प्रदायिकता का निषेध, ८—वैज्ञानिक व फ़िलास्फ़र बनकर चलने की प्रेरणा, ९—पक्षपात निषेध की पुनः प्रेरणा।

१. प्रत्येक कार्य की प्रयोजकता

अहो! शांति के आदर्श वीतरागी गुरुओं की महिमा, जिसके कारण आज इस निकृष्ट काल में भी, जबकि चहुं ओर हाय पैसा! हाय धन ! के सिवाय कुछ सुनाई नहीं देता, कहीं कहीं इस कचरे में दबी यह धर्म की इच्छा दिखाई दे ही जाती है। आप सब धर्म प्रेमी बन्धुओं में उसका साक्षात्कार हो रहा है। यह सब गुरुओं का ही प्रभाव है। सौभाग्य हम सभी का, कि हमें वह आज प्राप्त हो रहा है। लोक पर दृष्टि डालकर जब यह अनुमान लगाने जाते हैं, कि ऐसे व्यक्ति जिनको कि गुरुओं का यह प्रसाद प्राप्त हुआ है कितने हैं, तो इस सौभाग्य के प्रति कितना बहुमान उत्पन्न होता है-अपने अन्दर ! सर्व लोक ही तो इस धर्म कर्म की भावना से, या इसके सम्बन्ध में सुनने मात्र की भावना से शून्य है। आज के लोक को तो यह धर्म शब्द भी कुछ कड़ुआ सा लगता है। ऐसी अवस्था में हमारे अन्दर धर्म के प्रति उल्लास ? सौभाग्य के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है इसे ?

परन्तु कुछ निराशा सी होती है, यह देख कर, कि धर्म के प्रति की भावना का यह भग्नावशेष, क्या काम आ रहा है मेरे ? पड़ा है अन्दर में-यूं ही बेकार सा। कुछ दिन के पश्चात विलीन हो जायेगा धीरे-धीरे और मैं भी जा मिलूंगा उन्हीं की श्रेणी में, जिनको कि इसके नाम से चिढ़ है। बेकार वस्तु का पड़ा रहना कुछ अच्छा भी नहीं लगता। फिर उसके पड़े रहने से लाभ भी क्या है ? समय बरबाद करने के सिवाय निकलता ही क्या है-उसमें से ? उस भावना के दबाव के कारण कुछ न चाहते हुए भी, रुचि न होते हुए भी, जाना पड़ता है मन्दिर में, या पढ़ता हूं शास्त्र, या कभी कभी चला जाता हूं किसी ज्ञानी के उपदेश में। मैं स्वयं नहीं जानता कि क्यों ? क्या मिलता है वहां ? कभी कभी उपवास भी करता हूं देखा देखी। पर क्षुधा की पीड़ा के अतिरिक्त और रखा ही क्या है उसमें ?

चलो फिर भी यह सोच कर कि लाभ न सही हानि भी तो कुछ नहीं है। अपनी एक मान्यता ही पूरी हो जायेगी। वह मान्यता जो कि मेरे बाप दादा से चली आ रही है। उनकी मान्यता की रक्षा

करना भी तो मेरा कर्त्तव्य है ही। भले मूर्ति के दर्शन से कुछ मिल न सकता हो, वह मेरी रक्षा न कर सकती हो मुझ पर प्रसन्न होकर, परन्तु कुछ न कुछ पुण्य तो होगा ही। भले समझ न पाऊं, क्या लिखा है शास्त्र में, पर इसे पढ़ने का कुछ न कुछ फल तो मिलेगा ही—आगे जाकर, अगले भव में मुझे। इन पण्डित जी ने या इन क्षुल्लक महाराज ने, या ब्रह्मचारी जी ने क्या कहा है, भले कुछ न जान पाऊं, पर कान में कुछ पड़ा ही तो है। कुछ तो लाभ हुआ ही होगा उसका, और इस प्रकार की अनेकों धारणाएँ धर्म के सम्बन्ध में होती हैं।

निष्प्रयोजन उपरोक्त क्रियायें करके संतुष्ट हो जाने वाले भो चेतन! क्या कभी विचारा ह इस बात पर, कि तू क्या कर रहा है? क्यों कर रहा है? और इसका परिणाम क्या निकलेगा? लोक में कोई भी कार्य बिना प्रयोजन तू करने को तैयार नहीं होता, यहां क्यों हो रहा है? अनेकों जाती के व्यापार है लोक में, अनेकों जाति के उद्योग धन्धे हैं लोक में, परन्तु क्या तू सबको ओर ध्यान देता है कभी? उसी के प्रति तो ध्यान देता है कि जिस से तेरा प्रयोजन है? अन्य धन्धों में भले अधिक लाभ हो पर वह तेरे किस काम का? किसी भी कार्य को निष्प्रयोजन करने में अपने पुरुषार्थ को खोना मूर्खता है।

आश्चर्य है कि इतना होते हुए भी उस भावना के इस भग्नावशेष को कहा जा रहा है-तेरा सौभाग्य। ठीक है प्रभु! वह फिर भी तेरा सौभाग्य है। क्योंकि उन व्यक्तियों को तो, जिन्हें कि इनका नाम सुनना भी नहीं रुचता, इसके प्रयोजन व इसकी महिमा का भान होना ही असम्भव है; इस को अपनाकर लाभ उठाने का तो प्रश्न ही क्या? परन्तु इस तुच्छ मात्र निष्प्रयोजन भाव के कारण तुझे वह अवसर मिलने का तो अवकाश है कि जिसे पाकर तू समझ सकेगा इसके प्रयोजन को व इसकी महिमा को। और यदि कदाचित् समझ गया तो, कृतकृत्य हो जायेगा तू। स्वयं प्रभु बन जायेगा तू। क्या इतनी बात कोई छोटी बात है? महान है यह। क्योंकि तुझे अवसर प्राप्त हो जाते हैं-कभी कभी ज्ञानी जनों के संपर्क में आने के, जो बराबर प्रयत्न करते रहते हैं-तुझे यह समझाने का, कि धर्म का प्रयोजन क्या है और इसकि महिमा कैसी अद्भुत है। यह अवसर उनको तो प्राप्त ही नहीं होता, समझेंगे क्या बेचारे?

अनेकों बार आज तक तुझे ऐसे अवसर प्राप्त हो चुके हैं पूर्व भवों में, और प्राप्त हो रहे हैं आज। बस यही तो तेरा सौभाग्य है, इससे अधिक कुछ नहीं। "अनेकों बार सुना है मैंने धर्म का स्वरुप व उसका प्रयोजन व उसकी महिमा। परन्तु सुनकर भी क्या समझ पाया हूँ कुछ? अतः यह सौभाग्य भी हुआ न हुआ बराबर ही हुआ"। ऐसा न विचार। क्योंकि अब तक भले न समझ पाया हो, अबकी बार अवश्य समझ जायेगा, ऐसा निश्चय है। विश्वास कर आज वही सौभाग्य जागृत हो गया है जो पहले सुप्त था।

२. श्रोता की पात्रता न समझने के कारण कई है। वह सब कारण टल जायें तो क्यों न समझेगा? पहला कारण है तेरा अपना प्रमाद, जिसके कारण कि तू स्वयं करता हुआ भी अन्दर में उसे कुछ फोकट की व बेकार की वस्तु समझे हुए है, जिसके कारण कि तू इसके समझने में उपयोग नहीं लगाता; केवल कानों में शब्द पड़ने मात्र को सुनना समझता है, वचनों के द्वारा बोलने मात्र को पढ़ना समझता है और आँख के द्वारा देखने मात्र को दर्शन समझता है। दूसरा कारण है वक्ता की अप्रमाणिकता।

तीसरा कारण है विवेचन की अक्रमिकता । चौथा कारण है विवेचन क्रम का लम्बा विस्तार जो कि एक दो दिन में नहीं बल्कि महिनों तक बराबर कहते रहने पर ही पूरा होना सम्भव है । और पाँचवां कारण है श्रोता का पक्षपात ।

पहिला कारण तो तू स्वयं ही है । जिसके सम्बन्ध में कि ऊपर बता दिया गया है । यदि इस बात को फोकट की न समझ कर वास्तव में कुछ हित की समझने लगे, तो कानों में शब्द पड़ने मात्र से सन्तुष्ट न होकर, वक्ता के या उपदेष्टा के, या शास्त्रों के उल्लेख के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करने लगे । तो धर्म की महिमा अवश्य समझ में आ जावे । शब्द सुने जा सकते हैं पर अभिप्राय नहीं । वह वास्तव में रहस्यात्मक होता है, परोक्ष होने के कारण । और इसी लिये उन उन वाचक शब्दों का ठीक ठीक वाच्य नहीं बन रहा है । क्योंकि किसी भी शब्द को सुनकर, उसका अभिप्राय आप तभी तो समझ सकते हैं, जबकि उस पदार्थ को, जिसकी ओर कि वह शब्द संकेत कर रहा है, आपने कभी छू कर देखा हो, सूंघ कर देखा हो, आंख से देखा हो, अथवा चख कर देखा हो । आज मैं आपके सामने अमरीका मे पैदा होने वाले किसी फल का नाम लेने लगु ं, तो आप क्या समझेंगे उसके सम्बन्ध में ? शब्द कानों में पड़ जायेगा और कुछ नहीं । इसी प्रकार धर्म का रहस्य बताने वाले शब्दों को सुन कर, क्या समझेंगे आप ? जब तक कि पहले उन विषयों को, जिनके प्रति कि वह शब्द संकेत कर रहे हैं, कभी छू कर, सूंघ कर, देख कर व चख कर न जाना हो आपने । इसीलिये उपदेश में कहे जाने वाले अथवा शास्त्र में लिखे शब्द ठीक ठीक अपने अर्थ का प्रतिपादन करने को वास्तव में असमर्थ है । वह केवल संकेत कर देते हैं किसी विशेष शिक्षा की ओर । यह बता सकते हैं कि अमुक स्थान पर पड़ा है-आपका अभीष्ट । यह भी बता सकते हैं, कि वह आपके लिये उपयोगी है कि अनुपयोगी । परन्तु वह पदार्थ आपको किसी भी प्रकार दिखा नहीं सकते । हां, यदि शब्द के उन संकेतों को धारण करके, आप स्वयं चलकर, उस दिशा में जायें, और उस स्थान पर पहुँच कर, स्वयं उसे उपयोगी समझ कर चखें, उसका स्वाद लें, किसी भी प्रकार से, तो उस शब्द के रहस्यार्थ को पकड़ अवश्य सकते हैं ।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक १ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० २

३. वक्ता की प्रमाणिकता

धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा क्या है ? यह समस्या है, उसको सुलझाने के पांच कारण बतलाये गये थे-कल । पहिला कारण था इस विषय को फोकट का समझना तथा उसको रुचि पूर्वक न सुनना । उसका कथन हो चुका । अब दूसरे कारण का कथन चलता है ।

दूसरा कारण है वक्ता की अपनी अप्रमाणिकता । आज तक धर्म की बात कहने वाले अनेकों मिले, पर उनमें से अधिकतर वास्तव में ऐसे थे, कि जिन बेचारों को स्वयं उसके सम्बन्ध में कुछ खबर न थी । और यदि कुछ जानकार भी मिले तो, उनमें से अधिकतर ऐसे थे जिन्होंने शब्दों में तो यथार्थ धर्म के सम्बन्ध में कुछ पढ़ा था, शब्दों में कुछ जाना भी था, पर स्वयं उसका स्वाद न चखा था । अव्वल तो कदापि ऐसा मिला ही नहीं, जिसने उसकी महिमा को चखा हो, और यदि सौभाग्य वश मिला भी तो उसकी कथन पद्धिति आगम के आधार पर रही । उन शब्दों के द्वारा व्याख्यान करने लगा, जिनके रहस्यार्थ को आप जानते न थे । सुनकर समझते तो क्या समझते ?

ज्ञान की अनेकों धारायें हैं। सर्व धाराओं का ज्ञान किसी एक साधारण व्यक्ति को होना असम्भव है। आज लोक में कोई भी व्यक्ति अनधिकृत विषय के सम्बन्ध में कुछ बताने को तैयार नहीं होता। यदि किसी सुनार से पूछें कि यह मेरी नब्ज़ तो देख लीजिये, क्या रोग है, और क्या औषधि लूं ? तो कहेगा कि वैद्य के पास जाइये, मैं वैद्य नहीं हूँ, इत्यादि। यदि किसी वैद्य के पास जाकर कहूं कि देखिये तो यह ज़ेवर खोटा है कि खरा ? खोटा है तो कितना खोट है ? तो अवश्य यही कहेगा कि सुनार के पास जाओ, मैं सुनार नहीं हूँ इत्यादि। परन्तु एक विषय इस लोक में ऐसा भी है, जो आज किसी के लिये भी अनधिकृत नहीं। सब ही मानों जानते हैं उसे। और वह है धर्म। घर में बैठा, राह चलता, मोटर में बैठा, दुकान पर काम करता, मन्दिर में बैठा या चौपाड़ में झाड़ू लगाता कोई भी व्यक्ति आज भले कुछ और न जानता हो पर धर्म के सम्बन्ध में अवश्य जानता है। किसी से पूछिये, अथवा वैसे ही कदापि चर्चा चल जाये, तो कोई भी ऐसा नहीं है, कि इस फोकट की वस्तु धर्म के सम्बन्ध में कुछ अपनी कल्पना के आधार पर बताने का प्रयत्न न करे। भले स्वयं उसे यह भी पता न हो कि धर्म किस चिड़िया का नाम है। भले इस शब्द से भी चिढ़ हो। पर आपको बताने के लिये वह कभी भी टांग अड़ाये बिना न रहेगा। स्वयं उसे अच्छा न समझता हो अथवा स्वयं उसे अपने जीवन में अपनाया न हो, पर आपको उपदेश देने से न चूकेगा कभी। सोचिये तो, कि क्या धर्म ऐसी ही फोकट की वस्तु है ? यदि ऐसा ही होता तो सबके सब धर्मी ही दिखाई देते। पाप, अत्याचार, अनर्थ, आदि शब्द व्यर्थ हो जाते।

परन्तु सौभाग्य वश ऐसा नहीं है। धर्म फोकट की वस्तु नहीं है। यह अत्यन्त गुप्त व रहस्यात्मक वस्तु है, अत्यन्त महिमावन्त है। सब कोई इसको नहीं जानते। शास्त्रों के पाठी बड़े बड़े विद्वान भी सभी इसके रहस्य को नहीं पा सकते। कोई बिरला अनुभवी ही इसके पार को पाता है। बस वही हो सकता है प्रमाणिक वक्ता। इसके अतिरिक्त अन्य किसी के मुख से धर्म का स्वरूप सुनना ही, इस प्राथमिक स्थिति में, आप के लिये योग्य नहीं। क्योंकि अनेकों अभिप्रायों को सुनने से, भ्रम में उलझ कर झुंझलाये बिना न रह सकोगे। जितने मुख उतनी ही बातें। जितने उपदेश उतने ही आलाप। जितने व्यक्ति उतने ही अभिप्राय। सब अपने अपने अभिप्राय का ही पोषण करते हुए, वर्णन कर रहे हैं धर्म का स्वरूप। किस की बात को सच्ची समझोगे ? क्योंकि सब बातें होंगी एक दूसरे को झूठा ठहराती, परस्पर विरोधी।

वक्ता की किञ्चित प्रमाणिकता का निर्णय किये बिना जिस किसी से धर्म चर्चा करना या उपदेश सुनना योग्य नहीं। परन्तु इस अज्ञान दशा में वक्ता की प्रमाणिकता का निर्णय कैसे करें? ठीक है तुम्हारा प्रश्न। है तो कुछ कठिन काम, पर फिर भी सम्भव है। कुछ बुद्धि का प्रयोग अवश्य मांगता है, और वह तुम्हारे पास है। धेले की वस्तु की परीक्षा करने के लिए तो आप में काफी चतुराई है। क्या जीवन की रक्षक अत्यन्त मूल्यवान इस वस्तु की परीक्षा न कर सकोगे ? अवश्य कर सकोगे। पहिचान भी कठिन नहीं। स्थूलतः देखने पर जिसके जीवन में उन बातों की झांकी दिखाई देती हो जोकि वह मुख से कह रहा हो, अर्थात जिसका जीवन सरल-शान्त व दया पूर्ण हो, जिसके शब्दों में माधुर्य हो, करुणा हो और सर्व सत्व का हित हो, साम्यता हो, जिसके बचनों में पक्षपात की बू न आती हो, जो हट्टी न हो, सम्प्रदाय के आधार पर सत्यता को सिद्ध करने का प्रयत्न न करता हो, वाद विवाद रूप चर्चा करने से डरता हो, आप के प्रश्नों को शान्ति पूर्वक सुनने की जिसमें क्षमता हो, तथा धैर्य से व कोमलता से उसे समझाने का प्रयत्न करता हो, आप की बात सुन कर जिसे क्षोभ न आ जाता हो, जिसके

मुख पर मुस्कान खेलती हो, विषय भोगों के प्रति जिसे अन्दर से कुछ उदासी हो, प्राप्त विषयों के भोगने से भी जो घबराता हो, तथा उनका त्याग करने से जिसे सन्तोष होता हो, अपनी प्रशंसा सुन कर कुछ प्रसन्न सा और अपनी निन्दा सुन कर कुछ रुष्ट सा हुआ प्रतीत न होता हो, तथा अन्य भी अनेकों इसी प्रकार के चिन्ह हैं जिसके द्वारा स्थूल रूप से आप वक्ता की परीक्षा कर सकते हैं।

४. विवेचन की अक्रमिकता — तीसरा कारण है विवेचन की अक्रमिकता। अर्थात यदि कोई अनुभवी ज्ञानी भी मिला और सरल भाषा में समझाना भी चाहा तो भी अभ्यास न होने के कारण या पढ़ाने का ठीक ठीक ढंग न आने के कारण, या पर्याप्त समय न होने के कारण, क्रम पूर्वक विवेचन कर न पाया, क्योंकि उस धर्म का स्वरुप बहुत विस्तृत है, जो थोडे समय मे या, थोड़े दिनों मे ठीक ठीक हृदयंगत कराया जाना शक्य नहीं है। भले ही वह स्वयं उसे ठीक ठीक समझता हो, पर समझने और समझाने में अन्तर है। समझा एक समय में जा सकता है, और समझाया जा सकता है क्रम पूर्वक काफी लम्बे समय में। समझाने के लिये 'क' से प्रारम्भ करके 'ह' तक क्रम पूर्वक धीरे धीरे चलना होता है, समझने वाले की पकड़ के अनुसार। यदि जल्दी करेगा तो उसका प्रयास विफल हो जायगा। क्योंकि अनभ्यस्त श्रोता बेचारा इतनी जल्दी पकड़ने में समर्थ न हो सकेगा। इसलिये इतने झंझट से बचने के लिये तथा, श्रोता समझता है या नहीं, इस बात की परवाह किये बिना अधिकतर वक्ता, अपनी रुचि के अनुसार, पूरे विस्तार में से बीच बीच के कुछ विषयों का विवेचन कर जाते हैं, और श्रोताओं के मुख से निकली वाह वाह से तृप्त होकर चले जाते हैं। श्रोता के कल्याण की भावना नहीं है-उन्हें, है केवल इस 'वाह-वाह' की। क्योंकि इस प्रकार सब कुछ सुन लेने पर भी, वह तो रह जाता है कोरा का कोरा। उस बेचारे का दोष भी क्या है? कहीं कहीं के टूटे हुए वाक्यों या प्रकरणों से अभिप्राय का ग्रहण हो भी कैसे सकता है?

और यदि बुद्धि तीव्र है श्रोता की, तो इस अक्रमिक विवेचन को पकड़ तो लेगा पर वह खण्डित पकड़ उसके किसी काम न आसकेगी। उल्टा उसमे कुछ पक्षपात उत्पन्न कर देगी—उन प्रकरणों का, जिन्हें कि वह पकड पाया है। और वह द्वेष वश काट करने लगेगा-उन प्रकरणों की, जिन्हें कि वह या तो सुनने नहीं पाया, और यदि सुना भी हो तो पूर्वोत्तर मेल न बैठने के कारण, एक दूसरे के सहवर्तीपन को न जान पाया। दोनों को पृथक पृथक अवसरों पर लागू करने लगा, और प्रत्येक अवसर पर दूसरे का मेल न बैठने के कारण काट करने लगा उसकी। इस प्रकार कल्याण की बजाय, कर बैठा अकल्याण; हित की बजाय, कर बैठा अहित; प्रेम की बजाय, कर बैठा द्वेष।

५. वक्तव्य का विस्तार — अथवा यदि सौभाग्य वश कोई अनुभवी वक्ता भी मिला और क्रम पूर्वक विवेचन भी करने लगा, तो श्रोता को बाधा हो गई। अधिक समय तक सुनने की क्षमता न होने के कारण, या परिस्थिति वश प्रतिदिन न सुनने के कारण, या अपने किसी पक्षपात के कारण, किसी श्रोता ने सुन लिया उस सम्पूर्ण विवेचन का एक भाग, और किसी ने सुन लिया उसका दूसरा भाग। फल क्या हुआ? वही जो कि अक्रमक विवेचन में बताया गया। अन्तर केवल इतना ही है, कि वहां वक्ता में अक्रमिकता थी, और यहां श्रोता में। वहां वक्ता का दोष था, और यहां श्रोता का। परन्तु फल वही निकला पक्षपात, वाद विवाद व अहित।

६. श्रोता के मुख्य दोष — ऊपर बताये गये दोष के अतिरिक्त श्रोता में और भी कई दोष हैं। जिनके कारण प्रमाणिक व योग्य वक्ता मिलने पर भी वह उसके समझने में असमर्थ रहता है।

उन दोषों में से मुख्य है उसका अपना पक्षपात, जो किसी अप्रमाणिक अथवा अयोग्य वक्ता का विवेचन सुनने के कारण उसमें उत्पन्न हो गया है, अथवा प्रमाणिक और योग्य वक्ता के विवेचन को अधूरा सुनने के कारण उसमें उत्पन्न हो गया है, अथवा पहले से ही बिना किसी का सिखाया कोई अभिप्राय उसमें पड़ा है। यह पक्षपात वस्तु स्वरूप जानने के मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु है।

क्योंकि इस पक्षपात के कारण अव्वल तो अपनी रुचि या अभिप्राय से अन्य कोई बात उसे रुचती ही नहीं और इसलिए ज्ञानी की बात सुनने का प्रयत्न ही नहीं करता वह। और यदि किसी की प्रेरणा से सुनने भी चला जाये, तो समझने की दृष्टि की बजाय सुनता है वाद विवाद की दृष्टि से, शास्त्रार्थ की दृष्टि से, दोष चुनने की दृष्टि से। जहां अपनी रुचि के विपरीत कोई बात आई, कि पड़ गया उस बेचारे के पीछे-हाथ धोकर। तथा अपने अभिप्राय के पोषक कुछ प्रमाण उसही के वक्तव्य में से छांट कर, पूर्वापर मेल बैठाने का स्वयं प्रयत्न न करता हुआ, बजाय स्वयं समझने के समझाने लगता है वक्ता को। "वहां देखो तुमने या तुम्हारे गुरू ने ऐसी बात कही है या लिखी है। और यहां उससे उल्टी बात कह रहे हो"? और प्रचार करने लगता है लोक में इस अपने पक्ष का, तथा विरोध का। फल निकलना है इसका तीव्र द्वेष।

श्रोता का दूसरा दोष है धैर्य हीनता। चाहता है तुरन्त ही कोई सब कुछ बता दे। एक राजा को एक बार कुछ हठ उपजी। कुछ जौहरियों को दरबार में बुला कर उनसे बोला कि मुझे रत्न की परीक्षा करना सिखा दीजिये, नहीं तो मृत्यु का दण्ड भोगिये। जौहरियों के पांव तले की धरती खिसक गई। असमंजस में पड़े सोचते थे, कि एक वृद्ध जौहरी आगे बढ़ा। बोला कि "मैं सिखाऊंगा, पर एक शर्त पर, बचन दो तो कहूं"। राजा बोला, "स्वीकार है, जो भी शर्त होगी पूरी करूंगा"। वृद्ध बोला, "गुरू दक्षिणा पहले लूंगा"। हां, हां, तैयार हूं। मांगो क्या मांगते हो? जाओ कोषाध्यक्ष, दे दो सेठ साहब को लाख करोड़ जो भी चाहिये।" वृद्ध बोला, "कि राजन्! लाख करोड़ नहीं चाहिये बल्कि जिज्ञासा है राज्य-नीति सीखने की और वह भी अभी, इसी समय। शर्त पूरी कर दीजिये और रत्न परीक्षा की विद्या ले लीजिये"। "परन्तु यह कैसे सम्भव है?" राजा बोला, "राज्यनीति इतनी सी देर में थोड़े ही सिखाई जा सकती है? वर्षों हमारे मंत्री के पास रहना पड़ेगा"। "बस तो रत्न परीक्षा भी इतनी जल्दी थोड़े ही बताई जा सकती है? वर्षों रहना पड़ेगा दुकान पर"। और राजा को अक़ल आ गई।

इसी प्रकार धर्म सम्बन्धी बात भी कोई थोड़ी देर में सुनना या सीखना चाहे तो यह बात असम्भव है। वर्षों रहना पड़ेगा ज्ञानी के संग में, अथवा वर्षों सुनना पड़ेगा उसके विवेचन को। जब स्थूल-प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर लौकिक बातोंमें भी यह नियम लागू होता है,तो सूक्षम परोक्ष इन्द्रियअगोचर अलौकिक बात में क्यों लागू न होगा? इसका सीखना तो और भी कठिन है, अतः भो जिज्ञासु! यदि धर्म का प्रयोजन व उसकी महिमा का ज्ञान करना है तो धैर्य पूर्वक वर्षों तक सुनना होगा। शान्त भाव से सुनना होगा। और पक्षपात व अपनी पूर्व की धारणा को दबा कर सुनना होगा।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३

७ पक्षपात व धर्म के प्रयोजन व महिमा को जानने या सीखने सम्बन्धी बात चलती है। अर्थात धर्म साम्प्रदायिकता सम्बन्धी शिक्षण की बात है। वास्तव में यह जो चलता है, इसे प्रवचन न कह कर

का निषेध शिक्षण क्रम नाम देना अधिक उपयुक्त है । किसी भी बात को सीखने या पढ़ने में क्या क्या बाधक कारण होते हैं, उनकी बात है । पांच कारण बताये गये थे । उनमें से चार की व्याख्या हो चुकी जिस पर से यह निर्णय कराया गया कि यदि धर्म का स्वरूप जानना है और उससे कुछ काम लेना है तो, १ उसके प्रति बहुमान व उत्साह उत्पन्न कर, २ निर्णय करके यथार्थ वक्ता से उसे सुन, ३ अक्रम रूप न सुन कर 'क' से 'ह' तक क्रम पूर्वक सुन, ४ धैर्य धार कर बिना चूक प्रतिदिन महीनों तक सुन ।

अब पांचवें बाधक कारण की बात चलती है । वह है वक्ता व श्रोता का पक्षपात । वास्तव में यह पक्षपात बहुत घातक है । इस मार्ग में साधारणतः यह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता । कारण पहले बताया जा चुका है । पूरा वक्तव्य क्रम पूर्वक न सुनना ही उस पक्षपात का मुख्य कारण है । थोड़ा जानकर "मैं बहुत कुछ जान गया हूं" ऐसा अभिमान अल्पज्ञ जीवों में स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है, जो आगे जानने की उसे आज्ञा नहीं देता । वह "जो मैंने जाना, सो ठीक है, तथा जो दूसरे ने जाना सो झूठ है", और दूसरा भी "जो मैंने जाना सो ठीक तथा जो आपने जाना सो झूठ" एक इसी अभिप्राय को धार परस्पर लड़ने लगते हैं, शास्त्रार्थ करते हैं, वाद विवाद करते हैं । उस वाद विवाद को सुनकर कुछ उसकी रुचि के अनुकूल व्यक्ति उसके पक्ष का पोषण करने लगते हैं, तथा दूसरे की रुचि के अनुकूल व्यक्ति दूसरे के पक्ष का । उसके अतिरिक्त कुछ साधारण व भोले व्यक्ति भी, जो उसकी बात को सुनते हैं उसके अनुयायी बन जाते हैं, और जो दूसरे की बात को सुनते हैं, वे दूसरे के-बिना इस बात को जाने कि इन दोनों में से कौन क्या कह रहा है ? और इस प्रकार निर्माण हो जाता है सम्प्रदायों का । जो वक्ता की मृत्यु के पश्चात भी परस्पर लड़ने में ही अपना गौरव समझते रहते हैं । और हित का मार्ग न स्वयं खोज सकते हैं और न दूसरे को दर्शा सकते हैं । मजे की बात यह है कि यह सब लड़ाई होती है धर्म के नाम पर ।

यह दुष्ट पक्षपात कई जाति का होता है । उनमें से मुख्य दो जाति हैं—एक अभिप्राय का पक्षपात तथा दूसरा शब्द का पक्षपात । अभिप्राय का पक्षपात तो स्वयं वक्ता तथा उसके श्रोताओं दोनों के लिये घातक है और शब्द का पक्षपात केवल श्रोताओं के लिये । क्योंकि इस पक्षपात में वक्ता का अपना अभिप्राय तो ठीक रहता है । पर बिना शब्दों में प्रगट हुए श्रोता बेचारा कैसे जान सकेगा उसके अभिप्राय को ? अतः वह अभिप्राय में भी पक्षपात धारण करके, स्वयं वक्ता के अन्दर में पड़े हुए अनुक्त अभिप्राय का भी विरोध करने लगता है । यदि विषय को पूर्ण सुन व समझ लिया जाये तो कोई भी विरोधी अभिप्राय शेष न रह जाने के कारण पक्षपात को अवकाश नहीं मिल सकता । इस पक्षपात का दूसरा कारण है श्रोता की अयोग्यता, उसकी स्मरण शक्ति की हीनता, जिसके कारण कि सारी बात सुन लेने पर भी बीच-बीच में कुछ कुछ बात तो याद रह जाती है उसे और कुछ कुछ भूल जाता है । और इस प्रकार एक अखंडित धारा प्रवाही अभिप्राय खण्डित हो जाता है-उसके ज्ञान में । फल वही होता है जो अक्रम रूप से सुनने का है । पक्षपात का तीसरा कारण है व्यक्ति विशेष के कुल में परम्परा से चली आई कोई मान्यता या अभिप्राय । इस कारण का तो कोई प्रतिकार ही नहीं है, भाग्य ही कदाचित् प्रतिकार बन जाये, तथा अन्य भी अनेकों कारण हैं, जिनका विशेष विस्तार करना यहां ठीक सा नहीं लगता ।

८. वैज्ञानिक व फ़िलास्फ़र हमें तो यह जानना है, कि निज कल्याणार्थ धर्म का स्वरूप कैसे समझें ? धर्म का स्वरूप जानने से पहले इस पक्षपात को तिलांजली देकर यह निश्चय करना चाहिये, कि धर्म

बनकर चलने की प्रेरणा सम्प्रदाय की चार दिवारी से दूर किसी स्वतन्त्र दृष्टि में उत्पन्न होता है, स्वतन्त्र वातावरण में पलता है और स्वतन्त्र वातावरण में ही फल देता है। यद्यपि सम्प्रदायों को आज धर्म के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु वास्तव में यह भ्रम है, पक्षपात का विषैला फल है। सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो धर्म नहीं हो सकता। सम्प्रदाय पक्षपात को कहते हैं, और धर्म स्वतन्त्र अभिप्राय को कहते हैं जिसे कोई भी मनुष्य किसी भी सम्प्रदाय में उत्पन्न हुआ छोटा या बड़ा, गरीब या अमीर, यहां तक कि तिर्यञ्च भी—सब धारण कर सकते हैं; जबकि सम्प्रदाय इसमें अपनी टांग अड़ा कर, किसी को धर्म पालन का अधिकार देता है और किसी को नहीं देता। आज के जैन सम्प्रदाय का धर्म भी वास्तव में धर्म नहीं है, सम्प्रदायवाद है, एक पक्षपात है। इसके आधीन क्रियाओं में ही कूप मण्डूक सम बन कर वर्तने में कोई हित होने वाला नजर नहीं आता।

पहले कभी नहीं सुनी होगी ऐसी बात, और इसलिये कुछ क्षोभ भी सम्भवतः आ गया हो। धारणा पर ऐसी सीधी व कड़ी चोट कैसे सहन की जा सकती है? यह धर्म तो सर्वोच्च धर्म है न जगत का? परन्तु क्षोभ की बात नहीं है भाई! शान्त हो। तेरा यह क्षोभ ही तो वह पक्षपात है, साम्प्रदायिक पक्षपात जिसका निषेध कराया जा रहा है, इस क्षोभ से ही तो परीक्षा हो रही है तेरे अभिप्राय की। क्षोभ को दबा, आगे चलकर स्वयं समझ जायेगा, कि कितना सार था तेरे इस क्षोभ में। अब जरा विचार कर, कि क्या धर्म भी कहीं ऊंचा या नीचा होता है? बड़ा और छोटा होता है? अच्छा या बुरा होता है? धर्म तो धर्म होता है, उसका क्या ऊंचा नीचा? उसका क्या जैनपना व अजैनपना? क्या वैदिकपना व क्या मुसलमानपना? धर्म तो धर्म है, जिसने जीवन में उतारा उसे हितकारक ही है, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट हो जायेगा। उस हित को जानने के लिये कुछ शान्तचित्त होकर सुन। पक्षपात को भूल जा थोड़ी देर के लिये।

तेरे क्षोभ के निवारणार्थ यहां इस विषय पर थोड़ा और प्रकाश डाल देना उचित समझता हूं। किसी मार्ग विशेष पर श्रद्धान करने का नाम सम्प्रदाय नहीं है। सम्प्र दाय तो अन्तरंग के किसी विशेष अभिप्राय का नाम है, जिसके कारण कि दूसरों की धारणाओं के प्रति कुछ अदेखसका सा भाव प्रगट होने लगता है। इस अभिप्राय को परीक्षा करके पकड़ा जा सकता है। शब्दों में बताया नहीं जा सकता। कल्पना कीजिये कि आज मैं यहां इस गद्दी पर कोई ब्रह्माद्वैतवाद का शास्त्र ले बैठूं और उसके आधार पर आप को कुछ सुनाना चाहूं, तो बताइये आपकी अन्तरवृत्ति क्या होगी? क्या आप उसे भी इसी प्रकार शान्ति व रुचि पूर्वक सुनना चाहोगे, जिस प्रकार कि इसे सुन रहे हैं? सम्भवतः नहीं। यदि मुझसे लड़ने न लगे तो, यातो यहां से उठ कर चले जाओगे और या बैठ कर चुपचाप चर्चा करने लगोगे, या ऊंघने लगोगे और या अन्दर ही अन्दर कुछ कुढ़ने लगोगे "सुनने आये थे जिन-वाणी, और सुनाने बैठ गये अन्य मत की कथनी।" बस इसी भाव का नाम है साम्प्रदायिकता।

इस भाव का आधार है-गुरू का पक्षपात। अर्थात जिनवाणी की बात ठीक है, क्योंकि मेरे गुरू ने कही है, और यह बात झूठ है क्योंकि अन्य के गुरू ने कही है। यदि जिनवाणी की बात को भी युक्ति व तर्क द्वारा स्वीकार करने का अभ्यास किया होता, तो यहां भी उसी अभ्यास का प्रयोग करते। यदि कुछ बात ठीक बैठ जाती तो स्वीकार कर लेते, नहीं तो नहीं। इसमें क्षोभ की क्या बात थी? बाजार में जायें, अनेकों दुकानदार आपको अपनी ओर बुलायें, आप सब की ही तो सुन लेते हैं।

किसी से क्षोभ करने का तो प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। किसी से सौदा पटा तो ले लिया, नहीं पटा तो आगे चल दिये। इसी प्रकार यहां क्यों नहीं होता ?

बस इस अदेखसके भाव को टालने की बात कही जा रही है। मार्ग के प्रति जो तेरी श्रद्धा है, उसका निषेध नहीं किया जा रहा है। युक्ति व तर्क पूर्वक समझने का अभ्यास हो तो सब बातों में से तथ्य निकाला जा सकता है। भूल भी कदापि नहीं हो सकती। यदि श्रद्धान सच्चा है तो उसमें बाधा भी नहीं आ सकती, सुनने से डर क्यों लगता है ? परन्तु "क्योंकि मेरे गुरू ने कहा है इसलिये सत्य है" तेरे अपने कल्याणार्थ इस बुद्धि का निषेध किया जा रहा है। वैज्ञानिकों का यह मार्ग नहीं है। वे अपने गुरू की बात को भी बिना युक्ति के स्वीकार नहीं करते। यदि अनुसन्धान या अनुभव में कोई अन्तर पड़ता प्रतीत होता है, तो युक्ति द्वारा ग्रहण की हुई को ही नहीं मानता है। बस तत्व की यथार्थता को पकड़ना है तो इसी प्रकार करना होगा। गुरू के पक्षपात से सत्य का निर्णय ही न हो सकेगा, अनुभव तो दूर की बात है। अपनी दही को मीठा बताने का नाम सच्ची श्रद्धा नहीं है। वास्तव में मीठी हो, तथा उसके मिठास को चखा हो, तब उसे मीठी कहना सच्ची श्रद्धा है।

देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक जौहरी था, उसकी आयु पूर्ण हो गई। पुत्र था तो, पर निखट्टू। पिता की मृत्यु के पश्चात अलमारी खोली, और कुछ जेवर निकाल कर ले गया-अपने चचा के पास। "चचा जी, इन्हें बिकवा दीजिये।" चचा भी जौहरी था, सब कुछ समझ गया, कहने लगा बेटा ! आज न बेचो इन्हें। बाजार में ग्राहक नहीं है। बहुत कम दाम उठेंगे। जाओ जहां से लाये हो वहीं रख आओ इन्हें, और मेरी दुकान पर आकर बैठा करो, घर का खर्चा दुकान से उठा लिया करो। वसा ही किया, और कुछ महिनों के पश्चात पूरा जौहरी बन गया-वह। अब चचा ने कहा, "कि बेटा ! जाओ आज ले आओ वह जेवर"। आज ग्राहक है बाजार में। बेटा तुरन्त गया, अलमारी खोली, जेवर के डब्बे उठाने लगा। पर हैं ! यह क्या ? एक डब्बा उठाया- रख दिया वापिस, दूसरा उठाया- रख दिया वापिस, और इसी तरह तीसरा, चौथा आदि सब डब्बे जूं के तूं अलमारी में रख दिये, अलमारी बन्द की और चला आया खाली हाथ दुकान पर, निराशा में गर्दन लटकाये, विकल्प सागर में डूबा वह युवक। "जेवर नहीं लाये बेटा ?" चचा ने प्रश्न किया। और एक धीमी सी, लज्जित सी आवाज निकली युवक के कण्ठ से "क्षमा करो चचा, भूला था, भ्रम था, वह सब तो कांच है। म हीरे समझ बैठा था उन्हें- अज्ञान वश, आज आपसे ज्ञान पाकर आंखें खुल गई हैं मेरी।"

बस इसी प्रकार तेरे भ्रम की, पक्षपात की सत्ता उसी समय तक है, जब तक कि धैर्य पूर्वक कुछ महीनों तक बराबर उस विशाल तत्व को सुन व समझ नहीं लेता। उसे सम्पूर्ण को यथार्थ रीत्या समझ लेने के पश्चात तू स्वयं लज्जित हो जायेगा, हंसेगा- अपने ऊपर।

जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायेगा, धर्म का स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक है। अन्तर केवल इतना है, कि लोक में प्रचलित विज्ञान भौतिक विज्ञान है और यह आध्यात्मिक विज्ञान। धर्म की खोज तुझे एक वैज्ञानिक बन कर करनी होगी, साम्प्रदायिक बन कर नहीं। स्वानुभव के आधार पर करनी होगी, गुरुओं के आश्रय पर रह कर नहीं। अपने ही अन्दर से तत्सम्बन्धी 'क्या' और 'क्यों' उत्पन्न करके तथा अपने ही अन्दर से उसका उत्तर लेकर करनी होगी, किसी से पूछ कर नहीं। गुरू जो संकेत दे रहे हैं, उनको जीवन पर लागू करके करनी होगी, केवल शब्दों में नहीं। तुझे एक फिलास्फर

बन कर चलना होगा, कूपमण्डूक बन कर नहीं। स्वतंत्र वातावरण में जाकर विचारना होगा, साम्प्रदायिक बन्धनों में नहीं।

देख एक वैज्ञानिक का ढंग, और सीख कुछ उससे। अपने पूर्व के अनेकों वैज्ञानिकों व फिलास्फरों द्वारा स्वीकार किये गये सर्व ही सिद्धान्तों को स्वीकार करके, उनका प्रयोग करता है-अपनी प्रयोग शाला में, और एक आविष्कार निकाल देता है। कुछ अपने अनुभव भी सिद्धान्त के रूप में लिख जाता है-पीछे आने वाले वैज्ञानिकों के लिये। और वह पीछे वाले भी इसी प्रकार करते हैं। सिद्धान्त में बराबर वृद्धि होती चली जा रही है। परन्तु कोई भी अपने से पूर्व सिद्धान्त को झूठा मान कर उसको मैं नहीं पढ़ूंगा ऐसा अभिप्राय नहीं बनाता। सब ही पीछे पीछे वाले अपने से पूर्व पूर्व वालों के सिद्धान्तों का आश्रय लेकर चलते हैं। उन पूर्व में किये गये अनुसन्धानों को पुनः नहीं दोहराते। इसी प्रकार तुझे भी अपने पूर्व में हुए प्रत्येक ज्ञानी के, चाहे वह किसी नाम व ग्राम व सम्प्रदाय का क्यों न हो अनुभव और सिद्धान्तों से कुछ न कुछ सीखना चाहिये, कुछ न कुछ शिक्षा लेनी चाहिये। किसी न किसी रूप में उसे अपना कर, अपने जीवन की प्रयोगशाला में उसका अनुभव करना चाहिये। बाहर से ही, केवल इस आधार पर, कि 'तेरे गुरू ने तुझे अमुक बात, अमुक ही शब्दों में नहीं बताई है' उनके सिद्धान्तों को झूठा मान कर, उनसे लाभ लेने की बजाये उनसे द्वेष करना योग्य नहीं है। वैज्ञानिकों का यह कार्य नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक वैज्ञानिक जो जो सिद्धान्त बनाता है, उसका आधार कोई कपोल कल्पना मात्र नहीं होता, बल्कि होता है उसका अपना अनुभव, जो वह अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग विशेष के द्वारा प्राप्त करता है। पहले स्वयं प्रयोग करके उसका अनुभव करता है, और फिर दूसरों के लिये लिख जाता है-अपने अनुभव को। कोई चाहे तो उससे लाभ उठा ले, न चाहे तो न उठाये। परन्तु वह सिद्धान्त स्वयं एक सत्य ही रहता है, एक ध्रुव सत्य।

इसी प्रकार अनेकों ज्ञानियों ने अपने जीवन की प्रयोगशालाओं में प्रयोग किये—उस धर्म सम्बन्धी अभिप्राय की पूर्ति के मार्ग में। कुछ उसे पूर्ण कर पाये और कुछ न कर पाये। बीच में ही मृत्यु की गोद में जाना पड़ा। परन्तु जो कुछ भी उन सब ने अनुभव किया, या जो जो प्रक्रियायें उन्होंने उन उन प्रयोगों में स्वयं अपनाई वह लिख गये हमारे हित के लिये-कि हम भी इन में से कुछ तथ्य समझ कर अपने प्रयोगों में कुछ सहायता ले सकें। सहायता लेना चाहें तो लें, और न लेना चाहें तो न लें, परन्तु वे सिद्धान्त सत्य हैं, परम सत्य।

इस मार्ग में इतनी कमी दुर्भाग्य वश अवश्य रहती है जो कि वैज्ञानिक मार्ग में देखने में नहीं आती। और वह यह है कि यहां कुछ स्वार्थी अनुभव विहीन ज्ञानाभिमानी जन, विकृत कर देते हैं उन सिद्धान्तों को-पीछे से कुछ अपनी धारणायें उसमें मिश्रण करके। और वैज्ञानिक मार्ग में ऐसा होने नहीं पाता। पर फिर भी वे विकृतियें दूर की जा सकती हैं—कुछ अपनी बुद्धि से, अपने अनुभव के आधार पर।

भो जिज्ञासु ! तनिक विचार तो सही, कि कितना बड़ा सौभाग्य है तेरा कि उन उन ज्ञानियों ने जो बातें बड़े बलिदानों के पश्चात बड़े परिश्रम से जानी, बिना किसी मूल्य के दे गये तुझे। अर्थात बड़े परिश्रम से बनाया हुआ अपना भोजन परोस गये तुझे। और आज भूखा होते हुए भी, तथा

उनके द्वारा परोसा यह भोजन सामने रखा होते हुए भी, तू खा नहीं रहा है इसे, कुछ संशय के कारण या साम्प्रदायिक विद्वेश के कारण, जिसका आधार है केवल पक्षपात। तुझ सा मूर्ख कौन होगा ? तुझसा अभागा कौन होगा ? भो जिज्ञासु ! अब इस विष को उगल दे और सुन कुछ नई बात, जो आज तक सम्भवतः नहीं सुनी है और सुनी भी हो तो समझी नहीं है। सर्व दर्शनकारों के अनुभव का सार, और स्वयं मेरे अनुभव का सार, जिसमें न कहीं है किसी का खण्डन, और न है निज की बात का पक्षपात। वैसा वैसा स्वयं अपने जीवन में उतार कर उसकी परीक्षा कर। बताये अनुसार ही फल हो तो ग्रहण कर ले, और वैसा फल न हो तो छोड़ दे। पर वाद विवाद किसके लिये और क्यों ! बाजार का सौदा है, मर्जी में आये ले, मर्जी मे आयें न ले। यह एक निस्वार्थ भावना है, तेरे कल्याण की भावना और कुछ नहीं। कुछ लेना देना नहीं है तुझसे। तेरे अपने कल्याण की बात है। निज हित के लिये एक बार सुन तो सही, तुझे अच्छी लगे बिना न रहेगी। क्यों अच्छी न लगे, तेरी अपनी बात है, घर बैठे बिना परिश्रम के मिल रही है तुझे, इससे बड़ा सौभाग्य और क्या हो सकता है? निज हित के लिए अब पक्ष पात की दाह में इसकी अवहेलना मत कर।

६. पक्षपात निषेध की पुनः प्रेरणा

परन्तु पक्षपात को छोड़ कर सुनना। नहीं तो पक्षपात का ही स्वाद आता रहेगा, इस बात का स्वाद न चख सकेगा। देख एक दृष्टान्त देता हूं। एक चींटी थी, नमक की खान में रहती थी, कोई उसकी एक सहेली उससे मिलने गई। बोली "बहन तू कैसे रहती है यहां? इस नमक के खारे स्वाद में। चल मेरे स्थान पर चल, वहां बहुत अच्छा स्वाद मिलेगा तुझे, तू बड़ी प्रसन्न होगी वहां जाकर"। कहने सुनने से चली आई-वह उसके साथ-उसके स्थान पर, हलवाई की दुकान में। परन्तु मिठाई पर घूमते हुए भी उसको विशेष प्रसन्नता न हुई। उसकी सहेली ताड़ गई उसके हृदय की बात, और पूछ बैठी उससे "क्यों बहिन आया कुछ स्वाद ?" "नहीं कुछ विशेष स्वाद नहीं, वैसा ही सा लगता है मुझे तो, जैसा वहां नमक पर घूमते हुए लगता था।" सोच में पड़ गई उसकी सहेली। यह कैसे सम्भव है ? मीठे में नमक का ही स्वाद कैसे आ सकता है ? कुछ न कुछ गड़बड़ अवश्य है। झुक कर देखा उसके मुख की ओर। "परन्तु बहन ! यह तेरे मुख मे क्या है ?" कुछ नहीं, चलते समय सोचा कि वहां यह पकवान मिले कि न मिले, थोड़ा साथ ले चल। और मुंह में धर लाई छोटी सी नमक की डली, वही है यह"। "अरे ! तो यहां का स्वाद कैसे आवे तुझे ? मुंह मे रखी है नमक की डली, मीठे का स्वाद कैसे आयेगा ? निकाल इसे"। डरती हुई ने कुछ कुछ झिझक व आशंका के साथ निकाला उसे, एक ओर रख दिया इसलिये कि थोड़ी देर पश्चात पुनः उठा लेना होगा इसे, अब तो सहेली कहती है, खैर निकाल दो इसके कहने से। और उसके निकलते ही पहुंच गई दूसरे लोक में। "उठा ले बहन ! अब इस अपनी डली को" सहेली बोली। लज्जित हो गई वह यह सुन कर, क्योंकि अब उसे कोई आकर्षण नहीं था, उस नमक की डली में।

बस तुम भी जब तक पक्षपात की यह डली मुख में रखे बैठें हो, नहीं चख सकोगे इस मधुर आध्यात्मिक स्वाद को। आता रहेगा केवल द्वेष का कड़वा स्वाद। एक बार मुंह में से निकाल कर चखो इसे। भले फिर उठा लेना-इसी अपने पहले खाजे को। परन्तु इतना विश्वास दिलाता हूं, कि एक बार के ही इस नई बात के आस्वादन से, तुम भूल जाओगे उसके स्वाद को। लज्जित हो जाओगे उस भूल पर। उसी समय पता चलेगा कि यह डली स्वादिष्ट थी कि कड़वी। दूसरा स्वाद चखे बिना कैसे जान पाओगें इसके स्वाद को ?

अतः कोई भी नई बात जानने के लिये प्रारम्भ में ही पक्षपात का विष अवश्य उगलने योग्य है। किसी बात को सुनकर या किसी भी शास्त्र में पढ़कर, वक्ता या लेखक के अभिप्राय को ही समझने का प्रयत्न करना। जबरदस्ती उसके अर्थ को घुमाने का प्रयत्न न करना। वक्ता या लेखक के अभिप्राय का गला घोंट कर अपनी मान्यता व पक्ष के अनुकूल बनाने का प्रयत्न न करना। तत्व को अनेकों दृष्टियों से समझाया जायेगा। सब दृष्टियों को पृथक पृथक जानकर ज्ञान में उनका सम्मिश्रण कर लेना। किसी दृष्टि का भी निषेध करने का प्रयत्न न करना अथवा किसी एक ही दृष्टि का आवश्यकता से अधिक पोषण करने के लिये शब्दों में खींचातानी न करना। ऐसा करने से भी अन्य दृष्टियों का निषेध वत ही हो जायगा। तथा अन्य भी अनेकों बातें हैं जो पक्षपात के आधीन पड़ी हैं उन सब को उगल डालना। समन्वयात्मक दृष्टि बनाना, साम्यता धारण करना। इसी में निहित है तुम्हारा हित और तभी समझा या समझाया जा सकता है-तत्व।

उपरोक्त इन सर्व पाँचों कारणों का अभाव हो जाये तो ऐसा नहीं हो सकता कि तुम धर्म के उस प्रयोजन को व उसकी महिमा को ठीक ठीक जान न पाओ। और जान कर उससे इस जीवन में कुछ नवीन परिवर्तन लाकर, किञ्चित इसके मिष्ट फल की प्राप्ति न करलो, और अपनी प्रथम की ही निष्प्रयोजन धार्मिक क्रियाओं के रहस्य को समझ कर उन्हें सार्थक न बना लो।

यहाँ इतना और बता देना उचित है कि मेरी भाषा सरल होने के कारण, सम्भवतः आगम व न्याय के नियमों की सूक्ष्म कसौटी पर कहीं कहीं बाधित हो जाये। सो यहाँ साधारण प्राथमिक जनों को तत्व का किञ्चित मात्र परिचय देना ही प्रयोजनीय होने के कारण, न्याय को जानने वाले विद्वज्जन मुझे क्षमा करें। क्योंकि यहाँ आगम के रहस्य से अनभिज्ञ सर्वसाधारण जनों के समक्ष ही यह सर्व कथन या प्रतिपादन चल रहा है। न्याय की जटिल व सूक्ष्म भाषा का पक्षपात करना इसमें योग्य नहीं है, क्योंकि सर्व साधारण जन उसके रहस्य को नहीं समझ सकते।

२ धर्म व शान्ति

२
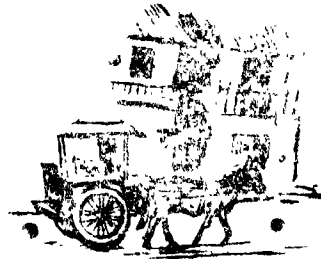
❀ धर्म का प्रयोजन ❀

१—धर्म की आवश्यकता क्यों, २—धर्म का प्रयोजन शान्ति, ३—उपाय जानने का वैज्ञानिक ढंग, ४—वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता, ५—अशान्ति का कारण इच्छाएँ, ६—संसार वृक्ष, ७—षट् लेश्या वृक्ष।

मुजफ्फरनगर दिनाँक ३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ८

१. धर्म की आवश्यकता क्यों धर्म सम्बन्धी वास्तविकता को जानने के लिये, वक्ता व श्रोता की आवश्यकतायें व शिक्षण पद्धति क्रम को जानकर के धर्म सम्बन्धी बात को जानने के लिये, उत्साह प्रगट हो जाने के पश्चात; अब यह बात जानना आवश्यक है, कि धर्म कर्म की जीवन में आवश्यकता ही क्या है? जीवन के लिये यह कुछ उपयोगी तो भासता नहीं। यदि बिना किसी धार्मिक प्रवृत्ति के ही जीवन बिताया जाय तो क्या हर्ज है? फिलास्फर बनने के लिये कहा गया है न मझे।

प्रश्न बहुत सुन्दर है, और करना भी चाहिए था। अन्दर में उत्पन्न हुए प्रश्न को कहते हुए शर्माना नहीं चाहिए, नहीं तो यह विषय स्पष्ट न होने पायेगा। प्रश्न बेधड़क कर दिया करो, डरना नहीं। वास्तव में ही धर्म की कोई आवश्यकता न होती यदि मेरे अन्तर की सर्व अभिलाषाओं की पूर्ति साधारणतः हो जाती। कोई भी पुरुषार्थ किसी प्रयोजन वश ही करने म आता है। किसी अभिलाषा विशेष की पूर्ति के लिये ही कोई भी कार्य किया जाता है। ऐसा कोई कार्य नहीं, जो बिना किसी अभिलाषा के किया जा रहा हो।

२. धर्म का प्रयोजन शान्ति अतः उपरोक्त बात का उत्तर पाने के लिये मुझे विश्लेषण करना होगा अपनी अभिलाषाओं का। ऐसा करने से स्पष्टतः कुछ ध्वनि अन्तरंग से आती प्रतीत होगी। इस रूप में "कि मुझे शान्ति चाहिये, मुझे सुख चाहिए, मझे निराकुलता चाहिये"। यह ध्वनि छोटे बड़े सब ही प्राणियों की चिर परिचित है। क्योंकि कोई भी ऐसा नहीं है कि इस ध्वनि को बराबर उठते न सुन रहा हो। और यह ध्वनि कृत्रिम भी नहीं है। किसी अन्य से प्रेरित होकर, यह सीख उत्पन्न हुई हो,

ऐसी भी नहीं है, स्वाभाविक है। कृत्रिम बात का आधार तो वैज्ञानिकजन नहीं लिया करते, परन्तु इस स्वाभाविक ध्वनि का कारण तो अवश्य जानना पड़ेगा।

अपने अन्दर की इस ध्वनि से प्रेरित होकर, इस अभिलाषा की पूर्ति के लिये, मैं कोई प्रयत्न न कर रहा हूँ, ऐसा भी नहीं है। मैं बराबर कुछ न कुछ उद्यम कर रहा हूँ। जहां भी जाता हूं कभी खाली नहीं बैठता, और कब से करता आ रहा हूँ यह भी नहीं जानता। परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि सब कुछ करते रहते हुए भी, बड़े से बड़ा धनवान या राजा आदि बन जाने पर भी, यह ध्वनि आज तक शान्त होने नहीं पाई है। यदि शान्त हो गई होती, या उसके लिये किया जाने वाला पुरुषार्थ जितनी देर तक चलता रहता है, उतने अन्तराल मात्र के लिये भी कदाचित शान्त होती हुई प्रतीत होती, तो अवश्य ही धर्म आदि की कोई आवश्यकता न होती। उसी पुरुषार्थ के प्रति और अधिक उद्यम करता और कदाचित् सफलता प्राप्त कर लेता। वह शान्ति की अभिलाषा ही मुझे बाध्य कर रही है कोई नया आविष्कार करने के लिये, जिसके द्वारा कि मैं इसकी पूर्ति कर पाऊं। आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। और इसी कारण धर्म का आविष्कार ज्ञानी जनों ने अपने जीवन में किया, और उसी का उपदेश सर्व जगत को भी दिया, तथा दे रहे हैं, किसी स्वार्थ के कारण नहीं, बल्कि प्रेम व करुणा के कारण, कि किसी प्रकार आप भी सफल हो सकें उस अभिलाषा को शान्त करने में।

३ उपाय जानने का वैज्ञानिक ढंग

किस प्रकार किया उन्होंने यह आविष्कार? कहां से सीखा इसका उपाय? कहीं बाहर से नहीं, अपने अन्दर से। उपाय ढूंढने का जो वैज्ञानिक ढंग है-उसके द्वारा। उपाय ढूंढने का वैज्ञानिक व स्वाभाविक ढंग यद्यपि सबके अनुभव में प्रतिदिन आ रहा है। पर विश्लेषण न करने के कारण सैद्धान्तिक रूप से उसकी धारणा किसी को नहीं है। देखिये उस कबूतर को जिसकी अभिलाषा है कि आपके कमरे में किसी न किसी प्रकार प्रवेश कर पाये अपना घोंसला बनाने के लिये। कमरे में प्रवेश करने का उपाय किससे पूछे। स्वयं अपने अन्दर से ही उपाय निकालता है, अतः प्रयत्न करता है। कभी इस द्वार पर जाता है और बन्द पाकर वापिस लौट आता है। कुछ देर पश्चात उस खिड़की के निकट जाता है, वहां सरिये लगे पाता है। सरियों के बीच में गर्दन घुसाकर प्रयत्न करता है-घुसने का, परन्तु सरियों में अन्तराल कम होने के कारण उसका शरीर निकल नहीं पाता-उनके बीच में से। फिर लौट आता है, दूसरी दिशा में जाता है, वहां भी वैसा ही प्रयत्न। फिर तीसरी में और फिर चौथी दिशा में, कहीं से मार्ग न मिला। सामने वाले मण्डेर पर बैठकर सोच रहा है-अब भी उसी का उपाय, निराश नहीं हुआ है। हैं! यह क्या है-ऊपर छत के निकट? चलकर देखूं तो सही। एक रोशनदान। झुक कर देखता है-अन्दर की ओर। कुछ भय के कारण तो नहीं हैं वहां? नहीं नहीं-कुछ नहीं है। रोशनदान में घुस जाता है, कमरे की कार्नस पर बैठ कर प्रतीक्षा करता है-कुछ देर कमरे के स्वामी के आने की। स्वामी आता है, तो देखता है गौर से उसकी मुखाकृति को। क्रूर तो नहीं है? नहीं, भला आदमी है। और फिर जाता है और आता है बे रोक टोक। मानो उसके लिये ही बनाया था यह द्वार। इसी प्रकार एक चींटी भी पहुंच जाती है अपने खाद्य पदार्थ पर, और थोड़ी देर इधर उधर घूम कर मार्ग निकाल ही लेती है-डब्बे में प्रवेश पाने का।

विश्लेषण कीजिये-इन छोटे से जन्तुओं की इस प्रक्रिया का। धैर्य और साहस के साथ बार बार प्रयत्न करना। असफल रहने पर भी एक दम निराश न हो जाना। एक द्वार उपयुक्त न दीखे

तो दूसरी दिशा में जाकर ढूंढना या दूसरे द्वार पर प्रयत्न करना और अन्त में सफल हो जाना। यह है क्रम किसी अभीष्ट विषय के उपाय ढूंढने का। इसे वैज्ञानिक जन कहते हैं 'Trial & Error Theory' सफल न होने पर प्रयत्न की दिशा घुमा देने का सिद्धान्त। आप स्वयं भी तो इस सिद्धान्त का प्रयगो कर रहे हैं-अपने जीवन में। कोइ रोग हो जाने पर, आते हो वैद्यराज के पास, औषधि लेते हो, तीन चार दिन खा कर देखने के पश्चात कोई लाभ होता प्रतीत नहीं होता। तो वैद्य जी से कहते हो-औषधि बदल देने के लिये। उससे भी यदि काम न चले तो पुनः वही क्रम। और अन्त में तीन बार औषधि बदली जाने पर, मिल ही जाती है-कोई अनुकूल औषधि। इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर भी तो उपरोक्त ही फल निकलेगा।

बस यही है वह सिद्धान्त, जो यहाँ शान्ति प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध में भी लागू करना है। किसी अनुभूत व दृष्ट विषय का विश्लेषण करके एक सिद्धांत बनाना, तथा उसी जाति के किसी अनुभूत व अदृष्ट विषय पर लागू करके अभीष्ट की सिद्धि कर लेना ही तो वैज्ञानिक मार्ग है --किसी नवीन खोज करने का। शान्ति की नवीन खोज करनी है तो उपरोक्त सिद्धांत को लागू कीजिये। एक प्रयत्न कीजिये, यदि सफल न हो तो उस प्रयत्न की दिशा घुमाकर देखिये, फिर भी सफलता न मिले तो पुनः कोई और प्रयोग कीजिये, और प्रयोगों को बराबर बदलते जाइये जब तक कि सफल न हो जाये।

४. वर्तमान पुरुषार्थ की असार्थकता अब प्रश्न होता है यह कि क्या आज तक प्रयत्न नहीं किया? नहीं ऐसी तो बात नहीं है। प्रयत्न तो किया है, और बराबर करता आ रहा है। प्रयत्न करने में कमी नहीं है। धन उपार्जन करने में, जीवन की आवश्यक वस्तुएं जुटाने में, उनकी रक्षा करने में तथा उनको भोगने में अवश्य तू पुरुषार्थ कर रहा है, और खूब कर रहा है। फिर कमी कहां है जो आज तक असफल रहा है, उसकी प्राप्ति में? कमी है प्रयोग को बदल कर न देखने की। प्रयत्न तो अवश्य करता आ रहा है, पर अव्वल तो आज तक भी कभी तुझे यह विचारने का अवसर ही न मिला, कि तुझे सफलता नहीं मिल रही है, और यह यदि प्रतीति भी हुई, तो प्रयोग बदल कर न देखा। वही पुराना प्रयोग चल रहा है, जो पहले चलता था--धन कमाने का, भोगों की उपलब्धि व रक्षा का तथा उन्हें भोगने का। कभी विचारा है यह कि अधिक से अधिक भोगों को प्राप्त करके भी यह ध्वनि शान्त नहीं हो रही है, तो अवश्यमेव मेरी धारणा में, मेरे विश्वास में कहीं भूल है। धन या भोग-शान्ति की प्राप्ति के उपाय ही नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो अवश्य ही मैं शान्त हो गया होता। आवाज का न दबना ही यह बता रहा है कि मेरा उपाय झूठा है। वास्तव में उपाय कुछ और है, जिसे मैं नहीं जानता। अतः या तो किसी जानकार से पूछ कर, या स्वयं पुरुषार्थ की दिशा घुमाकर देखूं तो सही। इस उपरोक्त प्रयोग को यदि अपनाता, तो अवश्य आज तक वह मार्ग पा लिया होता।

अब सुनने पर तथा अपनी धारणा बदल जाने के कारण, कुछ इच्छा भी प्रगट हुई हो--यदि प्रयत्न बदलने की, तो उससे पहले तुझको यह बात जान लेनी आवश्यक है, कि किस चीज का आविष्कार करने जा रहा है तू? क्योंकि बिना किसी लक्ष्य के हुए किस ओर लगायेगा पुरुषार्थ को। केवल शान्ति व सुख कह देने से काम नहीं चलता। उस शान्ति या सुख की पहिचान भी होनी चाहिये; ताकि आगे जाकर भूल वश पहले की भान्ति उस दुःख या अशान्ति को सुख या शान्ति न मान बैठे, और सुप्तवत सा हुआ चलता चला जाये-उसी दिशा में-बिलकुल असफल व असन्तुष्ट।

५. अशान्ति का कारण इच्छायें **शान्ति की पहिचान भी अनुभव के आधार पर करनी है, किसी की गवाही लेकर** नहीं और बड़ी सरल है वह । केवल अन्तरंग के परिणामों का या उस अन्तर्ध्वनि का विश्लेषण करके देखना है । असन्तोष में डूबी आज की ध्वनि प्रतिक्षण मांग रही है-तुझसे, 'कुछ और'। "कुछ और चाहिये, अभी तृप्त नहीं हुआ, अभी कुछ और भी चाहिये" बराबर ऐसी ध्वनि सुनने में आ रही है, वास्तव में इस ध्वनि का नाम ही तो है-अभिलाषा, इच्छा या व्याकुलता, क्योंकि इच्छा की पूर्ति का न होना ही व्याकुलता है । क्या कुछ सन्देह है-इसमें भी ? यदि है तो देख, आज तुझे इच्छा है -- अपनी युवती कन्या का जल्दी से जल्दी विवाह करने की, पर योग्य वर न मिलने के कारण कर नहीं पा रहा है । तेरी इच्छा पूरी नहीं हो रही है । बस यही तो है तेरे अन्दर की व्याकुलता, व्यग्रता, अशान्ति या दुःख ।

पुरुषार्थ करके अधिकाधिक कमा डाला, पर उस ध्वनि की ओर उपयोग गया तो, आश्चर्य हुआ यह देख कर, कि जूं जूं धन बढ़ा वह 'कुछ और' की ध्वनि और भी बलवान ही होती गई । ज्यों ज्यों भोग भोगे, भोगों के प्रति की अभिलाषा और अधिक बढ़ती ही गई। क्या कारण है-इसका? जितनी कुछ भी धनराशि की प्राप्ति हुई थी, उतना तो इस को कम होना चाहिए था या बढ़ना ? बस सिद्धान्त निकल गया कि इच्छाओं का स्वभाव ही ऐसा है, कि ज्यों ज्यों इसकी मांग पूरी करे त्यों त्यों दबने की बजाय और अधिक बढ़े । इच्छा के बढ़ने में भी सम्भवतः हर्ज न होता, यदि यह सम्भव होता,कि एक दिन जाकर इस इच्छा का अन्त आ जायेगा । क्योंकि इच्छा का अन्त आजाने पर भी मैं पुरुषार्थ करता रहूंगा—और अधिक धन कमाने का । और एक दिन इतना संचय कर लूंगा, कि उसकी पूर्ति हो जाये । परन्तु विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीति में आता है, कि इच्छा का कभी अन्त न होगा । इच्छा असीम है, और इसके सामने पड़ी हुई तीन लोक की सम्पत्ति सीमित । सम्भवतः इतनी मात्र, कि इच्छा के खड्ड में पड़ी हुई इतनी भी दिखाई न दे, जैसा कि कोई परमाणु । इस पर भी इसको बटवाने वाली इतनी बड़ी जीव राशि ? क्योंकि सब ही को तो इच्छा है उसकी —तेरी भांति । बता क्या सम्भव है ऐसी दशा मे—इस इच्छा की पूर्ति ? इसका अनन्तवां अंश भी तो सम्भवतः पूर्ण न हो सके ? फिर कैसे मिलेगी तुझे शान्ति-धन प्राप्ति के पुरुषार्थ से ? बस बन गया सिद्धान्त । धन व भोगों की प्राप्ति का नाम सुख व शान्ति नहीं, बल्कि उनका अभाव शान्ति है, और इस लिये धनोपार्जन या भोगों सम्बन्धी पुरुषार्थ, इस दिशा का सच्चा पुरुषार्थ नहीं है ।

सहारनपुर—दिनांक २६ नवम्बर १९६१

प्रवचन नं० ५/१

६ संसार वृक्ष **देख तेरी वर्तमान दशा का एक सुन्दर चित्रण दर्शाता हूं ।** एक व्यापारी जहाज में माल भर कर विदेश को चला । अनेकों आशायें थीं उसके हृदय में । पर उसे क्या खबर थी कि अदृष्ट उसके लिये क्या लिये बैठा है । दूर क्षितिज में से सॉय सॉय की भयंकर ध्वनि प्रगट हुइ, जो बराबर बढ़ती हुई उसकी ओर आने लगी । घबरा गया वह । हैं ! यह क्या ? तूफान सर पर आ गया । आन्धी का वेग मानो सागर को अपने स्थान से उठा कर अन्यत्र लेजाने की होड़ लगाकर आया है। सागर ने अपने

अभिमान पर इतना बड़ा आघात कभी न देखा था। वह एक दम गर्ज उठा, फुंकारे मारने लगा और उछल उछल कर वायु मण्डल को ताड़ने लगा।

वायु व सागर का यह युद्ध कितना भयंकर था। दिशायें भयंकर गर्जनाओं से भर गईं। दोनों नये नये हथियार लेकर सामने आ रहे थे। सागर के भयंकर थपेड़ों से आकाश का साहस टूट गया। वह एक भयंकर चीत्कार के साथ सागर के पैरों में गिर पड़ा। घड़ड़ड़ड़। ओह! यह क्या आफ़त आई? आकाश फट गया और उसके भीतर से क्षण भर को एक महान प्रकाश की रेखा प्रगट हुई। रात्रि के इस गहन अन्धकार में भी इस वज्रपात के अद्वितीय प्रकाश में सागर का क्षोभ तथा इस युद्ध का प्रकोप स्पष्ट दिखाई देरहा था। व्यापारी की नब्ज़ ऊपर चढ़ गई, मानो वह निष्प्राण हो चुका है।

इतने ही पर बस क्यों हो? आकाश की इस पराजय को मेघराज सहन न कर सका। महाकाल की भांति काली राक्षस सेना गर्ज कर आगे बढ़ी, और एक बार पुनः घोर अन्धकार में सब कुछ विलीन हो गया। व्यापारी अचेत होकर गिर पड़ा। सागर उछला, गड़गड़ाया। मेघराज ने जलबाणों की घोर वर्षा की। मूसलाधार पानी पड़ने लगा। जहाज़ में जल भर गया। व्यापारी अब भी अचेत था। दो भयंकर राक्षसों के युद्ध में बेचारे व्यापारी की कौन सुने? सागर की एक विकराल तरंग ओह! यह क्या? पुनः वज्रपात हुआ और उसके प्रकाश में..... ? जहाज़ ज़ोर से ऊपर को उछला और नीचे गिर कर जल में विलुप्त हो गया। सागर की गोद में समा गया। उसके अंगोपांग इधर उधर बिखर गये। हाय, बेचारा व्यापारी, कौन जाने उसकी क्या दशा हुई।

प्रभात हुआ। एक तख़ते पर पड़ा सागर में बहता हुआ कोई अचेत व्यक्ति भाग्यवश किनारे पर आलगा। सूर्य की किरणों ने उसके शरीर में कुछ स्फुर्ति उत्पन्न की। उसने आँखें खोलीं। मैं कौन हूं? मैं कहां हूं? यह कौन देश है? किसने मुझे यहां पहुंचाया है, मैं कहां से आ रहा हूं? क्या काम करने के लिए घर से निकला था? मेरे पास क्या है? कैसे निर्वाह करूं? सब कुछ भूल चुका है अब वह।

उसे नवजीवन मिला है, यह भी उसको पता नहीं है। किससे सहायता पाऊं, कोई दिखाई देता नहीं। गर्दन लटकाये चल दिया जिस ओर मुंह उठा। एक भयंकर चीत्कार। अरे! यह क्या? उसकी मानसिक स्तब्धता भंग हो गई। पीछे मुड़कर देखा। मेघों से भी काला, जंगम पर्वत तुल्य, विकराल गजराज सूंड़ ऊपर उठाये, चीख़ मारता हुआ, उसकी ओर दौड़ा। प्रभु! बचाओ। अरे पथिक! कितना अच्छा होता यदि इसी प्रभु को अपने अच्छे दिनों में भी याद कर लिया होता। अब क्या बनता है, यहां कोई भी तेरा सहायक नहीं।

दौड़ने के अतिरिक्त शरण न थी। पथिक दौड़ा, जितनी ज़ोर से उससे दौड़ा गया। हाथी सर पर आगया और धैर्य जाता रहा। अब जीवन असम्भव है। "नहीं पथिक! तूने एक बार जिह्वा से प्रभु का पवित्र नाम लिया है, वह निरर्थक न जायेगा, तेरी रक्षा अवश्य होगी", आकाशवाणी हुई। आश्चर्य से आंख उठाकर देखा, कुछ सन्तोष हुआ, सामने एक बड़ा वटवृक्ष खड़ा था। एक बार पुनः साहस बटोर कर पथिक दौड़ा और वृक्ष के नीचे की ओर लटकती दो उपशाखाओं को पकड़ कर वह ऊपर चढ़ गया।

हाथी का प्रकोप और भी बढ़ गया, यह उसकी मानहानि है। इस वृक्ष ने उसके शिकार को शरण दी है, अतः वह भी अब रह न पायेगा। अपनी लम्बी सूंड से वृक्ष को वह ज़ोर से हिलाने लगा। पथिक का रक्त सूख गया। अब मुझे बचाने वाला कोई नहीं। नाथ ! क्या मुझे जाना ही होगा-बिना कुछ देखे, बिना कुछ चखे ? "नहीं, प्रभु का नाम बेकार नहीं जाता। ऊपर दृष्टि उठाकर देख," इस आकाशवाणी ने पुनः आशा का संचार किया। ऊपर की ओर देखा मधु का एक बड़ा छत्ता, जिसमें से बून्द बून्द करके झर रहा था उसका मद।

आश्चर्य से मुंह खुला का खुला रह गया। यह क्या ? और अकस्मात् ही—आ हा हा, कितना मधुर है यह। एक मधुबिन्दु उसके खुले मुंह में गिर पड़ा। वह चाट रहा था उसे और कृतकृत्य मान रहा था अपने को। एक बूंद और, मुंह खोला, और पुनः वही स्वाद। एक बूंद और . . . . और इसी प्रकार मधुबिन्दु के इस मधुर स्वाद में खो गया वह, मानो उसका जीवन बहुत सुखी बन गया है। अब उसे और कुछ नहीं चाहिये - एक मधुबिन्दु। भूल गया वह अब प्रभु के नाम को, अब उसे याद करने से लाभ भी क्या है ? देखा कोई भी मधु बिन्दु व्यर्थ पृथ्वी पर न पड़ने पावे। उसके सामने मधु-बिन्दु के अतिरिक्त और कुछ न था। भूल चुका था वह यह, कि नीचे खड़ा वह विकराल हाथी अब भी वृक्ष की जड़ में सूंड से पानी दे देकर उसे ज़ोर ज़ोर से हिला रहा है। क्या करता उसे याद करके, मधुबिन्दु जो मिल गया है उसे, मानों उसके सारे भय टल चुके हैं। वह मग्न है मधुबिन्दु की मस्ती में।

वह भले न देखे, पर प्रभु तो देख रहे हैं। अरेरे ! कितनी दयनीय है इस पथिक की दशा। नीचे हाथी वृक्ष को समूल उखाड़ने पर तत्पर है और ऊपर वह देखो दो चूहे बैठे उस डाल को धीरे धीरे कुतर रहे हैं, जिस पर कि वह लटका हुआ है। उसके नीचे उस बड़े अन्धकूप में, मुंह फाड़े विकराल दाढ़ों के बीच लम्बी लम्बी भयंकर जिह्वा लपलपा रही हैं जहां, लाल लाल नेत्रों से ऊपर की ओर देखते हुए, वे चार भयंकर अजगर मानो इसी बात की प्रतीक्षा में हैं कि कब डाल कटे और उसको एक ग्रास खाने को मिले। उन बेचारों का भी क्या दोष, उनके पास पेट भरने का एक यही तो साधन है। पथ-भ्रष्ट अनेकों भूले भटके पथिक आते हैं, और इस मधुबिन्दु के स्वाद में खोकर अन्त में उन अजगरों के ग्रास बन जाते हैं। सदा से ऐसा होता आ रहा है, तब आज भी ऐसा ही क्यों न होगा ?

गड़ गड़ गड़ - वृक्ष हिला। मधु मक्षिकाओं का संतुलन भंग हो गया। भिनभिनाती हुई झन्नाती हुई वे उड़ीं। इस नवागन्तुक ने ही हमारी शान्ति में भंग डाला है। चिपट गई वे सब उसको - कुछ सर पर, कुछ कमर पर, कुछ हाथों में, कुछ पांवों में। सहसा ही घबरा उठा वह; . . . यह क्या? उनके तीखे डंकोंकी पीड़ा से व्याकुल होकर, एक चीख निकल पड़ी उसके मुंह से, प्रभु ! बचाओ मुझे। पुनः वही मधुबिन्दु। जिस प्रकार रोते हुए शिशु के मुख में मधु भरा रबर का निपल देकर माता उसे सुला देती है, और वह शिशु भी इस भ्रम से कि मुझे स्वाद आ रहा है। सन्तुष्ट होकर सो जाता है, उसी प्रकार पुनः खोगया वह उस मधुबिन्दु में, और भूल गया उन डंकों की पीड़ा को।

पथिक प्रसन्न था, पर सामने बैठे परमकरुणाधारी, शान्तमूर्ति, जगतहितकारी, प्रकृति माता की गोद में रहने वाले, निर्भय गुरुदेव मन ही मन उसकी इस दयनीय दशापर आंसू बहा रहे थे।

आखिर उनसे रहा न गया। उठकर निकल आये। "भो पथिक ! एक बार नीचे देख, यह हाथी जिस से डर कर तू यहां आया है, अब भी यहां ही खड़ा इस वृक्ष को उखाड़ रहा है। उपर वह देख सफेद व काले दो चूहें तेरी इस डाल को काट रहे हें। नीचे देख वे अजगर मुंह बाये तुझे ललचाई ललचाई दृष्टि से ताक रहे हें। इस शरीर को देख जिस पर चिपटी हुई मधु मक्षिकायें तुझे चूंट चूंट कर खा रही हे। इतना होने पर भी तू प्रसन्न है, सन्तुष्ट है, यह बड़ा आश्चर्य है। आंख खोल, तेरी दशा बड़ी दयनीय है। एक क्षण भी विलम्ब करने को अवकाश नहीं। डाली कटने वाली है। तू नीचे गिर कर निःसन्देह उन अजगरों का ग्रास बन जायेगा। उस समय कोई भी तेरी रक्षा करने को समर्थ न होगा। अभी भी अवसर है। आ मेरा हाथ पकड़ और धीरेसे नीचे उतर जा। यह हाथी मेरे सामने तुझे कुछ नहीं कहेगा। इस समय में तेरी रक्षा कर सकता हूं सावधान हो, जल्दी कर।"

परन्तु पथिक को कैसे स्पर्श करें वे मधुर वचन। मधुबिन्दु के मधुराभास में उसे अवकाश ही कहां है यह सब कुछ विचारने का ? "बस गुरुदेव, एक बिन्दु और, वह आ रहा है, उसे लेकर चलता हूं अभी आपके साथ।" बिन्दु गिर चुका। "चलो भय्या चलो," पुनः गुरुजी की शांत ध्वनि आकाश में गूंजी, दिशाओं से टकराई और खाली ही गुरुजी के पास लौट आई। "बस एक बूंद और, अभी चलता हूं," इस उत्तर के अतिरिक्त और कुछ न था पथिक के पास। तीसरी बार पुनः गुरुदेव का करुणापूर्ण हाथ बढ़ा। अबकी बार वह चाहते थे कि इच्छा न होने पर भी उस पथिक को कौली भर कर वहां से उतार ले। परन्तु पथिक को यह सब स्वीकार ही कब था ? यहां तो मिलता है मधु बिन्दु और नंगधड़ंग इन गुरुदेव के पास है भूख व प्यास, गर्मी व सर्दी, तथा अन्य अनेकों संकट, अतः कौन मूर्ख जाये इनके साथ। लात मार कर गुरुदेव का हाथ झटक दिया उसने, और क्रुद्ध होकर बोला, "जाओ अपना काम करो, मेरे आनन्द में भंग न डालो।"

गुरुदेव चले गये, डाली कटी और मधुबिन्दु की मस्ती को हृदय में लिये, अजगर के मुंह में जाकर उसने अपनी जीवन लीला समाप्त करदी।

कथा कुछ रोचक लगी है आपको, पर जानते हो किसकी कहानी है ? आपकी और मेरी सबकी आत्म कथा है यह। आप हंसते हें उस पथिक की मूर्खता पर। काश एक बार हंस लेते अपनी मूर्खता पर भी।

इस अपार व गहन संसार सागर में जीवन के जर्जरित पोत को खेता हुआ मे चला आ रहा हूं। नित्य ही अनुभव में आने वाले जीवन के थपेड़ों के कड़े आघातों को सहन न करता हुआ यह मेरा पोत कितनी बार टूटा और कितनी बार मिला, यह कौन जाने ? जीवन के उतार चढ़ाव के भयंकर तूफ़ान में चेतना को खोकर में बहता चला आ रहा हूं—अनादि काल से।

माता के गर्भ से बाहर निकल कर आश्चर्य भरी दृष्टि से इस सम्पूर्ण वातावरण को देखकर खोया खोया सा में रोने लगा, क्योंकि मे यह न जान सका कि में कौन हूं, में कहां हूं, कौन मुझे यहां लाया है, में कहां से आया हूं, क्या करने के लिए आया हूं, और मेरे पास क्या है जीवन निर्वाह के लिये। सम्भवतः माता के गर्भ से निकल कर बालक इसीलिए रोता है। 'मानों में कोई अपूर्व व्यक्ति हूं', ऐसा सोचकर मे इस वातावरण में कोई सार देखने लगा। दिखाई दिया मृत्यु रूपी विकराल हाथी का भय। डर कर भागने लगा, कि कहीं शरण मिले।

बचपन बीता, जवानी आई और भूल गया मैं सब कुछ। विवाह हो गया, सुन्दर स्त्री घर में आ गई, धन कमाने व भोगने में जीवन घुलमिल गया, मानो यही है मेरी शरण, अर्थात गृहस्थ जीवन, जिसमें हैं अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प, आशायें व निराशायें। यही हैं वे शाखायें व उपशाखायें जिनसे समवेत यह गृहस्थ जीवन है-वह शरणभूत वृक्ष। आयु रूपी शाखा से संलग्न आशा की दो उपशाखाओं पर लटका हुआ मैं मधुबिन्दु की भान्ति इन भोगों में से आने वाले क्षणिक स्वाद में खोकर भूल बैठा हूं सब कुछ।

कालरूप विकराल हाथी अब भी जीवनतरु को समूल उखाड़न में तत्पर बराबर इसे हिला रहा है। अत्यन्त वेग से बीतते हुए दिन रात ठहरे सफेद और काले दो चूहे, जो बराबर आयु की इस शाखा को काट रहे हैं। नीचे मुंह बाये हुए चार अजगर हैं चार गतियां - नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव, जिनका ग्रास बनता, जिनमें परिभ्रमण करता मैं सदा से चला आ रहा हूं, और अब भी निश्चित रूप से ग्रास बन जाने वाला हूं, यदि गुरुदेव का उपदेश प्राप्त करके इस विलासता का आश्रय न छोड़ा तो। मधुमक्षिकायें है स्त्री, पुत्र व कुटुम्ब जो नित्य चूंट चूंट कर मुझे खा जायेंगे तथा जिनके संताप से व्याकुल हो मैं कभी कभी पुकार उठता हूं,"प्रभु! मेरी रक्षा करें।" मधुबिन्दु है वह क्षणिक इन्द्रिय सुख, जिसमें मग्न हुआ मैं न बीतती हुई आयु को देखता हूं, न मृत्यु से भय खाता हूं, न कौटुम्बिक चिन्ताओं की परवाह करता हूं, और न चारों गतियों के परिभ्रमण को गिनता हूं। कभी कभी लिया हुआ नाम प्रभु का है वह पुण्य, जिसके कारण कि यह तुच्छ इन्द्रिय सुख कदाचित् प्राप्त हो जाता है।

यह मधुबिन्दु रूपी इन्द्रिय सुख भी वास्तव में सुख नहीं, सुखाभास है। जिस प्रकार कि बालक के मुख में दिया जाने वाला वह निपल, जिसमें से कुछ भी स्वाद बालक को वास्तव में नहीं आता, क्योंकि रबर के बन्द उस निपल में से किञ्चित मात्र भी मधु बाहर निकलकर उसके मुंह में नहीं आता; जिस प्रकार वह केवल मिठास की कल्पना मात्र करके सो जाता है, उसी प्रकार इन इन्द्रिय सुखों में मिठास की कल्पना करके मेरा विवेक सो गया है; जिसके कारण गुरुदेव की करुणा भरी पुकार भी मुझे स्पर्श नहीं करती, तथा जिसके कारण उनके करुणा भरे हाथ की अवहेलना करते हुए भी मुझे लाज नहीं आती। गुरुदेव के स्थान पर है यह गुरुवाणी, जो नित्य ही पुकार पुकार कर मुझे सावधान करने का निष्फल प्रयास कर रही है।

यह है संसार वृक्ष का मुंह बोलता चित्रण, व मेरी आत्मगाथा। भो चेतन ! कब तक इस सागर के थपेड़े सहता रहेगा ? कब तक गतियों का ग्रास बनता रहेगा ? कब तक काल द्वारा भग्न होता रहेगा ? प्रभो! ये इन्द्रिय सुख मधुबिन्दु की भांति निःसार हैं, सुख नहीं सुखाभास हैं, 'एक बिन्दु सम' ये तृष्णा को भड़काने वाले हैं, तेरे विवेकको नष्ट करने वाले हैं। इनके कारण ही तुझे हितकारी गुरुवाणी भी सुहाती नहीं। आ ! बहुत हो चुका, अनादिकाल से इसी सुख के झूठे आभास में तूने आज तक अपना हित न किया। अब अवसर है, बहती गंगा में मुंह धोले। बिना प्रयास के ही गुरुदेव का यह पवित्र संसर्ग प्राप्त हो गया है। छोड़ दे अब इस शाखा को, शरण ले इन गुरुओं की और देख अदृष्ट में तेरे लिये यह परम सुख, वह परम आनन्द पड़ा है, जिसे पाकर तू तृप्त हो जायेगा, सदा के लिये प्रभु बन जायेगा तू।

सहारनपुर—दिनांक २७ नवम्बर १९६१

प्रवचन नं० ५/२

७. षट्लेश्या वृक्ष

उपरोक्त संसार वृक्ष के चित्रण द्वारा यह दर्शाया गया है कि वास्तव में संसार या दुःखों का मूल कारण इच्छायें हैं। यह इच्छायें एक प्रकार की नहीं हैं, बल्कि अनेकों प्रकार के चित्र विचित्र स्वांग भर कर रंगमंच पर आती है—कभी क्रोध के रूप में, कभी अभिमान के रूप में, कभी मायाचारी के रूप में और कभी लोभ के रूप में। इन्हीं को आगम भाषा में कषाय के नाम से पुकारा जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार तो प्रमुख कषाय हैं, पर इनके फलस्वरूप जीवन में जितने भी आसक्ति व अनासक्ति के अथवा रागद्वेषात्मक भाव जागृत होते हैं, वे सब ही कषाय शब्द के वाच्य हैं—जैसे हास्यभाव, रति या आसक्ति भाव, अरति या द्वेष भाव, शोक भाव, भय, ग्लानि या घृणा भाव तथा मैथुन या स्त्री सेवन आदि के भाव, ये कषाय या इच्छा के भिन्न भिन्न रूप हैं। इतना ही नहीं ये सब भाव तीव्रता व मन्दता की अपेक्षा अनेकों भेदों में विभाजित किये जा सकते हैं।

विश्लेषण करने के लिये प्रमुखतः छः भेदों में विभाजित करके दर्शाया जाता है—तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर व मन्दतम। इन छः भेदों को कलापूर्ण बनानेके लिये आगममें इनको छः रंगों रूप दर्शाया गया है। क्योंकि जीव के प्रतिक्षणके परिणाम इन कषायों से रंगे हुए होने के कारण ही चित्रविचित्र दिखाई देते हैं। तीव्रतम भाव की उपमा कृष्ण या काले रंग से दी जाती है, तीव्रतर भाव की उपमा नीले रंग से, तीव्रभाव की उपमा कापोत या कबूतर जैसे सलेटी रंग से, मन्द भाव की उपमा पीत या पीले रंग से, मन्दतर की उपमा पद्म या कमल सरीखे हलके गुलाबी रंग से, तथा मन्दतम भाव की उपमा शुक्ल या सफेद रंग से दी जाती है। यद्यपि जीव के शरीर भी इन छः में से किसी न किसी रंग के होते हैं, परन्तु यहां शरीर के रंग से प्रयोजन नहीं है, जीव के भावों के उपमागत रंगों से प्रयोजन है। इस प्रकार कषायों या इच्छाओं में रंगे हुए चेतन के परिणाम छः प्रकार के होते हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म व शुक्ल। इन्हीं को विशेष स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण देता हूं।

एक बार छः मित्र मिलकर पिकनिक मनाने निकले। सुहावना सुहावना समय, मन्द-मन्द शीतल वायु, आकाश पर नृत्य करने वाली बादलों की छोटी छोटी टोलियां, मानो प्रकृति के यौवन का प्रदर्शन कर रही थीं। छहों मित्रों के हृदय भी अरमानों से भरपूर थे। सब ही अपने अपने विचारों में निमग्न चले जाते थे। नदी के मधुर गान ने उनके हृदयमें और भी उमंग भर दी। वे भूल गये सब कुछ और खो गये इस सुन्दरता में।

आ हा हा! कितना सुन्दर लगता है, और यह देखो मित्र इस ओर! वाह वाह काम बन गया, अब तो खूब आनन्द रहेगा, जी भर कर आम खायेंगे। सामने ही मद झरते पीले पीले आमों से लदा एक वृक्ष खड़ा था। एक बार ललचाई सी दृष्टि से देखा और स्वतः ही उनके पाँव उस ओर चलने लगे। छहों के हृदयों में भिन्न-भिन्न विचार थे।

वृक्ष के पास पहुंचते ही अपने अपने विचारों के अनुसार सब ही शीघ्रता से काम में जुट गये। एक व्यक्ति कहीं से एक कुल्हाड़ी उठा लाया, जिसे लेकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों से लदफद

एक टहनी को काटने लगा। यह देखकर दूसरा मित्र उसकी मूर्खता पर हँसने लगा। बोला, "अरे मूर्ख! क्यों परिश्रम व्यर्थ खोता है? जितनी देर मे इस टहनी को ऊपर जाकर काटेगा उतनी देर में तो नीचे वाला यह टहना ही सरलता से कट जायेगा। टहनी में तो दस पांच ही आम लगे हैं, छहों का तो पेट न भरेगा इस टहने में सैंकड़ों लगे हैं, एकबार नीचे गिरा लो, फिर जीभर कर खाओ और साथ में घर भी बान्ध कर ले जाओ"। यह सुनकर नीचे खड़ा वह तीसरा मित्र अपनी हंसी रोक न सका और बोला, "अरे भोले! यदि घर ही ले जाने हैं तो नीचे आओ मैं तुम को और भी सरल उपाय बताता हूं। वृक्ष पर चढ़ने से तो चोट लगने का भय है, तथा अधिक लाभ भी नहीं है। नीचे ही खड़े रहकर इसे मूलसे काट डालो। वृक्ष थोड़ी ही देर में नीचे गिर जायेगा, फिर बे खटके खाते रहना और जितने चाहो भर कर घर लेजाना। भैय्या! मैं तो एक छकड़ा लाकर सारा ही वृक्ष लादकर घर ले जाऊंगा। कई दिन आम खायेंगे और साल भर ईन्धन में रोटी पकायेंगे। छकड़े वाला अधिक से अधिक पांच रुपया लेगा।" और ऐसा कहकर लगा मूल में कुठार चलाने।

शेष तीन मित्र अन्दर ही अन्दर पछताने लगे कि व्यर्थ ही इन दुष्टों के साथ आये। जिसका फल खायेंगे उसको ही जड़ से काट डालेंगे। धिक्कार है ऐसी कृतघ्नता को। कौन समझाये अब इनको। प्रभु इन्हें सद्बुद्धि प्रदान करें। साहस बटोर कर उनमें से एक बोला कि भो मित्र! तनिक ठहरो, मैं एक कथा सुनाता हूं; पहिले वह सुनलो, फिर वृक्ष काटना। तीनों चुप हो गये और कथा प्रारम्भ हुई।

एक बार एक सिंह कीचड़ में फंस गया। बड़ी दयनीय थी उसकी अवस्था। बेचारा लाचार हो गया। क्या तो उसकी एक दहाड़ से सारा जंगल थरथरा जाता था और क्या आज वह ही सहायता के लिये प्रभु से प्रार्थना कर रहा है, कि नाथ! अब की बार बचा तो हिंसा न करूंगा।, पत्ते खाकर ही निर्वाह करलूंगा। प्रभु का नाम व्यर्थ नहीं जा सकता। एक पथिक उधर से आ निकला, सिंह की करुण पुकार ने उसके हृदय को पिघला दिया। यद्यपि भय था परन्तु करुणा के सामने उसने न गिना, और बेधड़क कीचड़ में घुसकर उस सिंह को बाहर निकाल दिया।

वह समझता था कि यह सिंह अपने उपकारी का घात करना कभी स्वीकार न करेगा, परन्तु उसकी आशा के विपरीत सिंह ने बन्धन मुक्त होते ही एक भयानक गर्जना करके उस व्यक्ति को तत्काल ललकारा, "किधर जाता है, मैं तीन दिन का भूखा हूं, तूने मुझे बन्धन से मुक्त किया है और तू ही मुझे भूख से मुक्त करेगा।" अब तो पथिक के पांव तले की मिट्टी खिसकने लगी, वह घबरा गया, प्रभु के अतिरिक्त अब उसके लिये कोई शरण नहीं थी। उसने उसे याद किया, फलस्वरूप उसे एक विचार आया। वह सिंह से बोला कि भाई! ऐसी कृतघ्नता उचित नहीं है। सिंह कब इस बात को स्वीकार कर सकता था, गर्जकर बोला, "लोक का ऐसा ही व्यवहार है, तू अब मुझसे बचकर नहीं जा सकता।" पथिक को जब कोई उपाय न सूझा तो बोला, कि अच्छा भाई! किसी से इसका न्याय करालो।

व्यवहारकुशल सिंह ने यह बात सहर्ष स्वीकार करली, मानो उसे पूर्ण विश्वास था कि न्याय उसके विरुद्ध न जा सकेगा, क्योंकि वह जानता था कि मनुष्य से अधिक कृतघ्नी संसार में दूसरा नहीं है। दोनों मिलकर एक वृक्ष के पास पहुंचे और अपनी कथा कह सुनाई। वृक्ष बोला कि सिंह

ठीक कहता है। कारण कि मनुष्य गर्मी से संतप्त होकर मेरे साये में सुख से विश्राम करता है, मेरे फलों के रस से अपनी प्यास बुझाता है, परन्तु फिर भी जाते हुए मेरी टहनी तोड़कर ले जाता है, अथवा मुझे उखाड़कर अपने चूल्हे का ईन्धन बना लेता है। अतः इस कृतघ्नी के साथ कृतघ्नता का ही व्यवहार करना योग्य है।

निराश होकर वह आगे चला तो एक गाय मिली, उसको अपनी कथा सुनाई, पर वह भी पथिक के विरुद्ध ही बोली। कहने लगी कि अपनी जवानी में मैं ने अपने बच्चों का पेट काटकर इस मनुष्य की सन्तान का पोषण किया, परन्तु बूढ़ी हो जाने पर यह निर्दयी मेरा सारा उपकार भूल गया, और इसने मुझे कसाई के हवाले कर दिया। इसने मेरी खाल खिचवाली और उसका जूता बनवाकर पांव में पहिन लिया। अतः इस कृतघ्नी के साथ ऐसा ही व्यवहार करना योग्य है।

जहां भी वे गये न्याय सिंह के पक्ष में ही गया, और सिंह ने उसे खा लिया। इस लिये भो मित्रो ! तुम्हें भी कुछ विवेक से काम करना चाहिये। दूसरे की कृतघ्नता को तो तुम कृतघ्नता देखते हो परन्तु अपनी इस बड़ी कृतघ्नता को नहीं देखते। जिस वृक्ष के आम आप खायेंगे उस पर ही कुठराघात करते हुए आपका हृदय नहीं कांपता ? नीचे उतर आओ भैया, नीचे उतर आओ, मैं तुम्हारे पांव पड़ता हूं। मैं स्वयं वृक्ष पर चढ़कर तुम्हें भर पेट आम खिला दूंगा।

वह वृक्ष पर चढ़ गया और आमों के बड़े बड़े गुच्छे तोड़कर नीचे डालने लगा। यह देखकर दूसरे मित्र से बोले बिना न रहा गया। बोला कि, "मित्र ! तुम्हें भी विवेक नहीं है। क्या नहीं देख रहे हो कि इस गुच्छे में पके हुए आमों के साथ साथ कच्चे भी टूट गये हैं, जो चार दिन के पश्चात पककर किसी और व्यक्ति की सन्तुष्टि कर सकते थे, परन्तु अब तो यह व्यर्थ ही चले गये, न हमारे काम आये और न किसी अन्य के। अतः आप नीचे आ जाइये, मैं स्वयं ऊपर चढ़कर तुम्हें पके पके मीठे आम खिला दूंगा। यह कहकर वह वृक्ष पर चढ़ गया और चुन चुन कर एक एक आम तोड़ कर नीचे गिराने लगा।

छटा व्यक्ति यह सब कुछ देख रहा था, परन्तु चुप था। क्या बोले, किसे समझाये ? उसकी सन्तोषपूर्ण बात को स्वीकार करने वाला यहाँ था ही कौन ? विद्वान लोग, मूर्खों को उपदेश नहीं देते। एक दिन की बात है कि वर्षा जोर से हो रही थी। एक वृक्ष के नीचे कुछ बन्दर ठिठुरे बैठे थे। वृक्ष पर कुछ बयों के घोंसले थे। वे बये सुखपूर्वक उन घोंसलों में बैठे प्रकृति की सुन्दरता का आनन्द ले रहे थे बन्दरों की हालत देखकर वे हंसने लगे और बोले कि रे मूर्ख बन्दर, तुझ को ईश्वर ने दो हाथ दिये हैं, फिर भी तू अपना घर नहीं बना सकता। देख, हम छोटे छोटे पक्षी भी कितने सुन्दर घोंसले बनाकर इनमें सुखपूर्वक रहते हैं। क्या तुझे देखकर लज्जा नहीं आती ? बस इतना सुनना था कि बन्दर का पारा चढ़ गया और उसने वृक्ष पर चढ़कर सब बयों के घोंसले तोड़ दिये और उनके अण्डे फोड़ दिये। इसी से ज्ञानीजनों ने कहा है, "सीख ताको दीजिये जाको सीख सुहाय, सीख न दीजिये बान्दरा, बैये का घर जाय।" ऐसा सोचकर वह सन्तोषी व्यक्ति कुछ न बोला और पृथ्वी पर पहिले से इधर उधर पड़े हुए कुछ आमों को उठाकर पृथक बैठ सुखपूर्वक खाने लगा।

इस उदाहरण पर से व्यक्ति की इच्छाओं व तृष्णाओं की तीव्रता व मन्दता का बड़ा सुन्दर परिचय मिलता है। पहिला व्यक्ति जो वृक्षकी जड़पर कुल्हाड़ा चलाने लगा था अत्यन्त निकृष्ट

तीव्रतम इच्छा वाला था। उसकी कषाय कृष्ण अर्थात वह कृष्ण लेश्या वाला था। टहने को काटने वाला दूसरा व्यक्ति तीव्रतर इच्छावाला होने के कारण नील लेश्या वाला था। टहनी को काटने वाला तीसरा व्यक्ति तीव्र इच्छा वाला होने के कारण कापोत लेश्या वाला था। इसी प्रकार आमों का गुच्छा तोड़ने वाला चौथा व्यक्ति मन्द इच्छा वाला होने के कारण पीत लेश्या वाला था। केवल पके हुए आम तोड़ने वाला पाँचवाँ व्यक्ति मन्दतर इच्छा वाला होने के कारण पद्म लेश्या वाला था। और वह अत्यन्त सन्तोषी छटा व्यक्ति मन्दतम इच्छा वाला होने के कारण शुक्ल लेश्या वाला था। इसी प्रकार व्यक्ति की सर्व ही कषायों की तीव्रता व मन्दता का अनुमान कर लेना।

संसार वृक्ष और लेश्या वृक्ष के ये दो कलापूर्ण चित्र जैन दर्शन में बहुत प्रसिद्ध हैं। यत्र तत्र पुस्तकों व मन्दिरों में वे लगे हुए मिलते हैं। उन्हें केवल सजावट करने के लिये नहीं बनाया गया है। वे आध्यात्मिक भावनाओं से ओतप्रोत हैं। उन्हें देखकर अपने आन्तरिक भावों का सन्तुलन करना तथा तीव्र भावों से पीछे हटना। इसमें ही कल्याण है। विषय भोग इच्छाओं के मूल हैं और इच्छायें संतापकारी हैं। इच्छाओं को दबाने से ही सुख व शान्ति प्राप्त होती है।

३
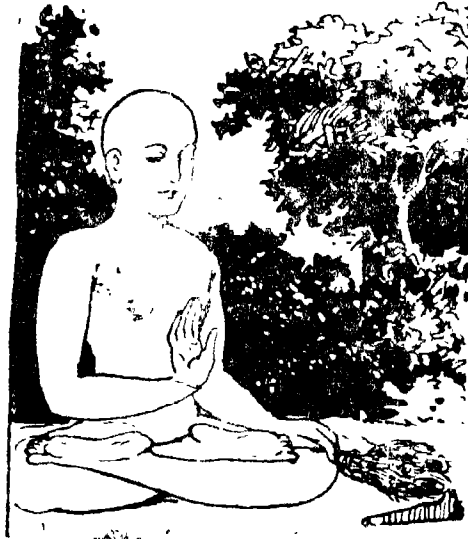
❀ शान्ति की पहिचान ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनाँक ४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ६

१—भोगों में शान्ति नही अशान्ति है, २—भोग इच्छाओ का मूल, ३—चार कोटि की शान्ति, ४—सच्ची या झूठी शान्ति की पहिचान ।

१. भोगों में शान्ति नहीं अशान्ति है

शान्ति की पहिचान की बात चलती है। धनोपार्जन या विषय भोगों मे शान्ति नहीं है यह बात कल बताई गई। परन्तु सन्तोष न हुआ उसे सुनकर। अभी भी अन्तरंग में बैठा कोई अभिप्राय यह कह रहा है, कि भले इच्छा का अन्त न आये, पर भोग आदि के क्षण में तो उस मधु बिन्दु वत कुछ सुख प्रतीत होता ही है। फिर सर्वथा उसे दुःख किस प्रकार कह सकते हैं ? ठीक है भाई! प्रश्न सुन्दर है। यह बात ही आज बताई जायेगी, कि वह क्षणिक सुख जो भोग भोगते समय प्रतीत होता है, झूठा है। मेरे कहने मात्र पर विश्वास न कर लेना, और किसी के कहने से विश्वास आता भी तो नहीं। हृदय कब मानता है ? ले तो इस बात की प्रमाणिकता स्वयं तेरी अन्तर्ध्वनि से ही सिद्ध करता हूं।

२. भोग इच्छाओं का मूल

एक बात तो आचुकी, कि ज्यों ज्यों भोगों की प्राप्ति होती है त्यों त्यों इच्छा बढ़ती है, हितकारी बात भी नहीं सुहाती। इसलिये भोगों की प्राप्ति में शान्ति नहीं। दूसरी बात यह है, कि भोग भोगते समय भी तो उसे शान्ति नहीं कह सकते। ज़रा यह तो विचार, कि वह क्षणिक सुखाभास सुख है कि क्षणिक तीव्र वेदना का प्रतिकार ? देख भोग भोगने से पहले ही, उस भोग के प्रति अकस्मात ही कोई तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। यह इच्छा तेरी पूर्व वाली इच्छाओं के अतिरिक्त, कोई नवीन ही होती है-किसी तीव्र रोग-वत। भोग द्वारा इस नवीन इच्छा का प्रतिकार मात्र किया गया, जिसके कारण कुछ क्षणों के लिये वह इच्छा दब सी गई। पर यह न विचारा तू ने, कि इसके इस प्रकार दबाने का 'आफटर इफैक्ट' उत्तर फल क्या हुआ ? पूर्व की इच्छा में और वृद्धि। भोग से पहले नवीन तीव्र इच्छा, और भोग के पश्चात पूर्व इच्छा मे वृद्धि होते हुए भी, क्या इस भोग को सुख कहा जा सकता है ? किसी प्रकार भी इसे सुख कह लिया जा सकता, यदि भोगते समय भी पुरानी इच्छा में कोई क्षणिक कमी आ जाती। उसमें तो उस समय भी कुछ न कुछ वृद्धि ही हुई प्रतीत होती है। भोग भोगते समय जो वह इच्छा प्रतीति में नहीं आती, वह भ्रम है।

देख, कल्पना कर कि तेरे दांतों में दर्द है-बड़ा तीव्र। तड़फ रहा है तू—उसकी पीड़ा से। इसी हालत में बैठा दिया जाय तुझे—कुछ खड़ी सुइयों पर। तो बता दांत की पीड़ा भासेगी या सुइयों

के चुभने की ? स्पष्ट है कि उस समय दांत की पीड़ा तेरे उपयोग में ही न आ सकेगी। क्या पीड़ा चली गई ? नहीं, ज्यों की त्यों है। अब उठा लिया गया उन सुइयों पर से। तब कुछ सुख सा लगा, या दुःख ? स्पष्ट है कि कुछ सुख सा महसूस होगा। क्योंकि सुइयों की तीव्र पीड़ा जिसने दांत की पीड़ा को ढक दिया था, अब दूर हो गई है। बता तो सही, कि क्या दान्त की पीड़ा में कुछ कमी पड़ी ? नहीं ज्यों कि त्यों है। बल्कि सुइयों पर से उठने के पश्चात, अवशेष रही सुइयां चुभने की कुछ पीड़ा बढ़ गई है—इसमें, और कुछ देर पश्चात वही दान्त की पीड़ा, वही तड़पन, साथ साथ सुइयों की थोड़ी सी पीड़ा भी।

बस इसी प्रकार भोग भोगते हुए समझना। भोग की तीव्र अभिलाषा कुछ देर के लिये, पहले की इच्छा पर हावी होकर उसे उपयोग में आने से अवश्य रोक लेती है, पर उसका अभाव नहीं कर देती। भोग भोगते समय इस नवीन तीव्र इच्छा का कुछ प्रतिकार हो जाने के कारण, उपयोग में आई वह इच्छा दबी सी अवश्य प्रतीत होती है। पर पूर्व इच्छा में अब भी कोई कमी नहीं आती, बल्कि इस नवीन इच्छा के प्रतिकार के उत्तर फल रूप से उसमें वृद्धि अवश्य हो जाती है। जैसे कि मियादी बुखार को औषधि के द्वारा दबा देने पर, दिल की कमजोरी आदि कई नवीन रोग उत्पन्न हो जाने पर भी रोगी अपने को अच्छा हुआ मान लेता है। यह उसका भ्रम नहीं तो और क्या है।

३. चार कोटि की शान्ति — लोक में अनुभव की जाने वाली शान्ति कई प्रकार की होती हैं। उसके कुछ भेदों को दर्शा देना यहां आवश्यक है। क्योंकि उनको जाने बिना सच्ची व झूठी शान्ति में विवेक न किया जा सकेगा, और उसके अभाव में अपने पुरुषार्थ की दिशा की भी ठीक प्रकार से परीक्षा न की जा सकेगी। क्योंकि वास्तव में मार्ग की परीक्षा का आधार आगम नहीं, बल्कि शान्ति का अनुभव है।

शान्ति को मुख्यतः चार कोटियों में विभाजित किया जा सकता है, जो उत्तरोत्तर कुछ अधिक अधिक निर्मलता व सन्तोष लिए हुए हैं। एक शान्ति तो वही है जो ऊपर दर्शा दी गई है, अर्थात भोग की नवीन तीव्र इच्छा के किञ्चित प्रतिकार से, क्षण भर के लिये प्रतीति में आने वाली, इन्द्रिय भोगों सम्बन्धी। दूसरी शान्ति, जो इससे कुछ ऊंची है, वह प्रायः अपने कर्तव्य की पूर्ति हो जाने पर कदाचित् अनुभव करने में आती है। भोगों से निर्पेक्ष होने के कारण वह कुछ पहली की अपेक्षा अधिक निर्मल है।

दृष्टांत — इसका अनुमान किया जा सकता है। कल्पना कीजिये कि आपकी कन्या की शादी है। नाता क[illegible] दिन से ही आपकी चिन्तायें, सामान जुटाने के सम्बन्ध में, बराबर बढ़ रही हैं, यहां तक कि [illegible]स दिन कि बारात घर पर आई हुई है आप पागल से बन गये हैं। न आपको चिन्ता न[illegible] न खाने की। आपको यह भी याद नहीं कि आज कमीज ही नहीं है-बदन में। बौखलाये हुए से, सबकी कुछ कुछ बातें सुनने पर भी, किसी को कुछ उत्तर नहीं दे सकते। "मैं कुछ नहीं जानता भई, तुम करलो जो चाहो" बस होता था एक वाक्य, जो कभी निकल जाता था-मुंह से। बारात विदा हुई, डोला आंखों से ओझल हुआ, घर को लौटे, और बैठ गये चबूतरे पर दो मिनिट को, एक कुछ सन्तोष की ठन्डी सांस लेते। आ हा हा ! अब कुछ बोझ हल्का हुआ, मानो

किसी ने मनों की गठड़ी सर से उतार ली हो। भले ही अगले मिनट में अन्य अनेकों चिन्तायें आकर घेर लें, पर उस क्षण में तो कोई हल्कापन सा, कुछ शान्ति सी, अवश्य प्रतीति में आई, जिसका सम्बन्ध न खाने से था, न धन की उपज से, न अन्य किसी भोग विलास से। फिर भी यह शान्ति क्यों ? केवल इसलिये कि गृहस्थ के कर्तव्य का एक भार था, जो आज हल्का हो गया।

तीसरी शान्ति का दृष्टान्त सुनिये। कल्पना कीजिये कि आप बस में चले जा रहे हैं, बस रुकी, कुछ व्यक्ति चढ़ गये और कुछ रह गये। एक व्यक्ति चलती गाड़ी में चढ़ने लगा, डण्डा हाथ में न आया, गिर पड़ा, सर फूट गया, सारा शरीर छिल गया, लहुलुहान हो गया और बस रुकी। सारे यात्री उतर गये और घायल व्यक्ति को घेर कर खड़े हो गये। कोई कण्डक्टर को धमकाने लगा और कोई ड्राइवर को गालियाँ देने लगा। परन्तु आपका ध्यान केवल उस व्यक्ति की ओर था, करुणा के मारे आप अपना काम भी भूल गये। एक टैक्सी रोकी और उसे उसमें डालकर आप हस्पताल ले गये। डाक्टर से कहा कि जो खर्चा लगेगा मैं दूंगा, इसे अच्छा कर दीजिये। तीन दिन तक लगातार सवेरे शाम आप हस्पताल जाते और उस व्यक्ति से प्रेम पूर्वक संभाषण करते हुए आप को एक अपूर्व प्रकार की शान्ति का अनुभव होता। तीन दिन पश्चात यह निर्णय हो जाने पर कि उसकी हालत अब बहुत अच्छी है, और वह खतरे से निकल चुका है, आपने सन्तोष की सांस ली। इस प्रकार प्राणियों की निःस्वार्थ सेवा से उत्पन्न होने वाली यह तीसरी शान्ति, दूसरी की अपेक्षा बहुत स्वच्छ है, यह उसकी अपेक्षा अधिक स्थायी भी है। यहां भी निःस्वार्थता है और भोगाभिलाष का अभाव है। दूसरी की भान्ति यह भी कर्तव्य परायणता से उत्पन्न हुई है। पर यहां आपका कर्तव्य ५ व्यक्तियों के कुटुम्ब में सीमित न रहकर सारे विश्व में व्याप गया है। आपकी यह व्यापक दृष्टि ही इस शान्ति की उज्जवलता का कारण है।

अब चौथी शान्ति की बात सुनिये। वास्तव में उसका दृष्टान्त सम्भव नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त उसी वस्तु का दिया जा सकता है जो कि जानी देखी हो। परन्तु इस जाति की शान्ति का दर्शन आपको अब तक नहीं हुआ है। अतः इसके प्रति संकेत मात्र दिया जा सकता है, वह अकथनीय है, केवल अनुभवनीय है। इतना मात्र इसके सम्बन्ध में अवश्य अनुमान कराया जा सकता है, कि तीसरी कोटि से भी अनन्त गुणी है इसकी निर्मलता। और उस का कारण भी है उसकी अपेक्षा अनन्त-गुणी साम्यता, निरभिलाषता व दृष्टि की व्यापकता।

यद्यपि व्याख्या करते समय इस शान्ति का वर्णन निषेध के आश्रय पर ही किया जाना सम्भव है—जैसे कि जहां चिन्ताओं व अभिलाषाओं का अथवा विकल्पों व बुद्धियों का अभाव होता है, वहां ही वह शान्ति है। परन्तु इसके साथ में रहने वाले साम्यता व व्यापकता के विशेषण इसमें कुछ विचित्रता बता रहे हैं। यह शान्ति वास्तव में सुषुप्ति वत केवल अभावात्मक नहीं है, बल्कि कुछ सम्भावात्मक है। निस्वप्न दशा में भी निर्विकल्पता होती अवश्य है, पर उस का कारण तो है वह अन्धकार जिसमें अन्तःकरण शून्य वत हो जाता है, क्योंकि उस समय वहीं कुछ दिखाई देता ही नहीं पदार्थों का ही नहीं बल्कि ज्ञान के भास का या चित्प्रकाश का भी अभाव हो जाता है। परन्तु जिस शांति की तरफ मेरा संकेत है वह प्रकाशस्वरूप है, ऐसा प्रकाश जिस में अखिल विश्व युगपत अपने कार्य में व्यस्त दिखाई दे, जिस में यह विश्व एक महान नाट्यशाला के रूप में दिखाइ दे, जिसे मैं दर्शक बनकर केवल देखता मात्र हूं पर उसमें 'क्या' और 'क्यों' करने को मेरे लिये कोई अवकाश न हो।

जिस को मैं देखता हूं पर बता नहीं सकता । अर्थात देखता हुआ भी कुछ न देखता हूं और न देखता हुआ भी सबकुछ देखता हूं। जहां एक विशाल व तरंगित सागर मेरे सामने हो, परन्तु इसमें कितनी तरंगें हैं और कहाँ कहां हैं यह जानने का विकल्प न हो । जहां मैं या मेरे ज्ञान ने ही विश्व का रूप धारण किया हो, जहां सब कुछ खट पट करते एक बड़े भारी मिल या कारखाने वत दिखाई देता हो, पर इस में कितने पुर्जे हैं और कहाँ कहां हैं, यह जानने का विकल्प न हो। ऐसी शान्ति कान्ति रूप है और सुषुप्ति की कान्ति अन्धयारी है।

४. सच्ची व झूठी शान्ति की पहिचान

तीन प्रकार की शान्तियों पर से विश्लेषण कर लेने पर, हम शान्ति की यथार्थता व निर्मलता सम्बन्धी एक सिद्धान्त बना सकते हैं "शान्ति वहां है जहां अभिलाषा न रहे, शान्ति वहां है जहां सर्व के प्रति साम्यता हो, शान्ति वहां है जहां दृष्टि में व्यापकता हो, शान्ति वहां है जहां कोई लौकिक स्वार्थ न हो। इसके अतिरिक्त एक पांचवीं बात और भी है, जो इन तीनों में तो नहीं पर उस चौथी शान्ति में पाई जाती है। वही चिन्ह वास्तव में, उसमें और इस तीसरी में भेद दर्शाता है। और वह है, सर्व लोकाभिलाषा का सर्वथा प्रशमन, एक मात्र उसी शान्ति के प्रति का बहुमान। जहां अन्तर में उठने वाली, "कुछ और" की ध्वनि सिमट कर, रूप धर ले-'बस यही' का। "बस यही चाहिए मुझे कुछ और नहीं, तीन लोक की सम्पत्ति भी धूल है-इसके सामने।" ऐसा भाव जहां उत्पन्न हो जाये, वह है चौथी शान्ति। इस चिन्ह का न पाया जाना इस बात का द्योतक है कि इसमें कहीं न कहीं छिपी पड़ी है-कोई अभिलाषा और जहां अभिलाषा का कण मात्र भी शेष है, वहां निरभिलाषता का लक्षण घटा नहीं कहा जा सकता।

इन चारों में से प्रथम तो बिल्कुल झूठी है, क्योंकि वह तो शान्ति का भ्रम रूप है, जैसा कि दर्शाया जा चुका है। दूसरी भी झूठी है, क्योंकि निरभिलाषता का लक्षण तो यहां घटित होता है परन्तु साम्यता, दृष्टि की व्यापकता, निःस्वार्थता, व 'बस यही' की ध्वनि वाले लक्षण यहां घटित नहीं होते। तीसरी शान्ति भी यद्यपि बहुत निर्मल है, परन्तु झूठी है, क्योंकि सर्व लक्षण घटित होते हुये भी "बस यही" का लक्षण यहां घटित नहीं होता। चौथी शान्ति से अनभिज्ञ व्यक्ति, यदि बहुत ऊंचे भी बढ़ेगा, तो इस तीसरी शान्ति पर आकर अटक जायेगा, और इसी को सच्ची मानकर, इसके प्रति अपने पुरुषार्थ की सार्थकता समझने लगेगा। चौथी शान्ति का वह न प्रयत्न करेगा, और न उसे मिलेगी। बस तेरे मार्ग में यह बाधा न उत्पन्न होने पावे, इसलिये सावधान कराया जा रहा है-पहले ही पग में। तीसरी शान्ति में यद्यपि स्थूलतः कोई अभिलाषा देखने में नहीं आ रही है, परन्तु 'बस यही' के लक्षण का अभाव, उसमें सूक्ष्म रूप से छिपी, अपनी शान्ति के अतिरिक्त, किसी अन्य इच्छा को भी दर्शा रहा है।

बस जिस उपाय से यह चौथी शान्ति प्रगट हो सके, उसे ही धर्म समझो, क्योंकि वही मेरा अभिप्रेत व लक्ष्य है, वही मेरी अन्तर्ध्वनि की मांग है, जिसकी परीक्षा 'बस यही' वाले लक्षण से की जा सकती है। 'बस यही' के बिना मांग की पूर्ति नहीं कही जा सकती, और इसी कारण तीसरी शान्ति इस माँग को पूरा करने में असमर्थ है।

४

❀ धर्म का स्वरूप ❀

मुजफ्फरनगर दिनाँक ४ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ७

१—सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा, २—धर्म के अनेकों झूठे व सच्चे लक्षण तथा उनका समन्वय

१. सच्चा धर्म सुनने की प्रेरणा

अहो! शान्त मूर्ति वीतराग जनों की निःस्वार्थता, कि इतने बड़े उद्यम से, बड़े से बड़े कष्ट सह कर, अपने जीवन की प्रयोगशाला में अनुभव प्राप्त करके, महान वस्तु शान्ति आज बांट रहे हैं वे—निःशुल्क, मुफ्त। जो चाहे वह ले, मनुष्यों को ही दें, यह बात नहीं, तिर्यञ्चों को भी। राजा हो चाहे रंक, सत्ताधारी हो चाहे फकीर, स्त्री हो कि पुरुष, बाल हो कि वृद्ध, पतित समझे जाने वाले वे व्यक्ति हों जिनको कि आज शूद्र कहा जा रहा है या हो कोई तिलकधारी ब्राह्मण, सब उनकी दृष्टि में एक हैं। सबको अधिकार है उसे लेने का। उदारता-महान उदारता! परन्तु खेद है कि फिर भी मैं हाथ खैंच लूं उससे-कुछ बेकार की वस्तु समझकर!!! ऐसा न कर प्रभु! हाथ बढ़ा, तू भी इन गुरुओं के प्रसाद से वंचित न रह, तेरे ही हित की बात है, बहुत स्वाद लगेगी तुझे। विश्वास कर, कि एक बार चखने के पश्चात, पूरी की पूरी खाकर पेट भरे बिना छोड़ेगा नहीं। तू कृतकृत्य हो जायेगा, भव भव की इच्छा तुझे छोड़ कर भाग जायेंगी, और निरभिलाष स्वयं तू बन जायेगा पूर्ण शान्त व सन्तुष्ट--पूर्ण प्रभु। एक बार थोड़ी सी अवश्य चख ले, मेरे कहने से चख ले। बहुत स्वाद है यह, मैंने स्वयं इसे चखा है, विश्वास कर। और फिर तुझसे कुछ ले तो नहीं रहे हैं, कुछ न कुछ दे ही रहे हैं। अच्छा न लगेगा तो छोड़ देना, पर एक बार लेकर देख तो सही।

धर्म बेकार की वस्तु नहीं, बल्कि वह महान वस्तु है, जो मुझे मेरा सबसे बड़ा अभीष्ट-वह जिसके लिये कि मैं न मालूम कब से, असफल पुरुषार्थ करता आ रहा हूं, अर्थात शान्ति प्रदान करता है, इच्छाओं को परास्त करता है। वैसे तो पूर्व में कहे अनुसार कौनसा ऐसा व्यक्ति है, जो धर्म के सम्बन्ध में कुछ न कुछ अपनी टांग न अड़ाता हो, अपनी रुचि व कल्पनाओं के आधार पर कुछ न कुछ मनघड़न्त व कपोल कल्पित धर्म का स्वरूप न बता रहा हो-बिना इस बात का निश्चय किये, कि मैं क्या कहे जा रहा हूं। परन्तु यहां जो बात इसके सम्बन्ध में बताई जायेगी, वह कपोल कल्पित न होगी। वह वही होगी-जिसका कि आविष्कार योगीजनों ने किया है-अनुभव के द्वारा, स्वयं अपने जीवन में उतार कर। यह बात वही है, जिसकी एक धीमी सी रेखा का, आज इस निकृष्ट युग में भी, मैं स्वयं साक्षात्-कार कर रहा हूं। यह बात वह है, जिसका आधार कल्पना नहीं, युक्ति है, कल्याण है, जिसका मूल

शान्ति है, जिसकी कसौटी शान्ति है, जिसकी परीक्षा का आधार अनुभव है, साम्प्रदायिकता या पक्षपात नहीं।

माना कि आज लोक के कोने कोने से धर्म का बाना पहन कर, बरसाती मेंडकों की भांति निकल पड़ने वाले वक्ताओं की अनेकों परस्पर विरोधी बातें सुन सुन कर एक झुंझलाहट सी उत्पन्न हो चुकी है—तेरे अन्दर। एक अविश्वास सा उत्पन्न हो चुका है-तेरे अन्दर-धर्म के प्रति। परन्तु एक बार और सही, यह बात अवश्य सुन, सब झुंझलाहट, सब अविश्वास दूर हो जायेगा। समझ में न आये, ऐसी भी बात नहीं है, बड़ी सरल बात है, तेरे अपने जीवन पर से गुजरी हुई, तेरी आप बीती, क्यों समझ में न आयेगी। डर मत ! इधर आ एक बार, केवल एक बार।

२ धर्म के अनेकों सच्चे व झूठे लक्षण व समन्वय

धर्म के अनेकों लक्षण सुनने में आ रहे हैं, पर किसी न किसी प्रकार प्रत्येक में कुछ न कुछ स्वार्थ छिपा पड़ा है—उन वक्ताओं का। अतः परीक्षा करके तू स्वयं पहिचान सकता है उनकी असत्यार्थता। कोई, जिसे रोटी खाने को नहीं मिलती, कहता है कि भूकों को भोजन बांटना धर्म है। कोई, जिसे ख्याति की भावना है, कह रहा है कि ब्राह्मणों की सेवा करना धर्म है। कोई, जिसे पैसे की भूख लगी है, कह रहा है कि दिवाली पर जूआ खेलना धर्म है। कोई, जिसे मांस की चाट पड़ी है, कह रहा है कि देवता पर बकरे की बलि चढ़ाना धर्म है। कोई, जिसे स्वयं धनिकजनों से द्वेष है, कह रहा है कि इनका धन छीन लिया जाना धर्म है। कोई जिसे भोगों की अभिलाषा है, कह रहा है कि धर्म कर्म कुछ नहीं, 'खाओ पीओ मौज उड़ाओ' यही धर्म है। कोई, जो उपाय हीन है, कह रहा है कि भगवान को भोग लगाना धर्म है। कोई जिसमें द्वेष की अग्नि अधिक है, कह रहा है कि शास्त्रार्थ करना धर्म है। कोई, जिसे धन की हाय लगी है, कहता है कि भगवान को रिश्वत देना, अर्थात बोलत कबूलत करना धर्म है। यहां तक कि सन४७ के हत्याकाण्ड में हिन्दुओं के द्वारा मुसलमानों का और मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं का क्रूरता से रक्त बहाया जाना भी धर्म था। चोरों तक का कोई न कोई धर्म है। फलितार्थ, जितने मुंह उतनी बातें, जितनी जाति की रुचि, उतनी जाति के धर्म। इस जाति के लक्षणों की असत्यार्थता तो स्पष्ट ही है, कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि इसमें तो स्वार्थ का ही नग्न नृत्य दिखाई दे रहा है। इन सब लक्षणों में है प्रथम कोटि की शान्ति की अभिलाषा।

इनके अतिरिक्त भी धर्म के अनेकों लक्षण हैं। जो ज्ञानी जनों ने भिन्न-भिन्न अभिप्रायों को दृष्टि में रखते हुए किए हैं। उदाहरण के रूप में, दया धर्म का मूल है; अहिंसा परम धर्म है; निःस्वार्थ सेवा धर्म है; परोपकार धर्म है; दान या त्याग धर्म है, श्रद्धा ज्ञान व चारित्र धर्म है; तथा अन्य अनेकों। इन सब तथा अन्य अनेकों लक्षणों पर विशेष दृष्टि डालने से, बहुत से लक्षण एकार्थ वाचक से दिखाई देते हैं। जैसे दया, अहिंसा, सेवा व परोपकार एकार्थ वाचक से हैं। इन सब लक्षणों को यदि संकुचित करके देखें तो मुख्यतः तीन रूप में देख पाते हैं दया (अहिंसा), दान,(त्याग) दमन (संयम), ये तीनों गर्भित किये जा सकते हैं एक चारित्र में, अर्थात जीवन चर्या में। और इस प्रकार श्रद्धा, ज्ञान चारित्र वाला लक्षण कुछ व्यापक सा दिखाई देने लगता है। इन सब ही लक्षणों का विशेष विस्तार तो आगे के प्रकरणों में आयेगा। यहां तो केवल इनकी सत्यार्थता व असत्यार्थता का विचार करना है।

जसा कि पहले बताया जा चुका है, धर्म का फल चौथी कोटि की शान्ति होना चाहिये। यही कसौटी है; धर्म के किसी भी लक्षण की सत्यार्थता व असत्यार्थता का निर्णय करने की। अतः उपरोक्त तथा अन्य भी, जिन क्रियाओं के करने से, मुझे आंशिक रूप से भी, 'बस यही' वाली शान्ति का कुछ वेदन अन्तर में होता हुआ प्रतीत होता हो, वह सब क्रियायें सत्यार्थ धर्म कहला सकती हैं। उसके अभाव में सब वही क्रियायें असत्यार्थ हैं। क्योंकि यह सभी क्रियायें दो ढंग की होती है। एक उस शान्ति के साथ साथ चलने वाली, और एक उस शान्ति से निरपेक्ष, किसी भावुकता या साम्प्रदायिकतावश चलने वाली। इसीलिए तुझे अभी से इन दोनों सम्बन्धी विवेक जागृत करके, अपने को सावधान कर लेना चाहिये। ताकि आगे आगे के कथन क्रम में आने वाली, अथवा लोक में यत्र तत्र दीखने वाली, उन्हीं, या उस ही जाति की, किन्हीं क्रियाओं में तुझे धर्म सम्बन्धी भ्रम न हो जाये। और तेरा पुरुषार्थ फिर निष्फलता की दिशा में प्रवाहित न होने लग जाये।

इतने ही नहीं, कुछ और भी लक्षण ज्ञानी जनों ने किये हैं, जो बहुत अधिक आकर्षक प्रतीत होते हैं। उन में से दो मुख्य हैं।

(१) 'वस्तु का स्वभाव धर्म कहलाता है।'

(२) 'जो जीव को संसार के दुःखों से उठाकर उत्तम सुख में धरदे सो धर्म है।'

ये दोनों ही लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट हैं। क्योंकि दोनों शान्ति की ओर संकेत कर रहे हैं। पहले लक्षण को यद्यपि जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी लागू किया जा सकता है, जैसे कि जल का स्वभाव शीतल होने से शीतलता जल का धर्म है, और अग्नि का स्वभाव उष्णता होने से उष्णता अग्नि का धर्म है, इत्यादि। परन्तु यहाँ जीव के धर्म का प्रकरण है, अतः लक्षण में कहे गए 'वस्तु' शब्द का अर्थ प्रकरणवश यहां जीव ग्रहण करना चाहिये। जीव का स्वभाव चिदानन्द अर्थात ज्ञान व शान्ति होने से, शान्तिपना जीव का धर्म है। दूसरा लक्षण स्पष्टतः ही उत्तम सुख अर्थात शान्ति प्राप्ति के उपाय को धर्म बता रहा है। अल्पज्ञों के लिए धर्म के ये दो लक्षण बहुत अधिक स्पष्ट और आकर्षक हैं।

ऊपर बताये गये दया आदि से इस सुख पर्यन्त के अनेकों लक्षणों को सुन कर, उलझने की आवश्यकता नहीं। इन में से कौन से लक्षण को सत्य मानूं, इस संशय को अवकाश नहीं। क्योंकि जैसा कि दया आदिक लक्षणों की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताते हुए समझा दिया गया है, यदि वे दया आदिक लक्षण अन्तरंग शान्ति सापेक्ष हैं, तो ये सर्व ही इस एक शान्ति वाले जीव स्वभाव में गर्भित हो जाते हैं। किस प्रकार—सो देखिये—

श्रद्धा ज्ञान व आचरण का अर्थ है—शान्ति के प्रति अत्यन्त रुचि-प्रतीति व बहुमान, शान्ति के सच्चे स्वरूप का भान, तथा जीवन में कुछ इस प्रकार के कार्य करना, जिस से कि आंशिक रूप से आपको शान्ति का वेदन होता रहे। अहिंसा या इसमें गर्भित होने वाले अन्य दया आदिक लक्षणों का अर्थ है अपनी शान्ति के वेदन से प्रगटे, उसके बहुमान वश, दूसरे जीवों को भी शान्त देखने की इच्छा। फल स्वरूप, उनको स्वयं दुखी करने या पीड़ा देने से दूर रहना, अथवा किसी दूसरे से पीड़ित हुआ

देख कर, उनके कष्ट को जिस किस प्रकार भी दूर करके उन्हें पुनः शान्ति प्रदान करना। तथा त्याग या दमन का अर्थ है-सभी उन वस्तुओं तथा कार्यों का त्याग करना, जिनके द्वारा विकल्पोत्पादक अशान्ति व व्याकुलता की जननी अभिलाषा में वृद्धि होने की सम्भावना हो। अतः वे सर्व ही लक्षण एक शान्ति की सिद्धि के लिये हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले दया आदिक लक्षण चारित्र या पुरुषार्थ को आश्रय करके लिखे गये हैं, स्वभाव लक्षण श्रद्धा व ज्ञान को आश्रय करके लिखा गया है, तथा सुख में धरने वाला लक्षण उपरोक्त क्रियाओं के फल को दृष्टि में रख कर किया गया है।

इस प्रकार धर्म की आवश्यकता तथा सत्यार्थ शान्ति व धर्म की पहिचान जान लेनें के पश्चात अब उस धर्म की सिद्धि के उपाय या क्रम की बात चलती है जो कल से प्रारम्भ होगी।

५

❀ धर्म का प्रारम्भिक क्रम ❀

मुजफ्फर नगर दिनाँक ६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ८

१—अन्तर्ध्वनि व संस्कार मित्र व शत्रु के रूप में

१ अन्तर्ध्वनि व संस्कार मित्र व शत्रु के रूप में

अनादि काल से आज तक के इतने लम्बे जीवन में पहिला अवसर है, जबकि मैं धर्म प्रारम्भ करने चला हूं। नवजात शिशु चलना प्रारम्भ करने का प्रयास करता है। आज अत्यन्त सौभाग्य का दिन है। प्रभु की शरण में आना ही शुभ चिन्ह है। इससे उत्तम शुभ मुहूर्त और कौनसा हो सकता है? मुझे आशीर्वाद दीजिये गुरुवर! वह कौनसा आधार है, जिस को पकड़ कर मुझे अपने डगमगाते हुए पग इस धर्म मार्ग पर रखने होंगे? बच्चे को गडीलना दिया जाता है, मुझे किस का सहारा लेना होगा गुरुवर! क्या आपका सहारा पर्याप्त है? नहीं, मेरा सहारा तुझे अधिक लाभ नहीं पहुंचा सकता। मेरा सहारा तो केवल इतना ही है, कि मैं किन्हीं दिशा विशेष की ओर संकेत करके आगे आने वाली ठोकरों से तुझे सावधान कर दूं। पर चलना तो तुझे ही होगा अपना सहारा लेकर, अर्थात अन्तर्ध्वनि का सहारा लेकर। मैं तो केवल उस अन्तर्ध्वनि को पढ़ने का उपाय तुझे दर्शा सकता हूं, पर उसे तेरे अन्दर उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः उस अन्तर्ध्वनि को मेरे कहे अनुसार पहिचान कर, वही तेरे मार्ग का सबसे बड़ा साथी होगा, पद पद पर वही तेरी रक्षा करेगा।

देख! क्या कोई भी बुरा काम करके तेरा अन्तष्करण स्वयं तुझे धिक्कारता हुआ प्रतीत नहीं होता? तो विचार कौन शक्ति है, जो उस बालक को, अपने साथी की पुस्तक चुराते हुए, कम्पा देती है? किसकी प्रेरणा से वह इधर उधर ताकने लगता है? पुस्तक उठाता और सीधा चल देता घर। वहां कौन था, उसे रोकने वाला? किसी व्यक्ति की चुगली कर देने के पश्चात तू क्यों उस व्यक्ति से आंख नहीं मिला सकता? कौन शक्ति है जो तुझे उस व्यक्ति से आंख चुराने के लिये मजबूर करती है? नदी में डूबते हुए किसी अपरिचित बालक को नदी से निकाल कर तू क्यों पुलकित सा हो जाता है? उसको साथ लेकर उसके घर तक जाते हुए, क्यों तुझे गर्व सा प्रतीत होता है? भूखा होते हुए भी, किसी दूसरे के हाथ पर से रोटी क्यों नहीं उठा लेता है तू? कौन है वह शक्ति जिसकी प्रेरणा से तू शुभ कार्यों को करते हुए हर्षित होता है, और अशुभ कार्यों को करते हुए डरता है? बाहर में तो कोई भी तुझे रोकता नहीं, या करने के लिए कहता नहीं।

बस इसी तेरे अन्तष्करण की शक्ति विशेष को, यहां 'अन्तर्ध्वनि' शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। सर्व जीवों की यह कोई स्वाभाविक ध्वनि है, जो अन्तर में छिपी, स्वतः बिना पूछे, अशुभ

कार्य करने का निषेध व शुभ कार्य करने की प्रेरणा देती रहती है। इसके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह सर्व परिचित है। इतनी बात अवश्य है कि किन्हीं व्यक्तियों में, किन्ही कार्य विशेषों के लिए यह बड़ी ज़ोर से पुकारा करती है, और किन्हीं व्यक्तियों में, किन्हीं कार्य विशेषों के लिए इसकी आवाज़ बहुत धीमी होती है। सम्भवतः इतनी धीमी कि वह स्वयं भी उसे सुनने न पाये। आज का एक डाकू, चोरी करने का निषेध करती हुई उस अन्तर्ध्वनि को सुन नहीं पाता, परन्तु वही उस काम को करने के प्रारम्भिक दिवस में, बहुत ज़ोर से सुन रहा था उसे। इतने पर से यह नहीं कहा जा सकता, कि आज उसकी अन्तर्ध्वनि सर्वथा मर चुकि है; अचेत हो गई है, यह भले कहो। क्योंकि आज भी अपने सहायक डाकुओं की सम्पत्ति पर हाथ डालने का साहस उसे नहीं है? आज के युग का एक विशेष आविष्कार, उसके हृदय में दबी हुई उस अन्तर्ध्वनि की उस तेज हीन कणिका के अस्तित्व को दर्शा रहा है? भारत में न सही पर इङ्गलैन्ड की न्याय शालाओं में यह यन्त्र काम में आ रहा है। कितना भी बड़े से बड़ा व सिद्धहस्त दोषी भी, इस यन्त्र पर हाथ रख कर, अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करे, तो इस यंत्र को धोखा नहीं दे सकता। उसकी कांपती हुई सूई यह बता ही देती है कि अब तक भी इसके हृदय में अपने दोष के प्रति कुछ कम्पन पड़ा हुआ है, जो इसको बराबर धिक्कार रहा है। यह भले उसको सुनने न पावे, पर इस यंत्र को वह स्पष्ट सुनाई दे रहा है।

इस वक्तव्य व दृष्टान्त में से एक बहुत बड़ा सिद्धान्त निकल रहा है। प्रत्येक प्राणी के अन्तष्करण में एक स्वाभाविक अन्तर्ध्वनि प्रतिक्षण उठती रहती है। यह ध्वनि सदा उसे दोषों से हटने का उपदेश देती है। दोष हो जाने पर उसे धिक्कारती है। कुछ भले कार्य करने के लिए उसे उत्साहित करती है, और ऐसा कोई कार्य हो जाने पर उसकी प्रशंसा करती है, कमर थपथपाती है। किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इसकी आवाज़ ऊंची होती है। पर ज्यों ज्यों उस कार्य विशेष में अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह आवाज़ धीमी पड़ती जाती है, और एक दिन कुछ अचेत सी होकर पड़ रहती है। आवाज़ के दबने का कारण है-उसको अवहेलना। पुनः पुनः सचेत करती हुई, उस आवाज़ को सुनते हुए भी, जब मैं उसकी परवाह किये बिना, कुछ अपनी मन मानी ही करता हूँ, तो एक प्रकार से उसकी अवहेलना ही करता हूँ, उसका अपमान करता हूँ, उसको ठुकरा देता हूँ। और यदि मैं बराबर ही उसका अपमान करता चला जाऊं, तो कहां तक और कब तक दे सकेगी वह मेरा साथ? आखिर धीमी पड़ते पड़ते अचेत हो जायगी। इतना सौभाग्य अवश्य है कि वह अमर है, अवसर पाने पर पुनः सचेत होकर मुझे झंझोड़ डालती है, और मै सावधान होकर अपने पहले कृत्य पर पश्चाताप करने लगता हूं। इस अन्तर्ध्वनि को अंग्रेजी में 'कौन्शेंस' कहते हैं। यह सदा प्राणी को हित की ओर ले जाने तथा अहित से हटाने का ही प्रयत्न किया करती है।

इसके अतिरिक्त एक दूसरी शक्ति भी है, जिसे मैं 'संस्कार' शब्द से पुकारता हूँ। यह उस उपरोक्त अन्तर्ध्वनि का शत्रु है। इसकी आवाज़ सदा उसके विरोध में उठा करती है? वह जिधर ले जाना चाहे, ये संस्कार उससे विपरीत दिशा में ही खेंचने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक प्राणी के ये संस्कार, उसके द्वारा ही, स्वयं आगे पीछे बनाये जाते हैं। जिस प्रकार बचपन से धीरे धीरे चोरी का अभ्यास करते हुये, आज वह डाकू बन गया है। जिस चोरी को करते हुये पहले वह डरता था, वही आज उसके लिये खेल है कम्पन के साथ प्रारम्भ किया जाने वाला वह कार्य, आज उसकी आदत बन चुका है, एक संस्कार बन चुका है। अंग्रेज़ी में इसका नाम 'इन्स्टिंक्ट' है। क्योंकि इसका

प्रारम्भ अन्तर्ध्वनि की अवहेलना पूर्वक होता है, इसलिये यह उसका शत्रु बन कर ही रहता है। उसकी अवहेलना करने के लिये मुझे उकसाता रहता है। इसकी शक्ति यहां तक बढ़ जाती है, कि फिर मैं अन्तर्ध्वनि को सुनना भी पसन्द नहीं करता।

यह दो शक्तियाँ प्रत्येक प्राणी में पाई जा रही हैं, इनमें से एक शान्तिपथ प्रदर्शक है, और एक इच्छा व चिन्तापथ प्रदर्शक, एक स्वाभाविक है और दूसरी कृत्रिम, एक अमर है और एक विनाशीक। क्योंकि प्राणियों के ये संस्कार तो बदलते हुए देखे जाते हैं, पर अन्तर्ध्वनि नहीं, इसलिये यही वह सहायक साथी है, जो सदा तेरा साथ देगा, इसका आश्रय लेकर चलना। आज तक संस्कार को साथ लेता, और अन्तर्ध्वनि की अवहेलना करता चला आया है, इसी कारण दुःखी व अशान्त बना हुआ है। अब औषधि बदल देनी होगी, क्रम को उल्टा कर देना होगा, अन्तर्ध्वनि का आश्रय लेकर संस्कार की अवहेलना करके चलना होगा। इसके विरुद्ध सत्याग्रह करना होगा, जो यह कहे उसे स्वीकार न करना होगा, चाहे कितने भी कष्ट क्यों न उठाने पड़ें। और इस प्रकार अवहेलना को सहन करने में असमर्थ, ये संस्कार तेरा देश छोड़ कर सदा के लिये विदा हो जायेंगे। रह जायेगी वह अमर अन्तर्ध्वनि अकेली, जिसके साथ शान्तिपथ पर ही चलता रहेगा-तू, विचलित न होने पायेगा।

परन्तु उस अन्तर्ध्वनि को सुन कर उसका ठीक ठीक अर्थ लगाना प्रत्येक का काम नहीं। उसके लिये कुछ विवेक चाहिये जिसके बिना कि अन्तर्ध्वनि व संस्कार इन दोनों की आवाज़ों व प्रेरणाओं में ठीक ठीक भेद नहीं हो पाता। कभी कभी उनका अर्थ ठीक भी लगा लेता है और कभी ग़लती भी खा जाता है। अर्थात अन्तर्ध्वनि की आवाज़ को मान बैठता है संस्कार की, और संस्कार की आवाज़ को मान बैठता है अन्तर्ध्वनि की। कभी कभी ठीक २ जान लेने पर भी संस्कार के प्राबल्य के कारण अन्तर्ध्वनि का अर्थ जबरदस्ती घुमा डालता है। और इस प्रकार सर्वदा हित से वंचित ही रहा है। इस विवेक को उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष सामग्री चाहिये, वह ही बड़े विस्तार के साथ अगले प्रकरणों में चलेगी, जरा धीरज धर कर ध्यान पूर्वक सुनना, सम्भवतः कई महीनों तक बराबर सुनना पड़े, नहीं तो इधर के रहोगे न उधर के।
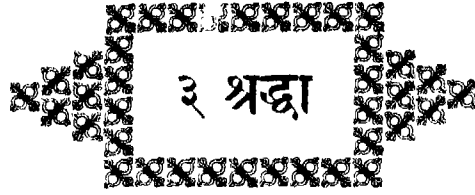
६

❀ लक्ष्य बिन्दु ❀

मजफ्फरनगर दिनांक ७ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ९

१—मार्ग की त्रयात्मकता, २—लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व सार्थकता

१ मार्ग की त्रयात्मकता

स्वतन्त्र रीति से शान्ति की खोज करने की बात है। सहायता लेनी है अन्तर्ध्वनि की, बचना है-संस्कार से। इन दोनों विरोधी बातों में, विवेक उत्पन्न करने के लिये, कुछ विशेष बातें चलनी हैं-अब, अर्थात मूल विषय शान्ति पथ या धर्म का स्वरुप।

किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करने के क्रम का यदि विश्लेषण करने बैठते हैं, तो उसे त्रयात्मक पाते हैं। अर्थात तीन मुख्य बातों का एक पिंड रूप ही वह प्रवृत्ति होती है। वे तीन अंश हैं श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र। देखिये डाक्टरी के कार्य में प्रवृत्ति का विश्लेषण करके। 'मुझे डाक्टर बनना है, ऐसा लक्ष्य बिन्दु, अर्थात "मेरे लिये यही हितकर है और कुछ नहीं", ऐसी दृढ़ श्रद्धा व रुचि, रोग निदान-रोग का कारण-तथा रोग की औषधि सम्बन्धी ज्ञान, तथा दुकान पर बैठ कर रोगियों पर उस ज्ञान का प्रयोग रूप चारित्र। यही तो है डाक्टर की प्रवृत्ति। यदि एक अंग की भी कमी हो, तो विचारिये कि क्या उसका डाक्टरी कर सकना सम्भव है? लक्ष्य बिन्दु यदि फोटोग्राफर बनने का हो, या फोटोग्राफ़री को ही अपने लिये हितकर समझता हो, और उसी की रुचि रखता हो, तो क्या सम्भव है कि वह डाक्टरी करे? भले ही डाक्टरी का ज्ञान भी क्यों न हो। और यदि लक्ष्य में तो डाक्टरी करना हो, तथा उसको हितकर मानकर उसमें रुचि रखता हो, पर तत्सम्बन्धी ज्ञान न हो, तो क्या चित्त मसोस कर ही न रह जायेगा? और यदि लक्ष्य व रुचि भी हो, और डाक्टरी का ज्ञान भी हो, पर दुकान पर बैठे नहीं, या बैठ कर रोगियों को देखे नहीं, और पढ़ा करे नाविल तो क्या डाक्टरी कर सकेगा? इसी प्रकार जौहरी की, बजाज की या किसी और की प्रवृत्ति का भी विश्लेषण करके यही फलितार्थ निकलेगा। प्रत्येक प्रवृत्ति त्रयात्मक ही होगी।

२ लक्ष्य बिन्दु की महत्ता व

बस इसी प्रकार शान्ति पथ पर चलने की प्रवृत्ति भी त्रयात्मक ही है। शान्ति का लक्ष्य-बिन्दु, अर्थात इस ही को हितकर मान कर, अन्तरंग से इसकी रुचि व श्रद्धा, शान्ति

सार्थकता सम्बन्धी ज्ञान, तथा उन क्रिया विशेषों में प्रवृत्ति, जिनके करने पर कि उस शान्ति का अनुभव हो, ऐसा चारित्र। इन श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के सच्चे झूठेपने की परीक्षा लक्ष्यबिंदु से होती है। डाक्टरी का लक्ष्यबिन्दु रखने वाले के लिये शान्ति पथ सम्बन्धी श्रद्धा झूठी है। उस लक्ष्य बिन्दु की पूर्ति के लिये शान्ति या शान्तिपथ सम्बन्धी ज्ञान या चारित्र झूठा है। और इसी प्रकार शान्ति का लक्ष्य रखने वाले के लिये डाक्टरी सम्बन्धी श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र झूठा है। लक्ष्य बिन्दु के अनुकूल ही यह त्रयात्मकता कार्यकारी है। इसलिये शान्तिपथ की जिज्ञासा रखने वाले भो भव्य! तनिक अपने अन्दर में उतर कर इस जिज्ञासा व रुचि की परीक्षा तो कर। कहीं ऐसा न हो कि लक्ष्य बिन्दु तो पड़ा रहे, धन कमाने या भोग भोगने का और सीखने या सुनने लगे, शांति पथ सम्बन्धी बातें। यदि ऐसा है, तब तो सुना सुनाया बेकार हो जायगा। क्योंकि जो बात बताई जायगी उससे तेरे लक्ष्य बिन्दु की सिद्धि न हो सकेगी। यह मार्ग जो कि बताया जाने वाला है, धन कमाने का नहीं। इससे कदाचित् धन हानि तो होना सम्भव है, पर धन लाभ नहीं। अतः देखले, दिल कड़ा करना होगा, और उसके लिये बदलना होगा अपना लक्ष्य बिन्दु।

बिना लक्ष्य बिन्दु बनाये चला किस ओर को, और चला जायेगा किस ओर-यह कौन जाने? लक्ष्य रहित व्यक्ति बनों में भटकने के अतिरिक्त और करेगा ही क्या? यद्यपि पहले भी बता दिया गया है, परन्तु एक विस्तृत विषय चालू करने से पहले उसको पुनः याद दिला देना आवश्यक है, कि वह विस्तृत कथन केवल लक्ष्य बिन्दु को आधार बना कर चलेगा। पद पद पर, वाक्य वाक्य में उस ही की ओर संकेत कराया जायेगा। एक क्षण को भी उसे भूलना न होगा, क्योंकि उसे भूल जाने पर कथन का रहस्य समझ में न आ सकेगा। वह सब विस्तार कुछ मनघड़न्त सा, कुछ साम्प्रदायिक सा दिखाई देने लगेगा। वह लक्ष्य बिन्दु है "शान्ति"। वह शान्ति जिसके प्रगट हो जाने पर अन्तर से उठने वाली "और चाहिये" की ध्वनि बदल जायेगी "और बस यही चाहिये" इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तीन लोक की सम्पत्ति हीरे मोती आदि सब धूल समान हैं, ठुकरा दिये जाने योग्य हैं-इसके सामने," इस रूप में यह लक्ष्य बिन्दु दृढ़ता से हृदयंगम कर लेना योग्य है। यह तुझे शक्ति प्रदान करेगा उस विस्तृत कथन को समझने की, तथा उससे कुछ हित उत्पन्न करने की। इस लक्ष्य बिन्दु का बड़ा महत्व है, प्रत्येक कार्य में। क्योंकि किसी भी दशा में जाने की, या कोई भी कार्य करने की, उस कार्य में सफलता व असफलता का निर्णय करने की, कार्यक्रम की सत्यार्थता व असत्यार्थता बताने की शक्ति इसी से मिला करती है। उत्तर दिशा में चलता चलता दूर निकल जाने वाला कोई व्यक्ति, यदि उस दिशा में चलना बन्द करके, दक्षिण की ओर मुख करके खड़ा हो जाये-उस ओर चलने का लक्ष्य रख कर, तो क्या उसे दक्षिण देश के निकट हुआ न कहेंगे? भले अभी वहीं खड़ा हो, एक पग भी आगे रखे बिना। इसी प्रकार शांति के उपाय को जीवन में घटित किये बिना भी, अशान्ति की ओर जाने वाले भो चेतन! यदि केवल अशान्ति के अभिप्राय के कार्यों को छोड़ कर, शांति के अभिप्राय मात्र को धारण करके, तू शान्ति का लक्ष्य बिन्दु बना ले तो अपने को शान्ति के निकट ही समझ। परन्तु सच्चा लक्ष्य बिन्दु उसे कहते हैं, जो अन्तरंग से रुचिपूर्वक उस दिशा में ही चलने के लिये व्यक्ति को उकसाये और अन्य दिशा में चलने से रोके। अतः यहां लक्ष्य बिन्दु का तात्पर्य केवल शाब्दिक शान्ति या मोक्ष की अभिलाषा से नहीं।

ऐसी अभिलाषा या मोक्ष के प्रति का झूठा लक्ष्य बिन्दु तो आज भी बना हुआ है-सबको।

सब ही तो कहते हैं कि प्रभु ! किसी प्रकार मुझे शान्ति प्रदान करें। आज के इस लक्ष्य बिन्दु की असत्यार्थता का पता चलता है-इस दृष्टान्त से।

एक सेठ जी थे। भगवान के बड़े भक्त, प्रभु के सामने अपने उदगार प्रगट करते, स्तुति करते तथा अपने दोषों के लिये रोते हुए, कई कई घण्टे मन्दिर में व्यतीत करते। यही थी उनकी एक पुकार, कि भगवन ! किसी प्रकार मोक्षप्रदान कीजिये। उनकी भक्ति की परिक्षा का अवसर आया। एक देव आकर कहने लगा, "सेठ जी ! आपकी भक्ति से बड़े प्रसन्न हुए हैं भगवन, मुझे भेजा है आपकी इच्छा पूर्ति के लिये।" सेठ जी की बांछें खिल गईं। आज उन्हें मोक्ष मिलने वाली थी। पर वह स्वयं न जानते थे कि मोक्ष किसे कहते हैं ? देव बोला कि "सेठ जी ! आपके दश पुत्र हैं तथा दश कारखाने। एक पुत्र प्रति दिन मरेगा और एक कारखाना रोज फेल होगा। दश दिन पीछे तुम पुत्र हीन हो जाओगे और कंगाल भी। बस ग्यारहवें दिन मैं ले जाऊंगा तुम्हें आकर।" परन्तु सेठ जी सहम गये, यह बात सुन कर। पुत्रों की मृत्यु भी सम्भवतः ली पड़ती, पर कंगाल होना ? नहीं, नहीं, यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है, गले से नीचे न उतर सकेगी। देव से बोले "कि भाई ! बड़ा कष्ट किया है तुमने मेरे लिये, एक कष्ट और देता हूं, क्षमा करना, प्रभु से जाकर मेरी ओर से यह प्रार्थना करना, कि यदि किसी और क्वालिटी की, किसी और प्रकार की मोक्ष हो तो प्रदान करने की कृपा करें। परन्तु इस क्वालिटी की मोक्ष तो सम्भवतः मुझे पच न सकेगी।"

बस ऐसा है हमारा भी लक्ष्यबिंदु। धन न छूटे, कुटुम्ब न छूटे, खूब भोग भोगता रहूं, और शान्ति भी चखता रहूं। अर्थात विष भी पीता रहूं, और अमृत का स्वाद भी लेता रहूं। ऐसा लक्ष्य वास्तव में लक्श बिंदु कहलाता नहीं। सुनी सुनाई सी कोई बात है जो रट सी गई है। चौथी जाति की सच्ची शांति के प्रति, सच्चा लक्ष्य बिंदु बनाने के लिये कहा जा रहा है। वह लक्ष्य बिंदु कि जिसके कारण लौकिक सर्व बाधायें आ पड़ने पर भी, उसके मार्ग पर से तेरी प्रगति मन्द न पड़ने पावे।

७

❀ श्रद्धा ❀

मुज़फ्फरनगर दिनांक ८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १०

१—श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता

१. श्रद्धा की सत्यार्थता व असत्यार्थता मार्ग की त्रयात्मकता कल बताई गई, उसमें से पहला अंग है श्रद्धा, उसकी बात चलेगी। श्रद्धा का अर्थ है लक्ष्य बिंदु, रुचि, प्रतीति व अभिप्राय। किसी बात को बिना परीक्षा किये, मुझे स्वीकार नहीं करना है। मैं वैज्ञानिक बन कर चला हूं साम्प्रदायिक नहीं। श्रद्धा इस मार्ग का सर्वप्रथम व सर्वप्रमुख अंग है, क्योंकि बिना ठीक ठीक लक्ष्य बिन्दु व रुचि के उसका तत्सम्बन्धी ज्ञान व चारित्र अकार्यकारी है। इन अगले दो अंशों की सत्यार्थता का आधार यह श्रद्धा ही है। यद्यपि यह श्रद्धा व लक्ष्यबिंदु, दोनों एक ही बात है। परन्तु फिर भी श्रद्धा के सम्बन्ध में साधारणतः बहुत भ्रम चलता है। लक्ष्य बिंदु रहित केवल साम्प्रदायिक श्रद्धा को सच्ची माना जा रहा है, और उसी पर सन्तोष धर कर कुछ क्रियायें केवल अन्ध विश्वास के आधार पर की जा रही हैं, जिनका कोई फल नहीं। निष्फल उस पुरुषार्थ से ऊब कर आज का जगत, धर्म की जिज्ञासा ही छोड़ बैठा है और भोग विलास के तीव्र वेग में बहा चला जा रहा है-बे सुद्ध। अतः श्रद्धा की सत्यार्थता व सुन्दरता बता देना आवश्यक है, जिससे कि भ्रमात्मक उस झूठे सन्तोष से पग पग पर सावधान रहा जा सके-उस अभिप्राय के अनुकूल जिस अभिप्राय को रख कर कि उसका स्वरुप दिखाया जा रहा है। जैसाकि आगे के प्रकरणों में दिखलाने में आयेगा—अभिप्राय या श्रद्धा पर ही किसी क्रिया विशेष की सत्यार्थता व असत्यार्थता निर्भर है।

श्रद्धा के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी धारणा बन रही है, कि मैं तो ठीक ही स्वीकार करता हूं। अमुक ही प्रकार के देव व गुरु व धर्मादि को स्वीकार करता हूं, अन्य प्रकार वाले को नहीं और यही गुरुदेव की आज्ञा है। गुरु वचनों में कभी संशय नहीं करता, भले समझ में आवे या न आवे। हृदय उसे स्वीकार करे या न करे क्योंकि भ्रम है, इस बात का कि कहीं मेरी श्रद्धा झूठी न पड़ जाये संशय उत्पन्न करने से। परन्तु भाई! कभी विचारा है यह कि वह श्रद्धा सच्ची है ही कब, जो झूठी पड़ जायेगी? पहले ही से जो झूठी है उसका क्या झूठा पड़ना? भले बाहर से शब्दों में शंका न कर, पर अन्तरंग की शंका को कैसे दबायेगा? और यदि अन्तरंग में शंका नहीं है तो तत्व समझते समय "यह तो बिलकुल ठीक है परन्तु······? यह परन्तु कहाँ से आ रही है?

इसके अतिरिक्त शास्त्र के आधार पर तत्वों सम्बन्धी कुछ जानकारी सी करके "यह बिलकुल ठीक है, ऐसा ही है, अन्य मतों के द्वारा प्ररूपित तत्व ठीक नहीं हैं"—इस प्रकार के साम्प्र-

दायिक अन्ध श्रद्धान को श्रद्धा की सच्ची कोटि में गिना जाता है। परन्तु यदि ऐसा ही होता, तो एसी श्रद्धा तो सबको ही है। मुसलमानों द्वारा प्ररूपित तत्व को माने सो मोमिन और न माने तो काफ़िर। वेद को माने तो आस्तिक और न माने तो नास्तिक। उनके इस कथन में तथा उपरोक्त कथन में अन्तर ही क्या रहा ? यदि अपनी अपनी दही को मीठा बताने का नाम ही सच्ची श्रद्धा है, तो लोक में कोई भी झूठी श्रद्धा नहीं रहेगी, सब शान्ति पथ गामी होंगे। अतः साम्प्रदायिक श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा नहीं। यह साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक मार्ग है : अन्ध श्रद्धा को यहां अवकाश ही नहीं। बिना 'क्या' और 'क्यों' के स्वीकार की गई बात स्वीकृत नहीं कही जा सकती। 'क्योंकि ऐसा ही है' इस श्रद्धा का विषय केवल उस तत्व सम्बन्धी शब्द हैं, उस तत्व का रहस्यार्थ नहीं। अर्थात ऐसी श्रद्धा केवल शाब्दिक है तात्विक नहीं। जीव अजीव आदि के भेद प्रभेदों को शब्दों में जानते हुए भी वास्तव में वह नहीं जानता कि 'जीव' किस चिड़िया का नाम है, और 'अजीव' आदि के साथ इसका क्या सम्बन्ध है। इस प्रकार के शाब्दिक ज्ञान से विद्वान बन सकता है, तार्किक बन सकता है, वक्ता बन सकता है, पर श्रद्धालु नहीं। कुल परम्परा के आधार पर अन्य विश्वास करने वाले की तो बात ही नहीं, वह तो है ही कोरा अन्ध श्रद्धालु, परन्तु तत्वों आदि को जानने वाला भी सच्चा श्रद्धालु नहीं, यहां तो यह बताया जा रहा है।

किसी भी विषय सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा तो वास्तव में उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक कि उस विषय का अनुभव न हो जाये। अनुभव से पहले की जाने वाली श्रद्धा की पोचता की परीक्षा भी की जा सकती है। दृष्टान्त सुनिये—कल्पना करो-किसी ऐसी परिस्थिति की, जिसमें कि आप स्वयं घिर गये हैं। किसी गांव को लक्ष्य में रख कर चलते चलते पहुंच गये किसी भयानक बन में, जहाँ से बहुत सी पगडंडियां फट जाती हैं। असमंजस में पड़े विचारने लगे कि कौन सी पगडण्डी पर चलूं? किसी राहगीर की प्रतीक्षा करते हो। सौभाग्य से एक व्यक्ति दिखाई दिया जिसका शरीर नंगा, केवल घुटनों से ऊंची मैली कुचैली एक धोती थी उसकी टांगों में, कुछ-अस्त व्यस्त सी उलझी हुई, कन्धे पर एक लट्ठ, हट्टा कट्टा, काला कलूटा सा, एक मानव, जिसे रात को देखें तो भय के मारे सम्भवतः प्राण ही निकल जायें। खैर, साहस करके पूछा भी तो उत्तर मिला इतना कर्कश मानों खाने को ही दौड़ता है। "चला जा अपनी दाईं ओर, मार्ग जानता नहीं, आ गया पथिक बन कर।" आप ही बताइये, कि क्या उसके द्वारा बताई गई दिशा में आप एक भी पग रखने में समर्थ हो सकोगे ? भले ही रात बन में बितानी पड़े, पर उसके कहे पर आपको कदापि विश्वास नहीं आयेगा।

परन्तु कुछ ही देर पश्चात दिखाई दिया एक और भला, परन्तु अपरिचित कोई अन्य व्यक्ति, सफेद सादे वस्त्र पहने, मस्तक पर तिलक लगाये, और हाथ में डोरी लोटा लिए। उससे भी पूछा अपना अभीष्ट मार्ग। बड़े मधुर व सहानुभूति पूर्ण शब्दों में उत्तर मिला। करुणा ही टपक रही थी उन शब्दों से। "ठीक मार्ग पर नहीं आये हो पथिक, बन बड़ा भयानक है, भयानक जन्तुओं का वास, यदि रात्रि पड़ गई तो जीवित न बचोगे। खैर अब भी समय है, इस दाहिनी ओर वाली पगडण्डी पर चलो, लगभग डेढ़ मील जाने पर एक नाला मिलेगा, जिस पर पड़ा होगा खजूर का एक तना, पुल के रूप में, नाले को पार कर जाओ, एक मील और आगे दिखाई देगा वृक्षों का एक बहुत बड़ा झण्ड, बड़ा साया रहता है वहां। वहां पहुँच कर बाईं ओर मुड़ जाना, आध मील ही रह जायेगा वहां से

आपका स्थान। विचारिये, क्या अब भी उस दिशा में आपका पग न उठेगा ? आपको अवश्य उसके कहने पर विश्वास आ जायेगा और आप प्रसन्न चित चल पड़ोगे उस दिशा में।

भला क्या अन्तर था पहिले तथा इस व्यक्ति के संकेत में ? मार्ग तो उसने भी वही बताया था जो कि इसने। परन्तु पहले में अविश्वास और अब विश्वास का क्या कारण है ? कारण है वक्ता की प्रमाणिकता। इसी प्रकार यहां धर्म सम्बन्ध में वीतरागी गुरुओं ही की बात आपको स्वीकार है, रागी जनों की नहीं। कारण कि आपको दिखती है वहां निःस्वार्थता व करुणा। जो बात वे मुख से कहते हैं उसकी झांकी उनके जीवन में स्पष्ट दिखाई देती है। और इन्हीं गुणों के कारण वे आपकी दृष्टि में प्रमाणिक हैं। अन्य वक्ताओं में यह गुण दिखाई नहीं देते हैं, इसलिये वे आपको अप्रमाणिक हैं। श्रद्धा के पथ पर आपका यह पहला पग है, जिसमें क्या कमी है सो आगे दर्शाता हूँ।

चले अवश्य जा रहे हो उसी मार्ग पर परन्तु हृदय में है कुछ कम्पन सा-"यदि यह भी मार्ग ठीक न निकला तो ? या आगे जाकर फिर भटक गया तो ? बीहड़ बन है कौन जाने-पहुंच भी पाउंगा या नहीं ? खैर चलो भगवान सहायी है," और इस प्रकार के अनेकों विकल्प। तनिक विचारो, पक्ष को छोड़ कर। क्या यही अवस्था न होगी आपके हृदय की इस श्रद्धा की प्रथम श्रेणी में ? बस स्पष्ट हो गया-इस श्रद्धा का झूठापना या अन्ध विश्वासपना। अन्तर्ध्वनि से आने वाली यह "तो" इस बात की साक्षी है, कि स्वीकार करते हुए भी आपका संशय दूर नहीं हुआ है अभी। इसी प्रकार यहां धर्म मार्ग में भी, यद्यपि स्वीकार हैं गुरुओं की बातें परन्तु "निश्चय से न सही, पर व्यवहार से तो ठीक है न यह हमारी पहले की धारणा?" इस प्रकार जो पोषण करने का प्रयत्न किया जा रहा है-अपने ही अभिप्राय का, यह कहां से निकल रहा है ? बस यही है साक्षी इस बात का कि वास्तविक तत्व आपको स्वीकार ही नहीं है, अन्यथा आपकी धारणा बदल जानी चाहिये थी।

आगे चलिये नाला दिखाई दिया और साथ में वह खजूर का पुल भी। विचारिये तो कुछ कमी पड़ेगी उस कम्पन में या नहीं ? अवश्य पड़ेगी। "नहीं नहीं, यह मार्ग ठीक ही होगा, वही पहिला चिन्ह जैसे बताया था आ गया, अब कुछ संशय नहीं रहा इसमें, अब तो आ ही जायेगा गांव"। कुछ ऐसी सी बात प्रकट हो जायेगी। यद्यपि संशय बहुत मन्द पड़ चुका है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा अभाव हो गया है, जिसकी साक्षी ऊपर के 'ठीक ही होगा', 'आ ही जायेगा' यह कुछ शब्द दे रहे हैं। दृढ़ श्रद्धान में भविष्यत सूचक शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ करता। और इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र में भी गुरु वाणी से तत्वों को सीख कर यद्यपि कुछ व्रतादि भी धारण कर लिए हैं, परन्तु फिर भी उन तत्वों की श्रद्धा में अन्तर पड़ा हुआ है। जिसकी साक्षी इस अभिप्राय से निकलती है, जोकि कह रहा है कि भले आज न सही पर यह व्रतादि करते करते आगे कभी तो "होगी ही" मोक्ष। यह श्रद्धा की दूसरी कोटि है, यद्यपि पहली से कुछ दृढ़, पर सच्ची नहीं।

आगे चलिये, वृक्षों का झुण्ड आया, हृदय में एक आह्लाद उत्पन्न हुआ, मानो टांगों में शक्ति आ गई हो, और तेज़ी से क़दम उठने लगे। "बस अब तो गांव आ ही गया समझो, बस इस मार्ग में किञ्चित भी संशय नहीं, यह ठीक ही है" इस प्रकार की दृढ़ता, यद्यपि इस श्रद्धा की दृढ़ता

को सूचित कर रही है परन्तु नहीं, वास्तव में श्रद्धा अब भी दृढ़ नहीं है। यह बात गले उतरनी कुछ कठिन पड़ती है, परन्तु विचार करने से अवश्य इसकी सत्यता ध्यान में आ जायेगी। कल्पना कीजिये कि कुछ ही दूर झुण्ड से आगे निकल जाने पर, आपका कोई चिरपरिचित मित्र मिल जाता है, और कुछ आश्चर्य में पड़ कर आप से पूछ बैठता है "कहां जा रहे हो मित्र इस मार्ग से ? बाल बच्चों का प्रबन्ध कर आये हो या नहीं?" स्वभावतः ही आप घबरा जायेंगे-उसकी इस बात पर कि क्या कारण है उसके इस आश्चर्य का ? और यदि वह बताये, कि तुम्हें गलत मार्ग पर डाला गया है, आगे उसी ठग का गांव पड़ेगा जिसने कि तुम्हें मार्ग बताया था। तो क्या आप कांप न उठोगे? बताइये कहां चली जायेगी आपकी इस समय तक दृढ़ बनी श्रद्धा ? बस यही बात साक्षी है, कि यह तीसरी कोटि की अत्यन्त दृढ़ दीखने वाली श्रद्धा भी वास्तव में सच्ची नहीं थी। इसी प्रकार इस धर्म क्षेत्र में भी व्रतों आदि या विद्वत्ता आदि के कारण, सम्मान से मिली प्रतिष्ठा से भ्रमित होकर, भले आप यह मान बैठें कि मेरी श्रद्धा बिल्कुल सच्ची है। यही गुरुओं के द्वारा प्रतिपादित मार्ग है। इतने बड़े बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति तथा विद्वान इस मेरी श्रद्धा का पोषण कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में यह श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। क्योंकि भले बाहर में आपके मुख से कोई शब्द ऐसा न निकला जिस पर से तार्किक आपके अभिप्राय में भूल निकाल सके। भले ही बाहर में यह कहते सुने जाओ, कि आपको बड़ा आनन्द आ रहा है-इस जीवन में। परन्तु आप स्वयं यह जान नहीं पाते कि यह आनन्द जीवन में से आ रहा कि प्रतिष्ठा के कारण लोकेषणा में से आ रहा है ? आपके अन्तरंग में तो यह मार्ग कुछ कठिन सा भास रहा है-असि धारा के समान। बस जीवन में इस कठिनाई का वेदन ही इस बात की साक्षी है कि आपकी यह तीसरी कोटि की श्रद्धा भी सच्ची नहीं है। भले दूसरों की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो।

और आगे चलिये, वह देखो कलशे सर पर रखे गांव की स्त्रियां कुएं पर से पानी लाती दिखाई दे रही हैं। सामने मन्दिर के शिखर पर लहराती ध्वजा मानो हाथ की झोली दे देकर आपको बुला रही है, और कह रही है कि चले आइये, यही है वह गांव जहां आप जाना चाहते थे। अब विचारिये कि स्वयं वीर प्रभु भी आकर यह कहने लगें कि "किधर जाते हो ? यह मार्ग ठीक नहीं है।" तो क्या उनकी बात स्वीकार करोगे आप ? कदापि नहीं, आपकी आंखों के सामने गांव है, इस चक्षु प्रत्यक्ष के सामने आप भगवान की बात को भी स्वीकार करके कोई संशय उत्पन्न करने को तैयार नहीं। बस इसी प्रकार धर्म क्षेत्र में भी साक्षात चौथी कोटि की शान्ति की रूप रेखाओं का जीवन में संवेदन हो जाने पर, लोक की कोई शक्ति आपको आपके शान्ति पथ से विचलित करने में समर्थ न हो सकेगी। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के सामने आपको गुरुजनों के आश्रय की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। अनुभवात्मक चौथी कोटि की श्रद्धा ही वास्तव में सच्ची श्रद्धा कही जा सकती है।

यहां शान्ति के इस वैज्ञानिक मार्ग की त्रयात्मकता में अभिप्रेत श्रद्धा से तात्पर्य इस उपरोक्त चौथी कोटि की श्रद्धा से है। कुल परम्परा के आधार पर हुई, या साम्प्रदायिक पक्षपात के आधार पर हुई, या गुरुओं पर भक्ति आदि की भावुकता वश हुई, या विद्वत्ता वश हुई, या लोक प्रतिष्ठा वश हुई श्रद्धाओं का नाम यहां श्रद्धा नहीं कहा जा रहा है। श्रद्धा वास्तव में वह होती है जो बिना किसी अन्य के उकसाये स्वयं रुचिपूर्वक उस व्यापार विशेष के प्रति अन्तरंग में झुकाव उत्पन्न करा देती है। जिसके कारण शीघ्रातिशीघ्र वह अपने जीवन को उस श्रद्धा के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करने लग जाता है, शक्ति को नहीं छिपाता, न ही कोई बहाने तलाश करता है—अपनी

श्रद्धा को दूसरों पर जताने के लिये। जैसे "क्या करूं, करना तो बहुत चाहता हूं पर कर्म करने नहीं देते। अजी गृहस्थी के जंजाल में फंसा हूं बुरी तरह," इत्यादि।

उपरोक्त कथन पर से यह भी ग्रहण न कर लेना कि उत्तरोत्तर वृद्धि को पाती वह तीन कोटि की श्रद्धायें सर्वथा बेकार हैं। नहीं, ऐसा नहीं है, यदि ऐसा होता तो आप उस मार्ग पर पग ही न रखते, इसलिये पहले पहल मार्ग पर अग्रसर कराने के लिये, तथा उस ओर का उत्तरोत्तर अधिकाधिक उल्लास उत्पन्न कराने के लिये वे श्रद्धायें अवश्य अपना महत्व रखती हैं। परन्तु उन मात्र में सन्तोष पा लिया है जिसने, उसका निषेध करने के लिये, तथा वास्तविक सच्ची श्रद्धा का सुन्दर रूप दर्शाने के लिये अथवा भ्रम मिटाने के लिये ही इतना कथन किया गया है। अन्ध विश्वास भी जिसको नहीं है, ऐसे विलासी जीवों की अपेक्षा तो वह कुछ अच्छा ही है। क्योंकि भले अन्ध-विश्वास के आधार पर ही सही, पर शान्ति की खोज करने तो लगा है। शान्ति का अनुभव कर लेने पर खुल जायेगा इस अन्ध श्रद्धान का रहस्य, और प्रसन्न होगा यह जानकर, कि उसके द्वारा किया गया वह झूठा श्रद्धान भी सच्चे के अनुरूप ही निकला।

परन्तु अन्ध श्रद्धान आंख मीच कर ही न कर लेना चाहिये। बात बात में परीक्षा करते हुए चलना है, अतः केवल उन्हीं की बात पर श्रद्धा करनी योग्य है, जिनका जीवन स्थूल दृष्टि से भी शान्त दिखाई दे। जिनके उपदेश का लक्ष्य शान्ति हो, तथा कथन पद्धति भी शान्त हो। स्वार्थी जनों का भोगों के प्रति आकर्षण कराने वाला उपदेश, इस मार्ग का बाधक व अभिलाषावर्धक होने के कारण स्वीकार करने योग्य नहीं है।

८

❀ श्रद्धा व ज्ञान का विषय ❀

मुजफ़्फ़रनगर दिनाङ्क ६ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ११

१—प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये सात आवश्यक बातें, २—तत्वार्थ शब्द का अर्थ

१ सात आवश्यक बातें

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले श्रद्धा का महत्व दर्शाया जा चुका है, परन्तु श्रद्धा किस बात की की जाये यह नहीं बताया गया। कोई पदार्थ तैयार करने के लिये एक कारखाना लगाने से पहले स्वाभाविक रीति से हमारे मन में तथा एक वैज्ञानिक के मन में सात प्रश्न उठते हैं। वे सात बातें ही किसी कार्य की सफलता के लिये यथार्थतः जाननें व श्रद्धा करने योग्य हैं। क्योंकि उनके जाने व श्रद्धा किये बिना वह कार्य प्रारम्भ ही नहीं किया-जा सकेगा। यदि उन सात बातों में से किसी एक दो बातों मात्र का ज्ञान व श्रद्धान रख कर अन्य बातों की परवाह न करके कार्य प्रारम्भ कर भी दिया जाये, तो अन्धोंवत ही इधर उधर हाथ पांव मारने पड़ेंगे। और फल निकलेगा निष्फल पुरुषार्थ या पूंजी का विनाश। दृष्टान्त पर से यह स्पष्ट हो सकेगी।

वे सात बातें निम्न प्रकार हैं :—

१ मूल पदार्थ (रौ मैटीरियल) क्या है ?

२ उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य पदार्थ (इम्प्योरिटीज़) क्या हैं ?

३ मिश्रण का कारण क्या है ?

४ पदार्थ का मिश्रित स्वरूप क्या है ?

५ मिश्रण के प्रति सावधानी का उपाय।) अतः शुद्ध कैसे हो सकता है ?

६ मिश्रित अन्य पदार्थ के शोधन का उपाय।)

७ शुद्ध पदार्थ का स्वरूप क्या है ?

देखिये एक डेयरी फार्म लगाना अभीष्ट है तो यह सात बातें जाननी पड़ेंगी।

१ मूल पदार्थ दूध क्या है ?

२ इसके साथ रहने वाले 'पानी' 'बैक्टेरिया' आदि (सूक्ष्म जन्तु) क्या हैं ?

३ बैक्टेरिया की उत्पत्ति के कारण क्या हैं ?

४ जल व बक्टेरिया से मिश्रित दूध का स्वरूप क्या है ?

५ बैक्टेरिया की नवीन उत्पत्ति रोकने का उपाय।) दूध को शुद्ध कैसे किया
६ पूर्व बैक्टेरिया के विनाश का तथा जल शोधन का उपाय।) जा सकता है ?
७ शुद्ध दूध (प्योर मिल्क) का स्वरूप क्या है ?

इसी प्रकार किसी रोग का प्रतीकार अभीष्ट है। तो यह सात बातें जाननी व श्रद्धा करनी पड़ेंगी।

१ मैं नीरोग हूं, २ वर्तमान में रोगी हूं, ३ रोग का कारण अपथ्य सेवन, ४ रोग का निदान
५ अपथ्य सेवन का निषेध, ६ योग्य औषधि, ७ नीरोगी अवस्था का स्वरूप।

अब आप ही विचारिये कि क्या इन सात बातों के ज्ञान व श्रद्धान बिना वह कारखाना या डेयरी फार्म लगाना या रोग का दूर किया जाना सम्भव है ? और यदि इन सात बातों में से किसी एक दो मात्र बातों के ज्ञान व श्रद्धान के आधार पर कार्य प्रारम्भ करने का दुःसाहस भी कर लिया, तो क्या फल होगा ? लाभ की बजाय हानि। बैक्टेरिया की उत्पत्ति व उसके दूर करने का उपाय न जानने के कारण उसके प्रति सावधानी न रह सकेगी, फलतः दूध सड़ जायेगा। रोग के कारणों अर्थात अपथ्य का या ठीक औषधि का ज्ञान न होने के कारण अपथ्य सेवन न छोड़ सकूंगा, तथा गलत औषधि ले लूंगा, फलतः रोग घटने के बजाय बढ़ जायेगा इत्यादि। अतः श्रद्धा की विषयभूत यह सात बातें जाननी आवश्यक हैं।

यहां जीव का शान्ति रूप कार्य अभीष्ट है। अतः यह सात बातें जाननी व श्रद्धा करनी योग्य हैं।

१ 'मैं', जिसे शान्ति चाहिये, वह क्या है ?
२ सम्पर्क में आने वाले अन्य पदार्थ क्या हैं ?
३ अशान्ति क्यों ?
४ अशान्ति क्या ?
५ नवीन अशान्ति को रोकने का उपाय।) शान्ति की प्राप्ति कैसे ?
६ पूर्व के अशान्ति के कारणों का विनाश कैसे ?)
७ शान्ति क्या ?

इन सब बातों को आगम में सात तत्व कहकर निर्देष किया गया है। इन सातों तत्वों के नाम जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा व मोक्ष कहे गये हैं। इन सब का विस्तृत स्वरूप तो आगे चलेगा, क्योंकि उनके विस्तार का ज्ञान हुए बिना श्रद्धा किस पर करेंगे ? नाम मात्र जानने से तो काम नहीं चलता। नाम तो भले कुछ और रख लीजिये, पर शान्ति पथ में उपयोगी इन उपरोक्त बातों का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है। ज्ञानी जनों ने कहीं भी अन्धविश्वास करने को नहीं कहा है। आगम, युक्ति व अनुभव इन तीनों से परीक्षा करके ही स्वीकार करने का निर्देश किया है। इन तीनों में भी अनुभव प्रधान है, जैसा कि कल वाले श्रद्धान के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है ?

२ 'तत्वार्थ' शब्द का अर्थ

इस प्रकरण में आचार्य देव ने तत्व श्रद्धान को सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा न बताकर तत्वार्थ श्रद्धान को सच्ची श्रद्धा बताया है। यही तत्वार्थ शब्द बड़ा महत्व रखता है। अतः इसका अर्थ जरा गौर से सुनना चाहिये। तत्व शब्द 'तत' 'त्व' इस प्रकार दो शब्दों से मिल कर बनता है। 'तत' शब्द का अर्थ है 'वह'। और इसलिये यह 'तत' शब्द 'यत' अर्थात 'जो' की अपेक्षा रखे बिना अपने अर्थ का द्योतक नहीं हो सकता। जिस प्रकार मेरे ऐसा कह देने पर, कि वह व्यक्ति आज मर गया है, आप या तो असमंजस में पड़ जायेंगे, और मुझसे पूछेंगे कि वह व्यक्ति कौन, और या स्वयं अपने अन्दर से इस बात का अनुमान करने का प्रयत्न करेंगे कि इस 'वह' का संकेत किस व्यक्ति की ओर जा रहा है। जब तक मेरे बताने पर या स्वयं अनुमान लगा लेने पर यह पता न चल जाये, कि 'वह' का अर्थ वह व्यक्ति है जो कि परसों मंदिर में आठ बजे मुझ से कुछ पूछ रहा था, आपका आश्चर्य दब न पायेगा। तात्पर्य यह है कि 'वह' का शब्द बिना 'जो' के कोई अर्थ नहीं रखता इसलिये तत्व शब्द में पड़े 'तत' का अर्थ है 'वह जो कि अभिप्रेत है।' अर्थात इन जीव आदि सात तत्वों में से जिस के सम्बन्ध में विचारना व जानना अभिप्रेत है वह पदार्थविशेष 'तत' शब्द का वाच्य है।

'त्व' का अर्थ 'पना' होता है। आप सब इस शब्द का रोज़ इस अर्थ में प्रयोग करते हैं। जैसे शीतलत्व अर्थात ठण्डापना, उष्णत्व अर्थात उष्णपना, स्निग्धत्व अर्थात चिकनापना; रूक्षत्व अर्थात रूखापना इत्यादि। 'पना' शब्द का अर्थ 'स्वभाव' होता है, जैसा कि उपरोक्त दृष्टान्तों से सिद्ध है। अग्नि के उष्णपने से तात्पर्य है अग्नि का उष्ण स्वभाव और इसी प्रकार अन्य में भी। 'तत' का अर्थ वह जो अभिप्रेत है, और 'त्व' का अर्थ 'स्वभाव' अतः कितना स्पष्ट हो गया अब 'तत्व' का अर्थ। 'तत' अर्थात इन सात बातों में जो भी बात आपको पूछनी या विचारनी अभीष्ट है उसका 'त्व' अर्थात 'स्वभाव'। अर्थात "अभीष्ट पदार्थ के स्वभाव को तत्व कहते हैं", यह लक्षण बन गया।

अब 'अर्थ' शब्द का अर्थ सुनिये। 'अर्थ' शब्द, 'ऋ' धातु से बना है। इसका अर्थ गमन या प्राप्त करना होता है। किसी भी पदार्थ में जानने योग्य बातें दो होती हैं एक उसका सामान्य स्वरूप, दूसरा उसका विशेष स्वरूप। जैसे अग्नि एक सामान्य द्रव्य है और उष्णता, प्रकाश, दाहकता आदि इसकी विशेषतायें हैं अर्थात गुण तथा उनकी अवस्थायें हैं। अतः 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य हुआ द्रव्य, गुण व पर्याय, वह द्रव्य आगे आगे बदलता हुआ उन पर्यायों को प्राप्त करता है। अन्य प्रकार भी 'अर्थ' शब्द का अर्थ करने में आता है। जो गमन करे, प्राप्त करे—अपने गुणों तथा पर्यायों को, ऐसा द्रव्य अर्थ कहलाता है? इस रूप में भी अर्थ शब्द से तात्पर्य द्रव्य, गुण व पर्याय है।

तत्व और अर्थ इन दोनों को मिलाने से तत्वार्थ बनता है अर्थात तत्व का अर्थ। अथवा अभीष्ट विषय के द्रव्य, गुण अथवा पर्याय का स्वरूप या स्वभाव तत्वार्थ कहलाता है। "ऐसा तत्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा है, जो जैसा कि बताया जा चुका है, बिना उस विषय का अनुभव प्रत्यक्ष किये, होना असम्भव है। इसलिए तत्वार्थ श्रद्धान का अर्थ यहां प्रकरण वश इन जीवादि सात बातों सम्बन्धी प्रत्यक्ष अनुभव करना है। दृष्टान्त में भी दूध व पानी आदि का प्रत्यक्ष न करके केवल शब्दों मात्र से यदि इन पर श्रद्धान कर लें, तो क्या डेयरी फार्म खोलना सम्भव है? खोलेंगे तो नौकरों के कहने पर चलना होगा, फल क्या निकलेगा, कहने की आवश्यकता नहीं।

सम्प्रदाय को अवकाश नहीं इस वैज्ञानिक मार्ग में। इसका साया भी यहां पड़ने न पाये, ऐसी सावधानी रखने की आवश्यकता है। अतः इन जीवादि सात बातों का स्वरूप कुछ इस प्रकार से सुनना या विचारना इष्ट है, कि जिस पर विचार करके तथा अपने जीवन में उस उस उपाय से उस उस विषय को पढ़ने का प्रयत्न करके, उसका किञ्चित अनुभव हो सके। उस अनुभव हो जाने के पश्चात ही शान्ति मार्ग प्रारम्भ होगा। परन्तु उसको अनुभव करने से पहले भी यह आवश्यक है कि एक बार शब्दों में उसे अवश्य ग्रहण कर लिया जावे, और तर्क व युक्ति से उसकी सत्यार्थता का निर्णय कर लिया जाये। उस अपने निर्णय को वीतराग प्रणीत आगम से भी मिलान करके देख लिया जावे। क्योंकि बिना ऐसा किये अव्वल तो मैं अनुभव करने का प्रयत्न ही किस विषय के प्रति करूंगा और यदि अन्धों की भांति शब्दों का स्पष्ट रहस्यार्थ समझे बिना करने लगा तो लाभ क्या होगा ?

अतः अब आगे के प्रकरणों में इन सात बातों का ही क्रमशः विस्तृत विवेचन चलेगा। लम्बा कथन सुनते सुनते ऊब न जाना, सारा का सारा सुनना। बीच में एक भी प्रकरण के छूट जाने पर आगे के प्रकरणों का रहस्य पकड़ में न आ सकेगा। बिना क्रम से और बिना पूरा सुने अभीष्ट की सिद्धि होना असम्भव है।

४ स्व पर तत्व

६

❀ जीव तत्व ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनाङ्क १० जुलाई १९५९

प्रवचन न० १२

१—'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में, २—'मैं' की खोज अन्तर में, ३—'तू' ही में 'मैं' निहित है।

अहो ! चैतन्यघन का अतुल प्रकाश, जिसने पुनः पुनः प्रेरित करते हुए तथा अन्तरंग में चुटकियां मारते हुए, इस गहन भोग विलास के अन्धकार में भी, मुझे आज यह सौभाग्य प्रदान किया कि किञ्चित मात्र भी अपनी महिमा के दर्शन पाकर मैं कृतार्थ हो सकूं। धर्म की जिज्ञासा के सार स्वरूप शान्ति, तथा उसकी प्राप्ति के लिये कुछ प्राथमिक आवश्यक सामान्य बातें जान लेने के पश्चात, आज मेरे अन्दर यह जानने की जिज्ञासा जागृत हो उठी है कि मैं कौन हूं, जिसमें यह शान्ति की पुकार उठ रही है, अर्थात जीव तत्व क्या है ?

१ 'मैं' की खोज चौरासी लाख योनियों में

बहुत प्रयत्न किया है-गुरुजनों ने, मुझे मेरी महिमा दर्शाने का, मुझे मेरा स्वरूप बताने का, पर देखिये कितने बड़े आश्चर्य की बात है, कि निरन्तर ही 'मैं हूं', 'मैं हूं' की पुकार करता 'मैं' आज तक 'मैं' को जान न सका। क्या क्या कल्पनायें बनाता रहा अपने सम्बन्ध में। कभी विचार करता कि, ये मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की जो आकृतियां दीख रही हैं, वे ही 'मैं' हूं। कभी विचार करता कि ये जो पुत्र, स्त्री आदि परिवार दिखाई दे रहा है, अपने चारों ओर, वही 'मैं' हूं। कभी विचार करता कि ये जो गृह स्वर्णादि, कुछ आकर्षक पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वही 'मैं' हूं अथवा इन सब में 'मैं', और मुझ में 'यह सब' ओत प्रोत हो रहे हैं-मानो।

देखो कितना बड़ा आश्चर्य है, कि अपने को देखने की इच्छा करते हुए मैं स्वयं कहाँ कहाँ खोजता फिरता हूं इस 'मैं' को। इस महत् के अर्थात इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त आकाश के एक एक प्रदेश पर इधर से उधर, और उधर से इधर टक्करें मार मार कर मैंने खोज की इस की। कैसी दशा बनी हुई थी, उस समय मेरी, कि बिना सुधबुध के उस प्रदेश से इस पर और इससे उस पर-फिर रहा था मारा मारा-तृषातुर मृगवत्। इस प्रदेश पर दिखाई देती है-कुछ मेरी चमक सी-भागा उधर। अरे ! यहाँ तो कुछ नहीं, नहीं नहीं, यहाँ नहीं थी। वह देख कुछ दूरी पर-दिखाई दे रही है-कितनी तेज चमक। आंखें चुन्धिया रही हैं-जिसे देख कर। भागा वहां, पर यह क्या ? यहां भी कुछ नहीं। और इसी प्रकार, बेचैन बेहोश घूमता था-मारा मारा।

कितनी तीव्र गति थी उस समय मेरी, अभी पाताल के उस छोर पर और अगले ही

क्षण में लोक के शिखर पर, बिल्कुल अपने पिता सिद्ध प्रभु के निकट। अभी ऊर्ध्व लोक में देवों के निकट, और अगले ही क्षण अधो लोक में नारकियों के निकट। अभी मध्य लोक की एक पृथ्वी पर, और अभी असंख्यात योजन दूर उस अन्तिम पृथ्वी पर। अभी समुद्र में और अभी वायुमण्डल में। अभी इन चलते फिरते दिखने वाले मनुष्य, पशु व पक्षियों के शरीरों में और ···अगले ही क्षण बनस्पतियों में। कहाँ तक गिनाऊं ? एक प्रदेश भी तो इस आकाश का खाली नहीं छोड़ा, जहां जाकर मैंने 'मैं' को न खोजा हो। कितना व्यग्र था उस समय— इसकी खोज के पीछे, कि आने और जाने, जीने और मरने के सिवाय, मुझे और कुछ चिन्ता ही नहीं थी। एक एक श्वास में अठारह अठारह बार बदल डाला-मैंने अपना स्थान। पर मृग तृष्णा थी, कोरा बालू का ढेर, कुछ भी न था वहां। जाता-दौड़ता जन्म लेता और निराश हो जाता। तुरन्त ही आगे कुछ प्रतीत होता, बस मर जाता, वहां जाकर जन्म लेता, और फिर निराश हो जाता। किसी कारण वश रोता रोता शिशु जिस प्रकार स्वयं भूल जाता है, कि क्यों रोना प्रारम्भ किया था उसने ? केवल याद रह जाता है रोना-उसे। उसी प्रकार दौड़ते दौड़ते, एक श्वास में अठारह अठारह बार जन्मते मरते, मैं स्वयं भूल गया कि क्यों यह दौड़ धूप या जीना मरना प्रारम्भ किया था-मैंने ? केवल याद रह गया जल्दी जल्दी जीना और मरना मात्र।

खाने की सुध थी न पीने की, न किसी से बोलने की न पूछने की, न कुछ सूंघने की न देखने की, न सुनने की न विचारने की, बेहोश हो गया था, थक कर चूर चूर। छूकर जान तो सकता था उस समय, पर कहां थी होश मुझे छूने की भी ? इधर से उधर दौड़ने अथवा जीने मरने के सिवा फुर्सत ही कहां थी, कुछ और कहन की? कई बार तो पूरी तरह जन्मने भी न पाया कि मर गया। और यदि पूरा जन्मा भी तो कितना छोटा था मेरा शरीर जो किसी को दिखाई भी न पड़ सके, माइक्रोस्कोप के भी तो गम्य न था, पहाड़ व लोह खण्ड में से भी घुसकर आर पार हो सके। निगोद कहा करते थे ज्ञानी लोग उस समय-मुझे। सर्व साधारण जन तो मेरी सत्ता से भी अपरिचित थे, न देख सकने के कारण वे यह भी नहीं जान पाते थे कि मैं कोई हूं भी या नहीं।

वहां जब कुछ पता न चला, तो पृथ्वी बनकर, जल बन कर, अग्नि बन कर, वायु बन कर पड़ा रहा सदियों, लोगों की ठोकरें खाता, इधर उधर बिखरता या उबाले जाता आग पर, पवन के द्वारा ताड़ित किया जाता, पंखों की मार सहता पड़ा रहा सदियों-कि कभी तो, कहीं तो स्पर्श कर ही जाऊंगा मैं--'मुझ' को, पर निराश, कुछ न दीखा। वहां से भी भागा, बनस्पति बन गया, कभी जल पर की काई बना, और कभी अचार पर बना फूई, कभी घास बना और कभी बना झाड़ी, कभी बेल तो कभी वृक्ष, कभी पत्ता तो कभी फल, कभी खट्टा बना तो कभी मीठा, कभी सुगन्धित तो कभी दुर्गन्धित। क्या क्या रूप धारे थे उस समय मैंने ? याद कर कर के कलेजा कांप उठता है। चीरा जाकर और अग्नि में जल जल कर अनेकों कष्ट सहे, इस 'मैं' को स्पर्श करने के लिये, पर निराश, कुछ न देखा वहां भी। स्पर्श ही न कर पाया, फिर चखने, सूंघने, देखने, सुनने व विचारने का तो प्रश्न ही क्या ? निराश लौट पड़ा। सर्व साधारण जन मुझे सोचते रहे जड़, केवल अपने भोग की कोई वस्तु, परन्तु मैं भले यह न जानता हूं कि मैं क्या हूं, पर उस समय भी इतना अवश्य जानता था कि मैं वह नहीं हूं जो वह समझते थे। चित्त मसोस कर रह जाता था-क्योंकि शक्ति ही न थी बताने की।

छूने मात्र से तो पता न चला, चलो अब चख कर भी देखो सम्भवतः कुछ पता चल जावे और इस अभिप्राय को रखकर, धारण किये लट व केंचुआ आदि के अनेकों रूप। कभी कुछ

और कभी कुछ, सूंघने, देखने, सुनने व विचारने की चिन्ता किए बिना, केवल छू कर व चख कर खोज करनी चाही मैंने अपनी, पर निरर्थक ।

निराश दौड़ा, चींटी, कनखजूरा आदि अनेकों रूपों में । जहां छूने व चखने के अतिरिक्त सूंघने की शक्ति का भी प्रयोग किया मैंने । इतना ही नहीं, मक्खी, भंवरा आदि बन कर देखने के यन्त्र को भी प्रयोग में लाया और चिड़िया, गाय, मछली, व मनुष्यादि बन बन कर सुनने के यहां तक कि विचारने तक के यन्त्रों का निर्माण कर डाला, पर किसी प्रकार भी तो उस रहस्यात्मक 'मैं' का पता न चला । क्या आकाश में, क्या पृथ्वी पर और क्या जल में, कहां नहीं खोजा मैंने इसे ?

अत्यन्त दुःख व पीड़ा की भी परवाह न करते हुए, मैं इसकी खोज के लिए नारकी तक बना, पर इसका पता न चला । तात्पर्य यह कि नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवों की चौरासी लाख योनियों में पृथ्वी, अप, तेज, वायु व बनस्पति भूतों में, भ्रमण करते करते आज तक न मालूम कहां कहां घूमा कितना समय बीत गया, तथा इस काल में क्या क्या दुःख सहे—इसको खोज के लिए, पर इस 'मैं' का पता न चला । छोटे से छोटा माइक्रोस्कोप से भी न दीखने वाला, तथा बड़े से बड़ा पर्वत सरीखा शरीर बनाया, पर उसका पता न चला ।

२ 'मैं' की खोज अन्तर में

चलता भी कैसे ? घर में खोई हुई सुई को सड़क पर खोजने जाऊं तो क्या मिलेगी? 'मैं' को 'मैं' में न खोज कर, मैंने उसे आकश में खोजा तथा खोजा ऊपर संकेत किये विभिन्न जाति के चौरासी लाख शरीरों में । कैसे पता चलता उसका ? 'मैं' को 'मैं' में न खोज कर मैंने खोजा स्त्री व पुरुष में, काले गोरेपने में, या धनवान व निर्धन में, प्राकृतिक सुन्दरताओं व विकारों में, तूफ़ानों में व बाढ़ों में, झोंपड़ियों में व महलों में । पर कैसे मिलता वह वहां ? जबकि वहां वह था ही नहीं । और आज भी इस उन्नत विज्ञान की सहायता से बड़े बड़े आविष्कारों के द्वारा अनुसन्धान शालाओं में, मैं बराबर खोज रहा हूं इसे, पर व्यर्थ ।

आज परम सौभाग्य से इन वीतराग गुरु देव की शरण को प्राप्त हो, मानो मैं कृतकृत्य हो गया हूँ । इतने काल में इसकी खोज के पीछे व्याकुल होकर भटकता हुआ, मैं आज इनकी कृपा से इस रहस्य को पाकर कितना सन्तुष्ट हुआ हूँ—कह नहीं सकता, मानों मेरा वह भ्रम ही मिट गया है । आज उसे जान कर मुझे स्वयं अपने ऊपर हंसी आ रही है, कितनी सरल सी बात थी, और कितना भटका इसके पीछे । यह भ्रम की ही कोई अचिन्त्य महिमा थी, जो आज तक मुझे इसके दर्शन नहीं होने देती थी। आज गुरुदेव के प्रसाद से वह भ्रम दूर हो गया और मैं जान पाया, कि वह मेरे अत्यन्त निकट है, जिसे मैं इतनी इतनी दूर खोजने गया ।

विचारिये तो सही कि कोई हीरे की अंगूठी आप तिजोरी में रखने को जाते हो, मार्ग में मैं मिल जाऊं और आपको कोई आवश्यक काम बता दूं, आप अंगूठी को अपनी अंगुली में पहन कर काम में जुट जायें । सांझ पड़े घर आयें तो अंगूठी याद आवे । हैं ! कहां गई ? तिजोरी में पुनः पुनः देखें, सन्दूक खोलें, रसोई घर में एक बर्तन को उठाकर, और कभी दूसरे को, सम्भवतः उन्हें ठोक ठोक कर देखने लगे कि कहीं यह बर्तन निगल ही न गये हों उसे । और व्याकुलता में न मालूम क्या-क्या करने लगे । पर क्या इस प्रकार वह अंगूठी मिलेगी ? यदि मैं आपसे पूछूं कि क्यों जी, उस अंगूठी का

ढूंढ़ना सरल है कि कठिन, तो क्या कहोगे ? न सरल कहते बनता है न कठिन, जब तक नहीं पाती तब तक कठिन और उंगली पर दृष्टि जाने के पश्चात, क्या सरल और क्या कठिन ? ढूंढने का प्रश्न ही कहां है ? और यह गई ही कहां थी ? इसका ढूंढना तो सरल था न कठिन, मेरे भ्रम का दूर होना ही कठिन सा था ।

बस तो इस प्रकार भो चेतन! तू व्यर्थ ही इधर उधर भटक रहा है, जिसे तू खोजना चाह रहा है वह तो यहां ही है, तेरे अत्यन्त निकट । निकट भी क्या, तू स्वयं ही तो है—वह । किधर देख रहा है बाहर की ओर ? उधर कुछ नहीं है, उधर तो यह चमड़े हड्डी का कुछ ढेर मात्र ही पड़ा है । वह शरीर है, तू नहीं, इधर देख भाई! इधर देख । अरे ! फिर उधर ही, उधर नहीं, इधर देख । मैं जिस ओर संकेत कर रहा हूँ, उधर देख । अरे ! फिर उधर ही ? अरे भाई, देख इस उंगली की बिलकुल सीध में, उस निशाने पर, जहां से यह 'मैं' की ध्वनि चली आ रही है, जहां से शान्ति की इच्छा प्रगट होती दिखाई दे रही है, जहां सुख दुख का वेदन हो रहा है, जहां विचारनाओं का काम किया जा रहा है । नेत्र इन्द्रिय से देखने का प्रयत्न मत कर भाई ! इन्हें बन्द करके देख कुछ अपने ही अन्दर डुबकी लगा कर, अपने से ही प्रश्न करके उत्तर ले । 'मैं' की ध्वनि स्वरूप अन्तरंग में होने वाली हे विशेष वाणी तू कौन है ? दुख सुख में हाय व वाह वाह करने वाले अन्तरंग में प्रतीत होने वाले—हे परम तत्व, तू कौन है ? 'मुझे शान्ति चाहिए,' 'मुझे शान्ति चाहिये' हर समय इस प्रकार की टेर लगाने वाले, तू कौन है ?

३ 'तू ही में 'मैं' निहित है

अरे ! यह क्या ? 'तू' किसे कह रहा है मैं ? यह स्वयं मैं ही तो हूँ । अन्तरंग में प्रकाशमान, स्वानुभव गोचर, अमूर्तीक, इन्द्रयातीत, चैतन्य विलास रूप, शाश्वत, परब्रह्म, यह 'तू' मैं ही तो हूँ । क्योंकि यह देख प्रश्न करने वाला कौन ? 'मैं' । प्रश्न सुनने वाला कौन ? 'मैं' । प्रश्न का उत्तर देनें वाला कौन 'मैं' । सर्वत्र 'मैं' ही 'मैं' तो हुआ । 'तू' को कहां अवकाश रहा ? कितना बड़ा आश्चर्य, बगल में छोरा और नगर में ढंढोरा । 'दिल के आईने में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली' । व्यर्थ ही इधर उधर दूर दूर भटकता रहा—ठोकरें खाता रहा, कष्ट सहता रहा, पर जिसे ढूंढता रहा, वह स्वयं 'मैं' ही तो था ।

चार ब्राह्मण पुत्र बनारस से पढ़ कर आये, मार्ग में नदी पड़ी, चारों पार हो गए, उस पार पहुंचने पर गिनने लगे । चारों ने गिना पर संख्या तीन ही थी । एक कौन सा डूबा, क्या मैं डूबा नहीं मैं तो हूँ, क्या यह डूबे ? नहीं ये तो हैं । पर एक, दो, तीन-चौथा कहाँ गया ? बस वही हालत थी मेरी अब तक । निगोद से ले कर मनुष्य तक सारे शरीरों को गिन डाला, पर अपने को गिनना सदा ही भूलता रहा, आश्चर्य की बात, अपनी मूर्खता न कहूंगा तो क्या कहूँगा ? चला है शान्ति लेने, पर यह पता नहीं कि शान्ति भोगेगा कौन ? चला हूँ लड्डू खाने, पर यह पता नहीं कि इसे उठा कर मुंह में देने वाला कौन ?

समझ चेतन समझ, तुझे इस 'मैं' का लक्षण दर्शाता हूँ । जिसमें जानने का कार्य हो रहा है, जिसमें कुछ चिन्तायें उत्पन्न हो रही हैं, जिसमें सुख, दुख महसूस किया जा रहा है, जिसमें विचारने का काम चल रहा है, वह एक चैतन्य तत्व है, ज्ञानात्मक तत्व, इन्द्रियातीत अमूर्तीक तत्व है । निगोद आदिक रूपों में एक वही तो प्रकाशमान हो रहा है, वही तो ओत प्रोत हो रहा है । वे सर्व इसी की तो कोई अवस्थायें हैं, जिनका निर्माण अपनी कल्पनाओं के आधार पर, स्वयं इसने किया है । जिसके होने

से ही ये सब चैतन्य हैं, जिसके न होने से ही जड़। (देखो आगे अधिकार नं० २६ प्रकरण नं० २४) और इसलिये ईश्वर, परब्रह्म व जगत का सृष्टा यही तो है। परमात्मा व प्रभु इसी का तो नाम है। अचिन्त्य है इसकी महिमा, उसी परम तत्व का नाम 'मैं' है। इसी को आगमकार जीव व आत्मा कहते हैं। कोई इसे 'सोल' कहते हैं। कोई इसे 'रूह' कहते हैं। पर इन सब नामों की अपेक्षा इसका नाम मैं लिया जाना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि मैं शब्द को सुनकर साक्षात् रूप से मेरा विकल्प उस परम चैतन्य तत्व की ओर आता है, और जीव या आत्मा सुन कर मैं इसे कहीं अन्यत्र खोजने लगता हूं। देखिये क्या अनेकों बार मेरे में यह विकल्प उत्पन्न होता नहीं देखा जाता, कि एक दिन मैं भी मरूंगा, लोग मुझे अर्थी पर लाद के ले जायेंगे, और जला देंगे, और यह आत्मा इसमें से निकल कर कहीं अन्यत्र जाकर जन्म धारण कर लेगी। मानो कि वह आत्मा मुझसे पृथक कोई दूसरा पदार्थ ही हो। इसलिये इस सब लम्बे वक्तव्य में 'मैं' जीव शब्द के स्थान पर 'मैं' शब्द का प्रयोग करूंगा। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि क्राइस्ट ने 'बाईबल' में, और वेद व्यास ने 'गीता' में किया है।

'मैं' शब्द को सुन कर भ्रम में न पड़ जाना, कहीं सोचने लगो कि बड़ा अहंकारी है-यह तो, सदा अपनी ही अपनी पुकार करता है। नहीं ऐसा तात्पर्य मेरा नहीं है। 'मैं' का अर्थ व्यक्तिगत में नहीं, बल्कि वह परम तत्व है जो सर्व में वास करता है। अर्थात सर्व के अन्दर से उठने वाले 'मैं' शब्द का संकेत उनकी दृष्टि में जिस ओर जाता है वही 'मैं' शब्द का वाच्य आत्मा है। उस सूक्ष्म तत्व की ओर लक्ष्य खींचने के लिये यह 'मैं' शब्द ही एक मात्र पर्याप्त है, और कोई नहीं।
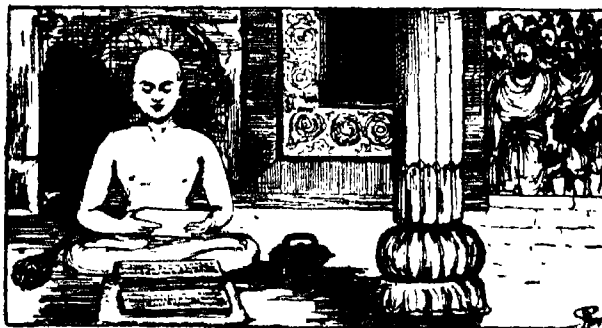
❀ शान्ति कहाँ है ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ११ जुलाई १९५६

प्रवचन नं० १३

१---शान्ति मेरा स्वभाव, २---शान्ति की खोज अनेकों रूपों व विषयों में, ३---जल में मीन प्यासी,

४--- शान्ति का आवास में स्वयं हूं ।

१ शान्ति मेरा स्वभाव

गुरुओं के प्रसाद से निज परम चैतन्य तत्व के दर्शन कर लेने के पश्चात, इससे पहले कि मैं शान्ति में बाधक अन्य पदार्थों के स्वरूप का वर्णन करूं, यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है, कि यह शान्ति क्या है, और कहां रहती है? क्योंकि शान्ति का निवास जाने बिना, "मैं इसकी रक्षा कहां जाकर करूं" यह शका बनी रहेगी। पूर्व कथित सात बातों में, इस प्रश्न का अन्तर-भाव पहली बात में अर्थात 'मैं' क्या हूं' वाले प्रश्न में हो जाता है। क्योंकि मैं का लक्षण करते हुए उस लक्षण के अंग स्वरुप एक बात यह भी कही गई है कि जिसमें से शान्ति की इच्छा उत्पन्न हो रही है, वही 'मैं' हूं। शान्ति की यह इच्छा ही शांति की ओर मेरे झुकाव को सिद्ध करती है। स्वतन्त्र रूपमें जिस ओर वस्तु का झुकाव होता है, उसे स्वभाव कहते है जैसेकि अग्नि के द्वारा गरम किया गया जल, अग्नि के सम्पर्क से जुदा होकर स्वतन्त्र रूप से शीतलता की ओर ही झुकता है, और यदि देर तक पुनः अग्नि का संयोग प्राप्त न होने पावे, तो वह स्वयं शीतल हो जाता है। इसलियें जल का स्वभाव उष्ण न होकर शीतल है। इसी प्रकार अगले प्रकरणों में बतायें जाने वाले, अन्य पदार्थों से सम्पर्क दूर होकर, मैं स्वतन्त्र रूप से शान्ति की ओर ही झुकता हूं। जैसे कि विरोधी दूर हो जाने पर, मेरा झुकाव, शान्त होने के प्रति ही होना है। अतः मेरा स्वभाव शान्ति है, भले अन्य के सम्पर्क में आकर अशांत हो रहा हूं। इसलिये 'शान्ति क्या है' और 'शान्ति कहां है' इन दोनों प्रश्नों का अन्तर्भाव, 'मैं क्या हूं' इस पहले प्रश्न में ही आ जाता है। अतः इस स्थान पर इसकी व्याख्या कर देना योग्य है। 'शान्ति क्या है ?' इसके सम्बन्ध में (अधिकार नं० ३) के पांचवें प्रवचन में साधारणतः चार प्रकार की शान्ति का प्रदर्शन करते हुए काफी प्रकाश डाला जा चुका है। अब 'शान्ति कहां है' यह बात चलती है।

'मुझे सुख चाहिये' 'मुझे सुख चाहिये' हर दम अन्तर में उठने वाली इस प्रकार की पुकार से प्रेरित हुआ मैं आज तक, क्या खाली बैठा रहा ? क्या मैंने आज तक उसे नहीं खोजा ? नहीं ऐसी बात नहीं है, जिस प्रकार आज तक मैं अपने को खोजता फिरा, उसी प्रकार इस शान्ति की खोज भी, कुछ कम न की, और आज भी बराबर कर रहा हूं।

२ शान्ति की खोज अनेक रूपों व विषयों में

अनादि काल के इस भव संताप से संतप्त होकर मैंने विचारा, कि मेरा ज्ञान ही सम्भवतः अशान्ति का कारण है। यदि इसका विनाश हो जाये, तो अशान्ति का वेदन कौन करेगा? यह विचार कर अपने ज्ञान को मूर्छित कर सदियों पड़ा रहा, मैं अचेत निगोद अवस्था में, इस बात का अनुभव करने के लिये कि सम्भवतः मुझे शान्ति मिल जाये परन्तु वह न मिली यद्यपि

अचेत हो जाने के कारण मुझे कुछ बाह्य बाधाओं सम्बन्धी कष्ट प्रतीत न हो सका, और कुछ अशांति व व्याकुलता का भी भान न हो सका, तदपि मैं शान्ति का भी अनुभव न कर सका। जैसे कि क्लोरोफार्म सुंघा कर अचेत किये गये रोगी को भले उस समय आपरेशन का कष्ट प्रतीत न हो, पर इस पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुखी है। बल्कि बेहोशी दूर हो जाने पर अवश्यमेव ही उसे बड़े कष्ट का वेदन हो जाने वाला है। इस अपेक्षा से उसे दुखी कहा जा सकता है। इस प्रकार निगोद अवस्था से कभी भी सचेत होने पर मुझे अशान्ति का वेदन ही होगा- इस अपेक्षा, तथा अज्ञान स्वयं दुख है-इस अपेक्षा, मैं वहां इस ज्ञानहीन दशा में भी शान्त की बजाय अशान्त ही बना रहा।

'मैं' की खोज के अन्तर्गत बताय गये क्रम से, मैंने पृथ्वी से मनुष्य व देव पर्यन्त अनेकों विचित्र रूप धर कर इसे खोजा, पर सदा अशांत बना रहा। शान्ति की खोज में जहां भी मैं गया, मेरे विश्वास के विरुद्ध वहां ही अनेकों बाधायें सहनी पड़ीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व बनस्पति के रूपों में रह रह कर खुदालियों की चोट, ऊपर से नीचे गिराये जाने का कष्ट, पंखे से ताड़ित होने की पीड़ा, व कुल्हाड़ियों से काटे जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। दो इन्द्रियों से पंचेन्द्रिय तक के छोटे रूपों में रहते हुए कुचले जाना, व अग्नि में जलाये जाना आदि अनेकों कष्ट सहे। पंचेन्द्रिय पशु पक्षियों के रूप में रहते हुए गाड़ीवान के हंटरों तथा डंडों केद्वारा, भखा रखा जाने के द्वारा, तथा गरमी सर्दी के द्वारा, प्रत्यक्ष प्रतिदिन देखने में आने वाले कष्ट सहे, जिनको सहस्र जिह्वाओं के द्वारा कहा जाना भी शक्य नहीं है। मनुष्यों में आया तो परस्पर की लड़ाई, मार पीट, द्वेष आदि के अतिरिक्त धनोपार्जन सम्बन्धी वचनातीत चिन्ताओं के द्वारा, आज प्रत्यक्ष दुःख सह रहा हूं। नारकियों के दुखों का तो ठिकाना ही क्या ? देवों में जाकर भी मुझे चैन न मिला, अन्य देवों की सम्पत्ति को देखकर उठी हुई अन्तर्दाह में जलता रहा। गया शान्ति खोजने, मिली अशान्ति।

मैंने इसे ठण्डे, गरम व चिकने रूखे पदार्थों में खोजा। खट्टे, मीठे व चर्परे पदार्थों में खोजा, सुगन्धि में खोजा, नृत्यों में खोजा, सिनेमा थियेटरों में खोजा, मधुर गीत वादित्र में खोजा, सुन्दर वस्त्रों में खोजा, बड़े बड़े महलों में खोजा, हीरे पन्ने माणिक में खोजा, स्वर्ण रजत में खोजा, बर्तनों व फर्नीचर में खोजा, स्वादिष्ट पदार्थों में खोजा, क्रीम पाउडर में खोजा, पर फिर भी अशान्त बना हुआ हूं। राजा व चक्रवर्ती बन कर खोजा, दूसरों को दास बनाकर खोजा, एटम बम बनाकर खोजा, चन्द्र सूर्य तक जा जाकर खोजा और कहाँ कहां नहीं खोजा ? सर्वत्र खोजा पर आजतक अशान्त बना हुआ हूं। प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं। मेरा अपना इतिहास है कौन नहीं जानता ?

३ जल में मीन प्यासी

बड़ी विचित्र बात है कि पुरुषार्थ करूं शान्ति का, और मिले अशान्ति ? भोजन खाऊं और पेट न भरे ? परन्तु ऐसा वास्तव में नहीं है। भोजन किया तो सही पर मुंह में डालकर नहीं, शरीर पर पोत कर। कैसे पेट भरे ? पुरुषार्थ किया तो सही, पर जिस दिशा में करना चाहिये था उस दिशा में नहीं। आश्चर्य है इस बात का कि असंतुष्ट रहता हुआ भी आज तक मेरे हृदय में यह बात उत्पन्न न हुई, कि सम्भवतः कहीं न कहीं मेरी भूल रह रही है पुरुषार्थ करने में। क्यों कि पुरुषार्थ का फल भले अल्प हो, पर उल्टा नहीं हुआ करता। रोग शमन न होते हुए भी औषधि को बदल के आज तक न देखा। एक द्वार से मार्ग का पता न चलने पर भी दूसरे द्वार की ओर जाकर न देखा। पूर्व कथित (ट्रायल एण्ड एरर थियोरी) सिद्धान्त पर न चला। फिर क्यों न होती असफलता ?

सिद्धान्त के निरादर से और निकलता ही क्या है ? खोज की, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि को छोड़कर, केवल पूर्व अभ्यास से प्रेरित होकर एक ही दिशा में।

आज महान सौभाग्यवश शान्ति भण्डार वीतरागी गुरु की शरण में आकर भी, क्या इसे न खोज सकूंगा ? नहीं, नहीं, अब इसे अवश्य खोज निकालूंगा। गुरुवर ने वास्तविक वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रयोग द्वारा उसे खोज निकाला है, अपनी जीवन की प्रयोगशाला में बैठ कर। यही मार्ग मुझको बता रहे हैं, कि प्रभु ! इस नई प्रयोगशाला में अर्थात अपने चैतन्य घन स्वरूप में आकर इसे खोज, इन्द्रिय विषय सम्बन्धी भोगों में नहीं, वहां इसका साया भी नहीं है। न मालूम क्यों तुझे वहां ही अपनी शान्ति के होने का भ्रम हो गया है ? सम्भवतः इस कारण से ही हो कि उनके भोग के समय किंचित शान्ति सी प्रतीत होती है। परन्तु भाई वह सच्ची शान्ति नहीं है, अशान्ति को और ही भड़का देने के लिये दावानल है। चार प्रकार की शान्ति का स्वरूप दर्शाते हुए पहले ही इस बात को सिद्ध किया जा चुका है।

"जल में मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हांसी"। एक बार कोई जिज्ञासु गुरु से जाकर पूछने लगा कि प्रभु ! शान्ति दे दीजिये। कहने लगे कि इतनी छोटी सी वस्तु देते हुए क्या मैं अच्छा लगूंगा। जाओ, सामने नदी में एक मगरमच्छ रहता है उससे जाकर कहना, वह देगा तुम्हें-शान्ति। नदी पर गया, मगर को आवाज लगाई, और गुरु का आदेश कह सुनाया। मगर बोला, शान्ति अवश्य दे दूंगा, परन्तु कुछ प्यास लगी है, पहले पानी पिला दो पिछे दूंगा,। पथिक यह बात सुनकर हंस पड़ा और एकाएक निकल पड़ा उसके मुख से वही उपरोक्त वाक्य "जल में मीन प्यासी, मुझे सुन सुन आवे हांसी"। मच्छ बोला, जा यही उपदेश है शान्ति की खोज का। शान्ति में वास करने वाले भो जिज्ञासु ! शान्ति सागर में रहते हुए भी शान्ति की खोज करता फिरता है ! बड़े आश्चर्य की बात है।

४ शान्ति का आवास मैं स्वयं हूं — तू तो स्वयं शान्ति का मन्दिर है, शान्ति तेरा स्वभाव है। जो पुरुषार्थ तू कर रहा है वह भले ही तू शान्ति का समझकर कर रहा है,वास्तव में शान्ति का नहीं है, अशान्ति का है भोगोंकी प्राप्ति के प्रति प्रयत्न करना,इच्छाओं की अग्नि में घी डालना है। क्योंकि भोगों की अधिकाधिक उपलब्धि के द्वारा इच्छाओं में गुणाकार होता देखा जाता है।(देखो प्रवचन नं० ४ दिनांक ३ जुलाई १९५९) अतः इस दिशा से, अर्थात भोग सामग्री या किसी अन्य पदार्थ से अपने उपयोग को हटा कर वहां लगाने से शान्ति की प्राप्ति हो सकती है जहां कि उसका वास है; अर्थात निज स्वभाव में एकाग्र होना ही शान्ति प्राप्ति के प्रति स्वाभाविक पुरुषार्थ है। उसी का कारण व उपाय आगे प्रकरणों में दर्शाया जायेगा।

११

❀ अजीव तत्व ❀

मुज़फ्फरनगर दिनाङ्क १२ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १८

१—मेरी भूल शरीर मे 'मैं' का भास, २—जन्म व मृत्यु का रहस्य, ३—पुनर्जन्म की सिद्धि, ४—उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ५—तीन कोटि के पर पदार्थ।

१ मेरी भूल शरीर में 'मैं' का भास

अहो ! वीतरागी गुरुओं की शरण व उनकी महान करुणा, तथा यह महान अवसर कि जिसके प्रसाद से आज मैं अपनी महिमा जान पाया, स्वयं अपने दर्शन करने को समर्थ हो सका। जिनकी कृपा से आज मेरी भव भव की इच्छा पूर्ण हुई, संताप मिटा, शान्ति के प्रति सच्चा पुरुषार्थ जागृत हुआ, अतुल प्रकाश मिला, और वह बड़ी भूल भासी, जो अनादि काल से बिना किसी से सीखे बराबर पुष्ट होती चली आ रही थी, अर्थात 'मैं' को 'मैं' में न खोज कर अन्य में खोजना-जो स्वयं विचार करने से 'मैं' रूप भासते भी नहीं हैं, जिनमें 'मैं'-कार अर्थात अहं प्रत्यय का नाम भी नहीं है, जो सुख दुख का स्वयं अनुभव भी नहीं कर रहे हैं, जिनमें स्वयं विचार करने की शक्ति भी नहीं है, जो चैतन्य वत दीखते हैं अवश्य पर वास्तव में अचेतन हैं, जिनके पीछे भ्रमता हुआ आज तक अपनी शान्ति को खोजता हुआ मैं अशान्त ही बना रहा। संतप्त व व्याकुल बना रहा

देख तो चेतन ! ज़रा अपनी मूर्खता, स्वयं हंसी आ जायेगी अपने ऊपर। 'मैं' शब्द निकलते ही किस ओर जाना चाहिये था तेरा लक्ष्य, और किस ओर जा रहा है-वह ? उस विचार-शील, अन्तरंग में प्रकाशमान सुख व शान्ति के भण्डार परब्रह्म परमेश्वर स्वरूप, 'अहं प्रत्यय' के तथा चैतन्य तत्व के प्रति न जाकर, तू उलझा जाता है शरीर में, इसके पृथ्वी से मनुष्य पर्यन्त तक के अनेक आकारों में, इसकी इन्द्रियों में, इसके स्त्री पुरुष नपुंसक चिन्हों में तू खोजने लगता है-अपनी महिमा इसमें, अपनी शान्ति इसमें, मान बैठता है इसके जन्म में अपना जन्म, इसकी मृत्यु में अपनी मृत्यु, इस के नाम में अपना नाम, इसके विनाश मे अपना विनाश, इसकी बाधा में अपनी बाधा, इसकी रक्षा में अपनी रक्षा, इसकी भूल में अपनी भूल, इसकी नग्नता में अपनी नग्नता, इसके इष्ट में अपना इष्ट, इसके अनिष्ट में अपना अनिष्ट, इसके नातेदारों को अपना नातेदार, इसके सेवक को अपना सेवक, इसके घातक को अपना घातक, इसके माता पिता को अपना माता पिता, इससे निर्मित धनादि पदार्थों को अपने पदार्थ, इसके कार्य को अपना कार्य, और न मालूम क्या क्या ?

२ जन्म व मृत्यु का रहस्य

मूर्खता की भी कोई हद होती है, भाई ! इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है ? युगों बीत गये, परन्तु आज तक न सम्भला। घर में पुत्र उत्पन्न हुआ, अहा हा ! कितनी अनोखी बात हुई, कितने हर्ष का स्थान हुआ, एक नवीन वस्तु जो बना डाली है-मैंने मानो कि उस की सत्ता ही बना डाली हो। इससे पहले वह लोक में ही न हो, एक महान काम जो किया है मैंने, अपने ही जैसे एक नवीन व्यक्ति का सृजन करके, परन्तु अपनी भांति ही मूर्ख। मूर्खों की टोली में एक

की वृद्धि जो कर दी है मैंने। और यह क्या ? अरे काल ! हाय हाय ! नहीं तू तो चला जा यहाँ से। देख देख ! जरा दूर रह, यहां मत आ। यह तो मेरा पुत्र है, मेरी सृष्टि है, इस पर तो मेरा अधिकार है। तू कहां ले जाना चहाता है इसे, मेरे बिना पूछे ? व्यापार में कुछ लाभ हुआ। अहा हा ! कितना बड़ा काम किया है मैंने, कितना चतुर हूं मैं जो इतना धन ले आया हूं ? मानो कोई नई वस्तु ही बना कर लाया हूं। इससे पहले यह इस जगत में थी ही नहीं। अरे हैं ! यह क्या ? हानी ! अरे रे ! तुझे किसने बुलाया ? जा जा, जब बुलावें तब आना, बिना बुलाये आना सेवक की मूर्खता है। मानो मेरी ही तो आज्ञा चल रही है विश्व पर, मेरे ही आधीन रहना चाहिये सबको, मैं स्वामी जो हूं सबका। मूर्खों को सब ही मूर्ख न दिखाई दें तो क्या दिखाई दें ? और इसी प्रकार कभी हंसता और कभी रोता चला आ रहा हूं न मालूम कब से !

मेरे अन्दर यह आत्मा बोल रही है, मेरी मृत्यु एक दिन आ जायेगी, मुझे चिता पर रख कर फूंक दिया जायेगा, और यह आत्मा उड़ जायेगी- ईसमें से, एक फूंक सी निकल कर। और उस के पश्चात में, मैं तो जला दिया गया ? एक अन्धकार सा, जिसमे कुछ नहीं भासता, कि मैं रहा या विनश गया। नहीं नहीं, मैं तो विनश ही गया । मृत्यु जो आ गई। अब कहां दीखूंगा मैं ? किसे दीखूंगा मैं ? किसे पुकारेंगे लोग अमुक नाम लेकर ? जन्म से पहले कब था मैं ? किसे दीखता था मैं ? कौन पुकारता था मुझे अमुक नाम लेकर ? हां हां, ठीक है, जन्म से पहले मैं था ही नहीं और मृत्यु के पश्चात मैं रहूँगा नहीं। जन्म से मृत्यु तक के लिये, बस इतना ही तो हूं मैं,इतना ही तो है मेरा जीवन। जितनी मौज उड़ाई जाये उड़ाले, जितनी सम्पत्ति खाई जाये खाले, फिर कौन जानता है कि रहे या न रहे। सदा से जी जो कर मरता आ रहा है आज तक इसी प्रकार । सदा से बराबर विनश रहा है तू, सदा से चिता में जलाया जा रहा है तू। पर मजे की बात यह कि 'मैं हूं' यह कहने वाला आज भी तू अपने होने का पोषण कर रहा है। सदा से भोग रहा है तथा खा रहा है इस लोक की सम्पत्ति को, पर आज भी यह ज्यों की त्यों बनी हुई है-इस धरातल पर।

अरे भाई ! यह विचारा है कभी कि यह जिसे तू फूंक सी उड़ जाने वाली आत्मा कह रहा है, जिसे तू अपने अन्दर बोलता हुआ देख रहा है, वही तो तू है चैतन्य ज्योति परम तत्व, अबाध्य व अकाट्य। जिसे तू जलता हुआ देख रहा है, वही तो है 'अजीव तत्व' चैतन्य शून्य, जड़। यदि विश्वास नहीं आता तो अपन को,उस फूंक सी को निकाल कर देख ले-इस ढ़ोल की पोल को। कहाँ चली जाती है इसकी ज्योति व तेज ? आंख होते हुए भी क्यों नहीं देख सकता है यह ? मुंह होते हुए भी क्यों नहीं बोल सकता है यह ? कान होते हुए भी क्यों नहीं सुन सकता है यह ? नाक होते हुए भी क्यों नहीं सूंघ सकता है यह ? अग्नि पर रख देने पर क्यों पीड़ा नहीं होती है इसे ? क्यों चीख पुकार नहीं करता है आज यह ? यह तू ही तो था कि जिसके कारण इसमें ज्योति थी, तेज था, यह तू ही तो था कि जिसके कारण यह देखता था, यह तू ही तो था जिसके कारण यह बोलता था, यह तू ही तो था, जिसके कारण यह सुनता था। यह तू ही तो था जिसके कारण यह सूंघता था, और यह तू ही तो था कि जिसके कारण अग्नि लगने से यह चीखता था। परन्तु विचार तो कर, अपनी बुद्धि के फेर पर। अपने को तो फूंकवत फोकट की वस्तु मान बैठा है, और इसे "मैं" मान बैठा है। अपनी महत्ता भूल कर इसकी महत्ता गिनता है। अपने को जड़ व इसे चैतन्य मानता है।

३ पुनर्जन्म की सिद्धि **भाई ! तू आज तक कभी मरा ही नहीं। मरता तो आज बैठा 'मैं' कहने वाला तू कहां से आता ? यदि विश्वास नहीं आता तो पुनर्जन्म के उन प्रत्यक्ष दृष्टान्तों को देख जो आज के समाचार पत्रों के युग में प्रत्यक्ष पढ़ने, सुनने, देखने व अनुभव करने में आ रहे हैं। अपने को मैं कहने वाला कोई भी व्यक्ति विशेष, पुनर्जन्म के विश्वास न करने वाले वातावरण में उत्पन्न होकर भी, अर्थात मुसलमानों व ईसाइयों में जन्म धारण करके भी क्या आज यह कहता सुना नहीं जाता, कि मैं इससे पहले अमुक देश में, अमुक ग्राम में, अमुक माता पिता का पुत्र या पुत्री, अमुक का पिता या माता, अमुक का पति या स्त्री था। अमुक व्यापार करता था, अमुक यह मेरा ही मकान था। यह मेरी ही दुकान थी, अमुक व्यक्ति को इतना पैसा देना था मुझे। अमुक स्थान पर अमुक वस्तु रखी हुई थी मैंने तथा अन्य भी अनेकों ऐसी बातें जिनकी खोजबीन व परीक्षा कर लेने के पश्चात, उन सर्व बातों की सत्यता प्रकाशित हो जाने के पश्चात, यह कहे बिना न बनेगा कि निःसन्देह अपने को आज 'मैं' कहने वाला यह व्यक्ति वही है जो इस बार जन्मने से पहले इससे पूर्व की अवस्था में भी अपने को 'मैं' ही कहता विद्यमान था। भले ही पहले अन्धविश्वास पर आधारित रहा हो यह, पर आज के युग में तो सौभाग्यवश अन्धविश्वास का विषय नहीं रह गया है। हस्तामलक वत आज प्रत्यक्ष हो रहा है— इस परम सत्य का।**

मुज़फ्फरनगर दिनाङ्क १३ जुलाई १९५९

प्रवचन न० १५

४ उत्पाद व्यय ध्रौव्य **अजीव तत्व की बात चलती है। उसके अन्तर्गत दृष्टान्तों के आधार पर पुनर्जन्म की सिद्धि कर दी गई। अर्थात यह बात दर्शा दी गई कि आज जो जन्मा है वह वही है जो पहले कहीं से मरा है, कोई नया नहीं। और यदि ऐसा ही है तो जन्म लेते समय कौन नई वस्तु जन्मी, और मरण पाते समय कौन पहली वस्तु विनशी ? बिलकुल इसी प्रकार जिस प्रकार कि विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जाती है कि धन लाभ होते कौन नई वस्तु आ गई, और धन हानि होते कौन पूर्व वस्तु विनश गई ? यहां ही थी, यहां ही रही, न कुछ आई न कुछ गई। इसी प्रकार तू भी यहीं था यहीं रहा, न कुछ जन्मा न कुछ मरा। तेरे इस जन्म से या धन लाभ से लोक में न कुछ लाभ हुआ न वृद्धि हुई, और तेरी इस मृत्यु से या धन हानि से लोक में न कुछ हानि आई। 'मैं' कहने वाले जितने व्यक्ति थे अब भी उतने ही रहे। जितनी सम्पत्ति थी अब भी उतनी ही रही। केवल 'मैं' के शरीरों की कुछ आकृति या स्थान मात्र बदले गये, और इसी प्रकार सम्पत्ति के भी रूप व स्थान मात्र बदले।**

पहले कलकत्ते के एक ब्राह्मण कुल में था और आज इस मुज़फ्फरनगर के एक वैश्य कुल में। पहले कभी पशु के शरीर में था अब मनुष्य के शरीर में, पहले कभी चींटी के रूप में था अब मनुष्य के रूप में और इसी प्रकार सर्व रूपों मे सर्व शरीरों में, बराबर क्रम से परिवर्तन करता, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता रहता, आज भी अपने अस्तित्व को तेरा यह 'मैं' प्रत्यक्ष प्रकाशित कर रहा है। और इसी प्रकार यह सम्पत्ति भी, पहले विष्टा रूप थी और आज अन्न रूप, पहले पृथ्वी थी और आज स्वर्ण रूप, पहले पत्थर रूप थी और आज आपकी सुन्दर अंगूठी रूप, पहले किसी के पास थी और अब आपके पास, पहले पशुओं की भोज्य थी और आज आपकी, और इसी प्रकार अनेकों रूपों में परि-

वर्तन करती, एक स्थान से अन्य अन्य स्थान पर जा जा कर परिभ्रमण करती, आज भी यह किसी भी रूप में अपने अस्तित्व को सिद्ध कर रही है।

और इसी प्रकार यह शरीर भी तो पहले विष्टा रूप था, फिर मिट्टी हो गया, अन्न बन बैठा, किसी के द्वारा भक्षण किये जाने पर उस ही शरीर के अंगोपांग रूप से परिवर्तित हो चमड़ा हड्डी बन गया, जल कर राख हो गया, और राख फिर पृथवी बन गई। या उस भोज्य का ही कुछ भाग विष्टा बनकर फिर पीछे मिट्टी बन गया अथवा तो माता पिता के द्वारा ग्रहण किया गया वह भोजन किसी अन्य बालक के शरीर रूप बन गया और एक दिन अकस्मात प्रगट होकर आश्चर्य में डाल दिया उसने। बताईये तो क्या जन्मा क्या मरा ? शरीर का पदार्थ भी तो कोई नया उत्पन्न हुआ नहीं और न ही विनशा, रूप से रूपान्तर में परिवर्तित होता तथा स्थान से स्थानान्तर होता यह वही तो है जो पहले था, न कुछ विनशा न कुछ उपजा।

यदि कहीं इतनी योग्यता हुई होती कि इस चैतन्य के तथा इस शरीर के अंगस्वरूप इन पृथ्वी जल आदि तत्वों के, प्रत्येक क्षण में होने वाले परिवर्तन का बराबर निरीक्षण कर सकता, तो यह स्पष्ट प्रतिभास हो जाता कि इस पृथ्वी का एक कण कोंपल में आगया, और देखो वही अब अन्न में बैठा हुआ है, और देखो अब इस शरीर में बैठा हुआ अपने अस्तित्व को बराबर दर्शा रहा है। अथवा यह 'मैं' कहने वाला व्यक्ति जो आज कुत्ते के शरीर में बोलता दीख रहा है, देखो वह उड़ा जा रहा है आकाश में पूर्व की दिशा को, यह देखो इस कोंपल में आ बैठा, और ओह ! कितना बड़ा रूप धारण कर यह देखो इस वृक्ष में बैठा है। अथवा तो इस माता के गर्भ में प्रवेश पा गया, और देखो आज यह इस तेरे शरीर में बैठा अपने को उसी 'मैं' शब्द के द्वारा पुकारता हुआ अपने लम्बे अस्तित्व का परिचय दे रहा है। तब यह भ्रम न रह पाता मुझे, जो आज है।

भले प्रत्यक्ष रूप से न सही पर सौभाग्यवश आज भी परोक्ष रुप से, तर्क व अनुमान के आधार पर ये सब उपरोक्त बातें प्रत्यक्षवत ही हो रही है, और अपनी सत्यता को सिद्ध कर रही हैं। प्रभो ! तुझे बुद्धि मिली है। विचार व अनुभव के आधार पर किसी छिपे हुए रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न कर। यह सर्व तथ्य परोक्ष हों, ऐसा भी नहीं है। मेरे गुरुवर तथा योगीजनों को इसका प्रत्यक्ष भी हुआ है, जिसके आधार पर कि मुझे सम्बोधने के लिये तथा मेरी भूल दूर हो जाये इस अभिप्राय से परम करुणा बुद्धि पूर्वक, लिख गये हैं वे इन शास्त्रों में। और इसी लिये मेरे अनुमान व तर्क की साक्षी देने वाला यह आगम भी उस तथ्य की सत्यता को सिद्ध कर रहा है।

उपरोक्त सर्व कथन पर से सिद्धान्त निकला कि:—

१ लोक में दो जाति के पदार्थ हैं। एक चैतन्य दूसरा अचैतन्य (जड़) एक विचारने व सुख दुःख वेदन करने की शक्ति रखने वाला, और दूसरा इन शक्तियों से रहित। एक अमूर्तिक तथा दूसरा मूर्तीक। एक इन्द्रियों से देखा जाने व जाना जाने योग्य तथा दूसरा इन्द्रियों से अगोचर। चेतन व अमूर्तिक तत्व का नाम जीव या (सोल) है और दूसरे जड़ व मूर्तीक तत्त्व का नाम पुद्गल या (मैटर) है।

२ दोनों ही सदा से हैं और सदा ही रहेंगे, न नये पदा होते हैं और न कभी विनशते या अपनी सत्ता खोते हैं।

३ दोनों ही अपनी अपनी अवस्था में अपने अपने में बराबर बदल रहे हैं, अर्थात उनमें सदा नई नई

अवस्थायें उत्पन्न होती रहती हैं, तथा पुरानी अवस्थायें विनशती रहती हैं, अर्थात वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों अंशों का पिण्ड है। वे दोनों ही एक स्थान से अन्य स्थान को प्राप्त होते रहते हैं।

४ अवस्था बदलते रहते भी जीव सदा जीव ही बना रहता है और पुद्गल सदा पुद्गल ही।

५ जीव तत्व रूप 'अहं प्रत्यय' के द्वारा सदा सुख दुःख का वेदन होता रहता है, और पुद्गल के द्वारा शरीर का निर्माण होता है।

६ शरीर और शरीरधारी के सम्बन्ध में जकड़े हुए यह दोनों दूध और पानी वत एकमेक हो कर रहते हैं।

७ एकमेक होकर रहते हुए भी जीव कभी पुद्गल और पुद्गल कभी जीव नहीं बन सकता।

यह उपरोक्त सिद्धांत शान्ति पथ का प्राण है। बिना इसके मुझे शान्ति पा लेना असम्भव है, जैसा कि अगले प्रकरण में सिद्ध किया जायेगा। अतः भो चैतन्य ! अपनी भूल सुधारने के लिये इस रहस्य को सुन। तर्क, अनुमान, अनुभव व आगम के आधार पर उसका निर्णय कर और अपनी क्षण क्षण की विचारणाओं में उसे अवकाश दे।

दो प्रकरणों में बताये गए, जीव अजीव तत्व को जानने का क्या प्रयोजन है? एक बात यह भी इस स्थान पर स्पष्ट कर देनी योग्य है। इस बात का प्रयोजन मेरी उस भूल को दर्शाना है कि जिसके कारण मैं बराबर शान्ति का पुरुषार्थ समझते हुए अशान्ति का पुरुषार्थ कर रहा हूँ, क्योंकि जैसा कि पहले दर्शा दिया गया है, मैं शान्ति को स्वयं में न खोज कर अपने से पृथक किसी पदार्थ में खोज रहा हूं, इसलिये यहां स्वपदार्थ व परपदार्थ का निर्णय कर लेना आवश्यक है।

१२
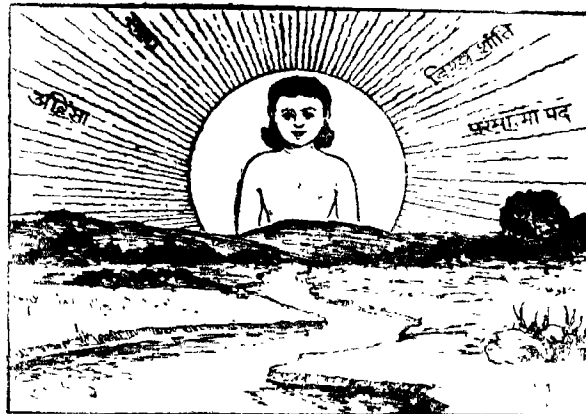
❀ स्व पर भेद विज्ञान ❀

सहारनपुर—दिनाँक २३ सितम्बर १९६१

प्रवचन न० १६

१ तीन कोटि के पदार्थ २ राग पर पदार्थ है ३ अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतंत्रता का भ्रम, ४ षट कारकी पृथकत्व, ५ साझे की खेती ६ निमित्त की कथञ्चित सत्यता, ७ निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता, ८ संकुचित दृष्टि से निमित्त के ग्रहण का निषेध ९ भेद-विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टा पना।

१ तीन कोटी के परपदार्थ

अब तक दो तत्व बताये गये - जीव और अजीव। इनमें से कौन स्वतत्व है और कौन परतत्व यह बात खोजनी है। यह स्पष्ट है कि स्व का अर्थ "मैं" है, और "मैं" चेतन है, इसलिये स्वतत्व जीव ही हो सकता है, अजीव कदापि नहीं। इसलिये समस्त अजीव तो पर की कोटि में चला ही गया, परन्तु कुछ और विशेष भी जान लिया जाये तो अच्छा है। यह अजीव तत्व दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। एक वह अजीव जो दूध पानी वत् मेरे साथ इस प्रकार मिला पड़ा है कि उस मिश्रण में जीव कौन व अजीव कौन यह विवेक भी स्थूल दृष्टि से होना असम्भव है, और वह है यह बाहर का स्थूल शरीर तथा एक अन्य सूक्ष्म शरीर जिसे लिंग शरीर या कार्माण शरीर भी कहते हैं, जिसका कथन आस्रव व बन्ध तत्व के अन्तर्गत करने से आयेगा। यह शरीर स्थूल इन्द्रिय ज्ञान के गम्य नहीं हो सकता, विशेष प्रत्यक्षज्ञानी योगीजन ही उसका साक्षात कर सकते हैं। तथा दूसरा वह अजीव जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा मुझसे या मेरे शरीर से पृथक पड़ा हुआ दीख रहा है, जैसे वस्त्र, धन व घर आदि।

अब लीजिये जीव तत्व। जीव तत्व यद्यपि स्वपदार्थ कहा गया है, परन्तु सर्व ही जीव स्वपदार्थ कहे जा सकें ऐसा नहीं है। अतः जिस जीव-विशेष में चैतन्य के अतिरिक्त इस "मैं" पने का लक्षण भी घटित होता हो वह एक जीव तो विशेष स्वपदार्थ है, और केवल चैतन्य लक्षण वाले शेष सर्व जीव परपदार्थ हैं। इसमें तो किसी संशय को अवकाश नहीं, परन्तु इसका भी एक विशेष अंश ऐसा है जिसे यहां परपदार्थ रूप से दिखाना अभीष्ट है। साधारण दृष्टि से तो वह अंश स्वपदार्थ रूप ही दिखाई देता है, क्योंकि वह स्वयं मेरी ही कोई अवस्था विशेष है, जो भले ही उपरोक्त परपदार्थों का आश्रय लेकर उत्पन्न होता हो, पर है चैतन्यरूप, जड़ रूप नहीं। मेरा संकेत अपनी रागद्वेषादि अंतरंग प्रवृत्ति की ओर है। इस बात का स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा।

यहां तो इतना ही बताना अभीष्ट है कि—स्थूलदृष्टि से दीखने वाले भिन्न क्षेत्र में स्थित

जड़ पदार्थ धनादिक व चेतन पदार्थ पुत्र आदिक, कुछ सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले एक क्षेत्र में स्थित जड़पदार्थ शरीर व कर्म आदिक और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से दीखने वाले अत्यन्त निकट व तन्मय रूप से प्रकाशमान रागादिक विकारी चैतन्य भाव - ये तीनों पर पदार्थ रूप से ग्रहण करने चाहियें।

२ राग पर पदार्थ है

धन कुटुम्बादिक तथा शरीर इन पदार्थों को पर कहना तो बहुत स्थूल बात है, क्योंकि बिना परिश्रम के ही समझ में आ जाती है। चेतन व इन द्रव्यों की जाति में ही भेद है। यह तीन काल में भी एक नहीं हो सकते। शरीरादि को जीव कहना तो स्पष्टतः असत्यार्थ है। अध्यात्मवादी कभी भी यह कहना स्वीकार नहीं कर सकता, परन्तु हम तो तुम्हें इससे भी कहीं आगे ले जाना चाहते हैं, वहां जहां कि अध्यात्म का सूक्ष्म रहस्य छिपा है।

त्रिकाली भिन्न सत्ताधारी द्रव्यों में पृथकता देखना स्थूल अध्यात्म है और एक ही पदार्थ के दो क्षणिक भावों में पृथकता देखना सूक्ष्म अध्यात्म है। पहिले का विषय द्रव्य है और दूसरे का पर्याय अर्थात द्रव्य की अवस्था। पहिला द्रव्यार्थिक नय का विषय है और दूसरा पर्यायार्थिक नय का। यह दृष्टि पदार्थ के अपने अन्दर में पड़ी उस सूक्ष्म सन्धि को देखती है जो लौकिक स्थूल दृष्टि में आनी असंम्भव है। प्रज्ञा छैनी के द्वारा ही उस सूक्ष्म सन्धि का साक्षात्कार किया जा सकता है।

पदार्थ का स्वभाव अर्थात पारिणामिक भाव को लक्ष्य में लेकर पदार्थ का विचार करने पर ही यह रहस्य समझा जा सकता है, उसकी शुद्ध व अशुद्ध व्यञ्जन पर्यायों को लक्ष्य में लेने से नहीं। अतः सूक्ष्म अध्यात्म का परिचय पाने के लिये अन्तर में स्थिर दृष्टि करने की आवश्यकता है। चञ्चल दृष्टि से उसका प्रवेश नहीं, क्योंकि प्रसंग आने पर वह दृष्टि अपने लक्ष्य से बहक जाती है। 'ज्ञान से तन्मय होने के कारण आत्मा का काम-जानने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है' इस बात को स्वीकार कर लेने पर भी, 'घट बनाना कुम्हार का काम नहीं' जब ऐसा समझाने का अवसर आता है, तो तुरन्त वह दृष्टि अपने पूर्व के लक्ष्य पर से बहक कर इस चिन्ता में पड़ जाती है कि कुम्हार के बनाये बिना घट बना कैसे ?

अर्जुन को लक्ष्य साधते समय जिस प्रकार कौवे की आंख के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता था, भले ही वहां वृक्षादिक अनेकों पदार्थ पड़े हों, इसी प्रकार पदार्थ का लक्ष्य साधते हुए तुम्हें भी उसके पारिणामिक भाव या स्वभाव के अतिरिक्त कुछ अन्य दिखाई नहीं देना चाहिये, भले ही वहां निमित्त नैमित्तिक अनेकों संयोग पड़े हों। ऐसे स्थिर लक्ष्य में निमित्त नैमित्तिक भाव भी अभेद व अखण्ड वस्तु के अपने अन्दर ही देखा जाता है, जैसा कि ग्रन्थाधिराज समयसार की १००वीं गाथा की टीका करते समय भगवत अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि 'ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी घट बना नहीं सकता। उपादान रूप से तो नहीं पर निमित्तरूप से भी नहीं बना सकता। अज्ञानी भी निमित्त रूप से यदि कुछ कर सकता है तो केवल घट बनाने का विकल्प कर सकता है, इसके आगे कुछ नहीं। अतः इस सूक्ष्म दृष्टि को समझने के लिये अब लक्ष्य को स्थिर कर।

इन्द्रिय अग्राह्य चेतन और इन्द्रिय ग्राह्य जड़ दोनों ही द्रव्यों में दो प्रकार के क्षणिक भाव या अवस्था विशेष देखने को मिलती है—स्वभाव अवस्था तथा उसके विपरीत विभाव अवस्था। जिसमें किसी का मेल या संयोग न पाया जाये वह स्वभाव भाव है, और जिसमें किसी प्रकार भी

अन्य का मेल या संयोग पाया जाये वह विभाव भाव है । अकेला परमाणु जो इन्द्रिय के द्वारा दृष्ट नहीं हो सकता, उसके स्पर्श वर्ण व गन्ध आदि गण जड़ पदार्थ का स्वभाव भाव है और जो ये सम्पूर्ण दृष्ट स्थूल पदार्थ हैं, उनके स्पर्श, वर्ण व गन्ध आदि गुण उनके विभाव भाव हैं, क्योंकि अनेकों सूक्ष्म परमाणुओं का संयोग हुए बिना उनका निर्माण होता नहीं । इसी प्रकार लोक शिखर पर परम धाम में विराजमान नित्य निरञ्जन व शरीर रहित निराकार सिद्ध भगवान या मुक्त आत्मा तथा उसके सर्वज्ञत्व आदि गुण जीव के स्वभाव भाव हैं, और ये सब शरीरधारी संसारी जीव व उनके क्रोधादि गुण जीव के विभाव भाव हैं । 'स्वभाव भाव' निज भाव व स्व-भाव कहलाते हैं और 'विभाव भाव' पर भाव कहलाते हैं । इस प्रकार एक ही द्रव्य के अपने भावों में ही स्व व पर का विभाजन करके द्वैत दर्शाना सूक्ष्म दृष्टि का कार्य है ।

पर्याय या अवस्था कभी द्रव्य से जुदी होकर पृथक नहीं रहती, द्रव्य स्वयं प्रतिक्षण बदलता हुआ अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है । अतः इक स्व व पर भाव या अवस्था विशेषों से तन्मय अखण्ड द्रव्य में भी किन्चित विजातीयता का आभास होने लगता है । यहां जड़ द्रव्यको छोड़ कर केवल जीव द्रव्य में ही उस विजातीयता की सिद्धि करते हैं । तहां जड़ द्रव्य मे यथा योग्य रूप से स्वयं लगा लेना । जीव द्रव्य एक विचित्र प्रकार का वस्तुभूत या सत्ताधारी अमूर्तीक पदार्थ है, कल्पना मात्र हवा नहीं है । वह अपने को भी जान सकता है और पर को भी । जानना मात्र ही हुआ होता तो कोई हर्ज न हुआ होता । यहां जानने के साथ साथ कुछ और भाव भी पैदा होता है । अपने को जानते हुए तो इसको स्व पर दोनों ही पदार्थ दिखाई देते हैं,क्योंकि ज्ञान दर्पण के समान है जिस प्रकार दर्पण को देखते समय दर्पण तथा अन्य पदार्थों के प्रतिबिंब सब ही दिखाई देते हैं उसी प्रकार ज्ञान के सम्बन्ध में भी समझना । किन्तु परजानते हुए इसे निज रूप दिखाई नहीं देता, अपने को जानते समय इसका भाव अपने साथ तन्मय होता है और पर को जानते हुए पर के साथ तन्मय होता है । तन्मय का अर्थ यहां उस पदार्थ रुप बन जाना नहीं क्योंकि चेतन का जड़ बन जाना तीन काल में भी सम्भव नहीं है, अपने को भूलकर केवल उस पदार्थ को ही देखना, पर पदार्थ के साथ तन्मयता कहलाती है । इस कारण चेतन भाव व जड़ भाव दोनों देखे जा सकते हैं । बात बड़ी विचित्र है, पर दृष्टि विशेष से अवश्य समझी जा सकती है ।

१. जीव पदार्थ में ज्ञान गुण ही प्रमुख है, अन्य सब उस का विस्तार है । चेतन के सब गुण चेतन हैं अर्थात ज्ञानात्मक व अनुभवात्मक हैं । ज्ञान तो ज्ञान है ही, श्रद्धा भी ज्ञानात्मक है और चारित्र या प्रवृति भी, क्योंकि ज्ञान के संशय रहित रूपको श्रद्धा कहते हैं और उसी के स्वभाव स्थित रूप को चारित्र कहते हैं । शान्ति भी ज्ञानात्मक है क्योंकि अनुभव करना ज्ञान का ही नाम है । इसी कारण आत्मा चिप्तिड कहा जाता है । या यों कहिये कि ज्ञान मात्र ही जीव है । अतः ज्ञान के कार्यों को ही ज्ञान का विषय बनाना अभीष्ट है । यह बात न भूलना कि यह सूक्ष्म दृष्टि पर्याय की क्षणिक सत्ता को लक्ष्य में लेकर ही चली है, द्रव्य की ध्रुव सत्ता को नहीं ।

यद्यपि ज्ञान का कार्य जानना है, पर उसके साथ कुछ और भाव भी संलग्न है । जानना दो प्रकार का होता है - एक केवल जानना और दूसरा कल्पना विशेष के साथ जानना । अजायब घर में रखी वस्तुओं को जानना केवल जानने का उदाहरण है । अथवा राह चलते किसी भी साधारण

व्यक्ति को जानना केवल जानने का उदाहरण है, और घर में पड़ी वस्तुओं को अथवा अपने पुत्र को जानना कल्पना सहित जानने का उदाहरण है। अजायब घर में कोई वस्तु इष्ट अनिष्ट या तेरी मेरी नहीं ; पर घर की वस्तुओं में कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट, कोई मेरी है और कोई तेरी। इसी प्रकार राह में चलता हुआ साधारण व्यक्ति मेरे लिये अच्छा है न बुरा, शत्रु है न मित्र; परन्तु अपना पुत्र मेरे लिये अच्छा है, मेरा अपना है, मेरी सेवा करने वाला है। अजायब घर की वस्तुयें न ग्राह्य है, न त्याज्य, न बनाने योग्य हैं और न बिगाड़ने योग्य; परन्तु घर की वस्तुओं में कोई ग्राह्य है और कोई त्याज्य, कोई बनाने योग्य है और कोई बिगाड़ने योग्य। इसी प्रकार राह चलता व्यक्ति न प्रेम किया जाने योग्य है और न द्वेष, न बाधा पहुंचाया जाने योग्य है और न सहायता किया जाने योग्य ; परन्तु अपना पुत्र प्रेम किया जाने योग्य है और द्वेष किया जाने के अयोग्य है, बाधा पहुंचाये जाने योग्य नहीं है, सहायता किया जाने योग्य है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना।

यहां अजायब घर की वस्तुओं का जानना अथवा राह चलते व्यक्ति को जानना तो कर्ता-पने या भोक्तापने की कल्पनाओं से अतीत केवल जानना है, और घर की वस्तुओं का जानना अथवा अपने पुत्र को जानना कर्ता भोक्ता की कल्पनाओं सहित होने के कारण जानने के साथ साथ कुछ और भी है। ज्ञान की पहली जाति के कार्य को 'ज्ञान धारा' कहते हैं और दूसरी जाति के कार्य को 'कर्म-धारा' कहा गया है। इन पारिभाषिक शब्दों को याद रखना, क्योंकि अगले प्रकरणों में इनका अधिक विस्तार आने वाला है। ज्ञानधारा—ज्ञातादृष्टा भाव रूप है और कर्मधारा—क्रोधादि विकारों रूप। ज्ञानधारा ज्ञान के पारिणामिकभाव या स्वभाव के साथ तन्मय है अर्थात उस के बिल्कुल अनुरूप है, इसी लिये यह चेतन भाव है ; और कर्मधारा—पर पदार्थों के करने धरने के विकल्पों सहित होने के कारण ज्ञान के पारिणामिकभाव या स्वभाव के साथ तन्मय नहीं है अर्थात उस के बिल्कुल अनुरूप नहीं है, अतः पर भाव है चेतन भाव से अन्य है, और इसी लिये वह अचेतन या जड़ भाव है।

इन दोनों जाति की क्रियाओं में ज्ञान एक समय एक ही कार्य कर सकता है, क्योंकि उपयोग विशेष अर्थात जानना विशेष ज्ञान की एक क्षणिक अवस्था है। पहिले कुछ और जानता है, पीछे कुछ और, पहले कुछ और तरह से जानता है पीछे कुछ और तरह से। एक ही क्षण एक ही ज्ञान की दोनों अवस्थायें नहीं हो सकतीं। इस लिये 'ज्ञानधारा' के सद्भाव में 'कर्मधारा' और 'कर्मधारा' के सद्भाव में 'ज्ञानधारा' होनी असम्भव है। अर्थात क्रोध व रागादि विभाव भावों के समय ज्ञातादृष्टापने की साम्यता और साम्यता के समय क्रोध व रागादि विभाव भाव होने असम्भव हैं।

ज्ञानधारा से तन्मय चेतन 'ज्ञाता' कहलाता है और कर्मधारा से तन्मय चेतन 'कर्ता' कहलाता है। इसका कारण भी यही है कि ज्ञान का अपने जानन स्वभाव के अनुरूप कार्य अथवा पर्याय ही ज्ञान की जाति का कार्य या पर्याय कहा जा सकता है। कर्ताभोक्तापने की कल्पनायें ज्ञान के पारिणामिक भाव या स्वभाव की जाति की नहीं होनेके कारण, उन्हें ज्ञान की जाति का कार्य या पर्याय नहीं कहा जा सकता। ज्ञान भाव से तन्मय ज्ञान का कार्य ज्ञान कहलाता है और कल्पनाओं या विकल्पों से तन्मय ज्ञान का कार्य विकल्प या राग कहलाता है। इस प्रकार एक ज्ञान के दो भेद कर दिये गये—एक ज्ञान व दूसरा राग।

पहिले भेद अर्थात ज्ञानधारा वाली क्रिया में तो 'मैं ज्ञाता इस ज्ञेय को जानता हूं' ऐसा

भाव बना रहता है, परन्तु कर्मधारा में ज्ञान स्वयं ज्ञेय के साथ तन्मय होकर यह भूल जाता है कि मैं जानने वाला भी कोई हूं। उसको ज्ञेय पदार्थ या उसकी अवस्था ही दीखती है, ज्ञान-ज्ञेय का भेद नहीं रहता। यद्यपि वह ज्ञेयसम्बन्धी विकल्प से तन्मय है, ज्ञेय पदार्थ से नहीं, परन्तु 'यह विकल्प है और ज्ञेय मुझसे भिन्न है' ऐसा भी भान उस समय नहीं होता है। स्व पर का विवेक सर्वथा लुप्त हो जाता है। इसलिये उस ज्ञानको उपचार से यदि ज्ञेय के साथ तन्मय कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। अतः ज्ञानधारा स्व पदार्थ के साथ तन्मय होने के कारण स्व-भाव है और कर्मधारा पर पदार्थ के साथ तन्मय होने के कारण पर-भाव है।

२. अन्य पकार से भी इन दो भावों में स्व व पर का विवेक किया जा सकता है। जब मैं अपने अन्दर में डुबकी लगाकर उस चेतना मे रागादि भावों को खोजने के लिये जाता हूं तो वहां उनका अभाव पाता हूं, और जब अन्य पदार्थों में डुबकी लगाकर उन्हें खोजने जाता हूं तो वे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। बताइये उन्हें किसके कहें— चेतन के या अन्य पदार्थों के ? जिस वस्तु में जिसकी सत्ता दिखाई दे, उसी वस्तु की उसे कही जा सकती है, दूसरे की कैसे कहें। अतः रागादि भाव चेतन या जीव के न कह कर जड़ या ज्ञेय पदार्थों के कहे जाते हैं।

३. अग्नि में डालने से लोहा लाल हो गया, अग्नि रूप हो गया। लोहे में रहने वाली यह अग्नि वास्तव में लोहे की नहीं है, क्योंकि वैसा गर्म व लालपना लोहे का स्वभाव नहीं है। अतः वह लाली अग्नि की ही कही जाती है। इसी प्रकार आग पर रखा हुआ जल गर्म होगया, जल के अन्दर रहने वाली गरमी जल की नहीं है, क्योंकि वैसा गरमपना उस का स्वभाव नहीं है। अतः वह गरमी जल की न कही जाकर अग्नि की कही जाती है।

किसी की कोई धरोहर मेरे पास रखी है, कुछ दिन के पश्चात् वह ले जाता है। जब वह ले गया तब तो उसकी है ही, पर जब तक मेरे पास रखी रही तब तक भी क्या वह मेरी कही जा सकती है ? भले ही मेरे सारे जीवन में मेरे पास रखी रहे, पर मेरी नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार जो रागादिक क्षण भर मेरे पास रहकर चले जाते हैं वे मेरे कैसे कहे जा सकते हैं ? एक राग आया चला गया, फिर दूसरा राग आया चला गया, और इसी तरह यह राग सन्तति भले ही अनादि काल से मेरे साथ चली आ रही हो पर मेरी नहीं कही जा सकती। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक बैंक में अनेकों व्यक्तियों का पैसा आता रहता है और जाता रहता है पर वह पैसा वास्तव में बैंक का नहीं कहा जा सकता, उपचार मात्र से ही उस का कहा जाता है।

४. सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह पता चलता है कि राग की व्याप्ति चेतन के साथ नहीं है, बल्कि कर्मों के साथ है। जिस के होने पर जो हो और जिसके न होने पर जो न हो उसे व्याप्ति कहते हैं। धुंआ होने पर अग्नि होती ही है और अग्नि न होने पर धुंआ होता ही नहीं है। इस दृष्टांत में तो एक तरफा व्याप्ति है, क्योंकि धुंआ होने पर अग्नि होती ही है परन्तु अग्नि होने पर धुंआ हो भी अथवा न भी हो। इसी प्रकार जीव व राग में एक तरफा व्याप्ति है, क्योंकि राग होने पर तो जीव होता ही है परन्तु जीव होने पर राग हो भी अथवा न भी हो। हां जीव न होने पर राग सर्वथा नहीं होता। परन्तु मोहनीय कर्म व राग में दो तरफा की व्याप्ति है, क्योंकि जिस जिस क्षेत्र में व जिस जिस काल में वह कर्म होता है तिस तिस क्षेत्र में व तिस तिस काल में राग होता ही है, और जिस जिस क्षेत्र में व जिस

जिस काल में वह कर्म नहीं होता है तिस तिस क्षेत्र में व तिस तिस काल में राग होता ही नहीं है, भले ही वहां जीव विद्यमान हो। जैसे मोह कर्म सहित संसारी जीव में राग होता ही है और मोह कर्म रहित मुक्त जीव में वह होता ही नहीं है। इस व्याप्ति पर से ही यह निर्णय किया गया है कि रागादिक को जीव के न कह कर कर्म के कहना चाहिये।

५ इस का यह तात्पर्य नहीं है कि रागादिक पाषाण के रूप वत जड़ कर्मों की कोई अवस्था है। वह है तो चेतन की ही अवस्था परन्तु इस व्याप्ति के कारण, कारण में कार्य का उपचार करके रागादिक को कर्मों का कह दिया जाता है। जिस दृष्टि में चेतन चेतन मात्र ही हो, उस दृष्टि में राग को चेतन का नहीं कहा जा सकता। यह दृष्टि की विचित्रता है। वास्तव में रागादिक चमगादड़ वत है। जिस प्रकार चमगादड़ चौपाया होने के कारण पशु तथा पंख होने के कारण परिन्दा भी है, उसी प्रकार रागादिक चेतन के साथ व्याप्त होने के कारण चेतन और कर्मों के साथ व्याप्त होने के कारण जड़ हैं। जिस प्रकार चमगादड़ की क्रिया अधिकतर परिन्दों से मेल खाने के कारण उसे परिन्दा ही कहने में आता है पशु नहीं, उसी प्रकार रागादिक की अधिक व्याप्ति कर्मों के साथ होने के कारण इन्हें कर्मों का ही कहा जाता है चेतन का नहीं।

जिस खाते में स्व व पर इन दो व्यक्तियों के ही हिसाब पड़े हों, तीसरा कोई हिसाब ही न हो, वहां इस चमगादड़ राग को किस के हिसाब में डाले। शुद्ध चेतन स्वभाव स्व पदार्थ है और कर्म पर पदार्थ। अशुद्ध चेतन का इस दृष्टि में कोई हिसाब ही नहीं है। फिर आप ही बताईये कि इन रागादिक को किस के नाम लिखें ? जिसके साथ अधिक मित्रता है उस के ही नाम लिखा जाना उचित है। अतः रागादिक को कर्मों के हिसाब में ही लिखा जा सकता है चेतन के हिसाब में नहीं।

इस प्रकार यथायोग्य रूप से अनेक प्रकार इन रागादिक भावों रूप इस कर्मधारा को जीव का नहीं कहा जा सकता। यही विशुद्ध अध्यात्म का भेद विज्ञान है, जिसका ग्रहण अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि में ही होना सम्भव है। एक ज्ञान में ही विवक्षा वश स्व व पर का द्वैत उत्पन्न कराया गया है। साधारण दृष्टि में तो स्व व पर की कल्पना अत्यन्त स्थूल है, पर यहां स्व पर की व्याख्या अत्यन्त सूक्ष्म है। पहिले वाली स्थूल दृष्टि तो द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि है, पर यहां पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नय का विषय है जिस की अपेक्षा जो बालक है उसे बूढ़ा नहीं कहा जा सकता और जो बूढ़ा है उसे बालक नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि में बालक व बूढ़ा पृथक पृथक दो स्वतन्त्र व्यक्ति हैं। ज्ञानधारा के साथ तन्मय रहने वाला 'ज्ञाता' व्यक्ति कोई और है, और कर्म धाराके साथ तन्मय रहने वाला 'कर्ता' व्यक्ति कोई और है। इसीलिये कहा है कि जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं और जो कर्ता है वह ज्ञाता नहीं।

इस प्रकार यहां इस प्रकरण मे भली भांति स्व पर का सूक्ष्म विवेक जागृत कराया गया। यद्यपि विषय कुछ कठिन सा है पर भाई ! इसके समझे बिना छुटकारा नहीं है। आगे आने वाले सारे मार्ग का मूल आधार यही भेद विज्ञान है। अन्तरंग जीवन की वास्तविकता इसके बिना होनी असम्भव है। अतः जिस किसी प्रकार भी इसे तू अवश्य समझ, और जीवन के २४ घन्टों की प्रवृत्तियों में इस सिद्धान्त को विचारणा का विषय बनाने का प्रयत्न कर। शान्ति पथ का यह प्राण है। इसके बिना सम्पूर्ण धार्मिक अनुष्ठान निष्फल हैं।

मुज़फ़्फ़रनगर— दिनांक १४ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० १७

३ अन्य की परतन्त्रता में अपनी स्वतन्त्रता का भ्रम

शान्ति पथ की सिद्धि के अर्थ जीव अजीव तत्वों का वर्णन करके, अगले तत्वों का विवेचन करने से भी पहले, यहां स्व व पर में विवेक कराया जा रहा है। क्योंकि स्व व पर का निर्णय किये बिना शान्ति की प्राप्ति मात्र स्वप्न है। क्योंकि मेरी शान्ति स्व में अर्थात मेरे में ही है पर में नहीं। ऊपर तीन कोटि के पर पदार्थ बताये गये जिनमें दो कोटि के पर पदार्थ तो कारण रूप द्रव्य हैं और तीसरी कोटि का पर पदार्थ उनके किसी संयोग का कार्य। उनके संयोग से मुझ में यह राग द्वेषादि रूप कार्य कैसे होता है, यह प्रश्न उपस्थित है? इसी का उत्तर आज चलेगा।

अपने आज के विकल्पात्मक संसार पर दृष्टिपात करके यदि मैं इसका विश्लेषण करूं तो स्पष्टतय: यह बात ध्यान में आ जाती है कि क्यों और किस प्रकार मैं आज प्रति क्षण नये नये विचार व विकल्प उठा उठा कर उनमें स्वयं फंसा हुआ व्याकुल बना रहता हूं। इन विकल्पों का मूल वास्तव में शरीर है, क्योंकि जितने भी विकल्प हो रहे हैं वे सब इसकी इष्टता के लिये हो रहे हैं। मेरे आज के विकल्पों में मुख्य धनोपार्जन का विकल्प है, धनोपार्जन की इच्छा केवल पंचेन्द्रिय विषयों की पूर्ति के लिये है और पंचेन्द्रियों का आधार शरीर है। इसी प्रकार धनोपार्जन कुटुम्ब पालने के अर्थ भी है, और कुटुम्ब पालन भी इसी लिये है कि उनको मैं इस शरीर का रक्षक व वृद्धावस्था में इसका सहायक मानता हूं। इन विषयों में, कुटुम्ब में, या धनोपार्जन में बाधा पड़ जाने पर मुझे चिन्ता होती है। उस चिन्ता की निवृत्ति के लिये मैं और और विकल्प करता हूं, और इस प्रकार एक जाल में उलझ जाता हूं। ज्यों ज्यों इस जाल से निकलने का प्रयत्न करता हूं, त्यों त्यों मकड़ी के जाले में उलझी मक्खी वत अधिक अधिक उलझता जाता हूं। इन विकल्पों से निवृत्ति पाने की इच्छा रखते हुए भी मैं इनसे क्यों नहीं निकल पा रहा हूं। इसका कारण ही नीचे बताया जाता है।

इसका कारण है स्व पर पदार्थों का मिश्रण, मिश्रण भी एक प्रकार से नहीं, दो प्रकार से। एक तो फिज़ीकल अर्थात प्रादेशिक रूप से, क्षेत्र रूप से, और दूसरा मेंटल अर्थात मानसिक रूप से। यहां पर प्रादेशिक मिश्रण की तो बात छोड़ दीजिये क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। मेंटल या मानसिक मिश्रण की बात विचारणीय है, क्योंकि प्रादेशिक मिश्रण मेरे लिये विशेष बाधाकारक नहीं है, मानसिक मिश्रण ही मुख्य बाधक है, जोकि मेरी शान्ति को घात रहा है।

इस मानसिक मिश्रण का आधार मेरे अन्दर में पड़ा एक विश्वास है जिसके आधार पर कि मैं सर्व पदार्थों की स्वतन्त्रता स्वीकार न करके उन्हें परतंत्र बनाने का प्रयत्न किया करता हूं। उनकी परतन्त्रता को ही मैं भ्रमवश अपनी स्वतन्त्रता समझता हूं। बात केवल इतनी ही तो नहीं है, मैं अपनी स्वतन्त्रता को भी तो स्वीकार नहीं करता, इसको परतन्त्र मान बैठता हूं। मैं व्यक्तिगत रूप में अकेला ही ऐसा कर रहा हूं ऐसा भी नहीं है। आप सब तथा सर्व लोक के अनन्तानन्त प्राणी भी उसी विश्वास के आधीन प्रवृत्ति कर रहे हैं, और इस प्रकार मैं कल बताई गई तीन

कोटियों में से प्रथम दो कोटि के पर पदार्थों को अपने आधीन तथा अपने को उनके आधीन मान बैठा हूं। इसी प्रकार से वे पर पदाथ भी मुझे अपने आधीन तथा अपने को मेरे आधीन मान बठे है, अर्थात मेरे किये बिना उन पर पदार्थों का कोई भी कार्य नहीं चल सकता, और उनकी सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरी प्रेरणा पाकर ही वे चित्र विचित्र कार्य कर रहे हैं, और उनकी प्रेरणा पाकर ही मैं यह विकल्पात्मक रागद्वेषादि कार्य कर रहा हूं। मेरे पाले बिना कुटुम्ब का पोषण नहीं हो सकता और कुटुम्ब की सहायता के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे हिलाये बिना शरीर हिल नहीं सकता, और शरीर की सहायता के बिना मैं जान नहीं सकता। और इसी प्रकार अनेकों चिन्तायें विकल्पात्मक पराश्रित धारणायें हैं। स्वतन्त्रता मिले तो कैसे मिले, और परतन्त्रता में शान्ति कैसे जीवित रहे? मजे की बात यह कि इस प्रकार अधिकाधिक परतन्त्रता के पुरुषार्थ को ही शान्ति का पुरुषार्थ समझता हूं। अधिकाधिक भोगों की प्राप्ति से शान्ति मिलेगी, भोगों की प्राप्ति इस शरीर की क्रिया से होगी, शरीर की क्रिया को मैं करूंगा, इस प्रकार मैं अपनी शान्ति का वेदन कर लूंगा। अतः मेरा सर्व पुरुषार्थ शान्ति के लिये ही तो है।

४ षटकारकी पृथकत्व

हे शान्ति भण्डार चिदानन्द भगवन! शान्ति तो स्वतन्त्रता में बसती है परतन्त्रता में नहीं, अब इस परतन्त्रता को छोड़, स्वतन्त्र दृष्टि उत्पन्न कर, जिसमें प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, स्व हो कि पर, स्वतन्त्र दिखाई देने लगे। सुन सुनाकर या पढ़ पढ़ाकर यह कह देना मात्र पर्याप्त नहीं कि हां हाँ, सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, कोई किसी का नहीं, मैं पृथक हूं, शरीर पृथक है इत्यादि। इस प्रकार तो सभी कहा करते हैं। दो द्रव्यों की पृथकता का अर्थ इतने पर ही समाप्त नहीं हो जाता कि उनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर लें। सत्ता त्रयात्मक होती है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप अर्थात बराबर बनी रहते हुए भी बराबर बदलते रहना उसका काम है। यह बात कल के प्रवचन में बता दी गई थी। स्वभाव किसी दूसरे की सहायता नहीं मांगता, जिस प्रकार जल को शीतल बनाने के लिये किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं। सत्ता को उसी समय स्वतन्त्र माना कहा जा सकता है जबकि इसके तीनों अंशों को स्वतन्त्र मान लिया जावे। अर्थात उसका बदलते रहना भी स्वतन्त्र माना जावे। विचारिये तो कि किसी भी पदार्थ को बदलने के लिये किसी सहायक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है क्या? कि अमुक सहायक आये तो मैं बदलूं, नहीं तो बदलना चाहते हुए भी कैसे बदलूं? और जब तक योग्य सहायक न मिले तो बदले बिना ही पड़ा रहे। नहीं नहीं ऐसा नहीं है और न ही सिद्धांतिक रूप से आप ऐसा स्वीकार करते हो। करें भी कैसे? सब घोटमटाला हो जायेगा, विश्व कूटस्थ हो जायेगा अर्थात सत्ता का ही विनाश हो जायेगा, सब शून्य हो जायेगा।

और यदि सत्ता को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वीकार करते हो अर्थात टिके रहते हुए भी स्वाभाविक रूप से स्वयं बदलती हुई स्वीकार करते हो तो, 'इसे मैंने बदला' इस प्रकार के अहंकार को कहां अवकाश है? चलती गाड़ी के नीचे चलता कुत्ता भले यह विचारे कि गाड़ी को वह चला रहा है, परन्तु उसके भ्रमात्मक विचार के कारण गाड़ी उसके आधीन न हो जायेगी। इसी प्रकार तू भले यह कल्पना करे कि मैं ही इस विश्व का काम कर रहा हूं, मेरे किये बिना बेचारा यह जड़ क्या करेगा? परन्तु तेरे भ्रमात्मक विकल्प के कारण विश्व तेरे आधीन नहीं हो जायेगा। सारा लोक भी यही भ्रम बनाये क्यों न बैठा रहे, पर विश्व अर्थात सर्व पदार्थसमूह तो स्वतन्त्र ही रहेगा-अपनी सर्व पलटने की क्रियाओं में। अपने स्वभाव के अतिरिक्त उसे अन्य किसी का आश्रय नहीं।

ऊपर के वक्तव्य में मेरी शैली के विरुद्ध आज कुछ सिद्धान्तिक शब्दों का प्रयोग हो गया है। सम्भवतः आपको कठिन पड़ा हो। पर क्या करूं, बिना उनका प्रयोग किये, जब न बना तब ही मुझे उनका आश्रय लेना पड़ा। वास्तव में विषय ही कुछ कठिन है। तथा अपने आज तक के अनुभव से विपरीत, इसलिये उसके वाच्य शब्द ही मुझको मिल न पाये, फिर भी कुछ सरल भाषा में दृष्टांत द्वारा ऊपर का तात्पर्य प्रगट करने का प्रयत्न करता हूं। जरा ध्यान देकर सुनना। कुछ सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा, अपनी पूर्व की धारणाओं को कुछ देर के लिये दबा कर।

उपरोक्त सर्व वक्तव्य पर से मेरा प्रयोजन केवल यह सिद्ध करना है कि किसी दृष्टि विशेष से देखने पर प्रत्येक पदार्थ जड़ हो कि चेतन, अपना अपना कार्य करने को पूर्ण स्वतन्त्र है। प्रत्येक पदार्थ बिना दूसरे की सहायता के परिवर्तन में समर्थ है और कर रहा है। षटकारकी रूप से स्वतन्त्र है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ स्वयं बदलने की शक्ति रखता है, जैसाकि पहले सिद्धान्त घटित कर दिया गया है। इसलिये वह स्वतन्त्र रूप से बदलता हुआ ही अपनी किसी विशेष अवस्था को स्वयं उत्पन्न करता है, स्वयं अपने द्वारा उत्पन्न करता है, स्वयं अपने लिये उत्पन्न करता है अर्थात उस अवस्था को उत्पन्न करके स्वयं ही उसके साथ तन्मय हो जाता है, अपने में से ही निकाल कर उत्पन्न करता है, अपने स्वभाव में रहते हुए ही उत्पन्न करता है और इसलिये यह अवस्था विशेष उस ही की है, किसी अन्य की नहीं। इसीको षटकारकी स्वतन्त्रता कहते हैं। अवस्था उत्पन्न करना ही पदार्थ का काम है। इसलिये कह सकते है, कि उपरोक्त षटकारकों के रूप से प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करता है, किसी दूसरे की सहायता की उसे आवश्यकता नहीं।

५ साझे की खेती दृष्टान्त पर से समझिये मेरे अभिप्राय को, अन्न बोना अर्थात खेती करना एक काम है। मेरे अभिप्राय के अनुसार बीज ने स्वयं बदल कर अन्न बोने का काम किया, अपने द्वारा बदल कर किया, अपने लिये किया, अर्थात उस नवजात अन्न के साथ तन्मय होकर किया, अपने से किया अर्थात स्वभाव में होते हुए किया, अर्थात किसान बनकर नहीं किया। कुछ हंसी सी आयेगी यह बात सुनकर, आज तक ऐसी बात सुनी नहीं, परन्तु नहीं भाई! विचार करके देख, इसकी सत्यता प्रकाशित हो जायेगी। यद्यपि लोक में साधारणतः तू किसी भी काम को न इस प्रकार करता हुआ देखता है, न इस भाषा में कहा जाते हुए सुनता है, और न इस प्रकार स्वयं कभी कहता है, परन्तु स्वभावतः है इसी प्रकार। देखो एक दृष्टांत देता हूं।

उपरोक्त खेती का ही दृष्टांत लीजिये। यद्यपि लोक में यह प्रसिद्ध है और किसान भी यही कहता है कि "मैंने खेती बोई," परन्तु विचार कीजिये कि यदि बैल इस बात को सुन पावे तो बेचारे के हृदय पर क्या बीते? खून पसीना एक कर डाला पर तनिक भी तो श्रेय न दिया। अहंकार में अन्धा हो गया है यह किसान, किसी दूसरे की मेहनत को मेहनत ही नहीं समझता, और इस प्रकार विचारता हुआ वह बैल रूस जाये तो क्या हो? विचारिये, किसान का सारा अहंकार पानी बन कर बह जाये, और सुलह करनी पड़े आखिर उस बैल से। अच्छा भाई! बिगड़ मत! क्षमा कर! गल्ती हुई, सारे काम में आधा साझा तेरा स्वीकार किया। चल उठ अब, और इसी प्रकार हल से, कुंए से, रहट से, पानी से, मिट्टी से और बीज से अब सुलह करते करते उसे पता चल जाये कि खेती बोने में तूने कितना काम किया है। केवल सातवां हिस्सा। परन्तु किसान तो चेतन पदार्थ है। शरीर और वह पृथक पृथक हैं। अतः शरीर की मांग रुक न सकी। किसान को स्वीकार

ही करना पड़ा कि हां भाई ! तेरा भी हिस्सा सही। हम सब आठों ने मिलकर ही की है खेती, इस लिये सबने आठवां आठवां हिस्सा काम किया है, मुझ स्वीकार है। परन्तु बीज बेचारा कैसे सतुष्ट हो। उसके काम में और शेष सात के कामों में तो महान अतर है। शेष सबने तो कुछ कुछ काम ही किया है, परन्तु रहे अपने रूप में ही। उन्हें स्वयं अपना रूप तो न बदलना पड़ा। पर उस बचारे ने तो अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया-अन्न उगाने के लिये, यहां तक कि आज उसका पता भी नहीं कि कहाँ है वह ? इस प्रकार स्वयं सारे अन्न के साथ घुल मिल ही गया है, अथवा स्वयं ही वह रूप धारण कर लिया है। आठवें हिस्से में कैसे सन्तोष पावे ? स्वीकार करना पड़ेगा कि तेरे काम की जाति ही भिन्न प्रकार की है। घोड़े और गधों का क्या मेल ? तेरे काम का मुकाबला हम सातों मिल कर भी नहीं कर सकते। अर्थात कुछ बाह्य मात्र सहायता रूप सम्बन्धी कार्य का सातवां सातवां हिस्सा हम सब ने किया, परन्तु अन्न उगाने का काम तो वास्तव में तेरा ही है।

साझे की खेती का मिला जुला काम किसी एक का नहीं है, सर्व का ही है। इसलिये इस एक मिले जुले काम का विश्लेषण करना चाहिये। तभी पता चल सकेगा है कि आठों में से प्रत्येक ने कौन कौन काम किया है। विचारने से पता चल सकता है कि अन्तः प्रकाश रूप चैतन्य किसान का काम केवल "मैं अन्न उत्पन्न करूं," इस विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वह बेचारा अमूर्तीक और कर भी क्या सकता है, जानने व देखने व विकल्प उत्पन्न करने के अतिरिक्त ? शरीर का काम है कुछ विशेष प्रकार से हिलना जुलना, और इसी प्रकार बैल आदि सर्व पदार्थों के पृथक पृथक कार्य की कोई सीमा है, जिसको उसने ही किया है और वह ही कर सकता है। न अन्य ने किया है न अन्य कर सकता है।

६ निमित्त की कथञ्चित सत्ता

यद्यपि यह बात सर्वथा मिथ्या भी नहीं है कि आठों के ही कार्यों में परस्पर कोई निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, अर्थात किसान के निमित्त से शरीर, और शरीर की प्रेरणा से बैल, बैल के निमित्त से हल व रहट और इस प्रकार अन्य भी अपना अपना कार्य कर सके। यदि ये न होते तो कर न सकते। परन्तु यह दृष्टि तो लौकिक है, विकल्पोत्पादक है। इसके त्यागने के लिये ही तो सब पुरुषार्थ है। अतः हे भव्य ! इस दृष्टि के द्वारा परम कल्याणकारी उस अलौकिक दृष्टि का घात करने का प्रयत्न मत कर। इस दृष्टि को ही ऊपर परतन्त्र शब्द से कहा गया है और उस अलौकिक दृष्टि को स्वतन्त्र शब्द से।

७ निमित्त व उपादान दोनों की कथञ्चित उपादेयता

दोनों ही दृष्टिय अपने अपने स्थान पर सत्य है। पर मुझे तो जिस किस प्रकार भी शान्ति का प्रयोजन सिद्ध करना है। जौनसी भी दृष्टि से सिद्ध होता मानूं उसे ही अपना कर्तव्य समझूं दूसरी को नहीं। जानना और बात है अपनाना और। यद्यपि एक वीतरागी को भी जानता हूं और एक चाण्डाल को भी। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों मेरे उपास्य हैं। उपास्य तो वीतरागी ही है चाण्डाल नहीं। उपास्य न कहने से चाण्डाल का अभाव नहीं हो जायेगा। इसी प्रकार परतन्त्र दृष्टि को तो पहले से ही जानता था, अब स्वतन्त्र दृष्टि भी जान गया। जानता दोनों को हूं पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों दृष्टि ही लक्ष्य में रखनी या आश्रय करनी योग्य हैं। शान्ति पथ में केवल एक स्वतन्त्र दृष्टि ही लक्ष्य में रहती है, परतन्त्र दृष्टि नहीं। लक्ष्य में न रहने मात्र से दूसरी दृष्टि के आधार पर निमित्त की निमित्तता का लोप नहीं हो जाता।

८ संकुचित दृष्टि से निमित्त के विचार का निषेध — यदि दूसरी दृष्टि पर ही लक्ष्य करना है तो निम्न प्रकार क्यों नहीं करता, कि जिससे तेरी दृष्टि में भी बाधा न पड़े और विकल्प भी हट जावें। विशाल दृष्टि करके सम्पूर्ण विश्व को युगपत अनुमान में ले, तो एक बहुत बड़े कारखाने के रूप में दिखाई देता है जिसमें स्व पर सर्व पदार्थ बड़ी व छोटी गरारियों वत परस्पर सम्पर्क में रहते बराबर चल रहे हैं, और कारखाना काम कर रहा है। यदि कोई एक छोटी सी गरारी भी निकाल ली जाये तो सारी की सारी मशीन बन्द हो जाये, या जबरदस्ती कोई नई गरारी ठोक दी जाये तोभी सारी मशीन बन्द हो जाये, क्या ऐसा होना सम्भव है? क्या ऐसा आज तक कभी हुआ है? सब द्रव्य परस्पर निमित्त नैमित्तिक रूप से बराबर काम कर ही रहे हैं। निमित्त को हटाने वाला या मिलाने वाला तू कौन है? तुझे यह अधिकार किसने दिया? तुझमें इतनी शक्ति है भी या नहीं? समस्त विश्व की अद्वैत क्रिया को दृष्टि में रखकर इन प्रश्नों का उत्तर खोजें तो इस दिशा में अपनी असमर्थता का भान हुए बिना न रहे। निमित्त मिलाने व हटाने के सर्व विकल्प दूर हो जायें। विशाल दृष्टि, ज्ञाता दृष्टा मात्र रह जाये, यही तो अभीष्ट है।

आज के तेरे विकल्पों का मूल कूपमण्डूक बने हुए परतन्त्र दृष्टि का रखना है, और इसी कारण अन्य के कर्तापने का अंहकार होता है। अतः परतन्त्र दृष्टि को संकुचित करने का निषेध किया जा रहा है, सर्वथा निषेध नहीं। यदि विशाल दृष्टि से नहीं देख सकता, तो इस परतन्त्र दृष्टि पर के लक्ष्य को सर्वथा मिटाने का प्रयत्न कर। भ्रम न कर, शंका न कर, दृष्टि मिटाने से पदार्थ न मिटेगा। तुझे अपना कल्याण करना है, निमित्त की रक्षा नहीं। आम खाने हैं पेड़ नहीं गिनने हैं। दोनों दृष्टियों में से स्वतन्त्र दृष्टि इस मार्ग में अत्यन्त उपादेय व हितकर है, और साधारण रूप से परतन्त्र दृष्टि महान अनिष्ट। जैसाकि आगे आगे के प्रकरणों में सिद्ध हो जायेगा।

६ भेद विज्ञान का प्रयोजन ज्ञाता दृष्टा पना — इसी का नाम है स्व पर पदार्थों की पृथकता। ज्ञान का अचिन्त्य महात्म्य है। मिले जुले रहते हुए भी, मिश्रित पदार्थों में ज्ञान से भेद देखा जा सकता है, पृथकता देखी जा सकती है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध पड़े रहते हुए भी षटकारकी स्वतन्त्रता देखी जा सकती है। यदि मिले जुले में भेद न देखे तो ज्ञानी काहे का? पृथक पदार्थों को पृथक तो अन्धा भी कह देगा। उसमें कौन चतुराई है? जौहरी तो तभी कहला सकता है कि जब खोटे जेवर में स्वर्ण व खोट का सही सही अनुमान करके, उसी अवस्था में उन दोनों को पृथक देखे, और खोट को जानते हुए भी केवल स्वर्ण का मूल्य ही आँके खोट का नहीं। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ मूल्य तो खोट का भी है ही। इसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक रूप से षटकारकी सम्बन्ध रहते हुए भी षटकारकी भेद देखना ही ज्ञान का महात्म्य है। इन दोनों का प्रत्यक्ष भेद हो जाने पर तो अन्धा भी इनमें कर्ता कर्म आदि भाव न घटायेगा। उस समय उनमें स्वतन्त्रता देखना कहां की चतुराई है। ज्ञानी तो तभी कहला सकता है कि जब सम्बन्धित अवस्था में दोनों के कार्य की सीमाओं का पृथक पृथक निर्णय करके, केवल उपादान अर्थात स्वपदार्थ का मूल्य ही आंके, निमित्त या पर पदार्थ का नहीं। यद्यपि उसे पता है कि कुछ न कुछ काम तो निमित्त का है ही।

तू ज्ञानियों की सन्तान है, अन्धों की नहीं। अतः यही योग्य है कि परतंत्र दृष्टि को छोड़कर स्वतन्त्र दृष्टि को अपना। निमित्त को जानते हुए भी उसका मूल्य न गिन। स्व व पर दोनों

को पूर्ण स्वतन्त्र देख, षटकारकी रूप से स्वतन्त्र, अर्थात स्वयं अपने द्वारा, अपने लिये, अपने में ही रहते हुए अपना काम करते हुए देख। 'सुनार ने जेवर बनाया' ऐसा न विचार कर 'स्वर्ण से जेवर बना' ऐसा विचार। 'मैंने कुटुम्ब पाला या शरीर के अर्थ धन कमाया' ऐसा न विचार कर "मैंने केवल विकल्प उत्पन्न करके अपना अहित किया", ऐसा विचार। इसका नाम है दो द्रव्यों की पृथकता, शरीर आदि का मुझसे जुदापना, या स्व पर भेद विज्ञान। केवल 'शरीर जुदा और मैं जुदा' या 'शरीर मेरा नहीं, कुटुम्ब से मेरा कोई नाता नहीं' इतना कहने से काम न चलेगा। मेरा नहीं का अर्थ, षटकारकी रूप से मेरा नहीं, एसा है। अर्थात न मैं इसका कोई काम कर सकता हूं और न यह मेरा। न मैं इसके द्वारा कोई काम कर सकता हूं, न यह मेरे द्वारा। न मैं इसके लिये कोई भी काम करता हूं, न यह मेरे लिये। न मैं इसके स्वभाव में जाकर कोई काम करता हूं न यह मेरे स्वभाव में आकर। अपने अपने स्वभाव तथा अपनी अपनी सत्ता से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अपने अपने प्रदेशों से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अपने अपने काल या अवस्थाओं से भी दोनों पृथक पृथक हैं। अर्थात अपनी अपनी अवस्थायें पृथक पृथक रह कर स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न कर रहे हैं, अपने भाव के भी स्वयं स्वामी हैं। इस प्रकार है स्व पर पदार्थों की पृथकता।

इस प्रकार की स्व पर पृथकता की दृष्टि कितनी कार्यकारी है इस मार्ग में। देखिये, आप अजायब घर में जाकर अनेकों हीरे जवाहरात आदि व मूल्यवान व आकर्षक वस्तुओं को खूब रुचिपूर्वक देखते हो, और प्रसन्नचित्त बाहर चले आते हो, परन्तु वैसी ही वस्तुओं को बाजार में रखी देखते हो तो कुछ चिंतित से हो जाते हो। क्या कारण है ? केवल यही कि अजायब घर की वस्तुओं में आपको यह विश्वास है कि यह मेरे द्वारा ग्रहण नहीं की जा सकती, इनके ग्रहण करने का मुझको अधिकार नहीं है। और इसी कारण उनको ग्रहण करने का विकल्प नहीं आता, भले उनको गौर से देखो। परन्तु बाज़ार की वस्तुओं के प्रति आपको विश्वास है कि इनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने का आपको अधिकार है। इसलिये विकल्प उठ जाते हैं, उनको ग्रहण करने या बनाने बिगाड़ने के। उपरोक्त स्वतन्त्र दृष्टि से इस बनाने बिगाड़ने सम्बन्धी कर्तापने के विश्वास को ही तोड़ने का प्रयत्न किया गया है। जिसके दूर हो जाने पर अजायबघर की वस्तुओं वत आप इस विश्व के समस्त पदार्थों को देखोगे ही, बनाने बिगाड़ने आदि के भाव न करोगे। इसी का नाम है ज्ञाता दृष्टा भाव। बस यही प्रयोजन है स्व पर भेद विज्ञान का, या षट कारकी भेद का। क्योंकि ज्ञाता-दृष्टापना ही वह साम्यता व शान्ति है, जिसकी खोज में कि मैं निकला हूँ।

१३

❀ ज्ञानधारा व कर्मधारा ❀

सहारनपुर—दिनांक २४ सितम्बर १९६२

प्रवचन नं १८

१ ज्ञानधारा व कर्मधारा निर्देश, २ भेदज्ञानी का वास्तविक पुरुषार्थ

७ ज्ञानधारा कर्मधारा निर्देश

व रागादिक भावों की परात्मकता दर्शाते हुए ज्ञानधारा व कर्मधारा का कुछ परिचय दिया गया था क्योंकि यह विषय अध्यात्म मार्ग का प्राण है अतः अच्छी तरह समझाने के लिये यहाँ इसका विस्तार करना अभीष्ट है। ज्ञान के रूपों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वह दो जाति का है—एक तो केवल वस्तु के वर्तमान स्वरूप अथवा भूतभावी स्वरूप या त्रिकाली स्वरूप को जानने मात्र रूप और दूसरा उस वस्तु के साथ अपना षट्कारकी नाता उत्पन्न करके उसमें अच्छे बुरे की कल्पना करने रूप। ज्ञान के पहिले रूप का नाम ज्ञानधारा है और दूसरे का कर्मधारा। ज्ञानधारा व ज्ञाता-दृष्टापना एकार्थवाचक हैं और कर्मधारा व कर्ताबुद्धि एकार्थवाचक हैं।

यह ज्ञान किसी भी पदार्थ के सम्बन्ध में क्यों न हो, दोनों जाति का हो सकता है, ऐसा नहीं है कि निज आत्मा या भगवान सम्बन्धी ज्ञान तो ज्ञानधारा रूप हो और अन्य पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप हो। निज स्वरूप व भगवान सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप होना सम्भव है और लौकिक पदार्थों सम्बन्धी ज्ञान ज्ञानधारा रूप होना सम्भव है। सो कैसे वही दर्शाता हूं।

'मैं हूं, ज्ञान स्वभावी हूं, शान्ति मेरा स्वभाव है, पहिले भव में मैं कुत्ते के रूप में था, अगले भव में मैं देव के रूप में हो जाने वाला हूं'—आत्मा सम्बन्धी यह सब विचारणायें ज्ञानधारा रूप हैं, अर्थात जिस मे केवल मेरा भूत वर्तमान व भविष्यत् काल सम्बन्धी अनेकों अवस्थाओं में गुंथे हुए एक अखण्ड रूप की सत्ता मात्र दिखाई देती है, वह ज्ञान ज्ञानधारा रूप है। क्योंकि यहां पर था, हूं और हूंगा के अतिरिक्त किसी भी अन्य पदार्थ के या अपनी ही किसी अवस्था विशेष के साथ षट्कारकी सम्बन्ध जोड़ कर उनमें इष्टता व अनिष्टता उत्पन्न नहीं की गई है केवल होने मात्र की स्वीकारता है। परन्तु 'मै पहिले भव में बहुत निकृष्ट दशा मे पड़ा था, बहुत दुखी था, अब मैं कुछ धर्म करूंगा, या भोग भोगूंगा, देव बन जाऊं तो बहुत अच्छा लगेगा'—इस प्रकार का सर्वज्ञान कर्मधारा रूप है, क्योंकि यहां अन्य पदार्थों व अपनी ही किन्हीं विशेष अवस्थाओं के साथ षट्कारकी सम्बन्ध जोड़ कर उनमें इष्टता व अनिष्टता की कल्पना की जा रही है।

इसी प्रकार भगवान पूर्ण शान्ति में स्थित हैं, वे तीन लोक को देख रहे हैं, पहिले निगोद में रहते थे, आगे सदा आनन्द में मग्न रहेंगे'—भगवान सम्बन्धी ये सब विचारणायें ज्ञानधारा रूप है। और 'भगवान अधमोद्धारक हैं, उनकी पूजा व भक्ति मेरे लिये बड़ी हितकारी है। वे अपने आश्रितों को अपने समान कर लेते हैं''—इत्यादि प्रकार का ज्ञान कर्मधारा रूप है।

इसी प्रकार 'यह विष्टा नाम का एक पदार्थ है, इसका रंग पीला है, इसमें एक विशेष प्रकार की गन्ध है, इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है, यह पहिले अन्न रूप थी, ये खेतों में खाद के रूप में डाली जाती है—'इत्यादि विष्टा सम्बन्धी सर्व ज्ञानधारा रूप है। परन्तु 'यह बहुत घिनावनी है, दुर्गन्धित है, इसे मेरे पास से हटाओ—'इत्यादि प्रकार का उसी विष्टा सम्बन्धी ज्ञान कर्मधारा रूप है।

'यह युद्धस्थल है। यहां अनेकों योद्धा परस्पर में लड़कर मृत्यु की गोद में सोजाया करते ह। यह युद्ध सिकन्दर व पोरस के मध्य हुआ था, इत्यादि प्रकार का सर्व ज्ञान ज्ञानधारा रूप है। परन्तु यह 'युद्ध मेरे देश के लिये बड़ा हानिकारक सिद्ध हुआ। भविष्यत में हमें ऐसे युद्धों के प्रति रोकथाम करनी चाहिये' इस प्रकार का सर्व ज्ञान कर्मधारा रूप है।

'आज का दिन बहुत गरम रहा है' यह ज्ञान धारा है। और 'इससे मुझे बड़ी पीड़ा हुई है। गरमी कुछ कम हो जाती तो अच्छा होता' यह कर्मधारा है। और इसी प्रकार अन्य भी।

वास्तव में देखा जाये तो ज्ञानधारा बुद्धि पूर्वक के प्रयास द्वारा विचारणायें उत्पन्न करने रूप नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने से तो वह सब ही ज्ञान कर्मधारा रूप बन जायेगा। वह तो केवल सहज प्रतिभास रूप है। जैसा कैसा भी, जिस किस भी वस्तु का प्रतिभास हो जाने पर मन की सर्व विचारणायें शान्त हो जाती हैं। तथा वह व्यक्ति कुछ उस प्रतिभास के साथ तन्मय सा होकर खोया खोया सा महसूस करने लगता है। वह दशा कुछ अद्वैत सी होती है और इसलिये शान्ति रूप है। जितनी देर भी उसमें स्थिति रहती है मन को थकान नहीं होती बल्कि आनन्द में कुछ झूमता सा रहता है। परन्तु वहां से छुटकर यदि कर्मधारा में आ जाता है तो बुद्धिपूर्वक का प्रयास प्रारम्भ हो जाने के कारण तब उसे उन्हीं विचारणाओं में कुछ थकान महसूस होने लगती है।

८ भेद ज्ञानी का वास्तविक पुरुषार्थ

इस कथन पर से मानवीय पुरुषार्थ के ही दो रूप दर्शादिये गये। उनमें से कर्मधारा रूप पुरुषार्थ तो सर्व लोक सदा से करता आ रहा है। शान्ति का उपासक इसे छोड़कर ज्ञानधारा रूप पुरुषार्थ का आश्रय लेता है और जीवन को तदनुरूप ढालने का धीरे धीरे अभ्यास करता है। लौकिक और अलौकिक पुरुषार्थ में यही अन्तर है। यद्यपि उसका बाह्य जीवन तो एकदम वैसा होने नहीं पाता, परन्तु उसका दार्शनिक जीवन जिसका आधार कि केवल श्रद्धा है अवश्य पलटा खाता है, और करने धरने की या कारण-कार्य भाव खोजने की टेव विराम पाती है। इस अभ्यास या प्रयत्न का नाम ही मोक्ष मार्ग या शान्ति पथ है। यद्यपि व्यवहारिक जीवन में उसकी कर्मधारा चलती रहती है पर दार्शनिक अन्तरंग जीवन में सर्वत्र ज्ञानधारा व्याप जाती है। जिसके फलस्वरूप वह सदा ही अपने सर्व बाह्य रागात्मक कर्मधारा वाले कृत्यों के लिये अपने को धिक्कारता हुआ बराबर अन्दर ही अन्दर उनसे पीछे हटने का, तथा ज्ञानधारा में टिकने का प्रयास करता रहता है। ऐसी मिश्रित दशा उसकी उस समय तक चलती रहती है जब तक कि कर्मधारा का अभ्यास पूर्णतः शमन न हो जाये। यही व्यवहार व निश्चय मार्ग की मैत्री है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह दोनों को उपादेय मानता है। कर्मधारा रूप व्यवहार करते हुए भी वह उसे सर्वथा अपराध ही समझता रहता है और ज्ञानधारा को सत्य समझता रहता है।

यह बात उस श्रद्धा या अभिप्राय की है जो बाहर में दृष्ट नहीं हो पाती, साधक के अन्दर ही अन्दर चुटकियें लिया करती है, जिसे वह स्वयं जान सकता है दूसरा नहीं। अन्य लौकिक प्राणी तो उसे पूर्ववत ही कर्मधारा में उलझा हुआ देखते हैं, पर वह अन्दर ही अन्दर ज्ञानधारा की ओर झुकता जाता है, कर्मधारा के अपने सर्वविकल्पों को निःसार व मिथ्या प्रपञ्च रूप अङ्गीकार करता जाता है। फिर भला वह कब अभिप्राय पूर्वक यह कह सकता है कि अमुक कार्य अमुक ने किया या अमुक कारण से हुआ। किसने किया ? स्वभाव ने। निमित्त का कोई स्थान ? हुआ करे, पर वह भी स्वभाविक ही है। उसके देखने का ढंग बदल जाता है। लौकिक जीवों को भले उसकी बात अटपटी लगे पर उसके लिये वह सत्य है, परम सत्य। विश्व की स्वतन्त्र व स्वभाविक कार्य व्यवस्था वह प्रत्यक्षवत् देखता है, और इसीलिये विरोध करने वाले साधारण अनभिज्ञ व अज्ञानी जनों के आक्षेपों पर वह केवल मुस्करा देता है।

वह जानता है कि सर्व साधारण जन इस रहस्य को समझ न सकेंगे। इसलिये वादविवाद करना व्यर्थ समझता है और केवल वीतराग गुरुओं के आदर्श को ही एकमात्र शरण समझता हुआ निर्भीक अपने मार्ग पर बढ़ता चला जाता है। ज्ञानधारा को पुष्ट करने वाले चर्चाग्रस्त प्राणी उस चर्चा में उलझे हुए पीछे पड़े रह जाते हैं। उनके प्रति उसे केवल मध्यस्थता ही रहती है, द्वेष या विरोध नहीं; क्योंकि वह जानता है कि ये बेचारे वस्तुस्वरूप या निमित्त उपादान की बातें ही करना सीखे हैं पर ज्ञानधारा में बैठकर वस्तु व्यवस्था को देखना नहीं सीखे हैं। इसी कारण निश्चय या स्वभाव की बात कहते तो अवश्य सुने जाते हैं, पर कर्मधारा की पकड़ छोड़ते नहीं देखे जाते। कर्मधारा का कांटा गले में अटका हुआ है; इसीलिये, 'व्यवहार से तो मेरे अहंकार या कर्तापना अथवा निमित्तकारणों की सार्थकता खरी' इस प्रकार की बात सामने आये बिना नहीं रहती। यह लक्षण ही कर्मधारा की ओर उनके अन्तरंग अभिप्राय या झुकाव के साक्षी हैं। यही कर्मधारा की अतीव वेदना है, जिसमें पड़ा समस्त जगत तड़प रहा है। क्या किया जाये, यह भी स्वतन्त्र रीति से हो ही रहा है। सर्व जगत तो न कभी समझा है और न कभी समझ सकेगा। समझने वाले ही समझते हैं और वे बिरले ही होते हैं। इसलिये उसे जगत की इस अहंकार पूर्ण बुद्धि पर केवल हंसी आती है और कुछ करुणा भी।

साधक के दार्शनिक विचार सदा ज्ञानधारा रूप ही रहते हैं। यदि विचारों में भी यह परिवर्तन न हुआ तो साधक काहे का ? यदि लौकिक जीवों की भांति निमित्तों में ही कर्त्ता या कारणपना देखता रहा या उस ही की बात करता रहा, तो लौकिक जीव में व उसमें क्या अन्तर रहा ? दोनों का झुकाव ही कर्मधारा की ओर रहा। भले ही बाह्य क्रियाओं में अभी कर्मधारा के दर्शन होते हों, पर साधक के अन्तरंग अभिप्राय में ज्ञानधारा व्याप चुकी है। वह जो भी बात या चर्चा या उपदेश या दार्शनिक या सिद्धांतिक दृष्टि से करता है, वह सब ज्ञानधारा की ओर झुककर ही करता है। इसलिये निमित्तों के कर्तापने या उसके अहंकार का, वस्तु की स्वतन्त्र कार्य व्यवस्था के प्रतिपादन में, उसके द्वारा कोई स्थान स्वीकार नहीं किया जाता, भले ही कर्मधारा में जाने पर उनका भी कोई स्थान वहां दिखाई देता हो पर ज्ञानधारा में तो सब कार्य स्वतः होते हुए ही दिखाई देते हैं, किसी के द्वारा किये जाते हुए नहीं। इस होने पने में निमित्त अपना योग्य स्थान लेते हुए अवश्य दिखाई देते हैं, पर इस कल्पना को कहीं अवकाश मिलने नहीं पाता कि, 'यदि यह न होता तो यह हो जाता।'

ज्ञानधारा का ऐसा ही कोई अचिन्त्य माहात्म्य है। भले ही इसे एकान्त कहो पर साधक को यही सुन्दर लगता है, यह उसकी आन्तरिक साधना है, इसी साधना के आधार पर, जल में कमलवत् वह संसार में रहता हुआ भी इससे भिन्न रहता है। जिस प्रकार कि पुत्र की मृत्यु के एक महीने पश्चात ही अपनी कन्या का विवाह करने वाला कोई व्यक्ति, बाहर म सब कुछ रावरग करता हुआ भी अन्दर में रोने के सिवाये कुछ नहीं कर पाता। वह हंसता बोलता अवश्य है, बाजा आदि भी बजवाता अवश्य है, मिठाई भी बनवाता अवश्य है, हंस हंस कर अतिथियों का सत्कार भी करता अवश्य है, पर अन्दर से नहीं बाहर से। उस का अन्तष्करण तो यह सब कुछ करता हुआ भी अपने पुत्र के शोक से विव्हल केवल रो ही रहा है। यह सब कुछ खेल तमाशा मानो उसका गला घोंट रहा हो, ऐसा उसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार शांति पथ का साधक भी व्यापार आदिक करता अवश्य है, भोग आदि भी भोगता अवश्य है, पर अन्दर से नहीं केवल बाहर से। अन्दर से तो इन सब कार्यों को करता हुआ वह रोता मात्र है, मानों वह सब कुछ आडम्बर उसके आन्तरिक जीवन का गलाघोंट रहा हो। लोक को वह अवश्य सब कुछ करता हुआ दिखता है,पर वास्तव में वह स्वयं कुछ भी नहीं कर पाता -- इसी को अरुचि पूर्वक करना कहते है। यही 'गीता' का अनासक्ति योग है यह जल में कमल वत भिन्न रहने का अभिप्राय है। घर में रहते हुए विरागी इसी का नाम है। लौकिक जन इस स्थिति को साधना का अन्त मानते हें, पर वास्तव मे अध्यात्म मार्ग की साधना यहां से प्रारम्भ होती है।

यह तो लौकिक दिशा की बात कही। धार्मिक दिशा में भी वह पूजा, उपवास, व्रत, उपदेश आदिक सब कुछ करता है, पर अन्दर से नहीं केवल बाहर से। इन कार्यों को वह इस लिये नहीं करता कि यह सब कार्य उसे अच्छे या हित रूप लगते हें, बल्कि इसलिये करता है कि ऐसा करते हुए उसे क्षण भर के लिये अधिक पुष्ट कर्मधारा से हट कर हीनाधिक रूप से ज्ञानधारा में प्रवेश पाने का अवसर मिल जाता है। वह ही वास्तव में उसके लिये अमृत है, हित है। जिस प्रकार अन्न खाने से प्राणों की रक्षा होती है और इसलिये अन्न को ही प्राण कह देते हें; उसी प्रकार इन बाह्य धार्मिक क्रियाओं का आश्रय लेने से उसे उपरोक्त अमृत या हित की प्राप्ति होती है, इसलिये इन धार्मिक क्रियाओं को भी हित कहा जाता है। परन्तु वास्तव में यह सब धार्मिक कार्य करना भी उसे अन्दर में सदा अखरता रहता है। कारण कि उन कार्यों को करने के सर्व विकल्प तो कर्मधारा रूप ही हैं। उन विकल्पों को सदा त्याज्य मानकर उनसे भी पीछे हटने का प्रयत्न करता रहता है।

पर इसका यह अर्थ न समझ जाना कि इन धार्मिक क्रियाओं को सर्वथा अनिष्ट मान कर, वह भले ही अन्य लौकिक कार्य तो करे, परन्तु इनको न करे। अभिप्राय ठीक ठीक समझना। आगे भी 'आश्रव' के प्रकरण में इन धार्मिक क्रियाओं के निषेध का कथन आयेगा, अतः यहां ही अभिप्राय को समझने का प्रयत्न करें अन्यथा तो अनर्थ हो जायेगा। ज्ञानधारा में उतरने की अतीव उत्कण्ठा के कारण वह उन को छोड़ कर ध्यान निमग्न हो जाना चाहता है, यही उपरोक्त वक्तव्य का प्रयोजन है। उन क्रियाओं को छोड़कर लौकिक कर्मधारा में उलझना तो जीवन को ऐसे अन्धकूप में गिरा देगा जहां से निकलना अनन्त काल में भी सम्भव न हो सकेगा। देव, गुरु, शास्त्र व उपरोक्त धार्मिक अनुष्ठान उस समय तक अत्यन्त आवश्यक है, जब तक कि साक्षात ज्ञानधारा की उपलब्धि हो नहीं जाती, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अन्न खाने की उस समय तक अत्यन्त आवश्यकता रहती है जब तक कि इस शरीर के प्रति का किंचित भी राग हृदय में वास करता हो। प्रत्येक बात पुनः दोहराई

जानी सम्भव नहीं है, अतः इसको यहां ही दृढ़तया हृदयंगम कर लेनी योग्य है' नहीं तो आगे के प्रकरणों में उलटा अर्थ ग्रहण हुए बिना न रह सकेगा। और यदि ऐसा हो गया तो प्रभु ही जानें कि क्या होगा। नाथ! ऐसी कुबुद्धि से सब की रक्षा करें।

करना और बात है और विचारना और। करने और विचारने में महान अन्तर है। साधक का सर्व ही शुभ व अशुभ क्रियाओं का करना तो कर्मधारा रूप होता है पर विचारना ज्ञानधारा रूप उसकी चर्चा का विषय भी ज्ञानधारा की ओर ही झुका रहता है, क्योंकि अन्दर से उसे वही भाती है। बाहर और अन्दर में इस महान अन्तर को देखने में असमर्थ जगत उसकी चर्चा में आगम विरोध व एकान्त के दर्शन करता है, पर उसे स्वयं को ऐसा प्रतीत नहीं होता। इसे ही कहते हैं व्यवहार व निश्चय मार्ग की सन्धि। अन्दर व बाहर की क्रियाओं में यह अन्तर कैसे सम्भव है, इस बात का उत्तर आगे आश्रव प्रकरण में बताया जायेगा।

यदि अन्दर व बाहर में यह अन्तर न हो तो केवल एक शुभाशुभ कर्मधारा में ही रहे या केवल एक शुद्ध ज्ञानधारा में ही रहे। परन्तु यह दोनों ही 'मोक्ष मार्गी' नहीं कहलाये जा सकते। केवल कर्मधारा वाला तो निःसन्देह संसारमार्गी है ही; परन्तु केवल ज्ञानधारा वाला भी मोक्षमार्गी नहीं है। वह या तो स्वयं भगवान है और या स्वछन्दाचारी ज्ञानवादी एकान्त दृष्टि; अर्थात या तो मोक्षरूप है और या घोर संसारी। जो स्वयं मोक्षरूप हो जाता है वह 'मोक्षमार्गी' नहीं होता। मोक्षमार्गी के अन्दर के अभिप्राय में तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञानधारा का ही वास है, परन्तु बाह्य प्रवृत्ति में दो बातें दिखाई देती हैं—प्रत्यक्ष रूप से तो निषिद्ध बुद्धिपूर्वक शुभ व अशुभ कर्मधारा और परोक्ष या अदृष्ट रूप से आंशिक रूप में ज्ञान व कर्मधारा का मिश्रण -- यही मोक्षमार्ग है। चौथे से बारहवें गुणस्थान तक अर्थात नीचे से ऊपर तक की साधक दशा की श्रेणियों में उतरोतर ज्ञानधारा की ओर झुकता चला जाता है, यहां तक कि उसके अन्त में जाकर पूर्णतया ज्ञानधारा में निश्चल स्थिति पा जाता है। इस रहस्य को समझे बिना अध्यात्म चर्चा लाभ की बजाये हानि पहुंचाती है, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह वाद विवाद रूप विजिगीषु कथा बन जाती है, वीतराग कथा रहने नहीं पाती।

१४

❀ कर्ताकर्म व्यवस्था ❀

दिनाँक २८ मार्च १९६० (सहारनपुर)

प्रवचन नं १९

१—कार्य शब्द का अर्थ, २—कर्ताकर्म सम्बन्धी पांच समवायों का निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता, ३—स्वभाव, ४—संयोग या निमित्त निर्देश, ५—एक कार्य में अनेकों निमित्त, ६—निमित्त की दो जातियाँ ७—स्वतन्त्रता का समन्वय-पुरुषार्थ, ८—नियति या काल लब्धि' ९—नियति व भवितव्य निर्देश, १०—पुरुषार्थ की मुख्यता व गौणता, ११—नियति व भवितव्य निर्देश

अहो दृष्टि की व्यापकता ! जिसके प्रगट हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व व्यवस्था का स्वातन्त्र्य हस्तामलक वत स्पष्ट दीखने लगता है। जिसके प्रगट हो जाने पर कर्ता बुद्धि स्वतः किनारा कर जाती है और एक ज्ञायक मात्र भाव, साक्षी रहने मात्र का भाव जागृत हो जाता है। साम्यता अवतार लेती है और जीवन शान्त हो जाता है। सुन प्रभो सुन ! आज स्वातन्त्र्य की जय घोषणा हो रही है। विश्व का कण कण आज हर्ष के हिंडोले में झूल रहा है। क्यों न खुशी मनाये आज वह, मानव को बन्दी से छुटकारा जो मिला है। अधिकार नं० १४ व १५ का विषय सिद्धान्तिक होने के कारण अवश्य ही समझने में कुछ कठिन पड़े क्योंकि इस में सिद्धान्तिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा, पर इस पर से निराश होने की आवश्यकता नहीं। अगले प्रकरण पुनः सरल व अत्यन्त रोचक आयेंगे। अतः इन कठिन प्रकरणों को देख कर ग्रन्थ को छोड़ न बैठना।

१ कार्य शब्द का अर्थ — **अपने जीवन की अशान्ति का मूल खोजने जाऊं तो प्रत्यक्ष ही है। २४ घन्टे की यह करने धरने की, बनाने बिगाड़ने की, मिलाने व हटाने की दौड़ धूप ही तो जीवन की वह अशान्ति है जिसे दूर करना अभीष्ट है। अर्थात मैं हर समय कुछ न कुछ काम करना चाहता हूं, और कर रहा हूं, इस बात से बिलकुल बेखबर कि मैं क्या कर रहा हूं और क्या करना चाहता हूं। इस तथ्य की खोज निकालने के लिये पहले मुझे यह निर्णय करना है कि काम जिसके पीछे मैं हर समय लगा रहता हूं वह वास्तव में है क्या बला।**

आइये विचार करें। देखो मैं कह रहा हूं "मुझे आज देहली जाना है"। विचारिये कि क्या करना है। सहारनपुर से उठ कर देहली जाने का या अपना स्थान परिवर्तन कर देने का नाम ही तो देहली जाना है या और कुछ ? अर्थात देहली जाने का काम अपना स्थान परिवर्तन कर लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। "पुस्तक उठाकर लाओ"। यह दूसरा वाक्य है। इसमें भी छिपा है एक काम। विचारिये, पुस्तक उठाकर लाना, उससे स्थान परिवर्तन के अतिरिक्त और क्या है ? एक स्थान-

से उठाकर दूसरे स्थान पर पहुंचा देना ही तो पुस्तक उठा कर लाना है या कुछ और ? "मेरे लिये एक मेज़ बना दो" यह तीसरा वाक्य है। विचार करें तो लकड़ी की हालत बदल कर अन्य हालत विशेष में लाना ही तो मेज़ बनाना है या कुछ और? अर्थात लकड़ी का रूप परिवर्तन करना ही वास्तव में मेज बनाने का काम है। और इसी प्रकार कोई भी लोक का काम करने का विचार कीजिये वह इन दोनों कोटियों में से कोई न कोई प्रकार का होगा। या तो होगा अपना व किसी का स्थान परिवर्तन करने रूप और या होगा अपना या किसी अन्य का रूप परिवर्तन करने रूप।

बस सिद्धान्त निकल आया, इसे याद रखना, आगे के प्रकरणों में इसे लागू करना होगा। "काम कहते हैं स्व तथा पर किसी भी पदार्थ के स्थान परिवर्तन को या रूप परिवर्तन को।

२ कर्त्ता कर्म सम्बन्धी पंचसमवाय निर्देश व स्याद्वाद की आवश्यकता

अब देखना है कि वस्तु में यह कार्य करने या किये जाने की व्यवस्था किस प्रकार हो रही है अर्थात काम कौन करता है, किसके द्वारा करता है, किसके लिय करता है, किस में से करता है, किसके सहारे करता है। क्योंकि जब तक स्पष्ट रूप से यह बात जान न लूंगा, मेरी पूर्व की धारणाओं में अन्तर आना असम्भव है। जिसके बिना इस करने धरने की व्यग्रता से छुटकारा मिलना असम्भव है। अतः शांति के उपासक के लिये वस्तु की कर्ता कर्म या कार्य कारण रूप व्यवस्था का परिचय पाना अत्यन्त आवश्यक है। यद्यपि विषय कुछ सिद्धान्तिक रूप धारण करके अवतरित हुआ है, जो मेरी शैली के विरुद्ध है पर क्या करूं इसके बिना काम चलेगा नहीं। अपनी पुरानी धारणाओं को तोड़ने के लिये मुझे वस्तु व्यवस्था पढ़नी ही होगी। विषय सम्भवतः कुछ कठिन लगे परन्तु ध्यान दोगे तो कुछ कठिन न पड़ेगा क्योंकि हर बात अनुभव में आ रही है।

आवश्यकता केवल इस बात की है कि यदि धारणाओं में पहले का कोई पक्ष पड़ा है तो थोड़ी देर के लिये उसे छोड़ दीजिये। अभिप्राय में खेंचातानी न रखिये। क्योंकि वस्तु व्यवस्था बड़ी जटिल व उलझी हुई है। यद्यपि एक ही बार सब कुछ देखने में तो खेंचातानी का काम नहीं है परन्तु शब्दों में वह एक ही बार दर्शाने की शक्ति न होने के कारण क्रम से ही व्याख्या की जानी सम्भव है। अतः कथन क्रम में कभी तो ऐसी बात आयेगी जो कि आप में से कुछ व्यक्ति पहले से ही स्वीकार करते हैं और शेष नहीं। और कुछ बात ऐसी आयेगी जो कि वह शेष व्यक्ति स्वीकार करते हैं पर पहले वाले कुछ नहीं। इसका कारण यही है कि हमने कुछ व्यक्ति विशेषों से सुनकर या किन्हीं शास्त्र विशेषों से पढ़कर वह बातें अवधारित करली हैं,परन्तु उनके अतिरिक्त शेष बातों का या तो निषेध सुनने में आया है या वह सुनने व पढ़ने को ही मिली नहीं। इसलिये उन उन बातों का कुछ पक्ष पड़ा हुआ है सो सम्भवतः अब भी आपको वस्तु व्यवस्था समझाने में कुछ बाधक पड़े। अपने अनुकूल बात सुनकर स्वभावतः ही कुछ प्रसन्नता व प्रतिकूल बात सुनकर कुछ खिचाव सा चित्त में उत्पन्न हुआ करता है, जिसमें से अनेकों शंकायें व प्रश्न खेंचातानी का रूप धारण करके निकल पड़ते हैं।

क्योंकि व्यवस्था जटिल है और एक दिन में ही बताई नहीं जा सकती, इसलिय आवश्यकता इस बात की है कि ऐसी शंकाओं को तब तक के लिये दबा रखें जबतक कि प्रकरण पूरा

न हो जाये। विश्वास दिलाता हूं कि प्रकरण पूरा हो जान के पश्चात आपके हृदय में कोई शंका न रह पायेगी और फिर भी यदि रह गई तो अन्त में प्रश्न कर लेना, अभी नहीं। धीरे धीरे आपकी सर्व शंकाओं का समाधान हो जायेगा। दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि शब्दों की या व्यक्ति की या आगम की पकड़ को छोड़ कर वस्तु में कुछ पढ़ने का प्रयत्न करें। जो बातें उसमें नित्य अनुभव में आयें या दिखाई दें उन सबको सरलता पूर्वक स्वीकार करें और एक का भी निषेध करने का प्रयत्न न करें, क्योंकि इस प्रकार आपके ज्ञान में वस्तु का तदनरूप प्रतिबिम्ब न पड़ने पायेगा, वह लंगड़ा हो जायेगा। इसलिये वह ज्ञान बजाय साधक होने के आपके मार्ग का बाधक बन बैठेगा और हानि आपको होगी मुझे नहीं, क्योंकि मेरी धारणा तो जैसी है वैसी ही रहेगी। अपने हित अहित को सोच कर अब ज्ञान को ढीला करके सुनिये।

वस्तु की कार्य व्यवस्था में हम पांच बातें देखते हैं। १. वस्तु का स्वभाव, २. किसी न किसी अन्य बात का संयोग या निमित्त, ३. वस्तु का पुरुषार्थ, ४. काल या समय का नियतिपना या काल लब्धि, ५. भवितव्य। इन पांचों का क्रम से विश्लेषण किया जाना है, ध्यान से सुनना और ज्ञान में सबको एकत्रित करते रहना, क्योंकि कार्य व्यवस्था में पांचों ही बातें समान रूप से आवश्यक हैं। या यह कहिये कि ये पांचों ही वस्तु व्यवस्था के आवश्यक अंग हैं। एक अंग के होने पर पांचों अंग होते हैं और एक के भी न होने पर पांचों ही नहीं होते। इन पांचों में आगे पीछे होने का भी भेद नहीं है, परन्तु कथन क्रम में अवश्य आगे पीछे कहे जाने का भेद है। वस्तु व्यवस्था व कथन क्रम में इतना अन्तर है कि किसी एक समय में जो कथन किया जाता है उसे वस्तु व्यवस्था का पूर्ण रूप न समझ बैठना, केवल एक अंग मात्र ही समझना। हां ज्ञान में सर्व अंगों को घुटमिट करके जो दिखाई दे वह वस्तु की पूर्ण व्यवस्था अवश्य है। ज्ञान में पूर्ण व्यवस्था देखने की शक्ति है पर वचन में कहने की नहीं। इसीलिये अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद ने जन्म धारा है। अब सुनिये पांचों अंगोंका क्रम से विवेचन।

३ स्वभाव निर्देश पहले सिद्ध कर आये हैं कि वस्तु परिवर्तन शील है (देखो विषय नं० ११ प्रकरण नं० ४) अर्थात प्रतिक्षण वह एक रूपको छोड़कर अन्य रूपको तथा एक स्थान को छोड़ कर अन्य स्थान को प्राप्त कर रही है। रूपों व स्थानों में नित्य परिवर्तन करते रहना वस्तु का स्वभाव है, और स्वभाव अहेतुक होता है, उसमें तर्क नहीं चलता। ऐसा परिवर्तन वस्तु में नित्य दिखाई दे रहा है और यदि किसी भी एक पदार्थ में किसी भी एक क्षण में यह परिवर्तन रुका हुआ दिखाई दिया होता तो उसे हम स्वभाव कभी नहीं कहते क्योंकि स्वभाव में कभी बाधा नहीं पड़ा करती — कि कभी तो दिखाई दे जाये और कभी नहीं। यदि वस्तु में स्वयं ऐसा परिवर्तन करने का स्वभाव न हुआ होता तो लोक की कोई भी शक्ति उसे परिवर्तन करने में समर्थ न हुई होती। जलने योग्य पदार्थ को ही जलाया जा सकता है, अबरक को नहीं। यदि परिवर्तन करना वस्तु का स्वभाव न हुआ होता तो लोक में कोई भी कार्य देखने में न आता, लोक कूटस्थ हो जाता। विश्व में दीखनेवाली यह भाग दौड़ कैसे दृष्टि में आती? और यह तो स्पष्ट देखने में आ रही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, प्रत्यक्ष दीखने वाले को अस्वीकार करना पक्षपात है। अतः निश्चित हुआ कि वस्तु में कार्य अर्थात परिवर्तन, उस वस्तु के अपने परिवर्तनशील स्वभाव के कारण हो रहा है, यह कार्य व्यवस्था का एक अंग हुआ।

४ संयोग या निमित्त निर्देश

इसके अतिरिक्त हम यह भी देख रहे हैं कि यह परिवर्तन किसी भी योग्य अन्य वस्तु का संयोगप्राप्त करके हो रहा है। संयोग विहीन कोई भी परिवर्तन आज विश्व में दिखाई ही नहीं देता। खेती वाले दृष्टान्त में (देखो विषय नं० १२ प्रकरण नं० ५) यह स्पष्ट दर्शा दिया गया है। यह पुस्तक भी मेरे हाथ के बिना उठ नहीं रही है। इस लकड़ी का यह चौकीवाला रूप भी बिना खाती के बन नहीं पाया है। एक अणु भी दूसरे अणुओं से टकराये बिना गतिमान होता दिखाई नहीं देता। यह खम्बा भी बिना हवा पानी या गर्मी सर्दी के संयोग के जीर्ण नहीं हो रहा है। यदि यथायोग्य संयोग न हो तो परिवर्तन होना असम्भव है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, अतः सरलता पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। दीखते हुए भी मात्र भ्रम कह कर इसे टाल देना और स्वीकार न करना पक्षपात है, ज्ञान की खेंच है। ज्ञान को ढीला करके देखें तो न स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। यहांभले किसी भी पक्षवश स्वीकार न करें पर जीवन प्रवाह के २४ घन्टों में भी इनकी स्वीकृती न हो तब मानें।

अरे अरे! मुख पर यह उदासी सी क्यों दीखने लगी? निराशा की रेखायें क्यों खिचने लगीं? सम्भल प्रभु सम्भल! पहले ही सावधान कर दिया था, अब फिर कर रहा हूँ। अन्तरंग की इस खींचातानी को छोड़, तेरे हृदय में उठने वाली इस शंका का मुझे भान है। "वस्तु स्वतन्त्रता के प्रकरण में यह परतन्त्रता कैसी?" यही है तेरा प्रश्न या कुछ और? घबरा नहीं, कथन क्रम में यथा स्थान उत्तर आ जायेगा और विषय स्पष्ट कर दिया जायेगा। यहां वस्तु को परतन्त्र बनाने का अभिप्राय नहीं है, संयोग होते दिखाई देते है या नहीं? बस इतनी बात है कि संयोग हुए बिना क्या कोई कार्य होता दिखाई देता है? यदि नहीं तो क्यों स्वीकार नहीं कर लेता? बस इतनी ही बात स्वीकार करने को कह रहा हूँ कि संयोग होता है, संयोग जबरदस्ती करता या कराता है यह सिद्ध नहीं किया जा रहा है और न ही ऐसा अभिप्राय है। जितनी बात कही जाय उतनी ही बात ग्रहण करे, बिना कहे अपनी ओर से उसमें कुछ अन्य बात मिलाने का प्रयत्न न करें कि संयोग प्राप्त होने पर कार्य कैसे होता है और कौन करता है यह बात आगे कही जायेगी। अतः कार्य व्यवस्था में संयोग या निमित्त का होना भी एक अंग अवश्य है जिसके बिना कार्य होना असम्भव है।

यहाँ निमित्त के सम्बन्ध में और भी बात जान लेनी योग्य है, निमित शब्द ही यह बता रहा है कि कार्य व्यवस्था में कोई पदार्थ संयोग को अवश्य प्राप्त होता है। निमित्त शब्द 'मिथ' धातु से 'नि' उपसर्ग पूर्वक बना है, 'मिथ' का अर्थ है मैथुन अर्थात संयोग निश्चित रीति से संयोग को प्राप्त हुई वस्तु को निमित्त कहते है, इसको अन्य भी इसी प्रकार के नामों से पुकारा जाता है जैसे संयोग, सहकारी, सहचारी, सहयोगी सहायक इत्यादि। वास्तव में इन सब शब्दों का भी वही अर्थ है जो कि निमित्त का। संयोग शब्द 'युज' धातु से बना है सं + योग अर्थात योग्य रीति से दो पदार्थों के मिलने को संयोग कहते है। सहकारी अर्थात सह + कारी – 'सह' अर्थात साथ साथ 'कारी' कार्य करने वाला साथ साथ रहकर कुछ कार्य विशेष या परिवर्तन करने वाले को सहकारी कहते हैं। सहचारी अर्थात सह + चारी – 'सह' अर्थात साथ साथ 'चारी' अर्थात प्रवाह क्रम मे आगे चलने वाले अथवा परिवर्तन करने वाले को सहचारी कहते हैं। सहायक अर्थात सह + अयक – 'सह' अर्थात साथ साथ 'अयक' अर्थात गमन करने वाला, साथ साथ गमन करने वाला या परिवर्तन करने वाले को सहायक कहते हैं।

विचारिये तो सही कि यदि यह संयोग, सहायक न होता या भ्रम मात्र होता तो इन संज्ञाओं की क्या आवश्यकता थी। अभावात्मक पदार्थों की कोई संज्ञा सुनने में नहीं आती। दूसरे यह निमित्त केवल उपस्थित मात्र हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वस्तु में कार्य या परिवर्तन होने के समय उपस्थित तो अनेक पदार्थ हुआ करते हैं, पर वह सब निमित्त नहीं हुआ करते निमित्त तो उन सब उपस्थितपदार्थों में से हम उसी पदार्थ विशेष को कह सकते हैं, जो स्वयं भी उस वस्तु के अनुरूप ही कुछ कार्य कर रहा हो, और उसके अनुरूप या इसके साथ साथ कार्य व परिवर्तन करने की शक्ति विशेष को जागृत करके वहां आया हो। देखो इस पुस्तक के उठते समय यहाँ मेरे हाथ के अतिरिक्त यह चौकी व वेष्टन भी उपस्थित अवश्य हैं पर इन तीनों में से इस समय इस पुस्तक के उठने मे निमित्त मेरा हाथ ही है,यह दोनों नहीं। इसलिये केवल उपस्थित मात्र कह कर स्वीकार करना न करने के बराबर ही है। जिस किसी भी व्यक्ति विशेष या उल्लेख विशेष से भी आपने यह "उपस्थित मात्र" का शब्द सुना या पढ़ा है, उसका भी अभिप्राय वह नहीं है, जो कि आपने पकड़ा है बल्कि वही है जो कि मैंने बताया है। भूल कहने वाले में नहीं है बल्कि ग्रहण करने वाले में है।

इसलिए शब्दों की खेंचातानी को छोड़ कर व्यवहार में नित्य कहे जाने वाले निमित्त के कर्तापने के वाक्यों पर हंसने की बजाय, उनको यथा योग्य स्वीकार कर लेना ही तेरे ज्ञान की सरलता का द्योतक होगा। यहां पुनः कह देना आवश्यक है कि ऐसी स्वीकृति से वस्तु परतन्त्र न बनेगी, ऐसा विश्वास रख, जैसाकि अगले प्रकरणों में सिद्ध कर दिया जायेगा। यह ध्यान रखें कि यहां संयोग की दृष्टि से बात हो रही है, स्वभाव या अन्य अंगों की दृष्टि से नहीं। जब उनका नम्बर आयेगा तब वैसी ही बात होगी। किसी एक बात की सिद्धि के लिये उसमें दूसरी बात को बीच में लाने से एक भी बात समझ में न आ सकेगी।

५ पुरुषार्थ निर्देश कार्य व्यवस्था का तीसरा अंग है 'पुरुषार्थ'। उसके बिना भी लोक का कोई कार्य होता देखा नहीं जाता। यहां पुरुषार्थ शब्द का वह अर्थ न समझना जो कि लोक में प्रयोग किया जाता है। लोक में तो केवल मनुष्य के या अधिक बढ़ें तो चेतन पदार्थ के पुरुषार्थ को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जड़ तत्व में साधारण जनों को कोई पुरुषार्थ होता दिखाई नहीं देता। 'पुरुषार्थ' यह शब्द भी पुरुष या जीव तत्व का इच्छा पूर्वक होने वाला जो प्रयत्न या प्रवृत्ति, उसके प्रति संकेत करता है। यही कारण है कि अहंकार को धारण करने वाला लोक जड़ पदार्थों को बिलकुल निःशक्त व अपने आधीन मान बैठा है। अध्यात्म में किसी भी शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता, यहां पुरुषार्थ शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है।

प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई पुरुषार्थ प्रति समय पाया जाता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, छोटा हो कि बड़ा, अपनी एक अवस्था विशेष को तजकर दूसरी अवस्था विशेष को धारण करने के प्रति या एक स्थान को तजकर अन्य स्थान को प्राप्त करने के प्रति बराबर झुकने का प्रयत्न कर रहा है। जैसे अग्नि पर रख देने से जल का धीरे धीरे ऊष्णता की ओर झुकना, अथवा भाप को किसी बर्तन में रोक देने पर उसका वहां से निकलने के प्रति उद्यम करना। यह बात अवश्य है कि आपके पुरुषार्थ की जाति किसी अन्य प्रकार की है, और जड़ के पुरुषार्थ की जाति अन्य प्रकार की। जो काम लाखों व्यक्ति मिल कर नहीं कर सकते वह एक अणु कर सकता है। आप चेतन पदार्थ हैं,

विचार शील हैं अतः आपके पुरुषार्थ की जाति भी विचारणाओं रूप हैं। परमाणु जड़ है, अतः उसके पुरुषार्थ की जाति भी जड़ात्मक है। आपका विकल्प करने रूप पुरुषार्थ इन्द्रियगोचर नहीं है, पर उसका गमनागमन रूप अथवा अग्नि आदि लगाने रूप या अन्य रूप पुरुषार्थ काझुकाव, साक्षातरूप से अथवा यन्त्र विशेषों की सहायता से इन्द्रियगोचर है।

अतः सिद्धान्त यह निकला कि प्रत्येक पदार्थ में पुरुषार्थ होता है। वह जड़ हो या चेतन, अन्तर केवल इतना ही है कि जड़ का पुरुषार्थ जड़ात्मक है और चेतन का पुरुषार्थ चेतनात्मक। जड़ात्मक होने के कारण उस जड़ पदार्थ में पुरुषार्थ का अभाव नहीं कह सकते। यदि कोई पदार्थ स्वयं अपने अन्दर अपने द्वारा अपने लिये नवीन अवस्था को उत्पन्न करने के लिये न झुके, तो पुरानी अवस्था विनश जाने पर वह पदार्थ अवस्था विहीन हो जाये, और ऐसा हो जाय तो इस विश्व में कुछ भी दिखाई न दे, सर्व शून्य हो जाये। पुरुषार्थ का यह आध्यात्मिक व्यापक रूप यदि 'पुरुषार्थ' शब्द में आपको दिखाई न दे सके तो भले ही इस शब्द को बदल कर 'परिणति' ऐसा शब्द रख लीजिये परन्तु 'पुरुषार्थ' शब्द का इस स्थल पर प्रयोग करने का मेरा क्या अभिप्राय है, उसे समझ लीजिये।

आगम भाषा में कहने पर-सर्व पदार्थों में वीर्य नामका एक सामान्य गुण स्वीकार किया गया है। जड़ का वीर्य जड़ात्मक और चेतन का वीर्य चेतनात्मक होता है। इस वीर्य गुण की पर्याय या प्रवृत्ति विशेष को पुरुषार्थ कहते हैं। कहा भी है 'जो परिणमन करे सो कर्ता कहलाता है, उसका जो परिणमन सो उसका कर्म या कार्य कहलाता है, और जो उस की परिणति अर्थात एक अवस्था को तज कर दूसरी अवस्था के प्रति गमन करने की प्रवृत्ति विशेष, सो उसकी क्रिया कहलाती है।' परिणमन और परिणति में इतना ही अन्तर है कि परिणति क्रिया है और परिणमन उसका फल। अर्थात नवीन पर्याय उत्पन्न हुई उसे परिणमन कहते हैं, और परिणति उस परिणमन को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति या झुकाव विशेष का नाम है। बस वस्तु की इस परिणति को ही यहाँ पुरुषार्थ शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है।

ठीक है कि यह अर्थ बादल आदि की वैस्रसिक अर्थात अन्य निरपेक्ष क्रियाओं में भी लागू होता है, परन्तु घट पट बनाने रूप प्रायोगिक या अन्य सापेक्ष क्रियाओं में नहीं। परन्तु स्व पर भेद विज्ञान के प्रकरण में, षट् कारकों पृथकत्व को सिद्ध करने के लिये, साझे की खेती का दृष्टान्त देकर, इस प्रकार के प्रायोगिक कार्यों का विश्लेषण पहले किया जा चुका है। जैसे साझे की खेती में किसान के अकेले अमूर्तीक चेतन का कार्य या क्रिया-राग या विकल्प करना, उसके शरीर का कार्य या क्रिया हिलन जुलन करना, तथा इसी प्रकार इस एक मिले जुले कार्य में बैल, हल आदि सर्व ही साझेदारों का पृथक पृथक कार्य दृष्टि में ला दिया गया है, उसी प्रकार घट पट आदि सर्व ही लौकिक व व्यवहारिक कार्यों का विश्लेषण करके, प्रत्येक साझीदार का पृथक पृथक कार्य का ग्रहण हो जाने पर लोक का कोई भी कार्य उस दृष्टि में प्रायोगिक न दीख सकेगा बल्कि वैस्रसिक ही दीखेगा। दूसरे पुरुषार्थ का

फल कार्य है, जब कार्य को ही पदार्थ का स्थान व रूप परिवर्तन मात्र स्थापित कर दिया गया तब पुरुषार्थ परिणति के अतिरिक्त और किसे कह सकते हैं।

वस्तु की इस अपनी परिणति रूप पुरुषार्थ के अभाव में, वस्तु की अवस्थाओं में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना असम्भव होने के कारण पुरुषार्थ भी कार्य व्यवस्था का एक अंग अवश्य है परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि पुरुषार्थ ही पर्याप्त है, क्योंकि निमित्त आदिक अन्य अंगों के अभाव में वह अकेला कुछ न कर सकेगा।
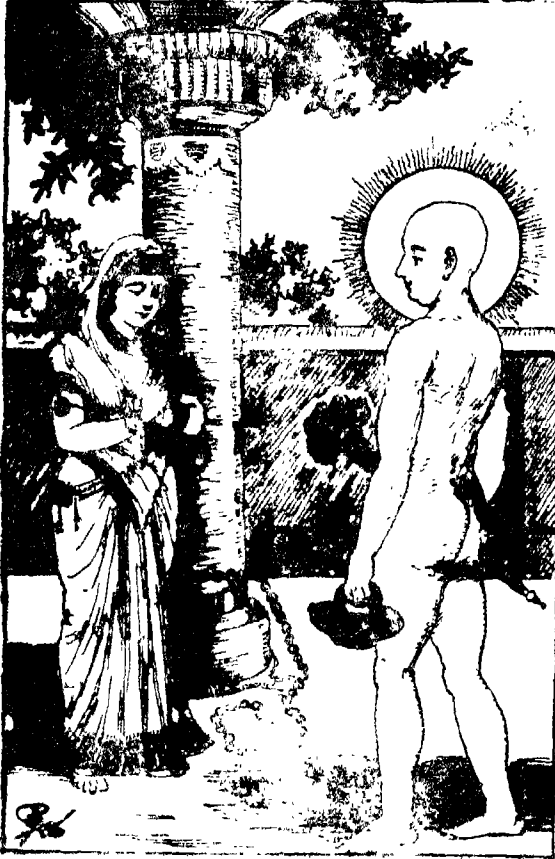
अन्तरंग शुद्धि व निमित्त का फल

कारागार में जंजीरों से बन्धी राजपुत्री सती चन्दनबाला ने जब भगवान महावीर को आहार-चर्या के लिये आते देखा तो उसके आहार दान के भाव जागृ होते ही सब बन्धन कट गये और उसके भाग्य ने पलटा खाया। ऐसा था वीर प्रभु के निमित्त का प्रभाव !

❀ १५ नियति व समन्वय ❀

सहारनपुर व पानीपत के प्रवचनों का सार

प्रवचन नं० २१-३०

१—नियति व भवितव्य निर्देश, २—नियति की सिद्धि, ३—अनेकों प्रश्न, ४—नियति व पुरुषार्थ का समन्वय, ५—नियति व अपराध का समन्वय, ६—नियति व भवितव्य में अन्तर, ७—नियति व उपदेश का समन्वय, ८—नियति का कर्ता कौन? ९—नियति व अकाल मृत्यु आदि का समन्वय, १०—नियति व आगम विरोध का समन्वय, ११—नियति व अनियति का समन्वय, १२—क्या नियति प्रेरक है? १३—साधक क्या करे? १४—नियति निमित्त व पुरुषार्थ तीनों का समन्वय, १५—वस्तु की जटिलता व वस्तु स्वतन्त्रता, १६—उपादेय क्या? १७—कर्मोदय व निज स्वतन्त्रता का समन्वय, १८—उपसंहार।

१ नियति व भवितव्य निर्देश

वस्तु की कार्य व्यवस्था में चौथा व पांचवा अंग है—'नियति' तथा 'भवितव्य'। अध्यात्मिक प्रकरणों में यह विषय सबसे अधिक जटिल व विवादग्रस्त है, अतः इसको समझाने के लिये मुझको सिद्धान्तिक शब्दों का आश्रय लेना पड़ेगा, जो आपको समझने में सम्भवतः कुछ कठिन पड़े, परन्तु फिर भी शक्ति अनुसार विषय को सरल बनाने का प्रयत्न करूंगा यह प्रकरण सुनकर आपको ऐसा लगेगा मानों पहले कहे गये निमित्त व पुरुषार्थ वाले अंगों पर पानी ही फेरा जा रहा हो, पर वास्तव में ऐसा अभिप्राय नहीं है। सर्व अंगों को युगपत कहा जाना सम्भव नहीं है, इसीलिये एक एक अंग को पृथक पृथक ग्रहण करके कहा जा रहा है। पहिले जब स्वभाव की बात कही थी तब केवल उस ही का पक्ष किया था अन्य अंगों का नहीं। इसी प्रकार जब निमित्त व पुरुषार्थ का नम्बर आया तो उन का ही पक्ष किया गया अन्य अंगों का नहीं। अब नियति व भवितव्य की बारी आई है, अतः इस प्रकरण में केवल इन्हीं का पक्ष लिया जायेगा अन्य अंगों का नहीं। वचनों के द्वारा एक समय में एक ही अंग का प्रतिपादन किया जाना शक्य है, इसीलिये वचन सर्वदा एकान्त रूप होते हैं। एक पक्ष को पकड़ कर उसका ही कथन करना और अन्य अंगों का कथन उस समय पीछे डाल देना, इसको आगम में 'नय' कहते हैं। यदि इनमे से दूसरे अंगों का अभिप्राय सर्वथा लोप कर दिया जाय तो यह नय 'दुर्नय' या 'एकान्त' कहलाती है, और यदि अभिप्राय में अन्य अंगों की मैत्री बराबर बनी रहे तो 'सुनय' कहलाती है। 'एकान्त' या 'दुर्नय' व्यक्ति के अधःपतन का कारण है। क्योंकि वह उसमें पक्षपात उत्पन्न कर देती है, परन्तु 'सुनय' वस्तु व्यवस्था का ठीक ठीक निर्णय कराके व्यक्ति के ज्ञान को व्यापक व सरल बना देती है, पक्षपात का विनाश करती है। अतः नियति के इस प्रकरण को सुन कर, केवल इसी का पक्ष पकड़ लेना योग्य नहीं है, बल्कि जैसा कि आगे समन्वय करते समय पांचों अंगो की मैत्री दर्शाई जायगी उसी प्रकार ज्ञान में सर्व अंगों को अवकाश

देते हुए वस्तु व्यवस्था में सर्व को ही युगपत देखने का प्रयत्न करना, अन्यथा पहिले सर्व कथन पर इस नियति से अवश्य ही पानी फिर जायेगा।

कर्मधारा रूप मानवीय अहंकार पर यह 'नियति' इतनी कड़ी चोट है, जिसे वह सहन नहीं कर सकता और बड़े जोर से चीखने लगता है। इस 'नियति' से काम्पता हुआ वह कभी आगम की दुहाई देता है और कभी पुरुषार्थ व कर्तव्य की। कभी निज स्वतंत्रता का द्वार खटखटाता है, और कभी प्रत्यक्ष रूप से दृष्ट कार्यों की साक्षी दिलाता है। कभी निमित्तों से रक्षा की प्रार्थना करता है और कभी स्वच्छन्दाचार का भय दिखाता है। गरज उस तत्व को पचाना तो दूर रहा, उसके सुनने की भी शक्ति आजके मानव में नहीं है। उसके सुनते ही हृदय में खलबली उत्पन्न हो जाती है, मन बौखला उठता है और शंकाओं का तूफ़ान उमड़ पड़ता है। अतः भाई इन शंकाओं को कुछ देर के लिये दबा कर धैर्य पूर्वक सुनने का प्रयत्न कर, विश्वास दिलाता हूं कि अन्त में तेरी सब शंकायें दूर हो जायेंगी।

'नियति' शब्द काल सूचक है और 'भवितव्य' भाव सूचक। 'नियति' का अर्थ है निश्चित समय पर किसी कार्य का होना, और भवितव्य का अर्थ है वह कार्य जो कि उस निश्चित समय मे होना योग्य है। 'नियति' का निर्देश आगम में 'काल-लब्धि' शब्द द्वारा किया गया है। और सौराष्ट्र से आने वाली 'क्रमबद्धता' की गुञ्जार भी इसी की ओर संकेत करती है। 'नियति' या निश्चित समय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त व पुरुषार्थ सब पर लागू होता है। अर्थात जिस द्रव्य में कार्य या अवस्था उत्पन्न होती है वह उस समय निश्चित रूप से वही होता है, जिस स्थान पर वह कार्य होना है वह क्षेत्र भी उस समय निश्चित रूप से वही होता है, जिस समय में वह कार्य होना होता है वह समय भी निश्चित रूप से वही होता है, जिस प्रकारसे तथा जोकार्य होना होता है वह कार्य या भवितव्य भी उस समय वही होता है, जिस निमित्त से होना होता है वह निमित्त भी उस समय वही होता है, और जिस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा होना होता है वह भी उस समय निश्चित रूप से वही होता है। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिये कि, "जो पदार्थ जहां जब जिस प्रकार से जिस निमित्त को प्राप्त करके तथा जिस प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा जो भी कार्य या भवितव्य होने वाला होता है, वह पदार्थ वहां तब उसी प्रकार से उसी निमित्त को प्राप्त करके उसी प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा वही कार्य या भवितव्य निश्चित रूप से होता है; इसमें जिनेन्द्र या देवेन्द्र कोई भी फेर फार करने में समर्थ नहीं है। ऐसी इस सिद्धान्त की निर्भीक घोषणा है।

देख इस बात को सुनते ही तेरे मन में उथल-पुथल मचने लगी। 'पुरुषार्थ बाधित हो जायगा,' 'कोई भी कार्य अपराध न रहेगा', 'स्वच्छन्दाचार का पोषण हो जायेगा', 'मैं नियति के बन्धनों में जकड़ा जाऊंगा', 'सिद्धान्त का उपहास हो जायेगा' इत्यादि अनेकों प्रश्न चित्त में खलबली मचाने लगे। इस विषय को समझना है तो इन शंकाओं को दबा और ज्ञान को सरल कर, अहंकार को पीछे हटा और व्यापक दृष्टि उत्पन्न कर, कर्मधारा की ओर से हट और पूर्वोक्त ज्ञानधारा में प्रवेश पा, क्योंकि यह विषय कर्मधारा का नहीं है, ज्ञानधारा का है। कर्मधारा में जाने पर तेरे सारे ही प्रश्न सार्थक हैं और उस अवस्था मे मैं उन सब को तेरी मान्यता के अनुसार सहर्ष स्वीकार करता हूं। परन्तु यहां तो एक अलौकिक विचित्र दृष्टि का परिचय दिया जा रहा है, जो कि शान्ति पथ का मूल आधार है। और सब बातें तो जानी देखी हैं; यह बात सर्वथा अपरिचित है, इसलिये अनोखी

लगती है। समझने का प्रयत्न कर, समझ में बैठ जाने पर यह सर्व आशंकायें स्वतः दूर हो जायेगी। यहां ज्ञाता दृष्टा बनानेकी बात है, हृदय में प्रभुत्व उत्पन्न करने की बात है, वर्तमान में ही सर्वज्ञ बनने की बात है, तेरे ज्ञान की महिमा दर्शाने की बात है। बात अलौकिक है, अतः लौकिक दृष्टि से नहीं दिव्य दृष्टि से समझी जा सकती है। भगवान का विराट रूप दिखाने के लिये गीता में अर्जुन को दिव्य चक्षु प्रदान की गई थी, उसी के द्वारा देखने का प्रयत्न कर। पहिले अध्याय नं० १३ में बताई गई ज्ञानधारा ही वह दिव्य चक्षु है।

२ नियति की सिद्धि

नियति की सिद्धि पांच प्रकार से की जा सकती है ज्ञान से, आगम से, तर्क से, अनुभव से व विज्ञान से। ग्रन्थ विस्तार के भय से तथा विषय लम्बा खिंचजाने पर कदाचित् इसी पक्ष का पोषण आवश्कता से अधिक न हो जाय, जिसके कारण कि निमित्त आदि अन्य अंग कदाचित् निःसार भासने लगें, इस भय से संक्षेप में ही यह सब कथन लिखता हूं। विशेषतः तो मुख द्वारा कह कर ही समझाया जा सकता है।

सर्व ही मतों व सम्प्रदायों की भांति जैन दर्शन ने भी भविष्यग्राही ज्ञान स्वीकार किये हैं। भविष्य में होने वाले किसी कार्य तथा संयोगों आदि को वर्तमान में ही प्रत्यक्ष व निश्चित रूप से जानने वाले ज्ञान को भविष्य ग्राही ज्ञान कहते हैं। यद्यपि वर्तमान में इन ज्ञानों का प्रत्यक्ष नहीं होता है परन्तु सर्व ही सम्प्रदायों के आगमों से उसकी सत्ता पर विश्वास अवश्य किया जाता है। एक ज्ञान तो ऐसा है, कि आगे होने वाले घट पट आदि दृष्ट कार्यों को, अथवा मानवीय व्यापार धन्धों को, अथवा जन्म मरण को, अथवा धन की लाभ हानि को, अथवा शत्रु मित्र या अन्य पदार्थों के संयोग वियोग को तथा इसी प्रकार के अन्य भी अनेकों स्थूल दृष्टि गम्य कार्यों को, कई वर्ष पहले से ही जान लेता है। ए से ज्ञान को 'अवधिज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान इन सर्व कार्यों को वर्तमान में ही प्रत्यक्षवत् देखता है। ज्योतिष ज्ञान भी इन सर्व कार्यों का पहिले से निश्चित अनुमान लगा लेता है। यह यद्यपि अवधिज्ञान वत प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु निश्चित अवश्य होता है, जैसे कि सूर्य ग्रहण का निश्चित समय बताने वाला ज्ञान। इसको आगम में निमित्त ज्ञान कहते हैं, यह भी स्वर, चिन्ह आदि आठ प्रकार का होता है, विस्तार के भय से यहां उनके भेद प्रभेद कहना इष्ट नहीं है। एक ज्ञान ऐसा होता है कि आगे होने वाले अदृष्ट मानवीय बुद्धि के विकल्पों को भी पहिले से ही प्रत्यक्ष जान लेता है। वह यहां तक बता देता है कि दो महीने पीछे अमुक समय अमुक व्यक्ति ऐसा विचार करेगा, इस को आगम में 'मनः पर्यय ज्ञान' कहा गया है। चौथा ज्ञान सर्वज्ञ का है, जो जड़ व चेतन के सकल चराचर, सूक्ष्म व स्थूल, दृष्ट व अदृष्ट, शुद्ध व अशुद्ध, स्वाभाविक व वैभाविक, भूत वर्तमान भविष्यत के सर्व ही कार्यों को हस्तामलकवत् वर्तमान में देखता है। उसे आगमकारों ने 'केवल ज्ञान' के नाम से कहा है। यह ज्ञान अत्यन्त व्यापक व निर्विकल्प होने के कारण हमारे अनुमान का विषय नहीं है, परन्तु अवधि आदि पहिले तीन भविष्य ग्राही ज्ञान स्पष्ट रूप से विकल्पात्मक स्वीकार किये गये हैं।

यहाँ इतना ही अनुमान किया जाता है, कि यदि कोई भी भविष्यग्राही ज्ञान की सत्ता स्वीकारनीय है तो 'नियति' को स्वीकार करना ही होगा। बिना नियत वस्तु व्यवस्था को स्वीकार किये इस प्रकार के ज्ञान, मात्र कल्पना बन कर रह जायेंगे। क्योंकि जैसा कि कार्य पहिले हुआ था वैसा ही ज्ञान वर्तमान में जानता है और जैसा जानता है वैसा ही हुआ था। इसी प्रकार जैसा कार्य वर्तमान में हो रहा है वैसा ही ज्ञान जानता है और जैसा वह जानता है वैसा ही हो रहा है। इसी

प्रकार से यह भी मानना होगा कि जैसा कार्य आगे भविष्य में होगा वैसा ही वह ज्ञान वर्तमान में जानता है और जैसा वह जानता है वैसा ही होगा। जिस प्रकार जानने के अनुसार ही भूत काल का कार्य निश्चित है, उसमें फेर फार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जानने के अनुसार ही भविष्यत काल का कार्य भी निश्चित है, उसमें भी फेर फार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान के आधार पर कार्य होना निश्चित नहीं है, बल्कि कार्य के आधार पर ज्ञान का होना निश्चित है। ज्ञान ने जैसा जाना है इसलिये ही कार्य वैसा नहीं होता बल्कि कार्य जैसा स्वयं होना निश्चित है इसलियें ही ज्ञान ने वैसा जाना है। जिस प्रकार दर्पण में जैसा प्रतिबिम्ब है, उसके सामने पदार्थ भी निश्चिय रूप से वैसा ही है, उसी प्रकार ज्ञान में जैसा प्रत्यक्ष हो रहा है, उसके सामने ज्ञेय या वह कार्य भी निश्चित रूप से वैसा ही है। इस प्रकार ज्ञान से नियति की सिद्धि होती है।

अब आगम से देखिये। सर्व ही सम्प्रदायों के आगम योगियों के द्वारा की गई भविष्य बाणियों के उदाहरण से भरे पड़े हैं। भगवान नेमिनाथ ने द्वीपायन द्वारा १२ वर्ष पश्चात द्वारका दहन होना बताया और वह उस समय जाकर उसी प्रकार हुआ। जरदकुमार व श्री कृष्णजी सम्बन्धी भविष्यबाणी भी उसी प्रकार हुई। सूकुमाल व सुकौशल के योगधारण करने सम्बन्धी बात अवधिज्ञानी मुनिने बताई, वह भी वैसे ही हुई। देवकी के पुत्र द्वारा कंस व जरासंध का संहार भी जैसा अवधिज्ञानी मुनि ने पहिले से बता दिया था वैसा ही हुआ, तथा इसी प्रकार अन्य भी। यदि इस प्रकार के उदाहरणों व घटनाओं की निश्चित सूचना देने वाला कथानुयोग या पुराण शास्त्र सत्य हैं और आप उन्हें प्रमाणिक मानते हैं, तो अवश्य ही वस्तु व्यवस्था की नियति को स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा वह आगम गपोड़शंख बन कर रह जायगा। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त शास्त्रों में भी यद्यपि इस विषय को पृथक ग्रहण करके दर्शाया नहीं गया है, परन्तु प्रकरण वश काललब्धि, दैव, भवितव्य आदि नामों से इसी सिद्धान्त को हजारों स्थलों पर आचार्यों ने स्वीकार अवश्य किया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, राजवार्तिक, धवला आदि महान ग्रन्थों में काललब्धि की निश्चित स्वीकृति की गई है। विषय विस्तार के भय से सर्व उद्धरण यहाँ दिये जाने सम्भव नहीं है, पर इन सब से आगमकारों द्वारा नियति की स्वीकृति सिद्ध अवश्य हो जाती है।

तर्क के द्वारा भी इसकी सिद्धि की जा सकती है। खेती वाले दृष्टान्त में यदि किसान से प्रश्न करे कि 'बीज आज क्यों फूटा आगे पीछे क्यों नहीं', तो कहेगा कि दो दिन पहिले ही लगाया था। दो दिन पहिले ही क्यों लगाया था? तभी खेत तैयार हुआ था। तभी खेत तैयार क्यों हुआ आगे पीछे क्यों नहीं? १५ दिन पहिले ही हल चलाना आदि कार्य प्रारम्भ किया था। तब ही क्यों प्रारम्भ किया? मौसम तभी ठीक हो पाई थी, या ऐसा विकल्प तभी उपजा था। मौसम तभी क्यों ठीक हुई या विकल्प तभी क्यों उपजा आगे पीछे क्यों नहीं? बताइये इस प्रश्न का क्या उत्तर? नियति के अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं। तभी मौसम आई अथवा विकल्प उपजा इतना जानना अवश्य है, पर 'क्यों' इसका कोई उत्तर नहीं। इसी प्रकार किसी भी कार्य के सम्बन्ध में यदि प्रश्न पर प्रश्न करते चले जायें तो एक स्थिति अन्त में अवश्य ऐसी आ जायेगी जब तर्क हार मान जायेगा, कारण-कार्य भाव लुप्त हो जायेगा। बस इसी से नियति की सिद्धि होती है।

अनुभव से भी इसकी सिद्धि हो सकती है, क्योंकि आप सब के जीवन में नित्य ऐसी अनेकों घटनायें आती हैं, जबकि आप करना तो कुछ और चाहते हे और समय आने पर हो कुछ और जाता है। कदाचित ज्योतिषी के द्वारा बताई गई भविष्य सम्बन्धी कोई बात को जानबूझकर झूठी करने का उद्यम भी करते हो, पर फिर भी वह घटना उसी प्रकार घट जाती है जिस प्रकार कि बताई गई थी। पूज्य वर्णी जी के जीवन में भी एक ऐसी घटना हो चुकी, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी जीवन गाथा में स्वयं किया है। न चाहते हुए भी समय आने पर आपको कुछ कुछ कार्य विशेष करना पड़ता है विस्तार के भय से उदाहरण नहीं देता, पर मेरे तात्पर्य को आप समझ गये होंगे। 'नियति' के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं इसे।

विज्ञान के आधार पर भी इसकी सिद्धि की जा सकती है। विस्तार भय से अधिक कहा जाना यहाँ सम्भव नहीं, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि पृथ्वी, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र आदि की प्रतिदिन की निश्चित गति विधि के कारण जिस प्रकार नियत समय पर ऋतुओं का आना जाना अथवा सूर्य व चन्द्र ग्रहण का होना अथवा ग्रह नक्षत्रों का निकट व दूर हो जाना नियत है, उसी प्रकार सूर्य आदि की उस सूक्ष्म गति के कारण जो कि सैकड़ों वर्ष पश्चात दृष्टि मे आती है, शताब्दियों व सहस्राब्दियों में होने वाला कुछ परिवर्तन समान्य तथा काल चक्र में हानि वृद्धि, और उसके फलस्वरूप आगे जाकर प्रलय आदि भी निश्चित समय पर ही होती है। आज की दिखाई देने वाली शारीरिक शक्ति में सामान्य क्षति, शरीरों की लम्बाई चौड़ाई का धीरे धीरे घटोतरी की ओर जाना आदि सब उस नियत प्रकृति के परिवर्तन के चिन्ह हैं।

३ अनेकों प्रश्न गरज यह कि किसी प्रकार भी यह 'नियति' व 'भवितव्य' वस्तु व्यवस्था में अपना स्थान रखते अवश्य हैं। अब इसके सम्बन्ध में उठने वाले अनेकों प्रश्न भी सामने लाकर उनका योग्य समाधान कर देना उचित है। यद्यपि इनके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रश्न हो सकते हैं, परन्तु यहां केवल मुख्य मुख्य ही प्रश्नों का ग्रहण करने में आया है।

१. नियति को स्वीकार कर लेने से पुरुषार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं रह जाती, तथा मोक्ष भी जब होनी होगी हो जायेगी, उसके प्रति मगज़पच्ची भी क्यों करूं?
२. यदि बुद्धि के विकल्प भी नियत हे तो मैं नियति आधीन बन बैठूंगा?
३. जो होना था हुआ, करने वाले का क्या दोष। अतः अपराध किसे कहेंगे?
४. नियति व भवितव्य में क्या अन्तर है।
५. यदि आचार्यों को यह सिद्धान्त मान्य था, तो उन्होंने धर्म करने का उपदेश क्यों दिया।
६. नियति की यह व्यवस्था कौन करता है, क्योंकि बिना किये ऐसी व्यवस्था हो नहीं सकती?
७. नियति को स्वीकार कर लेने पर अकाल मृत्यु व कर्मों के उत्कर्षण अपकर्षण का कुछ अर्थ नहीं रहता?
८. आगम में नियति के स्वीकार को मिथ्यात्व बताया है, अतः उसके स्वीकार करन पर आगम से विरोध आता है।

९. अनेकान्त के अनुसार नियति के सामने अनियति कैसे घटित होगी ?
१०. क्या नियति काम करने की प्रेरणा देती है ?
११. इन पांचों अंगों में से साधक क्या करे ?
१२. सब कुछ नियत है तो निमित्त व पुरुषार्थ नाम मात्र को ही रह जायेंगे ?
१३. यदि निमित्तों का बल स्वीकार करते हैं तो वस्तु परतन्त्र हो जायेंगी ?
१४. ज्ञानधारा व कर्मधारा में उपादेय क्या है ?
१५. यदि कर्मोदय के अनुसार ही जीव के परिणाम होते हैं, तो मुक्ति होना असम्भव हो जायेगा ?

अब इन प्रश्नों का क्रम से उत्तर देता हूं।

४ नियति और पुरुषार्थ का समन्वय

पहिला व दूसरा प्रश्न है यह कि नियति के सामने पुरुषार्थ का अभाव हो जायेगा। मोक्ष के लिये उद्यम करने की कोई आवश्यकता न रहेगी तथा मैं नियति के आधीन बन बैठूंगा। सो भाई! पुरुषार्थ का अर्थ समझाते समय यह भलीभांति बता दिया गया है कि प्रत्येक पदार्थ, जड़ हो कि चेतन, वह परिवर्तन स्वभावी है। प्रत्येक क्षण नवीन नवीन परिवर्तन या कार्य करते रहना या उसकी परिणति ही उसका पुरुषार्थ है। तू भी एक चेतन वस्तु है। परिवर्न या या कार्यरूप पुरुषार्थ करना तेरा स्वभाव है। स्वभाव का अभाव तीन काल में नहीं हो सकता। अतः पुरुषार्थ के अभाव का तो प्रश्न ही नहीं, हां मोक्ष के पुरुषार्थ का अभाव हो जायेगा यह शंका कर सकता है।

सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि खाली तो तू बैठ नहीं सकता, कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। अब तू यह बता कि तुझे क्या करना अच्छा लगता है? यदि कर्मधारा रूप लौकिक कार्य करना भाता है तब तो नियति पर श्रद्धान आया कैसे कहा जा सकता है? नियति तो यह बताती है कि लौकिक व अलौकिक, कुछ भी अपने अनुकूल बनाने का अधिकार तुझे नहीं है। अतः दोनों ही दिशाओं सम्बन्धी करने धरने के विकल्प को छोड़ कर, जो कुछ हो रहा है या होने वाला है उसे केवल देख व जान। मोक्ष मार्ग को तो नियति पर छोड़ना और संसार मार्ग को पुरुषार्थ की ओर खेंचना ही बता रहा है कि तेरे अभिप्राय में कर्मधारा है ज्ञानधारा नहीं। सब कुछ नियतरूप होता देखना ही ज्ञानधारा है। बाहर में कुछ अपनी कल्पना के अनुसार परिवर्तन करने के विकल्प कर्मधारा हैं, जिस..ा आधार नियति नहीं अनियति है अर्थात कर्मधारा नियति के अनुरूप पुरुषार्थ का नाम नहीं है बल्कि अनियति की ओर के पुरुषार्थ का नाम है। दोनों ही दशाओं में पुरुषार्थ बाधित नहीं होता। नियति के आधीन ही बन पाता है, क्योंकि जब तक कर्मधारा रूप पुरुषार्थ कर रहा है तब तक तो तुझे नियति पर विश्वास ही नहीं, उसके आधीन कै े हो सकता है, और जब नियति का विश्वास करके उसके आधीन बन जायेगा तब तू ज्ञानधारा रूप पुरुषार्थ करता होगा। इस प्रकार से उसकी आधीनता इष्ट ही है।

५ नियति व अपराध का समन्वय

तीसरा प्रश्न है कि जो होना था वही हुआ करने वाले का क्या दोष, सो भी बात नहीं है, क्योंकि 'नियति' तो केवल काल सूचक है। उस काल में होने वाला कार्य तो 'भवितव्य' का विषय है। पहिले से सूचना देकर नियत समय पर डाका डालने वाला

कोई व्यक्ति, क्या अपराध से मुक्त किया जा सकता है ? इसी प्रकार नियत काल पर होने मात्र से अपराधी निरपराधी नहीं हो सकता। जिस जाति का भी कार्य उस समय हुआ है, वह उसी जाति का रहेगा, नियति के समय पर होने के कारण उसकी जाति में अन्तर क्यों पड़ेगा ? अतः उस नियत समय में अपराध रूप कार्य या भवितव्य हुआ है, तो उसका फल भी दण्ड रूप नियत ही है। और यदि न्याय रूप कार्य या भवितव्य हुआ है तो उसका फल शुभ ही समझो। नियति अपराधी को दण्ड से मुक्त नहीं करा सकती।

६ नियति व भवितव्य में अन्तर

चौथा प्रश्न है कि नियति व भवितव्य में क्या अन्तर है ? सो 'नियति' शब्द काल सूचक है और 'भवितव्य' भाव सूचक। 'नियति' का अर्थ है निश्चित समय पर किसी कार्य का होना और भवितव्य का अर्थ है वह कार्य जो कि उस समय होने योग्य है। दोनों का जोड़ा है, एक के बिना दूसरे का कोई अर्थ नहीं। जैसे नियति कहने से तो केवल इतना पता चलता है कि अमुक समय में कार्य होगा ही, पर क्या कार्य होगा यह पता नहीं चलता। यदि जो कोई भी कार्य हो जाये तो नियति कहने ही की क्या आवश्यकता, क्योंकि सो तो हो ही रहा है। कोई न कोई काम तो वस्तु को प्रतिक्षण करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार 'भवितव्य' केवल इतना बताता है कि अमुक प्रकार का ही कार्य होगा, परन्तु 'कब', यह नहीं बताता। यदि जब कभी भी वह कार्य हो जाये तो भवितव्य के कहने की ही आवश्यकता क्यों, क्योंकि कभी न कभी तो वह कार्य होगा ही। अतः दोनों मिल कर इस निश्चित अर्थ के द्योतक होते हैं, कि जो कार्य जिस समय होना निश्चित है उसी समय होता है। यद्यपि दो अंग न कह कर एक नियति या भवितव्य या दैव आदि कहने से भी काम चल सकता है, परन्तु यहां कथन को सुगम बनाने के लिए एक के दो खण्ड करके ग्रहण किया गया है।

७ नियति व उपदेश का समन्वय

पांचवां प्रश्न है कि नियति की स्वीकृति होते हुए भी, आचार्यों ने उपदेश क्यों दिया ? यद्यपि साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। क्योंकि उपदेश देना किसी विकल्प पूर्वक होता है उपदेशदाता यद्यपि 'नियति' के सिद्धान्त को भूल नहीं गया है, पर यह जो विकल्प आ धमका है उसका क्या करे ? कभी कभी तो जबकि विकल्प की शक्ति मन्द होती है, वह उसको नियति सम्बन्धी विचारणाओं से दबा भी देते हैं, पर जब वह प्रबल शक्ति से प्रगट होता है तब उसकी प्रवृत्ति तदनुरूप ही हो जाती है। श्रद्धा में नियति रहते हुए भी प्रवृत्ति में उसे भूल जाता है। अन्तर में भले ही यह जानता हो कि श्रोता का हिताहित तेरे आधीन नहीं, और समय से पहिले नहीं हो सकता, परन्तु विकल्प होने पर तदनुरूप कार्य न करे तो क्या करे ? क्या उससे विपरीत कोई अन्य कार्य करे ? क्या ऐसा किया जाना सम्भव है ? विकल्प कर्मधारा है ज्ञानधारा नहीं, जिसमें प्रवेश पाकर सब कुछ अनियत दीखने लगता है, क्योंकि वह कारणकार्य भाव को अवकाश देता है, अर्थात,' ऐसा करूं तो ऐसा हो जायेगा' यह भाव जागृत हो जाता है। उपदेश अन्तरंग की किसी प्रेरणा से निकला करता है, जिसका आधार श्रोता को किसी विशेष दशा में देखने की इच्छा होती है। इसी को अनियति की दृष्टि कहते हैं।

८ नियति का कर्त्ताकौन

अब छटा प्रश्न यह है कि नियति की यह व्यवस्था किसने बनाई, और बिना बनाये ऐसी नियत व्यवस्था कैसे चले ? सो भाई ! वस्तु की स्वभाविक व्यवस्था में किसी के कर्तापने की क्या आवश्यकता ? जैसा जैसा विकल्प उस उस समय बुद्धि में जागृतहो, तब तब वैसी ही प्रवृत्ति होती

है, अन्य प्रकार नहीं। जैसी प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार के निमित्तों का संयोग किया जाता है और उससे तदनुरूप ही कार्य की सिद्धि होती है। बाह्य की सर्व क्रियाओं की अधिष्टात्री वह बुद्धि है जो कि 'नियत' है, जैसा कि पहिले सिद्ध कर दिया गया है। यदि कार्य कारण भाव की शृंखला में एक कड़ी भी नियत है, तो उसके आगे की सर्व कड़ियां स्वतः नियत हो जाती हैं, अतः इस का कर्ता स्वभाव व वस्तुव्यवस्था के अतिरिक्त और कोई नहीं।

९ नियति व अकाल मृत्यु आदि का समन्वय

समय से पहले विषभक्षण आदि से होने वाली मृत्यु को 'अकालमृत्यु' कहते हैं। कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत पूर्व बद्ध कर्मों की स्थिति आदि के घटने बढ़ने को 'अपकर्षण' व 'उत्कर्षण' कहते हैं प्रकृति के बदल जाने को 'संक्रमण' कहते हैं। समय से पहिले कर्म को उदय में लाना 'उदीरणा' कहलाती है और समय से पहिले उन्हें झाड़ देना निर्जरा कहलाती है। "आगम कथित ये सब विषय नियति के बाधक हैं", ऐसी आशंका भी करनी योग्य नहीं, क्योंकि उसका उत्तर तो वही उपरोक्त विकल्प है, जिसके आने पर तदनुरूप ही प्रवृत्ति स्वतः होती है। तीव्र क्रोध आने पर ही विषभक्षण आदि का कार्य होता है, उसके अभाव में नहीं। इसी प्रकार अपकर्षण, उदीरणा व निर्जरा आदि के सम्बन्ध में भी जानना। क्योंकि अकाल मृत्यु का अर्थ आयु कर्म की उदारेण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अकाल तो केवल इस लिये कही जाती हैकि जितनी आयु बन्धी, उतनी स्थिति पूरी नहीं की। वास्तव में कोई भी कर्म ऐसा नहीं जिसकी स्थिति बन्ध के अनुसार ही उदय में आती हो। बुद्धि हीन सूक्ष्म प्राणियों में भी यह उत्कर्षण आदि बराबर हो रहे हैं। जैसा जैसा विकल्प उस उस समय आता है, वैसी वैसी प्रवृत्ति ही उस उस समय होती है, तत्फलस्वरूप वैसा वैसा ही नवीन बन्ध व उत्कर्षण आदि होता है। उत्कर्षण आदि के परिणाम कोई और हों और बन्ध के कोई और ऐसा नहीं है। एक समय के एक परिणाम या प्रवृत्ति से ही बन्ध होता है, उसी से ही उसी समय यथा योग्य उत्कर्षण अपकर्षण आदि होते हैं, अतः इन से नियति बाधित नहीं हो सकती।

१० नियति व आगम विरोध का समन्वय

अब आठवां प्रश्न है यह कि नियति की स्वीकृति को आगम में मिथ्यात्व बताया गया है। सो भाई ! यह बात भी दृष्टि की संकीर्णता के कारण ही निकल रही है। गोमट्टसार आदि ग्रन्थों में जहां इसे मिथ्यात्व बताया है, वहां यह देख कि प्रकरण क्या चल रहा है, और फिर उसके अनुसार ही उसका अर्थ लगा। आश्चर्य होगा यह सुन कर कि जहां पर तुझे नियति का निषेध दिख रहा है, वहां पर ही मुझे नियति का समर्थन दिख रहा है, सो कैसे वही बताता हूं।

वहां पर प्रकरण एकान्त मिथ्यात्व का है, जिसके ३६३ भेद करके दिखाय हैं। अस्ति नास्ति आदि सप्त भंग, जीवादि सप्त तत्व या नव पदार्थ, नित्य अनित्य आदि विकल्प तथा लोक में प्रसिद्ध ८ वादों को परस्पर में गुणा करके क्रियावादियों आदि के अनेकों भंग बनाये गये हैं, जिन सब का जोड़ ३६३ होता है। वे आठ वाद भी ये हैं—१ स्वभाववाद, २ आत्मवाद, ३ ईश्वरवाद, ४ कालवाद, ५ संयोगवाद, ६ पुरुषार्थवाद, ७ नियतिवाद, और ८ दैववाद। उस स्थल पर इन आठों वादों के लक्षण मात्र किये गये हैं उनका निषेध नहीं। हां प्रकरणवश उनके निषेध का तात्पर्य वहां अवश्य है, परन्तु सर्वथा निषेध का प्रयोजन नहीं है। उन उन को एकान्त रूप से ग्रहण करना, अर्थात अपनी रुचि के अनुसार उन में से कोई एक या दो आदि वाद तो स्वीकार करले और अन्य का निषेध करदे ऐसा करना एकान्त मिथ्यात्व है।

इस प्रकार यदि गौर से देखा जाये तो वहां एक नियतिवाद को ही मिथ्यात्व बताया गया हो, ऐसा नहीं है। वहां तो सप्त भंग, साततत्व नव पदार्थ सबकी स्वीकृति को एकान्त बताया गया है। तू यदि पुरुषार्थ या संयोग व निमित्त के गान गाता है. तो वहां उनकी स्वीकृति को भी मिथ्यात्व कहा गया है। वहां तो स्वभाव की स्वीकृति को भी मिथ्यात्व कहा है। जैनागम का कौनसा ऐसा तत्व है जिसे वहां मिथ्यात्व न कहा गया हो। यदि उस कथन पर से नियति का निषेध करना है तो अन्य सर्व वादों व अंगों का भी निषेध करना पड़ेगा। और यदि ऐसा करदे तो रह ही क्या जाये? क्या सर्व शून्य की स्वीकृति को सम्यक्त्व कहेगा ?

भाई ! वहां नियति का निषेध नहीं किया है बल्कि सप्त तत्वों आदि की भांति उसको भी स्वीकार करने के लिये कहा है। वहां तो यह बताया है कि जिस प्रकार निमित्त व पुरुषार्थ से हीन नियति की स्वीकृति एकान्त है उसी प्रकार नियति से हीन पुरुषार्थ व निमित्त आदि की स्वीकृति भी मिथ्यात्व है। क्योंकि सर्व कथन कर देने के पश्चात आचार्य स्वयं वहां एक गाथा कह रहे हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि, "एकान्त मिथ्यात्व के ये ३६३ भेद कह दिये गये, पर ये इतने ही नहीं हैं, असंख्यात हैं, क्योंकि जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही एकान्त हैं। अन्य मतवादियों के वही वचन मिथ्या हैं क्योंकि वे सर्वथा शब्द के साथ वर्तते हैं, परन्तु जैन या अनेकान्त वादियों के वही वचन सम्यक हैं क्योंकि वे कथंञ्चित से चिह्नित हैं।" इस गाथा के अनुसार 'नियति' का सर्वथा निषेध करके शेष बचे ३६२ की स्वीकृति भी एकान्त कहलायेगी।

किसी न किसी प्रकार इन ३६३ तथा इन के अतिरिक्त अन्य अनेक बातों को युगपत स्वीकार करना ही वास्तव में व्यापक अनेकान्त दृष्टि है और वही सम्यक्त्व है। अब तू ही निर्णय करले कि यहां नियति का निषेध कराया गया है या स्वीकार ?

११ नियति व अनियति का समन्वय

यहां नवां प्रश्न यह उपस्थित होता है, कि यदि नियति अनेकान्त का एक अंग है तो इसके सामने इसके विरोधी अनियति को भी स्वीकार करना होगा, तब उनका सम्बन्ध फिर कैसे ठीक बैठेगा ? यह प्रश्न बड़ा सुन्दर है और ज्ञान की सरलता का साधक है। वास्तव में वस्तु व्यवस्था को सर्वथा नियति नहीं कहा जा सकता, किसी अन्य दृष्टि से देखने पर वह अनियत भी अवश्य है। नियत व अनियत दोनों प्रकार से देखना ही उस उस दृष्टि विशेष की अपेक्षा सत्य है। सो कैसे वही बताता हूं।

अनेकों बार पहिले इस बात की ओर संकेत किया गया है कि यह सब कथन ज्ञानधारा की ओर से किया जा रहा है, कर्मधारा की ओर से नहीं। ज्ञानधारा ज्ञातादृष्टा भाव को अथवा लोक के साक्षी मात्र भाव को कहते हैं, जैसा कि पहले अध्याय नं० १, में बताया जा चुका है। और कर्म-धारा-करने धरने की विकल्पात्मक अवस्था का नाम है। ज्ञानधारा की प्रवृत्ति ध्यानस्थ या समाधिस्थ अवस्था में ही सम्भव है, इस वर्तमान की करने धरने की प्रवृत्ति में नहीं। वर्तमान की करने धरने की या भागदौड़ करने की या समझने व समझाने की या अन्य भी कोई व्यवहारगत लौकिक या धार्मिक कार्य करने की सर्व ही यह दृष्ट प्रवृत्तियां कर्मधारा रूप हैं। ज्ञानधारा रूप नहीं। ज्ञानधारा में बैठा व्यक्ति कर्मधाराकी बात जान व कह नहीं सकता और कर्मधारा में बैठा व्यक्ति ज्ञानधारा

की बात जान व कह नहीं सकता। इसीलिय ज्ञानधारा की अपेक्षा कर्मधारा की बात असत्य है और कर्मधारा की अपेक्षा ज्ञानधारा की बात असत्य है।

ज्ञानधारा भी एक प्रकार की नहीं, बल्कि कई प्रकार की हो सकती है। एक तो अखण्ड व अद्वैत, एक सत् को देखने वाली ज्ञानधारा है। इसमें समस्त विश्व को एक समान सत् रूप या प्रत्येक पदार्थ को उसके त्रिकाली सामान्य स्वभाव रूप पारिणामिक भाव मात्र का ग्रहण होता है, जसे कि प्राणी को चैतन्य मात्र देखना, मनुष्यादि रूप से नहीं। इसको तो आगम की शुद्धसंग्रह नय अथवा भेद निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि कहा गया है। यह वेदान्त वादियों की शुद्ध दृष्टि है। दूसरी ज्ञानधारा केवल एक समय गत शुद्ध पर्याय को अखंड भाव से देखने वाली है, जैसे चेतन को केवल क्रोध की दशा में अथवा शुद्ध ज्ञायक भाव की शुद्ध दशा में देखना। उसके पूर्व या उत्तर होने वाली दशाओं से सर्वथा निरपेक्ष स्वतन्त्र देखना—जैसे बालक और वृद्ध को सर्वथा स्वतन्त्र पृथक पृथक वस्तु रूप देखना। इसको आगम में ऋजुसूत्र नय या शुद्ध पर्यायार्थिक नय की दृष्टि कहा गया है। यह बौद्ध मत वालों की शुद्ध दृष्टि है। दोनों ही निर्विकल्प व कार्यकारण भाव की कल्पना से शून्य एक रूप हैं, क्योंकि कार्यकारण (कॉज इफैक्ट) भाव वहां घटित होता है जहां द्वैत देखा जाये, अद्वैत या एकत्व में नहीं। दोनों ही दृष्टियें अनिर्वचनीय हैं, केवल अनुभव गम्य हैं।

मेरा तात्पर्य यहां एक तीसरे प्रकार की ज्ञानधारा से है, जो स्वयं न पहली नय रूप है और न दूसरी नय रूप बल्कि प्रमाण रूप है अर्थात विश्व का व्यापक व विस्कट रूप देखना, जिसमें चेतन कि अचेतन, चर व अचर, सक्ष्म व स्थूल सर्व ही पदार्थ युगपत एक दूसरे के साथ रहते हुए भी, नित्य अपने अपने कार्य में संलग्न दिखाई दें—जैसे कि नगर का व्योम दर्शी रूप। अर्थात वायुयान में बैठ कर नीचे की ओर दीखने वाला नगर, जिस में नर व नारी, पशु व पक्षी, वृक्ष व नदियें, पर्वत व महल, मोटर व छकड़े सब ही परस्पर में मिलते व बिछड़ते, भागते व रुकते, चित्र विचित्र प्रकार के कार्यों में संलग्न अथवा यथा स्थान अवस्थित युगपत दिखाई दें। उनका परस्पर संयोग वियोगादि सब ही दिखाई दे, परन्तु जहां यह विचारने का अवकाश न हो कि 'यह न होता यह हो जाता अथवा यह सब कुछ इसके कारण से हुआ'। यह दृष्टि वास्तव मे किसी अंग विशेष को नहीं देखती बल्कि सर्व अंगों को तथा उनके भेद प्रभेद को युगपत देखती है। उपरोक्त दो रूप दृष्टियें तो एक एक अंग को देखने के कारण और दूसरे अंग को न देखने के कारण नय रूप थीं, परन्तु यह किसी भी नय रूप नहीं है, बल्कि स्वयं प्रमाण रूप है, जिसके गर्भ में सम्पूर्ण अंग या नयें समाई हुई हैं। यहां स्वभाव व अवस्था तथा कारण व कार्य सब कुछ युगपत दिखाई देता है परन्तु कल्पनायें दिखाई नहीं देतीं। इस दृष्टि को आप कुछ भी नाम दें इससे प्रयोजन नहीं परन्तु यहां तो इतना ही बताना इष्ट है कि ऐसी भी एक दृष्टि होती है, जो कि साक्षात अनुभव करने में आ रही है। इस दृष्टि से देखने पर वस्तु व्यवस्था स्पष्टतः नियत दिखाई देती है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, निमित्त से अथवा पुरुषार्थ से सर्व प्रकार की नियति को युगपत देखा जाना यहां सम्भव है।

इसका यह अर्थ नहीं, कि धन कमाने या खाने आदि के समस्त लौकिक कार्य करते हुए भी हम बाहर में वस्तु को नियत कहते रहें। अर्थात अन्तरंग में व बाह्य में काम तो करते रहें व्यवहार के और मुख से कहते रहें यह कि 'जो होना था सो हुआ'। इसको सिद्धान्त की स्वीकृति नहीं कहते,

सिद्धान्त का उपहास कहते हैं, स्वछन्दाचार कहते हैं। कर्मधारा की उपरोक्त अवस्था व्यवहारिक है। यह आगम में व्यवहार नय की दृष्टि कही जाती है। यहां सर्व ही कार्यों की उत्पत्ति यथा योग्य कारण कूटों को प्राप्त करके ही होती दिखाई देती है। यदि यथायोग्य निमित्तादि कारणों की प्राप्ति न हो तो वह कार्य भी नहीं हो सकता। उस कार्य होने का समय आया है या नहीं, अथवा होने वाले इस कार्य को इसी समय होना था या कि ी अन्य समय, ऐसा यहां विचारा नहीं जाता। जैसे कि कुंए में किसी व्यक्ति के गिर जाने पर अथवा अपने घर में आग लग जाने पर आप की प्रवृत्ति स्वतः कुंए में रस्सा लटकाने या पानी की बाल्टियें मुन्धाने रूप ही होती है। यह व्यक्ति इसी समय मेरे निमित्त से बचना है या नहीं, अथवा आग बुझाने का यही समय है या नहीं, ऐसा मुहूर्त निकालने आदि का विचार आना असम्भव है।

वास्तव में व्यवहारिक सर्व ही लौकिक व धार्मिक क्रियाओं का आधार निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तथा तत्सम्बन्धी विकल्प हैं, ज्ञानधारा या ध्यान नहीं। सम्पूर्ण ये कार्य करते हुए हमारा लक्ष्य ऐसा रहता है, कि यह कारण मिलेगा तो कार्य हो जायेगा अन्यथा नहीं, अथवा ऐसा ऐसा कारण मिलेगा तब ही कार्य ऐसा होगा अन्यथा नहीं। इसी को अनियति की स्वीकृति कहते हैं। अर्थात कर्म-धारा रूप व व्यवहारिक दशा में हमारी सर्व प्रवृत्ति अनियति को स्वीकार करके ही हो रही है। नियति को स्वीकार करे तो उस समय ऐसी प्रवृत्तियां होनी असम्भव हैं। अतः कर्मधारा में रहते हुए कार्यकारण भाव को या अनियति को स्वीकार करने में ही ज्ञान की सरलता है।

बस नियति व अनियति का समन्वय हो गया। ज्ञानधारा की दृष्टि से सब कुछ नियत है और कर्मधारा की दृष्टि से सब कुछ अनियत है। कर्मधारा प्रमाण रूप नहीं है नय रूप है। इसलिये जिस प्रकार ज्ञानधारा रूप प्रमाण में दिखने वाली नियति सर्वथा नियति नहीं कही जा सकती उसी प्रकार कर्मधारा में ग्रहण की गई अनियति सर्वथा अनियति नहीं कही जा सकती।" शुद्ध द्रव्यों की समस्त शुद्ध व असंयोगी पर्यायें तथा अबुद्धि पूर्वक के समस्त कार्य सर्वथा नियत हैं और अशुद्ध द्रव्यों की समस्त अशुद्ध व संयोगी पर्यायें अथवा बुद्धि पूर्वक के समस्त कार्य सर्वथा अनियत हैं, ऐसा कहना अनेकान्त नहीं एकान्त है। अनेकान्त तो उसे कहते हैं कि एक कार्य किसी विशेष दृष्टि से देखने पर नियत है और वही कार्य किसी अन्य दृष्टि से देखने पर अनियत है। नियत व अनियत का विकल्प वस्तु में नहीं है, ज्ञानात्मक विकल्प में है। वस्तु तो एक रूप जैसी है वैसी ही है। विकल्प के बदल जाने पर वस्तु नहीं बदलती, बल्कि ज्ञान की स्वीकृति बदल जाती है। विकल्पातीत नयातिक्रान्त दशा में ही वस्तु के सर्व अंगों की मैत्री युगपत दिखाई देती है। वह बात केवल जानी जा सकती है पर कही नहीं जा सकती। कही जाती है तो अपनी कल्पनाओं से उस अखण्ड रूप को खण्डित करना पड़ता है। ऐसी खण्डित वस्तु वास्तव में नहीं होती। अतः "जो शुद्ध या अशुद्ध पर्याय या असंयोगी व संयोगी कार्य ज्ञानधारा की दृष्टि से नियत है वही शुद्ध या अशुद्ध पर्याय या असंयोगी व संयोगी कार्य कर्मधारा की दृष्टि से अनियत है" ऐसा कहना ही नियति अनियति का समन्वय व अनेकान्त है, वस्तु तो स्वयं इन दोनों अंगों का अखण्ड व अद्वैत पिण्ड है, अतः उसे न नियत कह सकते हैं और न अनियत, वह तो जैसी है वैसी ही है।

१२ क्या नियति प्रेरक है — अब दसवां प्रश्न है यह कि तब वह 'नियति' क्या है? क्या वह काम करने की प्रेरणा देती है? नो ऐसा नहीं कहा गया है भाई! नियति तो वास्तव में केवल उस समय का

नाम है जिसमें कि कार्य होता है या होना होता है । वास्तव में ज्ञान पहिले से उसे जान लेता है इसी लिये उसे हम 'नियति' कहते हैं, जिस प्रकार कि सूर्यग्रहण को नियत इस लिये कहा जाता है कि वह पहिले से ही किसी ज्ञान का विषयबन जाता है जो कार्य पहिले से हमारे जानने में नहीं आता वह सर्व अनियत कहा जाता है अतः सर्वज्ञ व वीतरागी के लिये सर्व कार्य नियत हैं और छद्मस्त व रागी के लिये सर्व कार्य अनियत हैं। काम कराना नियति का काम नहीं पुरुषार्थ का काम है । नियति काम करने की प्रेरणा भी नहीं देती, बल्कि जिस समय स्वतंत्र रूप से तू कोई काम करने के प्रति पुरुषार्थ करके उस कार्य की सिद्धि करता है वही समय उस कार्य की नियति है, और वह कार्य उस समय का भवितव्य है, ऐसा समझ ! छद्मस्थों का ज्ञान, नियति पर से कार्य का निर्णय नहीं कर सकता, बल्कि कार्य पर से नियति का निर्णय कर सकता है, क्योंकि ज्ञान ने जाना है इसलिये वस्तु वैसी नहीं परिणमती बल्कि जैसी परिणमती है ज्ञान उसे वैसा जानता है ।

१२ साधक क्या करे यहां ग्यारहवां प्रश्न आता है, कि तब साधक क्या करे, क्या नियति की रट लगाया करे या कुछ उद्यम करे । ऐसे प्रश्न का उत्तर यही है कि वस्तु व्यवस्था के अन्तर्गत बताये गये स्वभाव आदि पांच अंगों मे 'स्वभाव' तो त्रिकाल सत् है, वह तो किया नहीं जाता । नियति कोई वस्तु भूतपदार्थ नहीं, जो कि उसमें कुछ करने को बात कही जा सके । वह न कोई द्रव्य है, न किसी द्रव्य का गुण है, और न ही किसी की पर्याय । वह तो केवल उस समय का नाम है जिस समय कि वह कार्य होता है । भवितव्य भी किया नहीं जाता क्यों कि वह स्वयं कोई कार्य या कारण नहीं है, वह तो उस समय में होने वाले उस कार्य की जाति का नाम है । अब रह गये निमित्त व पुरुषार्थ । उन में निमित्त रूप गुरूवाणी व क्षयोपशम रूप ज्ञानकी योग्यता तुझ को वर्तमान में सहज ही प्राप्त है अतः उसको प्राप्त करने की भी बात कही जानी शक्य नहीं है, क्योंकि प्राप्त की प्राप्ति करने का प्रश्न सम्भव नहीं । रह गया अकेला पुरुषार्थ, वही करने की बात है । गुरुवाणी रूप निमित्त का आश्रय करके उद्यम व रुचि पूर्वक उसके कथनानुसार जीवन में प्रवृत्ति करने लगे, तो वे निमित्त भी सार्थक हैं, अन्यथा वे निमित्त भी तेरे लिये निमित्त नहीं ।

इस उद्यम के अन्तर्गत पहिले तीव्र लौकिक कर्मधारा से हटकर मन्द कर्मधारा को अर्थात धर्म की व्यवहारिक क्रियाओं को करना इष्ट है । फिर उससे भी हटकर साक्षात् ज्ञानधारा में स्थिति पाना ही वास्तविक पुरुषार्थ है । धार्मिक क्रियाओं व अनुष्ठानों को नियति के आश्रय पर छोड़कर लौकिक कर्मधारा की ओर झुकना शान्ति का उपाय नहीं, और न ही उसे वस्तु व्यवस्था की स्वीकृति कहा जा सकता है । ज्ञानधारा की ओर झुके बिना नियति की सच्ची श्रद्धा हुई भी, नहीं कही जा सकती । अतः अब सर्व अन्य विकल्पों को छोड़ कर देव गुरू व शास्त्र की उपासना कर । उन को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये निमित्त बना, तथा कर्ता बुद्धि पूर्वक इस प्रकार की धार्मिक कर्मधारा में पहिले प्रवेश पा । इसके फलस्वरूप तेरी तीव्र लौकिक कर्मधारा शान्त हो जायगी ; तब इसको भी छोड़ कर साक्षात ज्ञानधारा में स्थिति पाना तेरे लिये अति सरल हो जायेगा यही साधक का सच्चा पुरूषार्थ है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा ।

१४ नियति निमित्त व पुरुषार्थ तीनों अब बारहवां प्रश्न है यह, कि जब वस्तु व्यवस्था नियत ही है, अर्थात निमित्तों का मिलना व पुरुषार्थ का होना नियति के आधीन है, तो बुद्धि पूर्वक उन निमित्तों का

का समन्वय आश्रय लेने की अथवा पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही क्या है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहिले हम यह पूछना चाहते हैं कि यह प्रश्न किस रुचि से कर रहा है—ज्ञानधारा की ओर झुकने की रुचि से या कर्मधारा की रुचि से ? ऐसा प्रतीत होता है कि तेरे अन्दर में तो रुचि पड़ी है कर्मधारा की ओर बात कर रहा है ज्ञानधारा के विषय भूत नियति की, मेल बैठे तो कैसे बैठे ? पहिले भी नियति व पुरुषार्थ का समन्वय करते समय यह बात दर्शा दी गई है, कि किसी विशेष कार्य को करने की प्रेरणा नियति नहीं बल्कि रुचि देती है। देख वर्तमान में तुझे धन कमाने की रुचि है तो तू उसी प्रकार की प्रवृत्ति भी करता है। बुद्धि पूर्वक उस उस प्रकार के निमित्त भी जान बूझकर मिलाने का प्रयत्न करता है तथा बाधक कारणों को हटाने का भी प्रयत्न बुद्धिपूर्वक करता है। उस धन को भोगने के लिये भी बुद्धिपूर्वक पांचों इन्द्रियों के विषयों की सामग्री यथा शक्ति संग्रह करता है। बुद्धिपूर्वक यह सब कुछ निमित्तों में प्रवृत्ति करना ही तो तेरा धनोपार्जन की दिशा का पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ के फल स्वरुप धन व विषयों की प्राप्ति रूप जो कुछ भी कार्य होता है वही इस पुरुषार्थ का भवितव्य है। इस प्रकार के पुरुषार्थ पर से ही तेरी अन्तरंग श्रद्धा व रुचि का परिचय मिलता है।

यदि यह रुचि बदल कर शान्ति के उपार्जन की दिशा मे झुक जाये तो बुद्धिपूर्वक तू कुछ करेगा या नहीं ? क्या सर्वथा निठल्ला बैठ जाना सम्भव है ? मन वचन से व काय से तीनों से कुछ न कुछ तो करेगा ही। या तो सर्व मानसिक विकल्पों को हटा कर ज्ञान धारा में निश्चल स्थिति करेगा या देव गुरू व शास्त्र का आश्रय लेकर उपरोक्त प्रकार के अन्य धार्मिक अनुष्ठान करेगा। शान्ति की रुचि में तीसरा कार्य किया जाना सम्भव नहीं है। इन दोनों में से भी वर्तमान की अपनी इस भूमिका का अन्दाजा लगाये तो यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा, कि ज्ञानधारा में निश्चल स्थिति पाना वर्तमान में एकदम शक्य नहीं है, उसके लिये अधिक अभ्यास की आवश्यकता है। तेरी वर्तमान अवस्था विकल्पस्वरूप है अर्थात कर्मधारा रूप है। कर्मधारा की स्थिति में कर्मधारा रूप व्यवहारिक पुरुषार्थ, किया जाना ही शक्य है, ज्ञानधारा रूप नहीं और कर्मधारा रूप व्यवहारिक पुरुषार्थ जैसा कि ऊपर के लौकिक पुरुषार्थ में बताया गया है, निमित्तों के ग्रहण त्याग रूप ही होता है, अन्य प्रकार नहीं। अतः यह कैसे सम्भव है कि धर्म की रुचि जागृत हो जाने पर और कर्मधारा रूप अवस्था रहने पर, तू धर्म के साधक निमित्तों का ग्रहण तथा उसके बाधक निमित्तों का त्याग न करे। यही तेरा इस दिशा का पुरुषार्थ है, जो कि बता रहा है तेरी नियति या काललब्धि अब सुधर गई है, और इस पुरुषार्थ के फलस्वरूप तेरे विकल्प धीरे धीरे दबने पर शीघ्र ही तू ज्ञानधारा में प्रवेश करने वाला है, यही तेरा भवितव्य है। अर्थात यदि उपरोक्त प्रकार देव शास्त्र व गुरू आदि का आश्रय ले करके, अपने योग्य यथार्थ धार्मिक अनुष्ठानों को बुद्धि पूर्वक प्रारम्भ करे, तो अवश्य ही तू मोक्ष का पात्र बन जायेगा। इसी में नियति दर्शक ज्ञानधारा की रुचि भी स्वतः ही पड़ी हुई सिद्ध होती है।

बुद्धि पूर्वक तो निमित्तादिक का ग्रहण करता रहे लौकिक दिशा में, और बात करता रहे नियति या ज्ञानधारा की, इसको नियति की स्वीकृति नहीं कहते। लौकिक दिशा के बुद्धि पूर्वक के कार्यों से हटकर, धार्मिक अनुष्ठानों सम्बन्धी दिशा के, बुद्धि पूर्वक के कार्यों को करने में ही नियति की स्वीकृति निहित है। क्योंकि ऐसा करने से ही तेरीबुद्धि विकल्पों से धीरे धीरे हटती हुई वीतरागता रूप ज्ञानधारा में प्रवेश पाने की योग्यता को प्राप्त हो सकती है।

जानने, श्रद्धान करने तथा प्रवृत्ति करने में बड़ा अन्तर है। जाना कुछ और जाता है और किया कुछ और जाता है। जैसे जानने में तो अभिप्राय धन कमाने का रहता है, पर बाहर में दुकान में माल भरने के लिये धन खर्च किया जाता है। ठीक है कि इस धनके व्यय के कारण से पीछे धन लाभ ही होगा, पर वर्तमान में तो खर्च ही करना पड़ा। ज्ञानधारा व कर्मधारा वाले अधिकार नं० १३ में भी ज्ञानी जीव के जानने व करने में क्या अन्तर है, यह दर्शाया गया था, और आगे अधिकार नं० १८ के प्रकरण नं० ८ में भी, 'अभिप्राय व प्रवृत्ति में अन्तर होता है', यह बात दर्शाई गई है। यद्यपि जो कुछ भी बाहर में किया जाता है उसका प्रयोजन निश्चित रूप से अन्तरंग अभिप्राय की पूर्ति करना ही होता है, परन्तु यहां तो देखना यह है कि वर्तमान में किया क्या जा रहा है। अपनी प्रवृत्ति को ज्ञानधारा रूप बनाने के लिये अभ्यास किया जा रहा है,परन्तु जब तक बाहर के व्यवहारिक व्यापारों से सर्वथा हट कर ध्यानस्थ होने की शक्ति प्राप्त नहीं हो जाती तब तक शान्ति की दिशा में भी हमारी प्रवृत्ति व्यवहारिक ही होती है। अनुकूल निमित्तों के ग्रहण और प्रतिकूल निमित्तों के त्याग को ही व्यवहारिक प्रवृत्ति कहते हैं। यद्यपि आगे जाकर उस प्रवृत्ति के कारण निमित्तों का ग्रहण त्याग सर्वथा छट जायेगा, पर देखना तो यह है कि वर्तमान में क्या किया जा रहा है। अतः जाना तो जाता है ज्ञानधारा को तथा बाहर में प्रवृत्ति की [illegible] है निमित्तों में वर्तने की। इसी प्रवृत्ति में नियति की स्वीकृति पड़ी है, क्योंकि वह सब प्रवृत्ति उसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये की जा रही है, तथा उसके कारण वर्तमान में ही आंशिक रूप से उसकी किंचित पूर्ति होती हुई भी प्रतीत होती है ; इस रूप में कि लौकिक व्यापार सम्बन्धी तीव्र कर्मधारा धीरे धीरे विराम पाने लगती है। इसी लिये जैसा कि आगे बताया जायेगा इस धार्मिक प्रवृत्ति में बहुत विवेक की आवश्यकता है, अनर्गल रूप से जिस तिस निमित्त में प्रवृत्ति करने से उपरोक्त लक्ष्य की सिद्धि होनी असम्भव है। वीतरागता में सहकारी वीतराग देव, गुरु व उपदेश रूप निमित्तों का ग्रहण व विषय भोगों के निमित्तों का त्याग ही इस दिशा में प्रयोजनभूत है।

इस स्थल पर अधिकार नं० १२ के प्रकरण नं० ६—८ तथा अधिकार नं० १४ का प्रकरण नं० ४ अवश्य पुनः पढ़ लेना योग्य है, जहां कि साझे की खेती का दृष्टान्त दे कर निमित्तों की सार्थकता व उपादेयता दर्शाई गई है। इस कार्य व्यवस्था में भी प्रकरण नं० ४ के अन्तर्गत पांच बातों में से निमित्त वाले अंग का विस्तृत माहात्म्य दर्शा कर, यह बताया गया है कि स्वभाव के सद्भाव में भी निमित्त के बिना कोई भी लोक का कार्य होना सर्वथा असम्भव है। किसी अपने पक्ष के कारणवश निमित्तों को बेकार की वस्तु समझना तथा उसे उपचार मात्र कह कर उस की शक्ति से इंकार करना ज्ञान की खेंचातानी है। कार्य व्यवस्था में यदि निमित्त का कोई स्थान न हुआ होता तो तत्व का निर्णय कर लेने पर भी एक व्यक्ति की तुरन्त मुक्ति होना कैसे रुकता।

भाई ! किसी भी कार्य के होने के लिये, एक नहीं अनेकों कारणकूटों की आवश्यकता है। उन में से स्वभाव व पुरुषार्थ के अतिरिक्त निमित्त भी अपना कोई स्थान रखते हैं। किसी मशीन के सारे पुर्जे यथा स्थान जड़े रहते हुए भी यदि उस में से एक छोटी सी कील निकाल ली जाये तो क्या मशीन काम कर सकेगी ? मशीन की कार्य व्यवस्था में कील का भी उतना ही मूल्य है जितना कि उस बड़े पुर्जे का, भले ही पैसे की दृष्टि से उसका मूल्य पुर्जे से कम हो। इसी प्रकार लोक की इस स्वाभाविक व स्वतंत्र कार्य व्यवस्था में भी निमित्त का उतना ही मूल्य है जितना कि स्वभाव का,

भले ही शांति की दृष्टि से उसका मूल्य स्वभाव से अत्यन्त हीन या बिल्कुल न हो। इसलिये शब्दों की खेंचातानी को छोड़कर व्यवहार में नित्य देखे जाने वाले निमित्त के कर्तापने की हंसी उड़ाने की बजाय उन की शक्ति को भी यथायोग्य स्वीकार कर लेने में ही ज्ञान की सरलता है।

ये निमित्त या संयोग भी अनेक प्रकार के देखे जाते हैं। पुनः यही प्रेरणा है कि वस्तु के पढ़ने का प्रयत्न केवल शब्दों में ही न करें। कुछ संयोग तो हम ऐसे देख रहे हैं, कि जिनमें अनुकूल कार्य होते हुए भी उसके सम्पर्क में आने वाले दूसरे पदार्थ में तदनुरूप कार्य कदाचित हो जाता है और कदाचित नहीं भी जैसे कि गुरू शिष्य संयोग में गुरु को शिक्षा देने का ज्ञान, इच्छा व प्रवृत्ति तीनों होते हुए भी शिष्य उसे ग्रहण करे या न भी करे। अथवा मछली के चलने में जल-जल में रहते हुए भी वह चाहे चले या न चले। इस प्रकार के संयोगों में कार्य का निश्चितपना न होने के कारण इन्हें उदासीन निमित्त कहा जाता है।

परन्तु कुछ संयोग ऐसे भी देखने में आते हैं, कि उनके यथायोग्य रूप में उपस्थित होने पर उस दूसरे पदार्थ में कार्य अवश्य होता ही है। इस नियम में कभी बाधा नहीं पड़ती, जैसे कि स्वस्थ दशा में पुस्तक उठाने के प्रति उद्यत इस हाथ के होते हुए, इस हाथ के द्वारा उठ जाने योग्य यह पुस्तक अवश्य उठ जाती है। अग्नि पर रखा गया जल गरम न हो जाये यह बात असम्भव है। स्वस्थ दशा में घड़ा बनाने की प्रवृत्ति करते हुए कुम्भकार के होने पर घड़ा बनने योग्य मिट्टी के पिण्ड में से घड़ा बन ही जाता है। इसी प्रकार से आगम में निरूपित कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत जीव के किसी कर्म के उदय आने पर उसी प्रकार का जीव के परिणामों में विकार रूप फल आ ही जाता है अथवा जिस प्रकार के परिणाम हों उसी प्रकार का कर्म भी बन्ध जाता है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक दृष्टान्त हो सकते है निमित्त नैमित्तिक संयोग के ऐसे व्यापक निमित्तों को आगमकारों ने प्रेरक निमित्त के नाम से कहा है।

यद्यपि अन्य प्रकार के निमित्त भी देखने को मिलते हैं, जैसे कि स्वच्छ दर्पण सामने होने पर, मेरा या किसी अन्य पदार्थ का जो उस समय उसके सामने हो प्रतिबिम्ब देखने में आता है। यह दृष्टान्त यद्यपि प्रेरक निमित्त का नहीं है परन्तु व्यापक का अवश्य है। इस जाति के निमित्त को भी कोई उचित नाम दिया जा सकता है। निमित्तों की ये सर्व जातियें हमारे व्यवहार में नित्य आ रही हैं, फिर भी यदि एक उदासीन मात्र को ही हम स्वीकार करें, और प्रेरक को भ्रम मात्र कहदें, तो पक्षपात होगा। जो बात नित्य प्रयोग में आ रही है उसे स्वीकार न करना ज्ञान का कड़ापन है। यदि उसे ढीला छोड़ कर सरल वृत्ति से देखने का प्रयत्न करें तो इन जातियों के निमित्तों की सत्ता छिपी न रहेगी।

१५ वस्तु की जटिलता व स्वतन्त्रता

अब तेरहवां प्रश्न यह आता है कि इस प्रकार से निमित्तों का बल स्वीकार कर लेने पर तो वस्तु परतन्त्र हो जायेगी। सो भाई! बड़ी मुश्किल है। नियति को कहने के लिये जाता हूं तो वस्तु नियति के आधीन बन कर परतन्त्र दीखने लगती है, स्वभाव को कहने जाता हूं तो वस्तु स्वभाव के आधीन होकर परतन्त्र दीखने लगती है और निमित्त को कहने जाता हूं तो वस्तु निमित्त के आधीन होकर परतन्त्र दीखने लगती है। समाधान करूं तो कैसे करूं? भैय्या! वस्तु बड़ी जटिल है, वास्तव में जो कुछ भी एक समय में कहा जाता है वैसी वस्तु है नहीं, वह तो उन सब बातों का समुदाय रूप है, यहाँ तो केवल पाँच ही अंग कहे गये हैं, उस में तो अनन्तों अंग एक ही समय

में पड़े हैं। जब तक वस्तु को पढ़ने का प्रयत्न न करेगा प्रश्न उठते रहेंगे। यदि सब बातों को युगपत देखे तो इन प्रश्नों का स्वतः समाधान हो जाये। क्योंकि 'साधक क्या करे' इस प्रश्न में जैसाकि पहले बताया गया है, करने का काम केवल पुरुषार्थ है, दूसरे सर्व अंग उसके आधीन हैं। जैसा जैसा पुरुषार्थ किया जाता है, वैसी वैसी ही प्रवृत्ति होती है वैसा वैसा ही निमित्त प्राप्त किया जाता है। जैसा जैसा पुरुषार्थ व निमित्त होता है वैसा वैसा ही कार्य या भवितव्य होता है। तहां नियति तो केवल उस कार्य के निश्चित समय के प्रति संकेत करती है, कार्य करने की प्रेरणा नहीं देती।

इन पांचों अंगों का परस्पर सम्मेल ऐसा समझिये कि १. जब स्वभाव का विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि स्वभाव ही सर्वस्व है, निमित्त आदि का कोई मूल्य नहीं, तब तो उसके साथ रहने वाले पुरुषार्थ की ओर देख कर ऐसा विचार करना चाहिये, कि स्वभाव तो एक त्रिकाली सामान्य बात है। कार्य करना तो मेरे पुरुषार्थ के आधीन है, जैसा पुरुषार्थ करूंगा वैसा ही कार्य होगा। तहां कार्य होने में स्वभाव तो एक सामान्य कारण मात्र है। २. जब निमित्त का विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि निमित्त ही सर्वस्व है, वह प्रेरणा पूर्वक जैसा चाहे कार्य करने के लिये मुझे बाध्य करदे, तब उस के साथ रहने वाले स्वभाव, पुरुषार्थ व नियति तीनों को देखकर ऐसा विचार करना चाहिये कि, यदि मेरा स्वभाव परिणमन करने का न हो तो निमित्त अकेला क्या करे, अथवा यदि मैं बुद्धि पूर्वक उसका ग्रहण न करूं या उस की प्राप्ति हो जाने पर भी वैसा पुरुषार्थ न करूं तो वह बेचारा क्या करे, अतः पुरुषार्थ और स्वभाव के साथ ही निमित्त कार्य कारी है, उन से रहित नहीं और पुरुषार्थ मेरी अपनी स्वतन्त्र रूचि के आधीन है निमित्त के नहीं। यदि प्रेरक निमित्त आकर यह कहने लगे कि मैं तो तुझे वैसा पुरुषार्थ करने को बाध्य कर सकता हूं, तो साथ में रहने वाली नियति की ओर देखकर उसके इस अहंकार को दूर करदे और उसे कह दे कि जैसी नियति होगी वैसा ही निमित्त आयेगा, अपनी मर्जी से जो कोई भी निमित्त प्राप्त होना निमित्त के हाथ की बात नहीं है। निमित्त नियति के आधीन है, जो स्वयं परतन्त्र है वह दूसरे को क्या परतन्त्र बनायेगा।

जब नियति का विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होने लगे कि नियति ने वस्तु को सब ओर से जकड़जन्द ही कर दिया है, तब साथ में रहने वाले पुरुषार्थ की ओर देख कर ऐसा विचार करना चाहिये, कि नियति कोई प्रेरक नहीं है वह तो केवल उस काल का नाम है जिस काल में कि वह कार्य होता है। कार्य करना पुरुषार्थ के आधीन है, जैसा जैसा पुरुषार्थ करूगा वैसी वैसी ही प्रवृत्ति होगी वैसे वैसे ही निमित्त की प्राप्ति होगी तथा वैसे वैसे ही कार्य की सिद्धि होगी।

जब पुरुषार्थ आकर अहंकार करने लगे कि सर्वत्र मेरी ही प्रधानता है अतः अन्य सर्व अंग तो तुच्छ ह, तब ऐसा विचार करना चाहिये कि पुरुषार्थ रूचि के आधीन है। रूचि बुद्धि के उस विकल्प का नाम है, जो उस उस समय स्वतः प्रगट होती है, अर्थात रूचि नियति के आधीन है। जैसी काललब्धि होती है वैसी ही रूचि जागृत होती है, वैसा ही पुरुषार्थ होता है और तत्फलस्वरूप वैसा ही कार्य होता है।

इस प्रकार पांचों का युगपत एक दूसरे से भिड़े रहना ही वस्तु व्यवस्था है। इनमें से एक अंग को भी हटा दिया जायें तो कार्य होना ही रूक जाये। यदि स्वभाव न हो तो परिवर्तन हो न हो कार्य काहे में होगा। यदि निमित्त न हो तो परिवर्तन ही न हो, स्वभाव या पुरुषार्थ क्या करेंगे। यदि पुरुषार्थ न हो तो प्रवृति न हो स्वभाव व नियति क्या करेंगे। यदि नियति न हो तो उस उस समय

की वह रुचि व बुद्धि ही न हो, पुरुषार्थ व निमित्त क्या करेंगे। यदि भवितव्य न हो तो कार्य ही न हो, सब अंग भी मिल कर क्या करेंगे। इस प्रकार पांचों के एक साथ रहने में ही वस्तु की स्वतन्त्रता है जो कि पूर्वोक्त ज्ञानधारा का विषय है।

१६उपदेश क्यों ? दोनों में कौन दृष्टि वर्तमान में उपादेय है ऐसा चौदहवां प्रश्न होने पर प्रयोजन की ओर दृष्टि ले जानी होगी। प्रयोजन है शांति की प्राप्ति, उसकी प्राप्ति का उपाय है विकल्पों का अभाव, उस का कारण है ज्ञानधारा। अतः शांति की प्राप्ति के लिये ज्ञानधारा रूप नियति का अधिक से अधिक विचार करना ही अन्तरंग प्रवृत्ति के लिये अर्थात विचारणाओं में अवकाश देने के लिये उपादेय है। 'परन्तु जब तक बाह्य की व्यवहारिक प्रवृत्ति का अभाव नहीं होता तब तक बाह्य में क्या उपादेय है', यह भी विचार साथ साथ कर लेना चाहिये, अन्यथा तो जीवन स्वच्छन्द हो जायेगा। नियति अन्तरंग में विचारी जा सकती है पर बाहर की शारीरिक क्रियाओं से की नहीं जा सकती। वर्तमान की बाह्य सर्व प्रवृत्ति निमित्तों में वर्तन करने रूप ही है, निमित्तों के ग्रहण त्याग बिना उस का होना ही असम्भव है या दूसरे शब्दों में यदि यह कहें कि बाह्य की सर्व व्यवहारिक प्रवृत्ति निमित्तों के आधीन है तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि कर्मधारा रूप बाह्य प्रवृत्ति करने के अन्तरंग वाले सर्व विकल्प भी निमित्तों का आश्रय करने रूप ही होते हैं, जैसा कि पहले बता दिया गया है। अतः बाह्य प्रवृत्ति में तो वीतरागता पोषक देव शास्त्र गुरु आदि निमित्तों का ग्रहण और विषय भोगों के निमित्तों का त्याग ही इष्ट है। जब प्रवृत्ति भी बाह्य से रुक कर अन्तरंग में उतर जायेगी तब वह स्वयं ज्ञानधारा रूप ही होगी, उस समय हेयोपादेय का प्रश्न ही नहीं होगा।

१७ कर्मोदय व निजस्वतन्त्रता का समन्वय यहां पंदरहवां प्रश्न यह होता है कि यदि पूर्वोक्त रीति से कर्मोदय व जीव के परिणामों में यथाक्रम अनुकूलता मानी जायेगी तो जीव की मुक्ति कभी न होगी, क्योंकि परिणामों से बन्ध, बन्ध से उदय और उदय से पुनः परिणाम, इस प्रकार की सन्तति का, बीज वृक्ष वत् कभी अन्त न आ सकेगा। ठीक है भाई! साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा ही प्रतीत होता है पर वास्तव में ऐसा नहीं है, सो कैसे वही बताता हूं।

जीव के किसी एक परिणाम विशेष से तदनुसार ही शुभ या अशुभ जाति का कोई कर्म (सूक्ष्म परमाणु रूप कोई विशेष पदार्थ) जीव के प्रदेशों से दूध पानी वत एकमेक हो जाता है। उस कर्म की शुभ या अशुभ जाति को 'प्रकृति, कहते हैं वह कर्म कुछ काल तक यों ही बेकार सा होकर उसी हालत में निष्क्रय पड़ा रहता है। इस काल की अवस्था को 'सत्ता' कहते हैं। इस काल के अन्त में एक विशेष समय पर वह पक जाता है और अपने प्रभाव से जीव के परिणामों में विकार उत्पन्न करके उस का संग छोड़ देता है, इसे 'उदय' कहते हैं। तथा जितने काल पश्चात उदय में आया उसे 'स्थिति' कहते हैं। प्रभाव की शक्ति को 'अनभाग' कहते हैं। परिणामों की विचित्रता का कारण केवल बन्ध ही नहीं होता बल्कि कुछ और भी होता है। सत्ता में पड़े कर्मों में परिवर्तन भी प्रति समय उस उस परिणाम के अनुसार होता रहता है कभी स्थिति व अनुभाग घट जाता है और कभी बढ़ जाता है। घटने को 'अपकर्षण' और बढ़ने को 'उत्कर्षण' कहते हैं। 'कभी प्रकृति भी बदल कर शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ हो जाती है। इसे 'संक्रमण' कहते हैं। सत्ता में एक ही प्रकार का कर्म रहता हो ऐसा नहीं है। भिन्न भिन्न प्रकृतियों के, तीव्र व मन्द अनुभागों के, हीन व अधिक स्थितियों वाले शुभ

कर्म भी वहां पड़े हैं और अशुभ कर्म भी। अपनी अपनी स्थिति को पूरी कर करके नम्बर वार वे आगे पीछे उदय में आते रहते हैं। इसीलिये किसी भी जीव को सर्वदा न शुभ का उदय रह सकता है और न अशुभ का, सर्वदा न तीव्र अनुभाग का उदय रह सकता है और न मन्द का। अपने अपने नम्बर पर स्वतः ही यथा योग्य रूप से, कभी शुभ का व कभी अशुभ का, कभी तीव्र अनुभाग का और कभी मन्द अनुभाग का उदय, पुरुषार्थ व प्रयत्न के बिना भी निरन्तर होता रहता है। जैसा जसा उदय होता है वैसे वैसे ही परिणाम होते हैं, यही कर्म का प्रभाव या फलदान है। शुभ के उदय में शुभ और अशुभ के उदय में अशुभ ही परिणाम होते हैं, तीव्र अनुभाग के उदय में तीव्र और मन्द अनुभाग के उदय में मन्द ही परिणाम होते हैं, और डिग्री टु डिग्री (यथाक्रम) होते हैं।

यह बात हंसने की नहीं है, क्योंकि ऐसा ही सिद्धान्त है, यह विषय इस ग्रन्थ का नहीं है अतः विस्तार नहीं किया जा सकता। दो और दो चार ही होते हैं पांच नहीं, इसी प्रकार सिद्धान्त के अनुसार ऐसा ही होता है अन्य प्रकार नहीं,अन्यथा तो कर्म सिद्धान्त मात्र कल्पना बन कर रह जायेगा। कर्म के उदय में भी यदि मेरी प्रवृत्ति या परिणाम तदनुसार न हों, अथवा उदय होने पर भी मैं वैसे परिणाम करूं या न करूं, तो 'उदय' नाम ही नहीं होगा। उदय का अर्थ ही अनुभव है। यह बात अन्य है कि 'फिर मुक्ति कैसे हो'। उस का समाधान किया जा सकता है, पर अपनी मान्यता का पोषण करने के लिये सिद्धान्त के अर्थ का अनर्थ करने का प्रयत्न मत कर, यह तेरे लिये अत्यन्त अनिष्टकारी होगा।

यद्यपि परिणामों के अनुसार बन्ध और उदय के अनुसार परिणाम होना कहा गया है, परन्तु यह कहीं नहीं कहा गया कि बन्ध के अनुसार ही उदय होता है। यदि यह भी नियम होता तब तो तेरी आशंका ठीक हो जाती, परन्तु ऐसा वास्तव मे स्वीकार नहीं किया गया है। बन्ध और उदय के बीच मे अपकर्षण, उत्कर्षण व संक्रमण रूप अनेकों बाधायें पड़ी हैं, जिस के कारण कर्म जैसा बन्धता है वैसा ही उदय मे नहीं आता। जो कर्म शुभ प्रकृति को लेकर बन्धा है वह शुभ रूप से भी उदय मे आ सकता है और संक्रमण द्वारा अशुभ रूप से भी। इसी प्रकार जो कर्म अशुभ प्रकृति को लेकर बन्धा है वह अशुभ रूप से भी उदय में आ सकता है और शुभ रूप से भी। इसी प्रकार स्थिति व अनुभाग के उदय में भी जानना। किसी एक समय विशेष में उदय आने की योग्यता को लेकर बन्धा कर्म उसी समय भी उदय आ सकता है और अपकर्षण व उत्कर्षण द्वारा उस से आगे पीछे भी। तीव्र व मन्द अनुभाग विशेष को लेकर बन्धा कर्म उतने ही अनुभाग के साथ भी उदय आ सकता है और अपकर्षण व उत्कर्षण द्वारा उस से हीन व अधिक अनुभाग के साथ भी। उदय आने की तैयारी करके सामने आया जो कर्म, उस में यद्यपि कुछ भी हेर फेर होना सम्भव नहीं है, परन्तु सत्ता में पड़े कर्मों में उपरोक्त सब कुछ होना सम्भव है। इसी लिये बन्धता तो किसी और रूप में है और उदय से पहले सत्ता में रहते रहते ही बदल कर उदय में आता है किसी और रूप में। इस प्रकार के परिवर्तन के निमित्तभूत कोई परिणाम विशेष ही होते हों सो भी नहीं है। वही एक परिणाम जो बन्ध का कारण है, इस परिवर्तन का भी उसी समय कारण है। नवीन कर्म का बन्ध और सत्ता में यह परिवर्तन एक ही समय में तथा एक ही परिणाम से होता है। अतः जिस प्रकार समय प्रतिसमय बन्ध होता है वैसे ही समय प्रतिसमय उपरोक्त परिवर्तन भी स्वतः होता रहता है। उदय में आने तक न जाने उस पूर्वबद्ध कर्म को कितने उतार चढ़ाव देखने पड़ते हैं, अतः जैसा बन्धता है वैसा उदय में नहीं आता।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, प्रत्येक प्राणी को शुभ व अशुभ दोनों ही कर्मों का उदय यथा अवसर स्वतः आता रहता है। तीव्र अनुभाग वाले अशुभ के उदय तो मोक्ष मार्ग के परिणाम होने असम्भव हैं, हां कुछ मन्द अनुभाग वाले अशुभ कर्मों का तथा उनके साथ कुछ मन्द या तीव्र शुभ कर्मों का उदय आने पर, तत्फल स्वरूप उसके परिणामों में कुछ निर्मलता आती ही है। साधारणतः इस निर्मलता का प्रयोग दान आदिक लौकिक पुण्य की दिशा में हो जाया करता है, क्योंकि उसके बाह्य निमित्त सर्वत्र उपलब्ध हैं। परन्तु यदि वैसा उदय होने पर उसके साथ साथ किसी व्यक्ति विशेष को काल लब्धि वश, वीतरागता के पोषक देव, शास्त्र, गुरू व धर्मोपदेश आदि के निमित्त भी कदाचित प्राप्त हो जायें, तो उस की प्रवृत्ति की दिशा मोक्ष मार्ग की ओर घूम जानी सम्भव है। सब ही व्यक्तियों को ऐसा हो जाने पर उस मार्ग की प्राप्ति हो जाये, ऐसा भी नहीं है। यद्यपि स्वभाव सब के पास समान है, निमित्त भी अनेकों को मिल सकते हैं, परन्तु उस दिशा का पुरुषार्थ करे तभी वे निमित्त सार्थक होते हैं। यहां आकर पुनः उन्हीं पांच बातों पर ध्यान देना चाहिये, जिनको पांचों बातों की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे जीव बिरले ही होते हैं। जिन व्यक्तियों की काललब्धि या नियति आगई है वे उस प्रकार के उदय में उन निमित्तों को प्राप्त करके उस दिशा का पुरुषार्थ रूचि पूर्वक करते ही हैं, बस वही मुक्ति के पात्र होते हैं अन्य नहीं।

यहां से उनके जीवन का क्रम बदल जाता है, क्योंकि उनके शुभ परिणामों की वृत्ति वीतरागता की प्राप्ति करने के प्रति झुक जाती है। उस के फलस्वरूप सत्ता में पड़ी हुई स्थिति के एक क्षण में ही शतखण्ड हो जाते हैं अर्थात स्थिति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग घटने तथा शुभ प्रकृतियों का बढ़ने लगता है तत्फल [illegible] उदय में अशुभ की जगह शुभ कर्म अधिक आने लगते हैं, इससे परिणामों की विशुद्धि तथा सत्ता में परिवर्तन समय प्रतिसमय अधिक अधिक होने लगता है और इस प्रकार सत्ता को क्षीण करता हुआ वह एक दिन सर्व कर्मों को निर्मूल करने में सफल हो जाता है। इस क्रम को ग्रहण करने पर उदय व परिणामों में अनुकूलता होते हुए मुक्ति प्राप्त हो सकेगी।

१८ उपसंहार अतः भाई! इतना लम्बा कथन सुन लेने के पश्चात अब ज्ञान को सरल कर, इस खेंचातानी को छोड़ तथा अपने किसी पक्ष का पोषण करने के लिये वस्तु स्वरूप का या सिद्धान्त का निरादर न कर। वस्तु में घटित होने वाले पांचों समवायों को यथायोग्य रूप से स्वीकार कर। वस्तु स्वतंत्रता का यह अर्थ नहीं, कि उसमें निमित्त का कोई स्थान नहीं, और निमित्त की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं कि वस्तु परतन्त्र है, इसी प्रकार पुरुषार्थ की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं कि नियति व भवितव्य कोई वस्तु नहीं। सबको युगपत देखने का प्रयत्न कर, ऐसा किया जाना तभी सम्भव है जबकि इस घरोंदे से निकल कर ऊपर व्योममण्डल में पहुंच कर इस विश्व को देखने का प्रयत्न करे; अर्थात ज्ञानधारा में जाकर ही ऐसा किया जाना सम्भव है, और उसी समय विश्व की नियत कार्य व्यवस्था या 'नियति' सिद्धांत की सुन्दरता का परिचय भी मिल सकता है।

कर्मधारा में बैठकर इस की कल्पना भी की जानी सम्भव नहीं, वहां तो नियति की बात कहना उपहास मात्र अथवा स्वच्छन्दाचार है। कर्मधारा में रहते हुए तेरे लिये सब कुछ अनियत है, क्योंकि वहाँ तो केवल ऐसा विकल्प है कि 'यदि उद्यम पूर्वक अमुक निमित्त प्राप्त करूंगा तो काम

हो जायेगा अन्यथा नहीं,' इसी को तो अनियति कहते है। पेट भरने के लिये भोजन का आश्रय लेना ही होगा, 'भोजन स्वयं आकर मेरा पेट भर देगा' ऐसा विचारने वाला या तो मूर्ख है और या पोस्ती। अतः कर्मधारा की व्यवहारिक सर्व प्रवृत्ति निमित्ताधीन ही होती है।

नियति का प्रवेश ज्ञानधारा में है जहां सर्व ही बाह्य की वृत्तियां विराम पा जाती हैं, वहां तो वह व्यक्ति ज्ञानघन मात्र है। शरीर दीखता ही नहीं, फिर उसकी रक्षार्थ भोजन का विकल्प ही कैसे होगा, अथवा 'अमुक निमित्त को मिलाऊंगा तो यह कार्य हो जायेगा अन्यथा नहीं' यह विकल्प भी कैसे होगा? क्योंकि वहां तो प्रयोजन है केवल जानने से। जब अन्तरंग ज्ञान का स्वभाव ही जानना है तब निमित्तों को मिलाने की आवश्यकता ही क्या?। निमित्तों की आवश्यकता तो बाह्य में देखने वाले इस इन्द्रियज्ञान को है, परन्तु यहां तो अन्तरंगज्ञान की बात कही जा रही है, जिसमें इन्द्रियों की भी आवश्यकता नहीं। 'मैं किसी प्रकार जानने का पुरुषार्थ करूंगा तो जानूंगा अन्यथा नहीं' इस विकल्प को भी वहां अवकाश कहां? क्योंकि जहां समस्त विश्व ने स्वतः अपना सर्वस्व उस ज्ञान को अर्पण कर दिया है, अर्थात जहां सब कुछ सहज जानने में आ रहा है, वहां उसी को जानने का विकल्प कैसा? अतः इस प्रवृत्ति में जाकर ही तेरे लिये विश्व व्यवस्था नियत है, कर्मधारा में नहीं। कर्मधारा वाले के लिये तो स्वयं उसकी नियति या काललब्धि भी अनियत है, क्योंकि "पुरुषार्थ करूंगा तो कार्य होगा, नहीं करूंगा तो नहीं होगा; निमित्त मिलेगा तो कार्य होगा, नहीं मिला तो नहीं होगा, पुरुषार्थ और अनुकूल निमित्त हुए तो उस कार्य या भवितव्य की नियति आयेगी, वे न हुए तो न आयेगी", ऐसा विकल्प स्वयं उसके हृदय में बैठा हुआ है। अतः 'नियति जानने की बात है करने की नहीं', यह बात अवधारण करके अब शांति पथ के प्रति उद्यम पूर्वक प्रवृत्ति करो।

ये हैं परम उपास्य और ज्ञानधारा के प्रतीक जिनकी नियति में मुक्ति रूप भवितव्य प्रकाशमान है। जिन्होंने कर्मधारा रूप मुक्ति के प्रतिकूल निमित्तों को त्यागकर ज्ञानधारा रूप आत्म संयम, तप, त्याग आदि अनुकूल निमित्तों को जुटाकर आत्मध्यान रूप पुरुषार्थ के द्वारा निज आत्म स्वभाव को प्राप्त किया है।

१६

❀ आस्रव सामान्य ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक १५ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ३१

१—आस्रव का अर्थ अपराध, २—कार्माण शरीर व उसकी निःसारता।

१ आस्रव का अर्थ अपराध

अहो ! अपराधों से अतीत हे वीतरागी गुरु, आपका है उपकार, करुणा व निःस्वार्थता। निपट अन्धे को आंखें प्रदान करके इसे अपराधों के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने वाले हे गुरुवर ! इसके अपराधों को अब शान्त करो। शान्ति पथ के पथिक को स्व पर भेद कर चुकने के पश्चात, अब यह बात चलती है कि वह कौन सा ऐसा अपराध है जिसका कि दण्ड उसे इस व्याकुलता के रूप में मिल रहा है। गुरुदेव के द्वारा प्रदान की गई दिव्य चक्षु से आज मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, कि वास्तव में मेरा सारा जीवन ही अपराधमय है। चौबीस घन्टों में और करता ही क्या हूं-अपराध के अतिरिक्त ? यहाँ अपराध से तात्पर्य लौकिक अपराध न ले लेना, जिससे कि राज्य दण्ड उठाने पड़ें। बल्कि वह पारमार्थिक अपराध लेना, जिसके कारण कि व्याकुलता का दण्ड उठाना पड़े। कौन देने वाला है वह दण्ड ? कोई दूसरा नहीं, मैं स्वयं ही हूं क्योंकि जो अपराध मैं करता हूं वह स्वयं व्याकुलता रूप ही है। इसी अपराध को आगमकारों ने आस्रव नाम से कहा है।

२ कर्माण शरीर व उसकी निःसारता

आस्रव अर्थात आ+स्रव। 'आ' का अर्थ चारों ओर से और 'स्रव' का अर्थ स्रना, रिसना या धीरे २ प्रवेश करना, अर्थात जो धीरे २ प्रवेश कर रहे हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। दो वस्तुएं हैं, जो इस प्रकार प्रवेश कर रही हैं—एक तो मेरा अपना चैतन्यात्मक अपराध और दूसरा वह जड़ पर पदार्थ, जो कि इसके कारण से कुछ एक विशेष निमित्त बनने की शक्ति को लेकर आता है, इसे कर्म कहते हैं। मेरा अपराध मेरे जीवन में प्रवेश पाता है और कर्म शरीर में। मेरे अपराध से आगे बताये जाने वाले मेरे संस्कारों का निर्माण होता है, और इन कर्मों से एक सूक्ष्म शरीर का, जिसे कार्माण शरीर कहते हैं। अन्यत्र इसे लिंग शरीर भी कहा जाता है। यह शरीर यद्यपि सूक्ष्म

है परन्तु वास्तव में यह ही मूल शरीर है, क्योंकि जिस प्रकार अनादि काल से मेरे संस्कार मेरे साथ चले आ रहे हैं, और आगे भी चलते रहेंगे, उसी प्रकार यह भी बराबर साथ चलता आ रहा है और आगे भी बना रहेगा। ऊपर दीखने वाला चमड़े का शरीर तो बहुत स्थूल है। इसका निर्माण उसी सूक्ष्म शरीर के कारण से होता है। वह न होता तो अमूर्तीक जीव का मूर्तीक शरीर कभी न हो सकता। जीव व इस शरीर के बीच वह गोंद का काम करता है। यह स्थूल शरीर तो मृत्यु के समय अपना त्याग पत्र दे देता है, पर वह कभी त्याग पत्र नहीं देता। जैसे जैसे संस्कारों में कुछ परिवर्तन आता जाता है तैसे तैसे उसमें भी परिवर्तन अवश्य आता जाता है। यह ऊपर का शरीर तो दृष्ट है पर वह अन्दर का सूक्ष्म शरीर योगी जनों के अतिरिक्त किसी को किसी यन्त्र के द्वारा भी दिखाई नहीं देता।

यहां इतना कहना योग्य है कि वास्तव में वही शरीर मेरा बन्दीगृह है, यह शरीर नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो इस शरीर को आत्म हत्या के द्वारा त्याग कर सम्भवतः मैं इस बन्दीगृह से निकल भागता और इस प्रकार इसका अभाव हो जाने पर इस सम्बन्धी इच्छाएं मुझे प्रगट न हो सकतीं, मैं शान्त हो जाता। परन्तु दुर्भाग्य वश ऐसा नहीं है। शरीर विच्छेद हो जाने पर इच्छाओं का विच्छेद नहीं होता, और वह पुनः नये शरीर का निर्माण कर देता है। अतः शान्ति का उपाय स्थूल शरीर विच्छेद करना नहीं है, बल्कि कुछ और है।

यदि उस सूक्ष्म शरीर का किसी प्रकार विच्छेद कर दिया जाये तो सहायक के अभाव में यह स्थल शरीर भी टिका नहीं रह सकता, त्याग पत्र देकर स्वयं चला जाता है और यह त्यागपत्र सदा के लिये होता है। प्रतिदिन वाली यह मृत्यु वास्तविक नहीं है, तब इसकी मृत्यु वास्तविक होती है। यह फिर मुझको बन्दी नहीं बना सकता, परन्तु उस सूक्ष्म शरीर का विच्छेद कैसे किया जाये, सो विचारनीय है। सूक्ष्म व अदृष्ट होने के कारण तथा दूध पानी वत मेरे साथ मिल कर पड़ा होने के कारण, किसी यन्त्र के द्वारा उसका विनाश किया जाना असम्भव है। अग्नि के द्वारा भी उसे भस्म नहीं किया जा सकता, वास्तव में उसका विच्छेद करना मेरे बस की बात नहीं। जिसे मैं छू व देख तक नहीं सकता, उसके विच्छेद करने का स्वप्न देखना भ्रम है। हां मैं उस अपराध का विच्छेद अवश्य कर सकता हूं जिसके कारण से कि इसका प्रवेश हो रहा है।

अपराध को करने वाला स्वयं मैं हूं और वह अपराध तत्क्षण व्याकुलता के रूप में मेरे अनुभव में आ रहा है। मैं उससे भली भाँति परिचित हूं। उसे करने का व न करने का मुझे पूरा अधिकार है और यदि मैं स्वयं अपराध न करूं तो कोई शक्ति जबरदस्ती मुझे अपराध करने के लिये बाध्य नहीं कर सकती। इन उपरोक्त कर्मों का दास बना आज का जगत अपने को उस सूक्ष्म शरीर के आधीन मानता है। "मुझको तो अपराध वह करा रहा है; जब तक वह रास्ता न देगा, मैं क्या कर सकता हूं ? उसका उदय होगा तो मुझे अपराध करना ही पड़ेगा। मैं क्या करूं ? मैं स्वयं तो अपराध करना चाहता नहीं पर यह मेरा पीछा छोड़ते नहीं। यदि गुरुदेव दया करके इनसे मेरा पीछा छुड़ा दें तो मैं अपराधी कभी न बनूं।" और इस प्रकार अपना दोष दूसरों के गले मंढ़ता है, स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अपने अपराध को स्वीकार करने तक का साहस जिसमें नहीं है, वह

बेचारा पामर व्यक्ति कभी यह नहीं विचारता कि क्या इस प्रकार तुझे शांति मिलनी सम्भव है ? यह शरीर तो सदा से है और सदा रहता रहेगा, तुझे अपराध कराता रहेगा। स्वभावतः ही उस तेरे अपराध से उसमें और वृद्धि होती रहेगी, इस प्रकार न कभी उसका विनाश होगा न तेरे अपराध का। तू सदा बन्दी बना, खाता ही रहेगा ठोकरें, इस व्याकुलता मय जगत की। प्रभो ! अब विपरीत बुद्धि को छोड़, तुझे आज प्रकाश मिल रहा है, कुछ देख, अपने अपराध को स्वीकार कर और इसे तोड़ने का प्रयत्न कर। इस पर तेरा बस चल सकता है, उस बेचारे जड़ शरीर को अपने अपराध के कारण क्यों कोसता है।

प्रकाश को पीटने से प्रकाश का अभाव नहीं हो जाता। दीपक बुझाने से ही होगा। गोली को उठाकर छेतने से तो गोली लगने का भय नहीं जाता, उसके लिये तो व्याध (शिकारी) पर आघात करना होगा जैसाकि सिंह करता है पर श्वान उससे उल्टा व्याध पर न झपट कर गोली पर झपटता है तथा मारने वाले पर न झपट कर लाठी पर झपटता है। भला विचारो तो, लाठी बेचारी का क्या दोष ? व्यक्ति उठाकर लाया तो वह आई, उसे घुमाया तो वह घूम गई। उसी प्रकार इस बेचारे जड़ शरीर का क्या दोष ? तूने अपराध करके उसे बुलाया तो आकर बैठ गया। अपराध करने में ही रस मान मान कर तू उसे घुमाता है तो घूम जाता है अर्थात उदय में आजाता है। वह बेचारा तो तेरा दास है, जैसी तुझसे आज्ञा पाता है वैसा करता है, वेतन न दे तो स्वयं भाग जायेगा। नया नया अपराध करके आनन्द मानना ही उसको वेतन देना है। प्रभु जाग ! देख तू सिंह की सन्तान है श्वान की नहीं, लाठी को मत पकड़, उस बेचारे को मत कोस, भूल पर आघात कर, अपने अपराध को देख और उसको स्वीकार कर।

भगवन ! तू स्वतन्त्र है। स्व पर भेद विज्ञान किया है, फिर भी अपने को इस बेचारे जड़ कार्माण शरीर के आधीन क्यों मानता है ? "जो यह करायेगा वही तुझे करना पड़ेगा," अर्थात तुझ में अपना तो कुछ बल है ही नहीं। कोई कह रहा है कि ईश्वर जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा और तू कह रहा है कि कर्म जैसा करायेगा वैसा करना पड़ेगा। बात तो एक ही रही, केवल नाम भेद रहा। उसका ईश्वर आकाश में बैठा कोई काल्पनिक व्यक्ति है और तेरा ईश्वर कर्म। अनादि से परतन्त्र दृष्टि बनी रही, व्याकुलता का निशाना बनता रहा, आज सौभाग्य से गुरुदेव का उपदेश प्राप्त हुआ है। यहाँ भी पुरानी टेव न छोड़ी। उसी परतन्त्रता का पोषण किया। कुत्ते की दुम को बारह वर्ष नलकी में रखा पर टेढ़ी ही निकली। अपनी स्वतन्त्र शक्ति को अब तक न पहिचाना, गुरुदेव के बताने पर भी विश्वास नहीं करता। कैसे होगा कल्याण ?

क्या कहा ? गुरुदेव पर व उनकी वाणी पर पूरा विश्वास है ? पर बात तो वास्तव में ठीक नहीं जंचती, केवल कहने मात्र का विश्वास हो तो हो, पर सच्चा विश्वास तो नहीं है। विश्वास वह होता है जिसका कि प्रतिबिम्ब जीवन में दिखाई दे। जीवन में तो अविश्वास ही दिखाई दे रहा है। "आपकी बात स्वीकार है, पर करूंगा तो वही जो करना है" कुछ ऐसी बात है फिर बता कैसे कहें, कि विश्वास है। क्या भेद विज्ञान इसी का नाम है कि "शरीर जुदा मैं जुदा" इतना कहा और हो गया ? यदि पूर्वकथित रूपसे गुरुदेव के समझाने पर शरीरमें और अपने म चटकारकी भेद का निश्चय किया है,

तो बता तू कैसे कह सकता है कि कर्म तेरा काम कर सकेंगे ? भाई ! अपना अपराध करने वाला तू स्वयं है, स्वतन्त्र रह कर करता है, अपने द्वारा करता है। कर्म बेचारे का क्या दोष ?

यदि तेरे निकट पड़ा भी है तो पड़ा रहने दे। क्या मांगता है तेरा ? वह अपना काम करता रहे और तू अपना, वह तुझे काम करने से तो रोकता नहीं। जिधर चाहे जा। जिस प्रकार चाहे विचार कर, चाहे तो इन अपराधों में रस ले चाहे तो न ले। ये बेचारे जड़ तुझे क्या कहते हैं ? अब गुरुदेव की शरण में आया है। स्व पर का स्वरूप निश्चय किया है तो बस पर को पर समझ, उसपर से लक्ष्य हटा और स्व पर लक्ष्य कर। गुण या दोष जो कुछ भी देखना है स्व में देख, स्व में ही पुरुषार्थ कर, तभी कल्याण सम्भव है। कर्मों से भिक्षा मांग कर भिखारी बना हुआ क्यों अपने कुल को कलंक लगाता है ? आ तुझे समझायें, वह तेरा अपराध क्या है, जो क्षण क्षण प्रति बराबर तेरे जीवन में प्रवेश कर रहा है।

१७

❀ अशुभ आस्रव ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक २३ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३२

१—क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध, २—पंचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी रागद्वेष ३—रागद्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता।

१ क्षण क्षण प्रति नवीन नवीन अपराध

शांति के घातक व व्याकुलता के कारण-भूत आस्रव का कथन चलता है। जड़ आस्रव अर्थात कर्मास्रव की बात हो चुकी। अब मुख्य आस्रव की बात चलेगी जो प्रत्यक्ष रूप से शान्ति का घातक ही नहीं बल्कि स्वयं व्याकुलता स्वरूप है, जो अपने अनुभव में आता है, जो स्वयं मेरा ही कुछ कोई दुष्कृत है, जिसको स्वतन्त्र रूप से मैं कर रहा हूं, और इसलिये यदि चाहूँ तो स्वतन्त्र रूप से रोक भी सकता हूँ। यह आस्रव भी यद्यपि कर्म कहलाता है पर यह जड़ात्मक नहीं है, चेतनात्मक है, मेरी ही कोई अवस्था विशेष है। क्योंकि व्याकुलता स्वरूप है इसलिए शांति के प्रति कर्तव्य नहीं है, अपराध है। यह अपराध भी दो प्रकार का है शुभ और अशुभ, पहले अशुभ की बात चलेगी।

आस्रव जो सर्व ओर से प्रतिक्षण मुझ में प्रवेश पा रहा है, अर्थात वह अपराध जो प्रति क्षण में किये जा रहा हूं — इस बात से बिलकुल बेखबर, कि इससे मुझे शांति मिलेगी कि अशांति। जैसा कि साक्षात् अनुभव में आ रहा है, मैं प्रति समय कोई न कोई नई नई क्रियाएं मन से, वचन से व काय से किया करता हूं। यदि विचार करके देखूं तो उन सब क्रियाओं का मूल अन्तर में उठने वाले वे विकल्प हैं, जो इन्द्रिय भोगों से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते हैं, तथा उन भोगों के प्रति शृंखलाबद्ध इच्छाओं में से उत्पन्न होते हैं। मन में उठे हुए यह विकल्प ही इस शरीर को तथा जिह्वा को प्रेरित करके कोई न कोई शारीरिक व वाचिक क्रिया करने पर बाध्य करते हैं। यदि मन में यह विकल्प न आयें तो शरीर व वचन से वैसी क्रियायें न हों। मन-वचन-काय की यह सब क्रियायें इच्छाओं के आधीन हैं तथा परम्परा रूप से इच्छा की उत्तेजक होने के कारण शांति की घातक हैं, तथा स्वयं व्याकुलता रूप हैं। अतः शांति-पथगामी मेरे लिये ये सब अपराध स्वरूप हैं, इन ही का नाम आस्रव है।

२ पंचेन्द्रिय विषयों सम्बन्धी रागद्वेष

शरीर की चमड़ी को सुन्दर देखकर, या इसे हृष्ट पुष्ट देखकर, या इसे सुन्दर वस्त्रालंकार से कुछ सजा हुआ देखकर, इसको चिकना चुपड़ा देखकर न मालूम क्यों मुझे एक प्रकार का आनन्द सा होता है। रसीले व मिष्ट पदार्थों को खाते, सुगन्धित व स्वादिष्ट व्यञ्जन

पदार्थों का भक्षण करते हुए न मालूम क्यों मुझे एक प्रकार का आनन्द सा आता है। अकस्मात् ही किसी पुष्प की या किसी मिष्टान्न की या इतर तेल आदि की सुगन्धि नाक में पड़ते ही न मालूम क्यों मैं उस ओर कुछ खिचा खिचा सा अनुभव करने लगता हूं। बाजार में कोई सुन्दर चीज या मूर्ति देखकर, या हलवाई की दुकान में सजी हुई मिठाई देखकर, कोई सुन्दर रेडियो ग्रामोफोन आदि देखकर, सिनेमा के चलचित्र पर कुछ चलते फिरते चित्र देखकर, या थियेटर सर्कस के कुछ सीन देखकर, या नृत्य देखकर, या किसी सुन्दर स्त्री का मुख देखकर, या अपने किसी परम मित्र को देखकर, न मालूम अपने मन में कहां से उथलपुथल मचाता यह एक आकर्षण सा आ घुसता है, कि किसी प्रकार मैं यह पदार्थ प्राप्त कर पाऊं तो कितना अच्छा हो ? कहीं से आती हुई मीठे राग की ध्वनि व मेरी प्रशंसा के शब्द न मालूम क्यों मेरे कान खड़े कर देते हैं, और मुझे सब काम छोड़कर अपनी ओर ही ध्यान देने व कुछ अभिमान करने को बाध्य कर देते हैं ? तथा अन्य भी अनेकों प्रकार के यह पांच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझे अपनी ओर आकर्षित करते ही हैं, उनमें मुझे कुछ आनन्द सा भासता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से ही अन्तरंग में कुछ मिठास सा वर्तता है। विषयों के प्रति इस प्रकार के आकर्षण का नाम 'राग' है और इस जाति के ये विषय 'इष्ट-विषय' कहे जाते हैं।

अधिक गरमी या धूप में चलते हुए, या सर्दी में काम करते हुए, या मैले व खुरदरे वस्त्र शरीर पर धारण करते हुए, शरीर पर मैल जमी जानते हुए, इस पर किसी प्रकार चोट आदि खाते हुए अथवा इस पर मच्छर आदि के काटने पर न मालूम क्यों कुछ पीड़ा सी, कुछ हटाव सा, कुछ बुरासा प्रतीत होने लगता है ? कोई भी कड़वा या कसैला या रूखा पदार्थ खाते हुए, या स्वतः ही मुंह में से या किसी कुष्टी के शरीर में से या कहीं अन्यत्र से किसी प्रकार की दुर्गन्धि नाक में आ जाने पर न जाने क्यों मुंह फेरने को या शीघ्र से शीघ्र वहां से चले जाने को जी चाहता है ? किसी कुरूप से कुष्टी को देखकर, या किसी भी मैले कुचैले व्यक्ति को देखकर, या विष्टा को देखकर, अपने किसी शत्रु को देखकर अथवा किसी रोगी को देखकर न जाने कहां से कुछ घृणा सी, कुछ भय सा उत्पन्न होने लग जाता है ? गाली का या व्यंग का कोई वचन सुनकर या अपनी निन्दा का वचन सुन कर, या वैसे ही कोई कर्कशसा शब्द सुनकर न जाने क्यों कुछ बुरासा लगने लगता है, क्यों क्रोधसा आने लगता है ? तथा अन्य भी अनेकों प्रकार के ये पांच इन्द्रियों सम्बन्धी विषय मुझ में कुछ अदेखसका सा, कुछ हटाव का सा, कुछ क्रोध का सा, कुछ बुरा सा भाव उत्पन्न कर देते हैं। उनमें कुछ मुझे हटाव सा वर्तता है। साक्षात् उनकी प्राप्ति तो दूर, उनकी कल्पना मात्र से अन्तरंग में कुछ हलचल सी मच जाती है। विषयों के प्रति इस प्रकार के अदेखसके से भाव का नाम 'द्वेष' है और इस जाति के ये विषय 'अनिष्ट विषय' कहे जाते हैं।

इष्ट विषयों की प्राप्ति में राग तथा उनकी अप्राप्ति या विनाश में द्वेष होता है। और इसके विपरीत अनिष्ट विषयों की प्राप्ति में द्वेष तथा अप्राप्ति व विनाश में राग वर्तता है। बस यह रागद्वेष ही मुझे प्रति क्षण मन द्वारा इनकी यथा योग्य प्राप्ति व अप्राप्ति सम्बन्धी कल्पनायें करने के लिये, उपाय सोचने को बाध्य करते हैं। वचन द्वारा किसी को प्रेम पूर्ण वाक्य कहने पर और किसी को गाली आदि देने के लिये मजबूर करते हैं। और शरीर द्वारा इधर उधर दौड़, इधर आ उधर जा,

ऊपर चढ़ नीचे उतर, हाथ उठा हाथ घुमा, झुकने या सीधे खड़े रहने, बैठने या लेटने आदि रूप कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। उन उन विषयों की प्राप्ति हो जाने पर ही यह कार्य होते हों तो भी खैर थी, परन्तु उनकी निकट सम्भावना न होने पर भी शेखचिल्ली की भांति ये क्रियायें बराबर चला करती हैं। कोई एक ही क्रिया बहुत देर तक चलती रहती हो, सो भी नहीं, प्रति क्षण बदलती रहती हैं। अगले अगले क्षणों में पहले पहले से अपूर्व ही कोई नई क्रिया हुआ करती है।

३ रागद्वेषात्मक क्रियाओं की अनिष्टता

प्रभो ! सोचा है कभी इस सम्बन्ध में कि यह क्या है ? यही तो है वह अपराध जिसे विकल्प नाम से कहा जाता है। आगे आगे के प्रकरणों में आने वाले 'इन्द्रिय विषय' 'रागद्वेष' व 'विकल्प' इन शब्दों का यही तो तात्पर्य है। क्या इन क्रियाओं को करते हुए प्रतिक्षण व्याकुलता सी नहीं भासती है ? क्या बराबर होती रहने वाली इन क्रियाओं से तू कुछ थका थका सा नहीं महसूस करता है। साक्षात् व्याकुलता रूप इन क्रियाओं में फिर भी तू बड़ी लगन से प्रवृत्ति करता है, महान आश्चर्य है। वास्तव मे तूने आज तक विचार कर देखा ही नहीं कि ये क्रियायें सुख रूप है कि दुःख रूप। विचारता भी कैसे, उन दो महा सुभट राग व द्वेष की असीम इच्छा रूप सेना से कौन भयभीत नहीं हो जाता ? उन इच्छाओं से संतप्त ही तू आज तक बिना विचारे, किय जा रहा है-यह कार्य, प्रतिक्षण नया नया अपराध। यदि एक क्षण को भी इधर ध्यान दे तो सदा के लिये इससे मुक्ति मिल जाये, इन विकल्पों से छुट्टी मिल जाये फिर यह कार्य करने की आवश्यकता ही न पड़े। इसलिये वास्तव में इच्छायें करना ही वह अपराध है, जिसके प्रति कि संकेतकरना अभीष्ट है।

स्व व पर में भेद न होने या झूठा भेद होने के कारण ही इन पूर्व कथित पदार्थों का आश्रय वर्तना है, जिन की महिमा से अपरिचित रहने के कारण ही इस शरीर या भोग सामग्री आदिक परपदार्थों की महिमा तेरी दृष्टि में आती ह। यदि यह समझ लेता कि इन पदार्थों से तेरा कोई कार्य सिद्ध होने वाला नहीं है, क्योंकि यह पर पदार्थ हैं, षट्कारकी रूप से स्वतंन्त्र है, तो इन क्रियाओं को अवकाश न रहता। यदि यह समझ लेता कि ये षट्कारकी रूप से स्वतन्त्र पर पदार्थ तेरे आधीन नहीं है, तो इनकी प्राप्ति व विनाश की इच्छा तुझे जागृत न होती। यदि यह समझ लेता कि ये षट्-कारकी रूप से स्वयं अपना सर्व कार्य करने को समर्थ है, तो अन्य की सहायता की आवश्यकता न पड़ती। यदि यह समझ लेता कि षट्कारकी रूप से स्वतन्त्र तू स्वयं शान्ति का भण्डार है तो इन वस्तुओं में अपनी शान्ति की खोज करने की भूल कभी न करता। यदि यह समझ लेता कि षट्कार-की रूप से स्वतन्त्र तू इनके आधीन नहीं है तो कदापि इनका आश्रय लेने का प्रयत्न न करता। स्वतन्त्र रूप से, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने में से, अपने ही स्वभाव के आधार पर प्रयत्न करता-शांति प्राप्ति के लिये, और शीघ्र ही सफल हो जाता। विकल्प मिट जाते, सर्व इच्छाओं का लोप हो जाता और यह सुभट राग व द्वेष अपना रास्ता नापते दिखाई देते।

भाई ! जरा तो बुद्धि से काम ले। इच्छाओं की ज्वाला में घी डालने वाली यह तेरी मानसिक, वाचिक व शारीरिक क्रियायें तेरे लिये हितकारी हैं कि अहितकारी, सुख रूप हैं कि दुःख रूप ? इच्छाओं का दास बन कर अपनी प्रभुता को भूल गया, इस भूल की महिमा कितनी है, इसको

आकर्षित होता है, अपनी शान्ति की बराबर अवहेलना किये जा रहा है, अपमान किये जा रहा है, भोगों का रूप धारण किये इन इच्छाओं रूपी वेश्याओं को घर में वास दिये जा रहा है। पर धन्य है वह पतिभक्त शांति रानी, जो अनादि काल से अपमानित होते हुए भी आज तक तेरे घर में बैठी है, अब भी उसकी ओर देख। सुन ! कितनी मधुरता से वह तुझे अपनी ओर बुला रही है। "स्वामिन्! आइये एक बार, केवल एक बार मेरे मुख पर दृष्टि डाल लीजिये फिर भले चले जाना उधर ही। मैं आपको रोकूंगी नहीं, इतना ही खेद है कि जब से आये हो एक बार भी तो आंख उठा कर मेरी ओर नहीं देखा।" भाई ! ठीक तो कहती है, एक बार देखने में क्या हर्ज है? नहीं अच्छी लगेगी तो छोड़ देना।

यदि निर्विकल्प इस शान्ति के दर्शन करे तो विकल्पात्मक इस मन-वचन-काय सम्बन्धी क्रिया को अपराध स्वीकार किये बिना न रहे और तेरा जीवन ही बदल जाये जो अब इच्छाओं की ज्वाला में स्वाहा होने जा रहा है। वही फिर शान्ति सुधा के निर्मल सरोवर में स्नान करने लगे।

अशुभ आस्रव का फल

१८

❀ शुभ आस्रव निषेध ❀

मुजफ्फरनगर—दिनांक १७ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३३

१—पुण्य अपराध, २—पुण्य पाप में समानता, ३—पुण्य प्रवृत्ति में इच्छाओं का बल, ४—पांच कोटि की शुभ इच्छायें, ५—पुण्य का निषेध, ६—पुण्य में पाप, ७—ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर, ८—अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना।

१ पुण्य अपराध शान्ति के घातक व इच्छाओं की ज्वाला में नित्य मुझे भस्म करने वाले आस्रव की बात चलती है। इसके दो अंगों में से अशुभ आस्रव अर्थात अशुभ अपराध की बात तो हो चुकी। अब चलेगी शुभ अपराध की बात। इस प्रकरण को प्रारम्भ करने से पहिले यह बात यहां बता देनी आवश्यक है कि इस प्रकरण में धर्म कर्म सम्बन्धी पुण्य रूप क्रियाओं का निषेध करने में आयेगा। उसका अभिप्राय ठीक २ ग्रहण करना अन्यथा अर्थ लगाने पर तो महान अनर्थ हो जायेगा। पुण्य क्रियाओं के निषेध का यह अर्थ नहीं है कि उन्हें छोड़ कर लौकिक पाप कार्यों में प्रवृत्ति करने लगे। बलिक इस का अर्थ तो यह है कि, यद्यपि साधक दशा में अशुभ राग को छोड़ने के लिये शुभ राग का आश्रय कथञ्चित इष्ट है, पर इस शुभ राग से भी धीरे धीरे हटते हुए अधिकाधिक स्वरूप निमग्न होने का प्रयत्न कर, यहां तक कि अन्त में जा कर इन को सर्वथा तज कर ध्यानस्थ हो जा। इनकी अनिष्टता दिखाने का यही प्रयोजन है कि कहीं इनको ही जीवन का सार मान कर तू इन ही में उलझ कर न रह जाये, अर्थात पुण्य में रस लेने न लग जाये। क्योंकि ऐसा होने पर तेरा पतन अवश्यम्भावी है। वर्तमान की अल्प स्थिति में हेय बुद्धि पूर्वक, अपने प्रयोजन की किंचित सिद्धी करने के लिये इन शुभ धार्मिक क्रियाओं का आश्रय लेना आवश्यक है, यह बात आगे के प्रकरण में स्पष्टतः बताई जायेगी।

कल के प्रकरण में बताई गई वे मन-वचन-काय की ही क्रियायें हों, ऐसा नहीं है। धर्म कर्म के सम्बन्ध में भी उनकी क्रियायें चला करती हैं। उन क्रियाओं का आधार भी किसी विशेष जाति की इच्छायें ही हैं और इच्छा मूलक होने के कारण इन क्रियाओं का समावेश भी आस्रव या अपराध के प्रकरण में किया जा रहा है, क्योंकि इच्छा व्याकुलता की जननी है, और व्याकुलता सर्व ही अपराध रूप हैं।

धर्म कर्म सम्बन्धी वे क्रियायें मन के द्वारा, वचन के द्वारा या काय के द्वारा, सच्चे देव की पूजा व भक्ति के रूप में, अथवा शान्त-मूर्ति वीतरागी गुरु की उपासना के रूप में, अथवा शान्ति पथ

प्रदर्शक प्रवचन के अध्ययन मनन के रूप में, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व परिग्रह-त्याग आदि व्रतों के रूप में, प्राणियों पर दया के रूप में, धर्मोपदेश के रूप में, परोपकार के रूप में, देश सेवा के रूप में, साधर्मी जनों पर प्रेम के रूप में, तप जप शील संयमादि के रूप में, इत्यादि अनेकों रूपों में,मैं नित्य ही किया करता हूँ। इन सब क्रियाओं का वर्णन तो आगे संवर के प्रकरण में क्रम से कहा जाने वाला है। यहां तो केवल संकेत मात्र के द्वारा धर्म कर्म रूप क्रियाओं से तात्पर्य है। इतना मात्र दर्शाना अभीष्ट है कि ये सर्व क्रियायें आस्रव हैं—अपराध हैं।

ओह ! क्या कहा जा रहा है ? मानो बाण ही फेंके जा रहे हैं, कलेजा छलनी हुआ जाता है यह वचन सुनकर, धार्मिक क्रियायें और अपराध। निकाल दो इस वक्ता को बाहर, कौन से देश की बात सुनाने आया है, नास्तिक कहीं का। बस बस बन्द करो यह वचनालाप, ऐसी बात तो सुनने को भी हम तैयार नहीं। जप, तप, शील, संयम, पूजा, दान, भक्ति, सेवा सब अपराध ? अरे रे ! कितना कठोर है तेरा हृदय ? प्राणियों की रक्षा करना और अपराध ? हम से नहीं तो ईश्वर से तो डर। और इस प्रकार की अनेकों बातों का मानों तूफान ही तो उठ गया हो आप सब के हृदय में। ऐसी बात कभी न सुनी, न देखी। एक अनोखी बात कि इतनी कठिनाई उठा उठा कर जिन क्रियाओं को बड़े बड़े योगीश्वरों ने किया, आज उन्हें अपराध बताया जा रहा है। यह कोई नई जाति का धर्म चलाना चाहता है, सबको ही नास्तिक बनाना चाहता है।

शान्त हो प्रभु ! शान्त हो ! यह नास्तिक बनानें की बात नहीं है, शान्ति दिलाने की बात है। तेरा कोई दोष नहीं, वास्तव में कभी इतनी निर्भीकता से ऐसी बात का न सुनना ही तेरे इस क्षोभ का कारण है। 'मन वचन काय की ये क्रियायें अत्यन्त हित रूप हैं, धर्म रूप हैं, मोक्ष देने वाली हैं,' इस प्रकार की तेरी पुरानी धारणायें ही तेरे इस क्षोभ का कारण हैं। शान्त होकर सुन, तू स्वयं पछतायेगा अपनी इस भूल पर। बात कठिन नहीं है, समझ में आ जायेगी, अब तक सुनी नहीं, इसलिये समझी नहीं अब शान्त चित होकर सुन। मेरे कहने मात्र पर विश्वास न कर लेना, तेरा अन्तःकरण स्वयं ही 'हां' कर दे तो स्वीकार करना, नहीं तो न करना। मेरी बात मेरे पास ही तो रहेगी, तुझ से छीन तो न लूंगा।

२ पुण्य पाप में समानता

कल बताई गई अशुभ क्रियाओं को तो दुनिया ही पाप बताती है, अपराध बताती है, परन्तु देखो वीतराग के मार्ग की अलौकिकता, कि धार्मिक क्रियाओं को भी अपराध बताया जा रहा है, पाप कहा जा रहा है। पुण्य व पाप में अन्तर देखने वाला शान्ति का उपासक नहीं है, यह कहा जा रहा है। है ही कुछ आश्चर्य की बात, कितनी निर्भीकता है वीतरागी गुरुओं की बात में। सर्वलोक एक ओर और वह अकेले एक ओर-बेधड़क धार्मिक क्रियाओं को पाप बताने वाले। यहां तक कह दिया है ज्ञानी जनों ने, "भगवन ! मुझे सब कुछ हो, बड़े से बड़ी बाधा भी स्वीकार है, पर एक पुण्य कभी न हो।" अरे ! कैसी अजीब बात है यह कि जिस पुण्य को, जिस धर्म को सब चाहते हैं, उसे ज्ञानी इन्कार करते हैं। याद होगी आगरे के विरागी गृहस्थ श्री बनारसीदास जी के जीवन की वह घटना जब उन्होंनें बादशाह अकबर से यह मांगा था कि अगर आप मुझ पर प्रसन्न हों, तो कृपया आज के पीछे मुझे अपने दरबार में न बुलाना। और आश्चर्य में पड़ गया था सारा दरबार उस समय। क्या मांगा इसने ? पागल हो गया है शायद ? जिसकी नजर के लिये आज सारा देश तरसता है, वह व्यक्ति उसके पास बुलाने पर भी आना नहीं चाहता। बस ऐसी ही अटपटी बात है

ज्ञानियों की। सामान्य मनुष्य को यह रहस्य समझ में नहीं आ सकता, और वही हालत है आपकी। परन्तु घबराइये नहीं, गुरुदेव की शरण में आये हो, अज्ञानी न रहोगे, इस रहस्य को अवश्य समझ लोगे।

विषय समझाने से पहले यह बात अवश्य हृदयंगत कर लीजिये कि सिद्धान्त वही होता है जो सर्वत्र समान रीति से लागू हो। कहीं लागू हो जाये और कहीं नहीं, उसे सिद्धान्त नहीं कहते, वह कल्पना है, पक्षपात है। वैज्ञानिक मार्ग में पक्षपात को अवकाश नहीं, भले ही पहले की पोषी सर्व धारणाओं का त्याग क्यों न करना पड़े। 'सत्य' सत्य ही रहेगा, आपकी कल्पनाओं के अनुकूल होतो सत्य, नहीं तो असत्य, ऐसा सत्य का लक्षण नहीं। कोई भी स्वीकार न करे तौ भी 'सत्य' तो सत्य ही है, आपकी कल्पनाओं के कारण सत्य न बदलेगा। सत्य के कारण आपको ही अपनी धारणायें बदलनी होंगी। यह तो विचारिये कि यदि आपकी धारणायें व क्रियायें सच्ची होतीं, तो आज दुखी क्यों होते? अधिक नहीं तो कुछ न कुछ शान्ति तो अवश्य होती, और प्रारम्भ से ही तो यह बताया जा रहा है कि वास्तविक सिद्धान्त व रहस्य से अपरिचित तेरी सब धारणायें भूल के आधार पर टिकी हुई हैं। वहां तो सुन कर क्षोभ नहीं आया था, यहां क्षोभ क्यों आ गया? प्रतीत होता है कि अन्य धारणाओं की अपेक्षा इस धारणा की शक्ति सबसे प्रबल है, इसकी पकड़ बहुत मजबूत है। इसलिए ही सर्व शक्ति लगा कर इसे छुड़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह बात तेरे हित के लिये है, अहित के लिये नहीं।

३ पुण्य प्रवृत्ति में इच्छाओं का बल

देखिये पहले तो यह याद कीजिये कि आप क्या प्रयोजन लेकर निकले हैं? 'शांति,' अच्छा तो अब बताइये कि शान्ति का क्या लक्षण आपने स्वीकार किया है? निरभिलाषता या निर्विकल्पता। ठीक! अब यह बताइये कि आप अभिलाषायें चाहते हो या उनका निरोध? उनका निरोध। शाबाश! शान्ति के उपासक के मुंह से इसके अतिरिक्त और निकल भी क्या सकता था? सिद्धान्त को तो आप खब समझे हुये हो, परन्तु फिर भी उपरोक्त बाधा क्यों? खैर धीरे धीरे दूर हो जायगी। अब यह बताइये यदि कुछ इच्छाओं को निकाल कर बाकी कुछ इच्छायें छोड़ दी जायें तो? किसी भी जाति की एक भी इच्छा नहीं रहनी चाहिये। वाह, कितना सुन्दर उत्तर है। अनेकों पीड़ायें पहुँचा कर जब थक गये तो अंग्रेजों ने भी यही प्रश्न पूछा था—गान्धी से, कि कुछ स्वतन्त्रता तो ले लो और कुछ हमारे हाथ में रहने दो। उस समय गान्धी ने भी यही उत्तर दिया था, जो आज आपने दिया है। "चाहे आप स्वर्ण के भी बनकर आयें, चाहे मुझे सब कुछ देने को तैयार हो जायें पर मुझ से यह आशा न करना कि मैं परमाणु मात्र का भी अधिकार तुम्हारे हाथ में रहने दूं। मुझे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिये, और पूर्ण ही लूंगा रत्ती भर कम नहीं।" अच्छा निर्णय हो चुका कि सब इच्छाओं का अभाव करना ही आपका प्रयोजन है। अब याद रखना इसे, आगे जाकर भूल न जाना।

आ जाइये अब मूल विषय पर। विचारिये कि उपरोक्त धार्मिक क्रियायें इच्छा के बिना की जाती हैं, या इच्छा सहित? देखिये हमारी आज की कोई क्रिया भी चाहे पुण्य रूप हो या पाप रूप, चाहे धर्म रूप हो कि अधर्म रूप, बिना इच्छा के नहीं हो रही है। यह बत अलग है कि इच्छायें कई जाति की होती हैं, अशुभ भी होती हैं, शुभ भी। अशुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाष को, जिनका कथन कि कल के प्रवचन में आ चुका है, और शुभ इच्छायें कहते हैं भोगाभिलाष से निरपेक्ष देव पूजा या गुरु सेवा आदिक उपरोक्त कार्य करने की इच्छा को। भोगाभिलाष के अभाव के कारण ही इन

क्रियाओं को निष्काम कर्म कहते हैं, जिसका कि गीता में कथन आया है। परन्तु विचारिये कि क्या भोगाभिलाष के अभाव हो जाने के कारण उन क्रियाओं को निरभिलाष मान लें। यदि धार्मिक भी इन क्रियाओं को करने की अभिलाषा न होती, तो बताइये उन क्रियाओं में प्रवृत्ति ही कैसे होती? मेरी हर शुभ या अशुभ क्रिया के पीछे किसी न किसी इच्छा की प्रेरणा अवश्य होती है।

४ पांच कोटि की शुभ इच्छायें

अब देखना यह है कि वे इच्छायें जो इस धर्म क्षेत्र में मेरे अन्तरंग में उत्पन्न होकर मुझे वे क्रियायें करने की प्रेरणा दे रही हैं, कितने प्रकार की हैं। यह सब उपरोक्त क्रियायें अनेकों प्रकार की इच्छाओं व अभिप्रायों से प्रेरित होकर की जा रही हैं। विचारने से सब स्पष्ट हो जाती हैं।

१— पहली इच्छा तो अत्यन्त स्थूल भोगों की प्राप्ति के प्रति है। जिसके कारण कि उन क्रियाओं का रूप अन्तरंग में कुछ ऐसा सा होता है कि इन क्रियाओं को करने से मुझे धर्म होगा। और धर्म का फल धन धान्य की प्राप्ति, राज्यादि, सम्पदा, सुन्दर स्त्रियें, आज्ञाकारी पुत्र व सेवक आदि ही तो हैं, इसलिये ये क्रियायें मुझे इष्ट हैं। अथवा प्रभु मुझ पर प्रसन्न होकर मुझे उपरोक्त सम्पदा प्रदान कर देंगे, मुकदमा जिता देंगे, परीक्षा में सफल करा देंगे, शत्रु पर विजय करा देंगे इत्यादि। इस प्रकार की इच्छायें रख कर पूजा करना, छत्र चढ़ाना, बोलत कबूलत करना आदि अनेकों ऐसी स्थूल क्रियायें होती हैं जिनमें कि उनके अन्तरंग की इच्छायें स्पष्ट प्रगट हो जाती हैं।

२—दूसरी इच्छा वह है जिसके आधार पर इस भव सम्बन्धी भोगों का तो नहीं, परन्तु अगले भव सम्बन्धी भोगों का अभिप्राय अन्तरंग में छिपा रहता है। उसका रूप कुछ इस ढंग का है, "तिर्यञ्च व नरक गति तो बड़ी दुखदाई है वहां तो धर्म कर्म भी होना बड़ा कठिन है, किसी प्रकार देव गति मिले तो अच्छा, या भोग भूमि मिले तो अच्छा, वहां सुख है, सर्व अनुकूल है, कोई चिन्ता नहीं है, जीवन सुख पूर्वक बीतेगा इत्यादि। प्रयोजन की सिद्धि व्रत उपवास, पूजा, प्रभावना, पात्र दान आदिक के द्वारा ही बताई गई है, अतः ये क्रियायें ही मुझे इष्ट हैं। इस अभिप्राय पूर्वक अधिकाधिक भक्ति, तप व दान आदि क्रियायें करता है। यद्यपि स्थूलतः बाहर में वह अभिप्राय पूर्ववत प्रगट होने नहीं पाता, परन्तु बातचीत में वह अवश्य प्रगट हो जाता है, इसलिये यह इच्छा भी स्थूल भोगों सम्बन्धी ही है।

३—तीसरी इच्छा वह है जिसके आधार पर स्वर्गादि सम्बन्धी न सही, पर मोक्ष सम्बन्धी अभिप्राय अन्दर में छिपा रहता है। परन्तु यहां मोक्ष का स्वरूप किसी अन्य प्रकार की कल्पना रूप रहता है। इसका रूप कुछ इस प्रकार का है—कि देवगति के सुख को तो गुरुजन दुःख बताते हैं। अतः ठीक है-मुझे वह सब कुछ नहीं चाहिये, परन्तु मोक्ष के लिये तो वह स्वयं भी प्रयत्न कर रहे हैं, इन क्रियाओं का फल मोक्ष भी तो है। कहा जाता है कि मोक्ष में अनन्त सुख है, सर्व इन्द्रों के सुख से भी अनन्त गुणा, सर्व चक्रवर्तियों के सुख से भी अनन्त गुणा। वाह वाह ! इससे अच्छी बात क्या ? वहां तो खूब मौज में रहूंगा। मोक्ष शिला भी सुन्दर बताई जाती है, उस पर बैठने मात्र से ही बड़ा सुख मिलेगा। फिर अनन्तों सिद्ध वहां विराजमान हैं, उनको साक्षात स्पर्श करने का अवसर मुझे मिलेगा। पवित्रात्माओं के स्पर्श से तथा उनके दर्शन से कितना सुख मिलेगा, जबकि साधुओं तक

के स्पर्श की व दर्शन की बड़ी महिमा कही जाती है? और वही न सही लोक में ख्याति तो हो ही जायेगी, कि बड़ा धर्मात्मा है। अतः मुझे इन धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करना ही इष्ट है, यह अभिप्राय भी वचनों पर से जाना जा सकता है, जोकि स्थूल है। यद्यपि साधारणतः देखने पर भोगाभिलाष प्रतीत नहीं होती, परन्तु यह भी भोगाभिलाष की कोटि में आ जाती है। क्योंकि मोक्ष सुख से अनभिज्ञ केवल शिलास्पर्श, सिद्धों का सम्पर्क, उनका स्पर्श व दर्शन भी इन्द्रिय सुख ही है अतीन्द्रिय नहीं।

४—चौथी इच्छा वह है जिसके अन्तर्गत विदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर प्रभु के दर्शन का अभिप्राय छिपा है। उसका रूप कुछ ऐसा है-पुण्य करने से देव गति में जाऊंगा. और वहां से प्रभु के दर्शन को, अथवा यहाँ से सीधा विदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो जाऊंगा और प्रभु के दर्शन करके सम्यक्त्व प्राप्त करूंगा, और फिर मोक्ष। परन्तु यहां पर भी मोक्ष का स्वरूप पहला ही रहा, और सीमन्धर प्रभु के दर्शन में भी उसी जाति के किसी सुख की कल्पना रही, या रही कोरी भावुकता। सो भी तीसरी इच्छा के समान ही है, यह भी वाचनालाप से प्रगट हो जाती है।

५—पांचवीं इच्छा है सच्चे मोक्ष की इच्छा, जिसका रूप कुछ इस प्रकार का है कि मुझ केवल शांति चाहिए और कुछ नहीं। मुझे मोक्ष शिला लेकर क्या करना है? दूसरे सिद्धों से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? अतः मेरे हृदय में उस लोक शिखर वाले सिद्ध लोक के प्रति कोई आकर्षण नहीं। यह ठीक है, वहां ही जाना होगा, परन्तु इसकी कोई महत्ता नहीं। नरक लोक में जाकर भी यदि शान्ति रहती हो तो वह भी मेरे लिये मोक्ष है और कहीं जाने की मुझे क्या आवश्यकता, मुझे तो यहां ही शांति वर्तती है, यही मेरी मोक्ष है, कुछ कमी है पूरी हो जायेगी। ये धार्मिक क्रियायें करना शांति की दृष्टि से कुछ प्रयोजनीय नहीं, जो कुछ भी इनका फल बताया जाता हो, पर मेरे लिए इनका कोई फल नहीं। जो इनका फल धनादि की प्राप्ति है वह मुझे चाहिये नहीं। वर्तमान में साक्षात् विकल्पात्मक होने से ये क्रियायें स्वयं अशांति रूप हैं। भले कुछ शांति रूप हों, पर वह शांति नहीं जो निर्विकल्प समाधि में होती है। परन्तु फिर भी जब समाधि में स्थिर न रह सकूं तब क्या करूं? अशांति में तो जाना ही होगा। कहीं भोगादिकों की ओर प्रवाह हो गया तो गजब हो जायेगा, सब कमाई लुट जायेगी। अतः 'सारा जाता देखिए तो आधा लीजिए बांट' इस युक्ति के अनुसार, चलो, इन्हीं क्रियाओं में मन को उलझा दो, इत्यादि प्रकार से इन क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है। यद्यपि यह प्रवृत्ति सच्ची है, यहां किसी भी रूप में भोगों की अभिलाषा की रेखा भी दिखाई नहीं देती, न ही बाह्य क्रियाओं से या वचन से कोई भी उस प्रकार का अभिप्राय प्रगट होने पाता है, तोभी 'मुझे किसी प्रकार शीघ्र शांति मिले', इतनी तो व्यग्रता है ही। बस इसी लिए अत्यन्त सूक्ष्म भी यह इच्छा ही तो है।

अब सिद्धान्त लागू कीजिए। क्योंकि पांचों में ही कोई न कोई इच्छा है अतः यह सब धार्मिक क्रियायें अपराध हैं। इतना अन्तर है कि नं० १ से नं० ४ तक की इच्छायें तो भोगाभिलाष सम्बन्धी होने के कारण अशुभ हैं, अनिष्ट हैं। इसलिए उन इच्छा पूर्वक की गई वे क्रियायें बड़ा अपराध हैं। परन्तु नं० ५ की इच्छा अत्यन्त सूक्ष्म व भोगाभिलाष से निरपेक्ष होने के कारण, तथा उस इच्छा का भी अन्तरंग में निषेध वर्तते रहने के कारण शुभ है तथा इष्ट है। उस सूक्ष्म इच्छा के

साथ वर्तने वाली क्रियायें शान्ति में इतनी बाधक नहीं पड़तीं, जितनी कि पहली चार। बल्कि साधक को, भोगाभिलाष में उलझने से रक्षा करने के कारण, कुछ सहायक ही रहती हैं। अतः इस दशा में वे क्रियायें कथञ्चित इष्ट हैं। परन्तु सिद्धान्त बाधित नहीं होना चाहिए। जितनी कुछ भी इच्छा है, उतना अपराध ही है। अतः यह पांचवी भी है, अपराध ही, आस्रव ही।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक १८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३४

५ पुण्य का निषेध अहो ! शान्त आत्माओं से मुझ में प्रतिबिम्बित होने वाली शान्त आभा जयवन्त रहो। वह शाँति जिसने भव संतप्त मुझ अधम को एक अपूर्व शीतलता प्रदान की, वह शीतल शांति जिसके सामने दाहोत्पादक ये पंचेन्द्रिय के भोग चितातुल्य हैं, वह मधुर शान्ति जिसके सामने भोगों के सब रस फीके हैं, वह द्युतिवन्त शान्ति जिसके सामने प्राणी का अन्धकार मिटा देने वाली भोगों की चमक फीकी है, वह महिमावन्त शान्ति जिसके सामने भोगों की महिमा तुच्छ है, वह मूल्यवान शान्ति जिसके सामने तीन लोक की विभूति का भी कोई मूल्य नहीं है। हे देवी ! अपना मुख दिखाया है, अब छिपा न लेना, मैं तेरे लिये सर्वस्व न्योछावर कर देने को तैयार हूं। तेरी ओर निहार कर अब मैं, कभी इस सम्पदा की ओर आंख उठा कर न देखूंगा। हे नाथ ! मुझको शक्ति प्रदान कीजिये, कि इस आपदा जनक सम्पदाकी ओर इस भवमें तो क्या, आगे किसी भवमें भी मैं दृष्टि न उठाऊं, सदा इसे ठुकराता चलूं, इसका अपमान करता चलूं। शान्ति रानी को पाकर कौन ऐसा है जो इस कुलटा का मुख देखेगा।

६ पुण्य में पाप और जब इस सम्पदा ही की ओर से दृष्टि हट गई तो फिर इसके कारण पुण्य को मैं क्या समझूं ? वह भी मेरे द्वारा अपमानित हुए बिना न रह सकेगा। मैं पापके फल का स्वागत करने को तैयार हूं, पर पुण्य के फल का नहीं, वह पुण्य जो पाप से अधिक भयानक है। पाप तो ऊपर से ही भय दिला देता है जिससे कि इसके प्रति स्वाभाविक घृणा उत्पन्न होजाये। परन्तु पुण्य ऐसा लुभावना जाल फैलाता है कि स्वतः आकर प्राणी इसमें फंस जाते हैं और तड़प तड़प कर प्राण दे देते हैं। वह पुण्य तीसरे भव नरक का द्वार दिखलाता है और वर्तमान भव में इच्छाओं की ज्वाला में जलाता है।

क्योंकि स्वाभाविक रीति से ही इच्छित पदार्थ की प्राप्ति हो जाने पर उसमें आसक्ति हुए बिना नहीं रह सकती। इसलिये भोग सम्पदा या देवादि पदों की इच्छा से की जाने वाली पुण्य रूप क्रियाओं के फल भोगादिक प्राप्त हो जाने पर उनमें आसक्ति हुए बिना नहीं रह सकती और यह बात सर्व संम्मत ही है। बहुत प्रतीक्षा के पश्चात मिली हुई स्त्री में क्या अत्यन्त आसक्तता होती नहीं देखी जाती और आसक्तता का फल क्या होना चाहिये, सो सब जानते हैं। देखिये अपनी भूल का विषैला फल कि धार्मिक क्रियाओं को भोगाभिलाष के कारण अपने हित रूप मानकर उन क्रियाओं को करने में सन्तोष धारण किया। "मैंने बहुत अच्छा काम किया है। मैं बहुत धर्मात्मा हूं।" ऐसा अभिमान

उत्पन्न किया, यह वर्तमान भव में फल मिला। भोगों की तीव्र इच्छा के कारण संताप उत्पन्न किया, यह दूसरे भव में फल पाया और तीसरे भव में उस आसक्ति के फल स्वरूप कुगतियों में अनेक दुःख सहे। यह मिला तीसरे भव में उन क्रियाओं ..ा फल और फिर भी उन क्रियाओं को अत्यन्त हित रूप मानता है, खेद है इसकी इस भूल पर। इसी से ज्ञानी जन उनको अपराध कहते हैं।

७ ज्ञानी व अज्ञानी के पुण्य में अन्तर

उन क्रियाओं को अपराध बता देने से यह तेरे अन्दर में उत्पन्न हुआ क्षोभ ही यह बात दर्शाता है कि उनके प्रति तुझे मिठास बर्तता है। तर्क किया जा सकता है कि ज्ञानी जनों को भी तो उन क्रियाओं में मिठास ही आता है? नहीं, वे क्रियायें करते अवश्य हैं पर उनको इनमें मिठास कभी नहीं आता। मिठास तो स्वयं एक शान्ति में ही आता है और इसलिये उनको धन का निषेध सुन कर क्षोभ नहीं आता। स्वयं अन्तरंग से वह यही भावना उत्पन्न किया करता है कि ये क्रियायें करने की आवश्यकता उसे न पड़े। फिर तेरी मिठास और उसकी मिठास में अन्तर भी तो महान है। तेरी मिठास तो अपनी शान्ति से अपरिचित रहने के कारण केवल तेरे उन चार जाति के भोगाभिलाष सम्बन्धी अभिप्राय में से निकल रही है, जिनके सम्बन्ध में कि कल बताया गया था। और उसकी मिठास पांचवीं जाति की शान्ति सम्बन्धी अभिलाषा में से निकल रही है। जिसमें केवल शान्ति की अपेक्षा है अन्य किसी बात की नहीं है। उन क्रियाओं में तुझे जो तन्मयता सी दीखती है, उसका आधार तो वह मधुर सुर, ताल, लय मजीरे ढोलक आदि है, जिनके द्वारा भक्ति करने को तू बहुत महत्ता देता है, और उसकी तन्मयता का आधार अपनी वह शान्ति है, जो कि उसे उस समय भगवान की शान्ति को देखकर याद आ जाती है, और अपने अन्दर जिसका वह प्रत्यक्ष वेदन करने लगता है। तू इन क्रियाओं को करते हुए उन्हें हित रूप समझता है, और इन क्रियाओं सम्बन्धी अपने पुरुषार्थ को हित रूप समझता है, इनके प्रति अपने झुकाव को हित रूप समझता है, और वह इन क्रियाओं को करते हुए भी इन्हें हित रूप नहीं समझता, इन क्रियाओं की इच्छा को भी हित रूप नहीं समझता, इन क्रियाओं सम्बन्धी अपने पुरुषार्थ को भी हित रूप नहीं समझता, तथा उनके प्रति अन्तरंग में उसे कभी झुकाव उत्पन्न नहीं होता। उसका सच्चा झुकाव है तो केवल शांति के वेदन के लिये।

अभिप्रायों में महान अन्तर होने से उनके फलों में भी महान अन्तर पड़ जाता है। फल तो दोनों को ही यद्यपि भोग सम्पदा मिलता है, परन्तु तुझको कदाचित जितनी मिल पाती है उससे हजारों गुणी उसे मिल जाती है। तू उस सम्पदा में उलझ जाता है, क्योंकि क्रियायें करते हुए उसी की अभिलाषा मन में बैठी हुई थी, और वह उसे प्राप्त करके भी उससे उदासीन बना रहता है और समय पड़ने पर उसे बेधड़क ठुकरा देता है। तू उसमें मिठास लेता है और उसे वह जंजाल भासती है, देव गति को तू अच्छा समझता है और वह तेतीस सागर की कैद, क्योंकि यह मार्ग में न आती तो वह इतने समय पहले अपने प्रयोजन को सिद्ध कर चुका होता, तुझे तीसरे भव उसका फल पाप में मिलता है और उसे सदा पुण्य ही पुण्य मे, और इसी कारण तेरी वे क्रियायें कही जाती हैं पापानुबन्धी पुण्य, और उसकी वे ही क्रियायें कहलाती हैं पुण्यानुबन्धी पुण्य। देख बाहर में क्रियायें एक होते हुए भी केवल अभिप्रायों के फेर से कितना महान अन्तर पड़ गया है दोनों में। अपने अन्दर में झुककर जरा गौर से देख, वही या उसी जाति के कुछ और अभिप्राय बैठे हुए हैं या नहीं। शान्ति के प्रति का

अभिप्राय तो तुझे हो ही नहीं सकता, क्योंकि तेरा हृदय स्वयं कह रहा है कि उसका वेदन हो नहीं पाया है, वह अब भी उसके लिये तड़प रहा है। अतः भाई! क्षोभ को तज कर अन्तर के कुछ अभिप्राय को बदलने का प्रयत्न कर, जिससे कदाचित् उन क्रियाओं की सार्थकता हो जाये, और जैसा कि कहा जाता है यह परम्परा रूप से शान्ति पथ में कुछ सहायक हो जायें। अभिप्राय बदले बिना तो ये परम्परा रूप से भी उसमें सहायक नहीं हैं।

८ अभिप्राय से विपरीत भी कार्य करने की सम्भावना

यह सुनकर आश्चर्य कर रहा होगा कि भिन्न अभिप्राय रखते हुए भी कार्य कैसे हो सकता है? ठीक है तेरा प्रश्न! आगे भी संयम आदिक के प्रकरणों में तुझे यही शंका उत्पन्न होगी तथा ज्ञानी गृहस्थ की महिमा का बखान किया जाने पर कि यह भोग भोगते भी वैरागी है, तुझे यह शंका हुए बिना न रहेगी। अतः इस शंका के निवारणार्थ ही यहां यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूं कि ऐसा होना सम्भव है, कि अभिप्राय कुछ और हो और क्रिया कुछ और। अभिप्राय में उसका निषेध बर्तते हुए भी, बाह्य में वह क्रिया करता हुआ दीखता है। अन्तरंग में रस न लेते हुए भी बाहर में कुछ रस लेता हुआ सा प्रतीत होता है।

ले सुन! आगम में भी इस बात का समाधान भरत चक्री सम्बन्धी एक सुन्दर दृष्टान्त देकर किया गया है। यह प्रश्न किसी व्यक्ति के द्वारा किया जाने पर, एक तेल भरा कटोरा उसके हाथ में दिया और आज्ञा की कि सारे नगर में घूम कर आये, पर तेल की एक बूंद भी गिरने न पाये। गिरी तो तत्क्षण सर उड़ा दिया जायेगा। आज्ञा का पालन हुआ। लौट आने पर उस व्यक्ति से पूछा गया कि उसने नगर में क्या क्या देखा, तो क्या बताता बेचारा। तेल और अपना सर या तलवार के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दिया था उसे। नगर में क्या देखता? बस ज्ञानी के भोग भोगते भी कैसे रस आवे? उसे तो दिखाई देता है केवल अपनी शान्ति का लक्ष्य या वर्तमान तुच्छ मात्र विद्यमान शांति के वेदन में बाधा पड़ने की सम्भावना।

दूसरा आगम का दृष्टान्त है अर्जुन का। कौवे के नेत्र बींधने को धनुषबाण चढ़ाये अर्जुन खड़ा है। गुरू पूछते हैं कि क्या दिखाई देता है-उसे। जवाब मिला कि कौवे की एक नेत्र और वह भी उस समय जबकि वह उस पुतली में आती है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वहाँ उस कौवे का इतना बड़ा शरीर विद्यमान होते हुए भी उसे दिखाई कैसे देता? उसके लक्ष्य में तो था केवल एक नेत्र। इसी प्रकार पुण्य क्रियाओं में ज्ञानी को मिठास क्यों आवे? उसे तो वर्तमान में या भविष्यत में दिखाई देती है केवल एक शान्ति। लक्ष्य तो लगा है केवल उसी पर? यह है लक्ष्य बिन्दु या अभिप्राय की महिमा।

इनके अतिरिक्त सुनिये एक लौकिक उदाहरण। कल्पना करो कि किसी मुकदमे में उलझ गए आप। अपनी रक्षा के लिये कुछ सामान व रुपया लेकर मैजिस्ट्रेट के घर गये, और बड़े प्रेम से वह सामान घूस के रूप में भेंट किया। बोले बच्चों के लिये है, उसके बच्चों के प्रति प्रेम भी बहुत दिखाया। उन्हें खिलाता, बाजार ले जाता, जो कुछ उन्हें चाहता लाकर दे देता। बच्चों की मां भी समझती कि उसे बड़ा मोह पड़ गया है-बच्चों से और पिता भी समझता कि उसे प्रेम है हमारे कुटुम्ब से। परन्तु आप जानो कि कैसा प्रेम है आपको? मुकदमा जीता कि सब प्रेम हवा में उड़ा। बस ज्ञानी

को पता है कि कैसी रुचि है उसे इन धार्मिक क्रियाओं के प्रति। शान्ति मिली कि सब रुचि भागी। वर्तमान की यह झूठी रुचि दिखावटी है, केवल अशुभ बातों में यह विकल्प न चले जायें, इस भय के कारण। उससे विपरीत तेरी रुचि है, उन बच्चों के साथ माता के प्रेम वत हित बुद्धि रख कर।

और भी उदाहरण है, जिससे सम्भवतः अभिप्राय की अत्यन्त सूक्ष्मता का भी स्पर्श किया जा सके। कल्पना कीजिये कि आपकी आयु ६० वर्ष की हो चुकी है, और सन्तान नहीं हुई। स्त्री ने बहुत इलाज कराये पर निराश रही। निराश होकर अपने भाई का कोई बच्चा रख लिया अपने पास। खूब प्रेम करते थे, इस अभिप्राय से कि दो तीन वर्ष में परच जायेगा, तब गोद ले लेंगे। एक दिन गांव जाते जाते मार्ग में सौभाग्य वश वृक्ष के नीचे बैठे दिखाई दिये एक अवधिज्ञानी दिगम्बर साधु। भक्ति उमड़ी, नमस्कार किया और कह डाली अपने मन की व्यथा। उत्तर मिला कि जाओ एक वर्ष पश्चात पुत्र होगा। सन्तोष हुआ तथा अतीव प्रसन्नता भी, घर आकर स्त्री से बताया। पर बेचारी बिल्कुल निराश हो चुकी थी, कैसे विश्वास करती? ऊपर से हां हूं कर दी पर भीतर से यही आवाज आती रही कि अरे! क्या रखा है बच्चा होने को? स्वामी को तो साधु की भक्ति वश ऐसे ही विश्वास हो गया है, बच्चा होना असम्भव है।

अब भी उस दत्तक पुत्र पर दोनों का स्नेह बराबर था। परन्तु विचारिये कि स्त्री के व आपके स्नेह में कुछ अन्तर पड़ा कि वैसा ही है? यद्यपि स्त्री का स्नेह ज्यों का त्यों रहा पर आपके स्नेह में कुछ अन्तर पड़ा। विश्वास जो था कि दो तीन साल पीछे उस बालक को तो चला ही जाना होगा अपने घर। तीन महीने बीत गए। गर्भ के चिन्ह दिखाई दिये, बताइये कि क्या कुछ अन्तर पड़ेगा उस दूसरी स्थिति के प्रेम में? अवश्य पड़ेगा, आपका प्रेम कुछ पहले की अपेक्षा भी कम हो जायेगा, और स्त्री के प्रेम में भी कुछ अन्तर पड़ जायेगा। अब तीसरी स्थिति, बालक पैदा हो गया। क्या कुछ अन्तर पड़ा तीसरी स्थिति के प्रेम में? अवश्य पड़ा, और सम्भवतः अब तो उस दत्तक पुत्र पर भी वह अन्तर कुछ कुछ प्रगट सा होने लगा। कभी कभी धमकाने की भी नौबत आने लगी। अब बालक हो गया दो वर्ष का। बताइये अब भी प्रेम रहा उस पहले बालक पर? नहीं, अब तो कुछ वह भार दीखने लगा। यद्यपि शर्म व लिहाज के कारण स्वयं बालक को विदा न किया, पर यह इच्छा अवश्य रही कि जितनी जल्दी चला जाये अच्छा है।

देखिये, विश्वास में अन्तर पड़ते ही प्रेम में अन्तर पड़ गया। पहली दो स्थितियों में वह अन्तर सूक्ष्म रहा, बाहर प्रगट न होने पाया और आगे की स्थितियों में उत्तरोत्तर स्थूल हो गया, अब बाहर भी उसके चिन्ह दिखाई देने लगे। इस उदाहरण पर से यह बात भली भांति जानी जा सकती है कि अभिप्राय बदल जाने पर किस क्रम से क्रिया में धीरे धीरे अन्तर पड़ा करता है, और पहली स्थितियों में, अभिप्राय में क्रिया का निषेध होते हुए भी क्रिया बराबर होती रहती है।

और भी एक सुन्दर व स्पष्ट उदाहरण है। एक किसान खेती करता है और एक कैदी भी। दोनों ही दत्त चित्त से काम में जुटे हुए दिखाई देते हैं, दोनों ही खेती को फूली देखकर प्रसन्न चित्त दिखाई देते हैं, क्रिया दोनों से हो रही है। पर क्या अभिप्राय दोनों का समान है? किसान हित बुद्धि से खेती करता है और कैदी दण्ड समझकर। किसान की तन्मयता हित बुद्धि के कारण ध्रुव है और कैदी की क्षणिक। आज छुट्टी मिले तो चाहे खेती में आग लगे, उसकी बला से। खेती के लिये जेल में रहने को तैयार नहीं। परन्तु किसान को मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए भी सम्भवतः यही विचार हो कि

कहीं खेती में गाय न घुस गई हो। किसान की प्रसन्नता उसके फल को भोगने के लिये है, और कैदी की प्रसन्नता केवल अपने परिश्रम के फल के कारण है। परन्तु भोक्तापने से निरपेक्ष किसान की खेती है अभिप्राय के अनुकूल और कैदी की खेती है अभिप्राय के प्रतिकूल।

बस इसी प्रकार तेरी धार्मिक क्रियायें हैं अभिप्राय के अनुकूल, हित बुद्धि पूर्वक, उनमें मिठास लेते हुए और ज्ञानी की क्रियायें हैं, अभिप्राय से प्रतिकूल, अहित बुद्धि रखकर, उसमें कुछ कड़वास लेते हुए। महान अन्तर है, आकाश पाताल का अन्तर। धान्य कूटते समय देखने वाले को क्या पता कि यह धान्य कूटता है या तुष? ओखली में ऊपर तो तुष ही दिखाई देता है। इसी प्रकार ज्ञानी को पूजा आदि करते देखकर तू क्या समझे कि यह भगवान की पूजा करता है या अपनी शान्ति की। ऊपर से तो भगवान की पूजा करता है। देखम देखी वह देखने वाला अपने घर जाकर तुष कूटने लगे तो क्या निकलेगा उसके परिश्रम का फल? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा, जितना कि धान्य कूटने वाले को। उसी प्रकार ज्ञानी की देखम देखो तू भी पूजा आदि करने लगे तो क्या निकलेगा उस परिश्रम का फल? यद्यपि परिश्रम तो उतना ही करना पड़ेगा जितना कि ज्ञानी को।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

प्रभु शान्ति फल बांट रहे हैं जो सही अभिप्राय पूर्वक कार्य कर रहा है उसे फल भी मिल रह है जो अज्ञान पूर्वक अन्धवत कार्यकर रहा है उसे वह फल नहीं मिलता यदि शुभ क्रिया में अभिप्राय है शान्ति का तो फल भी शान्ति मिलेगा यदि अभिप्राय में भोगाकांक्षा का राग है तो शांति फल न मिलेगा।

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

१६

❀ शुभ आस्रव समर्थन ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनाँक १६ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ३५

१—शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध, २—मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश, ३—चार कोटि की क्रियायें, ४—मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त, ५—चारों क्रियाओं में हेयोपादेयता।

१—शुभ क्रिया को त्यागने का निषेध

धार्मिक क्रियाओं को अपराध बताया जा रहा है। तेरी व ज्ञानी की उन क्रियाओं सम्बंधी अन्तरंग अभिप्राय में क्या अन्तर पड़ा है यह बात कल दर्शाई गई। इन क्रियाओं को अपराध कहता सुन कर उपजा क्षोभ यद्यपि शान्त हो चुका है पर उसका स्थान एक संशय ने ले लिया है। उसका स्पष्टीकरण ही आज किया जायेगा।

तो क्या इन शुभ क्रियाओं को त्याग दें? यदि यह बात है तो बड़ा ही अच्छा हुआ। आज तक भूल कर व्यर्थ ही समय गंवाता रहा, दुकान का भी व्यर्थ ही हर्ज करता रहा। यह रहस्य खोल कर तथा मुझे जगा कर बड़ा उपकार किया है आपने, आज से मन्दिर में न जाऊंगा। बेकार ही लोग धन बरबाद करते हैं-मन्दिर आदि बनवाकर या प्रतिमा स्थापित करवाकर। इत्यादि अनेकों विकल्प उठ रहे होंगे आज आपके मन में।

नहीं भाई ऐसा नहीं है। सम्भल! देख कहां जा रहा है तू। तेरे इस प्रवाह को रोकने के लिये ही तो ज्ञानी जनों ने ये क्रियायें तेरे लिये अच्छी बताई हैं। धन्य है उनकी करुणा बुद्धि, जिसमें ज्ञानी कि अज्ञानी सबको बराबर का स्थान प्राप्त है। ज्ञानी जन मूर्ख नहीं थे, कि तेरे ऊपर कोई व्यर्थ का साम्प्रदायिक भार लाद देते। उनके उपदेश में जनकल्याण के अतिरिक्त कोई अन्य अभिप्राय नहीं होता। प्रभु! विचार कर, अपने हित अहित को पहिचान, कुछ तो बुद्धि लगा, केवल दूसरों के संकेत पर मत चल। तुझे ज्ञानी बनने के लिये बताया जा रहा है, मूढ़ता त्यागने के लिए कहा जा रहा है। परन्तु हर बात का उल्टा ही अर्थ ले तो कहने वाले का क्या दोष? उन क्रियाओं को करने के लिये कहा जाय तो, 'वह मुझे सुख प्रदान करने वाली हैं' ऐसा मानकर उनको ही हित रूप समझ जाता है और अभिप्राय को बदलनेके लिये कहा जाये तो उन क्रियाओंकोही छोड़नेके लिये तैयार हो जाता है अतः दोनों प्रकार मुश्किल है। किस प्रकार समझायें? ऐसे कहें तो भी नीचे की ओर जाता है। और वैसे कहें तो भी नीचे की ही ओर जाता है। नीचे की ओर जाने को नहीं कहा जा रहा है भगवन! ऊपर उठने को कहा जा रहा है। दोनों ही प्रकार से नीचे हो जाने का प्रयत्न क्यों करता है? ऊपर उठने का प्रयत्न कर।

जरा विचार तो सही कि इन क्रियाओं को छोड़ कर यह समय कौन कार्य में बितायेगा? यदि दुकान आदि के धन्धों में, तो लाभ क्या हुआ, कुछ हानि ही हुई। पुण्य की बजाए पाप ही हुआ, धर्म अर्थात् शांति न हुई। पाप में धकेलने के लिये तो अपराध नहीं बताया जा रहा है-इन क्रियाओं को, धर्म में ले जाने के लियें बताया जा रहा है। जिससे कि तेरी दृष्टि पाप व पुण्य से अतीत किसी तीसरी बात पर जा सके, जो तेरे लिये साक्षात् हितकारी है, जिसे तू आज तक भूला हुआ है। दुकान आदि के धन्धे में न जाकर यदि शांति में स्थिति पाने सम्बन्धी पुरुषार्थ करना अभीष्ट है-इस समय में तो इससे अच्छी बात ही क्या है? अवश्य इन क्रियाओं को त्याग दे, शीघ्र त्याग दे, और शांति का वेदन करने में निश्चलता धार।

२ मन को कहीं न कहीं उलझाने का आदेश — देख सिद्धान्त घटित करते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी समय ऐसा नहीं कि तू बिना कुछ काम किये रह रहा हो। दुकान का काम, कहीं जाने का काम, कुछ उठानें धरने का काम इत्यादिक अनेक कार्यों के अतिरिक्त यदि खाली भी बैठा है तो कुछ न कुछ विचारने का काम तो हर समय किया ही करता है और किसी काम से, फुरसत मिल जाये तो मिल जाये पर विचार धाराओं से तो अवकाश पाना कठिन है। मन वह राक्षस है जो हर समय तुझ से काम मांगता है। इसे काम में लगा दे तो लगा दे नहीं तो वह स्वयं तुझे अपने काम में लगा लेगा।

हातमताई की एक पिक्चर आई थी, उसमें था यह सीन। मन्त्रों द्वारा अपनें कार्य की सिद्धि के अर्थ वश किया एक राक्षस अपनें स्वामी से कहता है कि 'काम दे' नहीं तो तुझे खा जाऊंगा।' यह काम बताया, वह काम बताया आखिर कब तक? इतने काम थे ही कहाँ, कि एक समय के लिये भी खाली न रहने पावे? विचारा कि यह तो अच्छी बला मोल लेली, अच्छाई के लिए सिद्ध किया था इसे परन्तु गले ही पड़ गया, वह अब छोड़े से भी तो नहीं छूटता, विचार विचार कर एक उपाय सूझा। ठीक है, आओ काम बताता हूँ, एक जीना बनाओ, उस पर उतरो और चढ़ो, वह टूट जाए तो फिर बनाओ, फिर उतरो फिर चढ़ो और बराबर इसी भांति करते रहो जब तक कि मैं तुम्हें न बुलाऊं। अब तो सब राक्षसपना हवा हो गया, वह खाली न रहने पाया और स्वामी भय से मुक्त हो गया।

इसी प्रकार तू भगवान आत्मा, उपयोग तेरा सेवक, परन्तु एक ऐसा सेवक जो हर समय काम मांगता है, एक क्षण को भी खाली नहीं रह सकता। कार्य न दें तो विकल्प जालों में उलझा कर ऐसा धक्का दे तुझे, कि धरातल पर आकर तड़पने लगे। तो भाई! इस उपयोग राक्षस को किसी न किसी काम में उलझाये रखना श्रेय है, भले ही निष्प्रयोजन क्यों न हो।

३ चार कोटि की क्रियायें — *अब यह देखना है कि यह काम कितनी जाति के होने सम्भव हैं कि जिनमें इस उपयोग* को उलझाया जा सके। कुल क्रियाओं को शांति पथ की दृष्टि से तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। एक अशुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई भोगाभिलाष व रुचि सहित *भोगों में रमणता रूप अशुभ क्रिया। दूसरी शुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई दो जाति की अर्थात्* भोगाभिलाष सहित की, या इससे निरपेक्ष केवल शांति की अभिलाषा सहित की धार्मिक क्रिया— शुभ क्रिया और तीसरी साक्षात् शांति के वेदन के साथ तन्मयता रूप शुद्ध क्रिया। शुभ क्रिया के दो भेद हो जाने से कुल कियायें चार प्रकार की हो जाती हैं। पहली क्रिया को अशुभ या पाप कहते

हैं। शुभ के प्रथम भेद रूप दूसरी क्रिया को पापानुबन्धी पुण्य रूप शुभ क्रिया कहते हैं। शुभ के द्वितीय भेद रूप तीसरी क्रिया को पुण्यानुबन्धी रूप क्रिया कहते हैं। और चौथी क्रिया शुद्ध क्रिया कहलाती है।

इन चार क्रियाओं में एक समय में एक ही क्रिया की जानी शक्य है दो नहीं। अर्थात् मन में एक समय में एक क्रिया सम्बन्धी ही विचार उठ सकते हैं, एक समय में दो क्रिया सम्बन्धी नहीं ऐसा तो हो सकना सम्भव है कि वचन व काय किसी दूसरी क्रिया को करते हों और मन किसी दूसरी क्रिया को, जैसा कि प्रतिदिन अनुभव करते हैं। काय या वचन से तो भगवान की पूजा आदि कार्य करते हों और मन बाज़ार में घूमता हो। परन्तु यह नहीं हो सकता कि मन ही भगवान की पूजा सम्बन्धी विचार कर रहा हो और उसी समय बाज़ार में भी घूमता हो। जैसे कि ध्यान पूर्वक यह प्रवचन सुनते हुए आपको क्लौक की टनटन भी सुनाई नहीं देती। अपनी चंचलता के कारण यह बड़ी द्रुतगति से गमन कर सकता है। जैसे अभी गृहस्थ सम्बन्धी विचार कर रहा हो और अगले ही क्षण मोक्ष व शांति सम्बन्धी। इन दो विचारों के बीच का अन्तराल कभी अधिक भी हो जाता है और कभी कम भी, अधिक अन्तराल होने पर तो हमें यह जान पड़ता है कि एक समय में एक ही कार्य हुआ और दूसरा कार्य कुछ देर पश्चात् दूसरे समय में हुआ है, परन्तु अल्प अन्तराल होने पर हमें ऐसा लगने लगता है कि दो काम एकदम हो रहे हैं। जैसे कि यह प्रवचन सुनते हुए भी इस क्लौक की टन टन आप कदाचित सुन लेते हो।

यद्यपि मन-वचन व काय इन तीनों की क्रियाओं में स्वतन्त्रता देखने को मिलती है, परन्तु यह सब क्रियायें उपयोग या बुद्धि पूर्वक नहीं हुआ करतीं, स्वतः सब चला करती हैं। बुद्धि पूर्वक की मन-वचन व काय की क्रियाओं में भेद नहीं हुआ करता। मनसे बुद्धि पूर्वक विचारा जाना, उसी दिशा में शरीर से गमन क्रिया जाना, उसी के मकान पर हो जाकर रुक जाना, और उसी व्यक्ति विशेष से वही बातें को जानी। इसी प्रकार मन की विचारणाओं के ऊपर भी शारीरिक व वचन की क्रियाओं का प्रभाव बराबर पड़ा करता है। क्रिया ठीक चल रही है या नहीं यह देखन को मन स्वतः लौटा करता है। मन, वचन व काय इन तीनों की उपरोक्त प्रवृत्तियों से सब परिचित हैं। केवल विश्लेषण न कर पाने के कारण हमें उनके क्रम का पता नहीं चलता।

४ मन की क्रिया सम्बन्धी तीन सिद्धान्त

१—मन को हर समय कुछ न कुछ विचारने को चाहिये। यह खाली नहीं रह सकता।

२ मन एक समय में एक ही विचार कर सकता है।

३—बुद्धि पूर्वक की गई शरीर व वचन की क्रियाओं से मन भी उसी ओर आकर्षित हो जाता है।

५ चारों क्रियाओं में हेयोपादेय

उपरोक्त सिद्धान्त पर से यह स्पष्ट हो गया कि मन को किसी एक क्रिया विशेष में जुटा देने पर वह उस समय दूसरी क्रिया न कर सकेगा, और शरीर व वचन की सहायता से उसको कुछ देर कदाचित वहां ही अटकाये रखा जा सकता है। अब यह विचारना है कि कौन सी क्रिया में जुटाना अधिक श्रेयस्कर है। हमारे पास चार क्रियायें हैं—पाप, पापानुबन्धी पुण्य, पुण्यानुबन्धी पुण्य व शुद्ध क्रिया। इन चारों में कौन क्रिया हित रूप है और कौन क्रिया अहित रूप इसका तोल हमें शान्ति की तुला से करना है। जिसमें सर्वथा अशान्ति है वह सर्वथा हेय है। जिसमें अधिक

अशान्ति है वह अधिक हेय है। जिसमें कुछ शान्ति है वह कुछ उपादेय है। तथा जिसमें सर्वथा शान्ति है वह सर्वथा उपादेय है। उपरोक्त चारों क्रियाओं का तोल करने से, इसमें तो कोई संशय है ही नहीं कि पहली पाप और चौथी शुद्ध क्रिया, इन दोनों में पहली अत्यन्त हेय है और चौथी अत्यन्त उपादेय है। विचारना तो दूसरी व तीसरी क्रिया के सम्बन्धमें है कि उन्हें हेय मानें या उपादेय।

इस बात का उत्तर लेने के लिये हमें यह विचारना होगा कि ये क्रियायें अशान्ति रूप ही हैं या कुछ शान्ति रूप भी हैं। यद्यपि एक उपभोग में एक ही कार्य सिद्ध होने के कारण एक कार्य में शान्ति और अशान्ति दोनों अंशों का सद्भाव एक समय में रहना कुछ जंचता नहीं है परन्तु विचार करने पर एक ही कार्य में यह दोनों अंश रहने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। शान्ति और अशान्ति पृथक पृथक भी रह सकती हैं, और मिश्रित रूप में भी। देखिये समझिये! उपयोग व शान्ति में कुछ अन्तर है—उपयोग केवल जानने का नाम है और शान्ति है स्वाद का नाम, उपयोग ज्ञान है और शान्ति ज्ञेय, उपयोग प्रकाशक है और शान्ति प्रकाश्य, ज्ञान में भले क्रम रहे ज्ञेय में क्रम रहने की आवश्यकता नहीं। यदि दो या अधिक ज्ञेय मिलकर एकमेक हो जायें तो एक ही समय में क्या ज्ञान उसे जान न लेगा? जैसे कि अनेक पुद्गलों के पिण्ड स्कन्ध को या जीव पुद्गल मिश्रित मनुष्य को जानने में आगे क्या पीछे जानने की आवश्यकता पड़ती है? या अनेकों नमक मिर्च आदि मसालों के मिश्रित स्वाद को जानने या अनुभव करने के लिये क्या क्रम की आवश्यकता पड़ती है? अर्थात नमक का स्वाद पहले जानोगे, फिर मिर्च का, पीछे अन्य किसी मसाले का, क्या इस प्रकार जानोगे? इतना अवश्य है कि जिस प्रकार मिश्रित मसाले का स्वाद चखते समय नमक मिर्च आदि का भिन्न भिन्न स्वाद न आकर एक विजातीय ही प्रकार का मिश्रित स्वाद आता है, जो न अकेले नमक सरीखा है, न अकेली मिर्च सरीखा। इसी प्रकार मिश्रित शान्ति का स्वाद लेते समय भी शान्ति तथा अशान्ति का भिन्न भिन्न स्वाद न आकर, शान्ति अशान्ति मिश्रित कोई विजातीय ही स्वाद आता है, जो न अकेला शान्ति रूप है और न अकेला अशान्ति रूप, बल्कि इनके मध्यवर्ती किसी तीसरी ही जाती रूप है। जिसका निर्णय मिश्रण में पड़े शान्ति व अशान्ति के अंशों पर से किया जा सकता है। अधिक शान्ति का अंश रहने पर कुछ शान्ति की ओर झुका हुआ और अधिक अशान्ति रहने पर कुछ अशान्ति की ओर झुका हुआ स्वाद आता है। फलितार्थ निकला यह, कि पाप क्रिया तीव्र अशान्ति रूप है क्योंकि वहां भोगाभिलाष के साथ साथ भोगने की व्यग्रता रूप रागद्वेषादि का स्पष्ट वेदन हो रहा है दूसरी क्रिया सर्वथा मन्द अशान्ति रूप है, क्योंकि यहाँ भोगाभिलाष सम्बन्धी ही रागद्वेषादि हैं, भोगने सम्बन्धी व्यग्रता नहीं। तीसरी क्रिया शान्ति अशान्ति के मिश्रण रूप है, क्योंकि यहां भोगाभिलाष का अभाव है, और उसके भोगने की व्यग्रता का भी। जितने अंश में क्रिया करने के प्रति की व्यग्रता है, उतनी अशान्ति है और जितने अंश में वीतरागता है उतने अंश में शान्ति। चौथी क्रिया सर्वथा शान्ति रूप है।

इस पर से इन चारों की हेयोपादेयता का निर्णय करना भी बड़ा सहल हो जाता है। पहली पाप क्रिया तो अशान्ति के कारण सर्वथा हेय है। दूसरी क्रिया अशान्ति के कारण यद्यपि हेय ही है पर पहली की अपेक्षा मन्द अशांति होने के कारण कथञ्चित उपादेय है। तीसरी क्रिया भी यद्यपि चौथी पूर्ण शान्ति वाली क्रिया की अपेक्षा अशांति मिश्रित होने के कारण हेय ही है, परन्तु पहली व दूसरी क्रियाओं की अपेक्षा शांति का अंश रहने के कारण उपादेय है, परन्तु चौथी क्रिया की अपक्षा अशांति

का अंश रहने के कारण हेय है। और चौथी क्रिया तो पूर्ण शान्ति रूप होने के कारण पूर्ण उपादेय ही है, यह चौथी क्रिया वास्तव में आस्रव रूप नहीं है, अपराध रूप किसी तरह भी नहीं है, यह संवर व रूप निर्जरा है। अर्थात् ज्ञानधारा में रंगी सर्व क्रियायें उपादेय हैं और कर्म धारा में रंगी सर्व क्रियायें हेय हैं। आंशिक ज्ञान धारा में रंगी क्रियायें प्रथम भूमिका में अभ्यास करने के अर्थ प्रयोजवान हैं ।

इस सारे प्रकरण में पाप के अतिरिक्त दोनों शुभ क्रियाओं को भी सर्वथा व कथञ्चित् अपराध रूप बताया गया था, सो सिद्ध कर दिया गया। परन्तु इसका तात्पर्य उन शुभ क्रियाओं का जीवन में से सर्वथा निषेध करना नहीं है बल्कि अभिप्राय बदलवाने का है। उन क्रियाओं में जो "बहुत अच्छी हैं, हित रूप हैं, ऐसा मिठास बर्तता है," उसे छुड़ाने का तात्पर्य है। ऐसा अभिप्राय तो सर्वथा हेय ही है परन्तु अभिप्राय के हेय हो जाने पर, वह क्रियायें एक दम छोड़ दी जायें, ऐसा नहीं हुआ करता, जैसा कि पहले दृष्टांत द्वारा समझा दिया गया है। अब प्रश्न होता है यह कि अभिप्राय बदल जाने के पश्चात् क्रिया कौन सी करें, क्योंकि कुछ करना तो पड़ेगा ही, निष्क्रिय तो रह नहीं सकता ? इस प्रश्न का उत्तर लेने के लिए हमें उपरोक्त चारों क्रियाओं में से छांट करनी है। परन्तु जिसमें चारों प्रकार की क्रिया करने की शक्ति न हो वह कितने में से छांट करेगा? उतने में ही से तो करेगा जितनी कि वह कर सकता है। ज्ञानी जीव जिन्होंने तुच्छ मात्र भी शान्ति का वेदन कर लिया है वे तो चारों क्रियायें कर सकते हैं। इसलिये उन्हें तो चारों में से छांट करनी है, और वे व्यक्ति जिन्होंने तुच्छ मात्र भी शान्ति का परिचय प्राप्त नहीं किया है, केवल पहली दो क्रियायें ही कर सकते हैं। अगली दो उनके पास हैं ही नहीं, क्या करें ? यद्यपि अभिप्राय में से भोगाभिलाष जाती रही है, परन्तु शान्ति के वेदन रहित होने से इनका समावेश तीसरी क्रिया में नहीं किया जा सकता। इसलिये उन्हें केवल पहली दो क्रियाओं में से छांट करनी है।

विषय स्पष्ट हो गया। ज्ञानी व्यक्ति तो चौथी क्रिया करने का ही भरसक प्रयत्न करेगा, परन्तु वहां भी अल्प भूमिका में शक्ति की हीनता वश अधिक समय न टिका रह सके तो, शेष समय तीसरी क्रिया में बिताने का प्रयत्न करेगा। दूसरी क्रिया तो उससे होगी ही नहीं क्योंकि शुभ क्रियाओं में उसकी प्रवृत्ति तीसरी कोटि में चली जायेगी। और गृहस्थ दशा में, करने का अभिप्राय न होते हुए भी, पूर्व संस्कार वश यदि कदाचित पहली क्रिया हुई भी तो उसके प्रति अपना बहुत अधिक निन्दन गर्हण करेगा। परन्तु अज्ञानी जीव अभिप्राय बदल जाने पर और शांति की जिज्ञासा जागृत हो जाने पर दूसरी क्रिया को ही करने का प्रयत्न करेगा और तीसरी क्रिया की कोटि में प्रवेश पाने का भी भरसक प्रयत्न करेगा। पहली क्रिया करने का स्वयं प्रयत्न न करेगा, परन्तु यदि संस्कार वश हो ही गई तो उसके लिये अपनी निन्दा करेगा।

बताइये अब कहां रहा विरोध को अवकाश ? परन्तु अपराध रूप तो वे क्रियायें रहीं ही रहीं। सिद्धान्त तीन काल में बाधित हो नहीं सकता ।

२०

❀ बन्ध तत्व ❀

मुजफ्फरनगर—दिनांक २० जुलाई १९५९
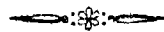
प्रवचन नं० ३६

१—बन्धन शरीरादिक की दासता, २—तीन दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन, ३ भूल के प्रेरक संस्कार, ४—संस्कारों का निर्माण क्रम ।

१ बन्धन शरीरादिक की दासता

स्वतन्त्रता कि उपासना के द्वारा सम्पूर्ण बन्धनों का विच्छेद करके, पूर्ण स्वतन्त्रता सहित निज चैतन्य देश मे शान्ति राजी के संग विलास करने वाले पर ब्रह्म अनन्त-सिद्ध भगवन्त ! मुझे भी शक्ति प्रदान करें, कि आपकी भांति मैं भी इन बन्धनों का विच्छेद करके, निज साम्राज्य का भोग कर सकूं । परन्तु बन्धन क्या है, यह बात तो पहले जाननी पड़ेगी । क्या किसी ने बेड़ी डाली है पावों में, या बन्द किया है जेलखाने में ? कुछ भी तो ऐसी बात दिखाई नहीं देती, फिर भी बन्धन क्या ?

ऐसा नहीं है भाई ! यह बन्धन बेड़ियों रूप नहीं है, पर बेड़ियों से भी अधिक दृढ़ है । यह बन्धन जेलखाने रूप नहीं है, पर जेलखाने से भी अधिक प्रबल है । सो दो प्रकार से देखा जा सकता है- एक अन्तरंग में और दूसरे बाहर मे । यदि मै स्वयं अन्तरंग में न बन्धूं तो बाहर में मुझे बांधने वाली कोई शक्ति नहीं । इस शरीर को अपना मान कर निष्प्रयोजन इसकी सेवा में जुटे रहना, अथवा इसके लिए कुछ इष्ट से दीखने वाले धनादिक अचेतन परपदार्थ तथा कुटुम्ब आदिक चेतन परपदार्थों की सेवा मे ही जुटे रहना तो वह अन्तरंग बन्धन है, जो स्वयं मैंने अपने सर लिया हुआ है । कुटुम्ब आदिक वास्तव मे बन्धन नहीं है, यदि मैं इनकी सेवा न करूं तो कोई शक्ति ऐसी नहीं जो मुझे सेवक बना सके, सेवक बने रहना मेरी अपनी भूल है, और मजा यह कि इस भूल में भी मैं आनन्द मानता हूँ । यह मेरी भूल ही अन्दर में मुझे कुछ प्रिय सी, कुछ मधुर सी लगती है । यदि मेरा कोई अत्यन्त हितैषी मुझे इससे छुड़ाने के लिये इनकी स्वार्थता दर्शाये भी तो मुझे वह भाता नहीं । मै अन्तरंग में किसी दाह से व्याकुल हुआ, हाय हाय करता अन्तरंग से पुकार अवश्य करता हूँ, पर उसको मानने को एक भी तैयार नहीं हूँ । कितना दृढ़ है यह बन्धन ?

और इसके कारण से आस्रव तत्व में दर्शाये गये उस कार्माण शरीर या सूक्ष्म शरीर में उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि होते जाना, इस शरीर का नित्य नये नये जड़ कर्मों के प्रवेश द्वारा पुष्ट होते रहना, सो बाह्य बन्धन है, अर्थात् कर्म बन्धन है । यद्यपि यह अत्यंत सूक्ष्म शरीर हमको दृष्टिगत होता नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानी गुरु इसे हस्तामलक वत प्रत्यक्ष देखते हैं । परन्तु मेरे कल्याण में यह

बेचारा जड़ क्या बाधा पहुंचा सकता है ? यदि मैं स्वयं भूल न करूं तो पड़ा है, पड़ा ही रहेगा। पड़ा रहने दे क्या मांगता है बेचारा, "कर्म बेचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई। अग्नि सहे घन घात लोह की संगत पाई।" यदि मैं इन पर-पदार्थों की सेवा स्वयं स्वीकार न करूं तो कोई शक्ति नहीं कि जबरदस्ती मुझे सेवा करने को बाध्य करे। इनकी सेवा स्वीकार करने वाला तो मैं हूं, बिना किसी बाह्य के दबाव के स्वतंत्र रूप से स्वीकार करता हूं, और पीछे पुकारा करता हूं कि हाय हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा है, कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ।

२ दृष्टान्तों द्वारा भूल प्रदर्शन अरे ! कैसी मूर्खता है ? वृक्ष की कौली भर कर यदि मैं आते जाते पथिकों से यह पुकार करूं कि भाई! मेरी सहायता करो। देखो इस वृक्ष ने मुझे पकड़ा है, इससे मुझे छुड़ाओ, तो कितनी मूर्खता होगी। मैं नित्य अन्य को उपदेश देता हूं, तोते का दृष्टांत सुना सुना कर, मानों जगत को रिझाता हूँ। शिकारी के द्वारा लटकाई गई नलकी पर बैठा तोता, नलकी घूम जाने के कारण जब स्वयं घूमने लगता है तो यह जान कर कि 'अरे मैं तो नीचे गिरा,' नलकी को और दृढ़ पकड़ लेता है, और उस पर उल्टा लटका रहता है, परन्तु विचारता यह रहता है कि नलकी ने मुझे पकड़ लिया है। पर फड़-फड़ाता है उड़ने के लिये, पर पांवों को न छोड़े तो कैसे उड़े ? 'बस नलकी ने मुझे पकड़ लिया है हाय कोई छुड़ाओ' वही दशा तो मेरी है। स्वयं दासता स्वीकार करके, हाय इस दासता से मुझे छुड़ाओ, कितनी हंसी की बात है।

देखो बन्दर की मूर्खता शिकारी के द्वारा पृथ्वी में आधी गाड़ी गई चनों से भरी हंडियों में चनों के लालच वश हाथ डाले स्वयं, चनों की मुट्ठी भरे स्वयं और बन्द मुट्ठी हंडिया के मुंह में से न निकल सके तो पुकार करे, हाय हाय हंडिया ने मुझे पकड़ लिया, कोई छुड़ाओ कोई छुड़ाओ। यदि उस समय उसको यह कहा जाये कि भाई ! मुट्ठी को खोल दो, छूटा ही तो पड़ा है, तो मुट्ठी खोलने के लिये कभी तैयार नहीं, भले शिकारी पकड़ ले। किसने पकड़ा है उसको ? हंडिया ने या उसके लालच ने? हंडिया बेचारी का क्या दोष? अब छोड़ और भाग जाये, पड़ी रहेगी बेचारी। वह कब उसे पकड़ने को वृक्ष पर चढ़ेगी ? बन्दर की मूर्खता पर आज मैं हंस रहा हू, पर खेद है कि अपनी मूर्खता मुझे दिखाई नहीं देती। शरीर, धन व कुटुम्बादि की सेवा स्वयं स्वीकार करके कोस रहा हूं कर्मों को। हाय इन कर्मों ने मुझे पकड़ा, देखो निष्कारण तंग कर रहे हैं। प्रभो ! किसने पकड़ा है तुझे ? विचारो तो सही, सेवा चाकरी छोड़। कौन रोकता है तुझे ? ये बेचारे जड़ कर्म तो बिल्कुल निरापराध हैं। ये कब पकड़ते हैं तुझे ? तू स्वयं ही बुला बुला कर पकड़ लेता है इन्हें, अपराध अपना और गले मंढे कर्मों के, कैसे मजे की बात है।

हे भाई ! तुझे कल्याण चाहिये, हित चाहिये, सुख चाहिये, शान्ति चाहिये, तो बाहर में इन की ओर न देख। देख अपनी ओर, अपनी प्रभुता की ओर, तू तो पहिले ही से कल्याण रूप पड़ा है, तू तो अब भी शान्ति का भण्डार ही है। किसने छीना है उसे ? कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है तेरा, अपनी शान्तिको सेवा चाकरीमें खोजने जाता है, बस इस कल्पना ही ने तो पकड़ा है तुझे। यही वे बन्धन हैं जो महात्माओं ने तोड़ दिये हैं, तू भी तोड़ दे तो वैसा ही हो जावे। सिद्ध प्रभु व तुझमें तनिक भी तो भेद नहीं, काहे दुहाई देता है उनके द्वार पर, कि तुझे शान्ति प्रदान करें। तू सर्व समर्थ है, शक्ति का पुंज है।

३ भूल के प्रेरक संस्कार — शरीर व कुटुम्ब की सेवा चाकरी का भाव कौन पैदा करता है तेरे हृदय में ? क्या कोई सिखाता है तुझे यह बातें ? पैदा होते ही बालक दौड़ पड़ता है स्तन की ओर । कौन सिखाता है उसे ? स्वयं सीखा सिखाया ही तो उत्पन्न हुआ है। पहले कभी यह क्रिया करने लगा था, आज आदत बन गई, संस्कार बन गया। कहीं भी जाये, इस रूपमें या उस रूप में, मनुष्य के शरीर में या तिर्यंच के शरीर में, नरक गति में या देव गति में, यह संस्कार तो साथ ही लेकर जाता है। फिर किस सिखाने वाले की आवश्यकता है ? स्वयं सीखता है, स्वयं संस्कार बनाता है, स्वयं साथ ले जाता है, स्वयं तू ही तो है इनका निर्माण करने वाला। तू स्वयं इनको न बनाये तो कर्म बेचारे क्यों आयें ? तू इन संस्कारों को तोड़ दे तो कर्म भी बेचारे तेरा साथ छोड़ दें। कर्मों से प्रार्थना करने से कि, 'भाई ! अधिक न सताओ, कृपया मुझे रास्ता दे दो, मैं धर्म करने जा रहा हूं, क्या लाभ है ? इन बेचारों को क्या सुनाई देता है ? अपने संस्कारों को पहचान, उनका निर्माण तू नित्य किस प्रकार कर रहा है उसे जान, तथा ऐसी भूल करना छोड़ दे तो बन्धन काहे का ? स्वतन्त्र ही तो पड़ा है।

संस्कार का नया शब्द सुनकर घबराने की आवश्यकता नहीं, आगम में इस शब्द का प्रयोग किया नहीं, मैं किस आधार पर कह रहा हूं, इससे घबराने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार का आगम के शब्दों का पक्ष तेरे लिये अहितकारी है, ऐसा पक्ष करेगा तो बात न समझ सकेगा। आगम में जिसे 'भाव बन्ध' नाम से पढ़ता चला आया है, वह क्या बला है -- क्या कभी सोचा था ? अरे ! अपने अन्दर में उतर कर देख, संस्कार प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। संस्कार उस आदत का नाम है जो तूने धीरे धीरे नित्य नये नये अपराध करके आस्रव के द्वारा पुष्ट की है, और उसी पुरानी आदत रूप संस्कारों से प्रेरित हुआ नित्य नये नये अपराध कर रहा है, अतः बिलकुल विवेक नहीं रहा है। अपराध, संस्कारों का निर्माण, आगे उनकी प्रेरणा से पुनः पुनः वही नये नये अपराध, संस्कारों का और पोषण, अधिक अधिक प्रेरणा, अधिक अधिक अपराध, संस्कारों की अधिक अधिक पुष्टि। बस यही तो है वह चक्र जिसमें तू उलझा पड़ा है।

४ संस्कारों का निर्माण क्रम — यह बात समझनी भी कठिन नहीं है, सबके अनुभव में आई है, केवल विश्लेषण करने की कमी है। ज्ञानी व अज्ञानी में तथा एक फिलास्फर व एक साधारण व्यक्ति में इतना ही तो अन्तर है कि फिलास्फर सिद्धान्त व नियम वस्तु का विश्लेषण करके बनाता है दूसरा ऐसा नहीं कर पाता सिद्धान्त का आधार तो अनुभव है, विश्लेषण करो तो आप भी बन सकते हो यदि बनाने की शक्ति न हो तो समझ तो सकते ही हो। देखिये दृष्टान्त देकर समझाता हूं-संस्कार निर्माण का क्रम तथा उस संस्कार की वह शक्ति जो तुझे नये नये अपराध करने की प्रेरणा देती है।

देखिये उस डाकू की ओर जो आज का वह विश्व-विख्यात डाकू है। क्या वह डाकू बनकर जन्मा था ? नहीं, जन्मा था तब तो बिलकुल भोला भाला था, छोटा सा बच्चा था, बड़ा प्रिय लगता था। आज का यह भयानक रूप कैसे धारण किया ? डाकू बनना उसने प्रारम्भ किया उस समय से जबकि वह स्कूल में पढ़ने के लिये भेजा गया था। पहले ही दिन उसकी दृष्टि पड़ी अपने साथी की पेंसिल पर, जो उसे कुछ सुन्दर सी लगी, न मालूम एक विचार सा कहां से उठा उसके अन्दर ? एक बिजली की चमक की भांति उसे कुछ धक्का सा लगा, 'और यदि उठा लूं इसे तो, अवकाश का ही तो समय है, रैसेस है। कोई भी तो नहीं है यहां, सब साथी खेल में लगे हैं। कोई

भी तो नहीं देख रहा है ? किसी को क्या पता चलेगा कि मैंने उठाई है ? और चारों ओर चौकन्ना होकर न जाने किसे खोज रहा है ? हाथ यकायक बढ़ता है पैन्सिल की ओर । पर यह क्या ? 'अरे ! नहीं नहीं यह ठीक नहीं है । यदि किसी ने देख लिया तो ? मार पड़ेगी बुरी तरह और वह बेचारा साथी तो रोयेगा, नहीं नहीं मत उठा, हृदय बुरी तरह कांपता हुआ सा । पुनः चौकन्नी सी दृष्टि चहुं ओर कर और साहस बटोर कर उठा ही लेता है-उस पैन्सिल को-हृदय के कम्पन को दबाने का प्रयत्न करता हुआ । घर जाकर प्रसन्न होता है उस पैन्सिल को देख देख कर, अरे दो पैसे की तो होगी ही । कितनी सुन्दर है, चलो आज तो दो पैसे कमाये।

और अगले दिन वही दृष्टि पड़ी एक साथी की पुस्तक पर । चौकन्नी सी आंखें घूमने लगी यकायक चारों ओर, हृदय में कम्पन, हाथ भी कुछ कांपे कांपे से, परन्तु न तो था आज कल जितना विस्मय, न था कल जितना भय, न था कल जितना कम्पन, न थी कल जितनी ग्लानि । किताब उठाई और बस्ते में डाल दी, घर जाकर किताब को उलट-पलट कर देखा तो बिल्कुल नई है । वाह, वाह ! कितना अच्छा हुआ कि अब तो मुझे किताब खरीदनी ही न पड़ेगी ।

तीसरे दिन उसी प्रकार दवात, और फिर चौथे पांचवें दिन अन्य-अन्य वस्तुएं । पर आगे को हीन-हीन विस्मय, हीन-हीन भय, हीन-हीन कम्पन और हीन-हीन ग्लानि । इनके साथ-साथ धीरे-धीरे साहस में वृद्धि और आज वही है साहसी निर्भीक डाकू, जिसके अन्दर न है विस्मय, न है भय, न है कम्पन, न है ग्लानि । बस बन गया संस्कार, एक पुष्ट और प्रबल डाके डालने का संस्कार । पहली दूसरी आदि स्थितियों में ही रोकता तो रुक जाता, पर आज उसे कितना भी दण्ड मिले, वह संस्कार रुकने वाला नहीं । पहले दिन जिस संस्कार का आरम्भ कांपते हुये हृदय से हुआ था आज वह उसे प्रेरणा करता है-साहस देता है-बड़े बड़े डाके डालने का ।

इसी प्रकार किसी मित्र की प्रेरणा से पहले दिन घृणा बुद्धि से, कांपते हुए हृदय के साथ, शराब की एक घूंट मात्र पी लेने वाले उस व्यक्ति को, आज शराब के बिना चैन नहीं । पहले दूसरों के पैसे से पीनी प्रारम्भ करने वाला, आज अपनी लहू पसीने की कमाई को भी शराब के लिये फूंक रहा है । कौन शक्ति है, कौन प्रेरणा है ? वही संस्कार की शक्ति, वही संस्कार की प्रेरणा, जिसे उपरोक्त क्रम से स्वयं उसने पुष्ट किया है ।

बस बन गया संस्कार निर्माण का सिद्धान्त—कोई भी व्यक्ति कभी एक नया अपराध करता है, तब संस्कार की रूप रेखा मात्र सी अन्दर में बन जाती है, जो उसे पुनः वह अपराध करने के लिये बल प्रदान करती है- तथा उसके भय को हटाती है । उससे प्रेरित हुआ पुनः उसी जाति का अपराध करता है, उस संस्कार की पुष्टि हो जाती है और वह पुष्ट संस्कार और अधिक प्रेरणा व बल देता है । पुनः उस जाति का अपराध दोहराता है, पुनः संस्कार की पुष्टि हो जाती है और इसी प्रकार पुनः पुनः नया नया अपराध या आस्रव और तत्फल स्वरुप नये संस्कारों की पुष्टि, या पूर्व-पूर्व संस्कार में नई-नई शक्ति का बन्ध और इसी प्रकार आगे जाकर बन बैठता है वह एक प्रबल संस्कार, एक आदत एक इन्सटिन्क्ट । जिसको अब यदि दबाना भी चाहेगा तो कुछ असम्भव सा प्रतीत होगा ।

इसी प्रकार मैं अनादि से कुछ नये-नये अपराध या आस्रव करता चला आ रहा हूँ । जिस जिस जाति के अपराध करता हूँ उस उस जाति के अपराध पहले भी किये थे, अतः उसउस जाति के

संस्कार अन्तरंग में पहले से ही पड़े हैं। अब वा किया नया अपराध मिल जाता है अपनी जाति के पूर्व संस्कार के साथ और पुष्ट कर देता है—उसे ! इसी प्रकार सर्व ही पूर्व संस्कारों का बराबर सिंचन करता चला आ रहा हूं, बराबर आस्रव तत्व के द्वारा उनका पोषण करता चला आ रहा हूँ, बराबर उन्हें वेतन देता चला आ रहा हूँ। यह है वास्तव में मेरा बन्धन अर्थात बन्ध तत्व जिसकी प्रेरणा से करता हूँ मै नित्य नये नये अपराध और इसकी प्रेरणा से स्वीकार की है मैंने शरीर आदि की दासता।

यदि आज इस दासता को छोड़ कर नये नये अपराध करना बन्द कर दूं तो इन संस्कारों को आहार कहां से मिलेगा ? वेतन कौन देगा ? स्वयं सूख जायेंगे बेचारे या भूखे मरते छोड़ जायेंगे मुझे और कोई दूसरा द्वार जा खटखटायेंगे। अतः भाई यदि स्वतन्त्रता चाहिये तो कर्मों को कोसने से कुछ न बनेगा, न ही प्रभु से भिक्षा मांगने से काम चलेगा। जिस प्रकार रस ले लेकर संस्कारों का निर्माण किया है उसी प्रकार रस ले लेकर इन्हें तोड़ने से काम चलेगा। स्वतन्त्र रूप से तूने ही इनका निर्माण किया है, और स्वतन्त्र रूप से तू ही इन्हें काट सकता है। कैसे ? सो अगले प्रवचन में आ जायेगा।
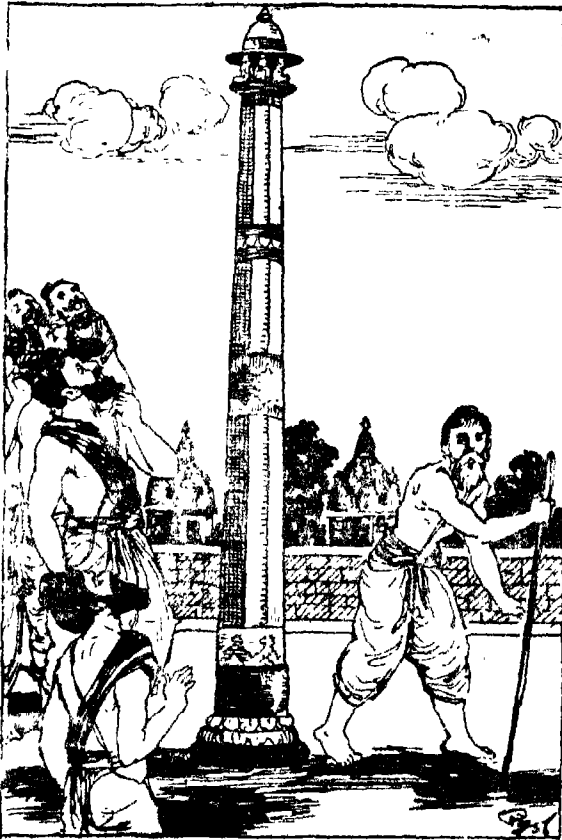
यह है शुभ संस्कार बन्धन का एक दृश्य। जो प्रभु की मूर्ति को ध्यान से अन्तरंग शुभ अभिप्राय पूर्वक देख रहे हैं, वे शुभ संस्कार दृढ़ कर रहे हैं तथा अन्त में शांति फल को प्राप्त कर लेंगे।

(गृहस्थ सम्बन्धी)

२१

❀ संवर सामान्य ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक २१ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ३७

१—जीवन में उतारने की प्रेरणा, २—क्रियाओं में अभिप्राय की मुख्यता, ३—प्रत्येक क्रिया के अन्तरंग व बाह्य दो अंश।

भव संतप्त इस पथिक को शान्ति प्रदान कीजिये नाथ! आपकी शरण में आकर क्या इतना भी न मिलेगा? सुनते आये हैं कि अपने आश्रित को आप अपने समान कर लिया करते हो, अनेकों अधम उधारे हैं—आपने। मैं भी तो एक अधम हूँ, मुझ पर भी कृपा कीजिये प्रभु! शान्ति मांगता हूँ और कुछ नहीं, धन सम्पत्ति नहीं मांगने आया हूँ, और वह आपके पास है ही कहां जो कि दे देते। वही वस्तु तो दी जा सकती है जो कि उसके पास हो, आपके पास है शान्ति का अटूट भण्डार, मुझे भी दीजिये नाथ! थोड़ी सी ही दे दीजिये, इस ही में सन्तोष कर लूंगा। देखिये अपने द्वार से खाली न लौटाइये, मेरा तो कुछ न बिगड़ेगा, क्योंकि मैं तो पहले ही रंक हूँ, अब भी रंक रह लूंगा। जगत आपकी ही निन्दा करेगा, कि काहे बड़ा जो भूखे की झोली में एक मुट्ठी चावल भी नहीं डालता।

१ जीवन में उतारने की प्रेरणा

नहीं नहीं, ऐसा होना असम्भव है, आपकी शरण में जो आया है वह खाली नहीं लौट सकता। मुझ में लेने की शक्ति होनी चाहिये, आप तो मार्ग दर्शा ही रहे हैं। संवर का मार्ग, अर्थात सम्यक् प्रकार वरण करने का मार्ग, सम्यक् प्रकार ढक देने का अर्थात दबा देने का मार्ग। किनको - आस्रव अधिकार में बताये प्रतिक्षण होने वाले नवीन नवीन अपराधों को जो साक्षात् व्याकुलता रूप हैं, अन्तर दाहक हैं। उनके दब जाने का नाम ही तो शान्ति है, अतः यह संवर का मार्ग ही तो शांति का मार्ग है। ले सुन! सुनने मात्र से काम न चलेगा जीवन में उतारने से काम चलेगा। आज तक जीव अजीवादि तत्वों की रटंत की है, शान्ति मिले तो कैसे मिले? अब वैसी बात न समझना, कुछ सूत्र याद करने से कोई लाभ नहीं, उनके रहस्य को जीवन में उतारने से लाभ है। ले तो उसी रहस्य को सूत्रों में नहीं, बड़ी सरल भाषा में, तेरी भाषा में, बड़ा सहल करके धीरे धीरे समझाता हूँ। ध्यान से सुन, विचार कर, और आज से ही अपने दैनिक जीवन में उनके अनुसार कुछ परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर।

वे बातें कुछ ऐसी भी नहीं होंगी, जो तू न कर सके, या कुछ कठिन पड़ें। गुरुदेव बड़े उपकारी हैं, छोटे से छोटे, बड़े से बड़े तथा शक्ति हीन व शक्तिशाली सब का उपकार करते हैं, सबको यथा योग्य मार्ग दर्शाते हैं। जो क्रियायें करने के लिये तुझे कहा जायेगा, वे तेरे ही लिये उपयुक्त हैं। आज तक अनेकों बार सुनी हैं वही क्रियायें, पर बैठी नहीं हैं ध्यान में, कारण की कुछ विकट सी, कुछ उलझी हुई सी बना कर बताई गई हैं। साथ साथ व्रत आदि की कुछ समस्यायें भी मिला दी गई हैं, बीच बीच में मुनियों की चर्चा का भी कथन कर दिया गया है, एक खीचड़ी सी बन गई है। समझे तो कैसे समझें? डर मत, व्रत धरने को नहीं कहा जायेगा, न कुछ खाना पीना छोड़ने को कहा जायेगा, न घर छोड़ने को कहा जायेगा, फिर भी उनको जीवन में उतारने से साक्षात् शांति का रस तुझे स्वयं आयेगा। किसी से पूछने जाना न होगा, किसी शास्त्र में देख कर निर्णय न करना होगा, कसौटी स्वयं तेरे पास है। थोड़ा करके देखना, जरा ही प्रयास करना यदि कुछ लाभ दिखाई दे, कुछ शांति आवे, तो ग्रहण कर लेना, नहीं तो छोड़ देना।

पक्षपात व साम्प्रदायिकता की बात नहीं है, सर्व हित की बात है, कोई भी क्यों न हो, पशु हो या मनुष्य, नारकी हो या देव, ब्राह्मण हो या शूद्र, जो करे सो पावे। जीवन में उतारने का नाम करना है, ऊपर ऊपर की कुछ दिखावे की या शरीर को तोड़ने मरोड़ने की या विशेष पदार्थों को इधर से उधर धरने की, ऐसी क्रियाओं का नाम नहीं है। ओहो करुणा सागर गुरुदेव! कितना सहल बना दिया है मार्ग, हर किसी को अवकाश प्रदान कर दिया है, मानो सर्व समानता का बिगुल ही बजाई है। आपके शासन में ब्राह्मण आदि को ऊँचा व शूद्र को नीचा दर्जा प्राप्त हो ऐसा भेद है ही नहीं और वास्तव में आपके शासन में शूद्र नाम का शब्द ही नहीं है।

जिस मार्ग की नींव में ही द्वेष डाला गया हो, ब्राह्मण व शूद्र में द्वेष उत्पन्न कर दिया गया हो, उस मार्ग को साम्यता का मार्ग होने का दावा किया जाये, तो आश्चर्य है। द्वेष व साम्यता दोनों कैसे इकट्ठे रह सकेंगे? शांति प्राप्त हो तो कैसे हो? मूल में ही भूल है, फल कैसे लगे? भगवन समझ! स्व पर भेद विज्ञान प्राप्त करके, इस भूल को निकाल दे, और फिर साम्य रस में भीगी उस गुरुदेव की वाणी को सुन।

१ क्रियाओं में अभिप्राय की मुख्यता — यह संवर का प्रकरण है, उसके अन्तर्गत कुछ विशेष क्रियाओं का वर्णन आयेगा। वे क्रियायें जो गृहस्थ के करने योग्य हैं, वे क्रियायें जिसे वह आसानी से कर सकता है, वे क्रियायें जिन से उसके शरीर को भी बाधा नहीं पहुँचती; क्योंकि इन क्रियाओं में बाहर की नहीं कुछ अन्तरंग की मुख्यता है। यद्यपि इन क्रियाओं में कुछ क्रियायें वे हैं जिन को कि शुभ आस्रव के प्रकरण में अपराध बता कर कथञ्चित् निषेध किया गया है। परन्तु जैसा कि वहां भी स्पष्ट कर दिया था, इनमें अन्तरंग की मुख्यता होने के कारण तथा अभिप्राय ठीक होने के कारण ये क्रियायें वहां बताई गई तीसरी कोटि में समावेश पा जाती हैं, इसलिये अल्प भूमिका में कथञ्चित् उपादेय हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानधारा में रंगी सर्व क्रियायें उपादेय व कर्मधारा में रंगी सर्व क्रियायें हेय हैं। (देखो अधिकार नं० १३)

यद्यपि आज तक उन क्रियाओं में से आप सब बहुत सी क्रियायें पहले से करते आ रहे हैं, जैसेकि देव पूजा आदि, पर अन्तरंग अभिप्राय ठीक न होने से उनका वह फल नहीं हुआ जो कि

होना चाहिये था, अर्थात् शांति । इसलिए ऐसा कहने में आता है कि जितना अधिक धर्म करने वाले व्यक्ति हैं उतने ही अधिक दुःखी हैं । यह बात झूठी भी नहीं है, क्योंकि वास्तव में ऊपर से देखने से ऐसा ही दिखाई दे रहा है । उसका कारण यह है कि या तो वे क्रियायें मिथ्या अभिप्राय पूर्वक की जा रही हैं, अर्थात् आस्रव प्रकरण में बताये दूसरे अभिप्राय पूर्वक की जा रही हैं, या केवल कुल परम्परा से बिना समझे ही की जा रही हैं । सच्चे अभिप्राय पूर्वक अर्थात् आस्रव प्रकरण में बताये गये तीसरी कोटि के अभिप्राय पूर्वक इन क्रियाओं को करने वाला तीन काल में भी कभी दुःखी रह नहीं सकता, ऐसा दावे के साथ कहा जा सकता है । अतः प्रत्येक क्रिया की परीक्षा अपने अभिप्राय से करते हुए चलना है, अभिप्राय पर ही जोर है, वही मुख्य है, क्रिया की इतनी महत्ता नहीं जितनी उसकी है, अतः अभिप्राय को पढ़ने का अभ्यास करना चाहिये । स्थल-स्थल पर दृष्टान्त आदि के द्वारा अभिप्राय पढ़ने का उपाय भी बताया जाता रहेगा, उसे पढ़ कर गुण दोष को खोजना तथा अपनी भूलों को दूर करने का प्रयत्न करना, तभी वे क्रियायें सच्ची कहला सकती हैं ।

एक उदाहरण देता हूं-एक किसी साधू को स्वर्ण बनाने की रसायनिक विद्या आती थी । एक गृहस्थ को पता चल गया, विद्या लेने की धुन को लिये, वह उस साधू की सेवा करने लगा । दो वर्ष बीत गये, बहुत सेवा की, साधू ने प्रसन्न होकर उसे विद्या दे दी, अर्थात् वह कापी जिसमें वह उपाय लिखा था उसे दे दी, प्रसन्न चित गृहस्थ घर लौटा । भट्टी बनाई, सारा सामान जुटाया, और जिस प्रकार कापी में लिखा था, वह करने लगा । बड़ी सावधानी बरती, कि कहीं गलती न हो जाये, प्रत्येक क्रिया को पढ़ पढ़ कर किया, पर स्वर्ण न बना, फलतः श्रद्धा जाती रही । सोचने लगा दो वर्ष व्यर्थ ही खो दिये, साधू ने यंही झूठ मूठ अपनी ख्याति फैलाने के लिये ढोंग रच रखा था । सोना आदि बनाना उसे आता ही न था, कापी में भी यूंही काल्पनिक बातें मेरे मन बहलाने को लिख दीं । वह क्रोध में भर गया, पर क्रोध उतारे किस पर ? साधू न सही उसकी कापी तो है, चौराहे पर बैठ कर लगा कापी को जूतों से पीटने, सहसा ही वह साधू उस मार्ग से आ निकला । गृहस्थ की मूर्खता को देख कर सब कुछ समझ गया, बोला क्यों इतना क्रोध करता है, भूल स्वयं करे और क्रोध उतारे कापी पर ? इस बेचारी ने क्या लिया है तेरा ? चल मेरे साथ मैं देखता हूं, कैसे नहीं बनता सोना ? भट्टी के पास दोनों आये, सामान जुटाया, प्रक्रिया चालू हुई, सब ठीक, परन्तु नींबू पड़ने का अवसर आया, तो लगा चाकू लेकर नींबू काटने, साधू बीच में ही बोला । 'क्या करता है ?' 'नींबू काटता हूं ।' 'कहां लिखा है इसमें नींबू काटना ?' "काटना न सही, नींबू का रस तो लिखा है । बिना काटे रस कैसे निकले ?" साधू ने गृहस्थ से नींबू छीन लिया, और दोनों हथेलियों के बीच साबुत का साबुत नींबू रख कर जोर से दबा दिया, रस नुचड़ गया, बोला कि ऐसे निकलता है रस । यह न सोचा बुद्धि लगा कर, कि चाकू से लोहे का अंश जाकर सारे फल का विनाश कर देगा । अब सोना बन गया, और गृहस्थ लज्जित हुआ-अपनी भूल पर, परन्तु अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत । विद्या को साधू अपने साथ ही ले गया ।

तात्पर्य केवल इतना दर्शाना है कि सर्व क्रिया ठीक होते हुए भी कोई ऐसी भूल जो दृष्टि में भी आती नहीं, सर्व फल का विनाश कर डालती है, और यथा कथित फल न मिलने पर बजाये अपनी भूल खोजने के प्राणी का विश्वास क्रिया पर से ही उठ जाता है । इस प्रकार बजाये हित के

अपना अहित कर बैठता है, अतः पहले से ही अभिप्राय की सूक्ष्मता को पढ़ने के लिये कहा जा रहा है ताकि सूक्ष्म से सूक्ष्म भूल का भी सुधार किया जा सके और क्रिया से वही फल प्राप्त किया जा सके, जो कि उसमें होना चाहिये।

३ प्रत्येक क्रिया में अन्तरंग व बाह्य दो अंश

संवर रूप सर्व क्रियाओंमें जैसा कि प्रत्येक क्रियाके साथ साथ बताया जायेगा युगपत् दो अंश विद्यमान रहते हैं—एक बहिरंग और दूसरा अन्तरंग। बहिरंग अंश तो शारीरिक क्रिया रूप होता है और अन्तरंग अंश मानसिक क्रिया रूप। बहिरंग अंश सर्व सामान्य व्यक्तियों के इन्द्रिय गम्य है, और अन्तरंग क्रिया केवल करने वाले एक व्यक्ति विशेष के अनुभव गम्य। बाह्य क्रिया का आधार शरीर व कुछ बाह्य जड़ या चेतन सामग्री है, और अन्तरंग क्रिया का आधार वह अभिप्राय जिसके प्रति कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। बाह्य क्रिया करने आदि के विकल्प सहित है और अन्तरंग क्रिया शान्ति के अनुभव सहित और इसलिये वह सर्व क्रिया अशान्ति व शान्ति के मिश्रण रूप है। शुभ आस्रव के अन्तर्गत बताई गई तीसरी कोटि की क्रिया में इस का अन्तर्भाव होता है। इसमें जितना अंश अन्तरंग शांति के वेदन का है उतने ही अंश में यह क्रियायें संवर रूप हैं और जितना अंश विकल्पात्मक है उतने अंश में यह सर्व क्रियायें आस्रव रूप ही हैं। अतः जहां आस्रव प्रकरण में अपराध रूप से उन क्रियाओं का कथन आया है वहां तो उन क्रियाओं के बाह्य अंशों की मुख्यता से समझनाऔर जहां अन्तरंग अंश रूप अभिप्राय के सुधार पर जोर दिया जा रहा है वहां वही कियायें संवर रूप समझना।

संवर कहते हैं प्रत्येक क्षण नया नया अपराध होने से रोक देने को-अर्थात् जिस किसी प्रकार भी लौकिक भोगादि सम्बन्धी विकल्प, या पर-पदार्थों में इष्टानिष्ट बुद्धि रोकी जा सके, उसे रोकना कर्तव्य है। वास्तव में पदार्थों को जानना अपराध नहीं है। जानने मात्र से राग द्वेष उत्पन्न नहीं हो सकता, राग द्वेष होता है इष्टानिष्ट बुद्धि से। देखिये आप अपने बरामदे में खड़े सड़क की ओर देख रहे हैं, अनेक पशु, पक्षी, व व्यक्ति सड़क पर से गुजरते आप ने देखे, कुछ परिचित भी थे कुछ अपरिचित भी। कुछ देर पश्चात् उसी सड़क पर देखा अपने पुत्र को-आते हुए, तुरन्त यह सोच कर कि कुछ कार्य-वश मेरे पास ही आ रहा है, एकाएक बोल उठे "क्यों! क्या काम है? इतनी जल्दी कैसे लौट आये आज?" पुत्र को देख कर यह विकल्प क्यों? कारण यही कि अन्य व्यक्तियों में थी माध्यस्थता और पुत्र में थी इष्टता। इसी प्रकार आप इन्हीं आंखों से देखते हो-हस्पताल में पड़े और बुरी तरह कराहते हुए अनेक रोगियों को, और इन्हीं नेत्रों से देखते हो अपने रोगी पुत्र को। परन्तु जो अत्यन्त व्याकुलता व वेदना का भाव पुत्र को देख कर आप में जागृत होता है, वह अन्य रोगियों को देख कर क्यों नहीं होता? कारण यही कि पुत्र में है इष्टता और अन्य में माध्यस्थता और यदि कदाचित् अन्य को देख कर थोड़ी मात्रा में व्याकुलता हो भी गई है, तो उसका कारण भी है कुछ करुणा, जिसका आधार है-राग या इष्टता। यदि पूर्ण माध्यस्थता होती तो उन्हें देख कर बिलकुल व्याकुलता न होती।

उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार हमें यह देखना है कि ऐसी कौनसी क्रियायें सम्भव हैं जिनमें इष्टता अनिष्टता को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से भी अवकाश न हो। अनेकों क्रियायें होनी सम्भव हैं जिनमें पूर्ण रूप से इष्टता अनिष्टता रहित क्रियाओं को करने की सामर्थ्य इन्द्रिय विजयी

योगियों में ही होनी सम्भव है। इसलिये अल्प दशा में मेरे लिये कुछ ऐसी क्रियायें होनी चाहियें जिनको कि मैं सुविधा पूर्वक अपने जीवन में उतार सकूं। ऐसी क्रियायें आंशिक रूप से ही इष्टता अनिष्टता रहित हो सकती हैं। अतः संवर रूप क्रियायें दो भागों में विभाजित कर दी गई हैं, एक गृहस्थ के योग्य दूसरी साधू के योग्य। पहले गृहस्थ सम्बन्धी क्रियाओं की बात चलेगी और साधू सम्बन्धी क्रियाओं की बात आगे आयेगी। गृहस्थ सम्बन्धी संवर रूप क्रियाओं को छः कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान। अब क्रम पूर्वक इन्हीं का अन्तरंग व बाह्य स्वरूप दर्शाया जायेगा तथा यह भी साथ साथ बताने का प्रयत्न किया जायेगा कि आज तक की हमारी क्रियाओं में क्या त्रुटि रहती चली आई, जिसके कारण कि इनका फल नहीं मिल रहा है।

२२
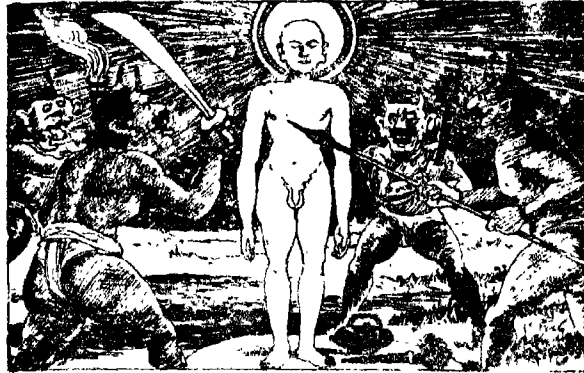
❀ देव पूजा ❀

मुजफ़्फ़रनगर दिनाँक २२ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ३८

१—शान्ति का भिखारी मैं, २—अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति में देवत्व, ३—शान्ति के उपासक का सच्चा देव, ४—यथार्थ पूजा शान्ति का वेदन, ५—वास्तविक पूजन व बहुमान का चित्रण, ६—अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप, ७—देव कौन, ८—पूजा क्या, ९—पूजा की अवश्यकता क्यों, १०—देव के आश्रय की क्या आवश्यकता, ११—देव से मुझे शांति कैसे मिल सकती है, १२—पूजा में कर्ता वाद क्यों, १३—पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों, १४—चित्र का मन पर प्रभाव, १५—वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता, १६—कल्पनाओं का बल, १७—प्रतिमा व जीवित देव में समानता, १८—देव के प्रति बहुमान व भक्ति, १९—प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर, २०—पंच कल्याणक महत्व, २१—प्रतिमा क्या और कैसे देती है, २२—भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त २३ विकल्पों को सर्वतः या सर्वदा दबाने में असमर्थता, २४ थोड़ी देर को दबाना प्रयोजनीय, २५ अनुकूल वातावरण की महत्ता, २६ मन्दिर की अनुकूलता, २७ मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पों का त्याग ।

१ शान्ति का भिखारी मैं

हे शान्ति सुधा सागर ! हमें अपना दास बनाने का सौभाग्य प्रदान कीजिये । ओह ! कैसी अनोखी बात है, कि शांति का उपासक मैं भीख मांगने पर उतर आया हूं और भीख भी काहे की-दासत्व की, परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है भाई, क्योंकि आज मैं वास्तव में हूं ही भिखारी । भिखारी कौन होता है, यह तो सोच, भिखारी के दो मुख्य लक्षण हैं—पहला यह कि जिसे कुछ इच्छा हो, दूसरा यह कि जिसकी इच्छायें पूर्ण न हो पाती हों या पूर्ण होने की आशा न हो । यदि किसी को इच्छायें न हों, या अपनी इच्छाओं को स्वयं पूरा कर लेता हो, तो दूसरे के सामने हाथ फैलायेगा ही क्यों ? बस तो आज की दशा में यह दोनों लक्षण मुझ में घटित होते हैं—मुझे शांति की इच्छा है, और गृहस्थ जाल में बन्ध कर विकल्प सागर में डूबे हुए मुझे परिश्रम करने पर भी विकल्पों से मुक्ति मिलती प्रतीत नहीं होती । इसलिये इस दशा में रहते हुए शांति मिलनी बहुत दुर्लभ लगती है, यहां तक कि आज मैं कुछ हत बुद्धि सा, निराश सा होकर यह ही सोचा करता हूं कि क्या करूं, कैसे इन विकल्पों से छूटूं, कैसे शांति में स्थिति पाऊं ? मैं भिखारी अवश्य हूं, पर अन्य भिखारियों में और मुझ में अन्तर है—वे हैं धन व भोगों के भिखारी, और मैं हूं शांति का भिखारी । भिखारी बना रहना किसी को अच्छा नहीं लगता, और मुझे भी अच्छा नहीं लगता, पर क्या करूं भूखा मरता क्या नहीं करता । जिस प्रकार कदाचित् सौभाग्य वश उन भिखारियों में से किसी एक को भी किसी प्रकार भी धन या भोगों की प्राप्ति हो जाये, तो वह स्वतः ही भीख मांगना छोड़ देता है, उसी प्रकार मुझे भी कदाचित किसी प्रकार शांति में स्थिति हो जाये तो मैं भी

स्वतः भीख मांगना छोड़ दूंगा और जैसे वह यदि आज ही आपके कहने से या स्वतः ही भीख मांगना छोड़ दे तो भूखे मर जाये, उसी प्रकार मैं भी यदि आपके कहने से या लज्जा के कारण शांतिकी भीख मांगना छोड़ दूं तो भूखा मर जाऊं।

२ अभिप्राय वश किसी भी व्यक्ति में देवत्व

अब प्रश्न यह उठता है कि भिखारी बनकर घर से निकला कोई भी व्यक्ति किस के पास जाये भीख मांगने ? उत्तर स्पष्ट है कि, उसके पास, जिसके पास कि उसकी अभीष्ट वस्तु का भण्डार हो, तथा जो उदार हो कृपण नहीं। बस तो जिस प्रकार धन के भिखारी जाते हैं धनके भण्डार व दानी धनिकों व राजा के पास; धनुष विद्या के भिखारी जाते हैं, उस विद्या के भण्डार व उदार हृदय द्रोणाचार्य के पास; आधुनिक विद्या के भिखारी जाते हैं उस विद्या के भण्डार तथा इसे देने में तत्पर स्कूल, कालिज के मास्टरों व प्रोफेसरों के पास; वीरता के भिखारी जाते हैं, वीरता के भण्डार तथा दयालु महाराणा प्रताप के पास; जूए के भिखारी जाते हैं, किसी बड़े जुआरी के पास; उसी प्रकार शांति का भिखारी मैं जाऊंगा शांति के भण्डार व विश्व कल्याण में तत्पर किसी भी योग्य व्यक्ति के पास।

अब देखना यह है कि मेरी कामनाओं की पूर्ति करने वाला, मुझ भिखारी की झोली भर देने वाला, उपरोक्त लक्षणों को धारण करने वाला, ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके पास कि मैं जाऊं, तथा वह कहां रहता है ? चलो खोजें उसे—यह लो राजा की सवारी जाती है, आइये इसी से मांग लें "राजा महाराज की जय हो, इस गरीब की झोली में भी कुछ डाल दो।" "लो यह दो अशर्फी।" "पर क्या करूंगा इनका ? मुझे तो शांति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "अरे ! इस शांति का तो मैं भी भिखारी हूं। भिखारी भिखारी को क्या देगा ?" और इस प्रकार स्कूल का मास्टर प्रोफेसर, सेठ, सेनापति, जुआरी, कसाई सब से मांग कर देखो सब स्वयं भिखारी हैं इस शांति के, उनके पास जाना व्यर्थ है।

अब आइये इधर इस द्वार पर जहां कि कल्पनाओं के घोड़े पर सवार, यह कुछ विशेष प्रकार के भिखारी खड़े भीख मांग रहे हैं। देखें तो अन्दर कौन है, और क्या बांट रहा है ? अरे ! यह तो मुरली बजाता हुआ उसकी धुन में, तथा गोपियों के साथ क्रीड़ा करने में मस्त हुआ, अतीव सुन्दर शरीर का धारी, बलवान, नितिज्ञ, दयालु, सखा व अनेक गुणों का भण्डार श्री कृष्ण है। "प्रभो! मुझको भी दे दीजिये कुछ ?" "हां, हां, लो। बताओ क्या चाहिये ? संगीत का मधुर पान चाहिये, तो यह लो, अपने साथियों से प्रेम करने की इच्छा हो तो, यह लो, वीरता चाहिये, तो यह लो, राज्य नीति चाहिये, तो यह लो, धन महल चाहिये, तो यह लो। अरे ! तुम तो कुछ बोलते ही नहीं, बोलो, डरो नहीं, जो चाहिये ले लो।" "परन्तु भगवन् ! मेरे काम की तो इनमें एक भी वस्तु नहीं। मुझे तो शांति चाहिये, हो तो दे दीजिये।" "हैं क्या कहा—शांति। भाई यह तो कुछ कठिन समस्या है। यही एक वस्तु ऐसी है जो मेरे पास नहीं है। मैं स्वयं इसके लिये शिव की उपासना करता हूं।"

आइये इधर देखिये, कैसी भीड़ लगी है ? अरे ! यह तो राजा राम हैं। कन्धे पर धनुष, दाईं ओर भ्रातृ भक्त लक्ष्मण, और बाईं ओर माता सीता। अहा हा। कितना मनोज्ञ है यह दृश्य, मानों विश्व को प्रेम का संदेश सुना रहा है। मुख पर कोमल कोमल मुस्कान, मानों जगत को निर्भयता प्रदान कर रहा हो। आओ इन्हीं के सामने झोली फैला कर देखूं, सम्भवतःछकु मिल जाये;

देखिये यह स्वयं बुला रहे हैं, कितना प्रेम है इनमें। "प्रभो ! मुझे भी दे दीजिये कुछ।" "ले लो भाई यह पड़ा है ढेर, जो चाहे ले आओ—देखो यह पड़ी है पितृभक्ति, इधर देखो यह पड़ा है प्रजा पालन, और वह देखो रखा है न्याय, यह है वीरता, और यह लो कर्तव्य परायणता। बताओ क्या चाहिये ? अरे ! चुप क्यों हो ?" "क्या कहूं भगवन् ! इन सब में से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, मुझे तो चाहिये केवल शान्ति।" "ओह ! समझा कि बहुत भाग्यशाली हो तुम, कि उस महान वस्तु की जिज्ञासा लेकर आये हो जिसके सामने तीन लोक की सम्पदा तुच्छ है, जिसके लिये बड़े बड़े चक्रवर्तियों ने राज पाट को लात मार दी, और जिसके लिये मैंने स्वयं भी इस सम्पूर्ण जाल को तोड़ कर वीतरागी वेष धर बनवास को अपना सौभाग्य समझा था। तुम सम्भवतः नहीं देख पा रहे हो मेरे जीवन का वह पिछला भाग, जब कि मैं राजा राम नहीं था बल्कि था साधू राम, और, न देख पा ही रहे हो मेरे आज का जीवन जब कि मैं राजा राम की बजाए भगवान राम बन चुका हूं। यदि शान्ति चाहिये तो राजा राम के पास न मिलेगी, बल्कि भगवान राम के पास मिलेगी, मुनि राम के पास मिलेगी, तपस्वी राम के पास मिलेगी, दिगम्बर राम के पास मिलेगी, जिसको न रही थी महल की आवश्यकता, जिसको न रही थी वस्त्राभूषण की आवश्यकता, जिसको न रही थी दासियों की आवश्यकता, जिसको न रही थी धनुष बाण की आवश्यकता।" जब उसका नाम राम न रह गया था बल्कि हो गया था इन्द्रिय विजयी 'जिन'। भर्तृहरि जैसे वैरागी ऋषि ने भी जिसके रूप की भावना भाते हुए अपने वैराग्य शतक में कहा है—

> एकाकी निस्पृहः शान्तः प्राणिपात्र दिगम्बरः ।
> कदा शम्भो भविष्यामि कर्म निर्मूल क्षमः ।।

कैसा मधुर व निःस्वार्थ है इनका उपदेश, धन्य हो गया हूं भगवन् आज इसे सुन कर। आपने मुझे अधिक भटकने से रोक दिया, यदि आप से उस शान्ति भण्डार मुनि व भगवान राम के सम्बन्ध में परिचय न पाता तो न जाने किस किस के दर की ठोकरें खानी पड़ती। बड़ा अनुग्रह हुआ है- नाथ आपका, कृपया आशीर्वाद दीजिये कि मैं उस परम योगेश्वर को खोज निकालने में सफल हो जाऊं।

चलिये अब बन की ओर, अपने प्रभु को खोजन, जो मेरी झोली में शान्ति की भिक्षा डाल सकें। अरे ! यह सामने कौन दिखाई दे रहे हैं, कितनी शान्त व सौम्य है इनकी मुखाकृति, रोम रोम से शान्ति का प्रसार करते, मानों यह साक्षात् शान्ति के देवता ही हैं। जिनका नग्न वेष बता रहा है कि इन्हें कोई इच्छा नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है- गरमी की या सर्दी की, भूख की या प्यास की। इनकी शान्त मुस्कान बता रही है कि इन्हें आश्चर्य नहीं है, कोइ शोक नहीं है, कोई भय नहीं है, जिसके कारण कि इन्हें शस्त्र अपने पास रखना पड़े। इनका पुलकित शरीर बता रहा है कि इन्हें कोई राग भी नहीं है। शान्ति में इनकी निश्चलता बता रही है, कि इस व्याकुल जगत से इन्हें कोई सम्पर्क नहीं रहा है, और न ही आगे कभी होगा। इनका सन्तोष बता रहा है कि इस शान्ति का विच्छेद इन से कभी न होगा। इनकी साम्यता बता रही है कि इन्हें न भक्त से प्रेम है न निन्दक से द्वेष। इनकी सौम्यता इनके अन्तरंग की साम्यता को दर्शा रही है तथा बतला रही है कि इन्हें कोई अभिमान नहीं है, किसी भी पर पदार्थ का कुछ करनें सम्बन्धी मोह भी नहीं है। इनकी सरल चित्तता बता रही है कि इन्हें कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ रहा है। खुले आकाश के नीचे बैठी यह निर्भीक

शान्त मुद्रा न जाने मुझे क्यों रस्सा बान्ध कर अपनी ओर खेंच रही है ? कितनी शांति आ गई है इनके दर्शन मात्र से इस समय में भूल बैठा हूं सब कुछ यहां तक कि यह भी, कि मैं यहाँ किस काम के लिये आया था। मानों मैं स्वयं भी शांत हुआ जा रहा हूं।

चन्दन के आस पास लगे वृक्ष भी स्वतः चन्दन बन जाते हैं। इस शाँति के देवता का भी तो ऐसा ही माहात्म्य प्रतीत होता है कि इनसे बिना कुछ मांगे ही मैं तृप्त हुआ जा रहा हूं, कृत-कृत्य हुआ जा रहा हूं। भोगों का रस इस समय मुझे विषसम भास रहा है, स्त्री व बच्चों की चीख पुकार मानों मेरे कानों को चीरे डाल रही है, धन सम्पत्ति मानों एक बड़ा भारी भार सा प्रतीत होता है, इसका उपार्जन व रक्षण अब साक्षात् दावाग्नि वत् दिखाई पड़ता है। मैं भी स्वयं शाँति के साथ तन्मय सा हो गया हूं, शांति सुधा का मानों पान ही कर रहा हूं। आज मैं अपने को भिखारी नहीं समझता, मैं तो स्वामी हूं। सामने बैठा इन जैसा हो सा समझ रहा हूं-कुछ अपने को, ठीक ही सुना करता था कि प्रभु अपने आश्रित को अपने समान कर लेते हैं, आज उस बात का साक्षात् हो रहा है। अन्तर केवल इतना ही है कि, तब समझा करता था यह कि, वह उसे कुछ राज्य वैभव आदि देकर अपने बराबर करता है और अब समझता हूं यह कि उसका करना तो नाम मात्र से भले कह लो, परन्तु उसके बिना किये स्वतः उसका आश्रित उसके समान शांत हो जाता है। उसके बिना कुछ दिये ही स्वतः वह वस्तु अर्थात् शांति पा लेता है, जिसकी इच्छा लेकर कि वह इनकी शरण में आया था तथा जिसके लिये कि भटकता भटकता वह कुछ निराश हो गया था।

अहो ! इस परम अभीष्ट शांति को पाकर, उस शांति को कि जिसके पाने के लिये मुझे व्यर्थ ही अनेकों द्वारों की ठोकरें खानी पड़ीं, मैं आज न जाने अपने को कितना महान देख रहा हूँ। कुछ ऐसा सा लगता है कि मानों मुझे नाली से निकाल कर सिंहासन पर बैठा दिया गया हो-राजतिलक करने के लिये, परम सौभाग्य ही जागृत हो गया है। आज तक राजा राम को देखता रहा, अब भगवान राम को देख रहा हूँ, भगवान हनुमन्त को देख रहा हूँ, भगवान ऋषभ को देख रहा हूँ, अरिष्ट नेमी को देख रहा हूँ, भगवान पार्श्व व महावीर को देख रहा हूँ। मानों साक्षात् ब्रह्मा को शिव को या शंकर को ही देख रहा हूँ, महादेव या महेश को देख रहा हूँ, विष्णु या बुद्ध को देख रहा हूँ, अल्लाह या खुदा को देख रहा हूँ। जिनको आज तक पृथक पृथक देख कर व्यर्थ ही द्वेष की ज्वाला में जलता रहा, आज उनको एक शान्ति के आदर्श के रूप में देख रहा हूँ। वास्तव में आज मैं धन्य हो गया हूँ।

जगत पुकारता रहे इसे अनेकों नामों से, परन्तु शान्ति के भिखारी मेरे लिये तो ये राम हैं न वीर, ये हैं केवल शान्ति के प्रतीक। यह है मेरा लक्ष्य बिन्दु, मेरे जीवन का आदर्श, यह है वह जो कि बनना चाहता हूँ-मैं। यही है मेरा उपास्य देव, जिसके चरणों का दास बनने को मैंने प्रार्थना की थी। सर्वत्र घूमा पर राग व इच्छा, द्वेष व भय, प्रेम व शोक के अतिरिक्त कुछ न देखा, सब स्थानों से निराश ही लौटा। सर्व दोष विमुक्त इस शान्ति के सौन्दर्य में मुझे वह दिखाई दे रहा है, जो मैंने कहीं नहीं देखा; अर्थात् वीतरागता, छोटे-बड़े, व ऊंचे नीचे सर्व प्राणियों के प्रति साम्यता, सरलता, सौम्यता, स्थिरता, क्रोधादि रहित प्रसन्न चित्त। अनेक गुणों का भण्डार यही मेरा लक्ष्य था, जिससे मुझे कुछ मांगना था, पर बिना मांगे ही जिसे देख कर मुझे मिल गया।

मुज़फ़्फ़रनगर—दिनांक २३ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ३६

४ यथार्थ पूजा शांति का वेदन

शांति के उपासक ने दर दर की ठोकरें खा कर भी आखिर शांति के देवता अर्थात् अपने अभीष्ट देव को ढूंढ ही लिया। परन्तु किंकर्तव्य विमूढ सा मैं अब इनकी पूजा कैसे करूं? क्या जल से? या चन्दन से? या अक्षत पुष्पादि से? इन वस्तुओं की इन्हें आवश्यकता ही क्या? अरे भोले। इनको तो तेरी पूजा ही की कौन आवश्यकता है? इनको तो कुछ नहीं चाहियें, तू चाहे पूजा कर या निन्दा, यह तो दोनों में समान हैं, चाहे जल चढ़ा चाहे विष दोनों से ही इनको लाभ हानि नहीं। ये हैं तेरे विकल्प, चाहे किसी प्रकार पूरे कर।

मैं क्या करूं प्रभु! कुछ भी किये नहीं बनता, एक ओर आप शांति के देवता, त्रिलोकाधिपति, और दूसरी ओर मैं रंक कीट। सर्व लोक में ऐसी कोई वस्तु दिखाई देती ही नहीं जिसे आपके चरणों में भेंट करूं, असमंजस में पड़ा हूँ, कभी आपको और कभी अपने को देखता हूँ। कहाँ बिठाऊं आपको? तीन लोक में आपके योग्य स्थान भी दीखता नहीं? तो क्या मैं आपकी पूजा ही न कर सकूंगा? क्या सेठ लोगों को ही अधिकार है, इस महा सौभाग्य का? बोलते क्यों नहीं? मैं भी तो आपका सेवक हूँ भले कुछ न आता हो मुझे, भले बोलना भी न आता हो, भले मेरे पास धन न हो, भले मेरे पास आपकी भक्ति के पाठ न हों, परन्तु इतना तो अवश्य है-मेरे पास, कि मेरे हृदय में आपको देख कर कुछ तूफान सा खड़ा हुआ है। क्या कहूँ मैं उसे? मैं स्वयं नहीं जानता कि क्या है वह? कुछ बहुमान सा है, यद्यपि आपके योग्य तो नहीं पर कुछ है तो अवश्य। बस यही सामग्री है-मेरे पास। क्या स्वीकार कर लेंगे मेरी पूजा को?

४ वास्तविक पूजन व बहुमान का चित्रण

अहा हा! शांति ही शांति दीखती है चहूँ ओर, सर्व विकल्प शांत हो गये हैं मेरे, कोई चिन्ता नहीं रही है, शांति के इस प्रवाह में मैं स्वयं खो सा गया हूँ, अपनी महिमा का भान होने लगा है। मैं चैतन्य हूँ, यह सब बाह्य दीखने वाले नाते कहाँ हैं मुझ में? मैं मैं को विचार कर, सर्वदा इस में ही खोया रहूँ तो कहां है अवकाश चिन्ताओं को, कहां है अवकाश विकल्पों को, और कहां है अवकाश व्याकुलता को? आप जैसा ही तो हूँ, अमूर्तिक व शान्ति स्वरूप, यदि अन्य का विचार न करूं तो शांति ही तो है, और आपको देख कर तो अन्य सर्व को मैं पहले ही भूल चुका हूँ। अपको मेरी इस भक्ति से हर्ष नहीं हो रहा है, और न निन्दा से खेद। मुझे ही क्यों हो? किसी के लिये मैं चिन्तायें क्यों उठाऊं? किसी की निन्दा से मैं दुःखी क्यों हूँ? किसी के दुःख में मैं दुःख क्यों मानूं? हुआ करे लोक व्याकुल, मैं तो सुखी हूँ, मुझे तो अपने से मतलब है। मैं किसी का बुरा भी क्यों चिंतूं? मैं तो अबाध्य हूँ। मैं शरीर, पुत्र, धन, धान्यादि को अपना हितकारी या अहितकारी भी क्यों समझूं? आप जिस प्रकार मुझे देख रहे हैं, इस निन्दक को देख रहे हैं, इस समवशरण विभूति को देख रहे हैं, उसी प्रकार क्यों न देखूं मैं भी सर्व ज्ञेय को, हैं वे भी कोई पदार्थ। पड़े रहें, मुझे क्या, मुझसे क्या लेते हैं, मुझे क्या देते हैं? नाहक विकल्प किया करता था-निःसार, निष्प्रयोजन, किसी का क्या जाता था, मेरा ही बिगड़ता था, मेरे ही घर में आग लगती थी। आज आपके दर्शन पाकर न जाने कहां जाते रहे हैं ये सब विकल्प।

आप और मैं, अरे ! यह दो पना कहाँ टिकता है ? जो आप हैं सो ही तो मैं हूँ, शान्त मूर्ति आप और शान्त मूर्ति मैं। अरे रे ! यह क्या-सब शान्ति ही शांति ! और कुछ नहीं यह तो 'शांति और मैं' इस द्वैत को भी अवकाश नहीं, कहूँ भी क्या—दूसरा कुछ है ही नहीं यहां, एक अद्वैत ब्रह्म, शान्तं शिवं, सुन्दरं, कैसे बखान करूँ इसकी महिमा ? इसकी महिमा का क्या अपनी महिमा का, अपने सौन्दर्य का, शरीर के सौन्दर्य का नहीं कह रहा हूँ भगवन् ! अपने सौन्दर्य की बात है, अन्तरंग सौन्दर्य की, जिसके सामने जगत की सुन्दरता भ्रम है, जिसमें तन्मयता हो जाने पर सारा जगत ही कल्पना मात्र है, जहां मैं और शान्ति का भी भेद नहीं। आहा ! यह, बस यह, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

अरे मैं तो आपकी पूजा करने आया था, पर आपको भूल गया और अपने को भी। कौन पूजा करे, किसकी करे, और कैसे करे ? कोई पदार्थ ही दिखाई नहीं देता, क्या अर्पण करूँ ? एक शांति है, लीजिये यही चढ़ा देता हूँ चरणों में और शांति को चरणों में चढ़ा दिया तो मैं पृथक कहां रह गया ? मैं भी तो चढ़ गया वहीं, चरणों में क्या चढ़ना, आपकी शान्ति में ही तो मिल गया। आपकी शान्ति और मेरी शान्ति दो रही ही कहां ? एक शांति ही तो है और वह मैं ही तो हूँ। बस फिर वही शान्ति, उसके साथ तन्मयता, वही सौन्दर्य। बताइये भगवन् ! पूजा करूं तो कैसे करूं ? पुनः पुनः शान्ति में खोया जा रहा हूँ,—पूजा का विकल्प फिर शान्ति, फिर पूजा का विकल्प, फिर शान्ति। यह कैसी आँख मिचौनी है कभी अन्दर लखाता हूँ कभी बाहर की ओर कभी अपनी ओर कभी आपकी ओर ? यह मेरी अस्थिर बुद्धि का ही परिणाम है, पूजा करूं तो कैसे करूं।

यही यो यथार्थ पूजा है, और क्या चढ़ाता है-इसके अतिरिक्त ? चढ़ाने व पढ़ने में क्या रखा है ? अपनी शान्ति पर न्योछावर होकर उसके साथ तन्मय हो जाना ही प्रभु के चरणों में वास्तविक भेंट चढ़ाना है। तू तो धन्य है कि तुझे वास्तविक पूजा का अवसर मिला। लोकों के द्वारा की जाने वाली पूजा पर क्यों जाता है ? ये बिचारे स्वयं नहीं जानते कि पूजा किसे कहते हैं। निज शान्ति के साथ तन्मयता में अत्यन्त तृप्ति, सन्तोष व हल्कापना सा, जो प्रतीति में आता है, वही वास्तव में देव पूजा है, अन्तरंग पूजा।

इस पूजा में से स्वाभाविक माधुर्य आजाने पर स्वतः ही प्रभुके प्रति एक बहुमानसा उत्पन्न हो जाता है। इस माधुर्य से च्युत हो जाने पर, अर्थात् निज शान्ति के वेदन से हट कर, प्रभु का विकल्प उत्पन्न हो जाने पर, कुछ इस प्रकार की स्वाभाविक दासता सी उत्पन्न हो जाती है कि हे प्रभु ! मुझ जैसे भव कीट को यह अतुल निधान प्रदान करके, कृतकृत्य कर दिया है आपने। मैं किन शब्दों में कृतार्थता प्रगट करूँ ? आपको कहां बिठाऊं ? इत्यादि जो पूर्व कथित विकल्पों के आधार पर प्रभु में तन्मयता है वह ही उनकी भक्ति व बहुमान कहलाता है।

इस प्रकार का बहुमान कृत्रिम नहीं हुआ करता, स्वाभाविक होता है, अन्तरंग ध्वनि से निकलता है। किसी गुरु की प्रेरणा से नहीं होता, स्वयं अन्तःकरण की प्रेरणा से, उसके झुकाव से उत्पन्न होता है स्वाभाविक बहुमान का कुछ चित्रण इस दृष्टान्त पर से दृष्टि में आ सकता है।

एक सेठ जी थे, एक ही पुत्र था—उनके, दुर्भाग्य से कुसंगति में पड़ गया और सम्पत्ति लुटाने लगा। सेठ जी को बड़ी चिंता हुई, बीमार पड़ गए, चिंता बढ़ती गई। 'क्या होगा मेरे पीछे इस लड़के का'? भूखा मरेगा और इसी प्रकार अनेकों विकल्पों में फंसे अंतिम श्वास लेने लगे। उनका एक मित्र था, बड़ा प्रेम दोनों में। अपने मन की व्यथा किसे सुनाते? मित्र पर दृष्टि पड़ी और सब कुछ व्यथा उगल दी। "मित्र इस संकट में मेरी कुछ सहायता करो, मैं तो एक दो दिन का हूं, इस बच्चे की रक्षा का भार तुम्हें देता हूं।" मित्र भी स्वयं एक सेठ थे, जगत के अनेक उतार चढ़ाव देखे थे, बोले "चिन्ता न करो, शान्ति धरो, मुझ पर विश्वास करो, बच्चे का जीवन कुछ ही दिनों में पलटा खायेगा।" सारी नगदी जेवर व हीरे जवाहरात घर के एक कोने में गाड़ दिये, और सेठ जी सो गये-सदा के लिये। लड़का कई साल तक जायदाद बेच बेंच कर लुटाता रहा और एक दिन फकीर हो गया। एक एक करके मित्रों ने अपना रास्ता नापा, लड़का बेचारा लगा भूखा मरने, कभी सूखे चने चबा लेता, कभी पानी ही पीकर सन्तोष कर लेता, तन पर वस्त्र थे पर नाम मात्र को रहने को एक मकान ही रह गया था और वह भी काल के प्रहारों से भग्नावशेष-मात्र। भीख मांगने का साहस होता तो अवश्य भिखारी बन गया होता पर इस प्रकार कब तक चले? एक दिन व्याकुल चित्त हो उसके पांव ले चले उसे-किसी ओर, उसी अपने पिता के मित्र अपने चचा के पास। "चचा जी, आगया, आखिर, आज आपकी शरण म। आपको छोड़ और जाता भी कहां?-आप पिछली बातें याद दिला कर मुझे लज्जित न करना, मेरा अन्तष्करण स्वयं मुझे धुतकार रहा है, उसकी मार असह्य है, आप इस वेदना को न बढ़ाना परन्तु मेरी रक्षा करना।

दयालु चचा बोले कि, "बेटा चिन्ता न कर, यह मुझे पहले से पता था कि एक दिन अवश्य आयेगा यहां, अच्छा ही किया आ गया, तो कब तक चलता-व्यर्थ भूखा रह कर, और तुझे इस दशा में रहने की आवश्यकता भी क्या है? तू तो अब भी क्रोड़ों का स्वामी है, अब भी चाहे तो व्यापार कर के अपने पिता से भी अधिक धनवान हो सकता है। कमी ही क्या है तुझ को?" परन्तु विश्वास कैसे आये? "नहीं, नहीं चचा, हंसी न कीजिये, एक एक रोटी को मोहताज अब सेठ बनने के स्वप्न देखने का अवकाश कहां? अब तो रोटी चाहिये।" "घबरा नहीं बेटा! मैं हंसी नहीं कर रहा हूँ, ठीक ही कहता हूँ, विश्वास कर मुझ पर, तेरे हित की बात है, तू अब भी हजारों को खिला देने योग्य है। रोटी की क्या कमी तुझे? जा अपने घर का दक्षिणी कोना खोद डाल।" सहम ही गया मानों यह सुन कर, कोई वज्र ही पड़ा हो जैसे उस पर, 'सब ओर से निराश्रय हो गया हूँ, एक यह मकान शेष है, यह भी काल के प्रहारों द्वारा खाया हुआ, मकान भी काहे का एक छत मात्र, जिसके नीचे सर छिपा लेता हूँ। खोद दिया तो कभी खड़ा न रह सकेगा, यह भी मुंह मोड़ जायेगा, इतनी बड़ी चोट सहने की इसमें शक्ति ही कहां है।" "नहीं नहीं, चचा,! मुझे बेघर बनाने की बात न कीजिये, अब अधिक परीक्षा न लीजिये, बस पेट भरने भर की इच्छा है।" "ओह! दया आती है तेरी दशा पर भूख का मारा आज तू जितना भी संशय करे थोड़ा है पर नहीं, अब इसे छोड़, विश्वास कर, जैसे मैं कहता हूँ वैसे कर, जा अपने घर का दक्षिणी कोना खोद डाल।"

लड़खड़ाता हुआ वह आखिर चल पड़ा, कुछ निराशा में डूबा। परन्तु अब मार्ग भी और क्या है, देखी जायेगी। जहाँ इतना सहा यह भी सह लूंगा, चचा के अतिरिक्त अब है भी कौन, जिसके

पास जाऊं अपनी पुकार सुनाने ? घर खोदना प्रारम्भ किया और कुछ देर के पश्चात, हूं ! यह खट की ध्वनि कैसी ? क्या है इसमें दबा हुआ ? कोई टोकना सा प्रतीत होता है। अरे ! यह तो है वही जिसकी ओर चचा का संकेत हुआ था।" और एक ही बार घूम गई चचा की सब बातें-उसके हृदय पट पर। 'तू अब भी करोड़पति है, तू अब भी करोड़पति है' मानों कोने कोने से यही आवाज आ रही थी। पागल सा हो गया कुछ भावुकता के आवेश में, भूल गया आगे खोदना। हाथ भी कैसे चलता ? कृतघ्नी तो न था। यद्यपि पृथ्वी का टोकना पृथ्वी में ही था, पर सेठ बन चुका था आज वह। 'नहीं नहीं यह कृतज्ञता न कहलायेगी। यह सब कुछ मेरा है ही कब ? मेरा होता तो भूखा क्यों मरता ? और यदि दूसरे मकानों के साथ इसे भी बेच देता तो किसका होता यह टोकना ? नहीं नहीं मेरा कुछ भी नहीं, भले यहां रहता हूं। वह इतनी प्रेरणा न देते तो खोदने को ही कब तैयार होता—मैं ?' और इसी प्रकार के विचारों में खो गया, रुक गये उसके हाथ-और चल पड़ा दौड़ा दौड़ा अपने चचा के घर की ओर।

"चलिये चचा चलिये, सम्भाल लीजिये वह, जो वहां से निकला है, आपने ही बताया था, आपका ही है।" "बेटा ! जा उसको निकाल ले व्यापार प्रारम्भ कर, तेरा कल्याण होगा।" धन्य है चचा आपकी सहानुभूति, धन्य है आपका प्रेम, धन्य है आपकी निःस्वार्थता धन्य है आपका त्याग। आज तक आपकी शरण में न आकर व्यर्थ ही ठोकरें खाता रहा, क्षमा कर दीजिये अब मुझ, मैं अधम हूं, नीच हूं, पापी हूं। आपकी ओर आज तक न देखा, उन दुष्टों को ही मित्र समझता रहा जिन्होंने सब कुछ लूटा है-मेरा और यदि कदाचित् इस टोकने का भी पता होता तो, अब तक साथ न छोड़ते। आप न होते तो आज मैं रंक से राव कैसे बनता ? मैं कैसे आन्तरिक कृतार्थता प्रगट करूं, कहन को शब्द भी तो नहीं हैं मेरे पास, किंकर्त्तव्य विमूढ सा मानों सब कुछ भूल गया हूं मैं। जी करता है कि आपके चरणों में हो बिछ जाऊं मैं, क्या करूं, क्या न करूं, कुछ सूझ नहीं पड़ता। आशीर्वाद दीजिये चचा, आखिर यही निकलता है मुंह से और इस प्रकार का कुछ अन्तरप्रवाह बह रहा था-उसके हृदय से आज। आंखों से अश्रु धारा, मानों उनकी सब पिछली भूलों को धोये डाल रही थी और यह सब कुछ वह किसी दबाव से नहीं कर रहा था, स्वतः ही उससे ऐसा हो रहा था। यदि और भी शक्ति होती तो और भी सब कुछ करने को तैयार था-आज अपनी आन्तरिक कृतज्ञता प्रगट करने के लिये, नया जीवन जो मिला था उस, आज।

६ अष्ट द्रव्य पूजा का स्वरूप

आप भी क्या ऐसा ही न करते यदि होते उस परिस्थिति में ? यदि कृतज्ञ हो तो अवश्य ऐसा ही करते, क्योंकि यह स्वभाव हो है एक कृतज्ञ का, उपकारी के प्रति सहज भक्ति, सहज बहुमान-यह है वह भाव जिसके प्रति कि संकेत किया गया था। अन्तरंग शान्ति के तुच्छ मात्र वेदन के माधुर्य से निकला हुआ देव के प्रति का स्वाभाविक बहुमान, आदर्श भक्ति, आदर्श पूजा, भाव पूजा; और इस बहुमान से प्रेरित हो अपनी योग्यतानुसार कुछ शब्दों की, तथा अपने उद्गारों की, तथा कुछ सामग्री आदि की, उनके चरणों में भेंट, कुछ याचनायें, सो है बाह्यपूजा-द्रव्यपूजा।

१—हे नाथ ! इस तृप्तिकर अतुल शान्ति में विश्राम करते आप तो जन्म जरा मरण से अतीत, क्षण क्षण में बर्तने वाले दाहोत्पादक विकल्पों की दाह से अति दूर, स्वयं एक शीतल सर हो। मझको भी शीतलता प्रदान कीजिये, इन विकल्पों से मेरी रक्षा कीजिये प्रभु ! उस अलौकिक शीतलता

को पाने की जिज्ञासा के लिये लौकिक शीतलता का प्रतीक यह जल लाया हूं आपके चरणों पर चढ़ाने को, मानों, मेरे उद्गार ही जल बन कर बह निकले हैं आज।

२—हे देव ! इस शीतल शान्त सरोवर में वास करके भव संताप के दाह का नाश कर दिया है आपने, मुझ संतप्त का दाह भी नाश कीजिये प्रभु ! बड़ा खेद खिन्न हो रहा हूं, चिन्ता का ताप अब सहा नहीं जाता, इच्छाओं में भड़भड़ जल रहा हूं। मेरी भी यह दाह शान्त कीजिये नाथ ! अलौकिक शीतलता की इच्छा लेकर लौकिक दाह विनाशक यह चन्दन लाया हूं आपके चरणों की भेंट करने को; मानों मैं स्वयं ही साक्षात् चन्दन बन कर आया हूं, आपके चरणों की बलिहारी जाने के लिये।

३—हे शान्ति के अक्षय भण्डार ! हे अतुल निधान ! क्षय कर डाली हैं, भग्न कर डाली हैं सब व्याकुलतायें आपने। यह अक्षय शान्ति मुझको भी प्रदान कीजिये नाथ ! इसी से यह अक्षत अर्थात् बिना टूटे हुए मुक्ता फल लाया हूं इन चरणों की भेंट, मानों अपनी अक्षय निधि की याद बन कर मैं स्वयं न्यौछावर होने आया हूं आपके चरणों पर।

४—हे त्रिलोक जेता ! शान्ति रानी का कर ग्रहण करके विश्व विजयी बन कर इस कामदेव को सदा के लिये परास्त कर दिया है-आपने। वह देखो दूर ही खड़ा वह कांप रहा है, आपके निकट आने का साहस कहां है उसमें ? पर आपसे पराजित हुआ वह अपने क्रोध की ज्वाला में भस्म किये जा रहा है मुझ जैसे तुच्छ व्यक्तियों को। लोक की सम्पदा की असीम कामनाओं में मानों जला जा रहा हूं-मैं। रक्षा कीजिये प्रभु, इस दुष्ट काम से। आपकी शरण को छोड़कर कहां जाऊं अब, जहाँ इसका साया न दिखाई देता हो। आपकी शान्ति का कोमल स्पर्श करने व इसके सुगन्धित श्वास में अपने को खो जाने की इच्छा लेकर ही यह लौकिक कोमलता व सुगन्धि के प्रतीक पुष्प लाया हूं मैं-चढ़ाने को; मानों अत्यन्त सुगन्धित शान्त व कोमल इन चरण कमलों का रस लेने के लिये स्वयं भंवर ही बन कर आया हूं मैं।

५—हे क्षुधा निवारक ! अनादि काल से लगी, इन धूल सरीखे, आकर्षक पर-पदार्थों की भूख शान्त कर ली है आपने। मैं भी तो बहुत क्षुधित हूं। तीन लोक की सम्पत्ति का भोग कर करके भी जो आज तक तृप्त नहीं हुई है, ऐसी मेरी भूख को भी शान्त कर दीजिये प्रभु ! इसी से लौकिक क्षुधा निवारक यह स्वादिष्ट चरू नैवेद्यादि मिष्टान्न लाया हूं इन चरणों की भेंट; मानों इस शान्ति से अत्यन्त तृप्त वत् हुआ मैं आज स्वयं अत्यन्त मिष्ट बन कर विश्राम करने आया हूं यहां।

६—हे ज्ञान ज्योति ! हे त्रिलोक प्रकाशक ! आन्तरिक अन्धकार का विनाश कर अतुल तेज जागृत किया है आपने। कोटि जिह्वाओं से भी इस तेजकी महिमा का वर्णन करने को आज बृहस्पति भी समर्थ नहीं है तथा उस तेज कीअतुल प्रकाशकी महिमा का जिसमें तीन लोक व तीन काल वर्ती सर्व पदार्थ हाथ पर रखे आंवले वत् प्रतिभास रहे हैं आपको। इस अन्धे को भी नेत्र प्रदान कीजिये प्रभु। पर पदार्थों में ही रस लेने में अन्धा हुआ आज मैं अपने को भी देखने में समर्थ नहीं हूं। यह प्रकाश मुझे भी दीजिये जिससे कि मैं अपने शान्त स्वभावके एक क्षण को तो दर्शन कर सकूं।

इससे ही लौकिक प्रकाश का प्रतीक यह तुच्छ दीपक लाया हूं भेंट देने; मानों आपकी ज्योति से उद्योतित हुआ मैं स्वयं ही दीपक बन गया हूं आज।

७—हे अध्वर ! हे तेजपुञ्ज ! हे अग्नि ! आपके विशुद्ध तेज पूर्ण रूप के दर्शन से तथा आपके चिन्तन के प्रसाद से मेरे दोष भस्मीभूत हो जाते हैं। अपने इसी भाव को पुष्ट करने के लिये मैं आपके समक्ष धूपायन में प्रज्वलित अग्नि के अन्दर अष्टांग धूप समर्पण कर रहा हूं जिसकी सुगन्धि और धुआं ऐसें प्रतीत होते हैं—मानों मेरी भाव शुद्धि से मेरे साथ एकमेक हुई कर्मरज हो उड़ी जा रही हो, मेरा भार हलका होता जा रहा हो, और मुझे सच्ची शान्ति, आनन्द व तेज प्राप्त हो रहे हों।

८—हे मिष्ट फल प्रदायक ! आपको तो आपका लक्ष्य बिन्दु जो शान्ति, उस फल की प्राप्ति हो चुकी है। आप तो उसके शाश्वत स्वाद में मग्न हो रहे हैं। कुछ मेरी ओर भी तो निहारिये, इस भिखारी की ओर भी तो देखिये, जो दर दर की ठोकरें खाता कितनी कठिनाई से आया है-इस द्वार पर। हर ओर से निराश होकर आये हुए इसे यहां से निराश न लौटाइये। इस फल का थोड़ा टुकड़ा मेरी झोली में भी डाल दीजिये, मैं भी दुआयें दूंगा आपको। यह एक तुच्छ सा लौकिक फल पड़ा है मेरी झोली में, निःसार सा है। परन्तु क्या करूं इसके अतिरिक्त और कुछ है भी कहां मेरे पास, जो कि भेंट करूं ? लीजिये इसे ही आपको भेंट चढ़ाता हूं और वह अपने वाला अलौकिक फल शान्ति मुझे भी प्रदान कर दीजिये।

और इसी प्रकार की अनेकों उठने वाली अन्तरंग की मधुर मधुर कल्पनाओं पर बैठ कर ऊंची ऊंची उड़ानें भरते हुए, मानों प्रभु के साथ तन्मय ही, होने जा रहा हूं। इन बाह्य के जल आदि द्रव्यों से भगवान की अर्चना की जो यह क्रिया, उसे कहते हैं द्रव्य पूजा, बाह्य पूजा। अन्तरंग व बाह्य दोनों अंगो में गुंथी, यह है वास्तविक देव पूजा जो एक शान्ति का उपासक, शान्ति के आदर्श अपने देव के प्रति करता है। केवल पूजा ही नहीं साक्षात् शान्ति का वेदन ही हो जाता है इसमें। देव के लिये नहीं बल्कि अपनी शान्ति के आस्वाद के लिये ही होती है यह पूजन, ये उद्‌गार है जो स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही प्रवाहित हो उठते हैं।

मुज़फ़्फ़रनगर—दिनांक २० जुलाई १९५९

प्रवचन न० ४०

७ देव कौन

देवपूजा की बात चलती है। इस प्रकरण के अन्तर्गत अनेकों प्रश्न सामने आकर घूमने लगते हैं। जैसे—१ देव कौन ? २—पूजा क्या ? ३ पूजा की आवश्यकता क्यों ? ४—प्रतिमा की आवश्यकता क्यों ? ५ जड़ प्रतिमा से मुझे क्या मिले ? ६ मन्दिर की आवश्यकता क्यों इत्यादि।

पहला प्रश्न है देव कौन ? वास्तव में देव के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता, कि अमुक ही देव है, क्योंकि देव नाम आदर्श का है। और आदर्श इच्छा के पूर्ण लक्ष्य का नाम है अतः देव की परीक्षा अपने अभिप्राय से की जा सकती है। जैसा अपना अभिप्राय हो या जैसी अपनी इच्छा हो वैसा ही उस व्यक्ति विशेष का लक्ष्य होगा, और वैसे ही किसी यथार्थ या काल्पनिक आदर्श को वह स्वीकार करेगा। उसकी दृष्टि उस पर ही जाकर ठहरेगी जैसा कि वह स्वयं बनना

चाहता है, बस वह ही उसके लिये सच्चा देव है। जैसे धनवान बनने की इच्छा वाले का कुबेर हो सकता है वीतरागी शांत मुद्रा धारी यह देव नहीं, जिस..ी कि बात चलने वाली है। पितृ भक्ति की इच्छा वाले का देव कुमार राम या श्रवण हो सकता है वीतरागी देव नहीं और इसी प्रकार अन्यत्र भी। परन्तु यहां तो शांति पथ प्रदर्शन चल रहा है इसलिये केवल शांति प्राप्ति की इच्छा लेकर देव को खोजना है, या देव की परीक्षा करनी है। सो देव पूजा के तीसरे प्रकरण में की जा चुकी है, और यह निर्णय किया जा चुका है कि उस देव का स्वरूप, जिसकी में आदर्श रूप से उपासना करने चला हूं, वीतरागी व शान्त रस पूर्ण ही होना चाहिये अन्य नहीं। क्योंकि अभिप्राय से विपरीत जिस किसी को भी आदर्श बना कर उपासना करने से, अभिप्राय की पूर्ति होना असम्भव है। अभिप्राय शून्य उपासना में भले यह नियम लागू न होता हो, पर यहां जिस सच्ची पूजा या उपासना की बात चलेगी उसमें अभिप्राय सापेक्ष होने के कारण यह नियम आवश्यक है ।

८ पूजा क्या — दूसरा प्रश्न है 'पूजा क्या' ? जैसा कि कल के प्रवचन में काफी विस्तार करके बताया जा चुका है। शान्ति के अभिप्राय की पूर्ति के अर्थ, शान्ति में तल्लीन किसी व्यक्ति विशेष को आंखों के सामने रख कर या उस व्यक्ति के किसी चित्रण को आंखों के सामने रख कर, अथवा उस व्यक्ति या उसके चित्रण को अन्तरंग में मन के सामने रख कर, अथवा शान्ति के यथार्थ जीवन आदर्श को मन में स्थापित करके, कुछ देर के लिये अन्य सर्व संकल्प-विकल्पों को छोड़, उस आदर्श की शान्ति के आधार पर, निज शान्ति का अपने अन्दर में किञ्चित् वेदन करते हुए, उसके साथ तन्मय हो जाना अन्तरंग उपासना या पूजा है। तथा उस शांति के मधुर आस्वाद वश निमित्त रूप उस आदर्श के प्रति सच्चा बहुमान उत्पन्न हो जाने पर, अपने दोषों को तथा कमजोरियों को दूर करने के लिये और उसमें प्रगट दीखने वाले गुणों की प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार से प्रार्थना करना बाह्य पूजा है? इन दोनों पूजाओं में अन्तरंग पूजा ही यथार्थ पूजा है, इसके बिना बाह्य पूजा निरर्थक है, यह वाक्य बराबर दृष्टि में रखना चाहिये, क्योंकि इसको भूल जाने पर अपने प्रश्नों का उत्तर समझ में न आयेगा।

८ पूजा की आवश्यकता क्यों ? — यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब अन्तरंग पूजा अर्थात् शान्ति का वेदन ही प्रधान है तो बाह्य पूजा की आवश्यकता क्यों ? प्रश्न बहुत अच्छा है, वास्तव में उसकी कोई आवश्यकता न होती यदि प्रथम भूमिका में ही में स्वतन्त्र रूप से शान्ति का वेदन करके उसमें स्थिति पाने के योग्य हो सकता। शांति से बिल्कुल अनभिज्ञ मैंने, न कभी शान्ति को देखा है, न सुना है, न अनुभव किया है। ऐसी दशामें सोचिये कि शांतिमें स्थिति पाकर अन्तरंग पूजा करनी सम्भव कैसे हो सकती है ? अतः जब तक शान्ति का परिचय प्राप्त न कर लूं, किसी न किसी शान्त जीवन का निकट सान्निध्य आवश्यक है, क्योंकि शान्ति ऐसी वस्तु नहीं जो शब्दों में बताई जा सके, या स्कूलों में पढ़ाई जा सके, या शान्ति शब्द के रटने मात्र से उसे जाना या कहा जा सके। यह तो किसी आन्तरिक सूक्ष्म स्वाद का नाम है, जो वेदन किया जा सकता है, व किसी के जीवन पर से अनुमान लगा कर किञ्चित् जाना जा सकता है, पढ़ा जा सकता है, जैसा कि आगे दृष्टान्त पर से स्पष्ट हो जायेगा। इतना ही नहीं बल्कि शान्ति का परिचय प्राप्त कर लेने पर भी, मैं निरन्तर उसमें स्थित रह सकूं, इतनी शक्ति भी प्रथम अवस्था में होनी असम्भव है। अतः उतने समय के लिये जितने समय तक कि मैं स्वतन्त्र रूप से उसके रसास्वादन में लय होने के योग्य न हो जाऊं, मुझे उस बाह्य पदार्थ के आश्रय की आवश्यकता होगी और इसी प्रयोजन के अर्थ है अन्तरंग सापेक्ष बाह्य पूजा। यहां इतना अवश्य

जान लेनें योग्य है कि आगे अगली भूमिका में जाकर इस बाह्य पूजा की कोई आवश्यकता नहीं रहती परन्तु इस गृहस्थ दशा में स्थित मनुष्य के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है ।

१० देव के आश्रय की क्या आवश्यकता

बिना किसी बाह्य जीवन का आश्रय लिये इस शांति का परिचय क्यों प्राप्त नहीं हो सकता ? शान्ति तो अपना स्वभाव है, स्वतन्त्र रूप से क्यों जानी नहीं जा सकती ? उसके जीवन की शान्ति मुझ में कैसे आ सकती है, और अपनी शान्ति बिना दिये वह मुझे शान्ति का स्वाद कैसे चखा सकता है ? इत्यादि अनेकों प्रश्न इस स्थल पर मुझे आगे चलनें से रोक रहे हैं। अच्छा ले, पहले इनका ही स्पष्टीकरण कर देता हूँ ।

पहले प्रश्न का उत्तर तो पहले ही दिया जा चुका है कि जिसनें आज तक न देखा हो, न अनुभव किया हो, वह बिना पर के आश्रय के उसे कैसे जान सकता है । जैसे जिस वस्तु का आकार ही मेरे ध्यान में नहीं, उस वस्तु को बनानें का कारखाना में कैसें लगा सकता हूँ ! उस वस्तु का एक नमूना अपने सामने रख कर भले ही उस जैसी अनेकों वस्तुएँ बनाने में सफल हो जाऊं । यह ठीक है कि कारखाना चल जाने के पश्चात उस नमूने की अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु प्रारम्भ में वह मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है ।

दूसरा प्रश्न है, स्वतन्त्र रूप से क्यों नहीं जानी जा सकती ? परन्तु इसका निषेध किया किसने ? स्वतन्त्र रूप से भी जानी अवश्य जा सकती है, परन्तु केवल उसके द्वारा जिसनें कि कभी पहले उसका परिचय प्राप्त किया हो, भले ही उसका परिचय प्राप्त करके छोड़ बैठा हो । यहाँ इतनी बात अवश्य है कि अधिक समय तक छोड़े रहने के कारण वह परिचय अत्यन्त लुप्त हो सकता है, ऐसा कि प्रयत्न करनें पर भी याद न आये तब उसें अवश्य पुनः बाह्य का आश्रय लेने की आवश्यकता पड़ेगी जैसा कि पहली बार लगाया हुआ कारखाना यदि दुर्भाग्यवश फेल हो जाए, और कुछ वर्ष पश्चात् पुनः उसे चालू करना पड़े तो अब उसे नमूने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । स्वतन्त्र रूप से स्मरण के आधार पर माल बना लेता है। परन्तु यदि किसी रोग विशेष के कारण उसकी स्मरण शक्ति जाती रही हो, और फिर यह कारखाना चालू करना पड़े, तब तो पुनः उसे अवश्य ही नमूनें की आवश्यकता पड़ेगी ।

११ देव से मुझे शान्ति कैसे मिलती है

तीसरा प्रश्न है यह कि उसके जीवन की शान्ति मुझ में कैसे आ सकती है ? बहुत सुन्दर प्रश्न है, तेरा विचार बिल्कुल ठीक है, वास्तव में किसी अन्य की शान्ति मुझ में कदापि नहीं आ सकती । उसकी शान्ति उसके साथ और मेरी शान्ति मेरे साथ ही रहेगी । उसकी शान्ति उसके पुरुषार्थ द्वारा उसमें ही उत्पन्न हुई है, और मेरी शान्ति मेरे पुरुषार्थ के द्वारा मुझ में ही उत्पन्न होगी । उसकी शान्ति का उपभोग वह स्वयं ही कर रहा है, और मेरी शान्ति का उपभोग में स्वयं ही करूंगा । ऐसी ही वस्तु की स्वतन्त्रता है इसलिये वह मुझे शांति देनें में समर्थ नहीं है । इतना अवश्य उससे लाभ है कि उसका नमूना देख कर मै उस परम परोक्ष रहस्य का कुछ अनुमान लगा सकता हूं-यदि बुद्धि पुर्वक प्रबल पुरुषार्थ करूं तो । जैसे कि कारखाना लगाने वाले उस व्यक्ति को नमूना कुछ देता नहीं है, वह स्वयं ही उसको देख कर अनुमान के आधार पर उस सम्बन्धी परिचय प्राप्त कर लेता है । वैसे ही शांत स्वरूप व आदर्श रूप वह व्यक्ति मुझे कुछ नहीं देता है, मैं

स्वयं उसकी मुखाकृति, उसका शांत परिभाषण, जीवन में होने वाली उसकी कुछ शान्त क्रियाओं को देख कर, अनुमान के आधार पर शान्ति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त कर सकता हूँ।

यहां यह बात कुछ विचारणीय है कि अनुमान के आधार पर किसी के जीवन को कैसे पढ़ा जा सकता है? इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है—एक जिज्ञासु किसी समय अपने गुरू के पास पहुंचा और बोला प्रभो! कुछ हितकारी उपदेश देकर मेरा कल्याण कीजिये। गुरू बोले कि, "भाई! मैं उपदेश तो दे दूंगा, पर उसका लाभ कुछ न होगा, मैं तो केवल दो चार वाक्य ही कह सकता हूं। परन्तु उनका रहस्य तुम कैसे समझ सकोगे? ऐसे उपदेश तुम पहले भी अनेकों बार सुन चुके हो, परन्तु सुनने मात्र से कोई प्रयोजन सिद्ध होता नहीं। जाओ नगर के विख्यात सेठ शांति स्वरूप के पास चले जाओ, वहां उनके पास रह कर धैर्य पूर्वक उपदेश सुनना।"

आज्ञानुसार वह सेठ की दुकान पर पहुँच गया, गुरू की आज्ञा कह सुनाई और सेठ के पास दुकान पर रहने लगा। सेठ बड़ा व्यापारी था, प्रतिदिन लाखों का व्यापार, अनेकों मुनीम गुमाश्ते, बही खाते और न मालूम क्या क्या? जिज्ञासु सोचने लगा कि न जाने क्या सोच कर गुरू देव ने भेज दिया है, यहां क्या उपदेश मिलेगा? यह बिचारे सेठ जी स्वयं उपदेश के पात्र हैं, यह तो स्वयं ही जाल में फंसे बैठे हैं, ये क्या जानें कि कल्याण किस चिड़िया का नाम है, फिर भी रहना तो पड़ेगा ही, गुरु की आज्ञा जो है। दो महीने बीत गये, पर सेठ जी की जबान से एक शब्द भी उपदेश का न निकला, फिर वही पहले वाले विचार घूमने लगे हृदय पट पर। इसी प्रकार विचारों के हिंडोले में झूलता अन्तरंग में निराश सा व्यर्थ समय गवां रहा था-बेचारा।

और एक महीने पश्चात् एक मुनीमजी घबराये हुए आए सेठ जी के पास, मुंह से वाक्य न निकलते थे बेचारे के, कुछ साहस करके बोले कि "चार करोड़ का माल जहाज से भेजा था, समाचार आया है कि जहाज़ डूब गया है।" सेठ जी अत्यन्त शांत रहते हुए ही बोले, "तो क्या हुआ? प्रभु की कृपा है, जाओ अपना काम करो।" एक छोटा सा वाक्य था, वाक्य से ध्वनित कुछ सन्तोष, तथा शाँत मुखाकृति, पूर्व वत् ही अपने काम में संलग्नता, मानों कुछ हुआ ही नहीं। जिज्ञासु ने वह सब सुना व देखा, दो महीने पश्चात् आज उसे कुछ ऐसा लग रहा था, कि कोई उसे बहुत बड़ा उपदेश दे रहा है, विचार निमग्न वह सहमा सा बैठा ही रह गया।

और दो महीने बीत गये, एक दिन पुनः एक घटना घटी। मुनीम जी दौड़े आ रहे हैं, हांपते हुए, मानों दो मील से चले आ रहे हों, मस्तक पर पसीने की बूंदे, आंखों में हर्ष, होंठों पर मुस्कराहट "सेठ जी, बड़ा हर्ष का दिन है, भाग्य जाग गये।" "अरे, कुछ हुआ भी?" सेठ जी ने पूछा और मुनीम जी जल्दी जल्दी बोल गये, "अमुक सौदे में दस करोड़ का लाभ, अभी तार आया है, यह लीजिये।" सेठ जी आज भी शांत थे। बोले "तो क्या हुआ? प्रभु की कृपा है, जाओ अपना काम करो।" वही दो शब्द वही संतोष, वैसी ही शांत मुखाकृति, वैसी ही पूर्व वत् काम में संलग्नता मानों कुछ हुआ ही नहीं। आज तो जिज्ञासु के आश्चर्य का पारावार न रहा, उसे मिल चुका था वह उपदेश जिसके लिए वह गुरु के पास गया था—साम्यता का आदर्श। चुप रहा न गया और पूछ ही बैठा।

"सेठ जी ! मैं क्या देख रहा हूँ, कुछ अनोखी सी बात ? चार करोड़ की हानि में भी वही बात और १० करोड़ के लाभ में भी वही बात ? कुछ विश्वास नहीं आता।" तुझको आश्चर्य हो रहा है जिज्ञासु परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मेरी दृष्टि को न पहिचान सकना ही इसका कारण है। लाभ हानि का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं, क्योंकि बाहर से सर्व आडम्बर का स्वामी भले दीख रहा हूँ पर अन्तरंग में मैं केवल इसका मैनेजर हूँ, व्यापार तो प्रभु का है। सारे विश्व में उसके व्यापार की अनेकों शाखायें हैं कभी इस शाखा से वह रुपया उस शाखा में भेज देता है और कभी उस शाखा से इस शाखा में। मैं तो केवल नाम लिख देता हूँ, या जमा कर देता हूँ, और बातों से मुझे क्या मतलब है?" और समझ गया वह जिज्ञासु साम्यता का रहस्यार्थ, जो शब्दों पर से तीन काल में भी समझाना सम्भव नहीं था।

इसी प्रकार पूर्ण आदर्श व जीवन पर से समझी जा सकती है पूर्ण शान्ति।

१२ पूजा में कर्त्तावाद क्यों

चौथा प्रश्न भी बहुत सुन्दर है कि बिना अपनी शान्ति दिये वह मुझे शांति का स्वाद कैसे चखा सकते हैं ? जैसा कि ऊपर बता दिया गया है वह अपनी शान्ति का स्वयं उपभोग करने में समर्थ है मुझे देने में नहीं। परन्तु उपरोक्त प्रकार अनुमान के आधार पर शाँति सम्बन्धी कुछ परिचय प्राप्त करके, मैं भी अपने जीवन में, अपने सम्भाषण में, वैसे वैसे ही रूप से वर्तने का प्रयत्न करने लगता हूँ। उसकी मुखाकृति पर से उसकी अन्तरमुखी दृष्टि का अनुमान करके स्वयं भी अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करने लगता हूँ। जैसा कि आगे के प्रकरणों में स्पष्ट हो जायेगा और अपने इस प्रयत्न में दृढ़ रहते हुए कुछ समय पश्चात स्वयं उस अमृत का स्वाद अवश्य चख सकता हूँ। इतनी ही कुछ मेरे प्रयोजन में उससे सहायता मिलती है और इस सहायता के कारण ही "यह शान्ति उसने दी है", ऐसा कहा जा सकता है, जो केवल उपचार है।

यहाँ एक और प्रश्न उठ सकता है कि जब वह कुछ दे नहीं सकता तो "हे प्रभु मुझे शान्ति प्रदान कीजिये" इस प्रकार के शब्दों के द्वारा भक्ति क्यों की जाती है? ठीक है, सैद्धांतिक रूप से इसका कोई अर्थ नहीं है। इन शब्दों को सत्यार्थ मानकर प्रभु को शान्ति या अशान्ति अथवा दुःख या सुख देनेवाला समझ बैठना भ्रम है, परतन्त्रता है, पुरुषार्थ हीनता है, स्व पर भेद से अनभिज्ञता है। ऐसा समझने वाला व्यक्ति सच्चे देव को आदर्श रूप से स्वीकार कर लेने पर भी, शान्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। क्योंकि देव ही प्रसन्न होकर मेरा प्रयोजन सिद्ध कर देंगे, मुझे तो स्वयं कुछ करना न पड़ेगा, ऐसा अभिप्राय रखने के कारण वह उपरोक्त प्रकार न अपने जीवन में कुछ विशेष परिवर्तन का प्रयत्न करेगा, और न उसे वह प्राप्ति होगी।

स्वयं अपने उद्यम द्वारा अपने में से उत्पन्न की गई होने पर भी, बहुमान वश कृतज्ञता प्रकट करने के लिये, तथा उस उत्कृष्ट आदर्श के सामने अपनी इस हीन दशा को रख कर दोनों में महान अन्तर देखने के कारण, यह कहने में अवश्य आता है कि, "यह महान विभूति आपने ही प्रदान की है, यदि आप न देते तो मुझ अधम के द्वारा यह प्राप्त की जानी कैसे सम्भव थी", इत्यादि। बिलकुल उसी प्रकार जैसे कि बहुमान सम्बन्धी कल के दृष्टांत में सेठ पुत्र के मुख से अपने चचा के प्रति कहा गया था, और आप भी निरभिमानता दिखाने के अर्थ जिस प्रकार ऐसा कहते सुने जाते हो कि "आपकी

कृपा से ही सफल हो जायेगा यह काम, यह आपका ही बालक है, यह आपका ही मकान है" इत्यादि। शब्दों में कहे जाने पर भी उनका अर्थ वैसा नहीं होता जैसा कि शब्दों पर से ध्वनित होता है, बस तो इसी प्रकार भक्ति के सम्बन्ध में समझना। शब्दों में सब अपने ऊंच नीच कर्मों के कर्ता हर्ता, प्रभु को ही भक्ति व निराभिमानता व कृतज्ञता वश, कहने में भले आओ, पर उसका अर्थ यह ग्रहण नहीं करना चाहिये कि यह कुछ दे रहे हैं या दे देंगे।

मुज़फ्फ़रनगर दिनांक २१ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ४१

१३ पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों

देव पूजा के प्रकरण में यह पांचवां प्रश्न है, "पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों? प्रश्न बहुत सुन्दर व स्वाभाविक है, तनिक विचार करने पर उत्तर भी अपने अन्दर से लिया जा सकता है। वास्तव में ही प्रतिमा की आवश्यकता न होती, यदि साक्षात् देव मेरे समक्ष होते। साक्षात् की तो बात नहीं, यहां तो आस पास भी देखने में नहीं आते, और न ही उनके साक्षात् निकट में होने की सम्भावना ही है और यदि आस पास में ही कहीं होते भी तो इतने बड़े विश्व में वह अकेले सब के प्रयोजन की सिद्धि कैसे कर सकते, अर्थात् विश्व के सर्व व्यक्ति उनके दर्शन कैसे कर सकते। व्यक्ति असंख्यात और देव एक और यदि दो तीन दश पांच आदि भी हों तोभी सभीकी अभिलाषा पूर्ण न होती। यदि एक दिन के दर्शन मात्र से काम चल जाता, तो भी सम्भवतः यह अभिलाषा जीवित देव की उपस्थिति में शांत हो जाती, परन्तु ऐसा तो नहीं है। यह अभिलाषा तो नित्य की है और देव किसी एक या कुछ मात्र व्यक्तियों के लिये बन्धकर एक ही स्थान पर रहें, यह कैसे हो सकता है।

इसलिये कोई भी कृत्रिम मार्ग निकालना ही होगा। हम मनुष्य हैं, बुद्धिमान हैं। तिर्यञ्च होते, पशु पक्षी होते, तो सम्भवतः इच्छा होते भी कुछ न कर सकते, परन्तु हम तो बहुत कुछ कर सकते हैं। अतः कृत्रिम देव की स्थापना कर अपना काम चला सकते हैं, उसी कृत्रिम देव का नाम है प्रतिमा। प्रतिमा अर्थात् जो देव की ही प्रतिकृति है, उसका ही प्रतिबिम्ब है, भले जड़ हो, पाषाण की हो, पर इस प्रकार की कोई भी प्रतिमा जिसकी आकृति उनके शरीर की बाह्य आकृति के बिल्कुल सदृश हो, मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर देती है। क्योंकि मेरा तथा आप सबका कुछ ऐसा ही स्वभाव है, कि किसी व्यक्ति का चित्र देख कर या उसका नाम सुन कर भी कुछ कुछ उसी प्रकार के भाव चित्त में उत्पन्न होने लगते हैं, जैसे कि उस व्यक्ति विशेष के साक्षात् होने पर उत्पन्न होते हैं। यह तो स्वाभाविक मनोविज्ञान है।

१४ चित्रका मन पर प्रभाव

अपने विचारों पर मैं जड़ चित्रों का प्रभाव नित्य ही देखता हूँ। एक कागज़ पर खिचे दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर हरण देख कर कुछ रोना सा आ जाता है। रानी झांसी व महाराणा प्रताप का चित्र देख कर मानों मेरी भुजायें ही फड़कने लगती हैं। अपने शत्रु का चित्र देख कर मन में, कुछ द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सिनेमा में पड़दे पर चलने फिरने वाली उन कुछ प्रकाश

की रेखाओं मात्र को एक क्षणिक चित्र के रूप में देखने से क्या होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। यदि कुछ न हुआ होता तो धन खर्च करके देखने वाले व्यर्थ ही वहाँ नींद न खोते। अभी किसी चित्र विशेष को देख कर मानों मुझे रोना आ जाता है। क्या कारण है ? वह भी तो चित्र ही है, जड़ चित्र, जो एक क्षण भी सामने टिकता नहीं। किसी के प्रति द्वेष हो जाने पर उसके चित्र की अविनय करने का भाव क्यों आता है-मेरे हृदय में, कागज पर खिंची दो चार लकीरें ही तो हैं। स्वयंबर में संयोगता ने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में माला क्या समझ कर डाल दी थी ? अपने उपास्य देव या स्वयं अपने चित्र को जूतों में पड़ा देख कर क्यों दुःख सा होने लगता है मुझे ? अपने कमरों को चित्रों के द्वारा क्यों सजाता हूँ— मैं ? यदि सजाऊँ भी तो, जो कोई भी चित्र क्यों टांग नहीं देता, अपनी रुचि के अनुसार ही क्यों टांगता हूँ ? इत्यादि सर्व दृष्टांतों पर से एक जड़ चित्र का मेरे मन पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह बात स्पष्ट प्रगट हो जाती है। वैसे ही देव के चित्र को देख कर स्वाभाविक रीति से ही मेरे मन पर कुछ अद्वितीय प्रभाव पड़ता है।

और इस प्रभाव में और भी कई गुणी वृद्धि हो जाती है जब कि मैं इसमें अपनी कुछ विशेष कल्पनाओं को डाल देता हूँ। जैसे दश पांच सूत के धागों की बनी इस देश की ध्वजा को ऊंचे पर लहराते देख कर मानों मेरा रोम रोम फूल उठता है, और इस छोटे से वस्त्र के टुकड़े को अपमानित होता देख कर मुझे स्वतः ही क्रोध आ जाता है। क्या कारण है ? किसी जानकार व्यक्ति की तो बात ही नहीं, किसी व्यक्ति का या देश नगर ग्रामादि का चित्र भी तो नहीं है, केवल एक कपड़े का टुकड़ा ही तो है वह। परन्तु ऐसी बात चित्त में होती अवश्य है और जिस बात का साक्षात् वेदन हो उससे नकार कैसे की जा सकता है। इसका कारण यही है कि बजाज की दुकान पर रहने तक ही वह साधारण वस्त्र था, परन्तु आज तो मेरी कुछ कल्पनाओं का आधार होने के कारण वह साधारण वस्त्र नहीं रहा है, वह बन गया है देश की लाज। यह शक्ति उस जड़ वस्त्र में नहीं बल्कि मेरी कल्पनाओं में है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ी के टुकड़े आदि में भी मैं देव की कल्पना करके उसी प्रकार का भाव उत्पन्न कर सकता हूँ, जैसा कि जीवित देव को देखने से होता है और यदि वह पत्थर व लकड़ी का टुकड़ा देव की आकृति के अनुरूप ही हो तो सोने पर सुहागा है। आकृति आपेक्षा और आकृति निरपेक्ष दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें आज हमारे देखने में आती हैं। जैसे शतरंज के खेल में लकड़ी की कुछ गोटों में हाथी घोड़े व राजा आदि की कल्पना की जाती है, वह आकृति निरपेक्ष है और वीतरागी शान्त देव की प्रतिमा आकृति सापेक्ष है। परन्तु आकृति सापेक्ष का जो प्रभाव सहज ही पड़ता प्रतीत होता है वह आकृति निरपेक्ष में अनुभव करने में नहीं आता, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि आकृति निरपेक्ष को देख कर मुझे बुद्धिपूर्वक ही उन कल्पनाओं की याद करने के लिये अधिक जोर लगाना पड़ता है, और आकृति सापेक्ष को देखते ही वे कल्पनायें अबुद्धि पूर्वक स्वतः जागृत हो उठती हैं। खैर कुछ भी हो यहां तो केवल इतना सिद्ध करना था कि प्रतिमा का कोई प्रभाव न पड़ता हो, ऐसा नहीं है, उसका हमारी बुद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त बातों पर से तीन सिद्धान्त निकलते हैं। एक तो यह कि किसी चित्र का मेरी मनोवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दूसरा यह कि किसी भी वस्तु में कल्पना विशेष कर लेने पर उस वस्तु में मुझे तद्वत् सा ही भाव दीखने लगता है, और तीसरा यह कि आकृति सापेक्ष प्रतिमा से मेरे चित्त पर आकृति निरपेक्ष प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। और जिस प्रतिमा को आज

मैंने अपने सामने अपना उपास्य बना कर रखा है उसमें यह तीनों ही बातें पाई जाती हैं। प्रतिमा तो वह है ही चाहे पाषाण की हो या धातु की या लकड़ी की या कागज पर खिंची चित्र रूप, इसके अतिरिक्त उसमें वीतराग आकृति का ज्यों का त्यों आकार या प्रतिबिम्ब भी विद्यमान है और मैंने अपनी कुछ विशेष कल्पनायें भी इसमें उंड़ेली हुई हैं। अतः आज जीवित देव या उस प्रतिमा में मेरे लिये कोई अन्तर नहीं रह गया है।

१५ वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता

भो कल्याणार्थी ! इस संशय को दूर कर, आ मेरे साथ और देख कि प्रतिमा में क्या दिखाई देता है। आज तक तूने इसे पाषाण की प्रतिमा के रूप में देखा है, आ, आज मैं इसे जीवित रूप में दिखाता हूं; आज तक प्रतिमा के दर्शन किये हैं, आ, मैं जीवित देव के दर्शन कराता हूं। अपनी दृष्टि से नहीं मेरी दृष्टि से देख कि यह प्रतिमा कहां है यह तो साक्षात् देव विराजमान हैं, जीवित देव, वही वीतरागी शान्त मुद्रा धारी देव जिनके दर्शन कि परसों बन में किये थे। देख गौर से देख यह वही तो है, क्या अन्तर है इसमें तथा उनमें ? उनकी मुखाकृति भी सौम्य, सरल व शान्त थी और इनकी भी वैसी ही है, उनके होठों पर भी मीठी मुस्कराहट थी और इनके होठों पर भी वैसी ही है, उनके शरीर पर भी वस्त्र नहीं था और इनके शरीर पर भी नहीं है, उनके भी रोम रोम से शान्ति टपकती थी और इनके भी रोम रोम से शान्ति टपकती है। वह भी मौन थे और यह भी मौन है, वह भी निश्चल थे और यह भी निश्चल हैं, वह भी वन्दक व निन्दक में हर्ष विषाद रहित समान थे और यह भी वैसी ही है। उनके दर्शन करने पर भी उनके चैतन्य का साक्षात्कार नहीं हो रहा था और इसके दर्शन पर भी चैतन्य का साक्षात्कार नहीं हो रहा है। ऊपर से वह भी जड़ वत् ही भासते थे और यह भी वैसे ही दीख रहे हैं। वहां भी अनुमान के आधार पर शान्ति को पढ़ा जा रहा था और यहां भी अनुमान के आधार पर शांति को पढ़ा जा रहा है। अन्तर क्या है ? केवल इतना ही न, कि वह चमड़े की प्रतिमा थी और यह पाषाण की। परन्तु वहां तो तेरी दृष्टि में चमड़ा न आकर देव ही आया था, एक शांत जीवन ही आया था। यहाँ क्यों तेरी दृष्टि में पाषाण आता है ? क्यों उसी दृष्टि से यहां भी नहीं देखता ? इनका ऊपरी रूप न देख कर इनके अन्तरंग में घुस और इन कल्पनाओं के आधार पर जो कि मैंने इनमें डाली हुई हैं, इनके जीवन ही को देखने का प्रयत्न कर, तब देखना कि यह जड़ दिखाई न देंगे, साक्षात् चेतन दिखाई देंगे।

१६ कल्पनाओं का बल

कल्पनाओं में महान बल है, शेख चिल्ली कुछ कल्पनाओं के बल पर ही राजा बन बैठा और लात चला दी अपनी काल्पनिक स्त्री पर। शेख चिल्ली की ही बात न समझना, वास्तवमें हम सब शेख चिल्ली हैं क्योंकि सुबह से शाम तक वैसी ही कल्पनायें किया करते हैं। बेटा हो जायेगा, उसका विवाह कर देंगे, सुन्दर सी एक बहू घर में आयेगी, पो ा हो जायेगा, मेरी गोद में आकर खेलेगा, तुतला तुतला कर बोलेगा, कितना प्यारा लगेगा, कुछ बड़ा होकर 'बाबा जी' कह कर पुकारेगा मुझे ! अहा ! मानों में किसी दूसरे लोक में पहुंच जाऊंगा, कितना सुन्दर होगा वह दिन, कब आयेगा वह दिन ? यह सब शेखचिल्ली की कल्पनायें नहीं तो क्या है ? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानों असली दृश्य ही सामने हो। एक व्यभिचारी केवल कल्पनाओं के आधार पर अपनी प्रेमिका के घर पर पहुंच जाता है, और प्रेम से उसका अंग स्पर्शता हुआ कल्पना में ही व्यभिचार सेवन करता है, ये शेख चिल्ली की कल्पनायें नहीं तो क्या हैं ? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानों

असली प्रेमिका का ही साक्षात् स्पर्श हो रहा हो। इसी प्रकार की अनेकों रागवर्धक कल्पनायें कर करके नित्य ही, कभी हर्ष का तो कभी विषाद का अनुभव किया करता हूं। ऐसा होता सबको प्रतीत होता है, फिर भी इस सत्य के प्रति नकार क्यों ? प्रतिमा के प्रभाव व कल्पनाओं की शक्ति के प्रति आज जो नकार तुझे वर्त रहा है उसके पीछे कोई पक्षपात छिपा बैठा है, कोई सम्प्रदाय पुकार रहा है। तू एक वैज्ञानिक बन कर निकला है साम्प्रदायिक नहीं। एक वैज्ञानिक है तो पक्षपात को अब धो डाल और इस मनोविज्ञान से कुछ लाभ उठा।

आज तक इस मनोविज्ञान का दूसरी दिशा में प्रयोग करता आया है, आज उसी का प्रयोग इस दिशा में कर। देख तुझे साक्षात् देव के दर्शन होते हैं, शान्ति के दर्शन होते हैं। आज तक वैज्ञानिक बन कर दर्शन किये नहीं, साम्प्रदायिक बन कर ही दर्शन करता रहा है और इसी लिये ऊपर की शंकायें उत्पन्न हो रही हैं। अभिप्राय के तनिक से फेर से क्रिया में महान अन्तर पड़ जाता है, अतः अभिप्राय को ठीक बना कर आगे बढ़। पहले ही इस दिशा में काफी समझा दिया गया है-तुझे, आ, और देख इस प्रतिमा में जीवित देव।

मुजफ्फरनगर दिनांक २६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४२

१७ प्रतिमा व जीवित देव में समानता — देव पूजा के सम्बन्ध में बात चलती है। अन्तरंग व बाह्य पूजा का चित्रण खेंच दिया गया, अब यह देखना है कि प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन कैसे किये जायें ? आओ चलें, यह लो आ गया भगवान का समवशरण, गन्धकुटी पर विराजमान साक्षात् वीतराग देव, वह देखो सामने वीतराग प्रभु कितनी शान्त मुद्रा में स्थित हैं। वेदी में नहीं समवशरण में बैठे हैं, वेदी पर दृष्टि न कीजिये केवल प्रतिमा पर लक्ष्य दीजिये—जैसे धनुर्धर अर्जुन की दृष्टि में कौवे की आंख ही आती थी उसी प्रकार। यह जीवित ही तो हैं, जिन्हें बन में देखा था वही तो हैं—वही मुखाकृति, वही वीतरागता, वही सरलता वही शान्ति, वही मधुर मुस्कान, वही निश्चल आसन, वही मौन, वही नसाग्रदृष्टि, वही निर्भीक नग्न रूप, वही निश्चिन्तता, वही अलौकिक तेज, वही आकर्षण।

१८ देव के प्रति बहुमान व भक्ति — आहा हा ! धन्य हुआ जा रहा हूं आज-मैं, परम सौभाग्य से मिला है यह दुर्लभ अवसर। जिनके दर्शनों को बड़े बड़े इन्द्र तरसते हैं, सर्वार्थ-सिद्धि के अहमिन्द्र को भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं है। आहा हा ! आज मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ है, आज मैं इस विश्व में सबसे ऊंचा हूं, आज से पहले अधम था, नीच था, पापी था, पर आज —आज न पूछिये। मुझे यह बताने को भी अवकाश नहीं कि आज मैं सर्वार्थ सिद्धि के इन्द्रों से भी ऊंचा हूं, आज मुझे कुछ अन्य बातें विचारने का अवकाश नहीं किसी की बात सुनने का अवकाश नहीं, बोलने का अवकाश नहीं। अरे ! पलक झपकने तक का अवकाश नहीं-आज मुझे। अरे मन ! जरा चुप रह, देख नहीं रहा है कि आज मेरे देव आये हैं-मेरे आंगन में। अरे ! जवाहर लाल नेहरू तेरे घर पर आजायें तो तू पागल बन

जाये, सोचने को भी अवकाश न रहे, कि क्या करूं कहाँ बिठाऊं इनको ? और आज तीन लोक के के पति, त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ, पधारे हैं तेरे घर, तो तुझे अपने राग अलापने की पड़ी है, लाज नहीं आती। देख देख सावधान हो, प्रभु को बैठाने के लिये स्थान बना, घबरा नहीं, तेरे पास है प्रभु के योग्य स्थान।

आइये नाथ, आइये ! इस अधम का आंगन पवित्र कीजिये, यहां विराजिये यहां विराजिये-इस मेरे हृदय मन्दिर में। भगवन् ! देखिये तो कितना सुन्दर बनाया है इसे सर्व संकल्प विकल्पों का कूड़ा कर्कट निकाल कर-कितना उज्वल, धुला धुलाया तथा पवित्र पड़ा है यह-केवल आपकी प्रतीक्षा में, कि अब आयें मेरे प्रभु और कृतार्थ करें मुझ अधम को। आहा हा ! मानों आज मैं सामान्य व्यक्ति नहीं हूं, मेरे पांव आज पृथ्वी पर नहीं पड़ते, मेरे घर में विराजे हैं त्रिलोकाधीश। आज मैं गर्व के मारे उड़ा जा रहा हूं आकाश में। आज मेरे आँगन में भीड़ लगी दर्शनार्थियोंकी इन्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त होगा। आप खड़े न रहिये भगवन ! बैठ जाइये, इस मन के जड़ित आसन पर, आपके लिये ही तो बिछाया था इसे। आहा हा ! आज पावन भये हैं नेत्र मेरे, मैं हुआ पूर्ण धनी। मेरा जीवन पावन हो गया, मेरा जन्म पावन हो गया, मेरा तन पावन हो गया, मेरा मन पावन हो गया, मेरा हृदय पावन हो गया, मैं सारा पावन हो गया, कृतकृत्य हो गया। मेरे आंगन पधारे हैं भगवान, शांति के देवता, मेरे उपास्य, मेरे लक्ष्य, मेरे आदर्श।

१६ प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर अरे ठहर ठहर रे मन! अभी मत बोल, बीच में अपनी टांग अड़ाये बिना क्या एक क्षण भी नहीं बैठ सकता, बड़ा चंचल है तू, जरा प्रभु की ओर देख, इतना निर्लज्ज न बन, कब कब पधारते हैं प्रभु। सुन तनिक कान लगा कर सुन, देख प्रभु मुझ से बातें कर रहे हैं-'अरे तू भी तो अपना जीवन सफल बना ले, यह अवसर फिर मिलना कठिन है। अहा हा ! कितनी मिष्ट है प्रभु की वाणी मानो अमृत ही वर्ष रहा है। मेरी तो बात ही क्या, नरक में पड़े जीवों को भी तो कुछ चैन सी पड़ जाती है ऐसे समय में। तीन लोक तृप्तिकर यह अमृत गंगा। अरे मन ! तनिक अपना ढकना तो खोल और ले इस गंगा को भरले अपने में। याद रख, फिर न मिलेगी इसकी शीतल धारा, तरसता रह जायेगा। बहुत स्थान है तेरी गहनता में, सब की सब समाले अपने अन्दर, देख एक बूंद भी न बिखरने पायें और ले, अब बेसुध हो कर करने लगा-मैं अमृत का पान। भगवन बोले —

क्या देखा तूने अधरों में ?........................एक शान्त मुस्कान।

क्या देखा तूने नेत्रों में ?........................इस ही का सम्मान।

क्या देखा कर-कमलों में ?........................लक्ष्य सिद्धि आल्हाद।

क्या सुनता है इन कानों में ?........................मधुर तृप्ति का नाद।

क्या देख रहा मेरे मन में ?........................शान्ति सखी का नृत्य।

क्या दीख रहा तुझ को तन में ?........................शान्ति नगर का दृश्य।

आओ सखा ! इस शान्ति नगर के क्षण भर यात्री बन जाओ।

मैं ने कहा— आता हूं भगवन् ! रुक जाओ, लो हाथ पकड़ कर अपनाओ।

और फिर प्रभु बोले—

कैसा लगता है अब तुझको ?......................मैं तुम एक हुए मानों।

कुछ इच्छा है तो कह डालो ?......................क्या कहूं नाथ, अब मत बोलो।

क्या कह रहा है यह बन्दक ?......................होंगे कोई मुझे क्या इनसे।

जा जा, इनकी कुछ तो सुनले ?......................इनका नाता ही क्या मुझसे।

कुछ इच्छा है तो अब भी कहदे ?......................बस प्रभु मैं तृप्त हो गया, कृतकृत्य होगया

नेत्र बन्द किये मानों मैं प्रभु में मिल चुका था, दीन दुनिया की खबर न थी। मैं था और थे मेरे शान्ति आदर्श वीतराग प्रभु। और फिर वही मन। अरे मन ! तेरा भला हो तू अपनी चंचलता से बाज न आया, आखिर वही किया जो तुझे करना था। घसीट ही लिया मुझे, अच्छा करले जो कुछ करना है, अपनी बदकारी में कमी मत रख, सब अरमान निकाल ले। आखिर कब तक ? एक दिन बिदा लेनी होगी तुझे, बान्ध ले अपना बिस्तरा बोरिया, अब अधिक दिन नहीं निभेगा मेरा साथ, मेरा रास्ता यह और तेरा रास्ता वह। प्रभु को भुला देना तो अब तेरी सामर्थ्य से बाहर हो चुका है क्योंकि अब मैं कर चुका हूं प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन, अब यह मेरे लिये पाषाण नहीं हैं, भगवान हैं।

२० पंच कल्याणक महत्व

अब तक भले भूला रहा हूं पर अब मुझे सब पिछली बातें याद आ गई हैं। वह दृष्य मेरी आंखों के सामने घूम रहा है, जब कि प्रभु ने माता की कोख में प्रवेश किया था। मेरे सामने ही इनका जन्म हुआ था। वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है, जबकि आपका राजतिलक हुआ था, और इनकी प्रजा का एक अंग बन के मैं सुख पूर्वक जीवन बिताता था। आहा हा ! वह दिन तो मानों कल ही गुजरा है। क्या दृश्य था वह ? चहूं ओर वैराग्य व वीतरागता, लौकान्तिक देवों का वह सम्बोधन, मेरे कानों में आज भी गूंज रहा है, प्रभु को वैराग्य आ गया था उस दिन, राज पाट को ठुकरा व नीची गर्दन किये बन की ओर चल पड़े थे मुझ से रहा न गया, पालकी उठा लाया, प्रभु को बैठाया और ले चला कुछ दूर अपने कन्धों पर। ओह! कितना उत्साह था उस दिन मुझ में, जैसे कि आज ही मैं भी घर छोड़ कर चल दूं-प्रभु के पीछे। पर मेरा दुर्भाग्य मैं न जा सका, प्रभु चले गये और मैं देखता ही रह गया। कितनी उदासीन थी सारी प्रजा ? पर प्रभु प्रसन्न थे, शान्त थे मानों चले हों किसी स्वयंबर में।

यह दृश्य तो मानों मेरी आंखों के सामने ही हो रहा है। देखो देखो, क्या नहीं दीख रहा है तुम्हें ? लो इन आंखों से देखो, वह प्रभु बैठे किस तरह घास फूस की भांति अपने केश नोच कर फैंक रहे हैं और मैंने इन ही हाथों से समेटे थे उनके बाल। ध्यान में निश्चल हुए वे योगी यही तो हैं जिनके शरीर पर खाज खुजाता हुआ एक मृग मैंने देखा था और वह दिन मानों जब तीनों लोक झंकार उठे थे, चहुं ओर ही युगपत गूंजने वाली दुंदुभि बाजों की ध्वनि मानों आकाश को फाड़ने का प्रयत्न कर रही थी। उस दिन उत्पन्न हुआ था भगवान को वह ज्ञान, जिसके प्रकाश में मानों वह तीनों लोकों को तीनों कालों में प्रत्यक्ष देख रहे थे-अपने हृदय पट पर। वह अलौकिक तेज जिसमें कि मुझे भी दिखाई देने लगे थे-अपने सात भव। आहा हा ! कैसी महिमा थी उस समय भगवान की मानों तीन

लोक की सम्पत्ति ही सिमट आई थी उनके चरणों में। मैं तो क्या, सहस्र जिह्वा भी उनका वर्णन करने में असमर्थ हैं और अन्त का वह दिन जब भगवन विदा ले रहे थे, हम सब से—सदा के लिये। मानों अनाथ बना चले थे हम सबको, मैं रो रहा था—उस समय। न जाने क्यों? सम्भवतः इसलिये कि मैं भी कभी ले सकूंगा ऐसी विदा।

और आज वही प्रभु हैं मेरे सामने मानों इस अनाथ की सुध लेने आये हैं, कि भूल न बैठा हो कहीं उस अन्तिम रुदन के भाव को और वास्तव में था भी वैसा ही। प्रभु से क्या छिपा है? मैं तो भूल ही बैठा था सब कुछ, यहां तक कि प्रभु भी पाषाण दिखाई देने लगे थे अब मुझे, सोते को जगा दिया प्रभु ने। भगवन! आप न आते तो न जाने क्या होता मेरा? इस भव में अपने हाथों से की हुई सब क्रियाओं को अपनी आंखों से देखे हुए सब दृश्यों को, अपने कानों से सुने हुए शब्दों को इसी भव में भूल गया। यदि आज आपके दर्शन न होते तो आगे क्या होता? तभी तो कहते हैं आपको करुणा सिन्धु, भक्त प्रतिपालक, अधमोद्धारक।

२१ प्रतिमा क्या और कैसे देती है

अरे भोले प्राणी! अब भी समझ न पाया कि क्या दे दिया इस प्रतिमा ने? कितनी सामर्थ्य है दृष्टि में आने वाली इस पाषाण की मूर्ति में। भावना शून्य तुझे दिखाई ही कैसे देगी वह सामर्थ्य, पक्षपात के गहन अन्धकार में मुंद गई हैं तेरी आंखें। शान्ति के दर्शन कर-उपरोक्त प्रकार तन्मय होकर, तब पता चले कि क्या देती है यह प्रतिमा, कितनी सामर्थ्य है इसमें। ठीक है यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती क्योंकि जड़ है, परन्तु मेरी रक्षा अवश्य कर सकती है। हाथ कंगन को आरसी क्या? करके देख उपरोक्त प्रकार से इसके दर्शन। यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं करती तो क्या आश्चर्य, वह जीवित प्रभु भी तो, जिनकी कि यह आकृति है स्वयं नहीं करते थे अपने शरीर की रक्षा। अनेक शक्तियों व ऋद्धियों के भण्डार होते हुए भी, इस पृथ्वी को एक अंगुली पर घुमा देने की शक्ति रखते हुए भी वे नहीं करते थे स्वयं अपने शरीर की रक्षा। वे नित्य जागृत रहा करते थे अपनी रक्षा के लिये, निज शान्ति की रक्षा के लिये, और यह प्रतिमा भी बराबर कर रही है अपनी रक्षा उन्हीं की भांति।

प्रभु! इस अन्धकार में तुझे कैसे सूझे कि किसे कहते हैं अपनी रक्षा? एक ओर कह रहा है शरीर और आत्मा भिन्न हैं और दूसरी ओर कह रहा है कि शरीर की रक्षा ही मेरी रक्षा है। भला कहां है विश्वास तुझे स्वयं अपनी बात पर? प्रभु का विश्वास तुझ जैसा पोच न था, वे दृढ़ थे इस बात पर कि वे चैतन्य हैं अन्य कुछ नहीं, शरीर का उनका कोई नाता नहीं तनिक भी। फिर बता इसकी रक्षा क्यों करते? और कदाचित् उपकार बुद्धि से भी कर देते, यदि इसकी रक्षा करते हुए स्वयं अरक्षित न होते। समझ भगवन समझ! शरीर की रक्षा क्या बिना इसके प्रति का राग आये सम्भव है? और राग आने पर क्या शान्ति सुरक्षित रह सकती है? वह शान्ति जिसके लिये कि इतना पुरुषार्थ किया है उन्होंने तो फिर बता शरीर की रक्षा के लिये अर्थात् एक ऐसी वस्तु की रक्षा के लिये जो उनके लिये उस समय बिलकुल निष्प्रयोजन बन चुकी थी, राग उठा कर अपनी शान्ति का घात करना, निधि लुटा देना, अपने हाथों अपने घर में आग लगा देना, कौन बुद्धिमत्ता थी और प्रभु ऐसी मूर्खता क्यों करते, बस वही आदर्श तो उपस्थित कर रही है वह प्रतिमा। निश्चल ध्यान अवस्था

में स्थित, अन्तर तथा बाह्य विकल्पों से रहित, उस समय प्रभु भी तो जड़वत् ही दीखते थे। क्या भूल गया उस दिन को जब अपने मुंह से उस महायोगी को जड़ भरत कहकर पुकारा करता था? यदि यह प्रतिमा हो जड़वत् दीखती है तो क्या आश्चर्य हुआ।

२२ भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त

देव प्रतिमा सम्बन्धी महाभारत का प्रसिद्ध दृष्टान्त-- भले ही नीच कुलीन होने के कारण या 'मेरे द्वारा सिखाई गई धनुर्विद्या का दुरुपयोग न हो जाये,इसका प्रयोग पशु हिंसा के प्रति न हो जाये, इस कारण वश, गुरु द्रोणाचार्य ने उस भील को धनुर्विद्या देने से इन्कार कर दिया था। पर उसकी दृष्टि में तो गुरु द्रोणाचार्य उसके गुरु बन चुके थे। भले वह उसे अपना शिष्य स्वीकार न करते पर उसकी भावना कैसे बदल सकते थे? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष ही सही धनुर्विद्या अवश्य सीखूंगा, ऐसे दृढ़ संकल्प वाले उस भील ने बन में जाकर कच्ची मिट्टी से बनाई द्रोणाचार्य की प्रतिमा, और एक गुफा के मुख पर बड़ी विनय से विराजमान कर दिया उसे। तीन समय पुष्प चढ़ाता था उसके चरणों में, वह उसकी दृष्टि में प्रतिमा न थी, वे थे साक्षात् गुरु द्रोण। प्रतिमा से ही पूछ पूछ कर करने लगा धनुर्विद्या का अभ्यास। स्वयं अपने ही हृदय से प्रगट होने वाले लक्ष्य साधन के उपायों को यदि पहले ही से मान बैठता अपने, तो अभिमान हो जाता। 'गुरु द्रोण ही क्या करेंगे इसमें, मैं स्वयं ही सीख लूंगा' ऐसा भाव आ जाता और कभी न सीख सकता वह विद्या। परन्तु उसके हृदय में यह विकल्प ही न था, उसकी दृष्टि में तो थी गुरु की विनय। लक्ष्य चूक जाने पर गुरु से अर्थात् प्रतिमा से क्षमा मांग लेता और लक्ष्य सफल हो जाने पर उनके चरण छू लेता। वर्षों बीत गये इसी प्रकार करते पर एक क्षण को भी उसने उसे प्रतिमा रूप में न देखा। वे थे उसके साक्षात् गुरु और एक दिन सिद्धहस्त हो गया वह---अर्जुन की विद्या को भी शर्मा देने वाला।

अर्जुन से यह कैसे सहा जा सकता था कि गुरु द्रोण का यह शिष्य इस निगुरे भील से नीचा रह जाय? नहीं यह नहीं हो सकता, गुरु से जाकर कह ही दिया। गुरु आये और भील से पूछा, किन से सीखी है विद्या? गुरु को साक्षात सामने देख कर लेट गया उनके चरणों में। आहा हा! आखिर चले ही आये आप खिचे हुए, भक्त की भक्ति में इतनी सामर्थ्य है। "भगवन! और कोई नहीं आप ही हैं मेरे गुरु", यह था भील का उत्तर। गुरु द्रोण आश्चर्य में डूब गये। यह बात सत्य कैसे हो सकती है क्योंकि उन्होंने तो उसे विद्या देने से इन्कार कर दिया था। नहीं मैं नहीं हो सकता, यह झूठ बोलता है, छिपाना चाहता है अपने गुरु का नाम-मुझसे। भील ताड़ गया गुरु के मन की बात और ले गया उनको प्रतिमा के पास। यदि विश्वास न आता हो तो देख लीजिये, यह बैठे हैं मेरे गुरु और गुरु द्रोण पर खुल गया सारा रहस्य-जड़ प्रतिमा क्या दे सकती है और किस प्रकार दे सकती है, यह रहस्य।

भो कल्याणार्थी! अब पक्षपात तज, किसी दूसरे के लिये नहीं अपने लिये। 'मेरे मन में हैं भगवान, क्या करूंगा प्रतिमा के दर्शन करके' ऐसा बहाना छोड़ दे। स्वयं तेरी शांति का घात कर रहा है यह क्योंकि अब तक तूने भगवान के दर्शन किये ही कब हैं, जो तेरे हृदय में उनका वास सम्भव हो जाता। भगवान शब्द का नाम तो भगवान नहीं, भगवान जीवन का एक आदर्श है, जो तू इस प्रतिमा में पढ़ सकता है या साक्षात् भगवान में। भगवान वर्तमान में हैं नहीं, अतः उनके प्रतिनिधि इस प्रतिमा की अब शरण ले, और अपना कल्याण कर।

कृपा से ही सफल हो जायेगा यह काम, यह आपका ही बालक है, यह आपका ही मकान है" इत्यादि। शब्दों में कहे जाने पर भी उनका अर्थ वैसा नहीं होता जैसा कि शब्दों पर से ध्वनित होता है, बस तो इसी प्रकार भक्ति के सम्बन्ध में समझना। शब्दों में सब अपने ऊंच नीच कर्मों के कर्ता हर्ता, प्रभु को ही भक्ति व निराभिमानता व कृतज्ञता वश, कहने में भले आओ, पर उसका अर्थ यह ग्रहण नहीं करना चाहिये कि यह कुछ दे रहे हैं या दे देंगे।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनाँक २१ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ४१

१३ पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों

देव पूजा के प्रकरण में यह पांचवां प्रश्न है, "पूजा में प्रतिमा की आवश्यकता क्यों? प्रश्न बहुत सुन्दर व स्वाभाविक है, तनिक विचार करने पर उत्तर भी अपने अन्दर से लिया जा सकता है। वास्तव में ही प्रतिमा की आवश्यकता न होती, यदि साक्षात् देव मेरे समक्ष होते। साक्षात् की तो बात नहीं, यहां तो आस पास भी देखने में नहीं आते, और न ही उनके साक्षात् निकट में होने की सम्भावना ही है और यदि आस पास में हो कहीं होते भी तो इतने बड़े विश्व में वह अकेले सब के प्रयोजन की सिद्धि कैसे कर सकते, अर्थात् विश्व के सर्व व्यक्ति उनके दर्शन कैसे कर सकते। व्यक्ति असंख्यात और देव एक और यदि दो तीन दश पांच आदि भी हों तोभी सभीकी अभिलाषा पूर्ण न होती। यदि एक दिन के दर्शन मात्र से काम चल जाता, तो भी सम्भवतः यह अभिलाषा जीवित देव की उपस्थिति में शांत हो जाती, परन्तु ऐसा तो नहीं है। यह अभिलाषा तो नित्य की है और देव किसी एक या कुछ मात्र व्यक्तियों के लिये बन्धकर एक ही स्थान पर रहें, यह कैसे हो सकता है।

इसलिये कोई भी कृत्रिम मार्ग निकालना ही होगा। हम मनुष्य हैं, बुद्धिमान हैं। तिर्यञ्च होते, पशु पक्षी होते, तो सम्भवतः इच्छा होते भी कुछ न कर सकते, परन्तु हम तो बहुत कुछ कर सकते हैं। अतः कृत्रिम देव की स्थापना कर अपना काम चला सकते हैं, उसी कृत्रिम देव का नाम है प्रतिमा। प्रतिमा अर्थात् जो देव की ही प्रतिकृति है, उसका ही प्रतिबिम्ब है, भले जड़ हो, पाषाण की हो, पर इस प्रकार की कोई भी प्रतिमा जिसकी आकृति उनके शरीर की बाह्य आकृति के बिलकुल सदृश हो, मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर देती है। क्योंकि मेरा तथा आप सबका कुछ ऐसा ही स्वभाव है, कि किसी व्यक्ति का चित्र देख कर या उसका नाम सुन कर भी कुछ कुछ उसी प्रकार के भाव चित्त में उत्पन्न होने लगते हैं, जैसे कि उस व्यक्ति विशेष के साक्षात् होने पर उत्पन्न होते हैं। यह तो स्वाभाविक मनोविज्ञान है।

१४ चित्र का मन पर प्रभाव

अपने विचारों पर मैं जड़ चित्रों का प्रभाव नित्य ही देखता हूं। एक कागज़ पर खिंचे दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर हरण देख कर कुछ रोना सा आ जाता है। रानी झांसी व महाराणा प्रताप का चित्र देख कर मानों मेरी भुजायें ही फड़कने लगती हैं। अपने शत्रु का चित्र देख कर मन में, कुछ द्वेष उत्पन्न हो जाता है। सिनेमा में पड़दे पर चलने फिरने वाली उन कुछ प्रकाश

की रेखाओं मात्र को एक क्षणिक चित्र के रूप में देखने से क्या होता है, वह किसी से छिपा नहीं है। यदि कुछ न हुआ होता तो धन खर्च करके देखने वाले व्यर्थ ही वहाँ नींद न खोते। अभी किसी चित्र विशेष को देख कर मानों मुझे रोना आ जाता है। क्या कारण है ? वह भी तो चित्र ही है, जड़ चित्र, जो एक क्षण भी सामने टिकता नहीं। किसी के प्रति द्वेष हो जाने पर उसके चित्र की अविनय करने का भाव क्यों आता है-मेरे हृदय में, कागज पर खिची दो चार लकीरें ही तो हैं। स्वयंबर में संयोगता ने पृथ्वीराज की प्रतिमा के गले में माला क्या समझ कर डाल दी थी ? अपने उपास्य देव या स्वयं अपने चित्र को जूतों में पड़ा देख कर क्यों दुःख सा होने लगता है मुझे ? अपने कमरों को चित्रों के द्वारा क्यों सजाता हूँ— मैं ? यदि सजाऊँ भी तो, जो कोई भी चित्र क्यों टांग नहीं देता, अपनी रुचि के अनुसार ही क्यों टांगता हूँ ? इत्यादि सर्व दृष्टांतों पर से एक जड़ चित्र का मेरे मन पर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, यह बात स्पष्ट प्रगट हो जाती है। वैसे ही देव के चित्र को देख कर स्वाभाविक रीति से ही मेरे मन पर कुछ अद्वितीय प्रभाव पड़ता है।

और इस प्रभाव में और भी कई गुणी वृद्धि हो जाती है जब कि मैं इसमें अपनी कुछ विशेष कल्पनाओं को डाल देता हूँ। जैसे दश पांच सूत के धागों की बनी इस देश की ध्वजा को ऊंचे पर लहराते देख कर मानों मेरा रोम रोम फूल उठता है, और इस छोटे से वस्त्र के टुकड़े को अपमानित होता देख कर मुझे स्वतः ही क्रोध आ जाता है। क्या कारण है ? किसी जानकार व्यक्ति की तो बात ही नहीं, किसी व्यक्ति का या देश नगर ग्रामादि का चित्र भी तो नहीं है, केवल एक कपड़े का टुकड़ा ही तो है वह। परन्तु ऐसी बात चित्त में होती अवश्य है और जिस बात का साक्षात् वेदन हो उससे नकार कैसे की जा सकता है। इसका कारण यही है कि बजाज की दुकान पर रहने तक ही वह साधारण वस्त्र था, परन्तु आज तो मेरी कुछ कल्पनाओं का आधार होने के कारण वह साधारण वस्त्र नहीं रहा है, वह बन गया है देश की लाज। यह शक्ति उस जड़ वस्त्र में नहीं बल्कि मेरी कल्पनाओं में है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ी के टुकड़े आदि में भी मैं देव की कल्पना करके उसी प्रकार का भाव उत्पन्न कर सकता हूँ, जैसा कि जीवित देव को देखने से होता है और यदि वह पत्थर व लकड़ी का टुकड़ा देव की आकृति के अनुरूप ही हो तो सोने पर सुहागा है। आकृति आपेक्षा और आकृति निरपेक्ष दोनों ही प्रकार की प्रतिमायें आज हमारे देखने में आती हैं। जैसे शतरंज के खेल में लकड़ी की कुछ गोटों में हाथी घोड़े व राजा आदि की कल्पना की जाती है, वह आकृति निरपेक्ष है और वीतरागी शान्त देव की प्रतिमा आकृति सापेक्ष है। परन्तु आकृति सापेक्ष का जो प्रभाव सहज ही पड़ता प्रतीत होता है वह आकृति निरपेक्ष में अनुभव करने में नहीं आता, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि आकृति निरपेक्ष को देख कर मुझे बुद्धिपूर्वक ही उन कल्पनाओं की याद करने के लिये अधिक जोर लगाना पड़ता है, और आकृति सापेक्ष को देखते ही वे कल्पनायें अबुद्धि पूर्वक स्वतः जागृत हो उठती हैं। खैर कुछ भी हो यहां तो केवल इतना सिद्ध करना था कि प्रतिमा का कोई प्रभाव न पड़ता हो, ऐसा नहीं है, उसका हमारी बुद्धि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त बातों पर से तीन सिद्धान्त निकलते हैं। एक तो यह कि किसी चित्र का मेरी मनोवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, दूसरा यह कि किसी भी वस्तु में कल्पना विशेष कर लेने पर उस वस्तु में मुझे तद्वत् सा ही भाव बीतने लगता है, और तीसरा यह कि आकृति सापेक्ष प्रतिमा से मेरे चित्त पर आकृति निरपेक्ष प्रतिमा की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। और जिस प्रतिमा को आज

मैंने अपने सामने अपना उपास्य बना कर रखा है उसमें यह तीनों ही बातें पाई जाती हैं। प्रतिमा तो वह है ही चाहे पाषाण की हो या धातु की या लकड़ी की या कागज पर लिखी चित्र रूप, इसके अतिरिक्त उसमें वीतराग आकृति का ज्यों का त्यों आकार या प्रतिबिम्ब भी विद्यमान है और मैंने अपनी कुछ विशेष कल्पनायें भी इसमें उंडेली हुई हैं। अतः आज जीवित देव या उस प्रतिमा में मेरे लिये कोई अन्तर नहीं रह गया है।

१५ वीतराग प्रतिमा व जीवित देव में समानता

भो कल्याणार्थी! इस संशय को दूर कर, आ मेरे साथ और देख कि प्रतिमा में क्या दिखाई देता है। आज तक तूने इसे पाषाण की प्रतिमा के रूप में देखा है, आ, आज मैं इसे जीवित रूप में दिखाता हूं; आज तक प्रतिमा के दर्शन किये हैं, आ, मैं जीवित देव के दर्शन कराता हूं। अपनी दृष्टि से नहीं मेरी दृष्टि से देख कि यह प्रतिमा कहां है यह तो साक्षात् देव विराजमान हैं, जीवित देव, वही वीतरागी शान्त मुद्रा धारी देव जिनके दर्शन कि परसों बन में किये थे। देख गौर से देख यह वही तो हैं, क्या अन्तर है इसमें तथा उनमें? उनकी मुखाकृति भी सौम्य, सरल व शान्त थी और इनकी भी वैसी ही है, उनके होठों पर भी मीठी मुस्कराहट थी और इनके होठों पर भी वैसी ही है, उनके शरीर पर भी वस्त्र नहीं था और इनके शरीर पर भी नहीं है, उनके भी रोम रोम से शान्ति टपकती थी और इनके भी रोम रोम से शान्ति टपकती है। वह भी मौन थे और यह भी मौन है, वह भी निश्चल थे और यह भी निश्चल हैं, वह भी बन्दक व निन्दक में हर्ष विषाद रहित समान थे और यह भी वैसी ही है। उनके दर्शन करने पर भी उनके चैतन्य का साक्षात्कार नहीं हो रहा था और इसके दर्शन पर भी चैतन्य का साक्षात्कार नहीं हो रहा है। ऊपर से वह भी जड़ वत् ही भासते थे और यह भी वैसे ही दीख रहे हैं। वहां भी अनुमान के आधार पर शान्ति को पढ़ा जा रहा था और यहां भी अनुमान के आधार पर शांति को पढ़ा जा रहा है। अन्तर क्या है? केवल इतना ही न, कि वह चमड़े की प्रतिमा थी और यह पाषाण की। परन्तु वहां तो तेरी दृष्टि में चमड़ा न आकर देव ही आया था, एक शांत जीवन ही आया था। यहाँ क्यों तेरी दृष्टि में पाषाण आता है? क्यों उसी दृष्टि से यहां भी नहीं देखता? इनका ऊपरी रूप न देख कर इनके अन्तरंग में घुस और इन कल्पनाओं के आधार पर जो कि मैंने इनमें डाली हुई हैं, इनके जीवन ही को देखने का प्रयत्न कर, तब देखना कि यह जड़ दिखाई न देंगे, साक्षात् चेतन दिखाई देंगे।

१६ कल्पनाओं का बल

कल्पनाओं में महान बल है, शेख चिल्ली कुछ कल्पनाओं के बल पर ही राजा बन बैठा और लात चला दी अपनी काल्पनिक स्त्री पर। शेख चिल्ली की ही बात न समझना, वास्तवमें हम सब शेख चिल्ली हैं क्योंकि सुबह से शाम तक वैसी ही कल्पनायें किया करते हैं। बेटा हो जायेगा, उसका विवाह कर देंगे, सुन्दर सी एक बहू घर में आयेगी, पो ा हो जायेगा, मेरी गोद में आकर खेलेगा, तुतला तुतला कर बोलेगा, कितना प्यारा लगेगा, कुछ बड़ा होकर 'बाबा जी' कह कर पुकारेगा मुझे! अहा! मानों मैं किसी दूसरे लोक में पहुंच जाऊंगा, कितना सुन्दर होगा वह दिन, कब आयेगा वह दिन? यह सब शेखचिल्ली की कल्पनायें नहीं तो क्या हैं? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानों असली दृश्य ही सामने हो। एक व्यभिचारी केवल कल्पनाओं के आधार पर अपनी प्रेमिका के घर पर पहुंच जाता है, और प्रेम से उसका अंग स्पर्शता हुआ कल्पना में ही व्यभिचार सेवन करता है, ये शेख चिल्ली की कल्पनायें नहीं तो क्या हैं? परन्तु आनन्द ऐसा आता है मानों

असली प्रेमिका का ही साक्षात् स्पर्श हो रहा हो। इसी प्रकार की अनेकों रागवर्धक कल्पनायें कर करके नित्य ही, कभी हर्ष का तो कभी विषाद का अनुभव किया करता हूं। ऐसा होता सबको प्रतीत होता है, फिर भी इस सत्य के प्रति नकार क्यों ? प्रतिमा के प्रभाव व कल्पनाओं की शक्ति के प्रति आज जो नकार तुझमें वर्त रहा है उसके पीछे कोई पक्षपात छिपा बैठा है, कोई सम्प्रदाय पुकार रहा है। तू एक वैज्ञानिक बन कर निकला है साम्प्रदायिक नहीं। एक वैज्ञानिक है तो पक्षपात को अब धो डाल और इस मनोविज्ञान से कुछ लाभ उठा।

आज तक इस मनोविज्ञान का दूसरी दिशा में प्रयोग करता आया है, आज उसी का प्रयोग इस दिशा में कर। देख तुझे साक्षात् देव के दर्शन होते हैं, शान्ति के दर्शन होते हैं। आज तक वैज्ञानिक बन कर दर्शन किये नहीं, साम्प्रदायिक बन कर ही दर्शन करता रहा है और इसी लिये ऊपर की शंकायें उत्पन्न हो रही हैं। अभिप्राय के तनिक से फेर से क्रिया में महान अन्तर पड़ जाता है, अतः अभिप्राय को ठीक बना कर आगे बढ़। पहले ही इस दिशा में काफी समझा दिया गया है-तुझे, आ, और देख इस प्रतिमा में जीवित देव।

मुजफ्फरनगर दिनांक २६ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४२

१७ प्रतिमा व जीवित देव में समानता

देव पूजा के सम्बन्ध में बात चलती है। अन्तरंग व बाह्य पूजा का चित्रण खेंच दिया गया, अब यह देखना है कि प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन कैसे किये जायें ? आओ चलें, यह लो आ गया भगवान का समवशरण, गन्धकुटी पर विराजमान साक्षात् वीतराग देव, वह देखो सामने वीतराग प्रभु कितनी शान्त मुद्रा में स्थित हैं। वेदी में नहीं समवशरण में बैठे हैं, वेदी पर दृष्टि न कीजिये केवल प्रतिमा पर लक्ष्य दीजिये -जैसे धनुर्धर अर्जुन की दृष्टि में कौवे की आंख ही आती थी उसी प्रकार। यह जीवित हो तो हैं, जिन्हें बन में देखा था वही तो हैं— वही मुखाकृति, वही वीतरागता, वही सरलता वही शान्ति, वही मधुर मुस्कान, वही निश्चल आसन, वही मौन, वही नसाग्रदृष्टि, वही निर्भीक नग्न रूप, वही निश्चिन्तता, वही अलौकिक तेज, वही आकर्षण।

१८ देव के प्रति बहुमान व भक्ति

आहा हा ! धन्य हुआ जा रहा हूं आज-मैं, परम सौभाग्य से मिला है यह दुर्लभ अवसर। जिनके दर्शनों को बड़े बड़े इन्द्र तरसते हैं, सर्वार्थ-सिद्धि के अहमिन्द्र को भी जो सौभाग्य प्राप्त नहीं है। आहा हा ! आज मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ है, आज मैं इस विश्व में सबसे ऊंचा हूं, आज से पहले अधम था, नीच था, पापी था, पर आज - आज न पूछिये। मुझे यह बताने को भी अवकाश नहीं कि आज मैं सर्वार्थ सिद्धि के इन्द्रों से भी ऊंचा हूं, आज मुझे कुछ अन्य बातें विचारने का अवकाश नहीं किसी की बात सुनने का अवकाश नहीं, बोलने का अवकाश नहीं। अरे ! पलक झपकने तक का अवकाश नहीं-आज मुझे। अरे मन ! जरा चुप रह, देख नहीं रहा है कि आज मेरे देव आये हैं-मेरे आंगन में। अरे ! जवाहर लाल नेहरू तेरे घर पर आजाये तो तू पागल बन

जायें, सोचने को भी अवकाश न रहे, कि क्या करूं कहाँ बिठाऊं इनको ? और आज तीन लोक के के पति, त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ, पधारे हैं तेरे घर, तो तुझे अपने राग अलापने की पड़ी है, लाज नहीं आती। देख देख सावधान हो, प्रभु को बैठाने के लिये स्थान बना, घबरा नहीं, तेरे पास है प्रभु के योग्य स्थान।

आइये नाथ, आइये ! इस अधम का आंगन पवित्र कीजिये, यहां विराजिये यहां विराजियें-इस मेरे हृदय मन्दिर में। भगवन् ! देखिये तो कितना सुन्दर बनाया है इसे सर्व संकल्प विकल्पों का कूड़ा कर्कट निकाल कर-कितना उज्वल, धुला धुलाया तथा पवित्र पड़ा है यह-केवल आपकी प्रतीक्षा में, कि अब आयें मेरे प्रभु और कृतार्थ करें मुझ अधम को। आहा हा ! मानों आज मैं सामान्य व्यक्ति नहीं हूं, मेरे पांव आज पृथ्वी पर नहीं पड़ते, मेरे घर में विराजे हैं त्रिलोकाधीश। आज मैं गर्व के मारे उड़ा जा रहा हूं आकाश में। आज मेरे आंगन में भीड़ लगी दर्शनार्थियोंकी इन्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त होगा। आप खड़े न रहिये भगवन ! बैठ जाइये, इस मन के जड़ित आसन पर, आपके लिये ही तो बिछाया था इसे। आहा हा ! आज पावन भये हैं नेत्र मेरे, मैं हुआ पूर्ण धनी। मेरा जीवन पावन हो गया, मेरा जन्म पावन हो गया, मेरा तन पावन हो गया, मेरा मन पावन हो गया, मेरा हृदय पावन हो गया, मैं सारा पावन हो गया, कृतकृत्य हो गया। मेरे आंगन पधारे हैं भगवान, शांति के देवता, मेरे उपास्य, मेरे लक्ष्य, मेरे आदर्श।

१६ प्रतिमा से मूक प्रश्नोत्तर

अरे ठहर ठहर रे मन! अभी मत बोल, बीच में अपनी टांग अड़ाये बिना क्या एक क्षण भी नहीं बैठ सकता, बड़ा चंचल है तू, जरा प्रभु की ओर देख, इतना निर्लज्ज न बन, कब कब पधारते हैं प्रभु। सुन तनिक कान लगा कर सुन, देख प्रभु मुझ से बातें कर रहे हैं-'अरे तू भी तो अपना जीवन सफल बना ले, यह अवसर फिर मिलना कठिन है। अहा हा ! कितनी मिष्ट है प्रभु की वाणी मानो अमृत ही वर्ष रहा है। मेरी तो बात ही क्या, नरक मे पड़े जीवों को भी तो कुछ चैन सी पड़ जाती है ऐसे समय में। तीन लोक तृप्तिकर यह अमृत गंगा। अरे मन ! तनिक अपना ढकना तो खोल और ले इस गंगा को भरले अपने में। याद रख, फिर न मिलेगी इसकी शीतल धारा, तरसता रह जायेगा। बहुत स्थान है तेरी गहनता में, सब की सब समाले अपने अन्दर, देख एक बूंद भी न बिखरने पायें और ले, अब बेसुध हो कर करने लगा-मैं अमृत का पान। भगवन बोले --

क्या देखा तूने अधरों में ?........................एक शान्त मुस्कान।
क्या देखा तून नेत्रों में ?........................इस ही का सम्मान।
क्या देखा कर-कमलों में ?........................लक्ष्य सिद्धि आल्हाद।
क्या सुनता है इन कानों में ?....................मधुर तृप्ति का नाद।
क्या देख रहा मेरे मन में ?.......................शान्ति सखी का नृत्य।
क्या दीख रहा तुझ को तन में ?...................शान्ति नगर का दृश्य।
आओ सखा ! इस शान्ति नगर के क्षण भर यात्री बन जाओ।

मैं ने कहा— आता हूं भगवन् ! रुक जाओ, लो हाथ पकड़ कर अपनाओ।

और फिर प्रभु बोले—

कैसा लगता है अब तुझको ?......................म तुम एक हुए मानों ।

कुछ इच्छा है तो कह डालो ?......................क्या कहूं नाथ, अब मत बोलो ।

क्या कह रहा है यह बन्दक ?......................होंगे कोई मुझे क्या इनसे ।

जा जा, इनकी कुछ तो सुनले ?......................इनका नाता ही क्या मुझसे ।

कुछ इच्छा है तो अब भी कहदे ?......................बस प्रभु मैं तृप्त हो गया, कृतकृत्य होगया

नेत्र बन्द किये मानों मैं प्रभु में मिल चुका था, दीन दुनिया की खबर न थी । मैं था और थे मेरे शान्ति आदर्श वीतराग प्रभु । और फिर वही मन । अरे मन ! तेरा भला हो तू अपनी चंचलता से बाज न आया, आखिर वही किया जो तुझे करना था । घसीट ही लिया मुझे, अच्छा करले जो कुछ करना है, अपनी बदकारी में कमी मत रख, सब अरमान निकाल ले । आखिर कब तक ? एक दिन बिदा लेनी होगी तुझे, बान्ध ले अपना बिस्तरा बोरिया, अब अधिक दिन नहीं निभेगा मेरा साथ, मेरा रास्ता यह और तेरा रास्ता वह । प्रभु को भुला देना तो अब तेरी सामर्थ्य से बाहर हो चुका है क्योंकि अब मैं कर चुका हूं प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन, अब यह मेरे लिये पाषाण नहीं हैं, भगवान हैं ।

२० पंच कल्याणक महत्व

अब तक भले भूला रहा हूं पर अब मुझे सब पिछली बातें याद आ गई हैं । वह दृष्य मेरी आंखों के सामने घूम रहा है, जब कि प्रभु ने माता की कोख में प्रवेश किया था । मेरे सामने ही इनका जन्म हुआ था । वह दिन भी मुझे अच्छी तरह याद है, जबकि आपका राजतिलक हुआ था, और इनकी प्रजा का एक अंग बन के मैं सुख पूर्वक जीवन बिताता था । आहा हा ! वह दिन तो मानों कल ही गुजरा है । क्या दृश्य था वह ? चहूं ओर वैराग्य व वीतरागता, लौकान्तिक देवों का वह सम्बोधन, मेरे कानों में आज भी गूंज रहा है, प्रभु को वैराग्य आ गया था उस दिन, राज पाट को ठुकरा व नीची गर्दन किये बन को ओर चल पड़े थे मुझ से रहा न गया, पालकी उठा लाया, प्रभु को बैठाया और ले चला कुछ दूर अपने कन्धों पर । ओह! कितना उत्साह था उस दिन मुझ में, जैसे कि आज ही मैं भी घर छोड़ कर चल दूं-प्रभु के पीछे । पर मेरा दुर्भाग्य मैं न जा सका, प्रभु चले गये और मैं देखता ही रह गया । कितनी उदासीन थी सारी प्रजा ? पर प्रभु प्रसन्न थे, शान्त थे मानों चले हों किसी स्वयंबर में ।

यह दृश्य तो मानों मेरी आंखों के सामने ही हो रहा है । देखो देखो, क्या नहीं दीख रहा है तुम्हें ? लो इन आंखों से देखो, वह प्रभु बैठे किस तरह घास फूस की भांति अपने केश नोच कर फैंक रहे हैं और मैंने इन ही हाथों से समेटे थे उनके बाल । ध्यान में निश्चल हुए वे योगी यही तो हैं जिनके शरीर पर खाज खुजाता हुआ एक मृग मैंने देखा था और वह दिन मानों जब तीनों लोक झंकार उठे थे, चहुं ओर ही युगपत गूंजने वाली दुंदुभि बाजों की ध्वनि मानों आकाश को फाड़ने का प्रयत्न कर रही थी । उस दिन उत्पन्न हुआ था भगवान को वह ज्ञान, जिसके प्रकाश में मानों वह तीनों लोकों को तीनों कालों में प्रत्यक्ष देख रहे थे-अपने हृदय पट पर । वह अलौकिक तेज जिसमें कि मुझे भी दिखाई देने लगे थे-अपने सात भव । आहा हा ! कैसी महिमा थी उस समय भगवान की मानों तीन

लोक की सम्पत्ति ही सिमट आई थी उनके चरणों में। मैं तो क्या, सहस्र जिह्वा भी उनका वर्णन करने में असमर्थ हैं और अन्त का वह दिन जब भगवन विदा ले रहे थे, हम सब से—सदा के लिये। मानों अनाथ बना चले थे हम सबको, मैं रो रहा था—उस समय। न जाने क्यों? सम्भवतः इसलिये कि मैं भी कभी ले सकूंगा ऐसी विदा।

और आज वही प्रभु हैं मेरे सामने मानों इस अनाथ की सुध लेने आये हैं, कि भूल न बैठा हो कहीं उस अन्तिम रुदन के भाव को और वास्तव में था भी वैसा ही। प्रभु से क्या छिपा है? मैं तो भूल ही बैठा था सब कुछ, यहां तक कि प्रभु भी पाषाण दिखाई देने लगे थे अब मुझे, सोते को जगा दिया प्रभु ने। भगवन! आप न आते तो न जाने क्या होता मेरा? इस भव में अपने हाथों से की हुई सब क्रियाओं को अपनी आंखों से देखे हुए सब दृश्यों को, अपने कानों से सुने हुए शब्दों को इसी भव में भूल गया। यदि आज आपके दर्शन न होते तो आगे क्या होता? तभी तो कहते हैं आपको करुणा सिन्धु, भक्त प्रतिपालक, अघमोद्धारक।

२१ प्रतिमा क्या और कैसे देती है

अरे भोले प्राणी! अब भी समझ न पाया कि क्या दे दिया इस प्रतिमा ने? कितनी सामर्थ्य है दृष्टि में आने वाली इस पाषाण की मूर्ति में। भावना शून्य तुझे दिखाई दे तो कैसे देगी वह सामर्थ्य, पक्षपात के गहन अन्धकार में मुंद गई हैं तेरी आंखें। शान्ति के दर्शन कर-उपरोक्त प्रकार तन्मय होकर, तब पता चले कि क्या देती है यह प्रतिमा, कितनी सामर्थ्य है इसमें। ठीक है यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती क्योंकि जड़ है, परन्तु मेरी रक्षा अवश्य कर सकती है। हाथ कंगन को आरसी क्या? करके देख उपरोक्त प्रकार से इसके दर्शन। यह अपनी रक्षा स्वयं नहीं करती तो क्या आश्चर्य, वह जीवित प्रभु भी तो, जिनकी कि यह आकृति है स्वयं नहीं करते थे अपने शरीर की रक्षा। अनेक शक्तियों व ऋद्धियों के भण्डार होते हुए भी, इस पृथ्वी को एक अंगुली पर घुमा देने की शक्ति रखते हुए भी वे नहीं करते थे स्वयं अपने शरीर की रक्षा। वे नित्य जागृत रहा करते थे अपनी रक्षा के लिये, निज शान्ति की रक्षा के लिये, और यह प्रतिमा भी बराबर कर रही है अपनी रक्षा उन्हीं की भांति।

प्रभु! इस अन्धकार में तुझे कैसे सूझे कि किसे कहते हैं अपनी रक्षा? एक ओर कह रहा है शरीर और आत्मा भिन्न हैं और दूसरी ओर कह रहा है कि शरीर की रक्षा ही मेरी रक्षा है। भला कहां है विश्वास तुझे स्वयं अपनी बात पर? प्रभु का विश्वास तुझ जैसा पोच न था, वे दृढ़ थे इस बात पर कि वे चैतन्य हैं अन्य कुछ नहीं, शरीर का उनका कोई नाता नहीं तनिक भी। फिर बता इसकी रक्षा क्यों करते? और कदाचित् उपकार बुद्धि से भी कर देते, यदि इसकी रक्षा करते हुए स्वयं अरक्षित न होते। समझ भगवन समझ! शरीर की रक्षा क्या बिना इसके प्रति का राग आये सम्भव है? और राग आने पर क्या शान्ति सुरक्षित रह सकती है? वह शान्ति जिसके लिये कि इतना पुरुषार्थ किया है उन्होंने तो फिर बता शरीर की रक्षा के लिये अर्थात् एक ऐसी वस्तु की रक्षा के लिये जो उनके लिये उस समय बिल्कुल निष्प्रयोजन बन चुकी थी, राग उठा कर अपनी शान्ति का घात करना, निधि लुटा देना, अपने हाथों अपने घर में आग लगा देना, कौन बुद्धिमत्ता थी और प्रभु ऐसी मूर्खता क्यों करते, बस वही आदर्श तो उपस्थित कर रही है वह प्रतिमा। निश्चल ध्यान अवस्था

में स्थित, अन्तर तथा बाह्य विकल्पों से रहित, उस समय प्रभु भी तो जड़वत् ही दीखते थे। क्या भूल गया उस दिन को जब अपने मुंह से उस महायोगी को जड़ भरत कहकर पुकारा करता था ? यदि यह प्रतिमा ही जड़वत् दीखती है तो क्या आश्चर्य हुआ।

२२ भील व गुरु द्रोण का दृष्टान्त

देख प्रतिमा सम्बन्धी महाभारत का प्रसिद्ध दृष्टान्त—भले ही नीच कुलीन होने के कारण या 'मेरे द्वारा सिखाई गई धनुर्विद्या का दुरुपयोग न हो जाये,इसका प्रयोग पशु हिंसा के प्रति न हो जाये, इस कारण वश, गुरु द्रोणाचार्य ने उस भील को धनुर्विद्या देने से इन्कार कर दिया था। पर उसकी दृष्टि में तो गुरु द्रोणाचार्य उसके गुरु बन चुके थे। भले वह उसे अपना शिष्य स्वीकार न करते पर उसकी भावना कैसे बदल सकते थे ? प्रत्यक्ष न सही परोक्ष ही सही धनुर्विद्या अवश्य सीखूंगा, ऐसे दृढ़ संकल्प वाले उस भील ने बन में जाकर कच्ची मिट्टी से बनाई द्रोणाचार्य की प्रतिमा, और एक गुफा के मुख पर बड़ी विनय से विराजमान कर दिया उसे। तीन समय पुष्प चढ़ाता था उसके चरणों में, वह उसकी दृष्टि में प्रतिमा न थी, वे थे साक्षात् गुरु द्रोण। प्रतिमा से ही पूछ पूछ कर करने लगा धनुर्विद्या का अभ्यास। स्वयं अपने ही हृदय से प्रगट होने वाले लक्ष्य साधन के उपायों को यदि पहले ही से मान बैठता अपने, तो अभिमान हो जाता। 'गुरु द्रोण ही क्या करेंगे इसमें, मैं स्वयं ही सीख लूंगा' ऐसा भाव आ जाता और कभी न सीख सकता वह विद्या। परन्तु उसके हृदय में यह विकल्प ही न था, उसकी दृष्टि में तो थी गुरु की विनय। लक्ष्य चूक जाने पर गुरु से अर्थात् प्रतिमा से क्षमा मांग लेता और लक्ष्य सफल हो जाने पर उनके चरण छू लेता। वर्षों बीत गये इसी प्रकार करते पर एक क्षण को भी उसने उसे प्रतिमा रूप में न देखा। वे थे उसके साक्षात् गुरु और एक दिन सिद्धहस्त हो गया वह—अर्जुन की विद्या को भी शर्मा देने वाला।

अर्जुन से यह कैसे सहा जा सकता था कि गुरु द्रोण का यह शिष्य इस निगुरे भील से नीचा रह जाय ? नहीं यह नहीं हो सकता, गुरु से जाकर कह ही दिया। गुरु आये और भील से पूछा, किन से सीखी है विद्या ? गुरु को साक्षात सामने देख कर लेट गया उनके चरणों में। आहा हा ! आखिर चले ही आये आप खिंचे हुए, भक्त की भक्ति में इतनी सामर्थ्य है। "भगवन ! और कोई नहीं आप ही हैं मेरे गुरु", यह था भील का उत्तर। गुरु द्रोण आश्चर्य में डूब गये। यह बात सत्य कैसे हो सकती है क्योंकि उन्होंने तो उसे विद्या देने से इन्कार कर दिया था। नहीं मैं नहीं हो सकता, यह झूठ बोलता है, छिपाना चाहता है अपने गुरु का नाम-मुझसे। भील ताड़ गया गुरु के मन की बात और ले गया उनको प्रतिमा के पास। यदि विश्वास न आता हो तो देख लीजिये, यह बैठे हैं मेरे गुरु और गुरु द्रोण पर खुल गया सारा रहस्य-जड़ प्रतिमा क्या दे सकती है और किस प्रकार दे सकती है, यह रहस्य।

भो कल्याणार्थी ! अब पक्षपात तज, किसी दूसरे के लिये नहीं अपने लिये। 'मेरे मन में हैं भगवान, क्या करूंगा प्रतिमा के दर्शन करके' ऐसा बहाना छोड़ दे। स्वयं तेरी शांति का घात कर रहा है यह क्योंकि अब तक तूने भगवान के दर्शन किये ही कब हैं, जो तेरे हृदय में उनका वास सम्भव हो जाता। भगवान शब्द का नाम तो भगवान नहीं, भगवान जीवन का एक आदर्श है, जो तू इस प्रतिमा में पढ़ सकता है या साक्षात् भगवान में। भगवान वर्तमान में हैं नहीं, अतः उनके प्रतिनिधि इस प्रतिमा की अब शरण ले, और अपना कल्याण कर।

मुजफ्फरनगर दिनाँक २१ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४३

२३ विकल्पों को सर्वतः या सर्वदा दबाने में असमर्थता,

देव पूजा की बात चलती है, देव का व पूजा का स्वरूप दर्शाया जा चुका है। अब प्रश्न यह होता है कि मन्दिर की क्या आवश्यकता ? प्रश्न बहुत उत्तम व स्वाभाविक है, ऐसे प्रश्न उत्पन्न करते समय यदि भय लगेगा तो तत्व नहीं समझा जा सकता। जैसे मैं कहूँ वैसे स्वीकार कर लेना वास्तव में समझना नहीं है। देख इस प्रश्न का उत्तर स्वयं अपने अन्दर से ही आ जाता है।

'मुझे शान्ति चाहिये' यह समस्या है, इस समस्या को सुलझाने का अब प्रश्न है। शांति प्राप्त करने से पहले यह जानना आवश्यक था कि शान्ति क्या है, और इसका घात करने वाला कौन है। सो भी जाना जा चुका कि शान्ति मेरा स्वभाव है, और इसका घात करने वाला मेरा अपना ही अपराध है, जिसे आस्रव तत्व में दर्शाया गया है, अर्थात् शरीर धन व कुटुम्बादि सम्बन्धी अनेकों नित नये नये उठने वाले विकल्प इच्छायें व चिन्तायें। यदि यह विकल्प दब जायें तो मैं शान्त पहले ही हूँ, वास्तव में शान्ति प्राप्त नहीं करनी है बल्कि अशान्ति को दूर करना है—इन चिन्ताओं को, इन इच्छाओं को, इन विकल्पों को दूर हटाना है, यह दूर हुए कि शान्त तो मैं हूँ ही, वह तो स्वभाव जो ठहरा। प्राप्त की प्राप्ति क्या, जो पहले ही से मेरे पास है उसको प्राप्त करने का प्रयास क्या ? स्वभाव का कभी विच्छेद नहीं हुआ करता। क्या अग्नि से जल गर्म हो जाने पर भी जल अपना शीतल स्वभाव छोड़ बैठता है ? नहीं तो मैं ही इन विकल्पों के कारण व्याकुल होता हुआ भी, अपनी शान्ति नहीं छोड़ सकता। अतः जिस किस प्रकार भी इन विकल्पों के अभाव करने का प्रयास करना है।

२४ थोड़ी देर को विकल्प दबाना प्रयोजनीय

अब विचारना यह है कि क्या एक दम इन विकल्पों को रोका जाना सम्भव है ? जैसे कि बिजली का बटन दबाया और प्रकाश बन्द। क्या इसी प्रकार कोई क्रिया विशेष करी और विकल्प बन्द, ऐसा होना सम्भव है ? ऐसी बात यहां सम्भव नहीं, क्योंकि प्रारम्भ में ही आस्रव बन्ध तत्वों के अन्तर्गत इन विकल्पों व संस्कारों के जन्म का क्रम दर्शाते हुए यह बताया जा चुका है, कि संस्कार धीरे धीरे ही शक्ति पकड़ता हुआ एक दिन पुष्ट हो जाता है, एक दम पुष्ट नहीं हो बैठता। बस उसी प्रकार यहां भी समझना। आगे निर्जरा के प्रकरण में इस बात को सविस्तार भी बताया जायेगा, कि कोई भी संस्कार क्रम पूर्वक तोड़ा जाता है। जब तक संस्कार समूल नष्ट न होगा, तब तक उससे प्रेरित हुआ मैं नित नये नये विकल्प भी छोड़ न सकूंगा। रोगी का रोग एक दम दबाया नहीं जा सकता, क्रम पूर्वक और धीरे धीरे ही दबाया जा सकता है, उसी प्रकार विकल्प दबाने के सम्बन्ध में भी समझना।

२५ अनुकूल वातावरण की महत्ता

इन विकल्पों में सर्वदा के लिये तो क्या, कुछ देर के लिये भी पूर्णतया अंक नहीं लगाया जा सकता। हां इतना अवश्य है कि इन्हें कुछ देर के लिये किसी प्रकार दबाया जा सकता है। जिस प्रकार कि मौफ़रीन या कोकीन के इन्जेक्शन द्वारा कुछ देर के लिये पीड़ा

दबाई जा सकती है। अब मुझे यह देखना है कि कुछ देर के लिये ही सही, वह क्रिया विशेष कौनसी है जिसके करने से कि वे विकल्प दब सकें। अनेकों बार जब कि मैं क्रोध में अत्यन्त व्याकुल बना हुआ, अन्दर ही अन्दर कुछ जलन सी महसूस करता हूँ, मैंने यह अनुभव किया है, कि ऐसे अवसरों पर यदि मैं घर या दुकान आदिक का वातावरण छोड़ कर क्लब में जाकर खेलने लगूं तो धीरे धीरे वह क्रोध शान्त हो जाता है और उस समय तक पुनः जागृत नहीं हो पाता जब तक कि पुनः उसी प्रकार का कोई अन्य वातावरण मेरे सामने न बन जाये। बस इसी अपने अनुभव से सिद्धांत निकाल लीजिये।

सिद्धान्त यह निकला कि बाह्य वातावरण का मेरे विचारों के साथ बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जब जुआरियों के वातावरण में रहकर मैं जुआरी और शराबियों के वातावरण में रहकर शराबी बनजाता हूँ तो इसी प्रकार निर्विकल्प वातावरण में रहकर मैं निर्विकल्प भी बन सकता हूँ। यद्यपि स्वपर भेद-विज्ञान के अन्तर्गत वस्तुतः इसका निषेध किया गया है, और बताया गया है कि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता और इस बात पर मुझे विश्वास भी है, युक्ति आदि से निर्णय भी किया है, परन्तु अभी तक वह विश्वास पूर्णतया मेरे जीवन में उतरने नहीं पाया है। पूर्व का पराश्रित हो जाने का संस्कार अभी दृढ़ है। यद्यपि गलती मेरी ही है, पर करता हूं मैं किसी वातावरण से ही प्रभावित होकर। जो बात स्पष्ट अनुभव में आती हो, उससे इनकार कैसा।

विकल्प को दबाने के दो उपाय हैं। एक तो यह कि स्वपर भेदज्ञान के द्वारा मैं जहां कहीं भी बैठूं दृढ़ता धार कर वातावरण की ओर दृष्टि ही न दूं और अपने शान्त स्वभाव को लक्ष्य में लेकर अन्तरंग में एक नया वातावरण उत्पन्न कर लूं। यह उपाय करने बैठता हूं तो वर्तमान की इस प्राथमिक अवस्था में अपने को बिलकुल असमर्थ पाता हूँ क्योंकि बात को समझना सरल है पर बात को कार्यान्वित रूप देना कुछ कठिन। समझने व श्रद्धा करने में अधिक समय नहीं लगता, पर उसे पूरा करने को एक लम्बा समय होना चाहिये। उपाय ऐसा होना चाहिये जो इस अत्यन्त निकृष्ट अवस्था में भी किया जा सकना सम्भव हो, और मेरी शक्ति से बाहर न हो।

२६ मन्दिर की अनुकूलता

कुटुम्ब सम्बन्धी चिन्ताओं से कुटुम्ब के वातावरण में रह कर, और धनोपार्जन सम्बन्धी चिन्ताओं से दुकान पर रह कर, और शरीर सम्बन्धी चिन्तओं से शरीर की सेवा में संलग्न रह कर, बचने का प्रयास करते हुए भी बचा नहीं जा सकता। अतः इस निश्चय के आधार पर वातावरण बदल देना चाहिये, यह विचारना है कि इसको छोड़ कर किस वातावरण में जाऊं। क्या क्लब में जाने से काम चल जायेगा ? नहीं क्योंकि वहां पर कुटुम्बादि सम्बन्धी विकल्प तो दब जायेंगे पर हार जीत सम्बन्धी नये विकल्प उत्पन्न हो जायेंगे। अतः वातावरण ऐसा होना चाहिये कि जहां जाकर यदि विकल्प भी उत्पन्न हों तो वीतरागता सम्बन्धी ही हों, शान्ति सम्बन्धी ही हों। सौभाग्यवश शान्ति के आदर्श जीवित देव या उसकी प्रतिमा की शरण में जाने से यह प्रयोजन ठीक ठीक सिद्ध हो जाता है, जैसा कि इससे पहले के प्रकरणों में दर्शा दिया गया है। इन दोनों में भी देव की शरण का तो प्रश्न ही नहीं, क्योंकि वर्तमान में कहीं दिखाई ही देते नहीं किन्तु उनकी प्रतिमा सौभाग्य वश प्राप्त है अतः प्राप्त साधन से ही कुछ लाभ लेना है।

अब यह विचारिये कि यदि यह प्रतिमा घर पर ही रख लूं तो, क्या वह वातावरण छू-कर नया वातावरण बनाया जा सकेगा ? यह बताने की आवश्यकता नहीं कि नहीं बनाया जा सकेगा। एक ओर स्त्री की नई नई मांगें, एक ओर वृद्ध माता पिता की कराहट, एक ओर बच्चों की चीख पुकार, इन सब के होते हुए प्रतिमा के सामने खड़े हुए भी मेरा उपयोग उनकी ओर आकर्षित न हो सकेगा ! अतः कोई अन्य उपयुक्त स्थान ढूंढना होगा।

चलिये बन में खोजें। आहा हा ! कैसा रमणीक व सुन्दर स्थान है, यहां ही तो देखा था अपने प्रभु को बैठे हुए। बड़ा शान्त है, प्रकृति ने मानों अपनी विशाल गोद ही फैलाई है नगर व ग्राम की हद तक मुझे आश्रय देने के लिये। बहुत शान्त वातावरण है, इससे अच्छा और क्या वातावरण हो सकता है ? जहाँ आते ही मैं भूल जाता हूँ सर्व कुटुम्ब को, धन को, यहां तक कि शरीर को, और खो जाता हूं प्रकृति की सुन्दरता में। उस स्वाभाविक व शाश्वत् सुन्दरता में जिसे रचने का या नवीन बनाने का विकल्प भी मुझे नहीं आ सकता। बस अपने प्रभु की प्रतिमा को यहां ही ले आऊं, और कर दूं विराजमान, किसी वृक्ष के नीचे, एक शिला पर। यह वातावरण स्वयं शान्त होने के कारण, प्रतिमा के दर्शन करने में मेरी बहुत सहायता करेगा और इसी कारण से बन गये चैत्यवृक्ष कि जिनकी ओर गुरुदेव पुनः पुनः संकेत कर रहे हैं-इस आगम में। चैत्य वृक्ष अर्थात् प्रतिमा रखी गई हो जिस वृक्ष के नीचे वह चैत्य वृक्ष और प्राचीन समयों में वह चैत्य वृक्ष ही हुआ करते थे, जहां जाकर कि मैं कुछ देर के लिये भूल जाता था सब चिन्तायें और लय हो जाता था प्रभु की शान्ति में, जैसा कि पहले के प्रकरणों में बता दिया गया है।

यह समय वह था जब कि मैं छोटे छोटे गांवों में रहा करता था, दो फर्लांग चला कि चैत्य वृक्ष पर पहुंच गया। फालतू समय भी काफी होता था सौ पचास छोटी छोटी झोंपड़ियों का ग्राम होता ही कितना बड़ा है चारों ओर बन ही बन पड़ा है, और हैं हरे हरे खेत, परन्तु समय ने पलटा खाया और आज मैं रहता हूं बड़े बड़े नगरों में, जहां से यदि कई मील चल लिया जाये तो भी मैं बन में प्रवेश न कर सकूंगा, सड़कों आदि पर बड़ा व्याकुल सा वातावरण रहता है और आज इतना समय भी तो नहीं है मेरे पास कि मीलों चला जाऊं बन में भगवान के दर्शन व पूजा करने और घर पर लौट आऊं। सम्भवतः आधा दिन लग जाय इस काम में, फिर मैं गृहस्थी भला कैसे दे सकता हूं इतना समय। यदि गुरुदेव की प्रेरणा से या अन्तष्करण में शान्ति की अभिलाषा की प्रेरणा से कुछ समय निकालने का यत्न भी करूं तो बड़ी कठिनता से १५ मिनिट या आध घन्टा और फिर इतना समय भी फालतू कहाँ है आज मेरे पास।

बन को अनुकूल वातावरण के रूप में प्रयोग करना आज असम्भव है। अतः कोई अन्य कृत्रिम मार्ग निकालना पड़ेगा, जो भले ही उतना सुन्दर व स्वाभाविक न हो, पर जिस किस प्रकार भी वहां मेरे प्रयोजन की सिद्धि कुछ तो हो सके और निकल ही आया एक उपाय। नगर ही में एक पृथक स्थान या मन्दिर बना डालो, उसके अन्दर घर सम्बन्धी कोई सामान न रखो। वहां हो मेरे प्रभु की प्रतिमा शान्ति के दर्शन के लिये, और मन्दिर की दीवारों के दूसरी ओर भले पड़ा रहे नगर व्याकुल वातावरण, परन्तु उसके भीतर हो केवल एक शान्ति ही शान्ति। चहूं ओर दिवारों पर लिखे या तो प्राकृतिक, दृश्य या शान्त महापुरुषों के चित्र, या हों शान्ति के उत्पादक कुछ गुरु वाक्य, ताकि

इस स्थान में आकर जिधर भी दृष्टि उठाऊं-दिखाई दे एक शान्ति। इसे कहते हैं मन्दिर अर्थात् शान्ति का निवास स्थान। यद्यपि आज इस विलासता के युग में आकर इसमें भी विलासता का विषैला अंश प्रवेश पा गया है—सोने चाँदी की अधिकाधिक सामग्री के रूप में, कुछ बर्तनों के रूप में, छत्र चमरों के बड़े संग्रह के रूप में, फ़रनीचर के रूप में, परन्तु फिर भी यहां अन्यत्र की अपेक्षा शान्ति है। कर्त्तव्य तो यह है कि इस विषैले अंश को यहाँ से निकालने का प्रयत्न करूं, और कर भी रहा हूं, कुछ सफलता भी मिली है। अब यहां नवीन आदर्श मन्दिरों की स्थापना की जा रही है, जहां न स्वर्ण का छत्र है न चमर, न बर्तन भांडों की खड़खड़ाहट, न अधिक चौकियों आदि का संग्रह, न अधिक प्रतिमायें न लौकिक आकर्षण, केवल एक विशाल प्रतिमा है और एक बड़ी टेबल व बैठने के लिये कुछ आसन। यह है मेरे प्रयोजन की सिद्धि में सहायक शान्त वातावरण।

यद्यपि प्रभु को तो कुछ नहीं, वे तो वीतराग हैं, कहीं भी बैठा दो ले जाकर, निश्चल व निर्विकल्प ही रहते हैं। पूर्ण जो हो गये हैं। पर प्रभु के मन्दिर में ये विलासता के अंश अनेक प्रकार के विकल्प पैदा करते हैं। पर मैं तो अभी चलना भी नहीं सीखा हूं। इसी कारण मन्दिर में विलासता का दृश्य खटकने लगता है आंखों में, सो ठीक ही है, फिर भी अपना काम निकालना है। यदि आदर्श मन्दिर उपलब्ध हो जाये तो बहुत अच्छा, नहीं तो इन ही मन्दिरों से काम चलाओ। जरा अधिक बल लगाना पड़ेगा, इस रूप में, कि दृष्टि के सामने पड़े आकर्षक पदार्थों की ओर मेरा ध्यान खिंचने न पावे, परन्तु घर व दुकान आदि से फिर भी अच्छा है। अनेकों अन्य विकल्पों से तो छुट्टी मिलती ही है। दो प्रकार की मुख्य बाधायें हैं जो मेरी शान्ति को बाधित करती हैं। एक इन्द्रिय ज्ञान व उनके द्वारा जाने गये पदार्थ, और दूसरा मन व उसमें उत्पन्न होने वाले प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष पदार्थों सम्बन्धी विकल्प। इन दोनों बाधाओं में से इन्द्रिय ज्ञान, सम्बन्धी बाधा स्थूल है, क्योंकि वह बाह्य में पड़े पदार्थों का आश्रय लिये बिना उत्पन्न नहीं होती, और मन सम्बन्धी बाधा सूक्ष्म है,क्योंकि इसके विकल्पों को बाह्य में किसी पदार्थ के आश्रय की आवश्यकता नहीं है। मन्दिर के वातावरण व घर आदिक के वातावरण में इतना ही अन्तर है कि घर आदिक में तो दोनों प्रकार की बाधायें सम्भव हैं परन्तु मन्दिर में केवल मन सम्बन्धी। क्योंकि रागात्मक बाह्य पदार्थ वहां दिखाई ही नहीं देते। घर बैठकर विकल्पों के प्रशमन का पुरुषार्थ करने में दोनों प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ेगा जिसमें अधिक बल की आवश्यकता है और मन्दिर में बैठ कर वही पुरुषार्थ करने में केवल एक बाधा का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रतिमा की उपस्थिति मुझे शान्ति के दर्शन करने में सहायता भी देती है इसलिये कम बल से भी काम चलता है।

यदि विकल्पों के प्रशमन के लिये पर्याप्त बल मुझ में हो, तो मन्दिर की वास्तव में कोई आवश्यकता न थी। तब तो घर पर बैठे, दुकान पर बैठे, रेल में बैठें या सड़क पर चलते, किसी स्थान पर भी, किसी समय भी, मैं विकल्पों को दबा कर शान्ति में मग्न हो जाता। परन्तु अनुभव करनें पर तो यह जाना जाता है कि जीवन चर्या में विकल्प बजायें दबाने के अधिकाधिक वृद्धि को ही प्राप्त होते हैं, इसलिये विकल्प प्रशमन के प्रयोजनार्थ घर आदिक का वातावरण प्रतीकूल पड़ता है और मन्दिर का वातावरण अनुकूल। आगे भी सभी जगह यही सिद्धान्त लागू करना पड़ेगा कि अनु-

कूल वातावरण में रहकर पुरुषार्थ करने में कम बल लगाना पड़ता है, इसलिये आगे के सर्व प्रकरणों में जहां अन्तरंग विकल्पों के संवरण अर्थात् प्रशमन का अनेक दिशाओं में प्रसार होने लगेगा वहां जिस तिस प्रकार भी प्रतिकूल निमित्तों के त्याग व अनुकूल निमित्तों के ग्रहण करने को दृष्टि में से ओझल नहीं किया जा सकेगा, कारण कि मैं अधिक बल वालों की कोटि में नहीं हूं, मेरी शक्ति बहुत हीन है और जरा सी बात में ही विकल्प उठ खड़े होते हैं। आगे शक्ति बढ़ती चली जायेगी, और वहां तदनुसार अनुकूलतायें बनाने का प्रयास भी बराबर चलता रहेगा, भले ही पहले की अनुकूलताओं का आगे आगे कोई मूल्य न रह जाये। जैसे कि साधु दशा में पहुंच जाने पर यद्यपि मन्दिर का अधिक मूल्य नहीं रह जाता, परन्तु कोई भी अन्य एकान्त स्थान का मूल्य बन जाता है।

२७ मन्दिर में प्रवेश करते समय विकल्पों का त्याग

अब यह तो सिद्ध हो गया कि मन्दिर में आकर अनुकूल वातावरण के कारण मैं चाहूं तो किञ्चित शान्ति प्राप्त कर सकता हूं। परन्तु मन्दिर में आ जाने मात्र को पर्याप्त मानकर यदि सन्तोष कर बैठूं तो क्या उस प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है ? नहीं—क्योंकि यद्यपि एक स्थूल बाधा टल चुकी है परन्तु अत्यन्त प्रबल मन सम्बन्धी सूक्ष्म बाधा जीतनी बाकी है। यदि उस बाधा को जीतने का प्रयत्न किये बिना, ही हिताहित के विवेक हीन केवल साम्प्रदायिक विश्वास के आधार पर ही, मन्दिर में आकर हाथ जोड़ूं और चला जाऊं, तो अभीष्ट कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इतना जानना आवश्यक है कि मन्दिर में क्यों आना चाहिये, कैसे आना चाहिये, और वहां आकर क्या करना चाहिये।

उपरोक्त तीन प्रश्नों में से पहले प्रश्न का उत्तर तो दिया जा चुका है कि केवल विकल्पों का प्रशमन करना ही मन्दिर में आने का प्रयोजन है। इसलिये यहाँ आने से यदि विकल्प किंचित् भी शान्त नहीं होते तो यहां आना निरर्थक है। तीसरे प्रश्न का उत्तर भी लगभग आ गया, कि वहां आकर प्रतिमा में जीवित देव के पूर्व प्रकरणानुसार दर्शन करते हुए, निज शान्ति में लय होने का प्रयास करना चाहिये। मन्दिर में आकर यदि "यह बड़ा सुन्दर है, यह स्तम्भ संगमरमर के हैं, इस पर बहुत पैसा लगा हुआ है, अभी इसमें इतनी कमी है", इत्यादि विकल्पों में उलझकर देव दर्शन का कार्य भूल बैठूं, तोभी यहां आना निरर्थक ही हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि फिर यहाँ न आयें, बल्कि यह अर्थ है कि यहाँ आकर इन विकल्पों में उलझने की बजाय यथार्थ देव दर्शन का कार्य करना ही मेरा कर्त्तव्य है। देव दर्शन व देव पूजा में कोई विशेष अन्तर नहीं है, दर्शन भी पूजन है।

अब यह देखना है कि मन्दिर में कैसे आया जाये ? प्रयोजन पर ध्यान दीजिये—विकल्पों के प्रशमनार्थ व शान्ति के अनुभवनार्थ आता हूं यहां। शान्ति के दर्शन तो देव पूजा से हो जाते हैं, पर विकल्पों का प्रशमन तो स्वयं करना पड़ेगा, विकल्पों की उपस्थिति में देव के भी दर्शन न कर सकोगे, नेत्र करते होंगे दर्शन और मन भागता फिरेगा घर व बाजार में, मन्दिर तो केवल निमित्त

मात्र है। यदि स्वयं पुरुषार्थ पूर्वक विकल्पों का किञ्चित् त्याग करूं, तो मन्दिर व वातावरण सहायक कहलायें, और यदि मन का व्यापार चलने दूं, इस पर ब्रेक न लगाऊं, तो मन्दिर तो जबरदस्ती मुझ से विकल्प छीनने से रहा, अतः मन्दिर के लिये घर से चलते समय पहिला पग ही जब आगे बढ़ जाये, तब से अपना मन्दिर सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ करना है।

"अब चला हूं प्रभु के साथ तन्मय होने, अपनी शान्ति का, तृप्ति का, स्वाद लेने, परम आल्हाद में नृत्य करने, मानों प्रभु की वीतरागता अभी से घूमने लगी है मेरे हृदय पट पर। अरे चेतन ! यह विकल्प क्यों ? क्या नाता है इन पदार्थों से, कुटुम्ब से, इस सम्पत्ति से, या इस शरीर से तेरा ? सब जड़ या चेतन पथिक जा रहे हैं अपने अपने मार्ग पर, बराबर बढ़ते हुए एक लक्ष्य की ओर, जाने क्यों ? मैं भी जा रहा था अब तक इनको साथ, पर मुझे मुड़ जाना है दूसरी पगडंडी पर, और इन सबों को जाना है सीधे इसी पगडंडी पर, जाने दो इन्हें, तुझे क्या मतलब कहीं जायें ये, तू अपना मार्ग देख और यह देखें अपना, निभा लिया जितना साथ निभाना था, सदा किसका साथ निभता है, योंही मिलते और बिछड़ते रहते हैं। अब इधर मत देख, इस अपने मार्ग की ओर देख, इस पर जाते हुए भी तो कोई न कोई साथी मिल ही जायेगा घबराता क्यों है भले कम पथिक जाते हों इस मार्ग पर, परन्तु जाते तो अवश्य हैं, मार्ग सूना तो नहीं है। वे तो थे सब स्वार्थी, लुटेरे, और इधर मिलेंगे निःस्वार्थी, करुणाधारी, वे देखो दूर दीखाई दे रहा है और कोई जाता हुआ, कितनी शान्त है उसकी चाल" और इसी प्रकार की विचार धारा में बहते न जाने कब आ जाये मन्दिर की ड्योढ़ी।

आज भगवान के दर्शन करने जा रहा हूँ, परम अभीष्ट शान्ति की उपासना को जा रहा हूँ। तो सर्व विकल्पों की गठरी छोड़ दे इसी ड्योढ़ी के बाहर, इसको सर पर रखे कैसे जायेगा तू आगे ?और अच्छा भी क्या लगेगा इस घसियारे कीसी दशा में प्रभु के आगे जाता हुआ ?यह माली तो यहां बैठा ही है जरा देखते रहना भाई ! वापिस आकर उठा लूंगा," और इस प्रकार सर्व विकल्पों के भार को त्याग कर, प्रवेश करता हूँ मन्दिर में, मानों आज मैं साधु ही हूँ, मेरे में और साधु में अंतर ही क्या है। उसने घर सम्पत्ति को त्याग वैराग्य धारा और मैंने भी घर सम्पत्ति तथा उनके विकल्पों की गठरी को त्याग वैराग्य धारा, वह भी शान्ति की ओर उन्मुख और मैं भी शान्ति की ओर उन्मुख, रहे यह वस्त्र, सो इनकी कोई मुख्यता नहीं क्योंकि इस समय देव के अतिरिक्त मुझ कुछ दिखाई ही नहीं देता, यहां वस्त्र बेचारे मेरी दृष्टि में कैसे आवें। "और यह देखो आगया अब मैं साक्षात् प्रभु के सामने।" इसके पश्चात् वही तल्लीनता जिसके सम्बन्ध में पहले काफी बताया जा चुका है।

इस प्रकार अपनी अपनी योग्यता अनुसार किसी निश्चित समय के लिये, १५ मिनट आधा घण्टा या एक घन्टे के लिये सर्व संग विमुक्त होकर, घर गृहस्थी से नाता तोड़ कर, थोड़े समय के लिये मानों मुनि हूँ ऐसा मान कर यदि मन्दिर में प्रवेश करूं तो मेरे प्रयोजन की सिद्धि हो और

उसी का नाम है वास्तव में मन्दिर जाना। उतने समय के लिये इतनी दृढ़ता होनी चाहिये, जैसी कि सेठ धनञ्जय को हुई थी। धन का लाभ हानि तो तुच्छ सी बात है, यदि पुत्र मृत्यु का समाचार भी आ जाये तो नेत्र न हटें- प्रभु पर से, और कोई विकल्प न आने पावे मन में। "अरे ! उस पुत्र का नाता है ही कहां मेरे पास इस समय ? वह तो बाहर पड़ा है गठड़ी में। भाई ! जरा बाहर प्रतीक्षा करो, जब बाहर आऊं तो याद दिलाना। खोजूंगा उस गठड़ी में तुम्हारा कागज़ कहीं मिल गया तो। अब तो कुछ याद नहीं पड़ता, अभी दफ्तर का समय हुआ नहीं, शान्ति का भोजन कर लूं, फिर आऊंगा, फिर सुनूंगा कि क्या कहना है तुम्हें, अब इस समय अवकाश नहीं।" ऐसे होने चाहियें विचार उस अवसर पर, तब कहा जा सकता है कि मन्दिर में जाना सफल हुआ, और उसे तू स्वयं अनुभव करेगा, यह है वास्तविक देव दर्शन।

२३

❀ गुरु उपासना ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २८ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४४

१—तत्वों की पुनरावृत्ति, २—गुरू परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता, ३—गुरू का जीवन एक शिक्षा है, ४—आदर्श गुरू उपासना, ५—देव व गुरू में कथञ्चित समानता, ६—पर होते हुए भी इन का आश्रय क्यों ७—प्रयोजन वश अनेकों गुरू, ८—गुरू परीक्षा की प्रधानता और उसका उपाय, ९—गुरूकी यथार्थ पहिचान वीतरागता, १०—यथार्थ गुरू, ११—अयथार्थ गुरू, १२—कालादि के बहानों का निराकरण ।

१ तत्वो की पुनरावृति **पूर्व संस्कारों को विजय कर महान विकल्प सागर से पार हो जाने वाले, तथा गम्भीर प्रशान्त सागर की अथाह गुरुता को प्राप्त हे गुरुवर ! मुझे भी गुरुता प्रदान करें । हे कुशल खेवटिया ! मेरी नौका इस भव सागर से पार करो उस पार, जहां न रागद्वेष की ज्वाला हो और न हो हर्ष शोक की आंधी, हो एक गहन शान्ति । आज मैं अशान्त हूँ पर प्रतिक्षण मिलने वाली अन्तरंग की प्रेरणा, मुझे शान्त द्वीप की ओर जाने के लिये वाचाल कर रही है, परन्तु विकल्पों की इस आंधी में अत्यन्त विशाल व भयानक इस भव सागर को इन शक्ति हीन भुजाओं से कैसे पार करूं ?**

हे गुरुवर ! यदि जन्मान्ध इस पामर को आंखें प्रदान करके आप यह न दर्शाते कि मेरा घर शान्ति है, और आज मैं अशान्त सागर में गोते खाता हूँ, तो किस प्रकार मुझे आपकी शरण भाती? मैं कैसे यह समझ पाता कि मैं तो चिदानन्द घन पूर्ण परमेश्वर, आनन्द मूर्ति, तथा ज्ञान शरीरी वर्तमान में स्थित प्रभु आत्मा हूँ, चैतन्य हूँ, अमूर्तिक हूँ ?

तथा जीव तत्व के ऐसे श्रद्धान बिना कैसे यह विश्वास करता कि, (यह मेरे हैं मैं इनका हूँ, इनसे मुझे सुख दुःख है और मुझसे इन्हें सुख दुःख है) इस प्रकार की धारणाओं के आधार से इन्द्रियों से दीखने वाले निज क्षेत्र से पृथक-स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदिक पदार्थ, मेरे आंगन में रह कर नृत्य करने वाला यह चमड़े का शरीर व सूक्ष्म कार्माण शरीर तथा नित्य उठने वाले यह विकल्प आदिक, सभी पदार्थ 'पर' हैं, मुझ से अत्यन्त भिन्न हैं, इनमें मेरा हित निहित नहीं है । आज तक सदा यही मानता आया हूँ कि, "इनका कार्य मैं करता हूँ और इनके कारण मेरा काम होता है, इनके लिये मैं कार्य करता हूँ और मेरे लिये यह काम करते हैं, मेरे स्वभाव में से इनका कार्य अर्थात् लाभ हानि निकलती है और इनमें से मेरा कार्य बनता है, मेरे आधार पर इनका जीवन व सत्ता है और इनके

आधार पर मेरा जीवन व सत्ता है, मैं न होऊं तो यह न हों, और यह न हों तो मैं न होऊं, मैं इनकी रक्षा करता हूं यह मेरी रक्षा करते हैं तथा यह न होते तो मेरा भी कल्याण हो गया होता, न्याय अन्याय कभी न करता ; मुझ निर्दोष को दोषी बनाने वाले यह हैं, मैं तो उज्ज्वल निर्दोष हूं," इत्यादि। इस प्रकार की पर-पदार्थ के साथ षट्कारकी अभेद बुद्धि के कारण इनके ही काम में व्यग्रता धारण कर, अपने काम से विमुख मैं अशान्त बना हुआ हूं और मजा यह कि फिर भी चाहता शान्ति ही हूं। यह सब आपका ही प्रसाद है कि आज मैं इन सब को प्रत्यक्ष पर-पदार्थ के रूप में, अपने से बिलकुल भिन्न षट्कारकी रूप से पृथक देखने में समर्थ हुआ हूं, इन सब को अपनी दृष्टि में अजीव तत्व रूप देख पाया हूं। वह मेरी भारी भूल थी कि 'अजीव इतने होते हैं, इतने प्रकार के होते हैं, इनके लक्षण यह हैं' इत्यादि जानने को ही अजीव तत्व का श्रद्धान गिनता रहा। कभी विश्लेषण द्वारा स्व व पर को जुदा करके नहीं देखा।

'यदि मेरी भूल है तो हुआ करे, इस भूल से मेरी हानि ही क्या है ?' इसी प्रकार की धारणा आज तक बनी रही। यह भी कभी सोचने को अवकाश न मिला कि मेरी वर्तमान की दशा क्या है, और शान्ति का स्वरूप व उसकी प्राप्ति का सच्चा उपाय क्या है ? उपरोक्त पर-पदार्थों की व्यग्रता में, इच्छाओं के आधार पर अर्थात् इच्छाओं को बढ़ा चढ़ा कर, मैं शान्ति खोजने बैठा हूं, यह महान आश्चर्य है। आपके बिना मुझे इस अन्धकार में कौन सुझाता कि यही तो मेरा अपराध है और इस अपराध के ही द्वारा पुष्ट किये गये, नित्य के राग द्वेष को प्रेरित करने वाले संस्कार ही मेरे वास्तविक बन्धन हैं, अशान्ति का मूल हैं। आपका शाब्दिक उपदेश पाकर आज तक यही मानता आया हूं कि जड़ कर्मों का मेरे प्रदेशों में आना मात्र कोई आस्रव नाम का तत्व है, और उनका किसी विचित्र प्रकार से बन्धन होकर कार्माण शरीर का रूप धारण कर लेना ही बन्ध तत्व है। आज तक अपनी शान्ति व अशान्ति को खोजने का प्रयत्न ही नहीं किया। कर्म हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं, इस प्रकार के भेदों की उलझन में उलझा अपने को ज्ञानी मान बैठा, और झूठे अभिमान के शिखर पर बैठ, नीचे पड़ी बिलखती अपनी शान्ति की अवहेलना करने लगा।

आपकी महान कृपा से आज वह कुछ रहस्य प्रगट हो जाने पर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है-शान्ति पथ, अशान्ति के उपरोक्त भ्रमात्मक पथ से बिलकुल उलटा-विपरीत दिशा में जाने वाला। धन्य है आपकी बुद्धि को जो विष में अमृत खोज निकाला। अनुमान के आधार पर यह जानकर कि वहां अशान्ति है, और मुझे चाहिये शान्ति, वहां विकल्प हैं और मुझे चाहिये निर्विकल्पता' यह सिद्धान्त बना डाला कि शान्ति का मार्ग अशान्ति से बिलकुल उलटा ही होना चाहिये। आपने देखा कि अशान्ति उत्पन्न हो रही है पर-पदार्थों का आश्रय लेने से, अतः शान्ति का मार्ग होगा उनका आश्रय छोड़ देने से और इसलिये मुझ पामर को उपदेश में बताने लगे यही रहस्य, कि यदि मैं उन पर-पदार्थों का कर्त्ता न बनूं, उनसे लाभ हानि न मानूं, उनमें रस न लूं, तो अवश्य शान्त हो जाऊं। उसी मार्ग का अर्थात् संवर का प्रकरण चल रहा है। लक्ष्य है पर-पदार्थों का आश्रय कतई न हो, कर्ता बुद्धि के आधार पर होने वाला राग व द्वेष बिलकुल न हो।

राग और द्वेष दोनों सहोदर हैं, "यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः" जहां राग होता है वहां द्वेष होता ही है। कोई द्वेष को बुरा समझे और राग को अच्छा माने सो गलत है, दोनों ही

आकुलता जनक हैं, स्वयं आकुलता स्वरूप हैं, उनको दूर करना ही होगा। 'यह बिल्कुल न हों,' ऐसा तो हुआ लक्ष्य। हमें तो इस लक्ष्य की पूर्ति करनी अभीष्ट है, इसे कार्यान्वित रूप देना अभीष्ट है। लक्ष्य मात्र से तो काम चलता नहीं और उसकी प्राप्ति की जिज्ञासा रख कर उस ओर चले बिना वह लक्ष्य भी क्या ?

अब देखना यह है कि क्या इस लक्ष्य की प्राप्ति एक समय में हो जानी सम्भव है, अर्थात् क्या सम्पूर्ण राग द्वेष का जीवन में से विच्छेद किया जाना सम्भव है ? नहीं, लक्ष्य एक समय में निश्चय हो जाया करता है पर प्राप्ति करने में अधिक समय लगता है। लक्ष्य बनाना एक बात है और उसकी प्राप्ति करना दूसरी बात। लक्ष्य में कोई क्रम नहीं होता, परन्तु प्राप्ति के लिये कोई मार्ग होता है, जिसमें क्रम पड़ता है, उस मार्ग में धीरे धीरे शक्ति अनुसार चलना होता है। इसलिये चलते चलते कोई आगे निकल जाता है और कोई रह जाता है-पीछे, किसी में शान्ति अधिक प्रगट हो जाती है और किसी में रह जाती है-कम। जितना बल लगाओ, जितनी तेजी से चलो उतनी ही जल्दी शान्ति के निकट पहुंच जाओ। क्या अधिक बल वाले और क्या हीन बल वाले, उस मार्ग पर चलने की देर हैं पहुंच तो दोनों ही जायेंगे-लक्ष्य पर, कोई पहले और कोई पीछे। अतः प्रभु ! अपने को असमर्थ मत समझ, उस मार्ग पर चलने की सामर्थ्य तुझ में न हो, ऐसी बात नहीं है, अतः चल, भले ही धीरे धीरे चल सके।

२ गुरु परीक्षा की मुख्यता व सार्थकता

शान्ति के मार्ग में गमन करते हुए तेरा पहला कर्तव्य होगा क्या करने में? वह होगा देव पूजा में, शान्ति के पूर्ण आदर्श के बहुमान में, उसकी भक्ति व उपासना में, अथवा चैत्य चैत्यालय व शान्त स्वरूप प्रतिमा के भावपूर्ण दर्शनों में, आदर्श पूजा में। पूजा जैसी कि पहले प्रकरणों में बताई गई है, अर्थात् देव कैसा होना चाहिये, प्रतिमा व मन्दिर से क्या लाभ अनुकूल वातावरण का मन पर प्रभाव पड़ता है इत्यादि, बातें बताते हुए भली भान्ति यह बात दर्शा दी गई थी कि देव का आश्रय लेने का यह प्रयोजन नहीं है कि वह मुझे जबरदस्ती तार देगा। पर यह है कि नमूने के रूप में उसे अपने सामने रखकर, मै अपने जीवन में उसका रूप ढालने का प्रयत्न कर सकूं। जैसा नमूना होगा वैसा ही माल बनाया जा सकेगा, इसलिये नमूने के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधानी बर्तने की आवश्यकता है। खूब अच्छी तरह परीक्षा करके, अपनी अभिलाषाओं के अनुरूप ही नमूना अर्थात् देव को उपास्य रूप में ग्रहण करना चाहिये। बिना विवेक के जैसे तैसे भी आदर्श से हमारा लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता।

अब दूसरे कर्तव्य की बात चलती है, वह है गुरु उपासना। जिस प्रकार ऊपर अच्छी प्रकार घूम फिर के, खूब परीक्षा करके ही, अपने लक्ष्य के अनुरूप देव मैंने पहले खोजा है, उसी प्रकार यहां गुरु के सम्बन्ध में भी जानना। गुरु मेरी नाव के खेवटिया है, अतः देव से भी अधिक है-उनकी मुख्यता। जैसा कैसा भी गुरु मेरी नाव को किस दिशा में ले जाय, शान्ति की ओर ले जाये या अशान्ति की गहराई में डुबादे, यह कौन जाने, अतः खूब अच्छी तरह परीक्षा करके ही किसी को गुरु स्वीकार करना योग्य है। गुरु बुद्धि वाला है, अपने उपदेशों से वह शिष्य की बुद्धि को अपने अभिप्राय के अनुसार घुमा सकता है, अतः गुरु को स्वीकार करने से पहले यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इसका

आन्तरिक अभिप्राय क्या है, इसका जीवन शान्ति की ओर जा रहा है या अभिलाषाओं के पोषण की ओर।

३ गुरु का जीवन एक शिक्षा है

देव पूजा वत् ही गुरु उपासना का प्रयोजन गुरु को प्रसन्न करने का या रिझाने का नहीं है बल्कि उनके शान्त स्वरूप पर से अपना शान्त स्वरूप निहारना, उनके गुणों पर से अपने गुणों को स्मरण करना, तथा उनके जीवन पर से अपने जीवन में कुछ परिवर्तन की प्रेरणा लेना है। इस मार्ग में मेरी प्रगति बराबर बढ़ती हुई चली जानी चाहिये। यद्यपि देव पूजा करते समय आध पौन घण्टे के लिए, अन्तरंग की प्रगति उस समय अवश्य कुछ शान्ति की ओर बढ़ी थी, पर दैनिक चर्या के अन्य समयों में लौकिक धन्धों में फंस कर वह पुनः मन्द पड़ जाती है, लुप्तवत हो जाती है। गुरु का जीवन मुझे मन्दिर मात्र में सीमित कर्त्तव्य ही नहीं दर्शाता, बल्कि चौबीस घण्टों की मेरी जीवन चर्या में कुछ योग्य अन्तर डालने की प्रेरणा देता है, तथा इस संशय को दूर करता है कि यह शान्ति पूर्ण हो सकनी शक्य भी है या नहीं। गुरु से प्रश्न करके नहीं बल्कि उसके जीवन पर से यह बात पढ़ी जा सकती है, कि यह शान्ति अवश्य पूर्ण हो सकती है, और मुझे अपने जीवन में कुछ इस प्रकार से परिवर्तन करना चाहिए। जैसा कि देव पूजा के प्रकरण नं० ११ के अन्तर्गत दृष्टान्त में प्रगट करके दिखाया गया था। एक जीवित आदर्श से कुछ शाब्दिक उपदेश न मिलने पर भी एक भारी उपदेश मिलता है। यह उपदेश कुछ ऐसा होता है जो सीधा जाकर जीवन पर टकराता है, और जीवन की दिशा को घुमा देता है। दो वर्ष की स्वाध्याय भी इतना नहीं सिखा सकती जितना कि एक मिनट की गुरु उपासना सिखा देती है। गुरु जीवित आदर्श है इसलिये इनकी उपासना या दर्शन मेरे जीवन में एक फेर ला सकने में समर्थ है। यद्यपि गुरु मौखिक उपदेश भी देते हैं, जिससे बड़े बड़े सैद्धान्तिक रहस्य खुल जाने के कारण मार्ग सफल बन जाता है, परन्तु जीवन को प्रेरणा देने वाला उपदेश वचनों से नहीं बल्कि स्वयं उनके जीवन से लिया जाता है। शाब्दिक उपदेश हम शास्त्र में से भी पढ़ सकते हैं पर जीवित उपदेश हम गुरु के सिवाय कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए गुरु उपासना है इस मार्ग में दूसरा पग जो मार्ग का बड़ा आवश्यक अंग है।

४ आदर्श गुरु उपासना

मेरी भान्ति उन गुरुओं ने भी प्रथम पग देव पूजा में ही रखा था। वहां से बढ़ते बढ़ते ही उन्होंने अपने अन्दर से आती हुई कोई गर्जना सुनी कि "प्रभु ! तू सिंह है, सिंह की सन्तान है; त्रिलोकाधिपति है, तू अपने को पामर व कायर मत समझ, अपनी जाति को पहिचान, जिनका तू उपासक बना है, वही तू है।" उससे ही इन्हें जागृति मिली, प्रेरणा मिली, और बन गये वीर, सच्चे वीर, इन्द्रिय विजयी। ऐसा वीरत्व अपने अन्दर जागृत करने के लिये ही गुरु उपासना की प्रधानता है। गुरु उपासना का अर्थ गुरु के पांव दबा देना, या उनकी झूठी प्रशंसा करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करना मात्र नहीं है, इसका आन्तरिक अर्थ कुछ और ही है।

उपासना कहते हैं गुरु की अन्तरंग वीतरागता के दर्शन करने को। धन्य है प्रभु ! आपका जीवन। आपके पास गृहस्थ दशा में सब कुछ होते हुए भी आपने उसकी ओर चित्त न लगाया और वास्तव में आपने तत्व को समझा है। मुझ पामर का भी उद्धार कीजिये, वही भावना वास्तव में मेरे अन्दर भी जागृत कीजिये। (वस्तुतः भावना यह जागृत नहीं करेंगे, परन्तु भक्ति के आवेश में उनके

प्रति बहुमान होने से ऐसे शब्द निकल ही जाया करते हैं।) (जैसा कि देव पूजा के प्रवचन नं० ४० दिनांक २४ जुलाई १९५९ के प्रकरण नं० १२ में बताया गया था) गृहस्थ में आप अपने को सन्तान का सहायक मान रहे थे, परन्तु कितनी जल्दी छोड़दी वह मान्यता? मेरा भी यह भ्रम दूर करदीजिए प्रभु! आपने इस संसार से दूर एक नया संसार बसाया है, कितना सुन्दर है यह संसार जहाँ शान्ति सुन्दरी के साथ आप किलोल कर रहे हैं, जहाँ इस सुन्दरी की कोख से आपके सन्तति उत्पन्न हुई है, निष्कपटता व निष्कषायता तथा अन्य अनेक सद्‌गुण। मुझे भी वहीं ले चलिए प्रभु! कितने स्वतन्त्र हैं आप—न है वस्त्र की आवश्यकता न धन की, न किसी की सहायता की आवश्यकता न इन्द्रादि पदों की, धन्य है आपकी स्वतन्त्रता को, धन्य है आपकी निर्भयता को, धन्य है आपकी साम्यता को। सुख व दुख में, अनुकूलता व प्रतिकूलता में, सदा समान भाव, सदैव अपने को ही निहारा करते हैं, मुझ पर भी करुणा कीजिये नाथ, यह भाव व शक्ति मुझे भी प्रदान कीजिये।

देखिये भगवन्! आपका वीर्य कितना बढ़ा हुआ है, कि आपने कुटुम्बादि से ममत्व छोड़ा तो छोड़ा, परन्तु इससे भी आगे आपने तो मेरी ऐसी बुद्धि को, "कि क्या गरमी सर्दी आदि की बाधायें सहन करने को मैं समर्थ हो सकूंगा?' दूर करके यह सिद्ध कर दिया है कि मैं अवश्य सहन कर सकूंगा। आप धन्य हैं, परन्तु इससे मेरे जीवन को कुछ प्रेरणामिले तभी तो यह 'धन्य', धन्य है। आज के लोकों को सम्भवतः यह भ्रम होता है कि दिशाओं मात्र को वस्त्र रूप से ग्रहण करते हुए, आकाश की खुली छत के नीचे, गरमी सर्दी को कुछ जबरदस्ती केवल भावुकता वश सहन करते हुए, आप कष्ट सहन कर रहे हैं, और वह कष्ट सहन करना ही आपको मुक्ति दिला देता है, परन्तु यह केवल भ्रम है। अब मुझे आपके प्रसाद से तत्वों का प्रकाश मिला है। कोई जीव अशान्ति के मार्ग में से शान्ति पा नहीं सकता, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है। आपके जीवन को तपश्चरण का जीवन कहा जाता है परन्तु क्या जाने क्यों मुझे तो वह फूलों की सेज पर विश्राम करता प्रतीत होता है, यह सुख का मार्ग है, इसमें दुख है ही नहीं। कड़ाके की सर्दी सहन करते हुए भी आपकी मुखाकृति देखने पर आपके अन्तर में कल्लोलित शान्ति रस का सागर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। अशान्ति की एक रेखा को भी वहां प्रवेश नहीं। यदि सर्दी आदि सहन करने से आपको दुःख होता तो आपके अन्दर अशान्ति होती, और वह आपके मस्तक पर आये बिना न रहती परन्तु यहां वह दीखती ही नहीं।

अब मैं जान पाया हूं, कि ये बाधायें आपके लिये बाधायें नहीं हैं। आपका वीरत्व जागृत हो चुका है, आज आपने साक्षात् शत्रुओं को ललकारा है, शत्रु सामने खड़े हैं परन्तु किसी में सामर्थ्य नहीं कि आपको डिगा सके। धन्य है यह साहस, कि यह बात प्रत्यक्ष दिखादी है, शब्दों से नहीं वरन् अपने जीवन में। आप कितने बड़े योद्धा बनकर युद्ध क्षेत्र में उतरे हैं, जहां बड़े से बड़ा शत्रु आता है—आपको विचलित करने के लिये-आपकी परीक्षा करने के लिए—पोष माघ में चलने वाला तीव्र वायु का वेग, रात्रि को कितनी ठण्ड कर देता है, परन्तु आप ऐसी रात्रि में भी धैर्य और शान्ति से, चिन्तवन में निजानन्द रस पान किया ही करते हैं। आपके साहस को देख कर मानों जन सामान्य को कम्पा देने वाला तुषार स्वयं कम्पायमान हो गया है आज। वह भागा जा रहा है न जाने किस ओर? वह आपके प्रहार से मानों भयभीत होकर आज खण्ड खण्ड हो, हिम के रूप में आपके चरणों में आ पड़ा है।

इस प्रकार के भावों से गुरु का स्वरूप देख कर, अपनी शक्ति को स्वीकार करना ही वास्तव में गुरु उपासना है। यदि मैं गुरु उपासना करूं और करता ही चला जाऊं, जब तक कि वीरत्व प्राप्त न कर लूं, तो क्या मैं समझ न पाऊंगा कि मेरे लिये भी वैसा बन जाना सम्भव है? और क्या इससे मेरी गति इस मार्ग में और न बढ़ेगी? इस उपासना के प्रताप से मेरा लक्ष्य और निकट आ जायेगा। अतः हे कल्याणार्थी! हे शान्ति पथ के पथिक! राग की शरण को छोड़ अब वीतरागी गुरु की शरण में जा।

मुज़फ्फ़रनगर दिनांक २९ जुलाई १९५९

प्रवचन नं० ४५

५ देव व गुरु में कथञ्चित समानता

शांति की प्राप्ति करने चला हूं तो उसकी प्राप्ति से पहले 'यह क्या है' यह जानना आवश्यक है, ऐसा न हो कि हीरे के बजाय कांच ले आऊं। यद्यपि पहले शान्ति के स्वरूप सम्बन्धी प्रवचन में चार प्रकार के शांति के चित्र खेंच कर उसके झूठे व सच्चेपने की परीक्षा कर ली गई थी परन्तु नमूना देखें बिना उस रहस्य को समझना कुछ कठिन है, इसलिये शांति का नमूना देखने की आवश्यकता है। देव तो पूर्ण शान्ति के आदर्श हैं ही-परन्तु उनसे किञ्चित् कम दशा में गुरु भी पूर्णवत् ही शांति के आदर्श हैं, क्योंकि बाह्य से देखने में देव व गुरु दोनों की शांति में कुछ अन्तर दिखाई नहीं देता, अंतरंग में भले ही कुछ अंतर हो तो हो, उसको वह स्वयं जानें, मुझे उससे कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये शांति के मार्ग में जितने वन्दनीय व पूजनीय देव हैं उतने ही गुरु भी हैं। बलिक किसी अपेक्षा से गुरु का स्थान मेरी दृष्टि में देव से भी ऊंचा है, क्योंकि मुझे कीचड़ से निकाल कर मुंह दर मुंह आकर, वह मुझे मेरा हित न दर्शाते तो देव का परिचय भी मुझे कैसे प्राप्त होता, मैं इस उत्तम मार्ग में आकर अपने जीवन को किञ्चित् भी शांत कैसे बना पाता। शांति की अपेक्षा देखने पर तो पांचों ही परमेष्ठियों का एक स्थान है। 'आचार्य कुछ ऊंचे हैं, उपाध्याय कुछ नीचे हैं, अर्हन्त सबसे ऊंचे हैं' इत्यादि, इस प्रकार का भेद एक वन्दक की दृष्टि में है ही नहीं। क्योंकि वास्तव में वह न देव को वन्दता है न गुरु को वन्दता है, उसका वन्दन तो है केवल एक शांति के लिये, जो पांचों में ही उसे बाह्य में समान रूप से दिखाई देती है।

३ पर होते हुए भी गुरु का आश्रय क्यों

किसी को पूजने में व्यक्ति का कोई न कोई लक्ष्य तो होता ही है और इसीलिये धन का इच्छुक लक्ष्मी को पूजता है, बही बाट तराजू गज आदि को पूजता है, सो वृथा नहीं पूजता, क्योंकि उसके अंतरंग में धन प्राप्ति का लक्ष्य है। इसी प्रकार पंच परमेष्ठी की पूजा में भी मेरा कोई न कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिये। वह लक्ष्य क्या है? "तू चैतन्य पदार्थ है, यह सब स्त्री पुत्र धन धान्यादि तुझ से भिन्न हैं, शरीर, रागद्वेषादि यहां तक की यह लौकिक पर्याय भी किसी अपेक्षा 'पर' है, ज्ञान में इनका आश्रय आने पर कुछ रागात्मक विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अतः इनका आश्रय छोड़े बिना शांति मिलनी असम्भव है।" इस प्रकार एक ओर तो पर तत्व को छोड़ने का आदेश दिया जा रहा है, उसे अनिष्ट बताया जा रहा है और दूसरी ओर देव व गुरु का

आश्रय लेने की, उनकी पूजा, वन्दना आदि करने की प्रेरणा दी जा रही हैं। क्या देव व गुरु स्व हैं ? यह भी तो पर हैं, फिर उस ही का निषेध और उसी का ग्रहण, कैसी अजीब बात है जो समझ में नहीं आती। सो भाई ! ऐसी बात नहीं है, पर तत्व का आश्रय तो सदैव ही अशान्ति का कारण है, हमारा कर्तव्य तो एक मात्र निज शांति में ठहरना ही है, परन्तु क्या करें, अल्प दशा में यह सम्भव नहीं दीख रहा है। पूर्व प्रबल संस्कार वश, अधिक देर शान्ति में स्थिरता रहती नहीं, पुनः पुनः लौकिक पर-पदार्थों की ओर ही उपयोग भागने का प्रयत्न करता है इसलिये यदि पर तत्व का ही आश्रय लेना है तो किसी ऐसे का ही ले, जिससे लौकिक तीव्र रागात्मक विकल्प तो न उठ पावें। विकल्प ही उठे तो शान्ति सम्बन्धी तो उठें और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये शांति को प्राप्त किन्हीं पर तत्वों का आश्रय लेने के लिए कहा जा रहा है। लौकिक पर पदार्थों का आश्रय पराश्रय के लिये होता है, इन में से रस लेने के लिये होता है, पर यह आश्रय पराश्रय छुड़ाने के लिये है।

यहां बड़े भारी विवेक की आवश्यकता है, क्योंकि पराश्रय की बात है। बड़ी देख भाल कर, ऐसे का ही आश्रय लेना योग्य है जिनमें कि कुछ मेरे लक्ष्य बिन्दु की आभा दिखाई दे, शान्ति दिखाई दे, वीतरागता दिखाई दे। यहां 'पर' के आश्रय से अर्थात् गुरु के आश्रय से उठने वाली मेरी अपनी ही भावनायें, क्योंकि मुझे वे मेरी शान्ति की याद दिलाती प्रतीत होती हैं, निज शान्ति के दर्शन कराती प्रतीत होती हैं, इसलिये वह 'पर' का आश्रय भी स्व के आश्रय के लिये ही है। भविष्यत की बात नहीं वर्तमान में ही उसके आधार पर मैं अधिकाधिक स्व की ओर झुकता प्रतीत होता हूँ, अतः बाह्य में देव व गुरु का आश्रय अन्तरंग में निज शान्ति का ही आश्रय है, दोनों क्रियायें साथ साथ चल रही हैं। लौकिक पर पदार्थों से बाह्य निवृत्ति, देव गुरु में बाह्य प्रवृत्ति, देव गुरु में अन्तरंग निवृत्ति, स्व शान्ति में अंतरंग प्रवृत्ति। निवृत्ति व प्रवृत्ति दोनों मार्गों का कितना सुन्दर समन्वय ? यही है पंच परमेष्ठी की पूजा या उपासना में मेरा स्वार्थ। यहां विवेक की मांग है, कि यदि इस अल्प दशा में तुझे पर का आश्रय लेना ही है, तो किसी ऐसे का ले जो तेरे लक्ष्य के अनुकूल हो।

७ प्रयोजन वश अनेकों गुरु — यद्यपि गुरु के सम्बन्ध में भी देव वत् निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ही गुरु है क्योंकि जिससे अपने जीवन के लिये कोई भी हित की बात सीखने में आये, वह गुरु है। इस प्रकार एक जुआरी का गुरु जुआरी और एक चोर का गुरु चोर ही हो सकता है, अन्य नहीं। यद्यपि जीवन को उन्नत बनाने के लिये लौकिक विद्या प्रदान करने वाले स्कूल के मास्टर भी गुरु हैं, परन्तु यहां जीवन सम्बन्धी कोई बात सीखना अभीष्ट नहीं है अतः वे लौकिक गुरु यहां गुरु नहीं कहे जा सकते। शान्ति सम्बन्धी कोई बात जिससे सीखने में आवे सो ही यहां गुरु कहा जा सकता है। इस प्रयोजन के लिये भी, कदाचित् अनेकों कुछ ऐसे व्यक्ति या पशु व जड़ पदार्थ तक भी गुरु बनते हुए पाये जाते हैं, कि जिन बेचारों को यह भी पता नहीं कि शान्ति किस चिड़िया का नाम है। जैसे सारी रात ग्राहक की प्रतीक्षा में बिता देने पर अंत में प्रातः को निराशा के कारण निद्रा की गोद में चली जाने वाली वेश्या, 'निराशा संतोष की जननी है' ऐसा उपदेश देने के कारण गुरु मानी जा सकती है। अथवा रोटी के टुकड़े को लिये हुए किसी चील पर अन्य चीलों को झपटते देख यह उपदेश मिलता है कि परिग्रह दुख का और झगड़े का मूल है; अतः इस दृष्टि से यह चील भी गुरु कही जा सकती है। तथा दाल के सोये को देखकर, दाल व उसके छिलके वत् 'चैतन्य तत्व व शरीर की पृथकता' का उपदेश मिल जाने के कारण, कदाचित् दाल भी गुरु है।

परन्तु यहां शान्ति का उपदेश देते हुए ऐसे जीवों व पदार्थों को गुरु स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उसमें से किसी का भी जीवन शान्ति का आदर्श नहीं है। यहां केवल वीतरागी व शान्त प्रवृत्ति वाले मनुष्य को ही गुरु कहा जा सकता है भले ही शब्दों में उपदेश देने की योग्यता भी उसमें न हो, क्योंकि शब्दों के द्वारा वह शिक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती जो बिना शब्दों के ही केवल जीवन पर से की जा सकती है। जैसा कि पहले ही देव पूजा के प्रकरण में जिज्ञासु को सेठ के जीवन से साम्यता की शिक्षा मिलन का दृष्टांत दिया जा चुका है। (देखो प्रवचन ३६ पृष्ठ १५१) ऐसे वीतराग व शांत जीवन वाले व्यक्ति भी जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त यथा योग्य रूप में अनेकों प्रकार के वेषों सहित हो सकते हैं। जैसा कि एक सच्चा ज्ञानी गृहस्थ भी किंचित् शान्त व संतुष्ट जीवन के कारण गुरु कहा जा सकता है। परन्तु यहां उनकी भी बात नहीं है क्योंकि गृहस्थ सम्बन्धी अथवा शरीर रक्षण सम्बन्धी जो कुछ भी अधिक या हीन परिग्रह उनके पास देखने में आता है, उनके जीवन में अधिक या हीन अभिलाषाओं का, राग व अशान्ति का प्रदर्शन कर रहा है, जिससे कि वे शांति के आदर्श नहीं कहे जा सकते।

८ गुरु परीक्षा की प्रधानता व उसका उपाय

इसलिए गुरु की परीक्षा करनी आवश्यक हो जाती है,देव की परीक्षा भी आज इतनी आवश्यक नहीं है जितनी कि गुरु की। क्योंकि जो देव आज उपलब्ध है, वह जड़ है, गुरु चैतन्य है, वह बुद्धि पूर्वक उपदेश द्वारा प्रेरित करके अपने आश्रित का उपकार भी कर सकता है और अपकार भी। परन्तु परीक्षा कैसे करें ? देव की परीक्षा तो केवल बाह्य की नग्नता, निष्परिग्रहता व नासाग्र दृष्टि आदि चिन्हों पर से कर लेनी सहल है, वहाँ तो अंतरंग भावों की परीक्षा का प्रश्न ही नहीं है परन्तु गुरु के सम्बन्ध में तो बड़ी सावधानी वर्तनी पड़ेगी, उसकी परीक्षा केवल बाह्य रूप पर से ही करनी पर्याप्त नहीं है, अन्तरंग अभिप्राय पर से करनी होगी। क्योंकि हो सकता है कि किसी का बाह्य वेष नग्न हो, पास में कुछ परिग्रह भी न हो, रहता भी बन में हो, दृष्टि भी नासिका पर टिकाई हो, मुख पर कुछ शान्ति भी प्रतीत होती हो, पर अन्तरंग अभिप्राय उसका मलिन हो। अतः यहां परीक्षा करने के लिये कुछ सूक्ष्म दृष्टि करने की आवश्यकता पड़ेगी, रूढ़ीवाद से काम न चलेगा।

यदि आदर्श के अनुकूल गुरु उपलब्ध नहीं है तो जिस किसी को गुरु स्वीकार कर लेना भी ठीक नहीं है। स्वर्ण के अभाव में पीतल को स्वर्ण मानने के लिये कौन तैयार हो जायेगा ? जब लौकिक बातों में इतनी परीक्षा करता हूँ, तो यहाँ तो हित अहित का प्रश्न है। भगवान कह रहे हैं कि तू ज्ञानी की सन्तान है, अपने पिता को लांछन मत लगाना। मैं त्रिलोकज्ञ का व त्रिकालज्ञ का पुत्र हूँ, मुझे वैसा ही बनना है, परीक्षा के बिना कोई बात स्वीकार कर लेना मेरा काम नहीं। आज तक 'जिस किसी' को गुरु स्वीकार करता आया हूँ, क्योंकि वास्तव में मुझे पता ही नहीं था कि मुझे क्या बनना है, पर आज यह बात जानने के पश्चात् कि मुझे पूर्ण वीतरागी और शान्त बनना है, मैं 'जिस किसी' को गुरु स्वीकार नहीं कर सकता।

जौहरी की दुकान खोली है, इसमें मिट्टी भरने से काम नहीं चलेगा, हीरे ही रखने होंगे, उसके लिये पहले यह पहचानना होगा कि हीरा किसको कहते हैं। अध्यात्म की दुकान में सच्चे गुरु को ही प्रवेश है, अन्य को नहीं, अतः सच्चे गुरु की पहिचान सीखे बिना काम न चलेगा। यह कहना

ठीक नहीं कि हम तो बाह्य का रूप देख सकते हैं, अंतर का अभिप्राय कैसे जानें। एक बालक भी पिता की मुखाकृति को देखकर पहिचान लेता है कि इस समय वह उसे क्रोध से मार रहा है कि प्यार से, यदि क्रोध से मारे तो रो देता है, और यदि प्यार से तो हंस देता है। एक बालक में अंतर अभिप्राय जानने की शक्ति है, तुममें कैसे न होगी ? कुछ मेहनत अवश्य करनी होगी।

गुरु वेष देखना होगा, कुछ दिन उसके निकट सम्पर्क में रहना होगा, उसकी सर्व दैनिक व रात्रीय क्रियाओं को ध्यान से पढ़ना होगा, गमनागमन करते समय उस पर दृष्टि रखनी होगी, उपदेश आदि देते समय या किसी अन्य से व अपने शिष्य से बातें करते समय ध्यान से सुनना होगा, उसकी भोजन चर्या देखनी होगी, उसके उपदेश का ढंग व वचन माधुर्य की ओर ध्यान देना होगा। वस्तुओं को उठाते धरते उस पर दृष्टि रखनी होगी, शौचादि को जाते समय भी उसे निहारना होगा। सामायिक, वन्दना या ध्यान करते समय भी ध्यान से उसकी स्थिरता, अस्थिरता को देखना होगा, सर्व अवसरों पर उसके शरीर के हाव भाव को पढ़ना होगा, मस्तक व मुखाकृति पर नित्य ही आकर चले जाने वाले भावों को पढ़ना होगा। फालतू समय में सैद्धान्तिक चर्चा करके, उसके उत्तरों पर से, तत्व सम्बन्धी अन्तरंग अभिप्राय की जांच करनी होगी। इस प्रकार करने से मैं उसके अन्तरंग अभिप्राय को अवश्य जान जाऊंगा। इतनी योग्यता सब में है परन्तु यदि आंखों पर पट्टी बांध कर परीक्षा करने का प्रयत्न ही न करूं तो लक्ष्य को कैसे प्राप्त करूंगा ? लौकिक बातों में इतना परिश्रम करना पड़ता है तब परम हित की बात बिना परिश्रम कैसे मिलेगी ?

६ गुरु की यथार्थ पहिचान वीतरागता

गुरु के अन्दर वीतरागता होनी चाहिये यही गुरु की वास्तविक पहिचान है। यदि बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह है, उसको तो गुरु मानने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता, क्योंकि वहां तो राग का साइन बोर्ड ही लगा है। परीक्षा तो उसकी करनी है कि जिसने यह साइन बोर्ड ही उतार दिया है। जौहरीकी दुकानमें हीरे ही होने चाहियें कांच नहीं। अतः केवल बाह्य की निष्परिग्रहता पर से गुरु की पहिचान नहीं हो सकती। यह फोकट की वस्तु नहीं, कि कोई भी सर मुंडाले या नग्न हो जाये और बन बैठे गुरु। हित और अहित का प्रश्न है, जीवन मृत्यु का प्रश्न है। ज्ञानी किसी को गुरु केवल इसलिये स्वीकार नहीं करता कि वह भगवां वस्त्रधारी है, वह तो उसको कसौटी पर कसता है।

मुजफ्फरनगर दिनांक ३० व ३१ जुलाई १६५६

प्रवचन नं० ४६ व ४७

बन्धन सहित निज (भगवान) आत्मा को भगवान बनने की जिज्ञासा हुई है, वर्तमान दशा से कम्पन हुआ है, इसे भव सागर के रूप में देखने लगा है ! इससे पार होने के लिये कुशल खेवटिया अर्थात गुरु की खोज है, ऐसा न हो कहीं बीच में ही डूब जाये, अतः गुरु की परीक्षा की बात चलती है। भगवां वस्त्र पहन कर, अथवा जटायें चढ़ा कर, अथवा सफेद वस्त्र पहन कर तथा डण्डा व पात्र आदि रख कर, अथवा त्रिशूल व दण्ड आदि से चिह्नित होकर, अथवा कमण्डल आदि को ग्रहण करके,

अथवा कोपीन मात्र पहन कर या नग्न होकर, और इसी प्रकार न जाने कितने प्रकार के वेष धारण करके आज अनेकों व्यक्ति अपने गुरु होने का या साधु होने का दावा करते हैं। बुद्धि उलझ कर रह गई है, किसको स्वीकार करूं, किस का आश्रय लूं ? घबरा नहीं आत्मन्, देख कुछ लक्षण गुरुदेव स्वयं बता रहे हैं गुरु परीक्षा करने के लिये और तर्क व अनुमान के आधार पर उन सब लक्षणों की असाम्प्रदायिक सत्यता भी सिद्ध है। केवल सम्प्रदायों के आधार पर जिस किसी भी वेष धारी को गुरु स्वीकार करना योग्य नहीं ।

१० यथार्थ गुरु यह पहले ही बता दिया गया है कि गुरु मेरे लक्ष्य के अनुकूल आदर्श स्वरूप होना चाहिये। उनका बाह्य जीवन अर्थात् वेष व रहन सहन तथा अन्तरंग जीवन अर्थात् परिणामों की उज्ज्वलता दोनों ही आदर्श रूप होने चाहियें। मेरा आदर्श है शान्ति, अतः गुरु का जीवन भी शान्त रस में रंगा हुआ होना चाहिये।

अतः गुरु वे होते हैं जो वीतराग व शान्त हों, जिन्हें गरमी सर्दी का, डांस मच्छर का, कुत्ते सिंह आदि क्रूर जन्तुओं का, भूख प्यास आदि का, तथा अन्य भी किसी प्रकार का भय न हो। जो सर्वतः निर्भीक वृत्ति के धारक हों । जिन्हें किसी भी बात का शोक खेद व चिन्ता न हों तथा लज्जा व ग्लानि आदि के भाव न आते हों, जिन्हें कभी क्रोध न आता हो, जिन्हें अपने तप का अथवा ज्ञान का अथवा प्रतिष्ठा आदि का अभिमान न हो। "मैं इतना ज्ञानी व तपस्वी हूं, लोगों को मेरी विनय करनी चाहिये" ऐसा भाव जिन्हें न आता हो। अपनी प्रसिद्धि के लिये अथवा शिष्य मण्डली की वृद्धि के लिये मायाचारी के भाव जिनमें न हों। 'मेरी प्रसिद्धि व ख्याति फैलनी चाहिये, तथा मेरी शिष्य मण्डली अधिक होनी चाहिये' इस प्रकार के लोभ जनक भावों का जिनमें अभाव हो। इस प्रकार जिन्होंने चारों कषायों को परास्त कर दिया हो, वे वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

वे ही सच्चे गुरु हैं जिनका हृदय सदा दया से भीगा रहता हो, छोटे बड़े किसी भी प्राणी को मेरे द्वारा किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचे, मेरे द्वारा सबका हित हो, किसी के प्रति भी मेरे मन में कभी अनिष्ट विकल्प न आये, मेरे मुख से कभी भी पर पीड़ाकारक वचन न निकले, मेरे शरीर से किसी को भी बाधा न हो, जो ऐसी आदर्श अहिंसा के उपासक हों। जिनके मुख से सदा हितकारी, मधुर व सत्य वचन निकलते हों, बिना किसी के दिए जो एक तिनके का भी स्पर्श न करते हों, यहां तक कि हाथ धोने को मिट्टी का ग्रहण भी बिना किसी के दिये न करते हों। स्त्री मात्र से निरपेक्ष जो पूर्ण ब्रह्मचारी हों। क्षुद्र जीवों की रक्षा करने के लिये संयम में सहायक एक कोमल मयूरपंखों की पीछी, शौचादि की शुद्धि के अर्थ एक कमण्डल तथा ज्ञानार्जन के लिये एक दो शास्त्र, इन तीन वस्तुओं के अतिरिक्त –धन, वस्त्र, पात्र, त्रिशूल, दण्ड, औषधि आदि किसी प्रकार का परिग्रह व आडम्बर जो अपने साथ न रखते हों। अर्थात अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महा व्रतों के पालन में जो सदा तत्पर रहते हों वही वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

इन महाव्रतों की रक्षा के लिये जो सदा अपनी मानसिक व शारिरिक क्रियाओं पर साव-धानी पूर्वक नियंत्रण रखते हों। अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये अपने मानसिक विचारों पर जिनका

पूरा अधिकार हो अर्थात, किसी के प्रति भी जिनके मन में अनिष्ट विचार न आते हों। वचन पर भी जिनका पूरा अधिकार हो, अर्थात किसी के प्रति भी अहितकारी अथवा कटुक अथवा अप्रिय अथवा व्यंग आदि के शब्द जिनके मुख से कभी न निकलते हों। इसी प्रकार शरीर के द्वारा गमनागमन करने या हिलाने जुलाने में जो अत्यन्त सावधानी वर्तते हों, अर्थात् गमन करते हुए पृथ्वी को अच्छी तरह देखकर क्षुद्र जीवों को बचाते हुए चलते हों, बैठते व लेटते समय क्षुद्र जीवों को बचाने के लिये आसन व पृथ्वी को अच्छी तरह झाड़ शोध कर हो ग्रहण करते हों। पुस्तक आदि पदार्थों को उठाते व धरते समय भी जो इस प्रकार की सावधानी रखना न भूलते हों। भोजन करते समय भी जो अत्यन्त विवेक से काम लेते हों, अर्थात खूब शोधकर व निर्णय करके ऐसा शुद्ध आहार ही ग्रहण करते हों, जिसके बनाने में त्रस जीवों का अर्थात चलने फिरने वाले बड़े व छोटे जीवों का घात होने की सम्भावना न हो। मल मूत्र व कफ आदि का क्षेपण भी जो सावधानी पूर्वक करते हों, ताकि किसी भी बड़े व छोटे जीव को किसी प्रकार की बाधा न होने पावे। इसी को आगम भाषा में 'तीन गुप्ति' व 'पंच समिति' के नाम से कहा जाता है। मन, वचन व शरीर की क्रियाओं पर पूरी तरह काबू रखने को मन, वचन व काय, गुप्ति कहते हैं। देख भाल कर चलने को ईर्या-समिति, हित मित वचन बोलने को भाषा-समिति, देख शोध कर भोजन करने को एषणा-समिति, वस्तुओं को उठाते धरते समय सावधानी रखने को आदान निक्षेपण-समिति, और मल मूत्र क्षेपण करने में सावधानी वर्तने को उत्सर्ग-समिति कहते हैं। इस प्रकार एक अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये जो पांच समितियों का व यथा योग्य तीन गुप्तियों का भी पालन करते हों, वही वीतरागी सच्चे गुरू हैं।

सत्य व्रत की रक्षा करने के लिये जो क्रोध वश अथवा लोभ या स्वार्थ वश अथवा राजा आदि के भय से भी कभी कोई अहितकारी व अप्रिय वचन बोलने को तैयार नहीं हों, जो कभी हंसी या मजाक आदि न करते हों, सदा दूसरों को पीड़ा न देने वाले, सत्य व प्रिय वचन ही बोलते हैं, वही वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

अचौर्य व्रत की रक्षा करने के लिये जो सदा निर्जन बन में अथवा श्मशान में, अथवा पर्वत की गुफा में, अथवा वृक्ष की कोटर में, अथवा नगर से बाहर किसी टूटे फूटे सूने घर में, अथवा मन्दिर व चैत्यालय में, अथवा गृहस्थों द्वारा प्रसन्नता व भक्ति पूर्वक नगर से बाहर बनाई गई वस्तिका में ही निवास करते हैं। एक स्थान पर अधिक काल कभी नहीं रहते। उस स्थान पर यदि कोई अन्य भी साधू आकर रहने लगे तो उसे रोकते नहीं हैं। जो मौन पूर्वक, याचना रहित, भिक्षा वृत्ति से ही रूखा सूखा, चिकना चुपड़ा, खट्टा मीठा, सलोना अलोना भोजन जैसा कैसा भी हो ग्रहण करते हैं, वह भी प्रसन्नता व भक्तिपूर्वक स्वयं गृहस्थों द्वारा दिया हुआ ही ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं। भ्रमर जिस प्रकार फूल को बाधा पहुंचाये बिना उसका कुछ रस ले लेता है, उसी प्रकार गृहस्थों को बाधा पहुंचाये बिना जो कुछ उसने अपने लिये बनाया है, उसमें से कुछ ले लेते हैं, दातार चाहे गरीब हो या अमीर इसका भी कुछ भेद नहीं करते हैं। जो साधर्मी जनों से वाद विवाद नहीं करते हैं। वही सच्चे वीतरागी गुरू हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिये जो स्त्री सम्बन्धी राग प्रवर्धक कथा न करते हैं और न ही सुनते

जो स्त्री के अंगोपांगों की ओर कभी भी देखते नहीं हैं, जो गृहस्थ अवस्था में पहिले भोगे हुए भोगों को कभी याद भी नहीं करते हैं, जो कामोद्दीपक पौष्टिक आहार का ग्रहण नहीं करते हैं, जो कभी भी अपने शरीर को सुन्दर बनाने की चेष्टा नहीं करते हैं, वही वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

परिग्रह त्याग व्रत की रक्षा के लिये जो पांचों इन्द्रियों के इष्ट व अनिष्ट विषयों में कभी भी राग व द्वेष नहीं करते हैं, अर्थात पांचों इन्द्रियों पर जिन्होंने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली है, वही वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

इन्द्रिय पांच हैं - स्पर्शन अर्थात शरीर, रसना अर्थात जिह्वा, नासिका नेत्र व कान। स्पर्शन इन्द्रिय को नियन्त्रण करने के लिये गरमी सर्दी, कठोर नरम आदि में समबुद्धि रखते हैं, शरीर मैला कुचैला, साफ सुथरा जैसा कैसा भी रहे उसमें सदा समभाव रखते हैं, शरीर पर से मैल आदि उतारने की भी जो परवाह नहीं करते। जिह्वा इन्द्रिय को नियन्त्रित रखने के लिये, जैसा कैसा भी भोजन मिल जाये, समान भाव से ग्रहण कर लेते हैं, भोजन पेट के खड्डे को भरने मात्र के लिये अथवा साधना मार्ग पर चलने वाली इस शरीर की गाड़ी को जिस किस प्रकार खेंचने के लिये ही ग्रहण करते हैं, स्वाद के लिये नहीं। नासिका इन्द्रिय को वश करने के लिये जो दुर्गन्धित पदार्थों से घृणा नहीं करते हैं तथा सुगन्धित पदार्थों में राग नहीं करते हैं। नेत्र इन्द्रिय को वश में रखने के लिये जो सुन्दर व असुन्दर वस्तुओं को समान दृष्टि से देखते हैं, मन को लुभाने वाले पदार्थों को देखने में सदा विरक्त रहते हैं। कर्ण इन्द्रिय को जीतने के लिये जो संगीत आदि सुनने की भावना कदापि नहीं करते हैं और प्रशंसा के शब्द सुनकर प्रसन्न और निन्दा के शब्द सुनकर कभी अप्रसन्न नहीं होते है। इस प्रकार पांचो इन्द्रियों के विजेता ही वीतरागी सच्चेगुरु हैं।

इष्ट व अनिष्ट में, सुवर्ण व पाषाण में, दुख व सुख में, महल व श्मशान में, निन्दा व स्तुति में, पीड़ा व नीरोगता में, सज्जन व दुर्जन में जो सदा समता रखते हैं। तीन बार दिन में तथा रात्रि को भी जो वीतराग देव की स्तुति व वन्दना करते हैं तथा पूर्व कृत अपने कर्मों की निन्दा गर्हा व प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करने में सदा सावधान रहते हैं। और यथावसर दिन में या रात्रि में शरीर के प्रति अत्यन्त उपेक्षित होकर उसकी बाधाओं को सर्वथा न गिनते हुए कुछ समय के लिये उसे त्यागने का अभ्यास करते हैं, अर्थात कायोत्सर्ग धारण करते हैं, इस प्रकार समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व कायोत्सर्ग इन छह आवश्यक क्रियाओं को करने में जो सदा सावधान रहते हैं, वे ही वीतरागी सच्चे गुरु हैं।

निर्भीक-वृत्ति धारण करने के कारण स्वाभाविक रूप से ही उन्हें शरीर को वस्त्रादि से ढकने का, अथवा त्रिशूल आदि शस्त्रों के ग्रहण करने का, अथवा धन आदि रखने का, अथवा मृग छाला आदि अन्य किसी भी पदार्थ को पास में रखने का भी भाव कैसे आ सकता है? शरीर को वस्त्र से ढांपना तो अपने मानसिक विकारों को छिपाने का साधन है जो स्वयं निर्विकार व निर्भय हैं उन्हें वस्त्रादि के ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं है। प्राकृतिक रूप से जैसा भी इस शरीर का निर्माण हुआ है इसमें कृत्रिमता लाने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं। अतः सच्चे गुरु वही हैं जो सदा यथाजात रूप में, अर्थात जैसा बच्चा जन्म लेता है वैसे ही प्राकृतिक नग्न रूप में रहते हैं। शरीर के

अन्दर रहने वाले केश स्वयं बढ़ जाते हैं, तब इसमें अनेकों क्षुद्र जन्तु जूं आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उनकी हिंसा से बचने के लिये वे सर व मूंछ दाढ़ी के बालों को हाथ से खेंच कर उखाड़ फेंकते हैं, वे स्वतन्त्र वृत्ति के धारी हैं अतः किसी से कटवाते नहीं। रागी जीवों को ही दांत धोने और शरीर को स्नान कराने के विचार आते हैं, परन्तु जिन्हें शरीर से कोई मोह नहीं है, और जिनका ग्लानि भाव जाता रहा है, उन्हें दांत धोने व स्नान करने की भी आवश्यकता नहीं, शरीर पर यदि मैल जमता है तो जमने दो, इससे उनके अन्तरंग कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ती है, लोगों को भले वह शरीर बुरा लगे परन्तु इनके लिये बुरा अच्छा कुछ नहीं, अतः वे कभी दांत नहीं धोते और न ही स्नान करते हैं। अपनी साधना में सहायक शरीर की स्थिति के लिये दिन में केवल एक बार ही भोजन करते हैं, वे बार बार जल तक भी नहीं लेते, भोजन के साथ ही लेते हैं। भोजन भी अपनी वृत्ति के अनुकूल मिले तो ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं। भोजन मिलने पर यदि कोई बाल अथवा कोई क्षुद्र जीव उसमें दिखाई दे जाये तो छोड़ देते हैं, बैठ कर आराम से भोजन करने में स्वाद आना सम्भव है, अतः वह खड़े रहकर ही भोजन करते हैं, वह भी बर्तनों में नहीं करते, अपने हाथों की अंजुली में रखवाकर तथा दाल, भात, रोटी आदि सब कुछ मिला जुला कर स्वाद रहित ही करते हैं। वे पृथ्वी पर ही लेट कर अर्ध-रात्रि के पश्चात कुछ देर सोते हैं, यदि तृणासन मिल जाये तो उसे भी ग्रहण करलेते हैं ऐसे वीतरागी गुरु सच्चे गुरू हैं।

सारांश यह है कि जो वीतरागी गुरू हों वे शान्ति के प्रतीक हों, कषायों व पांचों इन्द्रियों के विजेता हों; पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह पांचों महाव्रतों से सुशोभित हों; ईर्या भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण व उत्सर्ग इन पांच समिति रूप कवच के धारण करने वाले हों; समता वन्दना' स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, व कायोत्सर्ग छह आवश्यक जिनके रक्षक हों; ऐसा तो जिनका अन्तरंग जीवन हो तथा नग्नता, केश लुंचन, अदन्तधोवन, स्नान रहित, एक बार भोजन, खड़े खड़े करपात्र में भोजन,तथा भू-शयन इन सात बाह्य गुणों के धारक हों। इन २८ मूल गुणों सहित जो उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, व ब्रह्मचर्य धर्मों को धारण करने वाले हों। ऐसे वीर, विजेता व स्वतन्त्र वैभव शाली ही सच्चे गुरू हैं, क्योंकि इनके ही अन्तरंग व बाह्य जीवन में शान्ति व वीतरागता के दर्शन होने सम्भव हैं। इन गुणों के अभाव में सच्चा गुरू होना सम्भव नहीं।

संम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, नग्न रहना, दान्त साफ न करना, यह बातें लौकिक जन के हृदय में अवश्य ही कुछ ग्लानि घृणा, लज्जा व दया के भाव उत्पन्न करती हैं। इसका कारण उनके अपने मन का विकार, राग व भय है। निर्भीक वीतरागी हृदय में उनको अवकाश नहीं, इस बात का स्पष्टीकरण आगे 'निष्परिग्रहता' नाम के २८ वें अधिकार में किया गया है, वहां से जानना। इसी प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, इन्द्रिय जय व दश धर्मों का विस्तृत रूप भी आगे यथा स्थान वर्णन किया गया है। (देखो आगे साधु सम्बन्धी संवर निर्जरा का अधिकार) ये सब गुण एक ही समय जिनके जीवन में उपलब्ध हों वे ही सच्चे वीतरागी गुरू हैं।

११ अयथार्थ गुरु जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, साधना मार्ग पर धीरे धीरे आगे बढ़ते हुए एक साधक को अनेक परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है उनमें से प्रथम स्थिति विरक्त चित्त गृहस्थ दशा है इसे जघन्य श्रावक भी कहते हैं, दूसरी स्थिति गृहत्यागी व आश्रम निवासी सफेद वस्त्र के

धारक बानप्रस्थ की है, इसे मध्यम श्रावक भी करते हैं। तीसरी स्थिति आश्रम निवासी या यत्र तत्र विहार करने वाले, अल्पमात्र सफेद या भगवां वस्त्र धारी उत्तम श्रावक की है। अन्यत्र इस स्थिति को सन्यास आश्रम स्वीकार किया गया है, परन्तु पूर्ण वीतरागता की दृष्टि से यह स्थिति भी बानप्रस्थ की ही है। चौथी स्थिति वह है जब यह उपरोक्त श्रावक चादर आदि का भी त्याग करके केवल एक कोपीन मात्र को ग्रहण करता है। उसे भी यहां सन्यासी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि भले ही उसने गरमी सर्दी आदि अन्य बाधाओं पर विजय प्राप्त कर ली हो, परन्तु अभी तक लज्जाभाव को वह जीत नहीं सका है, यह अवस्था उत्कृष्ट श्रावक या बानप्रस्थ की है। कोपीन का भी त्याग करके जब सम्पूर्ण दोषों को जीत लिया जाता है, तब ही वह सन्यासी या साधू संज्ञा को प्राप्त होता है। अतः पूर्ण दिगम्बर व नग्न रूप के धारी उपरोक्त सच्चे गुरु ही सन्यासी व साधू हैं, क्योंकि उनमें राग व भय आदि का कोई लक्षण अब विशेष नहीं रह गया है। यद्यपि किसी अपेक्षा से साधक की यह सर्व ही स्थितियें गुरु रूप में स्वीकार की जा सकती हैं, परन्तु जिस पूर्ण आदर्श का कि यहां प्रकरण है, उसमें केवल अन्तिम सर्व संग रहित सन्यास स्थिति ही गुरु का रूप है।

गुरु के निर्मल आदर्श को धारण करने वाली दृष्टि में, भगवां वस्त्रधारी हो या सफेद, जटाधारी या भस्मधारी, अथवा दण्डत्रिशूलधारी, अथवा हाथी घोड़े मोटर आदि रूप या पात्र बर्तन आदि रूप अनेक प्रकार के परिग्रह के धारी, अथवा अन्य अनेक वेषों को धारण करने वाले व्यक्ति जोभी हों गुरु रूप से स्वीकार नहीं किये जा सकते, क्योंकि उनके तो बाह्य जीवन में ही शरीर पर राग, भय व लज्जा आदि अन्तरंग दोषों के साइनबोर्ड लटके हुए स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं, जो इस बात की साक्षी देते हैं कि भले ही आगे जाकर निर्मल हो जायें, पर आज तो इनके अन्तरंग में अनेकों दोष भरे पड़े हैं। उनकी तो बात ही क्या यहां तो वे नग्न शरीरधारी भी गुरु स्वीकार नहीं किये जा सकते, जिनका अन्तःकरण सदोष हो, और उन दोषों को ढकने के लिये बाह्य जीवन में अनेकों कृत्रिम बातों का आश्रय लेते हैं।

उसका जीवन यदि रागात्मक हो, अंतरंग में कषाय पड़ी हों, वह वीतरागी नहीं कहला सकता। जिसे बात करते हुए, या दूसरों के किसी प्रश्न करने पर, या अपनी चर्चा होती देखकर क्रोध आ जाता हो; जिसे वचन पर काबू न हो, 'इस बात का दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ेगा', इस विवेक से जो शून्य हो; जो अनर्गल कुछ भी बोल देता हो वह गुरु नहीं हो सकता। जो मान कषाय वश अपने मुख से अपनी प्रशंसा करते हुए भी न डरता हो, अथवा दूसरे से अपने प्रति नमस्कार करानें या चरण स्पर्श कराने की भावना रखता हो वह गुरु नहीं हो सकता। जिसके अन्दर में तो कुछ और अभिप्राय पड़ा हो और माया कषाय वश बाहर में कुछ और क्रिया करता हो, (जैसे प्रशंसा सुनने की भावना से धर्मोपदेश देना या विहार करना आदिक) वह गुरु नहीं हो सकता। जिसके भीतर लोभ की प्रवृत्ति बराबर चल रही हो जिसके अधीन हो कर, किन्हीं बहानों से जिन्हें चन्दा आदि इकट्ठा करने की पड़ी हो, या जो इस उज्जल मार्ग को ख्याति उपार्जन का साधन बनाकर संस्थायें आदि खोलने की प्रवृत्ति करता हो, वह गुरु नहीं हो सकता। गुरु महान को कहते हैं और उपरोक्त सर्व चिह्न लघुता के हैं क्योंकि वे कषाय में रंगे हुए हैं।

अन्य इन्द्रियों के पोषण की तो नग्न रूप में रह कर सम्भावना नहीं है परन्तु जिह्वा इन्द्रिय एक ऐसी है, जिसका पोषण यहां भी किया जा सकता है। जो व्यक्ति अन्तरंग वैराग्य के बिना भी केवल प्रतिष्ठा आदि पाने की भावना से प्रेरित होकर, उपरोक्त निर्मल रूप को धारण कर लेते हैं, उनका अपना जीवन सुधारने का तो प्रश्न ही नहीं, बल्कि वे तो इस निर्दोष रूप को भी लाञ्छन लगा देते हैं, जिसके कारण पूर्व के महान् सच्चे गुरुओं को भी लोग सन्देह की दृष्टि से देखने लगते हैं। उनकी सर्व ही इन्द्रयों का बल मानों एक जिह्वा के मार्ग से प्रकट होने लगता है, इस रूप में कि उन्हें, भले अपने घर पर गृहस्थ दशा में रूखी सूखी मिलती हो पर यह रूप अपना लेने के पश्चात वे भक्तजनों के द्वारा दिये गये भोजन में अधिक अधिक स्वाद को खोजने लगते हैं, और उनकी बाह्य प्रवृत्ति भी उसके अनुसार ही वर्तने लगती है जैसे कि स्वादिष्ट भोजन देने वाले दातार की प्रशंसा करना। वे भी गुरू नहीं हैं, क्योंकि गुरू महान को कहते हैं और उसमें लघुता के चिह्न दिखाई देते हैं।

ऐसे व्यक्ति अपने व्रतों की भी उचित प्रकार से रक्षा करने को समर्थ नहीं हो सकते। उनमें बजाये वैराग्य के प्रदर्शन होने के कृत्रिमता का रूप स्पष्ट झलकने लगता है। पुस्तक पोथी व कमण्डल के अतिरिक्त अन्य कुछ पदार्थों का संग्रह भी वे कदाचित कर लेते हैं, जिसके कारण उनके जीवन में सरलता आने की बजाय व्यग्रता प्रवेश पा जाती है। वे सावधानी पूर्वक पूर्व कथित समितियों अर्थात चलने, बोलने, भोजन करने, वस्तु को उठाने धरने व मलमूत्र क्षेपण करने की क्रियायें भी निर्दोष रूप से पालन नहीं कर सकते। उनके मन वचन व शरीर तीनों ही उनके आधीन नहीं हो पाते, बल्कि उनकी अन्तर्चेतना मन वचन व काय के आधीन हो जाती है। ऐसे व्यक्ति नग्न होते हुए भी गुरू नहीं कहलाते।

स्तुति वन्दना आदि छः आवश्यक कार्यों को भी वे ठीक ठीक निभा नहीं पाते, क्योंकि अन्तरंग के स्पर्श किये बिना वे क्रियायें केवल रूढ़ी में प्रवेश कर जाती है। अथवा अन्य भी अनेकों ऐसे कार्य वे केवल दिखावे मात्र के लिये करते हैं, उनके अन्तरंग में उन क्रियाओं के प्रति कोई बहुमान या विनय नहीं रहता। इस प्रकार जो निर्दोष रूप से पूर्व कथित २८ मूल गुणों का पालन नहीं करता वह नग्नरूप धारी भी गुरू नहीं कहलाता, क्योंकि गुरू महान होता है, वीतराग होता है, शान्ति पथ का आदर्श होता है। संसार समुद्र का सेतु होता है, जीवन को अन्धयारी रातों के लिये वह चन्द्रमा तुल्य है, प्रयोजन यह कि गुरू हर प्रकार से आदर्श होना चाहिये, आदर्श शून्य व्यक्ति गुरू नहीं हो सकता।

१२ कालादि के बहानों का निराकरण

आज गुरूओं का विरह हो रहा है। आज ज्ञानी गुरूओं की याद कर के हृदय रो उठता है, परन्तु उनकी उपलब्धि न होने पर भी, मैं जिस किसी को भी गुरू स्वीकार कर लूं ऐसा नहीं हो सकता। 'पंचम काल के अन्त तक गुरूओं का सद्भाव बताया है, और आज तो जैसे कैसे भी हैं, यही दिखाई देते हैं, अतः इन्हीं को गुरू स्वीकार कर लूं, ऐसा नहीं हो सकता। आज हंस दिखते नहीं तो बगुलों को तो कोई हंस नहीं स्वीकार कर लेता। गुरू तो गुरू ही रहेगा, भले वर्तमान में उपलब्ध हो कि न हो, उपलब्धि गुरू की पहिचान नहीं। गुरू का आदर्श बहुत ऊंचा होता है, जब कभी भी होगा वैसा ही होगा, गुरू की जातियाँ भिन्न भिन्न नहीं होतीं'।

संहनन हीन होने से भी गुरू का आदर्श हीन नहीं हो जाता। भले ही तपश्चरणादि में अन्तर पड़ जाये, अधिक उपवास न कर सके, वनों में न रह सके आतापन योगादि ग्रहण न कर सके, कड़ी परीषह सहन न कर सके, उनसे बचने का प्रयास भी करे, पर मूल लक्ष्य वीतरागता तथा २८ मूल गुण उसमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। 'जैसे श्रावक तैसे मुनि' यह बहाना भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रावक अपने को ही दोषी जानता है, वह स्पष्ट कहता है कि मैं सच्चा श्रावक नहीं हूँ, पापी हूँ, पर आज का मुनि तो यह कह रहा है कि मैं 'सच्चा मुनि हूँ।' गुरु बना है अपने हित के लिये दूसरे को दिखाने के लिये नहीं। यदि श्रावक अपने आदर्श से गिर जायें तो इसका यह अर्थ नहीं कि गुरू भी अपना हित छोड़ कर अहित का मार्ग पकड़ ले। गुरू बनना कोई व्यापार नहीं है, कोई अपराधी बने तो मैं भी अपराध करने लगूं, यह न्याय नहीं।

'तब तो यह अर्थ हुआ कि द्रव्यलिंगी मुनि वन्दन किया जाने योग्य नहीं? ऐसा नहीं है भाई! जिनको आगम में द्रव्यलिंगी मुनि कहा गया है, वह बाह्य में वीतरागी हुआ करते हैं, उन्हें क्रोधादि कषाय नहीं होतीं, विषय वासना नहीं होती, पंच महाव्रत व समिति को पूरी पूरी पालते हैं, इन्द्रियों पर उनका पूर्ण अधिकार है, षट् आवश्यक क्रियाँओं में कोई दोष बाहर में नहीं दीखता, केश लुंचनादि क्रियाओं में भी कोई दोष लगने नहीं पाता। आप स्वयं यह परीक्षा नहीं कर सकते कि यह अयथार्थ है कि यथार्थ, अर्थात् द्रव्यलिंगी है कि भावलिंगी। केवल सर्वज्ञ ही जानते हैं उनके अन्तरंग दोष को, हमारे लिये तो वह यथार्थ ही हैं। जब परीक्षा कर लेने पर भी दोष न दीख सके तो अयथार्थ कैसे कहें? अन्तरंग के सूक्ष्म परिणाम को जाँचने की शक्ति मुझ में नहीं, दूसरे उसमें पूरी वीतरागता के दर्शन हो रहे हैं, जिससे कि हमें प्रयोजन है। व्यक्ति कोई पूज्य नहीं होता, हमारा आदर्श या लक्ष्य ही पूज्य होता है। जहां वीतरागता नहीं अर्थात् जिसमें निर्दोष २८ मूल गुण नहीं वह तो द्रव्यलिंगी भी कहा नहीं गया है। प्रवचन करते समय द्रव्यलिंगी की बात आये तब, यह बात किसे कही जा रही है, यह न समझ कर अपने दोष पर तो दृष्टि न डाले, और थोपने जाये वही दोष-किसी दूसरे पर, तो वह मुनि अपना अनिष्ट कर रहा है तथा दूसरों का भी, ऐसा मुनि तो केवल करुणा का पात्र है।

इन बहानों के द्वारा इन रंकों का पोषण मत कर भाई! इससे मेरे यथार्थ गुरुओं को, कुन्दकुन्द प्रभु व समन्त भद्र स्वामि व शुभचन्द्राचार्य देव आदि को लाँछन लगता है। अन्य लोक क्या समझेगा, कि वे भी ऐसे ही गुरु होंगे जैसों का कि तू पोषण कर रहा है? वे भी तो पंचम काल व हीन संहनन में ही हुए हैं? अपने आदर्श गुरुओं की निन्दा मैं कैसे सुन सकूंगा? आपने क्या कथा नहीं सुनी है उस सेठ की जो गुरू निन्दा के भय से कुष्टी गुरू को सुन्दर व निर्मल शरीर वाला कहते हुए भी न हिचकिचाया। उस गृहस्थ को झूट बोलना स्वीकार था, पर गुरू निन्दा स्वीकार न थी। क्या आप अपने गुरू को संसार में रागी सुनना चाहते हैं? क्या आपका हृदय नहीं कांप जायेगा ऐसा-सुन कर?

हमें गुरू को अंगीकार करना है, कुगुरू को नहीं। पंचम काल है संहनन हीन है, यह बात स्वीकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं, कि वह पूर्वोक्त प्रकार राग करनें की प्रेरणा देते हैं। हो

सकता है कि इन कारणों वश वह वन में न रह सके, न सही, मन्दिर में रहिये, परन्तु मन्दिर में रह करके भी एकान्तवास का त्याग करके, जन सम्पर्क में आ, इधर उधर की भोजन आदि सम्बन्धी बातों में समय गंवाने के लिए तो पंचम काल नहीं कहता। संहनन की हीनता अधिक तपश्चरण, अधिक उपवासादि नहीं करने देती, यह तो माना, परन्तु स्वादिष्ट व पौष्टिक भोजन करने के लिए तो प्रेरणा नहीं करती। यह तो नहीं कहती कि गृहस्थ पर चाहे कितना भी भार पड़े, जिस किस प्रकार भी तू अपने शरीर का पोषण कर, जिस किस प्रकार भी अपने भोग सम्बन्धी स्वार्थ की सिद्धि कर। हीन संहनन आदि वश कदाचित बाह्य वृत्ति में दोष आने सम्भव हैं, परन्तु अन्तरंग अभिप्राय में नहीं।

२८ मूल गुणधारी आदर्श गुरु

२४

❀ स्वाध्याय ❀

मुज़फ्फरनगर दिनांक २२ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ४८

१—स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन, २—स्वाध्याय का अर्थ, ३—स्वाध्याय में विनय का महत्व, ४—शास्त्र परीक्षा, ५—अभिप्राय वश अनेकों शास्त्र, ६—शास्त्र परीक्षा का उपाय, ७—सच्चे शास्त्रों में भी प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक।

अहो ! मुझ जैसे अल्पज्ञ को घर बैठे ही समस्त विश्व का साक्षात्कार कराने वाली जिनवाणी का उपकार। यदि यह न होती तो आज इतनी निकृष्ट परिस्थिति में जब कि देव दिखाई देते हैं न गुरु, मुझे शान्ति की बात कौन सुनाता ? शान्ति मार्ग के अन्तर्गत आज स्वाध्याय की बात चलती है।

१ स्वाध्याय का महत्व व प्रयोजन

शान्ति प्राप्ति की सिद्धि के अर्थ आवश्यकता इस बात की है कि जिस किस प्रकार भी अभिलाषा प्रवर्धक विकल्पों का, भले कुछ देर के लिये सही, संवरण कर दिया जाये, प्रशमन कर दिया जाये। उपाय निकला यह कि सारी जीवन चर्या में आध या पौन घण्टा समय का अवकाश निकाल कर, उतने समय मात्र के लिये गृहस्थ के वातावरण को बिल्कुल भूलने, तथा शान्ति का स्मरण करने का प्रयत्न कीजिये। मन्दिर में आकर देव दर्शन या पूजन कीजिये अथवा गुरु की शरण में जाकर उनकी उपासना कीजिये। परन्तु विचार करने पर यह बात ध्यान में आये बिना न रहेगी, कि इन कामों में मैं थोड़ी देर ही संलग्न रह सकूंगा। स्वतन्त्र रूप में अपने हृदय से निकाल निकाल कर कब तक प्रभु भक्ति के उद्गार प्रगट करता रहूंगा ? सम्भवतः चार पांच दिन तक क्रम बना रहे और फिर वह उद्गार सरीखे दीखने वाले भाव शब्द मात्र ही रह जायें और मन अपना काम करता रहे—गृहस्थी में घूमने का। तात्पर्य यह कि शान्ति के दर्शनों में चित्त अटकाने का काम, इस प्रथम भूमिका में अधिक देर तक किया जाना बहुत कठिन है। इस लिये इन कामों के अतिरिक्त कोई और काम ऐसा ढूंढना होगा कि जिसमें बहुत अधिक देर तक भी उपयोग को अटकाया जा सके, और इतना अटकाया जा सके कि शान्ति की बातों के अतिरिक्त इसे अन्यत्र जाने को अवकाश ही न मिले। सौभाग्य वश एक ऐसा उपाय निकल ही आया और वह है 'स्वाध्याय'।

दूसरा प्रयोजन यह भी है, कि भले ही गुरु में शान्ति के दर्शन कर पाया हूं, पर इस

शान्ति से बिलकुल अपरिचित मुझ को शब्दों के बिना कौन यह बताये, कि इसकी प्राप्ति अमुक प्रकार होनी सम्भव है ? नमूना अपना स्वरूप बता सकता है पर अपने बनाने का उपाय नहीं। मुझ को तो अशान्त से शान्त बनना है और बड़े विकट वातावरण में रहते हुए बनना है। क्या क्या प्रक्रियायें करूं, जीवन को कैसे ढालूं, जो इस प्रयोजन की सिद्धि हो ? ठीक है कि देव दर्शन व गुरु उपासना भी इस मार्ग में बड़ी सहायक प्रक्रियायें हैं,मन्दिर के समय से बचे जीवन के इतने लम्बे काल में क्या वैसे ही वर्तन करता रहूं, जैसे कि अब कर रहा हूं ? ऐसा ही करता रहूंगा तो प्रातः देव व गुरु के दर्शनों से प्राप्त हुई शान्ति थोड़ी देर भी न टिक सकेगी और जीवन के २४ घण्टे अत्यन्त तीव्र व्यग्रता में बिताये जाने के कारण, मन्दिर में प्रवेश करते समय भी तत्सम्बन्धी विकल्पों के दृढ़ संस्कारों का त्याग, थोड़ी देर के लिये भी न कर सकूंगा। अतः कुछ ऐसी बातें भी अवश्य होनी चाहियें, जिनको इस वर्तमान परिस्थिति में रहते हुए भी, मैं अपने चौबीस घण्टों के जीवन में किञ्चित् उतार सकूं और विकल्पों की तीव्रता में तनिक मन्दता ला सकूं। कौन बताये यह बातें मुझे ?

घबरा नहीं जिज्ञासु ! वह देख सामने से आती हुई प्रकाश की एक रेखा अब भी तुझ बुला रही है-अपनी ओर, चल वहां चल कुछ प्रकाश मिलेगा, जिसकी सहायता से तू अपने जीवन को पढ़ सके कि क्या कुछ और करना है-तुझे। ओह ! यह तो वाणी है, सरस्वती देवी है, कितना शान्त है इसका स्वरूप और जिसके दर्शन मात्र से ही इतनी तृप्ति हो गई, उसकी बातें सुनने से तो बड़ा कल्याण होगा। कृपा कीजिये माता ! मुझे मार्ग दर्शाइये, देव व गुरु दर्शन से आने वाली क्षणिक शान्ति ने मेरे चित्त में अब यह लगन उत्पन्न कर दी है, कि जिस किस प्रकार भी इसमें अधिकाधिक वृद्धि करूं। अब गृहस्थ सम्बन्धी व्यग्रता साक्षात् रूप से मुझ को दाह उत्पन्न करती हुई प्रतीत होने लगी है, मेरी रक्षा करो माता।

२ स्वाध्याय का अर्थ स्वाध्याय का अर्थ है स्व+अध्याय या स्व अध्ययन, अर्थात् निज शान्ति स्वरूप का अध्ययन या दर्शन। यद्यपि देव दर्शन व गुरु उपासना में भी यही कार्य सिद्ध होने के कारण वह दोनों कार्य भी स्वाध्याय कहे जा सकते हैं परन्तु अधिक देर तक विकल्पों से बच कर कुछ अधिक शान्ति में स्थिति पाने के अर्थ यह तीसरा कार्य अधिक उपयोगी है। अतः मुख्यता से स्वाध्याय उस तीसरी प्रक्रिया का नाम है जिसमें समावेष पाता है उपदेश-मौखिक या लिखित।

यद्यपि देव से भी कुछ मूक उपदेश प्राप्त हुआ, पर उसका क्रम, अधिक देर तक न चल सका। गुरु के द्वारा भी मौखिक उपदेश दिया गया, जिससे महान कल्याण हुआ और जी चाहा कि निरन्तर इस अमृत का पान करता रहूं। जितनी देर तक उपदेश सुनता रहा, जैसा कि यहां प्रवचन सुनते हुए आपको प्रतीत होता है, मानों मैं सब कुछ भूल गया हू, जीवन में एक उत्साह सा आता हुआ प्रतीत होता रहा, कुछ प्रेरणा मिलती रही। परन्तु कहां है मेरा इतना सौभाग्य कि गुरु प्रतिदिन मुझको मिलते ही रहें, आज मिले और कल नहीं, रमते जोगी ह, बन बन विचरते हैं, क्या जाने किधर निकल जायें, और फिर मेरे लिये वही अन्धकार। आज तो समस्या ही दूसरी है-एक दिन को भी गुरु

का सम्पर्क होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, गुरु ही दिखाई नहीं देते। जहां दर्शन की ही सम्भावना नहीं वहां उपदेश कैसा? इस प्रकार रह गया मैं कोरा का कोरा, असमञ्जस में पड़ा, बगलें झांकता और विचारता कि क्या करूं, कैसे रक्षा करूं-इन दुष्ट विकल्पों से।

सौभाग्य वश सरस्वती माता ने आशा दिलाई, और वह देखो अब भी कितने प्रेम से बुला रही है-मुझे अपनी ओर। अब कोई चिन्ता नहीं, आश्रय मिल गया, ऐसा कि चाहे कितनी ही देर सुनता रहूं उपदेश, चाहे जितना समय बिता दूं कि विकल्पों को प्रवेश पाने का अवकाश ही न मिले। जो हर समय मेरे पास है, कहीं बन आदि में जाने की भी आवश्यकता नहीं, अर्थात् गुरुओं का ही लिखित उपदेश आगम या शास्त्र। जितनी देर चाहूं पढ़ूं, जितनी बार चाहूं पढ़ूं, जब चाहूं उसे विचारूं, जहां चाहूं उसे विचारूं, जैसी अवस्था में चाहूं विचारूं और विशेषता यह कि वही गुरु की बात, वही प्रतिध्वनि, मानों साक्षात् गुरु ही बोल रहे हों-सामने बैठे। गहन से गहन, गम्भीर से गम्भीर समस्याओं का अत्यन्त सरल उपाय बता देने में समर्थ, यह आगम ही वास्तव में सरस्वती है। शान्ति में स्नान कराने के लियें, अन्तर मल शोषण के लिए यही यर्थाथ गंगा है और विकल्पों से मेरी रक्षा करने के कारण यही माता है।

स्वाध्याय का अर्थ शास्त्र को पढ़ना मात्र ही नहीं है बल्कि उसका अर्थ है-जिस किस प्रकार भी शान्ति मार्ग के उपदेश का रहस्यार्थ ग्रहण करना व उसमें इस अत्यन्त चंचल मन को अटकाना। इसलिए विशेष ज्ञानी या उपयुक्त वक्ता के मुख से वह रहस्य सुनना, विशेष स्पष्टीकरण के अर्थ शंकायें उठाना, प्रश्न कर करके समाधान करना, अवधारित अर्थ को एकान्त में पुनः पुनः चिन्तवन करना या विचारना, जो कुछ समझा है उसकी परम्परा या आम्नाय से मिलान करके परीक्षा करना, कि ठीक ही समझा हूं कहीं भूल तो नहीं है, यदि भूल हो तो पक्षपात रहित उसके सुधार करने का प्रयत्न करना। जो निर्णय किया उसका उपदेश अन्य को देना, या जो समझा है उसको लिखना, यह सब ही स्वाध्याय है। कोई पढ़ना जाने या न जाने, उपदेश देना जाने या न जाने, किसी न किसी प्रकार स्वाध्याय अवश्य कर सकता है और मार्ग का निर्णय कर अपना हित कर सकता है।

३ स्वाध्याय में विनय का महत्व

देव गुरु की भान्ति स्वाध्याय में भी विनय बहुमान अत्यन्त आवश्यक है, विनय रहित सुना या पढ़ा बेकार है। गुरु व वाणी के प्रति बहुमान न हो तो कोई भी बात सीखी नहीं जा सकती, मुझे केवल पढ़कर स्वाध्याय की रूढ़ि ही पूरी नहीं करनी है बल्कि कुछ हित की बात सीखनी है। स्कूल के गुरु की विनय न करे तो क्या सीखे? इसीलिए आज के विद्यार्थी स्कूल से उतना कुछ सीख कर नहीं निकलते जितना कि पहले के विद्यार्थी सीख कर निकला करते थे क्योंकि आज गुरु की विनय युवकों में उतनी नहीं रही है। रावण मृत्यु शैया पर पड़ा था कि भगवान रामने लक्ष्मण से कहा "भाई! जाओ इस अन्तिम समय में रावण से कुछ सीख लो, जीवन में तुम्हारे काम आयेगा, वह बड़ा अनुभवी व पन्डित है यदि नहीं सीखोगे तो समस्त विद्यायें उसके साथ ही चली जायेंगी।" लक्ष्मण गया और रावण के सिराहने खड़ा होकर अपना अभिप्राय प्रगट किया, उसे मौन देख कर निराश वापिस लौट आया और राम से बोला कि "भगवन! वह बड़ा अभिमानी है, बोलता नहीं।" राम बोले "भूलता है, लक्ष्मण! मानी वह नहीं तू है। स्वभाव से ही तू उद्दण्ड है तूने अवश्य उद्दण्डता

दिखाई होगी वह कैसे बोले । तुझे अगर कुछ सीखना है तो गुरु बन कर नहीं शिष्य बन कर सीखना होगा । जाओ ! उसके चरणों में बैठकर विनयपूर्वक विनती करो, उसे गुरु स्वीकार करो ।" लक्ष्मण की आंखें खुल गई, गया और अबकी बार उसे निराश न लौटना पड़ा।

बस इसी प्रकार शास्त्र को पुस्तक मात्र न देख कर साक्षात् गुरू के रूप में देखो, बिल्कुल इसी प्रकार जिस प्रकार प्रतिमा में जीवित देव के दर्शन किये थे । शास्त्र जड़ नहीं है यह साक्षात् बोल कर मेरा हित दर्शा रहा है, पद पद पर ठोकरों से बचा रहा है, गहन के गहन ग्रन्थियों को सुलझा रहा है । अहो ! इसका उपकार-न जानी, न देखी, न अनुभवी, अत्यन्त रहस्यमयी उस सूक्ष्म बातको मानों हथेली पर रखकर ही साक्षात् दर्शा रहा हो । इसकी शरण कितनी शीतलता प्रदायक है, अतुल प्रकाश है, इसकी विनय अत्यन्त आवश्यक है । बिना नहाये व हाथ धोये उसे छूने में, बिना शुद्ध वस्त्र पहने उसे हाथ लगाने में, इसकी अविनय है । शुद्धता व अशुद्धता के विवेक रहित जिस किस स्थान में भी बैठ कर इसे उपन्यास की भांति पढ़ने में, इसकी अविनय है। इसे उठाते व धरते समय अत्यन्त विनय से साष्टांग नमस्कार किये बिना, उद्दण्डता से सामने जाकर बैठ जाने में इसकी अविनय है । स्थान एकान्त व शुद्ध होना चाहिये, मन्दिर ही उसके लिये सर्वोत्तम स्थान है और घर पर भी यदि पढ़े तो किसी एकान्त कमरे में ही पढ़े जहाँ जूते आदि न आते हों । जिस किस समय में पढ़ना भी योग्य नहीं, जब अन्य विकल्पों से किञ्चित् मुक्ति मिले तब ही पढ़ना योग्य है । रूढ़ि पूरी करने मात्र को एक दो लकीर इधर उधर से जैसे तैसे पढ़ कर जल्दी से भागने का अभिप्राय रखते हुए पढ़ना, पढ़ना नहीं दण्ड है और बिना स्पष्ट उच्चारण किये या बिना अर्थ समझे पढ़ना भी पढ़ना नहीं रूढ़ि है-इस प्रकार पढ़ने से इसकी अविनय है । अतः सर्व बातों का विचार करके अपने लिये अत्यन्त कल्याणकारी समझते हुए कुछ जीवन में उतारने योग्य उपयोगी बातें सीखने पर ही, इसके पढ़ने से या सुनने से लाभ हो सकता है । केवल पढ़ने मात्र के अभिप्राय वालों के लिये तो यह कुछ पत्रों का ढेर ही है, लाभदायक कुछ नहीं । जैसी दृष्टि से पढ़ेगा वैसा ही फल मिलेगा ।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि 'स्वाध्याय' मन्दिर की चार दिवारी के अन्दर ही हो सकनी सम्भव है, बाहर नहीं । जो कुछ पढ़ा या सुना है उसका चिन्तवन हम कहीं भी बैठ कर कर सकते हैं, कैसी ही अवस्था में कर सकते हैं, किसी भी समय में कर सकते हैं और इसलिये स्वाध्याय चौबीस घन्टे की जा सकती है । यद्यपि इसी प्रकार मन के द्वारा देव व गुरू के दर्शन भी सर्वत्र व सर्वदा किये जा सकते हैं, परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसमें अधिक देर स्थिति नहीं रह सकती । शास्त्र में पढ़े या सुने तत्वों सम्बन्धी विचारना में, तत्सम्बन्धी तर्क वितर्क में, हम कई कई घण्टे बिता सकते हैं अतः यही है स्वाध्याय का महत्व और इसीलिये यह इस मार्ग में बहुत आवश्यक व उपयोगी है ।

मुजफ्फरनगर दिनांक २२ सितम्बर १६५६

प्रवचन नं० ४६

४ शास्त्र परीक्षा हे मातेश्वरी सरस्वती! अब अपने इस बालक को अनाथ न रहने दो, तुम्हारी अवहेलना करके अनाथ बना दर दर की ठोकरें खाता रहा, अब अपनी गोद में स्थान दो । स्वाध्याय का प्रकरण

है—इसका प्रयोजन, इसका अर्थ व इसके प्रति विनय की बात आ चुकी, अब विचारना यह है कि कौन से शास्त्र स्वाध्याय करने योग्य हैं। प्रारम्भ से ही मैंने किसी भी बात को आज तक बिना परीक्षा किये अन्ध विश्वासी बनकर नहीं अपनाया। मैं वैज्ञानिक बनकर निकला हूँ, मैं खोजी बनकर निकला हूँ, बिना 'क्या' और 'क्यों' किये किसी भी बात को स्वीकार करने को तैयार नहीं। देव व गुरु को बिना परीक्षा किये मैंने स्वीकार न किया, तो शास्त्र को ही कैसे कर लूंगा।

५ अभिप्राय वश अनेकों शास्त्र

देव व गुरु वत यहां भी हम नियम नहीं बना सकते, कि अमुक ही सच्चा शास्त्र है, क्योंकि भिन्न भिन्न अभिप्रायों के आधार पर आज अनेकों शास्त्र या पुस्तकें या साहित्य लोक में दिखाई दे रहा है। किसी को भी सर्वथा झूठा नहीं कहा जा सकता और किसी को भी सर्वथा सच्चा नहीं कहा जा सकता, सच्चे व झूठे की पहिचान अभिप्राय पर से होती है। डाक्टरी सम्बन्धी जानकारी का अभिप्राय रखने वाले के लिये तो डाक्टरी सम्बन्धी साहित्य सच्चा और अन्य सब झूठा, एन्जीनियरिङ्ग पढ़ने की अभिलाषा रखने वाले के लिये एन्जीनियरिङ्ग का साहित्य सच्चा और अन्य सब झूठा। इसी प्रकार जिसका जो भी विषय पढ़ने या सीखने का अभिप्राय हो उसके लिये तत् सम्बन्धी साहित्य ही सच्चा कहा जा सकता है उसके अतिरिक्त अन्य नहीं। यहां हम किसे सच्चा शास्त्र व साहित्य स्वीकार करें ? बस तो वही सिद्धान्त लागू करो, और पूछो अपने मन से कि क्या सीखना है ? प्रकरण चलता है शान्ति का, यहाँ सब आये हैं शान्ति की खोज करने के लिए, धन कमाने के लिये नहीं, अतः शान्ति विषयक शाहित्य ही हमारे लिये सच्चा साहित्य हो सकता है, इसके अतिरिक्त लोक का बड़े से बड़ा शास्त्र झूठा है।

६ शास्त्र परीक्षा का उपाय

परीक्षा करने का उपाय निकल ही आया—शान्ति पथ दर्शाने वाली वाणी ही सच्ची वाणी हो सकती है, लौकिक प्रयोजन दर्शाने वाली या शरीर पोषण की बातें बताने वाली नहीं। अब कुछ बुद्धि का प्रयोग करना है, जिस प्रकार देव व गुरु के सम्बन्ध में करते आये हैं। आज लोक में बहुत बड़ा साहित्य हमारे सामने है, और सर्व ही शान्ति पथ दर्शाने का दावा करता है, सब के ऊपर शान्ति पथ की मोहर लगी है, सब को साक्षात् भगवान से आया हुआ माना जा रहा है, और मजे की बात यह है कि एक शान्ति को दर्शाने वाले होते हुये भी परस्पर वह एक दूसरे का विरोध कर रहे हैं मानों एक दूसरे से लड़ रहे हैं। बड़ी विकट समस्या है, किस को सच्चा मानूं ? पढ़ने बैठता हूँ तो प्रत्येक में ही कुछ न कुछ बातें अवश्य शान्ति प्रदान करती प्रतीत होती हैं, परन्तु आगे जाकर कुछ अन्य बातें और आ जाती है, जो या तो शान्ति में बाधक हैं या इस विषय से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। और आगे जाता हूँ तो अरे ! वहाँ तो द्वेष का नग्न नृत्य ही देखने में आता है किसी का खण्डन और किसी का मण्डन अतः पढ़ने को ही जी नहीं करता।

अहो ! यह वीतरागी वाणी का ही प्रताप है, जिससे कि मुझे यह प्रकाश मिला है कि भाई ! हर साहित्य में जो बातें तुझे शान्तिप्रद प्रतीत हों, समझ लो कि वह सच्ची हैं, अथवा विचार करके तर्क व अनुभव के द्वारा जो सच्ची दिखाई देती हों,मान लो कि वह सच्ची हैं, भले ही वह किसी भी साहित्य में लिखी हों। सब शान्तिप्रद व सच्ची बातें एक सच्ची वाणी के ही अंश हैं जो किन्हीं ज्ञानियों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखी हैं। यह बात अवश्य है कि अधिकतर साहित्य ऐसा

है कि जिनमें आदि से अन्त तक का पूर्ण मार्ग न दर्शा कर उस मार्ग का एक खण्ड मात्र दर्शाया है। इसका कारण यही है कि उसका रचयिता शान्ति को तो पकड़ पाया, पर उसे पूर्ण करने से पहले ही उसे काल के मुख में जाना पड़ा, और उसकी बात अधूरी ही रह गई। कुछ साहित्य ऐसा भी है कि जिसमें इस अधूरी बात के साथ साथ कुछ अन्य बातों का अथवा कुछ अप्रयोजनीय बातों का मिश्रण भी दिखाई देता है। तनिक सा विचार करने पर यह स्पष्ट पैवन्द दिखाई देने लगता है। वह साहित्य वह है जो कि मूल रचयिताओं की कृति न होकर उसके पीछे आने वाले किन्हीं व्यक्तियों ने लिखा है। अधूरी बात सीख लेने के कारण, इनको उसकी पूर्ति के अर्थ, कुछ बातें अपनी कल्पना के आधार पर, बिना उसके सच्चे व झूठे पने का अनुभव किये, इस मूल साहित्य में मिलानी पड़ी, और वह साहित्य विकृत हो गया। उनके पीछे आने वालों ने कुछ अपने स्वार्थ वश उसमें और भी बहुत सी बातें मिला दीं और आगे चल कर वह स्वार्थ बदल गया द्वेष में, जिसके कारण आ मिला उस साहित्य में खण्डन मण्डन का विष।

यह तो हुई साहित्य के इतिहास की कुछ रूप रेखा, पर इतना जानने मात्र से तो साहित्य के सच्चे व झूठे पने की परीक्षा करने में समर्थ न हो सका अतः परीक्षा का कोई उपाय होना चाहिये। सो विचार करने पर ऐसा उपाय निकल आया। देख भाई ! शास्त्र तो बेचारे जड़ हैं, वे तो स्वयं बोल नहीं सकते, उनके अन्दर तो कुछ शब्दों का संग्रह है, और इन शब्दों में छिपा है वक्ता का कोई अभिप्राय। बस यदि वक्ता की परीक्षा हो जाये तो उसके वाक्यों की भी मानों परीक्षा हो गई क्योंकि शब्दों की प्रमाणिकता वक्ता की प्रमाणिकता के आधार पर होती है, जैसा कि पहले श्रद्धा सम्बन्धी उस पथिक के दृष्टान्त में बता दिया गया है देखिये कोई ग्राहक आकर आपसे कहने लगे कि यह वस्तु अमुक दुकान पर यह भाव मिल रही है यदि आपको इस भाव देनी हो तो दो। बताइये, क्या आप विश्वास कर लेंगे उसकी बात पर ? नहीं करेंगे। क्या कारण ? एक तो यह कि स्पष्ट झूठ दिखाई दे रहा है, जितने में आपको घर भी नहीं पड़ी उतने में वह उसे कैसे बेच सकता है परन्तु हो सकता है कि भाव गिर गया हो, ऐसे संशय को दूर कर देता है उस ग्राहक का अपना सवार्थ "यदि इस भाव लगानी है तो दे दो।" और यदि वही बात मैं आपको जाकर कहूं तो आप अवश्य स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि न मुझे आपसे मोल लेनी थी, न बेचनी थी, जैसा उस दुकान पर सुन कर आया था आपसे कह दिया, आपके घर उतने में पड़ी है कि न पड़ी है मुझे उससे क्या मतलब। अतः वक्ता की प्रमाणिकता से ही वचन की प्रमाणिकता होती देखी जाती है और वक्ता की परीक्षा उसकी स्वार्थता व निःस्वार्थता पर से की जा सकती है।

तात्पर्य यह कि इस वीतरागता व शान्ति के मार्ग में वीतरागी द्वारा लिखा शास्त्र ही प्रमाणिक शास्त्र कहा जा सकता है, रागी द्वेषी द्वारा लिखा गया नहीं। रचयिता के अभाव में कैसे जाने कि वह वीतरागी था कि रागी ? यह बात शास्त्र पढ़ कर जानी जा सकती है, उन वाक्यों का झुकाव किस ओर जा रहा है। किसी निजी स्वार्थ का पोषण तो करता प्रतीत नहीं होता है ? सर्वसत्व कल्याण की भावना प्रतिध्वनित हो रही है या नहीं, उन वाक्यों में माधुर्य है या कटुता, उन वाक्यों में किसी की ओर आक्षेप तो नहीं किया जा रहा है, एक ही बात को पोषण करने के लिये उस विषय के अङ्गभूत अन्य बात का निषेध तो नहीं किया जा रहा है कहीं उनमें कोई लौकिक अभिप्राय

तो दिखाई नहीं दे रहा है, कहीं किसी को अशान्ति उत्पन्न करने वाली या पीड़ा पहुंचाने वाली बात तो नहीं कही जा रही है, आगे कुछ लिख कर स्वयं उस बात का निषेध तो नहीं कर रहा है अथवा उस अपनी ही बात का निराकरण या विरोध करने की बात तो नहीं लिख रहा है, कुछ असम्भव बातें तो नहीं लिखी हैं, इत्यादि अनेक बातें पढ़ कर वक्ता की प्रमाणिकता का निर्णय किया जा सकता है। उपरोक्त तथा इसी जाति के यदि दोष वक्तव्य में दिखाई दें, तो समझ लो कि वक्ता प्रमाणिक नहीं है।

इतना ही नहीं और भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि जहां मिश्रित अभिप्राय पड़ा हो वहां विपरीतता की परीक्षा करनी कुछ कठिन पड़ती है। अतः भले ही सारे शास्त्र में निर्दोष बातें भरी पड़ी हों, परन्तु कहीं एक भी कोई दूषित बात दिखाई दे तो समझ लो कि उन सर्व निर्दोष बातों का भी कोई मूल्य नहीं। यहां ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि, भले दूषित बात को स्वीकार न करो पर निर्दोष बात का निषेध क्यों करते हो। सो भाई! इसके अन्दर निर्दोष बात का निषेध करने का अभिप्राय नहीं है, वक्ता का निषेध करने का अभिप्राय है जैसा कि पहले दृष्टान्त में बताया गया है, एक ही बात दो व्यक्तियों के मुख से सुन कर ग्राहक के मुखसे निकला हुआ वही वाक्य झूठा माना गया और मेरे मुख से निकला हुआ वही वाक्य सच्चा माना गया। कोई व्यक्ति कभी माता को माता कहता है और कभी माता को पत्नी भी कह देता है तो क्या कहेंगे आप उसे? "यह नशे में है, इसकी कोई भी बात ठीक नहीं माता को भी बेहोशी में कह रहा है, इसे कुछ पता नहीं कि माता कौन और पत्नी कौन" यही तो कहोगे। बस इसी प्रकार ९९ बातें ठीक कह कर एक बात भी विपरीत कह रहा हो तो उसकी ९९ बातें भी ठीक नहीं हैं। या तो किसी दूसरे की नकल करके कहीं हैं या बिना समझे बूझे यों ही सुन सुना कर कहदी हैं। सम्भवतः आगे चल कर कोई ऐसी बात भी कह दे कि जो मेरे लिये अहित-कारी हो और उस समय प्रमाद वश मैं उसकी परीक्षा न करूं तो मेरा अहित हो जाये, इसलिये इसकी सारी ही बातें मान्य नहीं हैं।

अथवा जिस प्रकार कोई दुकानदार सच्चा व्यवहार करके पहले अपनी साख जमा लेता है और पीछे लोगों का रुपया मार कर भाग जाता है। उसी प्रकार स्वार्थी वक्ता पहले बहुत सी सच्ची व शान्ति की बातें बता कर अपना विश्वास जमा लेता है और पीछे अपने स्वार्थ की बात कह कर अपना अभिप्राय सिद्ध कर लेता है, चाहे पढ़ने वाले का हित हो कि अहित इस बात की उसे चिन्ता नहीं। इसलिये ऐसे वक्ता की कोई भी बात स्वीकार करने योग्य नहीं, भले शान्ति की क्यों न हो। वही बात यदि किसी दूसरे प्रमाणिक शास्त्र में लिखि हुई पायें तो विश्वास करने योग्य हैं। अतः शास्त्र की परीक्षा का उपाय यही है कि पूरे के पूरे शास्त्र मे हित की बात के अतिरिक्त अन्य बातें किञ्चित् भी नहीं होनी चाहिये, यदि एक भी बात अहित या स्वार्थ की हो तो सारा शास्त्र ही पढ़ने योग्य नहीं।

७ सच्चे शास्त्रों में प्रयोजनीय व अप्रयोजनीय का विवेक

शास्त्र की परीक्षा ठीक प्रकार से कर लेने के पश्चात् अब यहां आकर भी कुछ अड़चन हो जाती है कि प्रमाणिक पुरुषों द्वारा लिखे गये शास्त्र भी मुख्यतः चार कोटियों में विभाजित किये गये हैं। कुछ शास्त्र तो शांति पथ पर चलने वालों के जीवन चरित्र दर्शा कर कोई आदर्श उपस्थित कर रहे हैं अर्थात आदर्श पुरुषों की

कथाओं का निरूपण करते हैं, उनको कथानुयोग या 'प्रथमानुयोग' कहा जाता है। क्योंकि इनमें प्राथमिक जनों को शान्तिपथ की ओर आकर्षित करने का अभिप्राय लिया गया है। इसलिये शृङ्गार रस आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया गया है तथा जिस प्रकार पताशे में रख कर कड़वी भी औषधि बालक को खिलादी जाती है उसी प्रकार सुन्दर सुन्दर कथाओं में आकर्षक शृंगार आदि रसों के कथन के साथ, बीच बीच में यथा स्थान जीवनोपयोगी बातों व तत्वों का निरूपण भी कर दिया गया है। अतः प्रथमानुयोग में चारों ही अनुयोगों सम्बन्धी बातों का सुन्दर व संक्षिप्त संग्रह मिलता है। कुछ ऐसे हैं जिनमें तत्वों का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से प्ररुपण किया गया है तथा अत्यन्त परोक्ष व सूक्ष्म बातों का जैसे कार्माण शरीर व उसके बनने व बिछड़ने सम्बन्धी, या द्वीप समुद्रों आदि का कथन है उसे 'करणानुयोग' कहते है। कुछ ऐसे हैं जिनमें वस्तु का अनुभवात्मक स्वरूप दर्शाया है, स्व व पर में विवेक कराया है, सुख व दुःख का सच्चा स्वरूप दर्शाया है, तर्क व बुद्धि से उसकी अनेक प्रकार से सिद्धि करते हुए वैज्ञानिक ढङ्ग से विवेचन किया है उसे 'द्रव्यानुयोग' कहते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो हमें हमारा कर्तव्य व अकर्तव्य बता रहे हैं तथा अपने जीवनको किस प्रकार शान्ति के सांचे में ढालना चाहिये, यह बता रहे हैं-- इसे 'चरणानुयोग' कहते हैं।

यद्यपि यह चारों ही प्रमाणिक हैं परन्तु इस वर्तमान की भूमिका में क्या चारों ही पढ़े जाने योग्य हैं ? नहीं भाई ! इनमें से पहले दो की तो इस अवस्था में तेरे लिये आवश्यकता नहीं क्योंकि प्राथमिक कोटि से तो तू निकल चुका है जो यहां बैठा सुन रहा है-इतनी रुचि से, इसलिए प्रथमानुयोग वर्तमान में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय नहीं। अभी तक तो तू स्थूल बातों तक का निर्णय नहीं कर सका, सूक्ष्म को कैसे जान सकेगा ? अत्यन्त परोक्ष बातों को, जैसे कर्म व द्वीप समुद्रों के वर्णन को अभी जान कर क्या करेगा और सूक्ष्म दृष्टि बने बिना वह तेरी समझ में भी क्या आयेगा, अतः करणानुयोग भी वर्तमान दशा में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय नहीं। यहां ऐसा न समझ लेना कि इनके पढ़ने का निषेध किया जा रहा है, निषेध का अभिप्राय नहीं है बल्कि थोड़े से थोड़े समय में अधिक कल्याण कैसे प्राप्त हो, यह अभिप्राय है। कुछ अनुभव व स्थूल सिद्धान्तों के पश्चात् करणानुयोग महान उपकारी सिद्ध होगा। "किसी को बैंगन बायले, किसी को बैंगन पच" अर्थात् जो करणानुयोग तेरे लिये प्रयोजनीय नहीं है, वही किसी अन्य के लिये जिसकी दृष्टि मंज चुकी है अत्यन्त उपकारी है तथा जो आज तेरे लिये प्रयोजनीय नहीं है, वही कल तेरे लिये उपकारी सिद्ध होगा। इसी प्रकार प्रथमानुयोग भले ही तेरे लिये इस समय उपयोगी न हो, क्योंकि तेरी श्रद्धा दृढ़ हो चुकी है, परन्तु ऐसे प्राथमिक जन जो कभी मन्दिर में आना नहीं जानते, उनको मार्ग की श्रद्धा कराने के लिये यही एक मात्र साधन है। क्योंकि कथाओं के आधार पर बालकों को भी कठिन से कठिन बात समझा देनी तथा उस का फल दर्शा कर उस पर दृढ़ श्रद्धा करा देनी शक्य है।

परन्तु बात यह चलती है कि इस वर्तमान स्थिति में कौन से शास्त्र का स्वाध्याय करूं ? बस तो वस्तु स्वरूप दर्शक द्रव्यानुयोग से स्व पर भेद की बात जानने के साथ साथ, चरणानुयोग से कर्तव्य अकर्तव्य पहिचानने, तथा अपने जीवन को शान्ति की ओर ढालने सम्बन्धी बात जाननी चाहिये। अतः यह दोनों द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग इस दशा में तेरे लिये विशेष प्रयोजनीय हैं। चरणानुयोग की भी दो धारायें हैं एक अन्तरंग में वैराग्य उत्पन्न करने वाली, तथा दूसरी इस जीवन में बाहर का त्याग रूप कुछ प्रेरणा देने वाली। इन दोनों में से भी पहले चरणानुयोग की वैराग्य उत्पन्न कराने

वाली धारा विशेष प्रयोजनीय है, किञ्चित् वैराग्य उत्पन्न हो जाने के पश्चात् व्रतादि का उपदेश देने वाली धारा महान उपकारी है। यदि किसी की बुद्धि इतनी मन्द है कि वस्तुस्वरूप को समझ न सके या वैराग्य की बात जिसके गले न उतर सके तो उसके लिये प्रथमानुयोग तथा चरणानुयोग के बाह्य त्यागों वाले अंग का स्वाध्याय ही कथञ्चित् इष्ट है। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है और जिसने द्रव्यानुयोग व चरणानुयोग को भली भान्ति अवधारण कर लिया है, उसको तो निज कल्याणार्थ अपने सूक्ष्म परिणामों की परख करने के लिये 'करणानुयोग' का स्वाध्याय ही अत्यन्त इष्ट है। जिसके पास समय अधिक है उसके लिये भी यह महान उपकारी है, क्योंकि इसकी उलझी हुई बातों को समझने में बुद्धि भी इतनी उलझ जाती है, कि दिन जाता प्रतीत नहीं होता। इसका स्वाध्याय करते समय व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है और किसी प्रकार के भी लौकिक विकल्प को जागृत होने के लिए अवकाश नहीं रहता। इस कथन पर से स्वयं अपनी भूमिका को पहिचान कर इन चारों में से यथा योग्य रूप में किसी भी शास्त्र का मनन करना तेरा परम कर्तव्य है। शान्ति पथ के संवर प्रकरण में यह तीसरा पग है।

स्वाध्याय के फलस्वरूप जैनेन्द्र प्रमाण कोष का सम्पादन
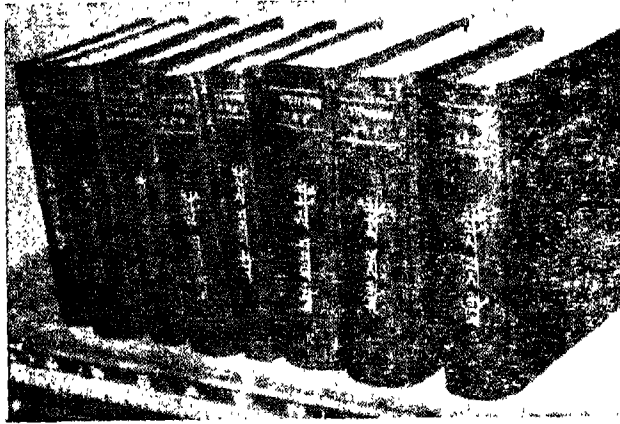
जैनेन्द्र प्रमाण कोष जैन जगत में अपनी जाति की प्रथम कृति है। एनसाइक्लोपीडिया या ला डाइजस्ट वत् इसमें जैनागम के समस्त मूल सैद्धान्तिक शब्दों व विषयों को वर्णानुक्रम से संकलित किया गया है। कोई भी सैद्धान्तिक शब्द या आगम प्रणीत किसी भी विषय सम्बन्धी कोई शंका ऐसी नहीं जिसका अर्थ व उत्तर विस्तार सहित इसमें न मिले। कोई विषय पढ़कर भूल गया हो तो भी इस कोष में खोजकर एक दृष्टि मात्र में स्मरण किया जा सकता है। इसमें प्रमाणिक ऋषियों के प्रणीत आर्ष-वाक्यों के प्रमाण सैद्धान्तिक विषयों की पुष्टि में प्रस्तुत किये गये हैं।

संकड़ों ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करने वाली यह कृति अपने अन्दर परिपूर्ण है। एक ही स्थान पर, एक विषय के सम्बन्ध में, भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा कथित, अनेकों शास्त्र वाक्यों के उदाहरण आपको इस कोष में मिल सकते हैं। स्वाध्याय प्रेमी जन या आगम के खोजी विद्वान इसकी सहायता से एक क्षण में बड़ी बड़ी समस्यायें समझ व सुलझा सकते हैं, और इस प्रकार अपने बहुमूल्य समय की भारी बचत कर सकते हैं। करणानुयोग के गहन विषयों की ओघ आदेश सर्व प्ररूपणाओं को कोष्टकों में भर कर सागर को गागर में समा दिया गया है। इस कोष के आठ मोटे मोटे वाल्यूम हैं जैसा कि ऊपर के चित्र से विदित है। यथावसर समुचित साधन उपलब्ध होने पर इसका प्रकाशन किया जायेगा। इस बहुमूल्य कृति के रचयिता हैं—ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी पानीपत।

२५

❀ संयम सामान्य ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक २४ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं ५०

१—संयम का सर्व अङ्गों में एकत्व, २—संयम का अर्थ, ३—पूर्ण संयम का आदर्श स्वरूप ४—संयम धारण की प्रेरणा।

शान्ति की खोज में आगे बढ़ने वाले पथिक को क्रमशः इसकी प्राप्ति का उपाय बताया जा रहा है। यह उपाय अत्यन्त सरल है, इसे गृहस्थ अवस्था में रहते हुए भी अपनाया जा सकता है, इसके लिये गृहस्थ छोड़ कर तुरन्त साधु हो जाने की आवश्यकता नहीं, इसलिये इस मार्ग से भय न खाना। जो मार्ग बताया जा रहा है वह कठिन भी नहीं है, सरल है, इसको आंशिक रूप से भी धारण करने वाले को तत्क्षण सहभावी शांति का वेदन अवश्य होने लगता है, वह अलौकिक शान्ति जो कि पहले प्रकरणों में कुछ संकेतों द्वारा बताई जा चुकी है। उस शान्ति के रसास्वादन में इस मार्ग की कठिनाइयाँ वास्तव में कठिनाइयां प्रतीत नहीं होती, जिस प्रकार कि धन के लोभ से प्रगटी धनोपार्जन की रुचि में व्यापार की कठिनाइयाँ वास्तव में कठिनाइयां भासती नहीं।

१ संयम का सर्व अङ्गों में एकत्व — इस मार्ग में गृहस्थ के योग्य कुछ अंगों में से तीन अंग-देव दर्शन, गुरु उपासना व स्वाध्याय बताये जा चुके हैं, अब चौथे अंग संयम का प्रकरण चलता है। मार्ग के इन पृथक पृथक करके बताये जाने वाले अंगों का यह अर्थ नहीं, कि जीवन में भी यह पृथक पृथक ही पालन किये जावें अर्थात् जब देव दर्शन हो तब गुरु उपासनादि अन्य अंगों का अभाव हो और जब संयम पालन करता हुआ हो तो देव दर्शनादि का अभाव हो। वह चारों तथा आगे बताये जाने वाले जितने भी अंग हैं वह सब शरीर के हाथ पांव आदि अंगों वत् एक गृहस्थ जीवन में युगपत पालन करने योग्य होते हैं, युगपत होने पर ही उस गृहस्थ का जीवन शान्ति का मार्ग रूप बनता है। पृथक पृथक रहने पर वास्तव में वह मार्ग नहीं रहता और न ही उसे जीवन के अङ्ग रूप स्वीकार किया जा सकता है, वह तो बन्दर की नक़ल मात्र बन कर रह जायेंगे, जिसका कोई मूल्य न होगा। बिना समझे, तथा उन अंगों में बिना शान्ति का दर्शन किये सर्व अङ्ग शून्य मात्र हैं, निष्फल हैं। क्योंकि शान्ति पथ की प्राप्ति के लिये अपनाये गये यह सर्व अङ्ग यदि तत्क्षण शान्ति का वेदन न करा सकें, तो फल के अभाव में इन सर्व अङ्गों को निष्फल ही तो कहेंगे।

२ संयम का अर्थ — संयम अर्थात 'सं'+'यम'। 'सं' अर्थात् सम्यक प्रकार, 'यम' अर्थात् यमन करना, दमन करना, दबाना। सम्यक् प्रकार दबा देना-व्याकुलता उत्पादक उन विकल्पों को, जो कि विषय भोगों

के दृढ़ संस्कारों वश या कर्तव्य हीनता वश प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करके, मेरे अन्तष्करण में प्रवेश पाते या आस्रवते हुए मुझे अशान्त व विह्वल बनाये रहते हैं। शान्ति के उपासक को और चाहिए ही क्या ? विकल्पों का पूर्णतया अभाव ही तो अभीष्ट है और विकल्पों के आस्रवन का निरोध संवर है, अतः संमम संवर का ही एक अङ्ग है। पूर्ण संयम के प्रतीक तो हैं देव व गुरु जिनकी भक्ति व उपासना की बात चल चुकी है, जिनके दर्शनों से मैंने शान्ति का स्वरूप समझा, उस शान्ति का जो कि संयम की अविनाभावी है। पूर्ण संयम अर्थात् संकल्प विकल्प समूह के पूर्णतया अभाव में ही तो पूर्ण शान्ति का निवास है। इस बात पर विश्वास कराने तथा उस संयम के प्रति बहुमान उत्पन्न कराने के लिये ही तो देव दर्शन व गुरु उपासना का अन्तर्भाव 'संवर' के प्रकरण में किया गया है। उनसे मुझे संयम धारण करने की शिक्षा व प्रेरणा जो मिलती है, अतः पूर्व में बताये गये देव दर्शन व गुरु उपासना का फल जीवन को संयमित बनाने में ही निहित है, उस प्रकार से जिस प्रकारसे कि उन संयमी गुरुओं द्वारा प्रणीत आगम में बताया गया है। अर्थात् स्वाध्याय से उसी संयम धारण करने की जिज्ञासा को प्रोत्साहन तथा संयम धारण करने के मार्ग का ज्ञान कराया गया है। उस संयम के लिये, जिसको कि स्वयं अपने जीवन में लाकर उन गुरुओं ने यह सिद्ध कर दिया, कि इसका पालना अशक्य नहीं है, और इसका पालन ही शान्ति है। उन्होंने तभी उपदेश दिया जब कि अपने जीवन को प्रयोगशाला में प्रयोग करके उसके फल का निर्णय उन्होंने कर लिया।

इस संयम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक वह भाग जिसके द्वारा मैं अपनी इन्द्रिय विषयों सम्बन्धी लोलुपता व आसक्तता का सम्यक् प्रकार दमन कर सकूं अर्थात् 'इन्द्रिय संयम,' और दूसरा वह जिसके द्वारा इस जीवन में अपनी शान्ति की रक्षा करने के साथ साथ दूसरे प्राणियों के प्रति भी मैं कर्तव्य निष्ठ बना रहूँ, अर्थात उन कुटिल संस्कारों का सम्यक् प्रकार दमन करनें में समर्थ हो सकूं जो कि मुझे कर्तव्यहीन बनायें हुए हैं, जिनके कारण मैं स्वयं मनुष्यता को भूल कर अपने साथी अन्य छोटे बड़े प्राणियों के साथ सम्भवतः पशुओं से भी अधिक नीचा राक्षसी व्यवहार कर रहा हूँ, और फिर भी अपने को मनुष्य कहने का गर्व करता हूँ, अर्थात् 'प्राण संयम'।

३ पूर्ण संयम का आदर्श स्वरूप — संयम के उपरोक्त दो भागों में से पहले इन्द्रिय संयम की बात चलती है। मेरे आदर्श स्वरूप देव गुरु तो पूर्णतया इन्द्रिय विजयी बन चुके हैं, जैसा कि उनके जीवन से साक्षात् अनुभव करने में आता है। शरीर अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय की रक्षा करने के लिये इसे गरमी, सर्दी, बरसात मच्छर मक्खी आदि की बाधाओं से बचाने का अब किञ्चित् मात्र भी विकल्प उनमें शेष नहीं रहा है, जिसकी घोषणा कि उनके शरीर की नग्नता कर रही है। इस नग्न अवस्था में भी बिना किसी आश्रय के केवल आकाश की छत के नीचे, बीहड़ बन में अथवा भयानक श्मशानों में, सर्दी की तुषार व बरसाती रातों के बीच, उनकी निश्चल व निर्भीक ध्यानस्थ अवस्था, उनके पूर्ण स्पर्शन इन्द्रिय विजेतापने का विश्वास दिला रही है। गर्मी की आग बरसती दोपहर में तप्त बालू पर खुले जाज्वल्यमान प्रकाश के नीचे धारा हुआ उनका आतापन योग, शरीर पर से उनकी अतीव निर्ममता का प्रतीक है। आज दिशायें ही उनके वस्त्र हैं, इसके अतिरिक्त और कृत्रिम वस्त्र की उन्हें आवश्यकता नहीं। स्पर्शन सम्बन्धी मैथुन भाव पर उनकी जय घोषणा करने वाली निर्विकार शान्त आभा मुझे और भी स्पर्शन-इन्द्रिय विषय की विजय का दृढ़ विश्वास करा रही है।

महीनों के उपवास के पश्चात् भी, आहार लेने की भावना जागृत हो जाने पर, आकुल व आसक्त चित्त से गृद्धता सहित आहार की ओर दृष्टि नहीं होना, तथा अन्तराय या कोई भी बाधा आ जाने पर शान्ति पूर्वक आहार जल का त्याग करके पुनः उनका बन को लौट आना, उनकी जिह्वा इन्द्रिय पर पूर्ण विजय का प्रदर्शन कर रहा है। आहार लेते समय भी स्वादिष्ट व अस्वादिष्ट में, नमक सहित व नमक रहित में, मीठे या खट्टे में, चिकने या रूखे में, गरम या ठण्डे में, उनकी मुखाकृति का एकीभाव उनकी अन्तर्साम्यता व रस निरपेक्षता की घोषणा करता हुआ, उन्हें जिह्वा इन्द्रिय विजयी सिद्ध कर रहा है। रोम रोम को पुलकित कर देने वाला सर्व सत्व कल्याण की करुणापूर्ण भावनाओं से निकला, उनका हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वा इन्द्रिय विजयी होने का विश्वास दिला रहा है।

विष्टा के पास से गुजरते हुए भी उनकी मुखाकृति की सरलता व शान्तता का निर्भङ्ग रहना, किसी कुष्टी आदि ग्लानि मयी शरीर धारी को देख कर भी उनकी आंख का दूसरी ओर न घूमना, तथा किसी उद्यान के निकट से जाते या वहां बैठे हुए वहां आने वाली धीमी धीमी सुगन्धि की ओर उनके चित्त का आकर्षित न होना, मुखाकृति पर किसी सन्तोष विशेष की आकृति का न दीखना, उनके पूर्ण नासिका इन्द्रिय विजयी पने को सिद्ध करता है। दुर्गन्धि व सुगन्धि में साम्यभाव उनकी पूर्ण वीतरागता व शान्ति के रसास्वादन का प्रतीक है, जिसके कारण कि उन दोनों में उन्हें भेद भासता नहीं।

तीखे कटाक्ष करती, शृङ्गारित रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर युवतियों के सामने आ जाने पर भी, विकृत दृष्टि से उधर न लखाना, अथवा महा भयानक कोई विकराल रूप दीख पड़ने पर भी उनकी आभा में कोई अन्तर न पड़ना, आहारार्थ चक्रवर्ती के महल में या साधारण जन की कुटिया में प्रवेश करते उनका गौतत् समान ही भाव में स्थिति पाना, उनके पूर्ण नेत्र इन्द्रिय विजयी होने की घोषणा कर रहा है।

निन्दा व स्तुति दोनों में समान रहने वाली उनकी समबुद्धि, निन्दक व वन्दक दोनों के लिये समान रूप से प्रकट होने वाली कल्याण की भावना, व दोनों के लिये मुख से एक शान्त मुस्कान के साथ निकला हुआ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद सूचक वाक्य, उनके पूर्ण कर्णेन्द्रिय विजयी होने का द्योतक है।

इन सबके अतिरिक्त स्वर्ण व कांच में, दुःख व सुख में, हानि व लाभ में रहने वाली उनकी साम्यता व निर्लोभता व निष्कपटता उनके पूर्ण निष्परिग्रहीपने का, पूर्ण त्यागीपने का आदर्श उपस्थित करती है। शत्रु व मित्र में समानता उनकी क्षमा को, तथा अनेकों गुणों व चमत्कारिक ऋद्धियों या शक्ति विशेषों के होते हुए भी उन्हें प्रयोग में न लाना, उनकी निरभिमानता व क्षमता का द्योतक है। कहां तक कहें, वह देव गुरु जिनको कि मैंने आदर्श रूप से स्वीकार किया है, स्पष्टतः पूर्ण संयमी हैं, पूर्ण इन्द्रिय विजयी हैं, पूर्ण कषाय विजयी हैं।

४ संयम धारण की प्रेरणा आज सौभाग्य वश उनकी शरणमें आकर भी क्या मैं खाली लौट जाऊंगा, जैसा कि अनादि काल से करता आया हूँ ? नहीं, अब तक भूला तो भूला, अब वही भूल पुनः न दोहराऊंगा,

इस अवसर को अब न खोऊंगा, इस अवसर की महान दुर्लभता को मैं अब जान पाया हूँ। प्रभु ! मुझे शक्ति प्रदान करें, कि मैं भी आपके समान संयमी बन कर शान्त जीवन बना सकूं, ऐसा ही जैसा कि आपका है, आपकी भांति हो अभिप्राय में साम्यता को स्थान दे सकूं। सुनता हूँ कि जो आपकी शरण में आता है वह आप सरीखा ही बन जाता है, धनिक का धनिक पना भी किस काम का जो याचक को अपने समान न बना ले। आप आदर्श हैं, क्या मुझ पर दया न करेंगे, क्या मुझको न उभारेंगे ? माना कि मैं अपराधी हूँ, परन्तु आप अपराधियों का ही तो उद्धार करने वाले हैं, निरपराधियों को आपकी क्या आवश्यकता ? हे अधमोद्धारक ! अब सही नहीं जाती व्याकुलता की मार, मेरी रक्षा कीजिये ।

परन्तु भो चेतन ! क्या इस प्रकार की अनुनय विनय, प्रार्थना व स्तुति तथा याचना मात्र से काम चल जायेगा ? प्रभु नें तो दया कर दी, अपने जीवन के आदर्श के आधार पर तुझे तेरा जीवनादर्श दर्शा दिया, अब जीवन को उद्यम पूर्वक वैसे ही सांचे में ढालना तो तेरा काम है। यह काम तो प्रभु न करेंगे, अतः अत्यन्त हितकारी इस संयम को अब शीघ्रातिशीघ्र जीवन में उतारने का प्रयत्न कर। साहसी बन, आगे बढ़, कायरता छोड़, बाधाओं से मत घबरा। तूने वीर प्रभु को आदर्श माना है तो तू भी वीर बन। यदि भविष्यत् में अमुक परिस्थिति हो गई 'तो' ? यह घातक 'तो' ही वास्तव में तेरे जीवन की कायरता है, इसे त्याग, प्रभु का आश्रय लिया है तो विश्वास कर कि तेरे जीवन में इस 'तो' के लिये कोई भी समय न आयेगा।

अरे ! यह चिन्ता, यह असमंजस कैसा ? हां हाँ ठीक है, एक दम वैसा हुआ नहीं जा सकता, क्योंकि शक्ति की हीनता वश और पूर्व संस्कारों वश इतनी बाधाओं को तेरे द्वारा सहा जाना वर्तमान में अशक्य है परन्तु पूर्णतया वैसा ही बनने के लिये तो वर्तमान में नहीं कहा जा रहा। वैसा बनने का प्रयत्न करने के लिये तो कहा है, इस प्रयत्न में छिपी है इस मार्ग की सरलता व शक्यता, घबराने व डरनें की आवश्यकता नहीं। बार बार रस्सी के गुजरने से पत्थर भी कट जाता है, इसी प्रकार धीरे धीरे जीवन को इस ओर झुकाने से क्या एक दिन वह आदर्श के अनुरूप न बन जायेगा, भले समय अधिक लग जाये इस बात की चिन्ता नहीं, परन्तु कर तो सही। एक बार प्रारम्भ कर पूर्णता के लक्ष्य से, पूर्णता के अभिप्राय से धीरे धीरे आगे चल अर्थात् शक्ति का संतुलन करता हुआ, परन्तु शक्ति को न छिपाता हुआ क्रमशः थोड़ा थोड़ा विषयों पर काबू पाने से एक दिन तू भी पूर्ण इन्द्रिय विजयी हो जायेगा।

२६

❀ इन्द्रिय संयम ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २६ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ५१

१—इन्द्रिय विषयों के दो भाग, २—इन्द्रिय विषय का अर्थ ३—स्पर्शनेन्द्रिय संयम, ४—अन्तरंग तथा बाह्य त्याग, ५—जिह्वा-इन्द्रिय संयम, ६—नासिका-इन्द्रिय संयम, ७—चक्षु-इन्द्रिय संयम, ८—कर्णेन्द्रिय संयम, ९—मन का संयम।

१ इन्द्रिय विषयों के दो भाग

धीरे धीरे अपने जीवन को संयमित बनाने की बात चलती है। इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ मुझे विश्लेषण द्वारा अपने विषयों को दो भागों में विभाजित करना होगा—एक आवश्यक भाग अर्थात् 'नेसैसरीज़' और दूसरा अनावश्यक भाग अर्थात् 'लक्सरीज़'। शरीर पर या कुटुम्बादि पर अर्थात् मेरी गृहस्थी पर किसी भी प्रकार की बाधा, तीव्र राग वश व शक्ति हीनता वश, आज मुझसे सहन न हो सकने के कारण, भले आज आवश्यक विषयों को अर्थात् नेसैसरीज़ को त्यागने में या उनसे उपेक्षा करने में मैं अपने को समर्थ न पाऊं, परन्तु अनावश्यक विषयों अर्थात् लक्ज़रीज़ को त्यागने में मैं आज भी समर्थ हूं क्योंकि इसके त्याग से मेरे शरीर में या गृहस्थी में कोई बाधा आनी सम्भव नहीं। यदि ऐसा अभिप्राय बन जाये तो अवश्य ही इन्द्रिय विषयों के उस बड़े भाग से मैं बच जाऊं, जो मेरे जीवन में अधिक भार रूप हैं, जिसके कारण मुझे अधिक व्याकुलता हो रही है, जिसके कारण कि मैं अपना विवेक भी भूल बैठा हूं, जिसके कारण कि मैं हित को अहित और अहित को हित मान रहा हूँ, और इस प्रकार विकल्पों के एक बड़े समूह को जीत लेने के कारण मैं पूर्ण रूप से न सही, परन्तु आंशिक रूप से अवश्य इन्द्रिय विजयी बन जाऊंगा।

२ इन्द्रिय विषय का अर्थ

परन्तु यहाँ इतना समझ लेना आवश्यक है कि इन्द्रिय शब्द से यहाँ शरीर में दीखने वाले यह कुछ नेत्रादि चिन्ह मात्र नहीं हैं, बल्कि है मेरे अन्दर का वह अभिप्राय, जिसके कारण कि न मालूम क्यों आप ही आप, उन नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थात् जाने गये पदार्थों व विषयों की ओर रुचि पूर्वक मैं झुक जाता हूं, जिसके कारण कि उन उन पदार्थों व विषयों का उन उन इन्द्रियों से ग्रहण करते समय मुझ में स्वत: ही कुछ मिठास वर्तने लगता है, कुछ आनन्द सा आने लगता है, और इस प्रकार का भाव आ जाने पर जिनके पुन:२ ग्रहण की इच्छा अन्तरंग में जागृत हो जाती है, "अहो! यह तो बहुत स्वादिष्ट है, ऐसा ही और भी लाकर देना," कुछ ऐसा सा भाव ही वास्तव में यहां इन्द्रिय शब्द का वाच्य बनाया जा रहा है। ऊपर कहे जाने वाले अनावश्यक विषयों का

ग्रहण तो सर्वतः उन्हीं भावों के आधार पर होता है, परन्तु आवश्यक विषयों के ग्रहण का आधार बहुत अंशों में है-सहन शक्ति की कमी, तथा थोड़े अंशों में है वह उपरोक्त विशेष झुकाव का भाव। इच्छाओं को भड़काने के कारणभूत इस विशेष झुकाव वाले भाव का निषेध ही प्रथम अवस्था में कर्त्तव्य है। क्योंकि उसके त्याग से मेरी शान्ति में बाधक इच्छाओं का एक बड़े अंश में निराकरण हो जाता है, और इसलिये क्रमशः संयम धारण के प्रकरण में पहले अनावश्यक विषयों के त्याग का उपदेश दिया गया है। मुझे पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा का अभिप्राय लेकर चलना है अतः इस शान्ति में जो भी बात अधिक बाधा पहुंचाती प्रतीत होती हो उसे पहले ही मार्ग से हटा देना आवश्यक है।

३ स्पर्शनेन्द्रिय संयम

उदाहरण रूप में स्पर्शन इन्द्रिय को लीजिये। इसके दो विषय हैं। एक गरमी सर्दी का भान करते हुए सुखी दुःखी होना, और दूसरा कोमल, कठोर, चिकनी व रूखी वस्तुओं को स्पर्श करके सुखी दुःखी होना। इस इन्द्रिय सम्बन्धी इन दो विषयों में से पहला विषय इस अल्प गृहस्थ भूमिका के लिये आवश्यक है, क्योंकि गरमी के दिनों में गरमी और सर्दी के दिनों में सर्दी को सहन करने में मैं असमर्थ हूं। उस उस समय यदि उनसे शीतादि उपचारों व पवनादि के द्वारा तथा वस्त्रादि के द्वारा इस इन्द्रिय की रक्षा न करूं तो सहन शक्ति की हीनता के कारण व्याकुल हो जाता हूं यद्यपि पूर्ण आदर्श की दृष्टि में वह भी त्याज्य है, फिर भी इस भूमिका में इसका त्याग आवश्यक नहीं,इसलिये भले ही वस्त्रादि पहनूं, शीतादि उपचार करूं, पवन को प्रयोग में लाऊं, परन्तु भो चेतन ! सुन्दर' कीमती, सिल्की व ऊनी वस्त्र, ज़री के वस्त्र, जेवर तथा अन्य भी इसी प्रकार की कोमल व शरीर को सजाने के अभिप्राय से ग्रहण की गई वस्तुएं, और शरीर को मल कर धोने के लिये साबुन व इसे चिकना बनाने के लिये तेल मर्दन, तथा इसी प्रकार के अन्य भी प्रयोग यदि त्याग दिये जायें, तो विचार तो सही कि तेरी गृहस्थी में इससे क्या बाधा पड़ेगी, या तुझको किस पीड़ा का वेदन होगा, जिसको कि तू न सह सकेगा ? कुछ भी तो नहीं, ये विषय तो सर्वतः अनावश्यक ही हैं। इनके त्याग से बाधा होनी तो दूर रही, बहुत सी बाधाओं का प्रतीकार हो जायेगा।

किस प्रकार सो देखिये— आज से तीस वर्ष पूर्व का अपने पूर्वजों का जीवन हमें याद है, जिनके पास होते थे गरमी सर्दी से बचने के लिये २-४ गिनती के वस्त्र। न ट्रंक थे न सन्दूक, एक जोड़ा धोया और पहन लिया, तीसरे का काम नहीं, या कहीं विशेष अवसरों पर जाने आने के लिये किसी ने रखा तो एक जोड़ा और, बस इतना ही पर्याप्त था। न कोई साबुन जानता था न शरीर पर मलने के लिये तेल। ज़ेवर थे पर ठोस, जब चाहो बेच लो और पूरे दाम बना लो, नुक़सान का कुछ काम नहीं। फलितार्थ जीवन हल्का तथा सन्तोषी था, आवश्यकतायें व चिन्तायें कम, अतः धनोपार्जन के प्रति की लालसा भी कम, निज हित अर्थात् धर्म साधन के लिये या मित्रों में बैठकर कुछ हंस बोल कर मनोरंजन करने के लिये काफ़ी समय।

आज का जीवन भी हमारे सामने है, जब घर में ट्रंक सन्दूकों का ढेर लगा है, एक के ऊपर एक लदे हुए, उनमें से प्रत्येक ठसा ठस सूती व ऊनी व रेशमी तथा ज़री के कीमती वस्त्रों से भरा हुआ। उस पर भी विशेष अवसरों पर कहीं जाते समय जब ट्रंक खोलकर देखा जाता है, तो कई दर्जन

कमीजों का ढेर बाहर निकाल लेने पर भी सन्तोष नहीं क्योंकि कोई योग्य कमीज ही नहीं है, कोई योग्य कोट ही नहीं है, एक भी इस अवसर के लिये दृष्टि में नहीं जमता। शरीर को मल मल कर नहाने के लिये अनेक भांति के साबुन, इसको चिकना चुपड़ा बनाने के लिये अनेक जाति के पाऊडर, क्रीम, फिक्सर, सुर्खी, तेल और न मालूम क्या क्या। एक भरी हुई पूरी आलमारी का सामान, परन्तु फिर भी अभी कमी है-- अमुक वस्तु की क्योंकि बाजार में तो उपलब्ध हैं नित नये ढंग की नाना प्रकार की वस्तुयें। जेवर है परन्तु ऐसा जिसमें स्वर्ण का मूल्यात्मक अंश बहुत कम, कांच ही काँच, और कहा जाता है स्वर्ण का जेवर, यदि बेचने जाओ तो सम्भवतः मूल्य का आठवां भाग भी न मिल सके। फलितार्थ, जीवन स्वयं एक भार, जिसमें है एक व्याकुलता व कलकलाहट, झुंझलाहट व कलह, असीम आवश्यकतायें, असीम तृष्णायें, 'यह भी चाहिये' 'यह भी चाहिये' 'और ला--और ला' की पुकार से व्यग्रचित्त, चिन्ताओं की दाह, अतः धनोपार्जन की भी वही चिन्ता। निज हित अर्थात धर्म साधन के लिये या मित्रों में मनोरंजन करने के लिये एक सैकिण्ड का भी अवकाश नहीं, घर मे बीवी बच्चों से हंसने व बोलने के लिये अवकाश नहीं, माता पिता को सांत्वना देने का अवकाश नहीं, खाना खाने का अवकाश नहीं, भागते दौड़ते कुछ खाया कुछ नहीं, यहां तक की सोने को भी अवकाश नहीं, कभी ४ घण्टे सोये कभी २ घण्टे सोये, और न सोये तो न सही, प्रतिदिन की यात्रा, कभी मोटर में तो कभी रेल में। कहां तक बताया जाये, सब ही जानते हैं इस जीवन की कशमकश को। क्या यही है जीवन का सार ? क्या इसलिये ही पाया है यह मनुष्य जन्म इससे अच्छा तो तिर्यञ्च ही रहते तो अच्छा था, जिसे कुछ आगे पीछे की चिन्ता तो न रहती।

आश्चर्य है कि इतना कुछ होने पर भी अपने को सुखी मानूं, और नित विषयों को अधिक अधिक ही ग्रहण करने का प्रयत्न करूं। सम्भल चेतन सम्भल ! सौभाग्य वश तुझे यह प्रकाश मिल रहा है कि जिसमें यदि आंखें खोल कर देखे तो इन विषैले विषय रूपी सर्पों से, जिनको अन्धकार में तू चिकने चिकने सुन्दर हार समझता रहा है, अवश्य सावधान हो जाये, और अपने जीवन में इन अनावश्यक स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों से अवश्य अपनी रक्षा करे। वास्तव में स्पर्शन इन्द्रिय भोगों से रक्षा करने के लिये इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी की उस अन्तरंग मिठास के उस विशेष भाव से बचने के लिये है। आज वस्त्रादि शरीर ढांपने के लिये नहीं हैं, बल्कि ह शरीर को सजाने के लिये तथा इसी प्रकार अन्य यथा योग्य वस्तुयें भी।

क्या कहा ? साबुन तो आवश्यक वस्तु है। नहीं ! यदि ऐसा होता तो उन पूर्वजों के जीवन में तुझे अवश्य दिखाई देता, अपने स्वार्थ वश प्रचार करने वाली साबुन व टायलैट कम्पनियों के बहकावे में मत आ। जल से स्नान करके रगड़ कर शरीर को किसी सूखे वस्त्र से पोंछ लेना ही इसे साफ रखने को पर्याप्त है। इसमें प्राकृतिक चिकनाई है, तेल द्वारा कृत्रिम चिकनाई की इसको आवश्यकता नहीं और सर्दी में कदाचित कुछ रूक्षता दिखाई भी दे, तो दीखने दे, तेरा क्या माँगती है। हां यदि कुछ असह्य खुजली आदि प्रतीत होती हो, तो अवश्य तेल का प्रयोग कुछ लाभदायक सिद्ध हो सकेगा, और उस समय वह अनावश्यक न रह कर आवश्यक विषय की कोटि में आ जायेगा।

४ अन्तरं व बाह्य संयम

अन्तरंग अभिप्राय को टालने को कहा है न ? बाहर में त्यागने से क्या लाभ ? अरे प्रभु दया कर अपने ऊपर, तू स्वयं यह प्रश्न करके सन्तोष नहीं पा रहा है, फिर भी

आश्चर्य है कि प्रश्न कर रहा है। क्या बाहर का ग्रहण, बिना अन्तरंग के अभिप्राय के सम्भव है ? क्या बिना अन्तरंग झुकाव के ही इतना व्यग्रचित बना हुआ अपनी शान्ति का बलिदान कर रहा है ? नहीं, नहीं, ऐसा न कह, बाह्य का ग्रहण अंतरंग अभिप्राय का लक्षण है। यह हो सकना सम्भव है कि बाहर का त्याग हो जाये पर अंतरंग का अभिप्राय न छूटे, पर ऐसा होना असम्भव है कि अंतरंग अभिप्राय छूट जाने पर बाहर न छूटे। अतः अन्तरंग त्याग पर मुख्यता से जोर दिया जा रहा है, इसका अभिप्राय बाहर का ग्रहण नहीं है।

हर क्रिया के मुख्य दो अङ्ग हैं, एक अन्तरंग व दूसरा बाह्य जैसा कि पहले देव व गुरु उपासना में बताया जा चुका है। दोनों अंग अविनाभावी रूप से साथ साथ चलते हैं। यहां भी अंतरंग की क्रिया है—उन उन वस्तुओं के प्रति झुकाव का त्याग और तत्फल स्वरूप बाह्य क्रिया है—उन उन अनावश्यक वस्तुओं का त्याग। यद्यपि आवश्यक वस्तुओं के भाग में से भी मिठास लेने के अर्थ रूप अंतरंग भाव का त्याग हो जाता है, परन्तु शक्ति के अभाव के कारण शरीर की रक्षार्थ बाह्य विषय का त्याग नहीं होता। यह बात कुछ अटपटी सी लग रही होगी, पर वास्तव में ऐसी नहीं है। शान्ति के उपासक को वीतरागता के प्रति गमन करने में उत्साह वर्तता है अतः उसे स्वभावतः ही उन२ विषयों में से मिठास आना बन्द हो जाता है। वह अब उसे कुछ जञ्जाल से भासने लग जाते हैं, ऐसा स्वभाव है।

मुजफ्फरनगर दिनांक २७ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ५२

शान्ति की खोज में संलग्न पथिक की शान्ति में बाधक विकल्पों के निषेधार्थ जीवन को यथाशक्ति संयमित बनाने की प्रेरणा की जा रही है। संयम के प्रथम अङ्ग इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी संयम की बात हो चुकी। अब चलती है जिह्वादि शेष इन्द्रियों को संयमित करने की बात।

५ जिह्वा इन्द्रिय संयम — स्पर्शन इन्द्रिय वत् जिह्वा इन्द्रिय के विषयों को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-एक आवश्यक भाग और दूसरा अनावश्यक भाग। आवश्यक व अनावश्यक की व्याख्या स्पर्शन इन्द्रिय सम्बन्धी प्रकरण में की जा चुकी है। आवश्यक भाग में आता है क्षुधा शमनार्थ किये गए भोजन को चबा कर अन्दर धकेलना, तथा घर के व्यक्तियों से या व्यापारादि उद्योगों में ग्राहकों से तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से योग्य संभाषण करना, अथवा अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य साधारण व असाधारण व्यक्तियों से योग्य संभाषण करना, अनावश्यक भाग में आता है उस किये गए भोजन के स्वाद में या अन्य स्वादिष्ट मिष्टान्न या चाट आदिक पदार्थों में आसक्ति का होना, और निष्कारण द्वेष या प्रमाद वश किसी की निन्दा या चुगली करना, गाली या व्यंग के वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना इत्यादि।

स्पर्शनेन्द्रिय वत् यहां भी यद्यपि आवश्यक संभाषण व भोजन ग्रहण की क्रियाओं का वर्तमान में त्याग करना शक्ति के बाहर की बात होने के कारण भले उसका त्याग न हो सके, परन्तु उपरोक्त अनावश्यक भाग का त्याग करने में तो गृहस्थ जीवन की दैनिक चर्या में कोई बाधा नहीं आती। फिर भी इसके त्याग के प्रति क्यों उत्साह नहीं करता? तनिक विचार करके देखे तो पता चले बिना न रहेगा, कि इस प्रकार की आसक्तता के कारण तुझे समय समय प्रति कितनी जाति के संकल्प विकल्प उत्पन्न हो होकर व्याकुल बना रहे हैं। अनुकूल स्वाद न मिलने पर क्रोध के कारण तू किस प्रकार स्वयं अपने स्वरूप को साक्षात् जलता हुआ अनुभव करता है, एक ही वस्तु में अनेक स्वाद उत्पन्न करने के लिये तुझे कितना कुछ करना पड़ता है, तथा इसके कारण तेरे दैनिक बजट पर कितना भार पड़ा हुआ है, जिसकी पूर्ति कि तू अपना सारा समय धनोपार्जन के अर्थ लगा देने पर भी कर नहीं पाता। क्या कभी विचारा है, कि आज के तेरे जीवन को भार बना देने वाली, यह स्वाद की आसक्तता पूर्ण भावना, तेरी शांति को कितनी बाधा पहुँचा रही है? इसके त्याग से तेरे शरीर को या गृहस्थी को बाधा पहुँचने का तो कोई प्रश्न ही नहीं, तुझे बड़ा लाभ होगा-यह बात विचारणीय है—आर्थिक दृष्टि से व स्वास्थ्य की दृष्टि से। आर्थिक दृष्टि से इसके त्याग के कारण अवश्यमेव ही तेरे दैनिक खर्चे में बहुत बड़ी कमी आ जायेगी। सम्भवतः क्षुधा निवृत्ति के लिये होने वाला तेरा खर्च स्वादार्थ होने वाले खर्चे का तीसरा भाग भी न हो। जिसके फल स्वरूप उसकी पूर्ति की जो चिन्ता आज तुझे लगी रहती है उससे तुझे मुक्ति मिलेगी, और धनोपार्जन से कुछ समय का अवकाश पाकर तू शान्ति की उपासना कर सकेगा। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इस स्वाद की भावना से दबाया गया तू अनेकों बार जानते बूझते भी किन्हीं ऐसे पदार्थों का सेवन कर जाता है, जिनके कारण पीछे से अनेकों रोग या कष्ट उत्पन्न हो जाते हैं, उनसे रक्षा करने के लिये भी इस पर काबू पाना श्रेयस्कर है।

इसके अतिरिक्त निन्दनीय सम्भाषण व पर निन्दा में तेरा कितना समय व्यर्थ चला जा रहा है, क्या कभी विचार किया है इस पर? इस क्रिया से तुझको कौनसा लौकिक व अलौकिक लाभ है? लौकक अपेक्षा से भी हानि इसलिये कि इसके कारण ही अनेक व्यक्ति तेरे शत्रु बन बैठते हैं, और तुझे बाधा पहुँचाने में कदाचित् सफल भी हो जाते हैं। अलौकिक हानि इसलिये कि इसके कारण प्रोत्साहित तेरा अन्तर द्वेष, स्वयं तेरे अन्दर दाह उत्पन्न करके तेरी शान्ति को जला डालता है। अतः इस वर्तमान गृहस्थ दशा में रहते हुए भी तू स्वाद के प्रति अपनी आसक्तता का त्याग करने के लिये, बाजार की मिठाई चाट आदिक का त्याग करके या घर पर भी स्वादिष्ट वस्तुयें बनवाने का यथा सम्भव त्याग करके, अथवा किसी के साथ भी अयोग्य, अश्लील व निन्दनीय सम्भाषण का त्याग करके एक देश रूप से जिह्वा इन्द्रिय सम्बन्धी संयम धारण कर सकता है। यहां भी स्पर्शन इन्द्रिय संयम वत् अन्तरङ्ग अभिप्राय की प्रधानता जानना, इससे अवश्य ही तुझको शान्ति की आंशिक प्राप्ति होती प्रतीत होगी।

६ नासिका इन्द्रिय संयम

अब लीजिये तीसरी नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी संयम की बात। इसके विषय को भी आवश्यक व अनावश्यक अङ्गों में विभाजित करने पर, श्वास लेने की प्रवृत्ति रूप एक आवश्यक अङ्ग तथा सुगन्धि दुर्गन्धि के प्रति राग व घृणा भाव रूप अनावश्यक अंग, ये दो बातें विचारणीय हो जाती हैं। श्वास लेना भले त्यागा न जा सके, परन्तु दूसरा विषय त्याग देने पर शरीर

को या गृहस्थी को कोई क्षति नहीं होती। वास्तव में देखा जाये तो दुर्गन्धि सुगन्धि नाम की दो सत्तायें ही कहीं नहीं हें। प्रत्येक भौतिक पदार्थ में कोई न कोई गन्ध तो अवश्य ही है, पर वह सुगन्धि है या दुर्गन्धि इस बात का निर्णय कौन करे ? जो तुझे अच्छी लगे सो सुगन्धि, जो न रुचे सो दुर्गन्धि इसी प्रकार अपनी रुचि के अनुसार किसी भी गन्ध में 'सु', व 'दु', उपसर्ग लगा देना क्या न्याय संगत है ? पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने का तुझको यह अधिकार है ही कहाँ ? अतः वास्तव में तो तुझे किसी भी गन्ध के आने पर 'सु', व 'दु' का अथवा अच्छी व बुरी का भाव ला कर, राग द्वेष जनक व्याकुलता उत्पन्न करके, अपनी शांति को घातना नहीं चाहिये, दोनों में ही साम्यता रहनी चाहियें, जैसे कि पहले देव व गुरु के आदर्श जीवन में देख आया है। परन्तु फिर भी अपनी शक्ति का संतुलन करने पर, तुझे ऐसा लगता है कि प्रयत्न करने पर भी सम्भवतः दुर्गन्धि आने पर तेरा नाक सुकड़े बिना न रह सकेगा, क्योंकि उसके प्रति घृणा के कुछ दृढ़ संस्कार ही ऐसे पड़े हुए हें। खैर यदि ऐसा है तो भले दुर्गन्धि के प्रति की ग्लानि वर्तमान में न छटे, परन्तु सुगन्धि के प्रति का झुकाव छोड़ने में तो तेरे गृहस्थ जीवन में या दैनिक चर्या में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। बल्कि इसके त्याग से तो तुझको लौकिक व अलौकिक दोनों प्रकार का लाभ होगा तथा आर्थिक दृष्टि से व स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभ ही होगा।

आर्थिक दृष्टि से देखने पर तो इस विषय पर काबू पा लेने के पश्चात्, पाऊडर, क्रीम, वसलीन, सन्ट आदि अनेकों ऐसे बेकार पदार्थों की कोई आवश्यकता न रह जायेगी, जिसमें कि तेरी आय का एक बड़ा भाग व्यय हो जाता है। इस प्रकार तेरे व्यय में न्यूनता हो जाने के पश्चात् स्वभावतः ही धनोपार्जन सम्बन्धी तेरा भार कुछ कम हो जायेगा, और तत्सम्बन्धी चिन्ताओं से निवृत्ति के कारण कुछ समय बचा सकेगा। अतः शान्ति की उपासना के मार्ग पर सुलभता से अग्रसर होने का अवसर प्राप्त कर सकेगा। स्वास्थ्य की दृष्टि से देखने पर उन उपरोक्त पदार्थों के कारण उत्पन्न होने वाले बालों का सफेद हो जाना, व नजला तथा अन्य भी कई इसी प्रकार के रोगों से मुक्त हो सकेगा। अतः पूर्णतया न सही परन्तु सुगन्धि के प्रति का राग भाव छोड़ कर इस विषय का भी एक देश त्यागी तू अवश्य बन सकता है।

७ चक्षु इन्द्रिय संयम

अब देखिये नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी विषय को, जिसका काम है देखना-राग भाव से व द्वेष भाव से, जैसे कुटुम्बी जनों को व किसी शत्रु को; निर्विकार भाव से व विकृत भाव से, जैसे अपनी माता को व किसी अन्य सुन्दर स्त्री को; करुणा भाव से व क्रूर भाव से जैसे अपने रोगीले पुत्र को व सर्पादिक को; प्रेम से व भय से, जैसे स्व स्त्री को व सिंह को; बहुमान से व मनोरंजन से, जैसे देव गुरु को व धार्मिक उत्सवों को तथा सिनेमा आदिक को; तथा अन्य भी अनेकों विरोधी अभिप्रायों से देखना। इन सर्व अभिप्रायों में राग से, निर्विकार भाव से, करुणा से व प्रेम से व बहुमान इत्यादिक भावों से देखे बिना वर्तमान अवस्था में चलता प्रतीत नहीं होता तो न सही। परन्तु द्वेष भाव से, विकृत भाव से, क्रूर भाव से, भय से तथा मनोरंजन आदि के भावों से देखने का त्याग तो सहल ही कर सकता है, और इन दृष्टियों के त्याग से, तेरी दैनिक चर्या में बाधा आने की बजाय लौकिक व अलौकिक दोनों रीति से कुछ सुन्दरता ही आयेगी। लोक में होने वाले अपयश से बचेगा, यह है लौकिक सुन्दरता। सिनेमा आदि मनोरंजन मात्र के साधनों से मिलती है निःशुल्क शिक्षा-सर्व

खोटी बातों की व व्यसनों की। देश में प्रचलित डाके मारने के नये नये ढंग, जेब कतरी, व्यभिचार सेवन, मद्य व मांस सेवन, नये नये शृङ्गार व फैशन, इन सब के प्रचार केन्द्र वास्तवमें यह सिनेमा आदि ही तो हैं। अतः इनको देखने का त्याग करने से अनेकों व्यसनों से अपनी रक्षा, व इन भावों से उत्पन्न होने वाले अन्तर दाह से निज शान्ति की रक्षा-है अलौकिक सुन्दरता। इसके अतिरिक्त विकारी भाव से उत्पन्न होने वाली कषाय से प्रेरित अन्य जो वेश्यागमन आदि महान अपराध, उनसे भी तो बचा रहेगा। तथा इस प्रकार इन अपराधों के कारण होने वाले व्यर्थ के धन व्यय की चिन्ता से मुक्ति, अर्थात् धनोपार्जन संबन्धी भार से छुटकारा और अन्य भी अनेक लाभ। अतः यदि पूर्ण नहीं तो आँशिक रूप से अवश्य आज भी इस नेत्र इन्द्रिय सम्बन्धी उपरोक्त अनावश्यक अंग को छोड़ कर संयमी बन सकता है।

८ कर्णेन्द्रिय संयम अब लीजियें पांचवीं कर्ण इन्द्रिय की बात। गृहस्थ व व्यापार सम्बन्ध में, व निज धार्मिक क्षेत्र में कुटुम्ब वालों की, ग्राहकों की, अथवा गुरु जनों या उपदेशकों की बातें सुनना या धार्मिक भजन सुनना तो आवश्यक अंग होने के कारण छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु सिनेमा के अश्लील गाने सुनने का त्याग करने से तुझे क्या बाधा पड़ेगी ? इसमें तो निहित है तेरा लाभ-सिनेमा पर होने वाले तथा रेडियो, ग्रामोफोन आदि पर होने वाले, व्यर्थ के व्यय से बचेगा, और इस प्रकार धनोपार्जन सम्बन्धी भार हल्का पड़ेगा। जो समय इन कार्यों में व्यर्थ जाता है वह समय बच जायेगा तेरे पास, जिसे तू उपयोग में ला सकेगा निज हितार्थ।

इसके अतिरिक्त कर्ण इन्द्रिय का एक और भी विषय है, बड़ा भयानक परन्तु ऊपर से देखने में सुन्दर। जिस सुन्दरता से आकर्षित होकर, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, धार्मिक क्षेत्र में आगे बढ़े हुए व्यक्ति विशेष भी धोखा खाये बिना नहीं रहते, और ऐसी पटखनी खाते हैं कि चारों खाने चित नीचे आते हैं, और उस खाई में जा पड़ते हैं जहाँ से वह कब निकल सकेंगे, यह कौन जाने। वह विषय है निज प्रशंसा के शब्द सुन कर उसके प्रति का मिठास व झुकाव। शान्ति के उपासक को इस दुष्ट विषय से पद पद पर सावधानी वर्तने की आवश्यकता है। इस विषय की विकराल दाढ़ का चबीना बने हुए व्रत संयमादि जार जार रोते देखे जाते हैं। अभी से हो, इस अल्प अवस्था से ही, इसके प्रति सावधान रहने का अभ्यास करना होगा, नहीं तो आगे जाकर अवश्यमेव इस विषय से परास्त होना पड़ेगा। शान्ति पथ की यह सबसे बड़ी बाधा है।

९ मन का संयम पांचों इन्द्रिय की बात हो चुकी, परन्तु इन पाचों के अधिपति मन की बात शेष रह गई। जिससे कि इन पाँचों को प्रेरणा मिल रही है, जिसके बल पर पाँचों का बल है, जिसके जीवित रहने पर पांचों जीवित हैं, तथा जिसकी मृत्यु से पाँचों की मृत्यु है। इस मन का कोई एक निश्चित विषय नहीं है, पांचों ही इन्द्रियों के विषय इसके विषय हैं। जिस प्रकार पहले देव पूजा व गुरु उपासना व स्वाध्याय के प्रकरण में बताया जा चुका है तथा स्पर्शनेन्द्रिय दमन संबन्धी विषय के साथ भी बताया जा चुका है, प्रत्येक क्रिया के दो अंग हैं, जो सदा साथ साथ रहते हैं, एक अन्तरंग और दूसरा बाह्य अंग। यहां भी अर्थात इन्द्रिय संयम के प्रकरण में भी वही बात है, प्रत्येक इन्द्रिय का बाह्य विषय तो है उन२ पदार्थों का ग्रहण, और अन्तरंग विषय है, उनके ग्रहण होने पर अंतरंग में उत्पन्न होने वाली मिठास, रुचि व झुकाव, जो कि मुझे आगे आग पुनः पुनः अधिक अधिक

उन उन विषयों के ग्रहण की प्रेरणा देता है तथा अत्यन्त आसक्त व गृद्धबना कर मुझे उनके उपभोग में ऐसा फंसा देता है कि उनसे छूटने का भाव भी मेरे अन्दर उत्पन्न न होनें पावे, हिताहित का विवेक भी जाता रहे। इन सर्व इन्द्रियों के अन्तरंग विषय मिल कर एक मन का विषय बन जाता है। अतः इस मन को काबू करने के लिये, पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी अनावश्यक व आवश्यक दोनों ही विषयों के प्रति का झुकाव अंतरंग में न होने देने के लिये सावधानी वर्तनी आवश्यक है। इस प्रयास से भी गृहस्थ सम्बन्धी किसी चर्या में बाधा आना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त भी आगे आगे के प्रकरणों में आने वाली सर्व ही अंतरङ्ग क्रियायें मन का विषय हैं। उन सर्व ही अंतरंग क्रियाओं का यथायोग्य त्याग विवेक पूर्वक सावधानी के साथ निर्बाध रीति से जीवन में उतारने का नाम ही मन का संयम है। इसको वश में करने पर यह सब इन्द्रियें सहल ही वश में आ जायेंगी, इस प्रथम भूमिका में इस ही को मुख्यतः वश में करने की बात चलती है।

❀ प्राण संयम ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २८ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ५३

१—दश प्राण, २—जीवों के भेद प्रभेद, ३—स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि, ४—पांच पाप निर्देश ५—हिंसा, ६—असत्य, ७—चोरी, ८—अब्रह्म, ९—परिग्रह, १०—प्राण पीड़न के १२९६० अङ्ग, ११—हिंसा का व्यापक अर्थ, १२—सकल व देश प्राण संयम, १३—कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य निर्देश, १४—वर्तमान जीवन का चित्रण, १५—विवेक हीनता, १६—उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार, १७—अहिंसा कायरता नहीं, १८—अहिंसा में लौकिक वीरत्व, १९—विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय, २०—अहिंसा में अलौकिक वीरत्व, २१—विरोधी हिंसा का पात्र, २२—क्रूर जन्तु शत्रु नही, २३—संयम का प्रयोजन शान्ति है लोकेषणा नहीं, २४—सर्व सत्व एकत्व, मैत्री व प्रेम ।

१ दश प्राण **शान्ति प्राप्ति के उपाय स्वरूप संवर के अर्थ, अर्थात् विकल्पों के प्रशमनार्थ संवर के चौथे अंग संयम का कथन चलता है। इसके भी दो अंग बताये थे—एक इन्द्रिय संयम और दूसरा प्राण संयम। इन्द्रिय संयम की बात हो चुकी है, अब प्राण संयम की बात चलती है। प्राण संयम अर्थात् अपने जीवन की हर प्रवृत्ति में सावधानी रखना, कि उसके द्वारा किसी के प्राणों को पीड़ा न हो, बाधा न पहुंचे। यहां प्राण शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिये। प्राण दश हैं—प्राणी की छूकर जानने की शक्ति अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, चख कर जानने की शक्ति अर्थात् जिह्वा इन्द्रिय, सूंघ कर जानने की शक्ति अर्थात् नासिका इन्द्रिय, देख कर जानने की शक्ति नेत्र इन्द्रिय या चक्षु इन्द्रिय, तथा सुनकर जानने की शक्ति अर्थात् कर्णेन्द्रिय, विचारने की शक्ति अर्थात् मनो बल, बोलने की शक्ति अर्थात् वचन बल, व शरीर को हिलाने डुलाने की शक्ति अर्थात् काय बल, इस शरीर में एक निश्चित समय तक रहने की शक्ति अर्थात् आयु, तथा श्वास लेने की शक्ति अर्थात् श्वासोच्छ्वास। इस प्रकार कुल पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु व श्वासोच्छ्वास, ये दश शक्तियें जीव के प्राण कहलाते हैं। मेरी किसी भी प्रवृत्ति से किसी भी प्राणी का बध न हो तथा दश प्राणों में से किसी एक भी प्राण को पीड़ा न हो, अथवा तनिक भी बाधा न हो, ऐसी सावधानी का नाम है प्राण संयम।**

२ जीवों के भेद प्रभेद **प्राण संयम पालन करने के लिये मुझे इन प्राणों के धारी प्राणियों अर्थात् जीवों के भेद प्रभेद जानना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि बिना उनकी जाति के जाने मैं किन के प्रति सावधानी वर्तूंगा ? वर्तमान में यद्यपि मैं लोक में पाये जाने वाले प्राणियों की मनुष्य, गाय, कबूतर,**

मछली आदि अनेक जातियों से परिचित हूं, फिर भी सर्व जातियों को मैं नहीं जानता, प्राणियों को जानने की मेरी दृष्टि बहुत स्थूल है। उसमें सूक्ष्म प्राण धारी आते ही नहीं। उनकी पहिचान करने के लिये मुझे यह जानना चाहिये कि उपरोक्त दश के दश प्राणों का धारण करने वाला ही जीव हो ऐसा नियम नहीं। इनमें से कुछ प्राणों को धारण करने वाले तथा अन्य अधिक प्राणों को धारण करने वाले जीव भी लोक में हैं। कुछ केवल ४ ही प्राणों को धारण करते हैं, कुछ ६ को कुछ ७ को, कुछ ८ को, कुछ ९ को और कुछ दशों को, और इस प्रकार प्राण धारण की अपेक्षा जीवों के ६ भेद हो जाते हैं।

वे जीव जिनमें केवल छू कर जानने की ही शक्ति है, मात्र स्पर्शन इन्द्रिय को धारण करने वाले एकेन्द्रिय जीव हैं उनके चार प्राण हैं—एक स्पर्शन इन्द्रिय, एक कायबल, आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जीव जिनमें छू कर जानने के साथ साथ चख कर जानने की शक्ति भी है, वे ६ प्राण के धारी दो इन्द्रिय जीव हैं—उनके हैं दो इन्द्रिय, स्पर्शन व जिह्वा, दो बल काय व वचन, (क्योंकि जिह्वा का विषय चखना व बोलना दोनों हैं) आयु व स्वासोच्छ्वास। वे जिनमें उपरोक्त दो शक्तियों के अतिरिक्त एक तीसरी सूंघ कर जानने की शक्ति भी है, वे हैं सात प्राणों के धारी तीन इन्द्रिय जीव, इनके उपरोक्त ६ प्राणों में नासिका इन्द्रिय सम्बन्धी सातवां प्राण और बढ़ गया है। इसी प्रकार नेत्र सहित चार इन्द्रिय वाले जीवों में आठ प्राण, और कर्ण सहित पांच इन्द्रिय वाले जीवों में नौ प्राण होते हैं, क्योंकि उनमें उपरोक्त सात के अतिरिक्त एक नेत्र इन्द्रिय और दूसरी कर्ण इन्द्रिय प्रगट हो गई है। इन पांच इन्द्रिय के धारी जीवों के आगे भी कुछ ऐसे जीव हैं जिनको एक शक्ति विचारने की प्रगट हो गई है, अर्थात् उपरोक्त नौ प्राणों में मनो बल रूप प्राण की जिनमें और वृद्धि हो गई है, वे हैं दश प्राणों के धारी जीव।

इन सर्व भेदों को दृष्टान्तों द्वारा समझाते हैं। ४ प्राण के धारी एक इन्द्रिय जीवों में हैं पाषाण में रहने वाले पृथ्वी, पत्थर, कोयला, लोहा, सोना, तांबा तथा अन्य खनिज पदार्थ, जल, अग्नि, वायु, बनस्पति अर्थात् घास-फूस, फूल, पत्ता, वृक्ष, कोंपल व फल सब्जी आदि। ६ प्राणों के धारी दो इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं रींग कर चलने वाले कुछ कीड़े गेंडवे आदि। ७ प्राण के धारी तीन इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं छोटे छोटे अनेकों पांवों पर चलने वाले चींटे, कान सलाई, कान खजूरे आदि। ८ प्राणों के धारी चार इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं उड़ने वाले छोटे जन्तु, मच्छर, मक्खी, भंवरा, भिड़, ततैया आदि। ९ प्राणों के धारी पांच इन्द्रिय जीवों के दृष्टान्त हैं कुछ विशेष जाति के सर्प, मछली आदि व कुछ विशेष जाति के पशु, पक्षी आदि जो कुछ कम देखने में आते हैं, क्योंकि जितने भी देखने में आते हैं उनमें अधिकतर मनो बल के धारी १० प्राणों वाले जीव हैं। और दश प्राणों के धारी मन वाले पञ्चेन्द्रिय अर्थात् संज्ञी जीवों में हैं मनुष्य, गाय, बकरी, तोता, कबूतर, सर्प, नेवला, मगरमच्छ, मेंढक आदि। इनमें भी ऊपर ४ प्राण के धारी जीवों में बताई जाने वाली बनस्पति दो प्रकार की हैं—एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। स्थूल बनस्पति तो वही हरित काय है जो नित्य प्रयोग में आ रही है तथा जिसके दृष्टान्त ऊपर दिये जा चुके हैं पर सूक्ष्म बनस्पति वह है जो इस वायु मण्डल के कण कण पर अनन्तों की संख्यामें बैठी हुई है, उसे निगोद जीव कहते हैं, इनकी आयु बहुत अल्प होती है, इसीलिये एक सांस लेने में जितनी देर लगती है उतनी देर में यह १८ बार जन्म मरण धारण करते हैं। इस जन्म मरण की

तीव्रता के कारण ही वेदों में इनको "जायस्व म्रियस्व" का नाम दिया गया है, जो सार्थक है। ये सूक्ष्म जीव तो किसी प्रकार भी, यहां तक कि किसी माइक्रोस्कोप के द्वारा भी, हमको दिखाई देने असम्भव हैं। अन्य जीवों में भी कुछ, विशेषतया १, २, ३ व ४ इन्द्रिय जीव बड़ी व छोटी दोनों प्रकार की अवगाहना में पाये जाते हैं। बड़ी अवगाहना अर्थात् बड़े शरीर के धारी ये जीव तो साधारणतया हमारी नेत्र इन्द्रिय के विषय बन सकते हैं, परन्तु अत्यन्त छोटी अवगाहना के धारी ये जीव माइक्रोस्कोप के बिना नहीं देखे जा सकते। साधारणतया आँख से दीखने वाले जीवों में भी कुछ इतने छोटे होते हैं कि बड़े ध्यान से देखने से ही दीख पाते हैं। सुई की नोक या बाल के अग्र भाग से भी बारीक ऐसे जीव कभी कभी शरीर पर काटते हुए प्रतीत होते हैं।

आज का मानव जीवों के इन सर्व भेद प्रभेदों में से एक मनुष्य को ही जीव मानता है, अन्य को नहीं। आज बकरी आदि तक को भी वह अपनी भोग की वस्तु समझता है तथा उनके भी प्राण हैं, उनको भी पीड़ा होती होगी, इस बात का उसे भान नहीं है। इससे आगे भी यदि बढ़ा तो मनुष्य व गाय दो को ही जीव मानने लगा, अन्य को नहीं यदि बकरी आदि को जीव स्वीकार भी किया तो गाय की अपेक्षा उसमें प्राणों की कमी देखते हुए। और यही कारण है कि आज जहां मानव रक्षा के लिये प्रत्येक देश में शक्तिशाली राज्य स्थापित हैं, वहां अन्य जीवों की रक्षा के लिये कोई शासक या समाज नहीं है। अधिक से अधिक कहीं दिखाई भी दी तो गऊ रक्षक समाज मिलती है। इससे भी आगे कोई बढ़ा तो पशु, पक्षी को जीव की कोटि में गिन लिया। इन बेचारे मक्खी, मच्छर, चींटी, भिंड, सर्प, बिच्छू, मेंडक, मछली आदि की बात पूछने वाला यहां कोई नहीं है। फिर भी यदि समझाने बुझाने पर कोई और कुछ आगे बढ़े भी, तो प्रत्यक्ष में चलते फिरते दीखने वाले इन स्थूल दो इन्द्रिय मक के जीवों को भले ही स्वीकार कर ले परन्तु माइक्रोस्कोप से दीखने वाले छोटे शरीर के धारी उस ही जाति के जीवों को, तथा पांच भेद रूप पृथ्वी से बनस्पति पर्यन्त तक के एकेन्द्रिय जीवों को जीव कोई स्वीकार नहीं करता। इनको जीव कहना उनकी दृष्टि में मानों कुछ कपोल कल्पना सी लगती है परन्तु ऐसा नहीं है, अपनी स्थूल दृष्टि के कारण ही वह ऐसा कहता है। भाई ! तू आया है शान्ति की खोज में, तू उन लोगों की अपेक्षा भिन्न रुचि लेकर आया है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञानियों द्वारा जानी गई इस सम्पूर्ण जीव राशि को स्वीकार कर, क्योंकि ऐसा स्वीकार किए बिना तू अपने जीवन को संयमित न बना सकेगा। यदि केवल स्थूल चलते फिरते जीवों के सम्बन्ध में संयमित बना भी, तो आगे जाकर पूर्ण संयमित न हो सकेगा, इन सूक्ष्म व एकेन्द्रिय प्राणियों को बाधा न पहुंचाने का विवेक तुझ में जागृत न हो सकेगा। अविवेक के रहते शान्ति की पूर्णता न कर सकेगा।

३ स्थावर व सूक्ष्म जीवों की सिद्धि — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व बनस्पति, इन पांचों में स्थूल दृष्टि से देखने पर चैतन्य तत्व का ग्रहण यद्यपि नहीं होता, जड़ वत् से भासते हैं परन्तु इन पांचों में से बनस्पति शरीर धारी प्राणियों के सम्बन्ध में कुछ सूक्ष्म विचार करने से उनके प्राणधारी होने का विश्वास इस अल्प परोक्ष ज्ञान से भी हो सकना सम्भव है। आज के विज्ञान ने भी उनमें प्राणों को स्वीकार किया है, तू भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा बनस्पति में प्राणों के चिन्ह देख सकता है। देख योग्याहार जल आदि के न मिलने पर वह भी बेचारे कुम्हला जाते हैं, पीड़ा को न सह सकने के कारण बेहोश हो जाते हैं, और आहार मिल जाने पर पुनः सचेत हो जाते हैं व प्रसन्न होकर नाच उठते हैं। कुछ

विशेष जाति की मांस भक्षक बनस्पति झाड़ियां व घास भी देखने में आती हैं। अफ्रीका के जङ्गलों में झाड़ियों के रूप में और भारत के बनों में घास के रूप में पाई जाने वाली यह बनस्पति कितने भयानक रूप से, पशु पक्षी या मनुष्य को पकड़ कर उसका खून चूस लेती है, यह बात सुनी होगी, नहीं सुनी हो तो सुन। इस जाति की झाड़ियाँ खूब लम्बी लम्बी बड़ी मजबूत कांटेदार टहनियों वाली पाई जाती हैं। ऊपर की ओर मुंह किये खड़ी रहती हैं और इसी प्रकार से इस जाति का घास भी। अपने शिकार को निकट आया जान वह एक दम सबकी सब टहनियां झुककर उसके ऊपर गिर पड़ती हैं और लिपट कर इतनी फुर्ती से उसके शरीर को बांध लेती हैं, कि वह बेचारा स्वयं यह नहीं जान पाता कि अकस्मात ही यह क्या आफ़त आ गई, यहाँ तो कुछ भी नहीं दिखाई देता ? पर बनस्पति में प्राण न स्वीकार करने वाला वह मानव यह न जानता था कि बनस्पति का रूप धारण किये हुए उसका भक्षक यहां विद्यमान है। उन टहनियों के अग्र भाग की नोकें उसके शरीर में प्रवेश करके कुछ ही देर में उसका रक्त चूस लेती हैं और ढाँचा मात्र शेष रह जाने पर उस कलेवर को छोड़कर पुनः पूर्ववत् ऊपर की ओर मुंह करके खड़ी हो जाती हैं। आहार या जल में विष मिला कर सिंचन किये जाने पर सर्व ही की मृत्यु होती देखी जाती है। इस प्रकार बनस्पतियों में मनुष्यों वत् ही आहार ग्रहण करने की क्रियायें व भावनायें स्पष्ट देखने में आती हैं।

यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु काय के जीवों में इस प्रकार स्पष्ट रीति से प्राणों की सिद्धि नहीं होती, जैसी कि बनस्पति में, परन्तु फिर भी खानों में पड़े सर्व ही खनिज पदार्थों के शरीरों की वृद्धि का होना, वहां उसके अन्दर जीवन को या प्राणों को दर्शा रहा है तथा खान में से निकल जाने पर वृद्धि का रुक जाना, उसकी मृत्यु को या प्राणों के निकल जाने को दर्शा रहा है, क्योंकि खान में पड़े पत्थर की भांति यह अब बढ़ता दिखाई नहीं देता। बाढ़ के समय जल का, व तूफ़ान के समय वायु का और पवन से ताड़ित होकर अग्नि का प्रत्यक्ष दीखने वाला प्रकोप जिसके सामने मनुष्य की शक्ति हार मानती है, उन पदार्थों में जीवन का द्योतक है, प्राणों को सिद्ध करता है। और प्रत्यक्ष ज्ञानियों ने तो प्रत्यक्ष ही उनमें प्राणों को देखा है, इन सबको सुख दुख का वेदन करते हुए जाना है, जैसे कि कुछ व्यक्ति वर्तमान में भी वृक्षों के हाव भाव व हिलने जुलने से उसकी अन्तरंग पीड़ा या हर्ष के भावों को पहिचानने में समर्थ हैं। अतः विश्वास कर कि इन पांचों जाति के एकेन्द्रिय जीवों में प्राण हैं, उन्हें भी सुख दुख का वेदन होता है, उनमें भी कुछ इच्छायें या आकांक्षायें छिपी हैं। माइक्रोस्कोप से दीखने वाले दो इन्द्रिय आदि जीव प्रत्यक्ष ही चलते फिरते दिखाई देते हैं, और एकेन्द्रिय जीव बैक्टीरिया आदि बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। विशेष प्रक्रियाओं के प्रयोग के आधीन प्रयोगशालाओं में ४ या ५ दिनों में ही उनका वृद्धिगत रूप कदाचित् कुछ झाड़ियों के रूप में ऊपर भी प्रत्यक्ष दीखने लगता है तथा सौभाग्यवश आज के विज्ञान ने भी उनको प्राणधारी स्वीकार किया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण जीव राशि को प्राणों की अपेक्षा विभाजित करने पर, मैं उन्हें, ४, ६, ७, ८, ९, १० प्राणधारी छह प्रकार के कह सकता हूं। इन्द्रियों की अपेक्षा भी विभाजन करने पर, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय असंज्ञी (मन रहित) और पाँच इन्द्रिय संज्ञी (मन सहित) इस भांति छह प्रकार के कह सकता हूं। एक स्थान पर स्थित रहने के कारण तथा भय खाकर भी अपनी रक्षा करने के लिये इधर उधर भागने का प्रयत्न न करने के कारण पांचों प्रकार के

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, व बनस्पति जीवों को स्थावर तथा अपनी रक्षार्थ इधर उधर भागते देखे जाने वाले दो इन्द्रिय से संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को त्रस, इस प्रकार स्थावर व त्रस (जंगम) केवल इन दो कोटियों में भी इन सर्व का समावेश कर सकता हूं। तथा पाँच भिन्न भिन्न जाति के शरीरों मे पाये जाने वाले मांस अस्थि रहित शरीर वाले स्थावर, और रक्त मांस अस्थि आदि से निर्मित एक जाति के ही छोटे बड़े शरीरों में पाये जाने वाले त्रस, इस प्रकार शरीरों की अपेक्षा सर्व जीव राशि को ६ प्रकार की कह सकता हूं—पृथ्वी आदि पांच काय धारी व त्रसकायधारी।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २९ सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ५४

शान्ति के अर्थ जीवन में प्राण संयम धारने के लिये जीवों के भेद प्रभदों का कुछ अनुमान कल करा दिया गया। उन सब के प्राणों की रक्षा करने का अपनी ओर से पद पद पर विवेक रखना प्राण संयम कहलाता है। अब मुझे यह देखना है कि इन सबको मेरी किस किस प्रकार की प्रवृत्ति से पीड़ा पहुंचती है ताकि उन उन प्रवृत्तियों का जीवन में त्याग कर सकूं।

४ पांच पाप निर्देश

अपनी सर्व प्रवृत्तियों को प्राण पीड़ा की अपेक्षा मे पांच कोटियों मे विभाजित कर सकता हूं-हिंसा के द्वारा, असत्य के द्वारा, चोरी करने के द्वारा, व्यभिचार सेवन के द्वारा, और संचय या होर्डिन्ग के द्वारा इस का नाम परिग्रह भी है। इन्हें आगम मे पांच पाप कह कर भी बताया गया है, प्राणियों को पीड़ा के कारण होने से यह पांचों जाति की मेरी प्रवृत्ति पाप रूप हैं ही, इसमें कोई संशय नहीं। अब पृथक पृथक इन पांचों पापों का विश्लेषण करता हूं, तनिक ध्यान देना, क्योंकि इस विश्लेषण पर से यह बात ध्यान में आये बिना न रहेगी कि अपनी जिन प्रवृत्तियों को मैं न्याय संगत माना करता हूं वे भी अन्याय रूप हैं, पाप रूप हैं। मुझे ऐसी सर्व प्रवृत्तियों से बचना है, अपने जीवन को संकोच कर केवल निज शान्ति में केन्द्रित करना है। भोग विलास का यह मार्ग नहीं है।

५ हिंसा

स्थूल पशु पक्षी व मनुष्यों को तो बांध कर, पिंजरे में बन्द करके, या कैदखाने में डाल कर, अथवा उनका सर्वतः वध करके, अथवा किसी एक इन्द्रिय या शरीर के अंगोपांग को काट कर, छेद कर या भेद कर, अधिक भार लाद कर या उनको शक्ति से अधिक या अधिक समय काम लेकर, अथवा क्रोध वश, द्वेष वश या प्रमाद वश उनको आहार पानी या वेतन न देकर या कम देकर या समय पर न देकर, अथवा हिंसक पशु पालकर, मैं पीड़ा पहुंचाया करता हूं। तथा छोटे शरीर धारी चींटी, पतंग आदि जीवों को विवेक हीनता वश या प्रमाद वश या अज्ञान वश मेरे द्वारा पीड़ा हो रही है; गमनागमन में सावधानी न रखने के कारण, पृथ्वी पर बराबर देखते हुए जीवों को बचा बचा कर पग न रखने के कारण; वस्तुओं को उठाते व धरते समय यह न देखने के कारण कि जहां रख रहा हूं, या जहां से पकड़ कर उठा रहा हूं, वहाँ कोई छोटा सा जीव भी बैठा हो सकता है; देख भाल कर भोजन न करने के कारण, अथवा रात्रि को अन्धकार में चन्द्रमा व बिजली के प्रकाश में भोजन करने के कारण, जिसमें कि रात्रि को संचार करने वाले छोटे जीव जन्तु या तो दिखाई ही न दें, और प्रकाश

में दिखाई भी दें तो भोजन में पड़कर मेरा ग्रास बन जाने से उन्हें रोका न जा सके, इसके अतिरिक्त भी छोटे व बड़े दोनों शरीर के धारी, मनुष्यों से बनस्पति पर्यन्त तक के जीवों को यथा योग्य रूप में, मन के द्वारा खोटे विकल्प उत्पन्न करके, अथवा वचनों द्वारा, कटु व व्यंगादि रूप वचन बोल कर कष्ट पहुंचाता हूं। प्राणों से मारकर ही नहीं बल्कि दशों प्राणों अर्थात् स्पर्शन आदि पांचों इन्द्रियों को, मन को, वचन को व शरीर को काटने छाँटने से, या उनके विषयों की प्राप्ति में बाधा डालने से, किसी का श्वासोच्छ्वास रोक कर या अन्य प्रकार बाधित करके भी, इन्हें मैं कष्ट पहुंचाता हूं। इन सब प्रकार की तथा अन्य भी अनेकों प्रवृत्तियों के द्वारा जो मैं स्थावर जंगम प्राणियों को शारीरिक पीड़ा पहुंचाया करता हूं, उसे हिंसा रूप प्रवृत्ति कहते हैं।

६ असत्य क्रोध वश कहे जाने वाले कटु व तीखे या गाली के शब्द, द्वेष वश कहे जाने वाले व्यंगात्मक शब्द, लोभ वश कहे जाने वाले छल कपट भरे शब्द, हंसी ठट्ठे वश कहे जाने वाले कुछ अनिष्टकारी शब्द, मान वश कहे जाने वाले मर्मच्छेदी शब्द, इस प्रकार के शब्द बोल कर मैं किसी के अन्तष्करण में दाह उपजाता हूं। स्पष्ट अनिष्टकारी, सफेद झूठ बोल कर, चुगली के या निन्दा के, अनिष्टकारी या खुशामद के शब्द बोल कर, झूठे कागज व दस्तावेज आदि बना कर, किसी की धरोहर मेरे पास रखी हो और उसका स्वामी उसे भूल गया हो या पूरी याद न रख पाया हो और लेने आवे तो कमती मांगता हो, उस समय उसे पूरी याद दिलाने में चुप खेंच कर, किसी का रहस्य स्वयं उसके द्वारा बताया हुआ अथवा अपने आप ही किन्हीं अन्य साधनों से या उसकी मुखाकृति आदि भावों पर से जाना हुआ किसी पर प्रगट करके, इसी प्रकार के अन्य वचन सम्बन्धित अनेकों विकल्पों से मैं किसी के अन्तरप्राणों को अर्थात् मानसिक प्राणों को पीड़ा पहुंचाता हूं। ऐसी प्रवृत्ति का नाम असत्य प्रवृत्ति है। यहाँ असत्य का अर्थ केवल झूठ बोलना नहीं, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन वास्तव में असत्य है। सत्य भी वचन यदि अहितकारी है या कटु है वह यहां असत्य की कोटि में समझा जाता है।

७ चोरी विभिन्न जाति के प्राणियों ने अपनी आवश्यकतानुसार पदार्थों का जो संचय किया हुआ है, वे वे पदार्थ उन उन प्राणियों का धन है। इस धन को भी जीव का बाह्य प्राण कहा जाता है क्योंकि इसमें तनिक सी बाधा आना भी यह प्राणी सहन नहीं कर सकता, और कदाचित तो इस धन के लिये अपने उपरोक्त दश प्राणों का भी यह कोई मूल्य न गिनते हुए स्वयं आत्म-हत्या तक कर लेता है। यहां धन शब्द का अर्थ रुपया पैसा मात्र नहीं, बल्कि जैसा कि ऊपर बताया गया है प्राणियों का निज निज योग्य पदार्थ-संचय है। इस धन का अपहरण करके, अथवा कुछ देर के लिये छोड़े गये शून्य किसी आवास आदि में ठहर कर, अथवा सबका स्वामित्व जहाँ हो ऐसी धर्मशाला आदि स्थानों में आवश्यकता से अधिक स्थान रोक कर, या अपने रोके हुए स्थान में दूसरे को आने की आज्ञा न देकर, अथवा बिना किसी के दिये या देने की अन्तरङ्ग से भावना किये किसी अपने परिचित मित्र की कोई भी वस्तु को यह कहते हुए लेकर, "कि यह तो मुझे अच्छी लगती है, मैं ले लूं।" क्योंकि शर्म लिहाज के मारे वह यदि बाहर से इन्कार नहीं कर सकता तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह इस वस्तु का विरह स्वीकार करता है, अथवा बिना दाता के भोजन ग्रहन करके, या अयोग्य आहार ग्रहण करके, अथवा साधर्मी जनों से वादविवाद के द्वारा उनकी शान्ति को भंग करके, मैं जीवों के

मानसिक प्राणों का अपहरण करता हूं। स्थूल व प्रसिद्ध चोरी करके,, चोरी का माल लेकर, चोरी करने सम्बन्धित उपाय अन्य को बता कर चोरी करने के उपयुक्त हथियार बना कर या दूसरे किसी को देकर, चोर को आश्रय देकर, राज्य नियम के विरुद्ध काम करके, या टैक्स व रेल आदि का किराया बचा कर, कमती बढ़ती बाट गज आदि तोलने व मापने के यन्त्र रख कर, किसी चालाकी से कम तोल कर या माप कर, अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिला कर, आज्ञा से अधिक सवारी मोटर में बैठा कर, चोर बाजार में माल बेच कर, इत्यादि अनेक ढङ्गों से भी मैं प्राणियों को पीड़ा दे रहा हूं। मेरी इस जाति की प्रवृत्ति का नाम चोरी है।

८ अब्रह्म साक्षात् स्त्री संभोग के अतिरिक्त, स्त्री पुरुष संयोग सम्बन्धी बातें सुनने व कहने में आसक्त होकर, तिर्यञ्चों का संभोग देख कर, या शरीर के विशेष मनोहर अंगोपांग की ओर दृष्टिपात करके, पूर्व में की गई मैथुन क्रियाओं को स्मरण करके, गरिष्ट व तामसिक भोजन करके, शरीरका ऐसा शृङ्गार करके जिससे कि दूसरे का चित्त आकर्षित हो जाये, मैं सदा व्यभिचार सेवन करता हूं। दूसरों के पुत्र पुत्रियों के सम्बन्ध मिलवा कर, विवाहित या अविवाहित व्यभिचारी या सुशील स्त्रियों के घर पर जाकर, या एकान्त में उनसे वचनालाप करके, या अपने शरीर के अंग विशेषों का पुनः पुनः स्पर्श करके, अथवा अन्तरङ्ग में काम वासना उत्पन्न करके, तथा अन्य भी अनेकों ढंगों से मैं व्यभिचार सेवन किया करता हूं। मेरी इस प्रवृत्ति का नाम अब्रह्म, कुशीलसेवन या व्यभिचार है। इस प्रवृत्ति के द्वारा असंख्यात छोटे छोटे कीटाणुओं को पीड़ा पहुंचाने के अतिरिक्त मैं उन उन स्त्रियों व उनके स्वामियों या माता पिताओं के हृदय को भी अतीव वेदना पहुंचाता हूं।

९ परिग्रह आवश्यकता से अधिक धन धान्य, कपड़ा व जेवर, बर्तन व खेत तथा जायदाद, पशु, दास, दासी, आदि रख कर, अथवा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करके, या अच्छे न लगने वाले पदार्थों से द्वेष करते हुए उन्हें दूर करने की इच्छा करके भी मैं अनेकों को पीड़ा पहुंचा रहा हूं। मेरी इस प्रवृत्ति का नाम है परिग्रह भाव। इसका सविस्तार विवेचन अगले अधिकार में आयेगा।

१० प्राण पीड़न के १२९६० भंग इस प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, व परिग्रह इन पांच प्रकार की मेरी प्रवृत्तियों से नित्य ही इस विश्व के प्राणी किसी न किसी रूप में बाधित व पीड़ित हो रहे हैं और मुझे यह खबर भी लगने नहीं पाती कि मैं कुछ अनर्थ किये जा रहा हूं-अपने लिये व दूसरों के लिये। इतना ही नहीं यह पांचों ही पाप मैं मन के द्वारा अर्थात् केवल उन प्रवृत्तियों सम्बन्धी विकल्प मन में उठा कर, वचन के द्वारा अर्थात् इन प्रवृत्तियों के अनुरूप वचन बोल कर, और काय के द्वारा अर्थात् अपने शरीर से साक्षात् इन क्रियाओं में प्रवृत्त होकर, कर रहा हूँ और आश्चर्य है कि मैं फिर भी बेखबर हूं। इतना ही नहीं मन वचन काय के द्वारा इन क्रियाओं को मैं स्वयं करता हूं, कभी दूसरों से कह कर या शरीर द्वारा इशारा करके कराता हूं या दूसरों को करता देखकर मन ही मन या वचनों के द्वारा भी या शरीर के हाव भाव के द्वारा भी प्रसन्न होकर अनुमोदना करता हूं, और फिर भी मुझे यह पता नहीं कि मैं क्या कर रहा हूं। मन वचन काय इन तीनों के द्वारा करने से, इन तीनों के द्वारा कराने से, तथा इन तीनों के द्वारा अनुमोदना करने से, मेरी प्रवृत्ति के नौ भंग बन जाते हैं। इन नौ भंगों के आश्रय से मैं उन पांच प्रकार की प्रवृत्तियों सम्बन्धी कुछ प्रयत्न करता हूँ, इन्हीं नौ के आश्रय से उस प्रयत्न की सिद्धि में सहायक सामग्री विशेष को जुटाता हूं, उन्हीं नौ विकल्पों से उन प्रवृत्तियों

में जुट जाता हूं, इस प्रकार नौ के २७ भंग बन जाते हैं। इन २७ भंगों के आश्रय पर में क्रोधावेश के कारण उन पांच पापों में प्रवृत्ति करता हूं, मान कषाय के आवेश के कारण प्रवृत्ति करता हूं, माया कषाय से दबा हुआ प्रवृत्ति करता हूं लोभ कषाय के आधीन होकर प्रवृत्ति करता हूं, इस प्रकार मेरी अनर्थ रूप पांचों प्रवृत्तियों में से प्रत्येक के १०८ भंग हो जाते हैं। अर्थात् पांचों पापों के कुल ५४० भंग हो जाते हैं। यह सर्व ५४० भंग कभी मनोरंजन के अर्थ संकल्प पूर्वक बिना किसी गृहस्थ सम्बन्धी विशेष प्रयोजन से करता हूँ, कभी घर बार सम्बन्धी आवश्यक क्रियाओं की पूर्ति के अर्थ अर्थात् खाना बनाने या घर की सफाई के अर्थ करता हूँ, कभी कारोबार या उद्योग धन्धो के अर्थ करता हूँ, और कभी अपनी तथा अपने कुटुम्ब की या अपनी सम्पत्ति की व अपने देश की रक्षार्थ किसी शत्रु आदि के विरोध के कारण करता हूँ। अतः इन ५४० प्रवृत्तियों के ही संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी व विरोधी यह चार चार भेद हो जाने से, मेरी अनिष्ट व प्राण पीड़ा कारक प्रवृत्तियों के २१६० भंग हो जाते हैं। यह २१६० भंग प्राणियों के ६ भेदों के आधार पर पृथक पथक लागू करने से १२९६० भंग बन जाते हैं। तथा इसी प्रकार अन्य भी असख्याते भंग बनाये जा सकते हैं।

११ हिंसा का व्यापक अर्थ — वास्तव में हिंसा या अहिंसा के दो शब्द जो आज प्रायः सुनने में आ रहे हैं, व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किये जाने योग्य हैं। किसी प्राणी को जान से मार देना तो हिंसा और उसे जान से न मार देना मात्र 'अहिंसा' ऐसा नहीं है, इनका बड़ा व्यापक अर्थ है। उपरोक्त सर्व १२९६० प्राण पीड़ा के भंग तथा अन्य भी संभव अनेकों विकल्प, जिनके द्वारा किसी भी प्राणी को शारीरिक, वाचिक व मानसिक पीड़ा व बाधा हो, हिंसा में समावेश पा जाते हैं। सूक्ष्म रूप से देखने पर जो कार्य अहिंसात्मक दिखाई देते हैं उनमें भी किसी न किसी रूप में हिंसा रहती है। दृष्टान्त के रूप में मैं प्रयत्न पूर्वक चला जा रहा हूँ और कुछ पक्षी वहां बैठे हों जिनको मेरे निकट आ जाने से कुछ भय प्रतीत हो और वहां से उड़ जायें तो उस मार्ग पर उन कबूतरों के निकट मेरा जाना हिंसा होगा। चींटी आदि को उनके प्राणों की रक्षार्थ मार्ग में से हटा कर एक ओर सरका देना भी हिंसा है, क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः उसके उस आन्तरिक अभिप्राय को धक्का पहुँचा है, जिसको लिये हुए वह अमुक दिशा में जा रही थी। इत्यादि अनेकों प्रकार से हिंसा का व्यापक अर्थ है। कहां तक कहा जाये, और याद भी कैसे रहेंगे-इतने विकल्प, अतः एक छोटी सी पहिचान बताता हूँ-यह जानने को कि कौन क्रिया हिंसात्मक है और कौन अहिंसात्मक है, अपनी प्रत्येक क्रिया को इस कसौटी पर कस कर देखने के द्वारा बड़ी सरलता से हिंसा व अहिंसा की परीक्षा हो जायेगी। जो कुछ भी दूसरे किसी की अपने प्रति होने वाली क्रिया आपको अरुचिकर हो, बस वह क्रिया हिंसात्मक है और जो रुचिकर हो सो अहिंसात्मक। अर्थात् मैं कोई भी ऐसी क्रिया किसी छोटे या बड़े जीव के प्रति न करूँ जो स्वयं मुझे अपने प्रति पीड़ा प्रदायक भासती हो।

१२ सकल व देश प्राण संयम — ऐसी सर्व हिंसात्मक प्रवृत्तियों का अपने जीवन में पूर्णतया निरोध करनेका नाम पूर्ण प्राण संयम या सकल प्राण संयम है, वह मुनियों व साधुओं से पालन होता है। आंशिक रूप से यथा शक्ति निरोध का नाम एक देश प्राण संयम है। भले ही पूर्णतया मैं इन सब प्रवृत्तियों से मुक्त होने की वर्तमान में क्षमता न रखता हूँ, परन्तु शक्ति अनुसार इन सर्व १२९६० विकल्पों में से कुछ भंगों का पूर्ण त्याग और कुछ का एक देश या अल्प त्याग करने को इस अवस्था में भी अवश्य समर्थ हूँ।

मुजफ़्फ़रनगर दिनांक ३० सितम्बर १९५९

प्रवचन नं० ५५

१३ कर्तव्य अकर्तव्य निर्देश

शान्ति के बाधक विकल्पों से बचने के लिये संवर प्रकरण के अन्तर्गत प्राण संयम की बात चलती है अर्थात् दूसरे प्राणियों के प्रति मेरा क्या कर्तव्य है और मैं किस रूप में कर्तव्य विहीन बना हुआ इस लोक में विचरण कर रहा हूँ। दूसरों की शान्तिकी अवहेलना करता हुआ स्वयं अशान्त बना हुआ हूँ। मेरी किसी भी प्रवृत्ति के द्वारा किसी भी बड़े या छोटे प्राणी को बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये, ऐसी सावधानी वर्तना मेरा कर्तव्य है, इसी का नाम प्राण संयम है। परन्तु कुछ आलस वश, कुछ प्रमाद वश, कुछ मनोरंजन वश, और कुछ परिस्थिति वश मैंने इस कर्तव्य की परवाह न की और सदा निरर्गल प्रवृत्ति से चलते हुए मुझको केवल एक बात की ही चिन्ता रही, कि जिस किस प्रकार भी पञ्चेन्द्रिय विषयों की पूर्ति द्वारा मेरा भोग विलास अक्षुण बना रहे, चाहे अन्य जीव या मेरे पड़ौसी मरें या जीयें, रोयें या हंसे।

१४ वर्तमान जीवन का चित्रण

सम्भल भगवन् सम्भल! तेरे जीवन का कुछ लक्ष्य है, उसे समझ। चिन्ताओं का भार लिये प्रातः ही बिस्तर से उठना, दो चार लोटे पानी के जल्दी से शरीर पर डाल, उल्टे सीधे कपड़े पहन मोटरकार पर सवार हो किसी एक दिशा को चल देना-घर में बीवी बच्चों तथा माता पिता को एक निराशा की उलझन में छोड़ कर। कुछ घण्टों में जल्दी जल्दी कभी इधर दौड़ और कभी उधर, आगे आगे दौड़ और पीछे पीछे छोड़ करता लगभग ३० मील का चक्कर लगा लिया। दस दफ्तरों में स्वयं जा कर हो आया ३० से टेलीफ़ोन पर बात करली, और दोपहर को खाना खाने के समय लौट आया घर पर, कुटुम्बियों के चेहरे पर संतोष की धीमी सी रेखा खेंचता। खाना खाने बैठा, दो चार टुकड़े खाये, टेलीफ़ोन की घण्टी बजी और खाना बीच में ही छोड़ भागा, पुनः वही मोटरकार वही सड़क वही दफ्तर व घरमें बीवी बच्चे व माता पिता पुनः उदास, बिना खाये चले जो गये आप। दिन भर की दौड़ धूप से थके मांदे लौटे घर पर, रात्रि को ६ बजे बिल्कुल सोने के समय। न बीवी से बात न बच्चे से हंसी, न माता पिता को सांत्वना के दो शब्द, सो गये। सो क्या गए रात बिता दी चिन्ताओं में कि कल को यह करना है और वह करना है, प्रातः हो गई, पुनः वही चक्र।

सोच तो सही कि क्या यही है मानव जीवन का सार? क्या यही है तेरा भोग और विलास? जो पुरुषार्थ तू सुख के लिये कर रहा है उससे उल्टा दुःखी हो रहा है, अधिकाधिक जाल में फंसता जा रहा है। अन्य जीवों के सम्बन्ध में अपना कर्तव्य विचारने की तो बात ही नहीं, तुझे तो अपने कुटुम्ब के प्रति भी अपना कर्तव्य सम्भवतः याद नहीं रहा। चिन्ता सागर में डूबा तू चला जा रहा है-किस ओर तुझे स्वयं ख़बर नहीं। सम्भल! सम्भल! तुझे गुरु देव प्रकाश दे रहे हैं, आंख खोल कर देख। कर्तव्य हीन बन कर तो देख लिया, निकली चिन्तायें व व्यग्रतायें, अब कुछ समय को कर्तव्य परायण भी बन कर देख। यदि अच्छा लगे तो करना, नहीं तो छोड़ देना, जबरी नहीं है, करुणा पूर्ण प्रेरणा है।

१५ विवेक हीनता हिंसा, असत्य,चोरी, व्यभिचार व परिग्रह के १२६६०कुल भंगों के द्वारा जीवों केप्राणों को रोंदता में चला जा रहा हूँ-किस ओर मुझे स्वयं खबर नहीं। अव्वल तो उनकी पीड़ा मेरे उपयोग में ही नहीं आती, और आवे भी तो इतना कह कर संतोष कर लेता हूँ, कि क्यों आये ये प्राणी मेरे मार्ग में ? या यह कह कर सन्तोष कर लेता हूं कि मैं तो गृहस्थी हूं, इस सबके बिना मेरा काम न चलेगा, या यह कह कर अपनी निरर्गलता को पोषण कर लेता हूँ, कि यदि सर्व ही जगत संयमी बन जाय तो जगत का व्यवहार कैसे चले। जगत का व्यवहार चलना भी तो किसी का कर्तव्य है ही, बस वह कर्तव्य पूरा कर रहा हूं या यह कह कर अपना स्वार्थ पुष्ट कर लेता हूँ कि यह सर्व सृष्टि मेरे भोग के लिये ही तो बनी है। इत्यादि अनेकों घातक अभिप्राय हैं जिनके कारण साक्षात् मेरा अहित हो रहा है और मैं अशान्ति के सागर में डूबा जा रहा हूं, परन्तु बेखबर हूँ।

भगवन्! छोड़ दे निर्विवेक विकल्पों को एक क्षण के लिये। किसी दूसरे के लिये नहीं, अपनी शान्ति की प्राप्ति के लिये। अन्य जीवों में और तुझ में बड़ा अन्तर है-अन्य क्षुद्र जीवों में तो ज्ञान नहीं, इसीलिये बेचारे आ जाते हैं मार्ग में भूख जो सताती है उन्हें, आहार की खोज में निकल आते है, इस ओर बेचारे, अन्धे की भांति। यदि बैठे रहते अपने निश्चित स्थान पर तो, तू ही बता, कौन देता खाना उन्हें ? जिस प्रकार तुझे खाने की चिन्ता है इसी प्रकार उन्हें भी तो अपने उदर पोषण की चिन्ता है। वे भी तो तेरे समान ही प्राणी हैं, पर तुझे तो ज्ञान मिला है, बुद्धि मिली है, साधन मिले हैं उन को तो ये नहीं मिले। अन्धा मार्ग पर चला आता है और तुम भी उसी मार्ग पर चले जाते हो, तो बताओ तो सही कि बचना किसका कर्तव्य है, अन्धे का या तुम्हारा ? उस बेचारे के नेत्र ही नहीं, बचेगा कैसे? बचना तो तेरा ही कर्तव्य है, आंख वाला ज्ञान वाला, जो ठहरा तू। तुझे ज्ञान, बुद्धि व साधन इसीलिये तो मिले हैं, कि तू अपनी रक्षा कर और दूसरों की भी। इन ज्ञानादि का मिलना तभी तो सार्थक है, जबकि उनका उपयुक्त प्रयोग हो, अन्यथा तुझे कौन कहेगा ज्ञानी तथा इस ज्ञान से तेरा हित भी क्या होगा ?

कितना अच्छा हो, कि तेरा कहना "सकल जगत के संयमी बनने का विकल्प" पूरा हो जाये। यद्यपि यह बात असम्भव है, क्योंकि वर्तमान में जीवन के लिये अत्यन्त उत्तम समझा जाने वाला ऐन्जीनियरिंग लाइन का ग्रहण सर्व सम्मत व आकर्षित होते हुये भी क्या यह सम्भव है कि सर्व ही ऐन्जिनियर बन जाये ? परन्तु यदि झूठी कल्पना इस प्रकार की बना कर यह फ़र्ज़ भी कर लिया जावे, की सर्व जगत संयमी बन गया, तो इससे अच्छी बात क्या है ? जगत का व्यवहार चलता रहे, इस बात की आवश्यकता ही क्या है ? तथा तुझको इस जगत व्यवहार को चलाने का ठेकेदार किसने बनाया ? सर्व जगत संयमी हो जाये तो न हों इच्छायें, न हों चिन्तायें, न हो दौड़ धूप, न हो द्वेष, न हो घृणा, न हो युद्ध, न हो एटम बम किन्तु हो केवल शान्ति का प्रसार इस धरातल पर, मानों यही मोक्ष स्थान है, बैकुण्ठ है। इससे उत्तम बात क्या हो सकती है ? क्या उपरोक्त इन चिन्ताओं आदि का अभाव भी नहीं भाता तुझे ? तेरे इस झूठे विलास ने तेरी इस बुद्धि को भी ढक दिया है। चेतन विचार तो सही—तू स्वयं निश्चिंत होना चाहता है और जगत का निश्चित होना तुझे भाता नहीं, तो कैसे पायेगा निश्चिन्तता-तू स्वयं ?

१६ उद्योगी व आरम्भी हिंसा में यत्नाचार

ठीक है तू गृहस्थी है, पूर्णतया इन सर्व १२९६० विकल्पों का त्याग करके तुझे वर्तमान में न चल सकेगा, क्योंकि इतनी शक्ति ही नहीं है तुझ में परन्तु सुन कर ही घबरा जाना पुरुषार्थी का काम नहीं, यह कायरता है। तू वीर गुरुओं की सन्तान है, जिन्होंने उस शत्रु को परास्त किया है जिससे बड़े बड़े चक्रवर्ती सम्राट भी हार मान गये, जिन्होंने अन्तर विकल्पों का नाश किया और अत्यन्त निर्मल शान्ति में स्थिरता प्राप्त की। तुझे शक्ति से अधिक करने के लिये नहीं कहा जा रहा है, जितना कहेंगे उतनी शक्ति अब भी तेरे अन्दर अवश्य है। प्राणों के बाधाकारक उपरोक्त १२९६० विकल्पों को पूर्णतया भले त्याग न सके, परन्तु इनमें से कुछ विकल्पों को त्यागनें में तू अब भी समर्थ है।

जैसे कि, आरम्भी, उद्योगी व विरोधी सम्बन्ध में लागू होने वाले जो सम्भव विकल्प हैं उनको अवश्य तू वर्तमान परिस्थिति में निज शरीर व कुटुम्ब और सम्पत्ति आदि के मोहवश तथा शक्ति की हीनता वश नहीं त्याग सकता, परन्तु निष्प्रयोजन व केवल मनोरंजन के अर्थ होने वाली अपनी प्रवृत्ति के भंगों को तू त्याग सकता है। अर्थात् शिकार खेलने के, या हिंसक जन्तु कुत्ते आदि के पालने के त्याग के द्वारा कुछ परोक्ष (इनडायरेक्ट) रूप में तू अनेकों मूक पशु, पक्षियों के प्राणों को पीड़ा पहुँचाने से अपने को रोक सकता है। क्या ऐसा करने से तेरे शरीर को या गृहस्थी को कोई भी बाधा होनी सम्भव है ?

तू शान्ति का खोजी बनकर निकला है तो दूसरों के सुख व शान्ति की चिताओं पर अपनी शान्ति का प्रासाद बनाने का प्रयत्न न कर। क्योंकि कितने दिन टिका रहेगा वह प्रासाद ? इस प्रासाद में तू निर्भय न रह सकेगा अतः उन सर्व १२९६० विकल्पों में से संकल्प द्वारा बिना प्रयोजन वाले पूर्वोक्त ३२४० विकल्पों द्वारा प्राण पीड़न का त्याग कर ही देना चाहिये। तथा शेष रही उद्योगी व आरम्भी व विरोधी हिंसा, सो उनमें भी तुझे निरर्गलता का त्याग करके उस दिशा में भी अपने को संयमी बनाना चाहिये। उद्योगादिक की आवश्यक क्रियाओं में होने वाली हिंसा से गृहस्थ में रहते हुए तू सर्वतः नहीं बच सकता, परन्तु उन क्रियाओं में भी यत्नाचार व विवेक रखकर तू बहुत अधिक हिंसा से बच सकता है जैसे कि अन्नादि शोधन करके उनमें से निकली जीव राशि को यदि मार्ग में न डाल कर किसी कोने में डाले तो वे उतनी जल्दी रोंदे जाकर तो मरेंगे ही नहीं, परन्तु इसके अतिरिक्त भी सम्भवतः उनमें से कुछ ऐसे हों, जो कहीं इधर उधर छिप कर अपनी पूरी आयु पर्यन्त जीवित रह सकें, कोमल झाड़ू का प्रयोग करने से भी तू काफी हिंसा से बच सकता है। ऐसा करने से तूने उनकी शान्ति का सत्कार अवश्य किया ही किया, और इतने अंश में तू संयमी हुआ ही हुआ जलादि से बनस्पति पर्यन्त की तू पूर्ण रक्षा तो नहीं कर सकता, परन्तु केवल आवश्यकतानुसार उनका प्रयोग करने से क्या प्रमाद वश उनके होने वाले अनावश्यक व्यय से भी तू न बच सकेगा ? जितने कम से कम पानी में काम चले उससे चला, नल को खाली खुला न छोड़। रोज की आवश्यकता के अनुसार ही बनस्पति घर में ला, फालतू नहीं, धड़ियों बनस्पति न सुखा। पंखे को फालतू चलता हुआ न छोड़। अग्नि को आवश्यकतानुसार ही जला, फालतू नहीं। यदि ऐसा यत्नाचार वर्ते तो काफी अंश में तू इन क्षुद्र व जंगम जीवों की हिंसा से बच सकता है। इसके अतिरिक्त चलते फिरते, बैठते उठते, वस्तुओं को उठाते धरते, मल मूत्रादि का त्याग करते, तथा अन्य भी दैनिक क्रियाओं को करते, यदि बराबर सावधानी

रखे—कि तेरे पांवों के नीचे आकर या वस्तु के नीचे दब कर, या मल-मूत्रादि ऊपर पड़ जाने के कारण कोई क्षुद्र जन्तु बाधित तो नहीं हो रहा है, तो काफी अंश में तू इस उद्योगी व आरम्भी हिंसा से भी बच सकता है, और ऐसा करने से तेरी गृहस्थी में अथवा शारिरिक स्थिति में कोई बाधा नहीं आती।

अहिंसा

मुजफ्फरनगर दिनांक १ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५९

१७ अहिंसा कायरता नहीं

प्राण संयम की बात चलती है, उसके अन्तर्गत संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग और उद्योगी व आरम्भी हिंसा में भरसक यत्नाचार रखने के लिये कल बताया जा चुका है। अब चलती है विरोधी हिंसा की बात। गृहस्थ में रहते हुए अपनी, कुटुम्ब की, व अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा न करूं तो मैं कायर कहलाऊंगा, कर्तव्य विहीन कहलाऊंगा और ऐसा न करने से मेरा गृहस्थ जीवन अबाधित रूप से चल भी नहीं सकता। घर में कोई चोर या डाकू मेरी सम्पत्ति का अपहरण करने के लिये घुस आवे, तो मेरा कर्तव्य वहां से भाग जाना, या चुपके से जो मांगे दे देना नहीं है, ऐसा करना कायरता है। मेरी इज्जत पर कोई आक्रमण करने आया हो अथवा मेरे आश्रित बीवी बच्चों के सम्मान पर कोई हाथ डालने को सामने खड़ा हो तो, यह सोच कर छिप जाना, कि मुकाबला करूंगा तो सम्भवतः यह मारा जाये और हिंसा हो जाये-कायरता है।

इसके अतिरिक्त मेरे देश पर, उस पर जिस पर कि मैं सुरक्षित रूप से निर्भय जीवन बिता रहा हूं-स्वतन्त्रता के साथ, सम्मान के साथ; उस देश पर जिस पर कि मुझे हर सुविधा प्राप्त है, उस देश पर जिसमें रहने के कारण कि आज मैं विश्व में सभ्य मानव कहलाने का अधिकार रखता हूं, उस देश पर जिसका सीना चीर कर उत्पन्न की गई सम्पत्ति का सुख पूर्वक मैं उपभोग कर रहा हूं, जिस पर रहते हुए मैं जो चाहे करूं, जो चाहे बोलूं, मुझे बाधा पहुंचाने वाला कोई नहीं; यदि कोई आक्रमण करने को उद्यत हुआ हो, अथवा किसी अन्य प्रकार से उसकी स्वतन्त्रता को पंगु बनाने की घात लगा रहा हो या सम्पत्ति को अनेक मायावी ढंगों से लूट लेना चाहता हो, तो यह समझ कर, कि इस विरोधी का मुकाबला करने में अनेकों का लहू बह जायेगा, मैं हिंसक बन जाऊंगा, यह समझकर मुंह छिपा लेना कायरता है।

१८ अहिंसा में लौकिक वीरत्व

अहिंसा या प्राण संयम कायरता का नाम नहीं, अहिंसा वीरों का भूषण है, क्षत्रियों का धर्म है, अतुल बलधारी ही इसका पालन कर सकते हैं। अहिंसा के ठीक ठीक रूप से अपरिचित रहने के कारण ही आज का विश्व अहिंसा को कायरता का प्रतीक कह रहा है; इसीको ही भारत देश का ह्रास का कारण कह रहा है। 'परन्तु क्या उसे अब भी विश्वास नहीं हुआ अहिंसा के पराक्रम का, जबकि एक इसी हथियार के द्वारा मुकाबला किया गया तोपों का, टेंकों का, बमों का, तथा आधुनिक बड़े बड़े हथियारों का और जीत हुई इसी के पक्ष की अर्थात भारत स्वतन्त्र हो गया, बिना रक्त की एक बूंद गिराये। सम्भवतः विश्वास नहीं, फिर भी इसके महान पराक्रम पर।

तो देख और अनेक ढंगों से अहिंसा का पराक्रम-गृहस्थी पर या देश पर उपरोक्त अवसर आ पड़ने पर एक गृहस्थ अहिंसक का कर्तव्य है कि अपनी व अन्य की तथा देश की रक्षा करने के लिये बाजी लगा दे अपनी जान की, भले शत्रु प्रबल हो पर भिड़ जावे उससे। अहिंसक को अपमान के जीवन की अपेक्षा मृत्यु अधिक प्रिय है, मृत्यु उसके लिये खेल है-बच्चों का, जैसे कि खिलौना लिया और टूट जाने पर दूसरा ले लिया। किस काम आयेगा फिर यह चमड़े का शरीर, जो आज मेरे सम्मान की रक्षा में भी इससे कोई सहायता न मिले। इतने दिनों से बराबर इसे पोषता चला आया हूँ, आज अवसर आया है इसकी परीक्षा का, मेरी सेवा का मूल्य चुकाने का। और यदि आज इसने कृतघ्नता दिखाने का प्रयत्न किया तो फिर यह मेरा कैसा ? मित्र से उसी समय तक प्रेम होता है जब तक कि उसकी कृतघ्नता प्रगट नहीं हो जाती। या तो आज इसे सहर्ष अपना कर्तव्य निभा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी होगी, या मेरे द्वारा इसे दण्ड भोगना होगा, दोनों दशाओं में इसे क्षति ही उठानी होगी, दोनों दशाओं में इसे मृत्यु का आलिंगन करना होगा, परन्तु एक दशा में होगी वीरों की मृत्यु और दूसरी दशा में कुत्ते की मृत्यु। बता कौन सी मृत्यु स्वीकार है तुझे ? सोचने का अवकाश नहीं, शत्रु सामने खड़ा है।

ये होती हैं कुछ विचार धारायें, जो एक सच्चे अहिंसक के हृदय में ऐसे अवसरों पर उत्पन्न हुआ करती हैं। क्योंकि इस बात का दृढ़ विश्वास होता है उसे प्रत्यक्षवत्, कि वह अबाध्य व अघात्य, चिदानन्द भगवान आत्मा है, और शरीर उसका सेवक उसकी शांति की रक्षा करने के लिये, इसलिये वह बिल्कुल निर्भय होता है। शरीर चला जायेगा तो और मिल जायेगा, पर सम्मान चला जायेगा, धर्म चला जायेगा, साहस चला जायेगा, तो फिर न मिलेंगे, तो मेरे अन्तरंग की सर्व सम्पत्ति ही लुट जायेगी। नहीं नहीं, यह सब कुछ उसे असह्य है। वह अपना सर्वस्व बलिदान कर सकता है एक शान्ति की रक्षा के लिये, सम्मान की रक्षा के लिये। कुत्तों वत् दूसरों के आश्रय पर जीना उसे स्वीकार नहीं।

यही था भारत के वीरों का आदर्श, महाराणा प्रताप का आदर्श, शिवाजी का आदर्श महारानी झांसी का आदर्श। एक अहिंसक का हृदय जो अन्य अवसरों पर मोम होता है, ऐसे अवसरों पर पाषाण से भी अधिक कठोर हो जाता है। दूसरों के तनिक से कष्ट पर जो रो उठता है, ऐसे अवसरों पर सिंह वृत्ति धारण कर लेता है। जो अहिंसक अन्य अवसरों पर चींटी पर भी दया करता है, ऐसे अवसरों पर अत्यन्त क्रूर हो जाता है।

१६ विरोधी हिंसा व अहिंसा में समन्वय

बात कुछ अटपटी सी लग रही होगी। अहिंसा और रक्त प्रवाह, दो विरोधी बातें कैसी ? जल व अग्नि का एक स्थान में निवास कैसा ? सर्प व नेवले की मित्रता कैसी ? परन्तु ऐसी बात नहीं है। सुन भाई ! बताते हैं-तेरे अन्तर में उत्पन्न होने वाले यह सर्व प्रश्न ठीक ही हैं, परन्तु यह तब ही तक तेरे हृदय में स्थान पा रहे हैं, जब तक कि अहिंसा का यथार्थ रूप जान नहीं पाता। क्रियाओं में अवश्य विरोध दीख रहा है पर अभिप्राय में विरोध नहीं है। हिंसक भी शत्रु से युद्ध करता है और अहिंसक भी, दोनों के द्वारा ही युद्ध में मनुष्य संहार होता है, परन्तु फिर भी हिंसक क्रूर और अहिंसक दयावान ही बना रहता है। इसकी परीक्षा बाह्य की इस क्रिया पर से नहीं हो सकती, अन्दर का अभिप्राय पढ़ना होगा, दोनों के अन्तरंग अभिप्राय में महान अन्तर है।

हिंसक के अन्दर है आक्रमण और अहिंसक के अन्दर है केवल रक्षा, हिंसक के हृदय में

है द्वेष और अहिंसक के हृदय में कर्तव्य, हिंसक को होता है इस नर संहार को देख कर हर्ष और अहिंसक को होता है पश्चाताप। इसलिये हिंसक न्याय अन्याय के विवेक से शून्य होकर प्रहार करता है, हथियार रहित पर भी, सोते हुए पर भी, स्त्री बूढ़े व बच्चों पर भी, घायल व अपाहिज पर भी। दूसरी ओर अहिंसक का हृदय ऐसे विचार मात्र से भी कांपता है, किसी मूल्य पर भी यह विवेक बेचने को तैयार नहीं, उसे अपनी हार की चिन्ता नहीं, उसे अपनी मृत्यु की चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल न्याय व कर्तव्य की ओर इसलिये कभी प्रहार नहीं करता, छिप कर, या हथियार रहित पर या सोते पर, या पीठ दिखा कर भागते पर, या बच्चे व बूढ़े पर या घायल और अपाहिज पर। हिंसक करता है अपनी ओर से पहल --दूसरे के घर पर जाकर, और अहिंसक करता है सामना अपने घर पर आये हुए का। हिंसक घायल व अपाहिज शत्रुओं पर करता है अट्टहास, और अहिंसक करता है उनसे मित्रवत् प्रेम, क्योंकि उसनें युद्ध किया था केवल इस अभिप्राय से कि उसके सम्मान की रक्षा हो जाये, द्वेष से नहीं और प्रयोजन के सिद्ध हो जानें पर अर्थात् रक्षा हो जाने पर, वह शत्रु आता है उसकी दृष्टि में एक सामान्य दुःखी जीव वत्, जिसका हृदय दुःखी है-अपनी हार पर, जो लज्जित सा कुछ दबा सा जा रहा है-स्वयं। इसलिये पुनः वही करुणा, पुनः वही प्रेम हो जाता है उस पराजित पर उसे जो इस अवसर से पहले उस पर था। शान्त सम्भाषण के द्वारा प्रयत्न करता है-उसे सांत्वना देने का। युद्ध के पश्चात् अहिंसक स्वयं करता है घायलों की सेवा, और हिंसक मारता है उनको ठोकर। हिंसक के हृदय में है बदले की भावना और अहिंसक के हृदय में है क्षमा। यह है दोनों की क्रियाओं में अन्तर, जो अंतरंग अभिप्राय विशेष वश हो होना सम्भव है और इस अभिप्राय में अन्तर के कारण ही एक है हिंसक और दूसरा है अहिंसक।

इस अभिप्राय पूर्वक बाहर में विरोधी हिंसा करनें वाला गृहस्थ वास्तव में अन्तरंग से हिंसा करता ही नहीं, और इसलिये उसके प्राण संयम में बाधा आती ही नहीं-इससे। अतः विरोधी हिंसा को यदि आवश्यक समझता है--अपने लिये इस परिस्थिति में, तो भी अभिप्राय में तो कुछ परिवर्तन कर ही सकता है। उससें तो कोई बाधा नहीं आती तेरी गृहस्थी को या तेरे शरीर को।

२० अहिंसा में अलौकिक वीरत्व

यह तो अहिंसा का है लौकिक वीरत्व एक गृहस्थ के लिये। परन्तु अहिंसक का एक अलौकिक वीरत्व भी है, वह वीरत्व जो एक योगी के जीवन में होता है जिससे सम्भवतः आप परिचित न हों, वह वीरत्व जिसके सामने बड़े बड़े सम्राट भी नत मस्तक हो जाते हैं। ऊपर कही गई हैं लौकिक शत्रु को जीतने की बात, और यहां है अलौकिक शत्रु को जीतने की बात, उस शत्र को जीतने की बात जिसके आगे बड़े बड़े योद्धा भी हार मान जाते हैं।

गृहस्थ दशा में अहिंसा की साधना का अभ्यास करते करते आज उस योगी का बल वृद्धि के शिखर पर पहुंच चुका है, उसकी शान्ति निश्चित हो चुकी है-सुमेरू की भान्ति। अब लोक की बड़े से बड़ी बाधा भी उसकी शान्ति में विघ्न डालने को असमर्थ है क्योंकि अब उसका कर्त्तव्य बदल चुका है, उसका शरीर बदल चुका है, उसकी सम्पत्ति बदल चुकी है, उसका कुटुम्ब बदल चुका है, उसका देश, बदल चुका है। आज शान्ति उसका शरीर है; निर्विकल्पता उसकी सम्पत्ति है; स्वतन्त्रता, निरपेक्षता,

उपेक्षा, वीतरागता, मधुरता, मैत्री व उल्लास उसका कुटुम्ब है; शांति ही उसका देश है। भौतिक सम्पत्ति का तो उस वनवासी नग्न दिगम्बर साधु को प्रत्यक्ष ही त्याग हो चुका है, शरीर तक भी आज उसकी दृष्टि में उसका नहीं, इसकी बाधा भी आज उसकी बाधा नहीं। गृहस्थ दशा में समझे जाने वाले वह चोर, डाकू, अथवा कोई विदेशी आक्रमण करने वाला राज्य उसकी दृष्टि में शत्रु नहीं, क्योंकि उसकी सम्पत्ति को हरन करने में वह चोर, डाकू समर्थ नहीं हैं अथवा उसके शान्ति राज्य पर विदेशी राजा आक्रमण करने को समर्थ नहीं है। उसके शान्ति रूपी शरीर पर चलने के लिये बाहर में कोई हथियार ही नहीं है। अतः बाहर के मनुष्य कृत, पशु पक्षी कृत, मक्खी मच्छर कृत, गरमी सर्दी आदि प्रकृति कृत, बड़े से बड़ा उपसर्ग या भय भी उसके मुख मण्डल पर फैली उस मधुर मुस्कान को भेदने में असमर्थ है। और तो कुछ उसके पास है ही नहीं, जिसे उससे छीन लिया जाये, एक शरीर है, वह भी अलौकिक। इस शरीर के भी तिल तिल खण्ड करने को तैयार हो कोई, इसे कोल्हू में पेलने के लिये उद्यत हुआ हो कोई, इसे जीवित भस्म कर देने का भाव लेकर आया हो कोई, उसे कुत्तों के द्वारा नुचवा डालने के लिये उस पर दही छिड़कता हो कोई, उसे दिवार में चिनने लगा हो कोई, परन्तु इसे कोई चिन्ता नहीं। अपने द्वेष की आग जिस वस्तु पर जिस शरीर पर बुझाई जा रही है, वह उसका है ही नहीं जब, उससे ममत्व है ही नहीं जब, फिर उस विद्वेषी के प्रति इस योगी को द्वेष क्यों हो, घृणा क्यों हो, क्रोध क्यों हो, इससे मुकाबला करने की भावना क्यों हो ? वह बेचारा रंक स्वयं नहीं जानता कि इस योगी के पास क्या है, जिसको छीनने से इसे कष्ट हो सकेगा। उसको तो दिखाई देता है यह चमड़े का शरीर, जिसे बाधा पहुंचने पर स्वयं उसे बाधा प्रतीत होती है, उसी तुला पर तोलता है आज वह इस परम योगेश्वर की सम्पत्ति को, शान्ति को और यदि पता भी हो तो इसके छीनने में बिलकुल असमर्थ है। इसलिये क्यों समझे वह योगी उसे शत्रु ? वह तो बेचारा है रंक, द्वेष की अन्तरदाह से स्वयं जला जा रहा है, अतः स्वयं है बहुत दुःखी, वह तो है उस योगी की करुणा का पात्र, विरोध का नहीं। उसके लिये भी उस योगी के मुख से निकलता है कल्याणात्मक आर्शीवाद, जैसे एक भक्त के प्रति।

अपनी शान्ति को बाधा पहुंचा सकता है उसका अन्तर संस्कार, जो कदाचित् वह योगी को विकल्प व भय उठाने में समर्थ हो जाये तो। परन्तु कैसे हो जाये वह सफल ? उस पर काबू जो पा लिया है उस वीर ने, पद पद पर उससे सावधान जो चला जा रहा है वह वीर। और यदि वह संस्कार कदाचित् आगे बढ़ने का प्रयत्न भी करे, कोई बन्दर भभकी भी दिखावे ऐसे अवसर पर, तो योगी टूट पड़ता है उस पर, वैराग्य की १२ भावनाओं को लेकर-अपनी सर्व शक्ति से, सर्व साहस से, सर्व बल से। वह सब कुछ सहन कर सकता है पर शान्ति में विघ्न नहीं, उस शान्ति में जिसकी उपासना करता वह आज यहां तक आ चुका है, जिसकी प्राप्ति के लिये उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ा है, वह किसी मूल्य पर भी उस आदर्श मधुर मुस्कान का विरह सहन नहीं कर सकता।

अतः उसका वीरत्व, उसका पराक्रम चलता है, उस संस्कार पर, जिसके पाले सर्व जगत पड़ा हुआ है। भला कौन योद्धा है जो उसे जीत सका हो ? अपने को बड़ा बली और वीर योद्धा मानने वाला भी किसी का मात्र कटु शब्द सुन लेने पर अपने अन्दर में उठे क्रोध को दबा सकेगा क्या? क्या किसी सुन्दर स्त्री के द्वारा फेंके हुए एक तीखे कटाक्ष बाण के प्रहार को सहन कर सकेगा क्या ? विह्वल हो उठेगा-उसी समय वह। क्रोध के आधीन हो भूल जायेगा अपने को भी, या मैथुन

संस्कार का मारा लगेगा तड़पन, पानी से बाहर निकाल कर डाली गई मछली वत् और पता चल जायेगा उसे कितना बड़ा वीर है वह, कितना बड़ा योद्धा है वह। हवा खाने चला जायेगा उसका सर्व पराक्रम, उसका सर्व वीरत्व, जिस पर था उसे इतना घमण्ड, खिल्ली उड़ा रही होगी उस समय सामने खड़ी उसके अन्तर संस्कार की शक्ति। "कि बस ! हो लिये दम खम, इतने में ही, जा चूड़ियां पहन कर घर में बैठ जा, यह तो बहुत छोटा सा आक्रमण था-तेरे ऊपर। इसी से ही रो पड़ा नपुंसक कहीं का।"

वीरत्व देखना है तो देखो उस सामने बैठे नंगे धड़ंगे योगी की ओर, जिसके शरीर की हड्डी हड्डी दीख रही है, एक थप्पड़ को भी सहन करने की शक्ति सम्भवत: जिसमें नहीं है। उपरोक्त छोटी छोटी बातों से तो क्या, यदि लोक की सर्व विकारी शक्तियां भी एकत्रित होकर आ जायें, तो उसके मुख मण्डल पर फैली आभा, तेज, मुस्कान, शान्ति को बाधित करने में समर्थ न होंगी। उसके अन्दर में क्रोध या मैथुन भाव की विह्वलता उत्पन्न करने में समर्थ न रहेंगी। कहां तक गाई जाये महिमा उसके वीरत्व की, वह है पूर्ण अहिंसक, पूर्ण संयमी—हिंसा के सर्व १२६६० भंगों को परास्त कर दिया है जिसनें, विनष्ट कर दिया है जिसने।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५७

२१ विरोधी हिंसा का पात्र,

शान्ति प्राप्ति के उपाय में प्राण संयम अर्थात् अहिंसा की बात चलती है अहिंसा का व्यापक रूप तथा उसकी अन्तर वीरता का प्रदर्शन किया जा चुका। अपनी रक्षार्थ विरोधी हिंसा यथा योग्य रूप में करना एक वीर अहिंसक गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है, परन्तु इस विरोध का पात्र कौन है, यह बात भी यहाँ जाननी आवश्यक है। क्योंकि यह जाने बिना तथा विवेक किये बिना तो मैं जिस किसी को भी विरोधी की कोटि में गिनने लगूंगा। जहां तनिक किसी भी मनुष्य, तिर्यञ्च, कीड़े, मकौड़े आदि के द्वारा मेरी रुचि के विरुद्ध कोई कार्य हुआ, कि मैं समझ बैठा उसे विरोधी, और दौड़ पड़ा उसका नाश करने के लिये, यह तो संयम न कहलायेगा। ऐसा तो सर्व लौकिक जन ही करते हैं, फिर तुझमें व उनमें एक संयमी में व एक असंयमी में कोई अन्तर न रह जायेगा। ऐसा करना ठीक नहीं; जिस किसी को अपना शत्रु मान लेना योग्य नहीं। तेरी इष्टता व अनिष्टता में मित्र व शत्रु की पहिचान नहीं। बुद्धि रखने वाले मानव ! कुछ विवेक उत्पन्न कर।

शत्रु व मित्र की पहिचान वास्तव में तेरी रुचि नहीं बल्कि उन उन जीवों में वर्तने वाला कोई अभिप्राय विशेष है। पुत्र को या मुनीम को किसी गलती के कारण व्यापार में हानि हो जाने पर भी आप उन्हें अपना शत्रु नहीं मान लेते, परन्तु मुनीम की बेईमानी के कारण व्यापार में हानि पड़ जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो। डाक्टर के द्वारा किसी औषधि से या आपरेशन से आपके पुत्र की मृत्यु हो जाने पर आप उसे शत्रु नहीं मानते, परन्तु किसी विद्वेषी के द्वारा विष से या हथियार से आपके पुत्र की मृत्यु हो जाने पर अवश्य उसे शत्रु समझते हो, इत्यादि। इन दृष्टान्तों पर

से मित्र व शत्रु का लक्षण बना लेना यहां उपयुक्त है। "मित्र उसे कहते हैं जिसके अभिप्राय में मेरा हित हो प्रेम हो और शत्रु उसे कहते हैं जिसके अभिप्राय में मेरा अहित हो द्वेष हो।" मित्र व शत्रु के अतिरिक्त एक तीसरी कोटि भी जीवों की है और वह है उनकी जिन्हें कि मुझसे प्रेम है न द्वेष जैसे कि सर्व नगरवासी। शत्रु के उपरोक्त लक्षणों को भी कुछ और विशेषता से, कुछ और सूक्ष्मता से विचार करना योग्य है। हर वह प्राणी जिसके हृदय में मेरे प्रति अहित की भावना हो, मेरा शत्रु नहीं हो सकता। क्या विरोधी हिंसा के अन्तर्गत शत्रु से युद्ध करता वह आदर्श अहिंसक उस विरोधी का शत्रु कहा जा सकता है ? नहीं-क्योंकि वह विरोधी यदि उसके सम्मान पर उसके देश पर स्वयं आक्रमण न करता तो उस अहिंसक के लिये वह तीसरी कोटि का एक सामान्य मनुष्य मात्र था-न था शत्रु और न था मित्र। क्या महात्मा गांधी को अंग्रेजों का शत्रु कहा जा सकता है ? नहीं, क्योंकि "मेरे देश को छोड़ दो, और कुछ नहीं चाहिये मुझे तुम से", ऐसा अभिप्राय रखने वाला गांधी न उनका शत्रु था न मित्र। फलितार्थ यह निकला कि द्वेष दो प्रकार का है—एक स्वार्थ वश किया जाने वाला और एक अपनी रक्षा के अर्थ। केवल रक्षा के अर्थ किया जाने वाला द्वेष क्षणिक होता है तथा उसके पीछे पड़ी रहती है सभ्यता व माध्यस्थता, जिसमें न शत्रु का भाव रहता है न मित्र का और स्वार्थ वश किया जाने वाला द्वेष ध्रुव होता है, निष्कारण होता है, जब भी मौका देखता है तब ही निष्कारण हानि पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यह हुई द्वेष की दो कोटियां जिनमें उपरोक्त दृष्टांतों पर से यह सिद्ध होता है कि "रक्षार्थ क्षणिक द्वेष रखने वाला प्राणी शत्रु नहीं हो सकता, और स्वार्थ वश निष्कारण द्वेष रखने वाला प्राणी शत्रु है।"

२२ क्रूर जन्तु शत्रु नहीं — बस शत्रु के इस लक्षण पर से शत्रु का निर्णय कर लेने पर ही विरोधी हिंसा को गृहस्थ का कर्तव्य बताया गया है, निरर्गल हिंसा को नहीं। इस विवेक के अभाव में ही आज का मानव उन सर्व जीवों को, जो किसी भी अभिप्राय से उसके शरीर को बाधा पहुँचा रहे हों, अथवा जिनसे कदाचित् बाधा पहुँचने की सम्भावना हो, अपना शत्रु मान कर जिस किसी प्रकार भी उनके विनाश के उपाय किया करता है। उदाहरण के रूप में सिंह सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया सब उसके शत्रु हैं क्योंकि भले आज न सही पर कल उनसे बाधा पहुँचने की सम्भावना हो सकती है और इसी कारण उस मानव का आज ऐसा अभिप्राय बन रहा है कि निष्कारण भी जहाँ कहीं वे मिलें उन्हें मार डालो।

शत्रु का लक्षण घटित करने पर आपको आश्चर्य होगा कि उसे शत्रु समझा जा रहा है वह वास्तव में माध्यस्थ वाली तीसरी कोटि का प्राणी है। क्योंकि उपरोक्त सिंह आदि कभी किसी पर निष्कारण आक्रमण नहीं करते, और मानव निष्कारण केवल द्वेष वश उन पर आक्रमण करते हैं। वे प्राणी यदि मानव को बाधा पहुँचाते हैं तो अपनी रक्षार्थ, और मानव उन्हें मारता है तो स्वार्थ वश, द्वेष वश, निरपराध। यह बात सभी जानते हैं कि सर्प, बिच्छू, भिर्ड, ततैया आदि बिना दबे अर्थात् बिना अपने पर उपसर्ग जाने या बिना अपने पर प्रहार हुए, कभी किसी पर प्रहार नहीं करते। करते अवश्य हैं पर अपनी रक्षार्थ, केवल उस समय जबकि उसे अपने पर बाधा आती प्रतीत हो।

अब रही सिंहादि उन जन्तुओं की बात जिन्हें क्रूर कहा जाता है। वहां भी यदि कुछ

गहराई से विचार करें तो पता चलेगा कि क्रूर कौन है, सिंह कि मानव, जो कि उन क्रूरों के प्रति भी क्रूर है, जो उनका निष्कारण बिना अपराध के शत्रु बन बैठा है। वास्तव में यदि देखा जाये तो जगत का सबसे अधिक क्रूर प्राणी मानव है, जिससे सर्व ही सृष्टि भय खाती है जिसे ऐटम बम्ब द्वारा जगत में प्रलय मचाते भी कोई झिझक उत्पन्न नहीं होती। पर स्वार्थी मानव अपने को अपराधी कैसे बताये ? दृष्टि पर चढ़ा है स्वार्थ का चश्मा जिससे सब दिखाई देते हैं, शत्रु व क्रूर।

विचारिये तो सही यदि सिंह आदि क्रूर ही होते तो अपनी संतान का पालन कैसे करते ? कभी देखा है सिंहनी पर उछलते कूदते उसके बच्चों को, जो कभी खेंचता है उसका कान और कभी चढ़ जाता है उसकी गर्दन पर, कभी मारता है उसकी कमर पर दांत, और कभी नोचता है उसके बाल क्या कभी क्रोध आता है सिंहनी को उसके ऊपर ? और क्रोध आवे भी क्यों ? उसे उनसे भय थोड़े ही है, वह जानती है कि इनकी यह सब क्रीड़ायें प्रेम में भीगी हुई हैं। और क्या उन बच्चों को कभी भय होता है-उससे ? क्यों हो, क्योंकि उन्हें विश्वास है उस प्रेम का जो सिंहनी के हृदय में उनके प्रति है। क्या सर्कस में या चिड़िया घर में अपने स्वामी के प्रति दुम हिलाता सिंह देखा सुना नहीं है आपने ? क्या जयपुर के उस राज मन्त्री की कथा भूल गए जिसने सिंह को मांस न देकर फलाहार कराना चाहा और तीन दिन तक बराबर उन फलों को सिंह के द्वारा स्वीकार न करने पर, तीन दिन के पश्चात् स्वयं उसके सामने छाती खोलकर लेट गया, इस अभिप्राय से कि यदि इसे मांस ही खाना है तो इस शरीर से अपनी क्षुधा को शान्त कर ले। इस प्रकार मन्त्री के प्रेम का परिचय पाकर, मालूम है उस सिंह ने क्या किया ? तीन दिन के भूखे सिंह ने चुपके से फल खाना स्वीकार कर लिया पर मन्त्री को कुछ न कहा। जहाँ प्रेम है वहां क्रूरता कैसी ? हां वह क्रूर बन अवश्य जाता है जब कि उसके सम्मान पर या उसके आहार पर आक्रमण किया जा रहा हो, उसकी वह क्रूरता स्वार्थ वश नहीं है रक्षार्थ है।

यदि उसे मानव से इस प्रकार के आक्रमण की आशंका न हो तथा उसके प्रेम के प्रति उसे विश्वास उत्पन्न करा दिया जाये तो आपको आश्चर्य होगा यह सुनकर कि यह बड़ा मधुर है, बड़ा स्वामी भक्त है और बड़ा कृतज्ञ है। मानव कृतघ्नी हो सकता है पर वह नहीं, मानव अपने उपकारी को भूल कर अपने उपकारी का स्वार्थ वश अनिष्ट कर सकता है, और कर रहा है, पर उसके द्वारा ऐसा होना सम्भव नहीं। सिंह की प्रेम वृत्ति के प्रति दृष्टान्त दे दिया गया, अब उसकी माध्यस्थ वृत्ति कृतज्ञता के दृष्टान्त भी सुनिये।

भारतवर्ष में आज के एक विख्यात शिकारी जोरावरसिंह की आप बीती बात है, जो उसने उन कई घटनाओं में से चुन चुन कर स्वयं लिखी हैं, जो कि भयानक जन्तुओं में रहते हुए उसके अनभव में आई हैं। शिकार का अत्यन्त प्रेमी वह जोरावरसिंह एक दिन वैसे ही घर से निकला और न मालूम किन विचार धाराओं में डूबा चल पड़ा बन की ओर। आज उसके साथ न थी बन्दूक और न था उसका सहायक मित्र, चलते चलते घना बन आ गया, थक गया था, ठण्डी हवा के झोंके आ रहे थे, वह एक वृक्ष के नीचे पड़ कर सो गया। कोई घण्टे भर के पश्चात् उसे नींद में ही कोई उसकी परिचित सी गन्ध आती हुई प्रतीत हुई, साथ ही कुछ खुस खुस की आवाज भी, वह उठ बैठा

और उसके आश्चर्य का ठिकाना न था। क्या सिंहनी भी इतनी माध्यस्थ हो सकती है-मानव के प्रति ? उसे स्वयं विश्वास न आया, आँखें मली, पुनः देखा वही दृश्य, बिल्कुल निकट अपने बच्चों के साथ एक सिंहनी लेटी थी, आज प्रेम था उसकी आंखों में। निर्भीक जोरावरसिंह को भय तो क्यों होता उससे ? अभ्यस्त था उन्हीं के बीच में रहने का, परन्तु सिंहनी की आंख से आंख मिलते ही आज वो अश्रु प्रगट हो गये थे उसकी आंखों में, प्रेम के अश्रु। यह है सिंह की माध्यस्थता का दृष्टान्त, यदि मानव स्वयं भय का कारण न बने तो सिंह उसके लिये क्रूर नहीं है।

हां एक दूसरी परिस्थिति और भी हो सकती है उसकी क्रूरता की और वह है जबकि उसे भूख लगी हो। परन्तु ऐसे अवसरों पर मानव की बस्तियों से दूर घने बनों में रहने वाला वह क्या नगरों में आता है, मानव को अपना भोजन बनाने के लिये ? नहीं बल्कि मानव ही स्वयं जाता है उसकी बस्तियों में उसे अपना भोजन बनाने के लिये। भला क्रूर कौन हुआ, मानव या सिंह ?

अब सुनिये सिंह की कृतज्ञता। यूनान के एक दास एण्ड्रयोकुल्यीज़ का विश्व विख्यात दृष्टान्त हर किसी को पता है, सच्ची घटना है कपोल कल्पना नहीं, घटना है उस जमाने की जब यूनान में दास प्रथा बड़े जोरों पर थी। मनुष्य पशुवत् बाजारों में बिकते थे, उनसे पशुओं का सा व्यवहार किया जाता था, और उस बेचारे को उफ करने का भी अधिकार न था। यदि तंग आकर बिना स्वामी की आज्ञा के घर से भागा तो राज्य की ओर से था उसके लिये मृत्यु दण्ड, और वह भी बड़ी क्रूरता से, सारे नगर वासियों के सामने। एण्ड्रोकुल्यीज एक धनिक का दास था, स्वामी के व्यवहारसे तङ्ग आकर घर से भागा, पुलिस के डरसे राज्य मार्ग छोड़कर बन की राह ली और चलते चलते बन में प्रवेश किया। एक हृदय भेदक गर्जना उसके कान में पड़ी, सहसा ही उसके पग रुके और वह घूम गया उस दिशा की ओर जिधर से कि वह पीड़ा मिश्रित गर्जना आ रही थी। आज उसे मृत्यु का भय न था, मृत्यु तो आनी ही है आज नहीं तो कल, राज्य के द्वारा दण्ड भी तो मृत्यु का ही मिलना है। फिर कर्तव्य से भी विमुख क्यों रहूं ? सामने देखा एक सिंह जो बार बार अपने पांव जमीन पर पटक रहा था, एण्ड्रयोकुल्यीज को यह जानते देर न लगी कि उसके पांव में असह्य पीड़ा हो रही है, निर्भय होकर वह आगे बढ़ा, उसके हृदय में था कर्त्तव्य, दया व प्रेम। सिंह ने पांव आगे कर दिया और दयालु दास ने उसके पांव से वह तीखा शूल खेंच कर फेंक दिया जो आधा उसके पंजे में घुस चुका था, जिसकी पीड़ा से वह बेचैन हो चुका था, सिंह ने एक नजर से अपने उपकारी की ओर देखा और फिर पकड़ी अपनी राह।

पुलिस से बचकर कहां जाता बेचारा, पकड़ा गया। नगरवासी इकट्ठे किये गये। बीच में रक्खा था एक बहुत बड़ा जंगला, एण्ड्रयोकुल्यीज़ उसमें खड़ा अपने जीवन की शेष घड़ियों को निराशा पूर्वक गिन रहा था। सिंह का पिंजरा लाया गया और छोड़ दिया उसे कटहरे में। लोग टिकटिकी लगाये देख रहे थे। चार दिन का भूखा सिंह अब खा जायेगा इस बेचारे को और वह भी था भयभीत सिंह तेजी से आगे बढ़ा एक गर्जना के साथ। परन्तु हैं ? यह क्या ? क्या यह भी सम्भव है ? लोग आंखें मल कर देखने लगे पर विश्वास करना पड़ा कि निकट आकर सिंह ने उसे सूंघा और ज्यों

का त्यों शान्त वापिस लौट गया। सिंह को भूखा रहना स्वीकार था पर अपने उपकारी को अपना भोज्य बनाना स्वीकार न था। एक दो मिनिट मात्र का ही तो सम्पर्क हुआ था उस बन में उन दोनों का, पर सिंह उसको न भूल सका, उस गन्ध को जो उसे उस समय आई थी, उस मनुष्य में से, जबकि उसने उसका कांटा निकाला था। यह है सिंह की कृतज्ञता का दृष्टान्त।

इसलिये भो मानव! कुछ विवेक धर, हर किसी को निष्कारण अपनी गोली का निशाना न बना, ऐसा करने का नाम विरोधी हिंसा नहीं है। सांप, बिच्छू आदि को भी निष्कारण मारना विरोधी हिंसा नहीं है। प्रहार न करते हुए तो यह शत्रु है ही नहीं, परन्तु प्रहार करते हुए भी यह शत्रु कहे नहीं जा सकते, क्योंकि उनका इस प्रकार का पुरुषार्थ रक्षार्थ होता है। सबके साथ तू प्रेम करना सीख, तू दूसरों का रक्षक बन कर आया है भक्षक बन कर नहीं, दूसरों की रक्षा करना ही तेरा गौरव है। नहीं तो तू ही बता कि तुझ में और पशु में क्या अन्तर है? निष्कारण उन्हें मारने वाले! तेरा जीवन सम्भवतः उनसे भी नीचा है।

मुजफ़्फ़रनगर दिनांक ३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५८

प्राण संयम अर्थात् अहिंसा की बात चलती है। जिसके अन्दर अनेक प्रकार के छोटे बड़े जीवों के भेद प्रभेदों का ज्ञान करके शक्ति अनुसार उनकी रक्षा करने का अभिप्राय प्रगट किया जा रहा है। प्राण घात के अनेकों अभिप्रायों का प्रदर्शन करके यह विवेक उत्पन्न कराया कि प्राण संयम, अहिंसा या जीव-दया व रक्षा, कितने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं। शत्रु व मित्र की पहिचान कराके विरोधी हिंसा को सीमित किया गया। सिंहादि क्रूर समझे जाने वाले, तथा सर्पादि अनिष्ट रूप समझे जाने वाले प्राणियों के प्रति भी, दया व प्रेम करने का आदेश दिया गया और अब बताई जाती है संयम की यथार्थता।

२३ संयम का प्रयोजन शांति है लोकेषणा नहीं,

आज संयम को अधिकतर लोकेषणा की पुष्टि के लिये किया जा रहा है। प्रतिष्ठा के लिये, ख्याति लाभ पूजा के लिये इसको धारण करने वाले आज बड़े वेग से इस ओर बढ़े चले आ रहे हैं। परन्तु लोक कल्याण की बात तो दूर रहो, क्या उसका अपना कल्याण भी इससे हो रहा है, यह विचारणीय है? इस बात की परीक्षा है शान्ति, जो संयम का वास्तविक प्रयोजन है। यदि फलस्वरूप, संयम से इसी जीवन में तत्क्षण शांति का संयम की भूमिकानुसार वेदन न हुआ तो उसका संयम निरर्थक हो रहा और ऐसे संयम से इस मार्ग में कोई लाभ नहीं। संयम का अर्थ है विकल्प दमन, जो साक्षात् शान्ति स्वरूप है, इसलिये संयम की यथार्थता व अयथार्थता की परीक्षा है अन्तरंग में विकल्प दमन से, न कि बाह्य की शारीरिक क्रियाओं से।

जैसा कि देव पूजा आदि प्रकरणों में बराबर यह बताया जा रहा है कि लौकिक व अलौकिक सर्व प्रयोजनों में दो क्रियायें युगपत् चला करती हैं। एक बाह्य में दीखनें वाली शारीरिक क्रिया तथा दूसरी अन्तरंग में वेदन की जाने वाली कुछ अन्तरंग क्रिया। अन्तरंग में विकल्पों के आंशिक अभाव अथवा शान्ति के वेदन रहित बाह्य की शारीरिक क्रिया प्रयोजन की सिद्धि करने में असफल रहने के कारण निरर्थक है। अतः यदि कुछ पुरुषार्थ करने को उद्यत हुआ है तो उसको यथार्थ रीति से कर, जिससे कि वह किया हुआ पुरुषार्थ व्यर्थ न जाने पावे।

इन्द्रिय संयम में इन्द्रिय विषयों का आंशिक त्याग, और प्राण संयम में यथा शक्ति अहिंसा का पालन, केवल इसी अभिप्राय से होना चाहिये, कि तत् तत् विषय सम्बन्धी रागद्वेषात्मक, इष्टानिष्ट विकल्प जाल हृदय में उत्पन्न होकर मुझे व्याकुल न बना दें। इस प्रयोजन के अर्थ ही पद पद पर इस बात की सम्भाल रख कर चलना है, कि प्रयोजन अर्थात् शान्ति का किसी अंश में भी क्या प्रवेश हो पाया है जीवन में ? वस्तु का त्याग करने के लिये त्याग नहीं, बल्कि विकल्प का, इच्छा का, आसक्तता का, या उस वस्तु विशेष के प्रति अन्तरंग झुकाव का, उससे वेदन होने वाली उस मिठास, का, या रुचि का त्याग करने के लिये त्याग है और वही सच्चा संयम है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि बाह्य वस्तुओं का त्याग निरर्थक है। शान्ति की रक्षा करने के लिये, जैसाकि इन्द्रिय संयम में बताया जा चुका है, यथाशक्ति बाह्य विषयों का त्याग कर ही देना चाहिये—भले पहिले पहिल वह कुछ अखरता हो। इस प्रयोजन की सिद्धि, बिना अभिप्राय बदले नहीं की जा सकती। मन सम्बन्धी संयम के प्रकरण में भी इसी बात पर जोर दिया गया है. इन्द्रिय संयम व प्राण संयम दोनों में यह ही प्रमुख है, और गृहस्थ की इस अल्प भूमिका में रहते हुए, इस अभिप्राय का अन्तरंग से त्याग कर देने से, तेरे शरीर को, तेरे कुटुम्ब को, या तेरी सम्पत्ति को कोई भी बाधा होनी सम्भव नहीं है। ऐसा करने से तेरे अन्तर में उत्पन्न होगा एक उत्साह, एक बल, जीवन में एक मोड़, जो धीरे धीरे तुझे संयमित बनाता हुआ ले जायेगा, विकल्प सागर के उस ओर, जहां शान्ति खड़ी तेरी राह देखती है।

२४ सर्व सत्वएकत्व, मैत्री व प्रेम — अन्तरंग में प्राण संयम के अर्थ उपरोक्त सच्चा अभिप्राय बनाने के लिये, मुझे एक विशेष दृष्टि उत्पन्न करनी होगी जिसके द्वारा देखने पर मेरे हृदय में एक स्वाभाविक मैत्री भाव प्रगट हो जाये-विश्व के सर्व छोटे बड़े प्राणियों के प्रति, जिसमें होगा केवल प्रेम व भ्रातृत्व का भाव, समस्त विश्व होगा एक कुटुम्ब; जिसके द्वारा देखने पर दिखाई देगा, मुझे सर्वत्र अपना रूप, अपना ही निवास; एक अद्वैतपना सा दिखाई देगा जहां।

अहो ! अलौकिक जन की अलौकिक बातें, अनेक भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा उपरोक्त दृष्टि का सुन्दर चित्रण अनेक ज्ञानी जन ने किया है। श्रमण सन्तों का तो कहना ही क्या है, इनका जीवन तो सदा ही साम्यता व मैत्री से भरपूर रहा है, औपनिषदिक काल के ऋषियों का हृदय भी इस अलौकिक भावना से कितना भरपूर था इसका पता ईष उपनिषद के प्रथम मंत्र के अध्ययनसे लग जाता है।

कितना सुन्दर है ईश उपनिषद् का यह प्रथम वाक्य :—

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथ, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥"

अर्थात्—इस जगती में जो कुछ भी जीवन है वह सब ईश्वर का आवास है इस लिये जगत में त्याग बुद्धि से भोगकर, अधिक लालसा मत कर, यह धन किसका है ? (किसी का नहीं) कितना सुन्दर भाव है कि इस जगत में सभी जीव ईश्वरीय तत्व से ओत प्रोत हैं, सभी जीती जागती ईश्वर की मूर्ति हैं, सभी अपने में पवित्रता को लिये हुए हैं। सभी संरक्षण सहयोग और मैत्री के अधिकारी हैं। यदि अहंकार दृष्टि को छोड़ सभी प्राणियों को अपने समान ईश्वर का आवास समझे तो विश्व में सहज ही सुख शांति का राज्य स्थापित हो जावे।

तनिक ध्यान देकर विचार कि तू कौन है, कहां से आया है, कहां जायेगा, कैसे कैसे रूप तूने धारण किये हैं, कैसे कैसे रूप और तुझे धारण करने हैं ? आ, अब इधर आ ज्ञान शिखर पर बैठ और विश्व को निहार। क्या देखता है ? दूर दूर तक फैली वृक्षों की पंक्तियां। आकाश में उड़ते ये परवाने और पक्षी, बनों में विचरते सिंह व हाथी और इन बसे हुए ग्राम और नगरों में नर और नारी इन में कौन बसता है ? एक चैतन्य या कुछ और ? इस पत्थर की शिला में कौन बसता था पहले, एक चैतन्य या कुछ और ? नये घर में चले जाने पर आज क्या तू अपने पुराने घर को अपना कहना छोड़ देता है ? इस प्रकार यह समस्त विश्व एक चैतन्य का निवास स्थान, कुछ वर्तमान काल में और कुछ भूतकाल का। विचार तो सही कि तू कौन है ? तू भी तो एक चैतन्य है। उनमें बसते चैतन्य में व तुझ में क्या अन्तर है ? अतः तू ही तो बसता है या बसता था इन सबमें, और इस प्रकार यह सब तेरा ही तो निवास स्थान हुआ। बस तू ही तो वह ईश्वर है, वह चैतन्य प्रभु है, वह ज्ञान ज्योति है, जिसका कि यह समस्त विश्व क्रमशः निवास स्थान रह चुका है, रह रहा है और आगे को रहेगा। क्या अब भी इस जगत के सर्व पदार्थों को ईश्वर का निवास कहने में कोई शंका है-तुझे ? किसी के प्राणों को बाधा पहुंचाना अपने निवास को बाधा पहुँचाना है, जिसे कोई सहन नहीं कर सकता और इसी अभिप्राय का नाम तो है प्राण संयम।

अब इधर आ। देख इस विश्व का दूसरा सुन्दर चित्रण जिसमें विश्व को ईश्वर की सृष्टि बना कर दिखाया जा रहा है। ओह ! कितना अच्छा है यह ? इसे देख कर तो मानों मुझे अपना सारा पिछला इतिहास ही याद आ गया। वह दिन जब कि बाह्य जगत के व्याकुलता उत्पादक वातावरण से अत्यन्त भयभीत हुआ मैं, घुस बैठा था एक ऐसी गुफा में, जिसमें प्रकाश आने के लिये कोई भी मार्ग न था। था एक अत्यन्त छोटा सा सुराख, जिसमें से अत्यन्त धीमी सी, एक छोटी सी रेखा बड़ी कठिनता से प्रवेश कर रही थी। अर्थात् भय के कारण कछुए की भांति ज्ञान के सर्व द्वार बन्द करके, मात्र एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान, खुला रख कर, जल, अग्नि वायु व बनस्पति आदि रूपों का सृजन करता फिरता था-मैं- उस व्याकुलता से बचने के लिये, तथा शान्ति पाने के लिये। यहाँ रहते२, भय के कुछ मन्द पड़ जाने पर, इच्छा हुई दूसरा द्वार खोल कर, इस जगत की ओर स्पष्ट देखने की, और मैंने सृजन किया, लट गेंडवे आदि दो इन्द्रिय धारी शरीरों का, और इसी प्रकार उत्तरोत्तर भय के अन्दर धीरे धीरे कमी होती चली गई। क्रमशः एक एक द्वार अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये और खोलता गया और सृजन करता गया तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय मन रहित व मन सहित शरीरों का। अधिक दिन किसी भी शरीर में रहना मेरे मन ने कभी स्वीकार न किया क्योंकि नवीनता भाती थी मुझे और इसलिये नये नये ढंग के शरीरों का सृजन करता, उनमें कुछ दिन रहता,

तबियत उकता जाने पर, या सन्तुष्ट न होने के कारण, एक एक को छोड़ता, आज इस मनुष्य के आकार वाले शरीर में बैठा, अपने ज्ञान के सर्व द्वारों से इस विश्व को देख रहा हूँ। कुछ भी तो ऐसा दिखाई नहीं देता, जो या जैसा, मैंने सृजन न किया हो कभी, यहां कुछ सृष्टि तो है, कि जिसको मैंने सृजन किया था, पर आज उसे छोड़ कर चला आया हूं- मैं, और वह कहलाने लगी है जड़। कुछ ऐसी है, जिसमें मेरी जाति के मेरे ही सगे भाई, चैतन्य प्रभु बैठे इस जगत की रचना को आश्चर्य सहित देख रहे हैं, और अनेक कल्पनायें, इसके सम्बन्ध में बना रहे हैं। मैं ही तो हूँ, जगतका रचयिता वह ईश्वर। कौन पदार्थ ऐसा है जिसे मैंने नहीं बनाया, यहाँ दीखने वाला पत्थर का खम्बा मेरे द्वारा उस समय बनाया गया था, जब मैं पृथ्वी रूप शरीर में बैठा था। इस चौकी में प्रयुक्त लकड़ी का सृजन मैंने बनस्पति का शरीर धारण करके किया था, यह सब मेरे मृत शरीर ही तो हैं। कितनी बड़ी महिमा है मेरी कि जिसे आज तक आंखें बन्द किये रहने के कारण स्वयं मैं जान न पाया। किसी भी प्राणी का नाश करना, अपनी ही सृष्टि का नाश करना होगा, बस इसी अभिप्राय को तो कहते हैं प्राण संयम।

और भी देख यह तीसरा चित्रण जिसमें सारा जगत एक ब्रह्म दिखाई देता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। वाह-वाह कितना सुन्दर! सो तो मैं हूँ, जितने भी विभिन्न जाति के शरीर हैं वह सब मेरे द्वारा सृजन किये जाने के कारण तथा मेरे निवास स्थान रहने के कारण मेरे ही तो हैं, वे सब मैं ही तो हूं, भूत रूप से या वर्तमान रूप से।

इन सब में वही तो भावनायें उठ रही हैं, जो मुझमें; इन सब की वही तो इच्छायें हैं, जो मेरी, यह सब उसी के लिये तो उद्यम कर रहे हैं जिसके लिये कि मैं। छोटा है कि बड़ा, कीड़ा है कि हाथी, वनस्पति है कि मनुष्य, सब में शान्ति की इच्छा, आहार, मैथुन व परिग्रह की आकांक्षा, भय खाकर रक्षा करने की भावना, क्या एक सी नहीं हैं। फिर इनमें और मुझमें क्या अन्तर है? यह सब मानों मेरे अन्तष्करण का ही तो प्रतिबिंब है, मैं ही तो प्रतिबिम्बित हो रहा हूं, इसके अतिरिक्त और दीखता भी क्या है यहां। जिसे अपनी या अपनी भावनाओं की खबर नहीं ऐसे विकारी दृष्टि वाले को ही सम्भवतः इन सब में और अपने में कुछ अन्तर दिखाई दे, अतः वह भेद भाव, वह द्वैत भाव तो भ्रम है। और यह जड़ पदार्थ- यह भी तो मेरा ही शरीर होने के कारण, मैं ही हूँ। कौन सा पदार्थ ऐसा है, जो मुझे इस समय मैं, मैं रूप दिखाई नहीं देता? मनुष्य भी मैं रूप, पशु पक्षी भी मैं रूप, पृथ्वी आदि भी मैं रूप, मेरा ही नाम तो ब्रह्म है। मैं ही पूर्ण चैतन्य प्रभु हूं, सर्वत्र मैं ही मैं, ब्रह्म ही ब्रह्म; और कुछ नहीं! अहा हा! कितना सुन्दर है रूप मेरा—सब में ही मैं और कुछ नहीं, "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, सर्व खल्विदं ब्रह्म-तत्वमसि" एक ब्रह्म ही ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं। यह ब्रह्म निश्चय से एक ही है, और वह तू ही तो है, कितनी सुन्दर बात है, साम्यता का उच्चतम आदर्श। किसी भी प्राणी को पीड़ा देना ब्रह्म को पीड़ा देना है, अपने को पीड़ा देना है—यही अभिप्राय तो है प्राण संयम का।

और भी देखो यह चौथा चित्रण, जिसमें सर्व विश्व एक कुटुम्ब दर्शाया गया है मैं चैतन्य तथा यत्र तत्र जहां देखूं चैतन्य, जिस शरीर में देखूं चैतन्य, मेरी जाति का मेरी बिरादरी का, मेरी

समाज का ही कोई भाई चैतन्य। ज्ञान के नाते, स्वरूप के नाते, इच्छाओं के नाते, सब हैं मेरे ही सहोदर भाई, सब एक चैतन्य की संतान अर्थात एक चैतन्य भाव के चित्र विचित्र रूप, और यह सब जड़, उस ही चैतन्य के शरीर, उस ही के निवास। छोटे बड़े रूप में सब चैतन्य मेरे भाई ही तो हैं, मेरे जैसे ही तो हैं, अतः यह सर्व विश्व ही तो है एक कुटुम्ब। सबकी प्रसन्नता है मेरी प्रसन्नता, और सबकी पीड़ा है मेरी पीड़ा। यही अभिप्राय है प्राण संयम का।

इन उपरोक्त चारों चित्रणों का सैद्धान्तिक अर्थ भी यहां बता देना योग्य है। पहले जीव, अजीव, आस्रव व बन्ध तत्वों का निरुपण किया जा चुका है, जिस में बताया गया था कि जीव तत्व अर्थात् यह चैतन्य अपने से पर स्वरूप शरीर या नाम रूपों में ममत्व बुद्धि करके बराबर अन्तरंग में संस्कारों का तथा बाहर में कर्मरूप जड़ पदार्थ का बन्ध करता रहता है, जिसके फलरूप बराबर नये नये शरीरों का या नाम रूपों का स्वतः निर्माण होता रहता है। जैसे कर्म करता है वैसे ही शरीर का निर्माण हो जाता है। इसलिये यदि इस चैतन्य को शरीर का निर्माता या सृष्टा कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। इस प्रकार के एक दो नहीं अनन्तों शरीर या रूप अनादिकाल से आज तक यह बना चुका है। वास्तव में लोक में दिखाई देनें वाला कोई रूप या शरीर ऐसा नहीं जो इसने अनन्तों बार बना बना कर छोड़ न दिया हो। अतः यदि किसी एक चैतन्य के पूर्व के सर्व जीवनों व रूपों को दृष्टि में लूं तो ऐसा दिखाई देने लगता है कि सारे ही दृष्ट रूपों का सृष्टा यह रह चुका है, और आज भी जो कुछ यह पसारा दिखाई दे रहा है वह सब इस चैतन्य तत्व द्वारा ही सृजन किया जा रहा है। यह चैतन्य एक नहीं है,अनन्तों हैं अतः प्रति समय होने वाली उन सबकी सम्मिलित रूप सृष्टि भी अनन्त है। यदि एक चैतन्य जातीयता रूप से देखा जाये तो वे अनन्त चैतन्य एक चैतन्य नाम से ही पुकारे जाने के कारण एक हैं। यह परम चैतन्य ही वह 'ईश्वर', 'ब्रह्म' या 'पुरुष' है, तथा वह कर्म नाम जड़ पदार्थ ही 'प्रकृति' शब्द का वाच्य है। इस प्रकार पुरुष व प्रकृति मिलकर विश्व के सृष्टा हैं। इन सब ही दृष्ट रूपों में यह चैतन्य तत्व रूप ईश्वर बसता है या पूर्व भवों में बसता था। इस प्रकार ये सबही ईश्वर का निवास स्थान हैं। इसे ही विशाल दृष्टि से देखने पर यदि भूत और वर्तमान का विकल्प हटा दिया जाये तो सर्वत्र एक ईश्वर, एक ब्रह्म या एक पुरुष, या एक चैतन्य तत्व, तथा उसके ही चित्र विचित्र रूपों के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। इस प्रकार सर्वत्र एक अखण्ड ब्रह्म तत्व के दर्शन होते हैं। अनन्त चेतनों की एक जातीयता के कारण ही इसे एक जीव तत्व की संतति कहा जाता है। इस प्रकार यह सर्व विश्व एक चैतन्य का कुटुम्ब बताया गया है। अध्यात्मिक अर्थ में विशालता होती है, अतः विशाल दृष्टि से देखने पर हो उस अर्थ की सुन्दरता का भान होता है अन्यथा नहीं।

इन चारों विख्यात दृष्टियों में कहां है वैमनस्य को स्थान, कहां है द्वेष को स्थान, कहां है घृणा को स्थान, कहां है क्रूरता को स्थान ? जहां सर्वत्र मेरी ही सन्तान है, जहां सर्वत्र मेरा ही निवास है, वहां प्रेम के अतिरिक्त और किसी बात को अवकाश नहीं, सर्व सत्व में मैत्री, सर्व प्राणियों में प्रेम, सर्व में साम्यता, जहां छोटा बड़ा कोई नहीं, कीटाणु व मनुष्य में भेद नहीं। वही तो है यह महान अन्तरङ्ग अभिप्राय, जो प्राण संयम का मूल है। यह दृष्टि अहिंसा का आदर्श है, "अहिंसा परमो धर्मः", साम्यता, वीतरागता, प्रेम, शान्ति व सर्वस्व है।

इस विश्व प्रेम के भाव में से स्वतः ही निकल आयेगा, एक वह भाव, जिसकी आज राष्ट्रीय दृष्टि से भी इस विश्वको बड़ी आवश्यकता है। जो अहिंसा या प्राण संयम का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, विशेषतः मानव समाज में और वह है निष्परिग्रहता, जिसका कुछ संकेत हिंसा के अनेकों अङ्गों वाले प्रकरण में आ चुका है। इस भाव का विस्तार करने की आज बड़ी आवश्यकता है, अतः कल से वही बात चलेगी।

ये हैं प्राण संयम के अनन्य आदर्श, अहिंसा की साक्षात मूर्ति, विकल्प जालों व लौकिक संस्कारों से पूर्णतया मुक्त, निज अध्यात्म विभूति व पूर्ण शान्ति के भोक्ता जिनके प्रभाव से वैर विरोधी जीव भी वैर त्याग कर शान्त हो जाते हैं।

❀ निष्परिग्रहता ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ५९

१—नग्नता के प्रति भक्ति, २—नग्नता के प्रति करुणा, ३—नग्नता के प्रति घृणा, ४—जीवन परिवर्तन की प्रेरणा, ५—नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध, ६—किंचित मात्र भी परिग्रह का निषेध, ७—निष्परिग्रहता व साम्यवाद, ८—विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता, ९—निष्परिग्रहता का विश्व के प्रति उपकार, १०—निष्परिग्रहता का अर्थ, ११—आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश, १२—परिग्रह दुःख के रूप में, १३—निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है।

१ नग्नता के प्रति भक्ति

भवार्णव के संताप से विह्वल हुआ मैं, आज परम सौभाग्य से शान्ति के प्रतीक वीतरागी गुरुओं की शीतल शरण को प्राप्त करके, अपने को धन्य मानता हूं, संतुष्ट व कृत-कृत्य सा अनुभव करता हूं। मानों आज मुझको गुरुओं का वह प्रसाद प्राप्त हुआ है, जिसकी खोज में कि मैं कहां कहां नहीं भटका? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, व हरित काय के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की; लट, चींटीं, मक्खी, गाय कबूतर व मछली आदि के शरीरों में रह रह कर मैंने जिसकी खोज की; अनन्त बार मनुष्यों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की और देवों के शरीरों में रह रह कर जिसकी मैंने खोज की; परन्तु इतना करने पर भी, जिसे मैं न पा सका। आज उसे पाने की पूर्ण आशा है। यह आज अकस्मात् ही मैं कहां आ गया हूं, किनको देख रहा हूं अपने सामने? एक शांत छवि को धारण किए, रोम रोम से शान्ति का संचार करते, यह कौन हैं? एक मधुर व शान्त मुस्कान के द्वारा, मेरा हृदय मुझसे छीनने का प्रयत्न करने वाले, यह महर्षि कौन हैं? धागे का एक ताना मात्र अपने शरीर पर न रखते हुए भी, अत्यन्त प्रसन्नचित, यह महात्मा कौन हैं? किस देश के वासी हैं यह? कैसा विचित्र है जीवन इनका, कैसी आकर्षक है आभा इनकी, यह सब स्वप्न तो नहीं है? नहीं नहीं, पुनः पुनः आंख मल मल कर देखने पर भी यह वही तो हैं, यह धोखा नहीं सत्य है, परम सत्य है।

२ नग्नता के प्रति करुणा

यह हैं वह योगी, जो राज्य घरानों में पले है, जिन्होंने कभी मखमल के गद्दों से पांव नीचे न उतारा, जिनको धान का एक तुष मात्र भी बिस्तर पर पड़ा न सुहाया, जो रत्नों के प्रकाश में पले। परन्तु आज! कुछ दुःखी से लगते हैं मुझे, कुछ निर्लज्ज से प्रतीत होते हैं मुझे, कुछ असभ्य से प्रतीत होते हैं मुझे—इस नग्न शरीर पर—अग्नि बरसाती तथा बनों में दावाग्नि उत्पन्न

करती, ज्येष्ठ की लू व धूप, पोष माघ की सर्दी का बड़े बड़े वृक्षों को फूंक डालने में समर्थ तुषार, बरसात का मूसलाधार पानी, सैंकड़ों मच्छरों के तीखे डंकों द्वारा एकदम किया गया आक्रमण, मक्खियों की अठखेलियों के कारण होने वाला उत्पात आदि सब प्राकृतिक प्रकोपों को सहने के कारण अरे रे ! इनका सा दुःखी आज कौन है ? शरीर पर जमी मैल बता रही है, कि वर्षों से स्नान भी सम्भवतः इन्होंने किया नहीं । इस मैल के कारण उत्पन्न हुई खाज से अवश्य ही व्याकुल हो रहे होंगे । घर बार के बिना खुले आकाश के नीचे, बीहड़ बनों में भयानक जन्तुओं की चीत्कारों से इनको अवश्य भय लगता होगा । पेट भर खाने पीने के लिये भी तो इनके पास कोई साधन नहीं । अरे रे ! कितने दुःखी हैं बेचारे । चलूं इनसे पूछूं तो सही, कि क्या चाहिये इन्हें ? आज तो मैं सर्व समर्थ हूं, जो चाहिये सो दूंगा, मैं इन्हें इस दशा में देख नहीं सकता, दया से मानों हृदय पिघल कर बह निकला है मेरा ।

३ नग्नता के प्रति घृणा

और फिर नंगे धड़ंगे, स्त्रियों के बीच में, इस प्रकार बैठे रहना, व नगर में विहार करते हुए, नग्न रूप में इस प्रकार स्त्रियों के सामने से निकलना, बिना स्नान के मैला कुचैला रहना, कुछ अच्छा भी तो नहीं लगता—कोई क्या विचारेगा ? नहीं, नहीं यह पुरुषों का अपमान है, यह मनुष्य मात्र के नाम पर कलंक है, मैं यह सहन न कर सकूंगा, इन्हें मेरी बात माननी ही होगी, यदि इनके पास कुछ नहीं है तो मैं इनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करूंगा । अरे परन्तु इनसे यह तो पूछूं, कि यह कौन है, और यहां खाली बैठे क्या करते हैं ? पुरुष का महत्व पुरुषार्थ से है, इस प्रकार ठाली बैठे रहना ही यदि इनका लक्ष्य है, तो अवश्य यह जीवन में आवश्यक तथा योग्य व्यापार धन्ध के कर्तव्य से पराङ्मुख होकर पुरुषार्थ से घबरा कर, भागा हुआ कोई नपुंसक है । इतनी कायरता—पुरुष का रूप धारे क्या इसे इस कायरपने से लज्जा नहीं आती ? तू कहां तक ऐसों को सहायता करता फिरेगा जो अपने कर्त्तव्य को भूले हैं, ये मनुष्य तो हैं ही नहीं पर तिर्यञ्च भी नहीं हैं । ये पृथ्वी के ऊपर भार हैं, देश के कलंक हैं, इनको अवश्य कुछ न कुछ करना ही चाहिये, स्वयं न करें तो भी इन्हें बलात् करना पड़ेगा । अपाहिज भी तो नहीं हैं, हृष्ट पुष्ट शरीर और फिर यह हालत । आज जबकि विश्व आगे बढ़ा जा रहा है, भारत में ऐसे फकीरों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिये । यह घृणा के पात्र हैं भारत सरकार को अवश्य इनको काम पर लगाने का प्रबन्ध करना चाहियें, ऐसे २ विचार भी पैदा हो जाते हैं किसी अनभिज्ञ व्यक्ति को उन वीतरागी अपरिग्रही सन्तों की जीवन धारा के सम्बन्ध में ।

४ जीवन परिवर्तन की प्रेरणा

और इसी प्रकार भक्ति-दया व घृणा के हिंडोले में झूलते हुए, तू क्या नहीं सोच रहा है—इनके सम्बन्ध में ? परन्तु यह क्या—विचार धारा में बहते हुए स्वयं अपने को व उस मधुर मुस्कान के अलौकिक आकर्षण को, व उस महात्मा के मस्तक पर प्रगटे तेज को भूलकर ही तो सोच रहा है । भो चेतन ! कहां जा रहा है तू ? देख एक बार पुनः उसी दृष्टि से उस शान्त छवि की ओर, और मिलान कर अपने अन्तरंग से प्रगटे उस तूफान से उनके अन्तरंग में बहते हुए शान्ति सुधा सागर का । भावनाओं के आवेश में तूने क्या २ विचारा, और व्याकुल चित्त हो अविवेक पूर्वक क्या क्या कह डाला, परन्तु उधर वही शान्ति, वही मुस्कान, वही आकर्षण । तनिक भी तो बाधा न पड़ी उधर, किंचित झलक मात्र भी तो क्षोभ या भय दिखाई नहीं देता उधर । निर्भीक, निशंकित, निराकांक्ष, ग्लानि रहित, निज शान्ति में मग्न, वह अब भी मानों तेरी व्यथा पर करुणा करके तुझे इस शान्ति का रसास्वादन कराने के लिए अपने जीवन से प्रेरणा दे रहे हैं कि:—

भो चेतन ! अन्तर उद्वेग को एक क्षण के लिये शान्त करके सुन तो सही, कि मैं क्या कहता हूं। यह तेरे कल्याण की बात है, शान्त चित्त करके सुनेगा, तो अवश्य तुझे कुछ अच्छी लगेगी। अपने कल्याण की बात, और अपने हित की बात, अपने सुख की बात, सुन कर कौन ऐसा है, जो उसकी अवहेलना करेगा? अपनी शान्ति से भटका हुआ, व्याकुल चित में झुंझलाहट के कारण भले ही तू अनेक इष्टानिष्ट तथा अहितकारी व संतापजनक विकल्प जाल का निर्माण करता हुआ, स्वयं उसमें उलझा जा रहा हो, परन्तु इस दशा में भी, मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, कि उस शान्ति के प्रति तेरे चित्त में प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ, वह आकर्षण अब तक भी विलीन नहीं हो पाया है। उस आकर्षण को, उस जिज्ञासा को अपने हृदय में टटोल कर, उसके बहुमान पूर्वक एक बार तो मेरी बात सुन।

भो चेतन ! कभी भक्ति, कभी दया और कभी घृणा के जो अनेक विकल्प इस थोड़ी सी देर में तेरे चित्त में उत्पन्न होकर, स्वयं तुझे व्याकुल बना तेरी शान्ति तुझ से छीन कर ले गए, तेरे घर में डाका डाल कर तेरा सर्वस्व हरण करके ले गए, तुझको भिखारी व दुःखी बना गए, उनका कारण तेरी ही अपनी कोई भूल है, कोई दूसरा नहीं। वह थी भूल, जिसके कारण कि तू अनादि से इसी विकल्प सागर के थपेड़े सहता चला आ रहा था परन्तु आज सौभाग्य वश तुझे यह तख्ता दिखाई पड़ा है, अब इसको मत छोड़। उस अपनी भूल के कारण आज तुझे यह भी याद नहीं रहा, कि जिसको अपने सामने देख कर तू भक्तिवश नत मस्तक हो गया था, वह कोई और नहीं, वह है वही तेरा पुराना साथी, जिसके साथ अनेक पूर्वभवों में प्रेम सहित तू खेला करता था, तथा द्वेष के वश जिसे तू चिड़ा चिड़ा कर तङ्ग किया करता था। स्पर्शन इन्द्रिय से संतप्त हो अनेकों बार जिसके शरीर को तूने खड्डी पर बुना, भट्टे में पकाया। जिह्वा इन्द्रिय की मार को न सह सकने के कारण, जिसके शरीर को अनेकों बार तूने कोल्हू में पेला, छुरी से काटा, बन्दूक की गोली से छेदा व कढ़ाई में तला। नासिका इन्द्रिय का दास हो जिसके शरीर को तूने अनेकों बार भभके में डाल कर उबाला। नेत्र इन्द्रिय के द्वारा मूर्छित हो जिसके शरीर को अनेकों बार भूसा भर भर कर अपने कमरे को सजाया। कर्ण इन्द्रिय से जीते गए तूने जिसके शरीर को अनेकों बार जन्त्री में को खींचा, छेदा व भेदा, तथा और भी बहुत कुछ किया। परन्तु घबरा नहीं, भय न कर, आज मैं तुझ से बदला लेने को नहीं आया हूँ, मेरे हृदय में अब किसी के प्रति भी द्वेष नहीं है। वह पहले की बातें अब मैं बिल्कुल छोड़ चुका हूँ, मुझ पर विश्वास कर, यदि पहले की भांति द्वेषादि भाव बनाए रखे होता तो तुझे आज मुझ में इस शान्ति के दर्शन न हो पाते, यह शान्ति ही तुझे मेरी सच्चाई को गवाही दे कर विश्वास दिलाने को पर्याप्त है। मैं किसी और देश का निवासी नहीं, उसी लोक का निवासी हूँ तथा था, जिसका कि तू है। तू स्वप्न नहीं देख रहा है, जो देख रहा है वह सत्य है, परम सत्य है।

"परन्तु यह महान अन्तर कैसा ?" "आप इतने शान्त और मैं वैसा का वैसा ?" तेरे अन्तर में उत्पन्न होने वाला यह प्रश्न स्वाभाविक ही है, क्योंकि अन्तर स्पष्ट है। इस अन्तर को देख कर यदि मेरी इस शान्ति में तुझे कुछ सार दिखाई देता हो, तो तू यह पूछ, कि क्या किसी प्रकार तुझे भी यह प्राप्त हो सकती है ? हां हां अवश्य हो सकती है। ध्यान पूर्वक विचार, तेरे द्वारा बराबर होने जाने वाले तथा बाधित किये जाने वाले, निःशक्त व बलहीन तेरे साथी अर्थात मैंने, जब उसे प्राप्त

कर लिया, तो इस ऊंची व सर्व समर्थ, तथा बुद्धि शाली, मनुष्य अवस्था में स्थित, क्या तेरे लिए इस का प्राप्त करना कठिन है ? नहीं ! तेरे लिये तो बड़ा सहल है । मुझको तो उपाय बताने वाला भी कोई न था, और तुझको तो मैं उपाय बता रहा हूं, वही उपाय जिसको मैंने अपने जीवन में अपनाया था, उसी उपाय का अनुसरण करके, अपने जीवन में मेरे कहे अनुसार कुछ फेर फार कर । भूल व भ्रम को छोड़, धैर्य रख, साहस कर, तथा आज ही से उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न कर । प्रत्येक जीव बराबर की सामर्थ्य नहीं रखता, किसी में शक्ति अधिक होती है, तथा किसी में कम । यदि तुझ में शक्ति की हीनता है, तो भी मत घबरा, बड़ा सहज उपाय बताऊंगा, जिसको अल्प शक्ति का धारी भी पाल सकता है । परन्तु एक बार ऐसा होने का लक्ष्य अवश्य बनाना होगा, जैसा कि मैं हूँ ।

लक्ष्य पूर्णता का होता है और उसकी प्राप्ति का उपाय क्रम पूर्वक । लक्ष्य एक क्षण में कर लिया जा सकता है, परन्तु प्राप्ति शनैः शनैः हीनाधिक समय में होती है, लक्ष्य बनाने से जीवन में बाधा नहीं आती किन्तु उसकी सिद्धि के लिये जीवन में कुछ परिवर्तन लाना होता है । उपाय प्रारम्भ करने अर्थात मार्ग पर प्रथम पग रखने से पहले, लक्ष्य बना पूर्णता का, जीवन के उस आदर्श का, जिसे कि तू मुझ में देख रहा है, अर्थात सर्व सङ्ग विमुक्तता, निष्परिग्रहता, निरीहता का ।

५ नग्नता के प्रति करुणा व ग्लानि का निषेध

डर मत ! जिस नग्नता में तुझे कष्ट व दुःख दिखाई दे रहा है, वहाँ दुःख है ही नहीं, वहां तो है शान्ति, विकल्पों का अभाव, इच्छाओं का निरोध, चिन्ताओं से मुक्ति । शान्ति के उस मधुर आस्वाद में, बाहर की इन तुच्छ बाधाओं की क्या गिनती ? गरमी, सर्दी, बरसात, मच्छर, मक्खी, शरीर पर मैल आदि की बाधायें, उसी समय तक बाधायें हैं, जब तक कि, शान्ति रस का आस्वाद आता नहीं । तेरे हृदय मे उत्पन्न हुआ वह करुणा का भाव, तेरे लिए ठीक ही है, क्योंकि उस मधुर स्वाद की अनुपस्थिति में लौकिक जीवन की ये बाधायें स्वभावतः ही बड़ी दिखाई दिया करती हैं, परन्तु उन में यदि स्वाद आने लगे तो ऐसा नहीं हुआ करता । सुगन्धि में मस्त भंवरा क्या फूल के बन्द होने की बाधा को उस समय गिनता है ? प्रकाश पर लुभायमान पतंग, क्या अग्नि की दाह से उस समय घबराता है ? मार खाते हुए भी क्या बिल्ली, अपने पंजे में आये हुये चूहे को छोड़ देती है ? मैथुन सेवन के समय, पर स्त्री गामी मनुष्य उसके स्वामी की आवाज सुन लेने पर भी, क्या उससे आने वाले भय को गिनता है ? तथा किसी सौदे में बहुत बड़ा लाभ का समाचार आने पर उधर जाने के लिए, क्या तू टांग की पीड़ा से भय खाता है ? कन्या के विवाह के अवसर पर इधर-उधर दौड़ते हुए क्या तुझे सर्दी या गरमी लगती है? तो भला इस अलौकिक आस्वाद के वेदन में साक्षात् मग्न मुझे सर्दी-गरमी आदि बाधाओं की क्या चिन्ता यहां उनका भान भी होने नहीं पाता, अतः मुझ पर तेरा करुणा भाव निरर्थक है । तू भी इन बाधाओं से भय खा कर निष्परिग्रहता से मत डर, इसमें से तुझ सुख व शान्ति मिलेगी, दुःख नहीं ।

नग्नता को देख कर तेरे अन्दर जो लज्जा भाव प्रगट हुआ है, वह भी इस आस्वादन में निःस्सार है । नग्नता में लज्जा को अवकाश उसी जगह है जहां मन के अन्दर विकार हो । मन विकृत होने पर नग्न रहने वाले को स्वयं लज्जा प्रतीत होगी, और उसे देखने वाले को भी । परन्तु जहां लज्जा का स्थान शान्ति व साम्यता ने लिया, जहां पुरुष व स्त्रीपने का भेद दीखना बन्द हो गया, जहां मनुष्य-तिर्यञ्च, देव व नारकी में कोई भेद न रहा, जहां सर्वत्र निज जाति स्वरूप चैतन्य का ऐश्वर्य दृष्टिगत होने लगा, जहां द्वैत भाव का विनाश हुआ, स्त्री व माता का भेद मिट गया, पिता व

पुत्र एक दीखने लगे, एक ब्रह्म ही मानों सर्वत्र व्यापक रूप से दीखने लगा, वहां कहां अवकाश है चित्त विकार को, तथा नग्नता सम्बन्धी लज्जा को ? और ऐसे साम्य भाव के मन्दिर, रोम रोम से शान्ति प्रवाहित करते उस निष्परिग्रहता के आदर्श स्वरूप नग्न शरीर को देख कर, देखने वाले की दृष्टि उसकी नग्नता पर जाएगी ही क्यों ? वह तो दर्शन करेगा उसमें अपनी अभीष्ट शान्ति के।

एक दृष्टान्त है-भागवत पुराण का। ऋषि पुत्र शुकदेव अपने पिता से रूठ हो शान्ति की खोज में निकल भागा, पिता भी उसको पकड़ने के लिये पीछे दौड़ा। आगे आगे पुत्र और पीछे पीछे पिता दौड़े जा रहे हैं परन्तु पिता वृद्ध होने के कारण उसे पकड़ नहीं पा रहे हैं। पुत्र का हृदय केवल एक भाव के अतिरिक्त सर्वतः शून्य है, वहां है केवल एक भाव शान्ति की पवित्र उपासना। दशों दिशाओं में मानों उसे शान्ति ही शान्ति दिखाई दे रही है, और कुछ नहीं। अपनी धुन में उसे इतनी भी होश नहीं कि भागते समय उसकी धोती तन से उतर कर पीछे ही रह गई है। पिता की धोती भी भागते भागते ढीली हो चुकी थी। एक नदी के किनारे जहां कुछ स्त्रियें स्नान करती थीं, वह उसे सम्भालने के लिये कुछ देर को रुक गये। लज्जा सहित धोती को सम्भालते हुए उसको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि स्त्रियाँ उससे कुछ शर्मा गई थीं,तथा अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न कर रही थीं। क्रोध से भरे ऋषि बोले, कि निर्लज्ज ! मुझे बूढ़े खूसट को देख कर शर्मा रही हो, और वह पच्चीस वर्ष का युवक मेरा पुत्र बिलकुल नग्न तुम्हारे सामने से भागा चला गया, तब तुम्हें कुछ न हुआ ? स्त्रियों ने उत्तर दिया, कि ऋषि क्रुद्ध न हूजियें, आपसे लज्जित होने का कारण स्वयं आपके हृदय में छिपा वह विकृत भावहै, जिसके आश्रय पर आपने हमारी ओर लक्ष्य करके हमारी लज्जा को ताड़ लिया,और आपके पुत्र से लज्जा न करने का कारण, उसके हृदय की वह निर्मलता थी, जिसके कारण कि वह सम्भवतः यह भी न जान पाया कि उसके अतिरिक्त यहां और भी कोई है।

दूसरे ढङ्ग से भी, क्या आपने आज से ३० वर्ष पूर्व स्वयं १० वर्ष तक के नग्न बालकों को उस ही अवस्था की नग्न बालिकाओं के साथ खेलते नहीं देखा ? उस समय उन बालक बालिकाओं को तथा आपको भी उस नग्नता को देख कर लज्जा नहीं आती थी। परन्तु आज क्या ऐसा देख सकना आप गवारा कर सकते हैं ? नहीं ! कारण कि १० वर्ष तक के बालकों में भी अब विकार उत्पन्न हो चुका है, आपके हृदय भी आज उतने पवित्र नहीं हैं, तभी तो आज नव जात शिशु को भी लंगोट लगानें की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु जिनका हृदय इन विकृत भावों से सर्वथा पवित्र हो चुका है, तथा साम्यता का जिनके हृदय में वास हो चुका है, उन्हें लज्जा से क्या प्रयोजन ?

तन के मैल को देख कर ग्लानि उत्पन्न होना भी तेरे मन का विकार है। जिनकी दृष्टि में शरीर की अपवित्रता प्रत्यक्ष भासी है, उन्हें स्नान करने से क्या प्रयोजन ? विष्टा के घड़े को ऊपर से धोने से क्या लाभ ? बाहर से इसका पवित्र होना तो असम्भव है। इस शरीर रूप मन्दिर की पवित्रता तो इसके अन्दर बैठे देव की पवित्रता से है, यह सुगन्धित है उसकी सुगन्धि से। अर्थात् आत्म शान्ति, सरलता व साम्यता ही इसकी वास्तविक पवित्रता है। जो नित्य ही इस सद्गुण रूपी

अनुपम गंगा में स्नान करते हैं, उन्हें इस बाह्य स्नान से क्या प्रयोजन ? तथा यह शरीर जिनके लिए परिग्रह बन चुका है, इसमें जिनको पृथकत्व भासने लगा है, यह जिनको अपने लिए कुछ भार दीखनें लगा है, वे उसकी सेवा में अपना समय व्यर्थ क्यों खोयें ? स्नान के लिए जल मांग कर लाने के विकल्प द्वारा चित्त में अशान्ति क्यों उत्पन्न करें ? उनको तो भोजन करना भी बेगार सरीखा दीखता है, वे बराबर उस समय की प्रतीक्षा में हैं, जब कि वे निराहार ही रह सकें और इसी लिए महीनों के उपवास करके भी अपनी शान्ति से विचलित नहीं होते। इसी प्रकार अन्य अनेकों विकल्प भी खड़े नहीं रह सकते, यदि शान्ति व वीतरागता में रंगी नग्नता का मूल्य समझ लिया जाए तो। इस नग्नता का मूल्य समझा था ऋषि भर्तृहरि ने, जो अभी तक यद्यपि दिगम्बर साधू नहीं हुए थे पर शीघ्रातिशीघ्र वैसा होने की भावना करते थे। अपने वैराग्य शतक में उन्होंने ऐसी भावना प्रगट की है, कि कौनसा वह शुभ दिन होगा जब कि पाणिपात्र दिगम्बर होकर, अर्थात हाथ में रखवा कर भोजन करने वाला वीतराग नग्न रूप को धारण करके वह बन बन विचरण करेंगे।

६ किंचित् मात्र भी परिग्रह का निषेध

"लंगोटी रख लें तो क्या हर्ज होता है ? छोटी सी तो बात है, कोई विशेष हानि भी तो नहीं है?" ऐसा प्रश्न उपस्थित हो सकता है। भाई ! तेरी दृष्टि शरीर को ही देख पा रही है, उस शान्ति पर वह अब तक न पहुंच सकी। यदि पहुंच पाती तो यह प्रश्न ही न होता, तू लंगोटी मात्र ही को न देख कर-देख उस लंगोटी की रक्षा सम्बन्धी विकल्पों को, जो उसके होने पर चित्त में उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते। इस सम्बन्धी वह कथा आप सबको याद है जिसमें एक लंगोटी की रक्षा के लिये, साधु महाराज को पहले बिल्ली, फिर कुत्ता, फिर बकरी और गाय बांधने की नौबत आई, और गाय के एक खेत में घुस जाने पर महाराज को जेल के दर्शन करने पड़े। अन्य भी एक दृष्टान्त है उस साधु का जो घर घर से एक रोटी मांग कर खा लेता था, तथा इसी प्रकार अपना पेट भर लिया करता था, हाथ में ही किसी से पानी मांग कर पी लेता था, परन्तु जिसे एक कटोरी रखना भी गवारा न था। एक भक्त के कहने पर उसने बहुत सस्ती सी एक एलुमी-नियम की एक कटोरी पानी पीने के लिए स्वीकार कर ली। एक दिन संध्या के समय जंगल में जाते समय कटोरी शिवालय के बाहर पड़ी रह गई जिसकी याद उसको उस समय आई जबकि शिवालय से एक मील दूर बैठा वह संध्या कर रहा था। बस फिर क्या था, संध्या सम्बन्धी शान्ति भंग हो गई, उसका स्थान ले लिया कटोरी सम्बन्धी विकल्पों ने। कोई उसे उठा ले गया 'तो' ? हाय हाय ! उसका चित्त रो उठा, संध्या छोड़ दी और दौड़ा हुआ मन्दिर के द्वार पर आया, कटोरी वहीं पड़ी थी। बड़ा क्रोध आया अपनी भूल पर, यदि कटोरी न होती तो शान्ति काहे को भंग होती। उस अपनी भूल पर पछताया और कटोरी को तोड़ कर फेंक दिया जिसके कारण उसकी शान्ति भंग हुई थी। तो भाई ! शान्ति का मूल्यांकन हो जाने पर, यह सब वस्तुएं यहां तक कि लंगोटी मात्र भी व्याकुलता का घर दिखाई देने लगता है, शान्ति की रक्षा करने के लिये वह सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार है।

मुज़फ्फ़रनगर दिनांक ५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६०

७ निष्परिग्रहता व साम्यवाद

सम्पूर्णतया परिग्रह त्याग से अनेक प्रकार के लाभ ही लाभ होने का प्रकरण चल रहा है। एक अन्य प्रकार से भी उनकी यह पूर्ण निष्परिग्रहता अत्यन्त श्रेयस्कर है और वह दृष्टि है वह—जिसमें सर्व लोक अपना कुटुम्ब भासने लगता है, जिसकी कि विश्व आज मांग कर रहा है, जिसने रूस में जन्म पाया है, और बड़ी प्रगति से विश्व में फैली जा रही है, जिसको इतने बड़े राष्ट्र चीन ने अपनाया, जिसकी ओर कि धीरे धीरे हमारा भारत देश भी अब बढ़ रहा है। इतना ही नहीं बल्कि समस्त विश्व का अन्तष्करण आज जिसको स्वीकार कर रहा है, तथा शीघ्रातिशीघ्र जिसके प्रचारकी प्रतीक्षा की जा रही है। वह दृष्टि है साम्यवाद (कम्युनिज्म) की, अर्थात् सभी को, समान अधिकार दिलाने की। शान्ति के उस पुजारी के हृदय में, जिसको आज तू अपने आदर्श रूप में, अपने सामने देख रहा है, तथा भ्रम वश जिसको तूने अकर्मण्य व पृथ्वी का भार रूप मान लिया था, स्वयं एक क्रांति उत्पन्न हुई। जिस प्रकार ४ व्यक्तियों को अपने कुटुम्ब की आवश्यकताओं को पूरी कर देने के पश्चात् ही आप अपनी आवश्यकता का विचार करते हैं, जिस प्रकार अपने कुटुम्ब की प्रसन्नता से ही आप अपनी प्रसन्नता मानते हैं उसके सुख में ही अपना सुख समझते हैं, तथा उसके लिए अपना सर्वस्व त्याग कर भी आपको सन्तोष ही होता है; उसी प्रकार वह योगी जिसकी दृष्टि में साम्यता ने वास किया है, सर्व ओर से निराश हुई शान्ति ने जिसका आश्रय लिया है, जिसको सर्वत्र अपना ही रूप दिखाई देता है, जिसके लिये सर्व सृष्टि एक ब्रह्मस्वरूप दिखाई देती है जिसको सर्व प्राणी ईश्वर के आवास भासते हैं, जिसके लिये समस्त विश्व उसका कुटुम्ब है, जिसके लिये उस कुटुम्ब में से किसी एक की भी पीड़ा उसकी अपनी पीड़ा है, किसी एक का सुख भी उसका अपना सुख है, यदि वह इस विश्व के लिये अपना सर्वस्व त्याग दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। तेरी दृष्टि संकुचित है, इसी से उसके अन्तर परिणामों का परिचय पाने में असमर्थ है। वह विश्व का पिता है, अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं को, विश्व की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बलिदान कर देने में उसे प्रसन्नता ही है क्योंकि उसने यह कार्य किसी के दबाव से नहीं किया है, स्वयं विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहिचान कर किया है। भला ऐसा विश्व-पिता, क्या पृथ्वी का भार हो सकता है ? यह शब्द कहना तो दूर, सुनते हुए भी कलेजा कांप उठता है। जिसने विश्व के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया, वह पृथ्वी का भार नहीं बल्कि पृथ्वी का गौरव है, पृथ्वी के पापों का, इसके अपराधों का, व शापों का भार दूर करने वाला है।

८ विश्व की आवश्यकता निष्परिग्रहता

आज विश्व भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर प्रगति करते हुए भी शान्ति की दृष्टि से अवनति की ओर जा रहा है। चारों ओर त्राहि त्राहि मची है, नित्य की बढ़ती हुई आवश्कताओं की पूर्ति के योग्य पर्याप्त सामग्री के अभाव में असन्तोष बढ़ता जा रहा है। एक दूसरे की ओर संशय की दृष्टि से, भय की दृष्टि से, देख रहा है एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति की ओर लालच की दृष्टि से देख रहा है। आकाश पर छाये हुए युद्ध के बादलों नें अन्धकार कर दिया है,

विश्व जीवन व मृत्यु के झूले में झूल रहा है। जीवन निराश सा खड़ा अपने दिन गिन रहा है। दूसरी ओर अट्टहास करती मृत्यु अपनी अनेकों शक्तियों को साथ लिये भय का प्रसार कर रही है। जीवन भार बन चुका है, विश्व स्वयं अपने लिये भार बन चुका है, कैसी दयनीय अवस्था है इसकी आज। निष्परिग्रहता ही इसका प्रतिकार है अन्य कुछ भी नहीं।

६ निष्परिग्रही का विश्व के प्रति उपकार

वीतरागी व शान्त मुद्रा इन योगी जनों को पृथ्वी का भार बताने वाले ओ कृतघ्नी मानव! अब भी सम्भल, यदि जीवन चाहता है तो अपनी भूल पर पश्चाताप कर, जगत के भार को हरने वाले उन योगियों के अभाव के कारण ही वास्तव में आज जगत का भार बढ़ गया है और यदि अपने वचनों को वापिस लेकर, तूने पश्चाताप न किया तो अवश्य ही डूबे बिना न रहेगा। यह जगत को क्या दे रहा है? यह प्रश्न भी बड़ा असंगत है क्योंकि वास्तव में वह, वह कुछ दे रहा है जो कोई नहीं दे सकता—सुख का उपाय, एक जीवन आदर्श, जिस पर चल कर आज का मानव तथा समस्त विश्व इस भावी मृत्यु से अपनी रक्षा कर सकता है, वह सन्देश जिसका मूल्य त्रिलोक की सम्पत्ति से भी चुकाया नहीं जा सकता। यदि कोई उस सन्देश को ग्रहण न करे तो उनका क्या दोष? यह नहीं हो सकता कि किसी अच्छी विचारधारा के आचरण को यदि दूसरा कोई ग्रहण न करे तो वह भी उस मार्ग को छोड़ दें, यह कोई न्याय नहीं है।

डराने के लिए यह बात कही जा रही हो, ऐसा नहीं है, बल्कि सैद्धान्तिक सत्य बताया जा रहा है। निष्परिग्रही जीवन के साक्षात् अभाव के कारण, तथा उस आदर्श के प्रति बहुमान के स्थान पर घृणा का प्रवेश हो जाने के कारण ही आज का मानव दूसरे के प्रति, अपने कर्त्तव्य से विमुख हुआ, अत्यन्त स्वार्थी बना, दूसरों की आवश्कताओं की परवाह न करता, दूसरों की शान्ति को पद दलित करता, भूला हुआ, अपनी शान्ति की खोज करने का जो प्रयास कर रहा है, क्या उसमें फल लगना सम्भव है? कदापि नहीं, दूसरों की शान्ति को बाधित करके न कोई शान्त रहा है और न रह सकेगा। लालच की बढ़ती ज्वाला व अधिकाधिक संचय की भावना, स्वयं उसको भस्म कर देगी, उस अग्नि को सन्तोष के द्वारा ही बुझाया जा सकता है, एटम बम के द्वारा नहीं। निष्परिग्रही आदर्श योगियों के प्रति बहुमान के न रहने के कारण ही मैं अपनी मानवी संस्कृति को भूलकर राक्षसी संस्कृति को अपनाने दौड़ रहा हूं। केवल शत्रुता असन्तोष, चिन्तायें व भय ही मानों मेरा गौरव बन गया है।

भो प्राणी! तनिक विचार तो सही कि कब तक चलेगी यह अवस्था? तू नहीं तो तेरी सन्तान इसके दुष्परिणाम से बची न रह सकेगी। आज हमारी भारत सरकार भी देश में इस असन्तोष के बढ़ते हुए वेग की रोक थाम करने के लिये, अनेकों नियम लागू करती जा रही है, ये नियम तुझ भले प्रतीत नहीं होते। क्यों हों? संग्रह किया हुआ है जो तूने, पूंजीपति जो ठहरा तू। तुझे क्या परवाह दूसरे की आवश्यकताओं की, तेरा हृदय उन नियमों के विरुद्ध उपद्रव मचाने के लिये प्रेरित कर रहा है तुझे, पर क्या करे साहस नहीं। तेरे विचार वाले देश में हैं ही कितने? धिक्कार है उस स्वार्थ को, जिसने तेरे ही भाइयों के प्रति तुझे इतना क्रूर बना दिया है, अब भी सम्भल, भले कोई और न समझे तू तो समझ। तुझ को तो निष्परिग्रही गुरुओं की शरण प्राप्त हुई है, तेरे हृदय में तो इस आदर्श के प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ है, तू तो इन्हें पृथ्वी का भार कहने के लिये तैयार नहीं,

तूने तो उनको भव समुद्र में पड़ी नौका का खेवनहार स्वीकार किया है। इस आदर्श से तू तो कुछ ग्रहण कर, आदर्श का सच्चा बहुमान तो यही है, जो अपने जीवन को उस ओर झुका दे, केवल शब्दों में कहने व पाठ पढ़ने का नाम भक्ति व बहुमान नहीं है।

१० निष्परिग्रहता का अर्थ — यह आदर्श मूक भाषा मे भी तुझे निष्परिग्रहता का पाठ पढ़ा रहा है। "परिग्रह" अर्थात् "परि+ग्रहण"। 'परि' अर्थात् 'समन्तात्' सर्व ओर से ग्रहण। दशों दिशाओं से, हर प्रकार से, न्याय अन्याय व योग्यायोग्य के विवेक बिना निज चैतन्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के ग्रहण की भावना व इच्छा का नाम परिग्रह है। इस परिग्रह का त्याग सो निष्परिग्रह। केवल पदार्थ का नाम परिग्रह नहीं, बल्कि उसके ग्रहण की इच्छा का नाम भी परिग्रह है। यदि ऐसा न हो तो अत्यन्त असन्तोषी जीवन बिताने वाले निर्धन जन भी निष्परिग्रही कहलायेंगे। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि यह परिग्रह-निषेध वास्तव में पदार्थों के लिये या आदर्श की नकल के लिए नहीं कहा जा रहा है, बल्कि उनके ग्रहण की इच्छा के निषेध के लिये कहा जा रहा है। वह भी इसलिये की ये इच्छायें ही अशान्ति व असन्तोष की जननी हैं, और इनके अभाव में ही सन्तोष व शान्ति है। जिसे शान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये, उसके हृदय में कैसे अवकाश पा सकती हैं ये इच्छायें ? और इच्छाओं के अभाव में कैसे हो सकता है सम्पत्ति का ग्रहण व संचय ?

सरकारी नियम के दबाव में नहीं, बल्कि अपने हित के लिए, स्वयं अत्यन्त हर्ष व उल्लास पूर्वक, इन इच्छाओं के त्याग की बात है, किसी के दबाव से किया गया त्याग वास्तव में त्याग नहीं। इस परिग्रह अर्थात् संचय की इच्छा के कारण, कितने प्राणियों को तुझ से अनेकों प्रकार की पीड़ायें पहुँच रही हैं ? इसके आधार पर उपजे संकल्प विकल्प के जालों में फंस कर तू, क्या कुछ अनर्थ नहीं कर रहा है ? हिंसा का एक बड़ा भाग इसी इच्छा की महान उपज है, अतः परिग्रह हिंसा की जननी है यह महान हिंसा है। संयम का प्रकरण चलता है, जीवन को संयमित बनाने व हिंसा से बचने के लिए परिग्रह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना सर्व संयम निर्मूल्य है।

११ आंशिक निष्परिग्रहता का उपदेश — अहो कैसी उल्टी बात चलती हे ? लोग आते हैं प्रभु की पूजा को-इसलिये कि धर्म होगा, जिसके कारण अधिक धन मिलेगा, प्रभु पर छत्र चढ़ाते हैं इसलिए कि धन मिलेगा। परन्तु यहां बतलाया जा रहा है यह, कि प्रभु का दर्शन करो इसलिए कि उसका आदर्श जीवन में उतर जाये, जैसा निष्परिग्रही वह है वैसा ही मैं भी बन जाऊं। विचित्र बात है परन्तु आश्चर्य न कर क्योंकि वही वस्तु दी जा सकती है जो कि किसी के पास हो। इस निष्परिग्रही आदर्श के पास धन है ही कहां, जो तुझे दे देगा, इससे धन की याचना करना भूल है। इसके पास है निष्परिग्रहता, वीतरागता उसे ही यह दे भी सकता है, और दे रहा है, रोम रोम से वीतरागता की किरणें फूटी पड़ती हैं; कोई लेने वाला चाहिये। तू इस परम सौभाग्य से वंचित न रह, इस वर्तमान गृहस्थ दशा में भले ही एक दम, इस आदर्शवत्, पूर्ण निष्परिग्रही बनने में असमर्थ हो, पर धीरे धीरे त्याग का अभ्यास करते रहने से, क्या तेरे अन्दर वैसी ही शक्ति उत्पन्न न हो जायेगी ? अवश्य हो जायेगी, आवश्यक वस्तुओं का न सही, पर अनावश्यक वस्तुओं का त्याग तो सहन कर ही सकता है और इससे तेरे गृहस्थ में कोई बाधा भी तो नहीं आती। गृहस्थ को चलाने के लिये आवश्यकतानुसार

धन उपार्जन का न सही, पर आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन का तो त्याग कर सकता है और धीरे धीरे अपनी आवश्यकताओं में भी क्रमशः कमी की जा सकती है।

१२ परिग्रह दुःख के रूप में — परिग्रह के संचय की भावनाओं में अन्धा हुआ तू, दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूला तो भूला, परन्तु यह भी भूल गया कि जिसके पीछे तू सुख के लिये दौड़ रहा है वही तेरे लिये दुःख का कारण बन बैठा है। जिसका संचय तू अपनी रक्षा के लिये करता है, वह स्वयं तेरा हनन कर रहा है, तेरी शान्ति का घात कर रहा है। तू साक्षात् इसमें दुःख देखता हुआ भी नहीं देखता, यह महान आश्चर्य है। देख भाई! मैं दर्शाता हूं तुझे इस परिग्रह का स्पष्ट दुःख—तनिक ध्यान दे इन सुन्दर वस्त्रों की ओर जिनको तूने शरीर की रक्षा के लिये ग्रहण किया, परन्तु जिनकी रक्षा तुझे करनी पड़ रही है। थकावट अनुभव करते हुए भी, तथा बैठने की इच्छा होते हुए भी तू बैठ नहीं सकता, पैन्ट की क्रीज़ जो बिगड़ जाएगी, १००० रु० की साड़ी पर हुआ ज़री का काम जो खुसट जायेगा। आज वस्त्र तेरे लिए नहीं बल्कि तू वस्त्र के लिये है, क्योंकि वस्त्र शरीर की रक्षा के लिये न होकर आज शरीर को सजाने के लिये हैं। खेद है फिर भी इस वस्त्र को तू सुख का कारण मान रहा है।

क्या कभी ध्यान किया है घर में पड़े अड़ंगे की ओर, जिसकी रक्षा तू वर्षों से करता चला आ रहा है, परन्तु जो कभी तेरे उपयोग में नहीं आता। दिवाली के समय घर की सफाई करते समय, जब उसका ढेर तेरी दृष्टि के सामने आता है, तो तू स्वयं उसको देख कर घबरा जाता है, उसे फेंक देने की इच्छा करता है, परन्तु सफ़ाई कर लेने के पश्चात् सामान को यथा स्थान रखते समय पुनः वह अड़ङ्गा पूर्ववत् अपने स्थान पर पहुंच जाता है, और उस क्षणिक घबराहट को, जो तुझे उसे देख कर वरती थी, तू फिर भूल जाता है। तनिक विचार तो कर कि घर में पड़ा यह सब वस्तुओं का ढेर, यदि एक स्थान पर लगा कर देखे, तो कितनी वस्तुएं ऐसी होंगी, जो तेरे नित्य प्रयोग में आने वाली हैं? यदि सर्व वस्तुएं एक हज़ार हों तो सम्भवतः ५० वस्तुएं ही ऐसी मिलेंगी, जो नित्य प्रयोग में आ रही हों और कुछ १५० वस्तुएं ऐसी मिलेंगी जो कदाचित्, प्रयोग में आ जाती हों परन्तु शेष ८०० वस्तुएं तो ऐसी दिखाई देंगी उस ढेर में, जो कई वर्षों से काम नहीं आई हैं, और न ही जिनकी भविष्य में कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। या ऐसी हैं जिनका तेरी दैनिक आवश्यकताओं से तो सम्बन्ध नहीं, परन्तु नेत्र इन्द्रिय की तृप्ति के लिये, केवल अपनी दृष्टि में अपने कमरों को सुसज्जित बनाने मात्र के लिए रख छोड़ी हैं। कभी विचारा है-इस ओर कि इस अनावश्यक अड़ंगे को उठाने धरने के लिए, इसकी सफ़ाई के लिए, इसकी व्यवस्था के लिए, व इसकी रक्षा के लिए अनेकों विकल्पों से गुज़रते हुए, तुझे कितनी व्याकुलता होती है? पर खेद है फिर भी तू उसे सुख का कारण मानता है।

सुख तो है इच्छा की पूर्ति में परन्तु क्या धन संचय करने की इच्छा कभी पूरी होनी सम्भव है? तीन लोक की सम्पत्ति भी जिस इच्छा में परमाणुवत् भासती है, उसकी पूर्ति अनन्तानन्त जीवों में विभाजित उस सीमित सम्पत्ति से कैसे हो सकेगी? सम्पत्ति सीमित है और इच्छा असीम। इच्छा की पूर्ति के अभाव में तू कैसे इस धन संचय से सुख प्राप्त कर सकेगा? यह संचय तो तेरी इच्छा

को और भी भड़काने वाला है और इस कारण अधिक अशान्ति व व्याकुलता का कारण है, परन्तु आश्चर्य है कि इसको ही तू सुख का कारण मान बैठा है।

१३ निष्परिग्रही ही धनवान व सुखी है — भो चेतन ! अधिक धनवान बनने से लाभ भी क्या है ? अधिक धनवान कौन, क्या इस बात पर विचारा है कभी ? क्या वह, जिसका करोड़ों रुपया फालतू ही बैंकों में पड़ा है अथवा किसी फर्म में लगा है, या वह है जिसने सर्वस्व त्याग दिया है ? विचार तो सही कि क्या बैंक आदि में पड़ा या तिजोरी में पड़ा वह रुपया, या स्वर्ण आदि सम्पत्ति का उसे साक्षात् कोई भोग हो रहा है ? क्या वह उसके प्रयोग में आ रहा है ? उसका भोग तो कोई और ही कर रहा है, और सन्तोष हो रहा है इसे। क्यों ? केवल इस कारण कि इसकी बुद्धि में, इसके ज्ञान में, एक धारणा पड़ी है, कि अमुक स्थान पर पड़ा रुपया मेरा है। बस वह भोग तो रहा है केवल अपने ज्ञान में पड़ी उस धारणा को, और आनन्द आ रहा है उसे ऐसा, मानों वह स्वयं भोग रहा हो धन को। इसी प्रकार यदि तू भी सर्व विश्व को अपना कुटुम्ब समझ कर, विश्व रूपी बैंक में पड़ी त्रिलोक की सम्पत्ति में यह धारणा बना ले, कि यह सब मेरी ही है, मेरा कुटुम्ब ही इसे भोग रहा है, तो क्या तुझे वैसा ही आनन्द न आयेगा, जैसा कि उसे स्वयं भोगने से ? इस प्रकार देखने से तू ही बता कि दोनों में कौन अधिक धनवान प्रतीत होता है ? हींग लगे न फटकरी रंग चोखा ही चोखा। धन कमाने के विकल्पों में फंसे बिना तथा अशान्ति में पड़े बिना तीन लोक का अधिपति बनने की बात है और इस प्रकार वास्तव में सर्वस्व त्यागी ही यथार्थ धनिक है—भौतिक धन का भी, तथा सन्तोष धन का भी।

वैसा बनने का लक्ष्य बना है, तो क्यों इन दो चार ठीकरों की चमक में अन्धा हो अपनी शान्ति का गला घोंट रहा है। क्यों अपना कर्त्तव्य भूल बैठा है ? क्यों स्व व पर प्राणों का हनन कर रहा है ? समझ, इधर आ, सन्तोष धार, जीवन की आवश्यकताओं को सीमित कर, तथा उस सीमा से अधिक संचय करने का प्रयास करना छोड़ दे। आगरे के पं० बनारसी दास जी व पं० सदासुखदास जी का जीवन याद कर, वह भी गृहस्थी थे कि जिन्होंने शान्ति के लिये अपने ऊपर प्रसन्न हुए डिप्टी से, बजाय यह मांगने के कि उसका वेतन बढ़ा दिया जाये, यह मांगा था कि उसका वेतन ८ रुपये की बजाय ६ रुपये कर दिया जाये और काम बजाय आठ घन्टे के ६ घन्टे कर दिया जाये, जिससे कि वह शेष दो घन्टे में अपनी शान्ति की उपासना कर सके। यह उसी समय सम्भव हुआ जबकि उनकी दैनिक आवश्यकताएं बहुत कम थीं, उनका जीवन सीमित था, भौतिक धन से कहीं अधिक उनको दृष्टि में सन्तोष धन का मूल्य था। वैसा ही तू भी बनने का प्रयत्न कर और तू अनुभव करेगा साक्षात् रूप में, अपने जीवन में धीरे धीरे प्रवेश करती उस शान्ति को। यदि निष्परिग्रही आदर्श की शरण में आया है, यदि वीर प्रभु का व दिगम्बर गुरुओं का उपासक कहलाने में अपना गौरव समझता है, तो अवश्य अपने जीवन में उपरोक्त रीति से कुछ न कुछ सन्तोष उत्पन्न कर, सन्तोष धन ही वास्तविक धन है, यह प्रत्येक जीव के स्वामित्व में पृथक पृथक अपना अपना ही उत्पन्न होता है, किसी अन्य के द्वारा बटवाया नहीं जा सकता। सीमित इच्छा की पूर्ति में सन्तोष हो जाने के कारण यहां ही सुख सम्भव है। अतः सोना, चांदी, रुपया पैसा, घर जायदाद, कपड़ा, बर्तन, तथा तांगा, मोटर, पशु आदि वस्तुओं का व सजावट की वस्तुओं का परिमाण व सीमा बांध कर अपने जीवन को कुछ हलका बना। आदर्श की शरण प्राप्ति का फल यही है।

२६

❀ निर्जरा या तप ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६१

१—तत्व पुनरावृत्ति, २—तप का प्रयोजन, ३—तप की प्रेरणा, ४—बिना परीक्षा सन्तुष्टि का निषेध, ५—आंशिक तप की सम्भावना, ६—सस्कार तोडने का उपाय, ७—तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व, ८—संवर में निर्जरा, ९—संवर निर्जरा में अन्तर, १०—तप की आवश्यकता क्यों, ११—तप द्वारा शक्ति में वृद्धि, १२—तप में सफलता का क्रम, १३—संस्कारों के प्रति सावधानी, १४—गृहस्थ वातावरण में शान्ति को अवकाश, १५—एक नवीन संस्कार की आवश्यकता, १६—नवीन संस्कार का उत्पत्ति क्रम, १७—अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार, १८—नवीन संस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किञ्चित पुरुषार्थ आवश्यक, १९—कर्तव्य रूप छः क्रियाओं का निर्देश, २०—विनय, २१—वैयावृति, २२—स्वाध्याय, २३—त्याग, २४—सामायिक, २५—सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें, २६—प्रायश्चित की महत्ता व क्रम, २७—परिणामों के भेद प्रभेदों का पढ़ना, २८—परिणामों का हिसाब पेटा, २९—प्रायश्चित में गुरु साक्षी का महत्व।

१ तत्व पुनरावृत्ति **बात चलती थी यहां से कि मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नहीं, उसको कैसे प्राप्त किया जाये, यह प्रश्न था। उत्तर में क्रमशः पिछले बहुत दिनों से अनेकों प्रकरणों के द्वारा यह बताया गया कि वास्तव में शान्ति मुझ से कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, जिसे पकड़ कर कहीं बाहर से लाया जाने का उद्यम किया जाये ; बल्कि मैं स्वयं शान्ति स्वरूप हूं, क्योंकि मैं जीव हूं और शान्ति जीव का स्वभाव है। हां, यह शान्ति वास्तव में कुछ बाधित अवश्य हो रही है, इतनी कि मुझे यह भी खबर चल नहीं पाती कि यह मेरे अन्दर है कि बाहर किन्हीं मनोरंजक पदार्थों में। इन बाधाओं को यदि दूर कर दिया जाये, तो अन्दर में ही उस शान्ति का अनुभव हो जायेगा। यह बाधायें दूर की जानी शक्य हैं, क्योंकि यह नवीन उत्पन्न की गई हैं, मेरा स्वभाव नहीं है। तथा इनको उत्पन्न करने वाला मैं स्वयं हूं। किस प्रकार? सो बताते हैं—अपने से पृथक किन्हीं बाह्य पदार्थों में अपनी शान्ति की खोज करते रहने के कारण उन बाधाओं की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उनमें मेरी शान्ति है ही नहीं। वे**

अजीव तत्व हैं, उनका स्वभाव शान्ति है नहीं और यदि किन्हीं अपने से पृथक पर चेतन में शान्ति हो भी तो वे मुझे दे नहीं सकते क्योंकि यह मेरे अन्दर से ही उत्पन्न हो सकती है। इस प्रकार किया जा चुका है जीव व अजीव तत्व का निरूपण।

उनमें से अपनी शान्ति की खोज करते हुए, किन्हीं पदार्थों में इष्टता तथा किन्हीं में अनिष्टता की कल्पनाओं के आधार पर प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाला, तथा स्पष्ट अनुभव में आने वाला इष्ट की प्राप्ति व अनिष्ट के विच्छेद सम्बन्धी विकल्प समूह, मेरे अन्तर में चिन्ता की एक दाह सी उत्पन्न कर देता है। बस क्षण क्षण में नवीन नवीन होने वाला यह विकल्प समूह ही शान्ति का बाधक है। यह तत्व आगम भाषा में 'आस्रव' नाम से पुकारा जाता है। जिस जाति के विकल्प आज किये हैं, उसी जाति के पहले भी अनन्तों बार कर चुका हूँ, जो अब तक संस्कार रूप से मेरे अन्दर पड़े हैं। ये नवीन आस्रव रूप विकल्प, संस्कार रूप से पूर्व में पड़े हुए उसी जाति के विकल्पों के साथ मिल कर एकमेक होते रहते हैं, अर्थात मेरे उस जाति के पूर्व कृत्यों का पोषण करते रहते हैं। इस प्रकार निर्माण हो जाता है एक पुष्ट संस्कार का (एक इन्सटिंक्ट का), जो आगे आगे के मेरे जीवन में, स्वतः ही मुझे प्रेरित किया करता है-पुनः पुनः नवीन विकल्प रूप उस अपराध को दोहराने के लिये और इस चक्र में मैं सदा से अपनी शान्ति का घात करता चला आ रहा हूँ। इस संस्कार पोषण का नाम ही आगम में 'बन्ध तत्व' कहा है। इस प्रकार आस्रव व बन्ध तत्व को पहले सविस्तार समझाया जा चुका है।

ऊपर बताये अनुसार निज शान्ति प्रगट करने के लिये इन बाधाओं को अर्थात् नवीन विकल्पों की उपज को जिस किस प्रकार भी दबाते हुए, तथा संस्कारों को धीरे धीरे बल पूर्वक नाश करते हुए, एक दिन उन संस्कारों से रहित अत्यन्त पवित्र अबाधित व शाश्वत् अपनी शान्ति को प्राप्त किया जाना संभव है। नवीन विकल्पों के इस दमन का नाम ही 'संवर' है और संस्कारों को धीरे धीरे काटने या झाड़ने का नाम है 'निर्जरा'। सभी प्रकार के संस्कारों रहित मेरी पूर्ण शान्त दशा को ही आगमकारों ने 'मोक्ष' शब्द से कहा है। इन संवर निर्जरा व मोक्ष तत्वों में से संवर का प्रकरण आज पिछले कई दिनों से चल रहा है।

संवर के प्रकरण में केवल कुछ उन साधनों का कथन किया गया है, जिनमें प्रवृत्त हो जाने से कुछ समय के लिये शान्ति के बाधक विकल्प एक बड़े अंश में दब जाते हैं, और मैं उतने समय के लिये किसी दूसरे लोक की सैर करने लगता हूँ, अर्थात जितने समय तक देव प्रतिमा में शांति व वीतरागता के दर्शन करता हुआ; अथवा गुरु के रोम रोम व विशेषतः उनकी मुखाकृति से तथा उनके जीते जागते जीवन से कुछ प्रोत्साहित सा होता हुआ मैं कुछ देर के लिये अपने को स्वयं अपने उन विकल्पात्मक कृत्यों के लिये निन्दने लगता हूँ, उस प्रकार के वेदन के प्रति बहुमान उत्पन्न करता हूँ, उतने समय के लिये मैं भूल जाता हूँ-अपने दैनिक जीवन को तथा उन विकल्पों को। मैं होता हूँ उस समय शान्ति सुधा में स्नान करता हुआ, किसी दूसरे लोक में, देव व गुरु के अत्यन्त निकट। यही हालत उनकी वाणी के श्रवण करते व मनन करते अर्थात् स्वाध्याय करते हुए भी किंचित् समय के लिये होती है, और इस प्रकार मैं उतने समय के लिये बाधक विकल्पों का दमन अर्थात् संवरण करने

में कुछ सफल अवश्य होता हूँ। इसलिये इस अवस्था में आवश्यक रूप से उपादेय देव पूजा, गुरु उपासना व स्वाध्याय की क्रियायें 'संवर' हैं।

इनके अतिरिक्त अपने शेष जीवन से भी, यद्यपि मुख्यतः नहीं तो फिर भी किञ्चित मात्र इस विकल्प समूह के तीव्र प्रकोप के प्रशमनार्थ, पांचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति व मिठास के त्याग से तथा अनावश्यक विषयों के त्याग व आवश्यक विषयों में आंशिक आसक्ति के द्वारा अपने जीवन को संयमित बनाने का उद्यम करने की प्रेरणा दी गई है। क्योंकि जितने अंशों में विषयों में आसक्ति का अभाव हुआ, उतने अंशों में तत्सम्बन्धी विकल्पों का दमन होना अवश्यम्भावी है, इसे 'इन्द्रिय संयम' कह कर बताया गया है। शान्ति के उपासक में अपने सदृश्य ही विश्व के जीवों को एक चैतन्य तत्व के ग्रहण द्वारा, एक ऐसा भाव जन्म लेता है जिसके कारण कि दूसरे की पीड़ा अपनी पीड़ा दिखाई देने लगती है, और दूसरे को सुखी देख कर कुछ प्रसन्नता सी होती है। इस भाव विशेष के कारण स्वतः दूसरे को बाधा पहुँचाने या पीड़ा देने का तो प्रश्न ही नहीं, दूसरे के द्वारा या स्वयं ही पीड़ा को प्राप्त किसी भी छोटे या बड़े प्राणी को देख कर मेरा हृदय रो उठता है। इस भाव विशेष को संयम के प्रकरण में 'प्राण संयम' या 'अहिंसा' कह कर बताया गया है। इस संयम भाव की उत्पत्ति के बिना निज शान्ति की उपासना होनी असम्भव है। इसके द्वारा द्वेष रूप, या प्रमाद रूप या कटुता रूप तीव्र दाह जनक विकल्पों का दमन ही होता है, अतः यह भी संवर है। संवर तत्व पूरा हुआ और अब चलता है निर्जरा तत्व'।

२. तप का प्रयोजन संवर के ये चारों पाये—देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय व संयम को सुन व समझ लेने के पश्चात्, तथा यह निश्चय कर लेने के पश्चात्, कि इन चारों से ही किसी न किसी रूप में शान्ति के बाधक विकल्पों का दमन किया जाना शक्य है, यह प्रश्न उपस्थित होता है तो बस क्या इतना ही पर्याप्त है? नहीं नहीं हे भव्य! जल्दी मत कर, घबरा भी नहीं, सुनता रह, क्योंकि विषय लम्बा है, अभी तक तो मार्ग का प्रारम्भ ही हुआ है, इस मार्ग की पूर्णता तो बहुत आगे जाकर होगी। संवर से बेखबर विकल्प सागर में गोते खाते जीवों की तो बात ही नहीं, परन्तु संवर से बाखबर के भी जीवन में से कुछ देर के लिये आंशिक रूप में या आयु पर्यन्त के लिये केवल इन विकल्पों का रोक देना मात्र भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से भले ही वे पूर्व के संस्कार आगे को और अधिक पुष्ट न होने पावें तथा वर्तमान में जीवन कुछ हल्की सी शान्ति लिये हुए अनुभव में आने लगे, परन्तु पूर्व से डेरा जमाये हुए उन संस्कारों से तो बच न पायेगा। भले ही आज के संवरण के कारण उनको कुछ निद्रा सी या बेहोशी सी आ गई हो, परन्तु तेरे तनिक भी असावधान होने पर, या यह अनुकूल वातावरण बदल जाने पर, या काल चक्र द्वारा ज़बरदस्ती किसी प्रतिकूल वातावरण में फेंक दिये जाने पर, क्या वे संस्कार सचेत होकर एक दम तुझ पर आक्रमण न कर बैठेंगे? उस समय सम्भवतः उस आक्रमण को तू सह सकने में समर्थ न होगा, और बह जायेगा पुनः उनके द्वारा प्रेरित उसी पहली रौ में। शत्रु का बीज नाश कर देना ही नीति है—जिस प्रकार कि एक कुशा घास के पांव में चुभ जाने पर चाणक्य ने उस सारी जङ्गल की कुशा घास का बीज नाश कर दिया था, उसी प्रकार जब तक एक भी संस्कार शेष है, तुझे सन्तोष नहीं करना चाहिये, बराबर उनके उच्छेद का उद्यम करते रहना चाहिये—थोड़ा थोड़ा या अधिक अधिक अपनी पूरी शक्ति लगाकर।

जिस प्रकार कोई राजा अपने शत्रुओं से सावधान होकर उन्हें पराजित करने के लिये, भले पहले उस दल को छोड़ने की बजाय, जो कुछ छिपा छिपा सा दूर से ही प्रहार करता हो; उस दल का पहले सामना करता है, जो बिलकुल उसके नगर में प्रवेश कर गया हो। परन्तु उसे परास्त कर लेने के पश्चात् भी वह चैन से नहीं बैठ जाता, बल्कि तुरन्त ही उस छिप कर प्रहार करने वाले शत्रु की ओर दौड़ता है, तथा उन्हें ललकार ललकार कर गुफाओं से बाहर निकालता है, और एक एक का विनाश करता हुआ, तब तक चैन नहीं लेता, जब तक कि ऐसी अवस्था में न पहुंच जाये कि उसकी ललकार सुनने वाला कोई न रहे। उसी प्रकार शान्ति नगर का राजा यह भगवान आत्मा आस्रव तथा बन्ध तत्वों से अर्थात् नवीन नवीन विकल्पों व पूर्व संस्कारों से सावधान होकर, उन्हें पराजित करने के लिये भले पहले संस्कारों को छोड़ने की बजाय नवीन-विकल्पों को परास्त करे, अर्थात् संवरण करे, परन्तु केवल उन्हें संवरण करने पर ही वह चैन से नहीं बैठ जाता, सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि तुरन्त ही उन संस्कारों पर दौड़ता है, और क्रम क्रम से एक एक को ललकार कर उनसे युद्ध ठानता है, तब तक चैन नहीं लेता जब तक कि उनका मूलोच्छेद न कर दे

और भी जिस प्रकार नवीन जल प्रवेश के मार्ग को रोक देने मात्र से, जोहड़ में भरे गन्दे पानी के कीटाणुओं से सम्भावित, रोग प्रसार का भय दूर नहीं हो जाता, बल्कि भय मुक्त होने के लिए उस सम्पूर्ण जल को सूर्य किरणों द्वारा सुखाना आवश्यक है। उसी प्रकार नवीन विकल्पों के प्रवेश को रोक देने मात्र से, अन्तरंग में पड़े संस्कारों से सम्भावित विकल्पों के प्रसार का भय दूर नहीं हो जाता, बल्कि विकल्प मुक्त होने के लिये इन सम्पूर्ण संस्कारों का, अन्तर दृढ़ता, बल व साहस के द्वारा विनाश करना आवश्यक है।

यह बात आप सबके अनुभव में भी आ रही है। मन्दिर के अनुकूल वातावरण में प्रातः की इस गुरु वाणी का श्रवण करते हुए, एक घन्टे के लिये भले ही कुछ शान्ति सी, कुछ हल्कापन सा कुछ अनोखासा प्रतीत होने लगता है। कि अरे ! क्या रखा है इस गृहस्थ जंजाल में, जिस किस प्रकार भी बस अब इसे छोड़ दे। इतनी तीव्र जिज्ञासा भी कदाचित उत्पन्न हुई होगी, कि यदि गुरुदेव होते तो अवश्य उनकी शरण को छोड़ अब मैं घर न जाता। परन्तु मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ के वातावरण में गए और फिर वही हाल। कहां गई शान्ति और कहां गए वह विचार, कुछ पता नहीं चलता ? वही विकल्प जाल, वही अशान्ति। कौन शक्ति है जो मेरी बिना इच्छा के मुझे धकेल कर यह सब कुछ करने पर बाध्य करती है। वास्तव में अनादि के पड़े वे खोटे संस्कार अर्थात् पहला कर्म बन्ध ही वह शक्ति है जिससे मुझे विकल्प करने की प्रेरणा मिल रही है। इन संस्कारों के प्रति बल व साहस धार कर युद्ध ठानना ही योग्य है। तू वीर की सन्तान है, स्वयं वीर बन, इस आध्यात्मिक युद्ध से मत घबरा।

३ तप की प्रेरणा आज तेरे पास शक्ति है, उस प्रकाश की, उस ज्ञान की, उस जिज्ञासा व भावना की, उस आन्तरिक प्रेरणा की, जो कि गुरु वाणी सुनने से सौभाग्य वश तेरे अन्दर उत्पन्न हुई है। अब भी यदि इन संस्कारों को न ललकारा, और इनके साथ युद्ध करके अपना पराक्रम न दिखाया, तो कब दिखायेगा ? क्या उस समय जबकि काल चक्र द्वारा एक ऐसे वातावरण में फेंक दिया जायेगा, कि

जहाँ न होगी गुरु वाणी, न होगा देव दर्शन, न होगी आज की भावना, न होगा यह ज्ञान व प्रकाश; परन्तु तू होगा इन संस्कारों के प्रकोप का शिकार, बहता हुआ होगा इन विकल्पों के ऐसे तीव्र वेग में, कि जहां तेरे हाथ पांव मारने भी निरर्थक होंगे। याद रख, कि ये दुष्ट संस्कार बड़े प्रबल हैं, ये सदा ही अपनी रक्षा के प्रति सावधान रहा करते हैं, कभी भी प्राणी में ज्ञान का प्रकाश नहीं होने देते, क्योंकि ये जानते हैं कि इस प्रकाश की एक किरण भी यदि हृदय में प्रवेश पा गई, तो लेने के देने पड़ जायेंगे और इस कारण ये भय व प्रलोभन के अनेकों विकल्पों से कभी भी प्राणी को अवकाश लेने नहीं देते।

आज जो तुझ यह स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ है इसे केवल अपना सौभाग्य समझ। सम्भवतः इस अवसर पर आकर इन संस्कारों को कुछ ऊंघ आ गई थी, तभी तो यह वातावरण तेरे द्वारा प्राप्त किया जाना सम्भव हो सका है। आज ये संस्कार स्वयं अपनी भूल पर पछता रहे हैं, और देख कितने सहमें हुए से प्रतीत हो रहे हैं आज क्योंकि इनका विरोधी वह प्रकाश, जो प्रवेश कर गया है तेरे अन्दर, उसी से भयभीत हैं। अब इनको सन्देह हो रहा है-स्वयं अपने जीवन का, सोच रहे हैं यह कि कहीं इस घर को छोड़ने की नौबत न आ जाये। परन्तु इनके पास बड़ा सैन्य बल है, घबराये हुए भी ये आसानी से निकलने को तैयार नहीं, आज ये सामने न आकर छुप छुप कर प्रहार करने की चिन्ता में हैं अतः गाफिल मत होना, जीवन में जितना समय शेष है उसे इनके साथ युद्ध करने में लगा देना। यदि इस भव में ही, इनको परास्त न कर सको तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं, इनके बल को आप क्षति पहुँचाने में तो आज भी समर्थ हैं। यदि इनसे आज ही युद्ध प्रारम्भ कर दिया तो आगे के भावों में भी तेरी इस ज्ञान किरण को ये छीन न सकेंगे और इस प्रकार तेरा युद्ध बाधित न हो सकेगा। तीन चार भवों में बराबर युद्ध को चालू रखते हुए एक दिन तू इनको पूर्णतः परास्त कर देगा और अबाध शाश्वत् व विकल्प मुक्त शान्ति रानी को बरलेगा।

संस्कारों को ललकार २ कर इनसे ठाना जाने वाला यह युद्ध ही आगम परिभाषा में तप कहलाता है, जो कि शान्ति प्राप्ति के मार्ग में तेरा पांचवां पग है। अर्थात 'निर्जरा तत्व'। इसमें बहुत अधिक बल लगाने की आवश्यकता है और इसीलिये इस तत्व को बड़े पराक्रमी व निर्भीक योगी जन ही मुख्यतः धारण किया करते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इसको तू आंशिक रूप में भी धारण नहीं कर सकता, तू इतना नपुंसक नहीं है। जितना बल लौकिक कार्यों में लगता है, यहां भी लगा, शक्ति को छिपाने के लिये बहाना न बना, यह तेरे हित की बात है।

४ बिना परीक्षा संतुष्टि का निषेध — संस्कारों को ललकारने का तात्पर्य है प्रतिकूल वातावरण में जाकर साधना करना, अब तक की गई साधना की परीक्षा करना, यदि कमी रही है तो दूर करना। जैसा कि पहले बताया जा चुका है (देखो अध्याय नं० २२ प्रकरण नं० २५), प्राथमिक को मार्ग का प्रारम्भ अर्थात् अपनी साधना अनुकूल वातावरण में रह कर करनी चाहिये, परन्तु उस वातावरण में रहते हुए विकल्पों या तीव्र कषायों का दमन हो जाने पर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, क्योंकि

इनका वास्तविक दमन तभी माना जा सकता है जब कि प्रतिकूल वातावरण में भी ये उभरने न पावें। यद्यपि साधना का प्रारम्भ प्रतिकूल वातावरण में नहीं किया जा सकता, परन्तु अनुकूल वातावरण में साधना का कुछ फल प्राप्त कर लेने पर, शक्ति, में कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है। बस इस बल के आधार पर अब प्रतिकूल वातावरण में जाकर उस साधना की परीक्षा करना ही तप है। किसी व्यक्ति को क्रोध उसी समय तो आता है जबकि सामने कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित हो। यदि विरोधी की अनुपस्थिति में क्रोध न आने का नाम ही शान्त रहना है, तो लोक में सभी शान्त चित्त कहलायेंगे, क्योंकि कौन ऐसा है जो घर में बैठा दिवारों से लड़ता हो, या निष्कारण ही किसी राहगीर से छेड़ छाड़ करता हो।

एक घटना है पूज्य वर्णी गणेश प्रसाद जी के जीवन की-एक दिन वर्णी जी अपनी माता चिरोंजा बाई से कहने लगे, "माता ! मैं अब बहुत शान्त हो गया हूँ।" माता जानती थी कि यह इनका भ्रम है, परन्तु जब तक सिद्ध न कर दे, कैसे मान लेती, अतः बोली कि बहुत अच्छी बात है बेटा। अब वह परीक्षा के लिये अवसर की प्रतीक्षा करती रही। अवसर आ गया—एक दिन खीर की चाह हुई वर्णी जी को, माता से स्वीकृति ली, दूध का प्रबन्ध किया, तथा प्रसन्न थे कि आज खीर मिलेगी खाने को। माता ने खीर बनाई, पर साथ में मलहड़ी भी अर्थात छाछ में चावल उबाल कर नमकीन खीर भी। खाने बैठे तो परोस दी मलहड़ी, उतावली में अत्यन्त आसक्तता पूर्वक खाने को वर्णी जी ने हाथ बढ़ाया तो माता बोली "बेटा! ज़रा ठन्डी करके खाना, कहीं मुंह न जल जाये, गरम है यह !" पर वर्णी जी को कहां था अवकाश उसे ठण्डी करने के लिये क्योंकि उत्कण्ठा थी तीव्र। पहला चमचा मुंह में डाला, पर हैं, यह क्या ? यह कैसी खीर ? इतनी मेहनत की, दूध लाया प्रतीक्षा की घड़ियाँ गिनी और यह खीर। क्रोध आ गया माता पर, थाली फेंक कर मारी, और लगे चलने। माता सब कुछ देखती तो थी ही बोली "कहाँ जाते हो ? कहती न थी कि ठण्डी करके खाना, लो और परोसती हूँ, अब की बार गरम न खाना और अब की बार परोसी खीर जिसे खाकर चित्त प्रसन्न हो गया-वर्णी जी का। पर वह फेंकी हुई थाली अब भी उनकी शान्ति की खिल्ली उड़ा रही थी, माता बोली "तुम तो शान्त हो गये थे बेटा।" और अब सम्भले वह "भूल गया था माता क्षमा करना, वास्तव में शांति अभी दूर है।" बस इस प्रकार अपनी साधना को सफलता तब समझो जब कि प्रतिकूल साधनों के उपस्थित हो जाने पर भी शान्ति में भंग न पड़े, इस प्रयोजन के लिये किया जाता है तप कि जिसमें जानबूझ कर, प्रतिकूल परिस्थितियों को निमंत्रित किया जाता है, प्रतिकूल वातावरण में प्रवेश किया जाता है, और वहां जाकर भी इस बात की सावधानी रखी जाती है कि शांति से विचलित न होने पाऊँ। कदाचित् अन्तरङ्ग में क्षोभ प्रकट होने भी लगे, तो उसके अन्दर में ही दबाने का प्रयत्न किया जाता है और इस प्रकार अभ्यास करते हुए एक समय वह आ जाता है कि स्वतः भी कभी ऐसे प्रतिकूल अवसर आ पड़ें, तो भी शांति निर्बाध रहे, मस्तक पर बल न पड़े, मुस्कराहट भंग न हो। बस तब जानों कि प्रतिकूल संस्कार टूट चुका है। इसी प्रकार सर्व जाति के संस्कारों के साथ युद्ध करके बल पूर्वक उनकी प्रलय करने का नाम तप है।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६२

५ आंशिक तप की सम्भावना — तप शब्द सुनकर कुछ डर सा लगता होगा, परन्तु डरो मत क्योंकि योगियों के द्वारा किये जाने वाले महान तपश्चरण की बात नहीं कर रहे हैं यहां। केवल तप के उतने मात्र अंश की बात है, जिससे तुझे किसी प्रकार के शारीरिक कष्ट का वेदन करना न पड़ेगा, जिसे तू बड़ी सरलता से वर्तमान के गृहस्थ जीवन में भी कर सकेगा। तप का मुख्य अङ्ग साधु सम्बन्धी निर्जरा अर्थात् तप के प्रकरण में बताया जायेगा, वह मुख्यतया योगियों के जीवन में ही देखा जाता है। तप करने के लिये वास्तव में बड़े बल की आवश्यकता है, और सम्भवतः वह आज तुझ में नहीं है परन्तु इतना बल अवश्य है कि तप के यहां बताये जाने वाले अङ्ग को तू धारण कर सके। तप की वृद्धि को प्राप्त, योगी जनों को भी उस बल का स्वामित्व एक दम प्राप्त नहीं हुआ था, बल्कि तेरे जैसी ही अवस्था से इस अल्प शक्ति के योग्य तप को धारण कर करके ही, उन्होंने धीरे धीरे बल को बढ़ाया था। इसी प्रकार बल के बढ़ जाने पर उस उत्कृष्ट तप को धारण करके योगी कहलाये हैं। तू भी अपने योग्य तप को धारण करने के प्रति कुछ उल्लास उत्पन्न कर, इससे तुझे महान लाभ होगा जो स्वयं तेरे अनुभव में आयेगा, और कुछ महीनों में यह देखकर तू आश्चर्य करेगा, कि तेरे जीवन में एक अन्तर आ रहा है-एक महान अन्तर-जमीन आसमान का अन्तर-रात दिन का अन्तर। एक परिवर्तन आ रहा है, जिसने तुझे किसी अन्ध कूप से निकाल कर सूर्य के प्रकाश में ला खड़ा किया है।

६ संस्कार तोड़ने का उपाय — शान्ति प्राप्ति की दशा में पूर्व संस्कार को तोड़ने के लिए, तप के द्वारा वर्तमान अल्प स्थिति में अपनाई जाने वाली, उन क्रियाविशेषों को बताने से पहले इस स्थान पर यह बतला देना आवश्यक है कि किसी भी अच्छे या बुरे लौकिक संस्कार को बनाने का क्रम पहले बताया जा चुका है (देखो अध्याय नं० २० प्रकरण नं०४) बस उससे उल्टा क्रम संस्कार तोड़ने का होना चाहिये। यद्यपि संस्कार तोड़ने के इस क्रम को आप सब जानते हैं, क्योंकि आपके अनुभव में आया हुआ है, परन्तु विश्लेषण न कर सकने के कारण वह जाना हुआ भी न जाने के समान है। क्योंकि बिना विश्लेषण किये दीखने वाली क्रिया के क्रमिक अङ्गों के भान बिना, नवीन रूप से उस क्रिया का प्रारम्भ करके, उसके अन्तिम फल को प्राप्त करना असम्भव है। मैं आपको यहां कोई नई बात बताने वाला नहीं हूं, यह बात वही है जिसे आप सब जानते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि आप विश्लेषण रहित जानते हैं, और मैं उसी का विश्लेष करके दिखा रहा हूं।

बन्ध तत्व में संस्कार को बनाने के क्रम का विश्लेषण करते हुए यद्यपि चोर का दृष्टान्त दिया गया है परन्तु सुलभता से समझाया जा सके, इस प्रयोजन से यहां गाली के संस्कार को तोड़ने का दृष्टान्त दिया जा रहा है। आपकी दृष्टि से बहुत से व्यक्ति ऐसे गुजरे होंगे, जो हर बात में किसी गाली रूप अश्लील वचन का प्रयोग कर जाते हैं, पर स्वयं यह नहीं जान पाते कि उन्होंने कोई भी अयोग्य वचन कहा है। एक लम्बे अभ्यास वश आज वह क्रिया उनको अबुद्धि पूर्वक की कोटि में जा चुकी है, इसी को लोक में तकिया कलाम कह कर पुकारा जाता है। स्वयं न जान पाने की बात तो

रही दूर, आपके द्वारा संकेत करने पर भी उन्हें आपकी बात पर विश्वास नहीं आता, और कह बैठते हैं कि, नहीं नहीं ! मैंने तो कोई अश्लील वचन नहीं कहा है । इतना पुष्ट हो गया है उसका वह संस्कार कि उनके विवेक को सर्वतः ढक लिया है । वे दोष करके भी उसको स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं होते। दृष्टान्त में उनके संस्कार को तोड़ने का क्रम बताया है, इसको तोड़ने के लिये साधक को उत्तरोत्तर अनेकों स्थितियों में से गुज़रना पड़ेगा।

पहली स्थिति तो वह अविवेक पूर्णता की ऊपर कही हुई स्थिति है, जहां कि उसको दोष का स्वीकार ही नहीं होता । यह तो है पुरुषार्थ हीनता की स्थिति, इसलिये इसका समावेश तो अभीष्ट मार्ग में हो ही न सकेगा । हां इससे आगे की दूसरी स्थिति से मार्ग प्रारम्भ होता है जबकि आपके सुझाने पर वह विचारने लगे कि, "ठीक ही होगा, गाली अवश्य मेरे मुंह से निकली होगी, नहीं तो यह मुझे क्यों टोकते, इनको मुझसे कोई द्वेष थोड़े ही है ।" और इस प्रकार आपके कहने पर केवल विश्वास के आधार पर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है ।

इससे आगे तीसरी स्थिति वह है जबकि कदाचित् अपने मुंह से निकली गाली पर स्वतः ही उसका उपयोग चला जाने पर, उसे यह भान होने लगे, कि हां, "गाली निकलती तो अवश्य है, मेरे मित्र ठीक ही कहा करते हैं ।" चौथी स्थिति वह है जबकि उसको अपने मुंह से निकली उस गाली की अनिष्टता का भान होने लगे "कि तेरी यह आदत अच्छी नहीं है, सभ्य व्यक्तियों को यह शोभा नहीं देती, इसे अवश्य त्यागना चाहिये," अर्थात् अब अपराध सम्बन्धी निन्दा व उसे छोड़ने की तीव्र जिज्ञासा उसमें जागृत हो जाए। पांचवीं स्थिति वह है कि आपके द्वारा सावधान किये जाने पर तत्क्षण ही वह उसके मुंह से निकला शब्द उसके ध्यान में आ जाये, और अन्तरंग में अपने उस कृत्य पर पछताने लगे । छठी स्थिति वह है जब कि बिना आपकी सहायता के स्वतः ही, कह चुकने के पश्चात्, उसे भान होने लगे कि वह शब्द उसके मुंह से निकल चुका है, तथा अपने उस कृत्य पर पछ-ताने लगे । यहां उसकी यह क्रिया अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आ चुकी है । सातवीं स्थिति वह है जब कि आधा शब्द निकला है और आधा शब्द निकलने को ही था, कि उसने उसे बलपूर्वक रोक लिया, तथा हो चुकने वाले आधे कृत्य पर वह अन्दर ही अन्दर अपनी निन्दा कर रहा है । आठवीं स्थिति वह है जबकि अन्दर में बोलने के प्रति अभी प्रयत्न या चंचलता हुई ही थी कि उसे इसका पता चल जाता है और वहीं उसे दबा देता है, बाहर में बिल्कुल प्रगट होने नहीं देता; और अन्तर में भी क्यों प्रगट हुआ उसकी चिन्ता करने लगता है । नवमी स्थिति वह है जब कि अन्तर में वह चंचलता होनी ही बन्द हो जाती है । बस अब उसका वह संस्कार टूटा ही जानो ।

गाली का संस्कार तोड़ने का एक लम्बे समय तक चलने वाला वह पुरुषार्थ, विश्लेषण द्वारा नौ कोटियों में विभाजित करके दर्शाया गया । इसका यह अर्थ नहीं कि सर्वत्र नौ ही कोटियां बनाने की आवश्यकता है, तत्व को समझने से मतलब है । यहां ऊपर की नौ स्थितियों में हम स्पष्ट देख रहे हैं कि प्रत्येक आगे आगे की स्थिति अभीष्ट की सिद्धि में पहली पहली से कुछ ऊंची है क्योंकि आगे आगे संस्कार की शक्ति में कुछ हानि देखी जाती है । यदि ऐसा न हुआ होता तो पुरुषार्थ का आगे बढ़कर अन्तिम फल को प्राप्त कर लेना असम्भव था । बस जितने अंश में प्रतिस्थिति संस्कार की

शक्ति में क्षति आई है, उतने अंश में उस संस्कार की निर्जरा हुई है, पूर्ण क्षति का नाम पूर्ण निर्जरा या संस्कार से मुक्ति है। क्रोध के संस्कार को तोड़ने का भी यही नियम है, अर्थात् किसी भी दूषित संस्कार को तोड़ने का यही क्रम है—(१) अपराध का स्वीकार (२) अपराध का अनुभव (३) उसे तोड़ने की जिज्ञासा व उस कृत्य की निन्दा (४) किसी अन्य की सहायता से उसका अबुद्धि से बुद्धि की कोटि में आना तथा तत्सम्बन्धी पछतावा करना (५) बिना किसी की सहायता के बुद्धि की कोटि में आना तथा अपनें कृत्य पर अपने को धिक्कारना (६) आधा अपराध होने पर आधे को रोक लेना और पछताना (७) सम्पूर्ण को बाहर प्रकट होने से रोक लेना तथा अन्तर में उठे तत्सम्बंधी विकल्प को धिक्कारना (८) अपराध सम्बन्धी अन्तर-विकल्प को भी रोक लेना।

७ तप में प्रतिकूल वातावरण का महत्व

बस यही क्रम है, उन पुष्ट संस्कारों को तोड़ने का जिनके कारण में अपनी इच्छा के बिना भी अपने अतिरिक्त अन्य चेतन व अचेतन पदार्थों में इष्ट व अनिष्ट भाव कर बैठता हूँ, और व्याकुलता जनक विकल्प जाल में फंसकर अशान्त हो जाता हूँ। परन्तु उपरोक्त दृष्टान्त पर से यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि उपरोक्त प्रकार से किया गया पुरुषार्थ प्रतिकूल वातावरण में ही हो सकता है, अनुकूल वातावरण में नहीं। घर के एकान्त कमरे में बैठ कर गाली के संस्कार को तोड़ने का प्रयत्न नहीं किया जा सकता। जहां कोई दूसरा व्यक्ति ही न हो और बोलने का अवसर ही न मिले तो कैसे चलेगा उसका पुरुषार्थ, कैसे पहुँचेगा ऊपर ऊपर की स्थिति में? वहां गाली का शब्द ही न होगा, किस को लायेगा बुद्धि की कोटि में किसके प्रति करेगा पश्चाताप? अर्थात क्रम चलना असम्भव हो जायगा, यह क्रम तभी चल सकता है जबकि उसके सामनें कोई अन्य व्यक्ति हो, जिससे बात करने का अवसर उसे प्राप्त हो, और गाली का शब्द मुंह से निकलता हुआ हो।

इसी प्रकार उन उन पदार्थों में इष्टता अनिष्टता सम्बन्धी संस्कार भी तभी तोड़े जाने सम्भव हैं, जबकि वे पदार्थ इन्द्रियों के विषय बन रहे हों, और विकल्प उठ रहे हों। मन्दिर में बैठ कर यह संस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ किया नहीं जा सकता। क्योंकि जहां पदार्थ भी नहीं और विकल्प भी नहीं, वहाँ किस को बुद्धि की कोटि में लायेंगा और किस के प्रति करेगा पश्चाताप? अपनें किस कृत्य को धिक्कारेगा? अर्थात घर गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण में रह कर ही यह पुरुषार्थ किया जाना सम्भव है, और वह वातावरण सहज ही आपको प्राप्त है।

८ संवर में निर्जरा

इसका यह तात्पर्य नहीं कि मन्दिर में आने से व संवर अधिकार में बताई गई चार विशेष क्रियाओं से उस पुरुषार्थ की बिलकुल सिद्धि नहीं होती। कुछ अंशमें यह देव पूजा, गुरु उपासना स्वाध्याय व संयम की संवर के अंग रूप क्रियाओं से भी इन संस्कारों की क्षति होती है और उसे आप सब अनुभव कर रहे हैं। यदि ऐसा न हुआ होता तो आप आज उपरोक्त क्रम की चौथी कोटि में बैठे हुए न होते, अर्थात इस प्रवचन द्वारा प्रेरित हो कर अपने अपने दोषों को स्वीकार कर अपने जीवन में उनका अनुभव, उनके प्रति घृणा, उनको तोड़ने की जिज्ञासा तथा यहां बताये जाने पर उन दोषों की अपने प्रयोग में पकड़ व उनके प्रति निन्दा, जो इस समय आपके हृदय में उथल पुथल मचा रही है, कदापि प्रकट न हो सकती थी।

६ संवर निर्जरा में अन्तर

अतः यह बात स्वीकार्य है कि जहां संवर होता है वहां निर्जरा भी अवश्य होती है। जहां कुछ समय के लिये अनुकूल वातावरण में रह कर विकल्पों के दबाने का पुरुषार्थ होता है, वहां संस्कार भी अवश्य क्षीण होते हैं। परन्तु यहां मुख्यता से निर्जरा का प्रकरण है अर्थात संस्कार के प्राबल्य के विच्छेद की मुख्यता का, जो संस्कार कि प्रतिकूल वातावरण में मुझे सब कुछ भुला देता है, सुने व सीखे सब पर पानी फेर देता है। तो फिर संवर व निर्जरा में अन्तर ही क्या रहा, दोनों एक ही तो हैं? नहीं अन्तर भी है—दोनों में होने वाला पुरुषार्थ यद्यपि एक ही जाति का है, अर्थात विकल्प को रोकने का ही है, तथापि संवर-अनुकूल वातावरण में रह कर विकल्पों के दबाने का नाम है और निर्जरा-प्रतिकूल वातावरण में रहकर विकल्पों को उत्पन्न हो न होने देने के प्रयत्न का, अर्थात उत्पन्न होते हुए विकल्पों को उपरोक्त क्रम से रोकने का नाम है। संवर में भी पुरुषार्थ लगाना होता है, बुद्धि पूर्वक कुछ करना होता है और निर्जरा में भी, परन्तु संवर में थोड़ा बल से भी काम चल जाता है, निर्जरा में अधिक बल की आवश्यकता है, क्योंकि अनुकूल वातावरण की अपेक्षा प्रतिकूल वातावरण में रह कर कोई काम करना अधिक कठिन है।

अनुकूल वातावरण में रह कर संवर के साथ साथ होने वाली निर्जरा करने का बल तो हमारे अन्दर है ही। परन्तु प्रतिकूल वातावरण अर्थात् गृहस्थी में रह कर निर्जरा करने के अर्थात संस्कारों की शक्ति अधिकाधिक क्षीण करने के बल से भी आज सौभाग्य वश हम शून्य नहीं हैं। शान्ति के इच्छ क का उस बल को न छिपा कर वर्तमान में उस से इस दिशा में काम लेना कर्तव्य है।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६३

शान्ति प्राप्ति के मार्ग में उन संस्कारों को तोड़ने की बात चलती है, जिनसे प्रेरित होकर न चाहते हुए भी मैं विकल्प सागर में गोते खाने लगता हूँ, और व्याकुल हो जाता हूँ। जिनके कारण मन्दिर से निकलते ही गृहस्थ सम्बन्धी विकल्प मुझे घेर लेते हैं, और भुला देते हैं सब सुना व देखा, अर्थात वातावरण बदल जाता है। मन्दिर के अनुकूल वातावरण में जिस किस प्रकार उद्यम करके, जिन विकल्पों से कुछ समय के लिये किंचित मात्र मुक्ति प्राप्त की थी, गृहस्थ के प्रतिकूल वातावरण में वही विकल्प अपने पराक्रम द्वारा मुझे वह बात याद करने तक का अवसर आने नहीं देते, इसलिये मेरा कर्तव्य हो जाता है, कुछ अधिक पुरुषार्थ करने का अधिक बल लगाने का प्रतिकूल वातावरण में रहते हुए।

अनुकूल वातावरण में किये गए पुरुषार्थ की अपेक्षा प्रतिकूल वातावरण में किये गए पुरुषार्थ में स्वाभाविक रीति से ही अधिक बल की आवश्यकता होती है; यह बात सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं चाहिये। पूर्वजों की छोड़ी सम्पत्ति के स्वामित्व में व्यापार करने के लिये जितना पुरुषार्थ लगाना होता है उससे सैंकड़ों गुणा पुरुषार्थ खाली हाथ व्यापार

करने के लिये लगाना पड़ता है, यह बात सबके अनुभव में आई है। बस यही है अन्तर संवर व निर्जरा या तप में-संवर में अनुकूल वातावरण रहने के कारण कम बल की आवश्यकता होती है; और तप में, प्रतिकूल वातावरण के कारण अधिक बल की, यद्यपि दोनों दशाओं में की जाने वाली क्रियायें लगभग समान ही हैं। जितना बल लगाया जायेगा कार्य भी उतना ही होगा, यह सिद्धान्त है। अतः अधिक बल के प्रयोग के कारण तप रूप उन क्रियाओं से होने वाली निर्जरा अर्थात् संस्कारों की शक्ति में क्षति अधिक होती है, और कम बल प्रयोग के कारण संवर रूप उन क्रियाओं से होने वाली निर्जरा कम होती है—यही है दोनों में अन्तर।

१० तप की आवश्यकता क्यों — जब संवर से ही निर्जरा का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, भले थोड़ा ही सही, तो तप के द्वारा निर्जरा करने की क्या आवश्यता? ठीक है भाई! परन्तु तूने इतना न सोचा कि संस्कार हैं अनादि काल के पुष्ट किये हुए बड़े प्रबल, और उनकी क्षति के लिये मेरे पास समय है थोड़ा, केवल मनुष्य आयु मात्र। इसलिये जब तक इनकी क्षति वेग के साथ न होगी, तब तक इतने कम समय में ही उनसे मुक्ति मिलना असम्भव है और अगले भव में कौन जाने यह ज्ञान और यह उत्साह मिले कि न मिले। परन्तु इसी भव में यदि इनकी शक्ति को तप द्वारा अत्यन्त क्षीण कर दिया जायेगा, और अपनी शक्ति में वृद्धि कर ली जायेगी, तो अगले भव में भी यह मेरे मार्ग में बाधा डालने में समर्थ न हो सकेंगे। यही कारण है कि इस मार्ग में तप अत्यन्त आवश्यक है। दूसरी बात यह भी तो है, कि वर्तमान में ही प्रतिकूल वातावरण में जाकर जिस व्याकुलता का वेदन मुझे करना पड़ता है, उससे भी तो मैं किसी अंश में बच जाऊंगा और वर्तमान का मेरा सम्पूर्ण जीवन शान्ति मय बन जाएगा। क्या इस बात की सिद्धि उस समय तक सम्भव है, जब तक कि मैं उस प्रतिकूल वातावरण में रह कर भी कुछ उद्यम न करूं, उस अशान्ति से बचने का? नहीं ऐसा सम्भव नहीं, इस उद्यम का नाम ही तो तप है जिस से कि अशान्ति से बच सकता है।

११ तप द्वारा शक्ति में वृद्धि — संस्कारों की क्षति का क्रम कल बताया जा चुका है। तप द्वारा उनकी क्रमिक क्षति होते हुए, जीव किस गति से और कैसे भावों से आगे बढ़ता है, आज यह बात बतानी है। हम यह देखते है कि प्रारम्भिक दशा मे किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते हुए प्राणी को कुछ झिझक सी या कुछ भय सा हुआ करता है, लौकिक कार्य में या अलौकिक कार्य में, सब मे यह बात देखने में आती है। आस्रव व बन्ध प्रकरण मे चोरी के कार्य सम्बन्धी दृष्टान्त दिया था, वहां भी प्रारम्भ में चोरी करने वाले उस बालक के हृदय का चित्रण किया था और दिखाया था कि उस समय कितना भय था उसमें। ज्यों ज्यों वह इस कार्य मे अभ्यस्त होता गया, भय मे हानि होती गई, चोरी के प्रति उसका साहस बढ़ता गया, और एक दिन वह पूरा चोर बन गया।

यहाँ भी एक व्यापारी का दृष्टान्त ले लीजिये। पहले दिन ही जब किसी व्यापारी पुत्र को दिसावर जाने को कहा जाता है माल लाने के लिए, तो कैसी होती है उसके हृदय की स्थिति, सब जानते हैं। कुछ झिझक सी, कुछ भय सा, "कैसे करूंगा सौदा, कहां भोजन करूंगा, प्रबन्ध बने कि न बने, और भाव में लुट गया तो? खैर जाना तो पड़ेगा ही, व्यापार प्रारम्भ जो करना है। पहले सौदे में नुकसान भी रहा तो कोई बात नहीं, इससे कुछ सीख जाऊंगा, धन हानि भले हो जाए

पर अभ्यास का लाभ तो हो ही जाएगा," इत्यादि विकल्पों के जाल में उलझा वह चल देता है माल खरीदने। अपनी ओर से पूरी चतुराई दिखाता है कि नया होने के कारण किसी सौदे में लुट न जाए और माल ले आता है। यदि दूसरों की अपेक्षा कुछ ज्यादा दाम दे भी आया हो तो भी कोई चिंता नहीं क्योंकि पहला अवसर ही तो था, दूसरी बार जायेगा तो यह गलती न करेगा और इसलिए दूसरी बार झिझक वह भय नहीं होता, यदि होता है तो कम। अब की बार होता है उसके साथ कुछ उत्साह, कुछ पहली बार के तजुर्बे का साहस, अतः इस बार धोखा नहीं खाता यदि खाता है तो पहले से कम। इसी प्रकार उत्तरोत्तर तीसरी व चौथी बार अधिक अधिक उत्साह के साथ जाता है और एक दिन कुशल व्यापारी बन जाता है।

अलौकिक कार्य सम्बन्धी दृष्टांत में भी यही क्रम है—उपवास करने से डर लगता है किसी को। अनन्त चौदस आई, उसके साथियों ने उपवास रखा, उसे भी प्रेरणा की गई कि उपवास रखे, परन्तु डरता है। "कैसे रखूं, आज तक उपवास करके देखा नहीं कैसा लगता होगा? भूख तो सतावेगी उसे कैसे सहन करूंगा? नहीं, नहीं! मुझ से न होगा।" अगले ही क्षण कुछ उत्साह के साथ "अरे! इतना क्यों डरता है, यह छोटे छोटे बच्चे भी तो करते हैं। क्या तू इनसे भी गया बीता है और फिर थोड़ी बाधा हुई भी तो क्या हो जाएगा? एक ही दिन की तो बात है, सहन कर लीजियो, मरेगा तो नहीं?" इत्यादि अनेकों भय पूर्ण विकल्पों में उलझा साहस करके धर ही लेता है-उपवास। कुछ थोड़ी बाधा हुई तो अवश्य, परन्तु इतनी नहीं जितनी कि वह सोचता था। फलतः "अरे! कोई अधिक कठिन तो नहीं है, दिन बीत गया शास्त्र सुनने में व पूजा के कार्य क्रम में, खाना खाने का ध्यान ही नहीं आया, आया भी तो अत्यन्त अल्प। योंही घबराता था, अब मत घबराना, प्रति वर्ष उपवास करना।" इन विचारों के साथ एक उत्साह उत्पन्न हो गया उसमें, और अब प्रति-वर्ष क्रमशः अधिक अधिक रुचि के साथ उपवास करता है और एक रोज अभ्यस्त हो जाता है वह उपवास करने में।

किसी क्रिया करने के क्रम का व उससे प्राप्त फल के क्रम का विश्लेषण करके बना लियाजाता है एक सिद्धान्त, जिसे किसी भी तत्सम्बन्धी दिशा में लागू करने से, निकाला जा सकता है एक नवीन आविष्कार और यही है आज के वैज्ञानिक मार्ग का मूल सिद्धान्त। एक फिलास्फ़र किसी भी प्रत्यक्ष व अनुभूत विषय पर से उसके क्रम का विश्लेषण करता है 'क्या' और 'क्यों' के द्वारा, और बना डालता है एक सिद्धांत, जिसको वैज्ञानिक लागू करता है अपनी कल्पनाओं की दिशा में और बना डालता है एक आश्चर्यकारी पदार्थ। इसी प्रकार यह मार्ग भी वैज्ञानिक मार्ग है, अन्तर केवल इतना है कि वह भौतिक विज्ञान है, और यह आध्यात्मिक।

बस तो एक फिलास्फ़र की भांति उपरोक्त दृष्टांतों पर से मुझे किसीएक सिद्धान्त का निर्माण कर लेना चाहिये, जिसको कि अपने पूर्व संचित संस्कारों के विनाश के लिये में लागू कर सकूं। दृष्टान्तों पर से यह स्पष्ट है कि (१) किसी भी कार्य के प्रारम्भ में होती है एक झिझक, भय, व कायरता (२) एक बार अन्य से प्रेरित होकर जबरदस्ती कुछ कष्ट सह कर भी यदि प्रवृत्ति कर

लो जाये-उस ओर, वह तो झिझक कुछ कम हो जाति है, और उसके स्थान पर आजाता है कुछ साहस, कुछ उत्साह (३) ज्यों ज्यों दोहराता है- उस कार्य को साहस व उत्साह में उत्तरोत्तर होती है वृद्धि, और भय होता है उत्तरोत्तर कम । इस क्रम से एक दिन हो जाता है वह पूर्ण अभ्यस्त और निर्भय ।

बस तप में भी इसी प्रकार समझना—(१) प्रतिकूल वातावरण में रहने के कारण शान्ति का उद्यम मैं कर नहीं सकता, इस प्रकार का भय है आज । (२) गुरु के उपदेश व जीवन से प्रेरित होकर यदि कुछ उद्यम करूं, तो भले अधिक सफलता न मिले पर झिझक हो जायेगी कुछ कम, साहस में हो जायेगी कुछ वृद्धि । (३) पुनः पुनः उस नवीन उपार्जित साहस को लेकर उत्तरोत्तर अधिक उत्साह के साथ यदि इस दिशा में उद्यम करूंगा, तो साहस व अन्तर-बल में होगी उत्तरोत्तर वृद्धि तथा झिझक में हानि । (४) इस प्रकार एक दिन होऊंगा मैं भी उस योगी की दशा में जिसका बल अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो चुका है, जिसके कारण कि अनेकों शारीरिक क्षुधा, तृषा, गरमी सर्दी, मच्छर' मक्खी आदि के, तिर्यञ्च कृत व प्रकृति कृत अथवा मनुष्य कृत उपसर्ग आ पड़ने पर भी, उसकी शांति में बाधा नहीं पड़ती, उसके मुख पर विकसित मुस्कराहट भङ्ग नहीं होती, उसके अन्तर में पीड़ा वेदन सम्बन्धी अनिष्ट आर्तध्यान उत्पन्न नहीं होता, वह बराबर रहता है अपनी शांति में मग्न । परन्तु ऐसी अवस्था क्रम पूर्वक चलने से ही आयेगी और यदि एक दम वैसा बनने का प्रयत्न करूंगा तो फल उल्टा होगा-पीड़ा होगी, उससे आर्तध्यान और उससे कुगति । हर एक कार्य ज्ञान के आधार पर करना चाहिये, नकल नहीं ।

१२ तप में सफलता का क्रम

'उस क्रम की प्रारम्भिक क्रिया क्या है, जिसे मैं वर्तमान के अपने जीवन में पालन करसकूं?' यह प्रश्न है । अब सुनिये उसे ही बताते हैं—संयम प्रकरण के अन्तर्गत इन्द्रियों के विषय व जीव हिंसा के दो दो भाग किये गये हैं । एक वह भाग जिसको त्यागने से मेरे शरीर को, मेरी गृहस्थी को तथा मेरे धनोपार्जन को धक्का लगता है तथा दूसरा वह भाग, जिस को त्याग देनें पर उपरोक्त तीनों बातों में कुछ बाधा नहीं आती, यदि कुछ बाधा है तो केवल अन्तरंग की आसक्तता में व प्रमाद में । इसी प्रकार यहां तप सम्बन्धी प्रकरण में भी, प्रतिकूल वातावरण के कीजिये दो भाग--एक भाग है क्षुधा, तृषा, गरमी, सर्दी गृहत्याग, एकान्त वास, आतापन योग आदि का वातावरण, जिसे मैं वर्तमान में सहन नहीं कर सकता । ऐसे वातावरण में पुरुषार्थ करना तो रहा दूर, मैं इसमें प्रवेश करने का साहस भी नहीं कर सकता । इस प्रकार के वातावरण मे जा कर पुरुषार्थ कर सकते हैं केवल योगीजन, जिन का कि बल अभ्यास करते करते आज वृद्धि को प्राप्त हो चुका है । दूसरा भाग है वह जो घर में, बाल बच्चों में रहते, दुकान पर व्यापार करते, तथा भोजन आदि करते समय में हुआ करता है । इसमें रह कर मैं योग्य पुरुषार्थ बराबर कर सकता हूं—बिना बाधा पहुंचाये शरीर को या गृहस्थी को या व्यापार को ।

अब यह प्रश्न होता है कि इस वातावरण में रह कर किया जाने वाला वह पुरुषार्थ क्या है, जो मुझे वर्तमान में करना चाहिये? सो भी सुनो वह बहुत सरल है । देख यदि दुकान पर बैठे बैठे ही कुछ कुछ अन्तरालों के पश्चात, इस प्रातःकाल की मन्दिर में अनुभव की हुई कुछ बातों को याद करने

का प्रयत्न करे, तो क्या याद न आयेगी ? और इन को याद करने मात्र से तुझे क्या बाधा पहुंचेगी ? ग्राहक आ जाये तो उससे बात कीजिये, छोड़ दीजिये उस धर्म सम्बन्धी बात को। पर जब ग्राहक चला जाये और कुछ खाली बैठे हो, उस समय बजाय इधर उधर की बातें करने या विचारने के, यह विचार भी तो कर सकते हो कि "अरे क्या सुन्दर है शान्ति प्रदायक वह बात, जो सुन रहा था सुबह वहां, कैसी शान्ति सी प्रतीत हो रही थी वहां इत्यादि।" बस यही वह पुरुषार्थ है जिसकी ओर कि संकेत किया जा रहा है।

इस पुरुषार्थ में तेरे किसी भी बहाने को अवकाश न मिलेगा। साहस बटोर, कुछ उद्यम कर पामरता त्याग, यह तेरे कल्याण की बात है। ऐसी भावना करते समय अवश्य तुझे कुछ शान्ति का वेदन होगा, जिसके फल स्वरूप इस भावना के प्रति अगले अवसरों में उत्तरोत्तर बढ़ा हुआ बहु-मान व झुकाव उत्पन्न होगा, जिज्ञासा में उत्तरोत्तर वृद्धि होगी और याद करने का उत्साह भी उत्तरोत्तर बढ़ेगा। इसी कारण से संस्कारों की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती जायेगी, भावना करने का अन्तराल उत्तरोत्तर कम होता जायेगा पहले दो घन्टे के पश्चात् ऐसा-समय आता था, फिर एक घन्टे के पश्चात्, फिर आगे जाकर आध घण्टे के पश्चात्, और इसी प्रकार आगे भी। भावना की विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी और एक समय आयेगा जबकि तू बाहर में ग्राहक को सौदा तोलता होगा और अन्तरङ्ग में शान्ति में स्नान करता होगा। इसी दशा का नाम है भोग भोगते भी वैरागी, जैसा कि अनेकों ज्ञानियों ने बताया है।

मुजफ्फ़रनगर दिनांक ९ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६४

१३ संस्कारों के प्रति सावधानी

तप का प्रकरण चलता है, अर्थात उन संस्कारों के विनाश की या निर्जरा की बात चलती है, जो कि मन्दिर से निकल कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते ही, मेरे अन्दर मेरी बिना इच्छा के भी कुछ ऐसे विकल्प उत्पन्न कर देते हैं, जिनमें ग्रस्त होकर मैं व्याकुल हो उठता हूं। इस रागात्मक वातावरण रूपी पवन को प्राप्त हो करके संस्कार भड़क उठते हैं और मेरे अन्दर चिन्ताओं की अतीव दाह उत्पन्न करके मुझे भस्म करने लगते हैं। धन्य है आज का अवसर कि मुझे यह तो खबर चली, कि गृहस्थी में उठने वाले विकल्प भी कुछ हैं, जिन्हें मैं नहीं चाहता और कोई उपाय हो तो हर मूल्य पर इनसे बचने को तैयार हूं। इससे पहले तो अज्ञान वश या बुद्धि के किसी विकार वश, मुझे इस दाह में भी कुछ मिठास सी ही प्रतीत होती थी, और किसी मूल्य पर भी मैं इसको छोड़ना नहीं चाहता था। एक महान अन्तर पड़ गया है आज मेरे अभिप्राय में, चूम ले इस अभिप्राय को, बहुमान प्रगट कर इसके प्रति, हर प्रकार रक्षा कर इसकी। यहां अनेकों चोर हैं इस अभिप्राय के, इस जिज्ञासा के, देख कहीं निकल न जाये तेरी तिजोरी से यह-तीन लोक की सम्पत्ति से भी अधिक मूल्यवान जिज्ञासा।

यह सब किसका प्रसाद है ? कहां से आई यह शान्ति मेरे अन्दर? यह सब है उन गुरुओं का प्रसाद, उस वीतराग वाणी का प्रसाद, जिनकी उपासना कि में संवर के अर्थ पहले कर चुका हूं। कितना महान फल मिला है मुझे उस उपासना का, बिल्कुल प्रत्यक्ष तथा आज ही, कल की प्रतीक्षा करने की भी आवश्यकता न पड़ी। यह है उस निर्जरा का प्रताप, जो संवर के साथ साथ धीमे धीमे हुई है। गुरुओं का प्रसाद प्राप्त करके आज मुझसे अधिक सौभाग्यशाली कौन होगा ? अत्यन्त मूल्य-वान इस शांति की जिज्ञासा को प्राप्त करके मुझसे अधिक धनवान कौन होगा ?

१४ गृहस्थ वातावरण में भी शान्ति के पुरुषार्थ को अवकाश

यद्यपि मन्दिर के अनुकूल वातावरण में रहते हुए में उस शान्ति का तनिक वेदन कर आया हूं, परन्तु गृहस्थी के उस वातावरण में आकर जबकि मैं घर में होता हूं, बीवी बच्चों से बातें करता या भोजन करता होता हूं, दुकान पर ग्राहक से बातें करता या माल बेचता वह खरीदता होता हूं, दफ़तर में अपने स्वामी से सलाह करता या अपने आधीन को कुछ आज्ञा देता होता हूं, मोटर या रेल में यात्रा करता या मार्ग में गमन करता होता हूं, तब वह शान्ति कहां चली जाती है, मैं नहीं जानता। वहां रहते हुए भी उसको कैसे स्थायी रखा जा सके, और विशेषतया ऐसी स्थिति में, जब कि मैं उस उपरोक्त वातावरण को अनिष्ट जानते हुए भी, तथा उसको छोड़ना चाहते हुए भी छोड़ने में समर्थ नहीं हूं; अथवा जब कि मैं उस प्रकार की कठिन तपस्या करने को समर्थ नहीं हूं, जैसा कि योगी जन करते हैं। वह कौन सा तप है जो मैं ऐसी स्थिति में रहते हुए भी कर सकूं और किंचित् मात्र अपने जीवन में सफल हो सकूं।

निराश मत हो प्रभु ! भय मत कर। तुझे वह सब योगियों वाला, क्षुधादि बाधाओं को जीतने वाला, तप करने को नहीं कहा जायेगा। कुछ ऐसा तप बताया जायेगा जो तू सुविधा पूर्वक कर सकेगा। केवल शक्ति को न छिपा कर वैसा प्रयत्न करने की आवश्यकता है जिससे कि तेरी गृहस्थी को, तेरी सम्पत्ति या तेरे शरीर को भी कोई बाधा न होगी।

देख उस गृहस्थी वातावरण का विश्लेषण करके मुझे यह बता, कि क्या उसमें बीतने वाला तेरा सारा का सारा समय किसी आवश्यक कार्य करने में ही व्यतीत होता है, या बीच बीच में कभी ऐसे अन्तराल भी आ जाते हैं, जब कि तू न बीवी बच्चों से बातें करता हो, न ग्राहक से, अर्थात् कोई भी आवश्यक कार्य न करता हो ? बिल्कुल खाली या तो बैठा हो, या अकेला कहीं चला जा रहा हो, या लेटा हुआ हो। ओह ! ऐसे अवसर तो एक दो नहीं अनेकों आते हैं, सारे दिन में। कोई छोटा होता है और कोई बड़ा, अर्थात् कभी अन्तराल पांच मिनिट का होता है और कभी घण्टों का भी।

भला यह तो बता कि तू क्या काम किया करता है इन अन्तरालों में ? कुछ विशेष कार्य नहीं, केवल कुछ कल्पनाएं, कुछ चितायें इस जाति की जो तुझे व्याकुलता के वेग में बहा कर ले जाती हैं। भाव घट गया है माल का, पचास हजार का माल पड़ा है घर में। क्या होगा ? कोई आशंका सी,—यदि यह सत्य हो गई, "तो ?" ब्लड प्रेशर का रोग बता दिया है डाक्टर ने, बड़ा भयानक है यह—हार्ट फेल करने का कारण। एक आशंका सी —यह सत्य हो गई "तो ?" और इसी

प्रकार की अनेकों निराधार कल्पनायें, जिन का आधार है केवल अनुमान व संशय और यदि कोई सौभाग्य वश आकर बीच में टोक दे मुझे, अर्थात् मेरे उपयोग को इधर से हटा कर खींच ले अपनी ओर तो मैं बड़ा ही कुछ प्रसन्न सा हो जाता हूं। अच्छा ही हुआ यह ग्राहक आ गया, क्या अच्छा होता कि हर समय ही ग्राहक खड़े रहते मेरे पास, और मुझे ऐसी कल्पनायें करने का अवसर ही न मिल पाता। अर्थात् करता हूं इस आशंका जनित "तो" सम्बन्धी चिन्तायें, जिन के न आने को ही अपना सौभाग्य मानता हूँ।

तब तो बहुत सरल हो गया तेरे लिये—किसी आवश्यक कार्य को छोड़ने की या उस में बाधा डालने की आवश्यकता नहीं, केवल उन फ़ालतू वाले अन्तरालों का दुरुपयोग न करके सदुपयोग कर। किस प्रकार सो सुन यह पहले बताया जा चुका है कि अभिप्राय या लक्ष्य पूर्णता का होता है, परन्तु अभिप्राय के साथ साथ कार्य भी पूर्ण हो जाय यह नियम नहीं। हाँ यह नियम अवश्य है, कि कार्य करने के प्रति पुरुषार्थ अवश्य प्रारम्भ किया जाता है-यदि उपाय संबन्धी कुछ जानकारी हो तो। तुझ में भी इस वातावरण में रहते रहते शान्त रहने का सच्चा व दृढ अभिप्राय तो बन चुका है और जीवन में उस अभिप्राय की किञ्चित् मात्र पूर्ति के पुरुषार्थ करने को भी उद्यत हुआ है परन्तु उपाय का भान न होने के कारण तेरा यह अभिप्राय कुछ बेकार सा ही पड़ा है। लो वही उपाय बताते हैं।

१५ नवीन संस्कार की आवश्यकता

किसी शत्रु का विनाश करने के लिये, नीतिज्ञ व्यक्ति उसके मुकाबले में उसके अन्य शत्रु को भड़का कर खड़ा कर दिया करते हैं, और इस प्रकार बिना स्वयं आफ़त में पड़े अपने प्रयोजन की सिद्धि कर लिया करते हैं। बस तू भी यदि बिना उपसर्गादि सहे इन संस्कारों का विनाश करना चाहता है तो इनके सामने ही किसी इनके विरोधी अन्य संस्कार को लाकर खड़ा कर दे, अर्थात् प्रयत्न कर कि तेरे अन्दर एक नवीन जाति का कोई विशेष शुभ संस्कार उत्पन्न हो जाये, जिस का झुकाव हर समय शान्ति के अभिप्राय को प्रेरित करना हो, जिस प्रकार कि वर्तमान संस्कारों का झुकाव भोग आदि अभिप्राय को प्रेरित करना रहता है।

१६ नवीन संस्कार का उत्पत्ति क्रम

किसी भी संस्कार उत्पन्न करने का उपाय आस्रव बन्ध तत्व प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है। बस वही प्रयोग इस अभीष्ट संस्कार को उत्पन्न करने के लिए भी लागू करना है। वैज्ञानिक ढंग यही है-किसी कार्य को करने का, कि अनुभूत कार्य का विश्लेषण करके "वह किस प्रकार तथा किस क्रम से करने में आया है", यह जाना जाये, और उस क्रम को एक सिद्धान्तिक रूप दे दिया जाय-हर कार्य पर लागू करने के लिए। पूर्व संस्कार को उत्पन्न करने के क्रम में बताया गया था, बुद्धि पूर्वक की कोटि से प्रारम्भ करके उसका अबुद्धि पूर्वक की कोटि में चले जाना। यहां भी यह नवीन संस्कार पहले पहले बुद्धि पूर्वक बल लगा कर प्रारम्भ करना होगा, और इस बुद्धि के प्रयोग को तब तक चालू रखते रहना होगा जब तक दृढ़ व पुष्ट हो कर वह अबुद्धि की कोटि में न चला जाये।

क्या है यह बुद्धि का प्रयोग, यही अब बताता हूं। मैं जीवन में कुछ ऐसा प्रयत्न रखूं कि भले ही काम के अवसरों में न सही, परन्तु उन फालतू अवसरों में तो मुझे वह बात जो प्रातः

काल मन्दिर में देखी थी, सुनी थी, विचारी थी, व धारी थी, उपयोग में आही जाये। अर्थात उन अवसरों में यदि कल्पनाएं ही करनी है तो बजाए उपरोक्त कल्पनाओं के कुछ अन्य जाति की कल्पना क्यों न करूं। उस जाति की कल्पनाएं, जिससे कि वह अवसर उतने अपने काल के लिए स्वयं सुन्दर बन जाये, शान्त बन जाये, तथा अगले अवसरों को भी वैसा बनने की प्रेरणा दे और इस प्रकार उन फालतू अवसरों को उपयोगी बना लूं। यह ठीक है कि पहले पहले उन सर्व ही फालतू अवसरों को उपयोगी बनाने में मैं सम्भवत सफल न हो पाऊं, परन्तु यदि प्रयत्न करूं तो क्या यह भी सम्भव नहीं, कि उन सर्व अवसरों मे से कोई एक या दो अवसर कदाचित् मै उपयोगी बना सकूं ? ऐसा हो जाना अवश्य सम्भव है। उपयोगी बने हुए उस अवसर में, स्वभावतः ही अनुभव में आई कोई अलौकिक शान्ति, मेरे पूर्व के अभिप्राय को और पुष्ट कर देगी, कल के प्रवचन में बताये अनुसार विरोधी संस्कार को किञ्चित् क्षति पहुंचायेगी, सफलता के प्रति मेरे अन्दर में पड़े संशय को दूर कर देगी और कुछ साहस में वृद्धि करेगी। मैं अधिक उद्यमी बन कर शेष रहे अन्य अवसरों में भी, उन बातों को उपयोग में लाने का प्रयत्न करूंगा तथा एक दिन सफल हो जाऊंगा उन सर्व फालतू अवसरों को उपयोगी बनाने में।

इतने पर ही बस न होगा। इस बात का अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं, कि उत्पन्न हुई उस शान्ति से प्रेरित होकर यह मेरा पुरुषार्थ बराबर आगे बढ़ता चला जायेगा-इस दिशा में और धीरे धीरे उन उपयुक्त अवसरों की गिनती में वृद्धि होने लगेगी। अब कदाचित् ग्राहक से बातें करते या अन्य कोई आवश्यक कार्य करते हुए भी थोड़ी देर के लिये, मेरे उपयोग में वह बात आ जायेगी। केवल बुद्धि पूर्वक का पुरुषार्थ ही नहीं, पूर्व का अभ्यास भी अबुद्धि पूर्वक इस कार्य में मेरी सहायता करता रहेगा। आगे आगे उपयोगी अवसरों की गिनती में ही वृद्धि न होगी, बल्कि उनके काल में भी बराबर वृद्धि होती चली जायेगी, और इस प्रकार बराबर दो दिशाओं में वृद्धि होते होते एक दिन ऐसा आ जायेगा, जबकि यह सर्व अवसर मिल कर एक विचार धारा बन जायेंगे अर्थात् उस प्रकार का उपयोग बराबर अन्दर में बना रहेगा। चलते, फिरते, उठते, बैठते, खाते पीते, नहाते, धोते, सोते जागते हर समय ही वह उपयोग अन्दर में छिपा हुआ, कुछ हल्की हल्की चुटकियां लिया करेगा। मैं बाहर में तो सौदा तोलता हूँगा ग्राहक को और अन्दर में वेदन करता हूंगा उन हल्की हल्की शान्ति रस के आनन्द की चुटकियों का और अब वह बात किसी भी वातावरण में भूल न पाऊंगा, जैसा कि पहले हो जाया करता था। यही तो था मेरा प्रयोजन, जिसकी सिद्धि क्रम पूर्वक चलने से हो गई।

१७ अबुद्धि पूर्वक का नवीन संस्कार — अभ्यास हो जाने के पश्चात् कोई बुद्धि पूर्वक का विशेष पुरुषार्थ उस दिशा में करना नहीं पड़ता है, वह कार्य थोड़े से इशारे मात्र में ही स्वयं चलता रहता है। जिस प्रकार बड़े परिश्रम से बुद्धि पूर्वक पद आगे बढ़ाने का अभ्यास करने वाला बालक अभ्यस्त हो जाने पर, मात्र थोड़े से इशारे से दौड़ने तक लगता है, उसे अपनी बुद्धि को विशेषतया उस दिशा में लगाने की आवश्यकता नहीं होती, पांव से चलते हुए भी वह बुद्धि से कुछ और बातें विचारने का काम लिया करता है। उसी प्रकार उपरोक्त अभ्यस्त दशा हो जाने पर उस साधक गृहस्थ की बुद्धि भले ही बाहर

में किसी और दिशा का कार्य करती रहे पर अन्तरङ्ग का वह प्रयोजनभूत कार्य अबुद्धि पूर्वक की कोटि में आकर एक संस्कार का रूप धारण कर चुका है, वह संस्कार जो कि पूर्व अनेकों संस्कारों को परास्त करने में समर्थ है और जिसका विश्वास हो जाता है उस महान अन्तर की प्रतीति से, जो हमारे पूर्व की अशान्ति व वर्तमान की किञ्चित् शान्ति के बीच साक्षात् अनुभव में आ रहा है।

१८ नवीन संस्कार की उत्पत्ति के पश्चात् भी किंचित् पुरुषार्थ

अबुद्धि पूर्वक का तात्पर्य यहां यह न समझ बैठना कि बिना किसी भी पुरुषार्थ के ही वह अवस्था बराबर बनी रहेगी, इस अवस्था में भी कुछ पुरुषार्थ अवश्य लगाना होगा—उस नवीन संस्कार की धारा को बराबर प्रवाहित करने के लिये। यह बात अवश्य है कि उस पुरुषार्थ में लगाये जाने वाला बल प्रारम्भ में लगाये जाने वाले बल से बहुत कम होगा। जिस प्रकार कि लोटे में पानी भर कर उसमें डोरी बांध कर घुमाएं तो पहले चक्कर में झटका देते समय कुछ अधिक बल लगाना पड़ता है, और सावधानी पूर्वक लगाना पड़ेगा, कि कहीं पानी बिखर न जाये, परन्तु एक चक्कर खा लेने के पश्चात् आगे भी उसे घूमता रखने के लिये भले ही उतना बल व उतनी सावधानी न रखनी पड़े, परन्तु प्रत्येक चक्कर के साथ ऊंगली का एक संकेत तो देना ही पड़ेगा। कार्य प्रारम्भ हो जाने के पश्चात् उसे चालू रखने के लिये जो यह थोड़ा सा बल लगाना पड़ता है इसे आज के वैज्ञानिक इञ्जीनियर एक्सीलिरेशन के नाम से कहते हैं। तथा गणित के द्वारा भी वे लोग इस प्रक्रिया विशेष में प्रयुक्त बल को अर्थात् एक्सीलिरेशन पवर को प्रारम्भ में प्रयुक्त बल की अर्थात् स्टार्टिंग पवर की अपेक्षा कई गुणी हीन सिद्ध कर रहे हैं। मोटर स्टार्ट करते समय पहले सैकिण्ड गीयर पर चलायी जाती है और एक बार चलने के पश्चात् अन्तिम गीयर पर डाल दी जाती है। फस्ट या सैकिण्ड गीयर पर उसकी गति धीमी होती है और पैट्रोल अधिक खाती है, परन्तु अन्तिम गीयर पर उसकी गति भी तीव्र हो जाती है और पैट्रोल भी बहुत कम खाती है। अर्थात् प्रारम्भ में अधिक बल लगा कर भी कम काम कर पाती है और चालू हो जाने के पश्चात् कम बल लगाने से भी अधिक काम कर पाती है यही वैज्ञानिक सिद्धान्त सर्वत्र सभी कार्यों में लागू होता है।

मुजफ़्फ़रनगर दिनांक १० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६५

१९ कर्तव्य रूप छः क्रियाओं का निर्देश,

अनादि काल से पुष्ट हुए उन दुष्ट संस्कारों को (जो कि मेरे बिना चाहे भी मुझे उस गृहस्थ के वातावरण में जाने पर, मानों जबरदस्ती खींच कर व्याकुलता के सागर में धकेल देते हैं) नाश करने के उपाय, अर्थात् निर्जरा के उपाय तप का प्रकरण है। इस अल्प भूमिका में रहते हुए, किस प्रकार यथायोग्य तप किया जाना सम्भव है? किस प्रकार, क्यों, और किस क्रम से वह वृद्धि को प्राप्त होता हुआ, खण्डित रूप से एक धारा प्रवाह रूप बन जाता है, तथा किस प्रकार वह मेरे अन्दर शान्ति अंकुर उगाता हुआ मेरे साहस तथा बल में वृद्धि करता है ये बातें कल के प्रकरण में चल चुकी हैं। आज वह प्रक्रिया विशेष चलती है जिसको कि जीवन के पूर्व संकेत किये हुए खाली अवसरों में मुझे अपने जीवन का प्रयोग क्षेत्र बनाना है। वह प्रक्रिया बाह्य में नहीं अन्तरङ्ग में ही, केवल चिन्ताओं में व नवीन जाति की कुछ कल्पनाओं में करनी होगी क्योंकि बाह्य

क्रिया करने की शक्ति वर्तमान में मुझ में नहीं है। इस प्रक्रिया को छः भागों में बांटा जा सकता है। (१) विनय, (२) वैयावृत्य, (३) स्वाध्याय, (४) त्याग, (५) सामायिक, (६) प्रायश्चित। क्रम पूर्वक उन छः बातों को बताते हैं।

२० विनय तप प्रातः काल मन्दिर में दर्शन करते समय और गुरु की प्रत्यक्ष व परोक्ष भक्ति करते समय, जिस शान्ति के दर्शन किये थे; उनमें जिस वीतरागता का दर्शन किया था, उनमें से जिस मुस्कराहट का वह मधुर शान्ति बरसाती आकृति का प्रवेश हुआ था-मेरे हृदय में; जिस साम्यता का संचार देखा था उनके अन्तस्थल में; निन्दक व वन्दक में समानता का जो विचित्र भाव देखा था उनके जीवन में कि जिसके कारण दीखती थी उनमें निश्चलता, निश्चितता व निर्विकल्पता; जिसके कारण बह रही थी मानों शान्ति की शीतल गङ्गा; जिसके कारण हो रही थी मानों समस्त विश्व पर शान्ति सुधा की वर्षा; ऐसी अद्भुत उनकी शान्ति के दर्शन करने का मैं प्रयत्न करूं-उन प्रतिकूल वातावरण में पड़े खाली अवसरों में। तत्क्षण मेरे अन्दर स्वयं वेदन में आने वाली शान्ति के प्रति उत्पन्न करूं एक उत्कण्ठा, जिसके कारण कि उत्पन्न हो जाय मेरे अन्दर एक क्षणिक कृत कृत्यता और फलस्वरूप उस के प्रति व उन देव गुरु का स्वाभाविक तीव्र बहुमान, भक्ति व विनय। इस प्रक्रिया का नाम है "विनय तप"। यथार्थ विनय तप तो होता है गुरुओं को, उन योगियों का तो सारा जीवन ही गुणमयी बन गया है। परन्तु आंशिक रूप से तथा कुछ क्षणों के लिये ऐसे विचारों में निमग्न होने के कारण, उस समय मेरा जीवनभी रङ्गा जायेगा उसी रङ्ग में। इसलिये इसका नाम तप कहने में अतिशयोक्ति न होगी।

वैयावृत्ति तप इस प्रकार क्षणिक शान्ति का वेदन अपने जीवन में कर लेने के पश्चात्, जब मैं संस्कारों के द्वारा प्रेरित किया गया च्युत हो जाऊंगा-इस अवस्था से, तो क्या होगी मेरी दशा, यह बात ऐसी ही हो जाती है जैसे कि एक पक्षी जा रहा हो आकाश में ऊंची ऊंची उड़ानें भरता, और किसी व्याध के तीर से घायल हुआ, गिर पड़े पृथ्वीपर फड़फड़ाता हुआ (उसी तरह मैं कितना तड़फूंगा उस समय)। अवकाश पाकर पुनः वही उद्यम, पुनः वही शान्ति की उड़ान, और फिर संस्कारों के द्वारा घायल और इसी प्रकार बार बार गिरा दिया जाकर भी, मेरा पुरुषार्थ रहेगा पुनः पुनः उसी अवस्था को प्राप्त करने का। यह क्रिया कृत्रिम न होगी बल्कि स्वाभाविक होगी जिसे उस रसास्वादन के द्वारा प्रेरणा मिलती रहेगी। इस प्रकार शान्ति और अशान्ति के झूले में झूलते मेरा प्रयत्न बराबर यह रहेगा कि वहां से च्युत न होने पाऊं, अधिक से अधिक देर वहां ठहर सकूं। इस पुरुषार्थ का नाम ही अपनी 'वैयावृत्ति' व अपनी सेवा है, जो अशान्ति रूपी रोग से अपनी रक्षा करने के लिऐ, अथवा रोग आ पड़ने पर उसे दूर करने के लिए मुझे स्वभाव से ही होगी। इस प्रकार की वैयावृत्ति तो होती है वास्तव में योगी जनों को, जिन पर संस्कार का जोर चलना ही बन्द हो गया है, जो कि उस शान्ति से च्युत ही नहीं होते। परन्तु उन्हीं का प्रतिबिम्ब होने के कारण मेरा यह पुरुषार्थ भी वैयावृत्ति नाम का तप है। अपने जीवन में इस जाति की वैयावृत्ति हो जाने पर, क्या मैं स्वभावतः ही उन दूसरे जीवों को शान्ति से च्युत होते हुए व तड़फते हुए देख सकूंगा, जिनको पूर्ण रूपेण या आंशिक रूपेण उसका रसास्वाद हो रहा हो? क्या मुझसे यह सहन हो सकेगा? उसकी पीड़ा व दुःख देखकर यदि मेरे हृदय में स्वाभाविक तड़फन न हो जाये तो उसका यह अर्थ होगा कि मुझे शान्ति के प्रति आन्तरिक बहुमान नहीं है। अतः उनको अर्थात् मुनि को, उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य श्रावक को, अथवा उस गृहस्थ को जिसे निज स्वरुप की शान्ति रूप अवस्था का साक्षात्कार हुआ है,

ऐसी अवस्था में देख कर स्वभावतः ही मेरे अन्दर एक तड़फ उत्पन्न हो जायेगी जिसके कारण, इस अभिप्राय से, कि जिस किस प्रकार भी इसकी दुर्लभ शान्ति पुनः उसे लौट आये, मैं जुट जाऊंगा उस की बाह्य व अभ्यन्तर सेवा में—बाह्य से अपने शरीर द्वारा या धन द्वारा उसके शरीर की सेवा व रोग के प्रतिकार में, अथवा उसकी आर्थिक स्थिति के सुधार सम्बन्धी प्रयत्न में और अभ्यन्तर से उपदेश देकर पुनः उसमें धैर्य व साहस उत्पन्न कराने में। यह कहलाएगी पर की वैयावृत्ति।

२२ स्वाध्याय तप प्रातः मन्दिर में बैठ कर स्वाध्याय में जो पढ़ा था, अथवा प्रवचन में जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें जो विषद रीति से समझ में न आ पाई, आपको उन अपने खाली अवसरों में विचारनी चाहियें कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है? उस वाक्य व शब्द का आपकी शान्ति की सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है? यदि कुछ नहीं, तो वास्तव में अर्थ ही ठीक नहीं हुआ। शास्त्र में लिखा एक एक शब्द शान्ति का द्योतक है, उसको ठीक रीति से समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्ग में अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वयं बोल कर बता नहीं सकता, उसमें लिखे शब्द अवश्य संकेत कर रहे हैं, किसी ऐसी दिशा का जिधर आपकी शान्ति का निवास है। उस दिशा का अनुमान लगाना तथा उस अनुमान की परीक्षा अनुभव के आधार पर करना आपका काम है तथा कुछ ऐसी भी बातों को जो विशद रूप से समझ में आ गई थीं, बहुमान पूर्वक व हृदय से लगन पूर्वक विचारना चाहिये। इनके अतिरिक्त किसी जिज्ञासु को उस समझे हुए सिद्धान्त के अर्थ का ठीक रीति से कल्याण भावना पूर्वक उपदेश देने को भी स्वाध्याय नाम का तप कहते हैं। यह प्रक्रिया प्रतिकल वातावरण में रह कर आश्रय रहित की जा रही है, यथार्थ में स्वाध्याय तप तो योगियों को ही होता है, जो जीवन में प्रति क्षण निज शान्ति के वेदन रूप स्व-अध्ययन ही किया करते हैं। परन्तु उतने मात्र अवसर के लिए आपको भी उसी भाव का आंशिक वेदन हो जाने के कारण, इस अल्प भूमिका में यह स्वाध्याय नाम का तप कहलायेगा। (स्वाध्याय का विशेष स्वरूप देखो अध्याय नं० २४)

२३ त्याग तप चौथा तप 'व्युत्सर्ग' अर्थात् 'त्याग' नाम का तप है। यथार्थ व्युत्सर्ग तो योगियों को ही होता है, जिन्होंने इस गृहस्थ के सर्व जंजालों से मुंह मोड़ लिया है, यहाँ तक कि साथ साथ रहने वाले इस शरीर से भी अन्तरङ्ग में नाता तोड़ दिया है, इस पर अनेकों बाधाय, क्षुधादि की, या मनुष्य कृत, तिर्यञ्च कृत, देय कृत, प्रकृति कृत, उपसर्गों की आ पड़ने पर भी वह कुछ परवाह नहीं करते, धीर वीर बने अपने आन्तरिक सुख में बराबर मग्न रहते हैं। परन्तु इस अल्प भूमिका में यह तप एक गृहस्थी को भी होता है। इन्द्रिय संयम के प्रकरण में बताये अनुसार यथा योग्य विषयों के त्याग के अतिरिक्त, (देखो अध्याय नं० २६) वह त्याग करता है दान के रूप में, जिसकी बात आगे आ जाएगी दान के प्रकरण में (देखो अध्याय नं० ३०)।

२४ सामायिक तप पाँचवें तप का नाम है 'सामायिक' आगम में इस तप का नाम ध्यान है, अर्थात् चित्त को एकाग्र (किसी एक उपयोगी तत्व में रोकना) करके आत्म शक्ति की प्राप्ति में बाधक चिन्ताओं व विकल्पों का पूरी तरह निरोध करना। इस तप को पूर्णतया तो योगीजन करते हैं जिसका विवेचन आगे किया जायेगा परन्तु इस अल्प अवस्था में भी इसका बड़ा महत्व है इसे यहां सामायिक नाम से कहा गया है। सामायिक का स्वरूप जरा स्पष्ट रूप से समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके

सम्बन्ध में बहुत भ्रम है, और यह मेरी इस शान्ति प्राप्ति की मूल बात है। जो कुछ भी किया जा रहा है या बताया जा रहा है या जिसका अब तक अभ्यास कराया गया है, सब इसकी सिद्धि के लिये है। यही वह पुरुषार्थ है जो तत्क्षण शान्ति प्रदायक है। सामायिक अर्थात् समता, राग द्वेषादि मिश्रित विकल्पों का अभाव, शान्ति में स्थिति, वीतरागता इन लक्षणों के अन्तरंग में प्रगट हुए बिना कोई भी धार्मिक बाह्य कार्य सामायिक नहीं कहा जा सकता, और इस प्रयोजन के अन्तरङ्ग में प्रगट होने पर लौकिक कार्य भी सामायिक कहा जाता है।

बड़ी विचित्र बात सुन रहे हैं। आज तक तो ऐसा सुनते रहे कि मन्दिर में बैठ कर, शरीर को निश्चिंत करके, हाथ में माला ले, अथवा अंगुलियों पर, १०८ बार क्रमशः गिनते हुए मुख से णमोकार मन्त्र का उच्चारण कर देने से जो जाप किया जाता है, या कोई भक्तामर आदि का पाठ किया जाता है, वही सामायिक है, इसके अतिरिक्त और क्या परन्तु आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि यह वास्तविक सामायक नहीं है। सामायिक का यथार्थ स्वरूप सुन कर तर्क पूर्वक इस बात की सत्यता का अनुमान भली भांति लगा सकोगे।

उपरोक्त वक्तव्य का यह अर्थ नहीं कि णमोकारमन्त्र उच्चारण का या भक्तामर आदि के पाठों का निषेध किया जा रहा है—बल्कि यहां तो सामायिक का प्रकरण है। यदि इन क्रियाओं से भी सामायिक का प्रयोजन साम्यता व शान्ति सिद्ध हो जाये, तो बेशक यह क्रियायें भी सामायिक की कोटि में गिनी जायेंगी और कोई २ ज्ञानी व अनुभवी जन इन्हीं क्रियाओं के रूप में सच्ची सामायिक करते भी हैं, उसका निषेध नहीं है। निषेध है उस क्रिया का जो कि अन्तरङ्ग प्रयोजन से निरपेक्ष वर्त रही है। कुछ अभ्यस्त बन जाने के कारण यह मन्त्र व पाठोच्चारण वास्तव में आज संस्कार की कोटि में जा चुके हैं, इनको उच्चारण करते समय बुद्धि का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह क्रिया कुछ मिकेनिकल (मशीनवत) सी हो गई है अर्थात् मन कहीं भी घूमता रहे, कैसे भी विकल्पों का निर्माण करता रहे, परन्तु ग्रामोफोन के रिकार्ड वत् मुंह अपना काम करता रहेगा, और हाथ अपना और मुझे स्वयं को इतना भी पता न चल पायेगा, कि किस प्रयोजन को लेकर मैं यहां बैठा हूं। अन्तरंग घूमता है राग द्वेष के संसार में और बाह्य में यह करता रहे ध्यान। यह क्रिया जब कभी पहले करनी प्रारम्भ की थी, तब तो बुद्धि की कोटि में रह कर ही की थी, परन्तु तब तो इसका यथार्थ प्रयोग किया नहीं, और अब जबकि स्वयं यह अबुद्धि की कोटि में जा चुकी है, बुद्धि लगा कर भी मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर नहीं सकती, अतः बेकार है।

अब यह प्रश्न है कि सामायिक किस प्रकार की जाये? लीजिये, छोड़ दीजिये इस मिकेनिकल प्रक्रिया को या किसी भी रटे हुए पाठ आदि के आश्रय व उच्चारण को, और स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उठाइये कुछ विचार अपने अन्तरङ्ग में, गद्य में या पद्य में या मात्र अपने जल्प में। देखिये कितना पुरुषार्थ करना पड़ेगा आपको इस क्रिया में। बुद्धि या उपयोग का कार्य एक दिशा में ही चल सकना सम्भव होने के कारण, इस प्रक्रिया के करते हुए आपको अपने मन को जबरदस्ती उन विचारों में ही केन्द्रित करना पड़ेगा, वह अपनी इच्छा से इधर उधर न भाग सकेगा। फलतः लौकिक रीति के मेरे तेरे आदि विकल्प रुक जायेंगे और वीतरागता, निर्विकल्पता, व शान्ति का वेदन

होने लगेगा । बस हो गई सामायिक के प्रयोजन की सिद्धि । अतः बुद्धि पूर्वक कुछ विशेष जाति के विचार या विकल्प उत्पन्न करने का नाम ही सामायिक है।

२५ सामायिक में उपयुक्त कुछ विचारणायें

वे विचार क्या हैं जो इस अवसर पर उत्पन्न किये जायें? उन्हें बताते हैं—वास्तव में तो किसी भी पदार्थ सम्बन्धी यहाँ तक कि धन सम्पत्ति अथवा शरीर कुटुम्ब सम्बन्धी भी विचार, यदि मेर-तेरे, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, अच्छा बुरा आदि कल्पनाओं से रहित हों, तो इस प्रक्रिया में इष्ट हैं। ज्ञान धारा में रंगी सर्व विचारणायें सामायिक रूप ह और कर्म धारा में रंगी णमोकार मन्त्र की जाप तक भी सामायिक नहीं कही जा सकती (ज्ञान व कर्म धारा के लिए देखो अधिकार नं० १३) क्योंकि पदार्थ का जानना अनिष्ट नहीं, अपराध नहीं, अशान्ति का कारण नहीं, यह कल्पनायें ही अपराध हैं, अशान्ति का कारण ह । परन्तु इस प्रथम भूमिका म अभ्यास न होने के कारण उन पदार्थों सम्बन्धी विचारों के साथ साथ सम्भवतः वे कल्पनायें भी उत्पन्न हुए बिना न रह सकगी, अतः उनका विचार करन के लिये आपको न कहा जायगा । इतनी शक्ति अधिक अभ्यस्त व योगी जनों को ही प्राप्त है कि रागोत्पादक पदार्थों का विचार करते हुए भी वे रागात्मक विकल्प उत्पन्न न होने दें, केवल उनके ज्ञाता दृष्टा मात्र ही बने रहें।

कूप मण्डूक वत् बन कर यह उपरोक्त विचार नहीं किये जा सकते । इनके लिए कुछ विश्व व्यापक व विशाल दृष्टि करनी होगी। जैसे कि धन के सम्बन्ध में विचार करते समय एक गृहस्थी अपनी आर्थिक परिस्थिति, (जो कि केवल ५ व्यक्तियों तक सीमित है) के आधार पर ही अपनी हानि लाभका भाव बनाता है, इन पांच व्यक्तियों में यह धन रहे या यह ही इसका भोग करें तो साधक हुआ, परन्तु इन ५ से बाहर अन्य कोई इसका भोग करे तो कुछ नुकसान हुआ शोक व द्वेष का कारण हुआ । जवाहर लाल इसी बात को देश की अर्थ व्यवस्था के आधार पर विचारता है भले आपको टोटा पड़े या लाभ हो जाये, आप रोवें या हंसें । यदि धन देश में ही रहते हुए आपके पास से मेरे पास आ गया तो कोई नुकसान नहीं हुआ, परन्तु यदि अमेरिका को भेजना पड़े तो बड़ा नुकसान होगा, द्वेष तथा शोक का कारण होगा। और यदि एक विश्व पर दृष्टि रखने वाला इस बात का विचार करे, तो व्यक्ति रोवे या हंसे, किसी एक देश से आये और किसी दूसरे देश में जाये, परन्तु न कोई हानि होती है न लाभ, विश्व का ही है और विश्व में ही रहा, स्थान परिवर्तन मात्र से विश्व मे कोई हानि नहीं पड़ी, द्वेष व शोक को अवकाश ही नहीं । इसी कारण विश्व व्यापक दृष्टि के द्वारा देखने वाला पदार्थों को देखता है एक अजायबघर में रखी वस्तुओं की तरह केवल ज्ञाता दृष्टा बन कर । परन्तु संकुचित दृष्टि वाला देखता है उन्हीं वस्तुओं को दुकानों व अपने घर में सजी हुई वस्तुओं की तरह, उनके ग्रहण व भोग की भावना सहित, रागी द्वेषी होकर । अतः विश्व व्यापक दृष्टि वाले का उन्हीं पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करना सामायिक है, और संकुचित दृष्टि वाले का वही विचार रागात्मक है।

१—इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों विचार हैं, जिनमें राग की उत्पत्ति को अवकाश नहीं । परन्तु यह उसी समय सम्भव है जब कि मेरी दृष्टि या तो अत्यन्त संकुचित हो जहां कि मुझे मेरी शान्ति या स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई ही न दे, या हो अत्यन्त विस्तृत जहां युगपत् समस्त विश्व दिखाई दे, मध्यवर्ती सब दृष्टियां रागात्मक हैं। यहां दृष्टि का तात्पर्य श्रुतज्ञानात्मक

विचार दृष्टि है, केवलज्ञानात्मक न समझना। संकुचित दृष्टि में तो "मैं एक अकेला, सर्व विकल्पों तथा चार कोटि के पर पदार्थों से रहित, ज्ञान ज्योति स्वरूप भगवान आत्मा, यहां अनुभव में बैठा साक्षात् दीख रहा हूं" इस प्रकार के विचार से सहभावी अलौकिक शान्ति में तन्मयता हो जाती है। यह ही एक विचार है दूसरा नहीं।

२—विस्तृत दृष्टि में किए जाने वाले अनेकों विचार हैं, उन्हें समझिए पहला विचार 'आज्ञा विचय' कहलाता है। अर्थात् आज तक जीवादि तत्व सम्बन्धी बातें सुन व समझ कर जो हिता-हित सम्बन्धी विवेक बुद्धि प्रगट हुई, उसके अवधारण पूर्वक, सँवर निर्जरा प्रकरण में बताये अनुसार किञ्चित् उद्यम करने के कारण प्रगटी जो शान्ति, उसके साथ जोड़ बैठाते हुए गुरु की जीवादि तत्वों सम्बन्धी देशना का विचार। जैसे 'मैं चैतन्य हूं, भूल कर आज तक शरीर को 'मैं' माना, नवीन नवीन विकल्प उत्पन्न करके रागात्मक संस्कार बांधे, और व्याकुल बना रहा। आज सौभाग्य से गुरुदेव की देशना प्राप्त हुई, कर्तव्य अकर्तव्य जाना, हिताहित पहिचाना, देव पूजादि संवर सम्बन्धी व विनयादि निर्जरा सम्बन्धी कुछ उद्यम जीवन में प्रगट किया। फलतः कुछ शान्ति मिली, जिसे पाकर आज मैं कृत्यकृत्य हुआ जाता हूं, यह सब गुरुदेव की देशना का ही तो प्रताप है।" और इसी प्रकार के बहु-मान सम्बन्धी विचार आज्ञा विचय कहलाते हैं।

३—दूसरा 'अपाय विचय' नाम का विचार है। इसमें यह विचारा जाता है कि आज तक मैं कितना अभागा रहा कि शान्ति के दर्शन भी न कर पाया। मेरा अभाव तो कभी हुआ न था, चला तो अनादि काल से ही आ रहा हूं परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज तक इसकी ओर की जिज्ञासा ही मेरे अन्दर न हुई और कितने दुःखी हैं ये सर्व जगत के प्राणी, बेचारों को यह भी पता नहीं कि वे दुःखी हैं कि सुखी मानों बेहोश पड़े हैं। कितने अभागे हैं बेचारे ? इत्यादि।

४—तीसरा 'विपाक विचय' नाम का विचार है इसमें यह विचारा जाता है "कि कितने दुष्ट तथा प्रबल हैं ये संस्कार, कि जिनके पाले पड़ आज तक मुझे हित की बुद्धि ही नहीं उपजी तथा ये सर्व जगत के प्राणी भी तो उसके आधीन हुए नाच रहे हैं आज। पर सावधान रहने की आवश्यकता है इनके प्रहार से, इनको जड़मूल से उखाड़ना ही मेरा कर्तव्य है। आज मुझको प्रकाश मिला है गुरुदेव से, अब इन्हें छोड़ना ही पड़ेगा मेरा देश। इनके एक बच्चे को भी आज्ञा न मिलेगी यहां रहने की। आज तक इनके आधीन रहा, पर अब न रहूंगा, इत्यादि।

५—चौथा है 'संस्थान विचय' नाम का विचार। इसका बहुत अधिक विस्तार है—अर्हंत देव के, व सिद्ध प्रभु के शान्त सच्चिदानन्द चैतन्य स्वरूप का व अमूर्तिक आकार का विचार करना तथा गुरु देव की शान्ति में स्नान करती आकृति को सामने रखते हुए, पंच परमेष्ठी का स्मरण व चिंतवन, केवल शब्दों मात्र से नहीं बल्कि गुणों के परिशीलन द्वारा गुणों में भी शरीर के गुणों का नहीं बल्कि चैतन्य के वीतरागता, साम्यता व शान्ति आदि गुणों का मनन संस्थान विचय है। विनय तप में बताया गया विचार भी इसी में समावेश पा सकता है।

इस प्रकरण में विशाल दृष्टि के अन्तर्गत अनेकों विचार हैं। सृष्टि का सुन्दर चित्रण जैसा कि प्राण संयम के अन्तर्गत चार प्रकार से करने में आया है (देखो अध्याय नं० २७ प्रकरण ०२४)

समस्त विश्व को ईश्वर के अर्थात् अपने निवास स्थान के रूप म विचारना; सर्व विश्व को ईश्वर के अर्थात् अपने द्वारा सृजन की हुई ईश्वरीय सृष्टि के रूप में देखना; सर्व विश्व को एक ब्रह्म अर्थात् एक चैतन्य या सर्वत्र 'मैं' के रूप में देखना; इनके अतिरिक्त समस्त विश्व को एक अजायबघर के रूप में देखना, जहां अनेकों चित्र विचित्र जड़ व चैतन्य पदार्थ, अनेकों पृथ्वीकाय किस सुन्दरता के साथ सजाई गई हैं; एक एक प्रदेश की सुन्दर रचना को देखना; सर्व पदार्थ सदा से स्थित हैं; स्थित रहते हुए भी किस प्रकार से अठखेलियां कर रहे हैं, जैसे सागर में मछली, कभी रूप बदल कर तथा कभी स्थान बदल कर, इस प्रकार वस्तु के उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप को देखना।

और भी विश्व को देखना एक अपने विराट रूप में। मेरे द्वारा सृजन की गई यह सृष्टि जिस का चित्रण प्राण संयम के अन्तर्गत करने में आया है, मानों मेरे अन्दर से निकल निकल कर मुझ में ही समाई जा रही है, क्योंकि जितने भी यह रूप दिखाई दे रहे हैं यहां, यह सर्व मेरी ही तो अवस्थायें हैं। मेरे द्वारा अनेकों बार धारण की गई हैं-भूतकाल में, तथा सम्भवतः अनेकों बार धारण करनी पड़े भविष्यत् काल में। अपनी रुचि के अनुसार में इनका निर्माण करता व संहार करता चला आ रहा हूँ, अथवा उस ही में उनमज्जन व निमज्जन करती जल कल्लोलों वत् कल्लोलित यह कोई महान सागर है, जहां उत्पत्ति व विनाश होते हुए भी कुछ उत्पन्न हो रहा है न विनाश। यह था कृष्ण जी के द्वारा अर्जुन को गीता में दर्शाया गया 'मेरा' अर्थात् 'मैं' का स्वरूप। लोक गीता में कथित 'मैं' का अर्थ कृष्ण समझ कर भूल करते हैं। वह बेचारे यह नहीं जानते कि अध्यात्म भाषा में 'मैं' का प्रयोग होता है उस अर्थ में जिसमें कि पिछले दो महीने से यहां पर किया जा रहा है। अर्थात् सर्व प्राणियों में अपना अपना "अहं प्रत्यय", सर्व प्राणियों में से उठने वाली अपनी अपनी "मैं" की पुकार और इस प्रकार गीता का वह विराट रूप तथा ईश्वर के निवासादि अनेकों चित्रण कृष्ण जी नहीं, बल्कि है सब का, प्रत्येक प्राणी का अपना अपना, चैतन्य सामान्य का रूप, अर्थात् मेरा रूप। अपने सम्पूर्ण अनादि काल से अब तक के जीवन को, अपने सामने फैला कर एक दम देखूं तो सही, इसके अतिरिक्त दिखाई भी क्या देगा ? अनेक रूपों का निर्माण व उसी में लीनता और मैं अब भी ज्यों का त्यों—चैतन्य का चैतन्य, शान्ति का पुञ्ज।

और भी अनेकों विचार इसी जाति के किये जा सकते हैं, मन्दिर या किसी एकान्त स्थान में जाकर, एक निश्चित समय के लिए, तथा जीवन के उन फालतू अवसरों में। यह है सामायिक का स्वरूप, साम्यता व शान्ति की जननी सामायिक है-इस मार्ग का प्रमुख द्वार तथा परम कर्तव्य, जिसके द्वारा गृहस्थी में कोई बाधा पड़े बिना भी मैं कहीं से कहीं पहुँच सकता हूँ।

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ११अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६६

अशान्ति की ओर खींचने वाले अनादि के पुष्ट दुष्ट संस्कारों को तोड़ने की बात चलती है। बाहर में कुछ नहीं करना है, सब कुछ अन्तरङ्ग में, अपने परिणामों में, अपने विचारों में

करना है और इतना में इस गृहस्थ दशा में भी कर सकता हूं। देव, गुरु व अपनी शान्ति के प्रति विनय, स्वयं या दूसरा कोई शान्ति से च्युत हो जावे तो पुनः वहीं स्थित करना या कराना रूप वैयावृत्ति, शान्ति के अर्थ या विकल्पों से उपयोग को घुमाने के अर्थ शास्त्र में या प्रवचन में सुने सिद्धांतों का अर्थ-मनन-चिंतवन रूप स्वाध्याय, और अनेकों विचारणाओं व कल्पनाओं के आधार पर की जाने वाली साम्यता की जननी सामायिक, इन चार की बात चल चुकी।

२६ प्रायश्चित् की महत्ता व क्रम

अब चलती है तप के पाँचवें अङ्ग पश्चाताप व प्रायश्चित् की बात, संस्कारों को तोड़ने का यही मुख्य उपाय है। यद्यपि इनका भी विनयादि सर्व अंगोंवत् सामायिक में अन्तर्भाव हो जाता है, पर इसकी विशेषता व इसकी इस मार्ग में महत्ता जानना आवश्यक है। यह वह उपाय है जिसके करने से सम्भवतः कुछ महीनों में नहीं तो एक वर्ष के भीतर तो अवश्य ही जीवन में बराबर निभाए जाने से, स्वयं आपको अपने जीवन में एक महान अन्तर पड़ता दिखाई देगा, जमीन आसमान का अन्तर, मानों कि आप कोई और ही बन गये हों। परन्तु भाई ! इसे रुचि पूर्वक निभाने की, और उस प्रकार जीवन में लाने का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है, अब प्रमाद को छोड़-प्रभु ! इधर आ, देख समय बहुत कम है, आयु बीत चुकी है। इस समय में भी न करेगा तो कब करेगा, तेरे हित की बात है, अवश्य कर। कब तक हाय रुपया, हाय रुपया करता रहेगा ? अपनी निधि को सम्भालने का अवसर आया है, साहस ठान और उठ।

इस पांचवीं बात का नाम है पश्चाताप। लौकिक गाली के संस्कार को तोड़ने के क्रम में यह सिद्ध किया जा चुका है कि संस्कार को तोड़ने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है। अपराध का स्वीकार, उसे दूर करने की सच्ची जिज्ञासा, तथा अपने कृत्य पर पश्चाताप। गुरुओं के समझाने से अपराध का स्वीकार आपको हुआ है, उसे दूर करने की जिज्ञासा भी है, बस अब पश्चाताप की कमी है। यहाँ पश्चाताप का अर्थ है अपने किये हुए किसी रागद्वेषोत्पादक कार्य के प्रति अपने को धिक्कारना—"मैंने यह कार्य किया क्यों", इस प्रकार अपनी निन्दा करना। "मैं बड़ा कृतघ्नी हूँ", इत्यादि प्रकार आत्म ग्लानि करना। "कब करूंगा इसे दूर", इस प्रकार प्रण करना। जान बूझ कर अपराध करके "मुझे खेद है" कहने का तात्पर्य नहीं है। यह आत्मग्लानि स्वाभाविक होनी चाहिये, वैसी ही जैसी कि माता को अपने पुत्र को पीटने पर उत्पन्न होती है।

अपराधों के प्रति सावधान बने रहने के लिये पद पद पर इस पश्चाताप या आत्म-ग्लानि को बनाये रखने की आवश्यकता है, इस बात का अभ्यास करना होगा। इस अभ्यास करने के लिए तीन बातों को ध्यान में रखना चाहिये—पहले तो अपने परिणामों को पढ़ने का अभ्यास, दूसरे-दिन भर में उत्पन्न हुए विभिन्न परिणामों का हिसाब पेटा, तीसरे गुरु की साक्षी में उनके प्रति का निन्दन।

२७ परिणामों के भेद प्रभेदों का पढ़ना

१—परिणामों को पढ़ने के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है, कि मुख्यतः जीव के परिणाम ग्यारह जातियों में विभाजित किये जा सकते हैं, क्रोध भाव, अभिमान भाव, मायाचारी का भाव, लोभ का भाव, हंसी ठट्ठे का भाव, भोगों व उपभोगों

के प्रति आसक्तता का भाव, अरुचिकर पदार्थों में अप्रसन्नता या शोक का भाव, रुचिकर पदार्थों में प्रसन्न होने का भाव, भय खाने का भाव, किसी भी चेतन या अचेतन पदार्थ के प्रति ग्लानि का भाव, मैथुन का भाव। इन सर्व परिणामों में क्रोध, लोभ, मान व माया के परिणामों का कुछ स्वरूप तो आगे दश लक्षण धर्म के प्रकरण में आने वाला है। (देखो अध्याय नं० ३४-३७) । आसक्तता अनासक्तता सरल है तथा इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत पंचेन्द्रिय विषयों को बताते समय इनका कुछ संकेत किया भी जा चुका है ? (देखो अध्याय नं० २६) हंसी, शोक, भय, मैथुन के भाव सर्व परिचित हैं। ग्लानि भाव विष्टा आदिक पदार्थों में घृणा रूप से तथा जीवों में दोष ग्रहण रूप से जानने में आता है (इसका कथन आगे सम्यक्त्व के अंगों की व्याख्या करते हुए निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत किया जायेगा। देखो अध्याय नं० ५०)ये सर्व ही परिणाम राग व द्वेष में गर्भित हो जाते हैं। इन दोनों में भी प्रत्येक के दो दो भेद हो जाते हैं। शुभ राग, अशुभ राग, अशुभ द्वेष, शुभ द्वेष। गुणी जनों के प्रति का या दुखियों के प्रति का सेवा भाव रूप राग शुभ है, शराब आदि पदार्थों के प्रति का या हिंसक पशु व मनुष्यों के प्रति का राग अशुभ है। इसी प्रकार मांसादि के प्रति का द्वेष शुभ है और गुणी व अन्य किसी जीव के प्रति का द्वेष अशुभ है इत्यादि। जैसे क्रोध, मान, अरुचि, शोक, भय व ग्लानि ये छः तो द्वेष भाव हैं और माया, लोभ, हास्य आसक्तता, और मैथुन भाव यह पांच राग भाव हैं। सर्व जीवों में सूक्ष्म रूप से या स्थूल रूप से इन दो राग द्वेष भावों का ही नृत्य हो रहा है। कुछ परिणाम, तो बुद्धि लगाने पर जाने जा सकते हैं, कि ये राग रूप हैं या द्वेष रूप, तथा इन भेदों में भी क्रोध रूप हैं या मान रूप इत्यादि, अथवा शुभ हैं कि अशुभ, ऐसे परिणाम स्थूल कहलाते हैं और वे परिणाम जिनका आपकी बुद्धि के द्वारा विश्लेषण किया जाना शक्य न हो, यहाँ सूक्ष्म कहे जा रहे हैं। परिणाम उत्पन्न हो जाने पर उसका उपरोक्त प्रकार विश्लेषण करके उसकी जाति को जानने का नाम ही परिणामों का पढ़ना है।

२८ परिणामों का हिसाब पेटा

२—जिस प्रकार एक व्यापारी सांझ को बैठ कर दिन में हुए लेन देन के हिसाब का खाता मिलाता है। "प्रातः उठा था, अमुक स्थान पर गया था, वहाँ अमुक मद्धे इतना खर्च किया था, फिर वहां गया था, यह खर्च किया था, फिर दुकान खोली, अमुक ग्राहक को इतना माल इस भाव दिया इतनी उधार रही, दोपहर को मंगते को एक पैसा दिया।" इत्यादि प्रकार से एक एक पाई को याद करके रोकड़ में चढ़ाता है, और अन्त में बाकी निकाल देता है और इस प्रकार आज के लाभ व हानि का अनुमान कर लेता है। उसी प्रकार प्रातः से उठ कर अमुक २ स्थान पर जाते हुए, अमुक २ व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हुए, क्रम पूर्वक जो कुछ भी राग रूप व द्वेष रूप, शुभ व अशुभ परिणाम हुए, उनका सांझ को बैठ कर पड़ताल करना बहुत आवश्यक है। यद्यपि सर्व परिणामों की जांच संभाल करना प्रारम्भ में सम्भव न हो सकेगा—सूक्ष्म परिणाम पकड़ में न आने के कारण, तथा स्थूल भी परिणाम का उसी समय पकड़ में न आने के कारण और सांझ पड़े भूल जाने के कारण। फिर भी जितने कुछ भी याद आ सकें खूब बुद्धि लगा कर याद करना चाहिए।

२९ प्रायश्चित में गुरु साक्षी का महत्व

३—तीसरी बात है गुरु के समीप अपने दोषों का प्रायश्चित करना। यद्यपि यह उपरोक्त कार्य आप अपनी दुकान या मकान पर अकेले बैठ कर भी कर सकते हो, परन्तु किसी के सामने दोषों को कहने व उनके प्रति आत्म ग्लानि का भाव प्रगट करने की

महत्ता है, क्योंकि ऐसा करने से शीघ्र ही वह दोष दूर हो जाता है। इसका कारण भी यह है कि किसी के सामने दोष स्वीकार करने में अधिक बल की आवश्यकता पड़ती है, जैसे किसी की निन्दा की है और उसी से जाकर स्वयं कहना कि मैंने आज तेरी निन्दा की थी, बहुत कठिन है ; अपेक्षा इसके कि घर में बैठ कर विचारा जाये कि आज मैंने अमुक की निन्दा करके बहुत बुरा किया। अतः दोषों का प्रायश्चित किसी वीतरागी गुरु की साक्षी पूर्वक करना अधिक उपयोगी है। साधारण व्यक्ति के सामने करना भी योग्य नहीं, क्योंकि ऐसा करने से उस रागी मनुष्य के द्वारा तेरी निन्दा जगत में फैल जाएगी, जिसे तू सहन न कर सकने के कारण सम्भवतः ऊपर उठने की बजाय नीचे गिर जाये।

दुर्भाग्य वश ऐसे वीतरागी गुरुओं का सम्पर्क प्राप्त नहीं है, तोभी मन्दिर में विराजमान अन्तरंग से चैतन्य रूप में दीखने वाले और बाह्य में जड़ ऐसे देव आज भी सौभाग्य वश हमें प्राप्त हैं। अतः यह उपरोक्त कार्य प्रतिदिन सांझ को मन्दिर में जाकर देव की साक्षी पूर्वक करना चाहिये। अकेले में करने की अपेक्षा देव की साक्षी में करने से भी बड़ा भारी अन्तर पड़ता है, जैसे कि स्वतः ली प्रतिज्ञा कदाचित् भङ्ग हो जाती है, पर देव की साक्षी में ली प्रतिज्ञा भंग नहीं होने पाती। प्रातः की भांति सांझ को भी कम से कम १५ मिनिट इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ निकालने चाहियें। पहले के प्रकरणों में बताई गई क्रियाओं में यह क्रिया सब से अधिक प्रमुख है।

यह क्रिया सांझ को तो अवश्य ही करनी चाहिये, प्रातः को भी करें तो बहुत अच्छा है। केवल प्रातः काल में ही कर लेना पर्याप्त नहीं, क्योंकि दिन में गुज़रे हुए परिणामों का सांझ को याद आजाना कदाचित् सम्भव है, पर रात बीत जाने पर प्रातः को उनका याद आना प्रारम्भिक को सम्भव नहीं।

इस प्रकार विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, त्याग, सामायिक व पश्चाताप इन छः कार्यों को जीवन में यथार्थ रीति से उन खाली अवसरों में तथा मन्दिर आदिक एकान्त स्थानों में करने का बराबर प्रयास करना व इसके अभ्यास को बराबर बढ़ाते रहना यह संस्कारों को तोड़ने अर्थात् निर्जरा का उपाय 'तप' है।

अपनी पूर्ण आत्म शुद्धि के लिये छह प्रकार का अन्तरंग व छह प्रकार का बहिरंग तप का साधन करके अनादि काल से लगे दुष्ट संस्कारों को नष्ट करने वाले पूर्ण शान्ति व अध्यात्म रस के भोक्ता ज्ञान ध्यान में लीन योगी सन्त।

❀ दान ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक १२ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६७

१—सर्व पदार्थों में दान शक्ति, २—दान के भेद प्रभेद, ३—पात्र के भेद प्रभेद, ४—स्व पर हित की मुख्यता, ५—दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय ६—दान की श्रेष्टता व अश्रेष्टता का विवेक, ७—दान का सदुपयोग ।

१ सर्व पदार्थों में दान शक्ति

शान्ति पथ गामी को बाधक संस्कारों से मुक्ति पाने का क्रमिक सहल उपाय बताया जा रहा है। उसके अन्तंगत तप का प्रकरण पूरा हुआ और अब चलता है दान का प्रकरण। वास्तव में दान का अन्तर्भाव भी व्युत्सर्ग या त्याग नाम के तप में हो जाता है, इसलिये दान भी एक तप है, परन्तु सर्व साधारण व्यक्तियों के लिये इसकी बहुत महत्ता होने के कारण इसका पृथक निर्देश किया गया है।

दान का तात्पर्य है दूसरे को कुछ देना। हमें विचार इस बात का करना है कि हम आज किसी को कुछ दे रहे हैं या नहीं तथा इस दान को हमारा कर्तव्य क्यों बताया जा रहा है। यह दो प्रश्न हैं, प्रथम प्रश्न पर विचार करते हुए यह बात प्रतीत होती है कि धनादि बाह्य सामग्री देने के अतिरिक्त में प्रति क्षण कुछ और भी दे रहा हूं-इस लोक को। मैं ही क्या इस लोक के जड़ व चेतन सब ही पदार्थ एक दूसरे को दे रहे हैं-कुछ न कुछ। पदार्थों का परस्पर का यह आदान प्रदान बराबर चल रहा है। देखिये इस घड़ी की सूई अभी साढ़े सात पर आई, और हमारे चित्त को कुछ उतावलापन सा देने लगी, 'उपदेश का समय आ गया' यह सूचना देनें लगी। देखो भगवान की जड़ प्रतिमा हमको शान्ति दे रही है, सुभाष का चित्र हमें साहस दे रहा है, यह विष्टा हमें घृणा दे रही है। देखो यह शब्द जो मैं बोल रहा हूं, कुछ सन्तोष दे रहे हैं, मानसिंह डाकू हमें दूर बैठा भी भय दे रहा है, बन में विराजे वीतरागी गुरु हमको ही नहीं बल्कि समस्त विश्व को शान्ति व सन्तोष दे रहे हैं। उन गुरुओं का अभाव हो जाने के कारण ही उनके द्वारा दिया जाने वाला दान बन्द हो गया है अतः सारा विश्व असन्तुष्ट है और एटम बम जैसे अस्त्रों का जन्म हुआ है। संशय और भ्रम के झूले में झूलते जगत को आज शान्ति का दान देने वाले वितरागी गुरुओं की बहुत आवश्यकता है। किस किस का नाम लेकर बताएं प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ दे रहा है, शान्ति या अशान्ति, भय या निर्भयता।

मैं भी इसी प्रकार कुछ दे रहा हूं, किसी एक दो व्यक्ति को नहीं बल्कि सर्व विश्व को। वास्तविक दान तो वीतरागी गुरु ही दे सकते हैं, जो कुछ न देते हुए भी सब कुछ दे रहे हैं, जिसका मूल्य तीन लोक की सम्पदा भी चुका नहीं सकती। एक हाथ से नहीं बल्कि रोम रोम से दे रहे हैं, एक व्यक्ति को नहीं बल्कि सर्व विश्व को दे रहे हैं, तिर्यञ्चों व बनस्पति तक को दे रहे हैं; शान्ति का दान-अपने जीवन से। मैं भी तो उन्हीं की सन्तान हूं, उन्हीं के पथ पर चल रहा हूं, मुझे भी वही कुछ देना चाहिये, जो वह दे रहे हैं। अर्थात् मेरा जीवन भी ऐसे सांचे में ढल जाना चाहिए, कि जिससे सर्व विश्व को नहीं तो मेरे सम्पर्क में आने वाले छोटे बड़े प्राणियों को तो, अधिक नहीं तो कुछ शान्ति तो अवश्य मिले। यह है वास्तविक अन्तरङ्ग तथा आदर्श धन जो कि स्वतः ही प्रतिक्षण दिया जाना सम्भव है, यदि पूर्व कथित रूप से अपने जीवन का निर्माण करे।

२ दान के भेद प्रभेद अब लीजिये बाह्य दान, लोक विख्यात दान, अर्थात् धनादि वस्तुओं का निज पर कल्याणार्थ व्युत्सर्ग या त्याग करना। इस लक्षण में धन का त्याग एक आवश्यक अंग है परन्तु "निज पर कल्याणार्थ" इस विशेषण के बिना वह निरर्थक है। हम सब धन का दान तो नित्य कर रहे हैं, उसमें कोई कमी नहीं है और सम्भवतः इस समाज में होने वाली दान को प्रवृत्ति अधिक ही है, परन्तु क्या निज पर कल्याण वाला विशेषण उसमें घटित किया जा सकता है, यह देखना है। यदि वह घटित नहीं होता तो वह दिया दिलाया भी बेकार है।

इस विशेषण की खोज करने के लिये हमें दान को चार भागों में विभक्त कर लेना चाहिये। एक वह भाग जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को भोजन के रूप में दिया जाता है, दूसरा वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को औषध के रूप में दिया जाता है तीसरा वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को तन ढांपने के रूप में अथवा अन्य बाधाओं से उसकी रक्षा करने के लिए मकान, धर्मशाला या उपाश्रय आदि के रूप में दिया जाता है। चौथा वह जो किसी साधारण व असाधारण व्यक्ति को ज्ञान के रूप में या ज्ञानार्जन में सहायता के रूप में दिया जाता है। ये चारों ही भाग स्व पर हित के लिये समान मूल्य रखते हैं।

३ पात्र के भेद प्रभेद उपरोक्त चारों दानों के पात्रों को भी दो कोटियों में विभाजित किया गया है—एक साधारण व्यक्ति तथा दूसरा असाधारण व्यक्ति। यहां असाधारण व्यक्ति से तात्पर्य वे व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में उस पूर्वोक्त चौथी कोटि की शान्ति हीनाधिक रूप में या तो उत्पन्न हो चुकी है, और या उनके हृदय में उसका वास है अर्थात् उनका जीवन उस दिशा में प्रगति कर रहा है, जिन्हें भोगों के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा है और जो उस शान्ति के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिये तैयार हैं। उनके अतिरिक्त शेष सर्व भोगाकांक्षा से संतप्त लोक साधारण की कोटि में आते हैं। शान्ति का पुजारी स्वाभाविक रीति से इन दोनों पात्रों में से किस पात्र के हित को अधिक महत्व देगा यह कहने की बात नहीं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का झुकाव उधर ही हुआ करता है जिस दिशा में कि उसकी रुचि हो। अतः उसकी दृष्टि में असाधारण पात्र ही अधिक महत्व रखते हैं। यद्यपि साधारण व्यक्तियों को भी यथायोग्य दान देने का वह निषेध नहीं करता और देता भी है, पर जितना मूल्य

असाधारण व्यक्ति को देने का है उतना उसे देने का नहीं। क्योंकि स्व पर हित को वह शान्ति की तुला में तोलता है।

४ स्व पर हित की मुख्यता उपरोक्त चारों प्रकार का दान धन के रूप में या परिश्रम के रूप में दिया जा सकता है, दोनों का समान मूल्य है। उपरोक्त चारों प्रकार का दान अभिप्रायों की विभिन्नता के कारण अनेक प्रयोजनों से दिया जा रहा है। साधारण पात्रों को केवल साधारण करुणा दृष्टि से, अर्थात् शारीरिक पीड़ा से उनकी रक्षा के निमित्त दिया जाता है या ज्ञान दान के द्वारा उनका लौकिक गृहस्थ जीवन कुछ उज्ज्वल व सुखमय बनाने के निमित्त दिया जाता है। यहां उनके लौकिक दुःख की निवृत्ति तो पर हित हुआ, और उसका यह अभिप्राय कि वह स्वयं अपना गृहस्थ जीवन सुखी रखना चाहता है स्वहित हुआ। यदि अपने दुःखी जीवन के प्रति वेदना न होती तो दूसरे का दुःख दूर करने का भाव न आता। तथा असाधारण पात्रों को दिया जाता है, असाधारण करुणा दृष्टि से अर्थात् उनको उस पारमार्थिक शान्ति की रक्षा के अर्थ जो बड़े परिश्रम व सौभाग्य से उनको प्राप्त हुई है, और तनिक सी ठेस लगने पर खण्डित हो सकती है। यहां उन असाधारण जीवों के प्रति उनकी शान्ति स्थिर रखने की भावना तो पर हित की भावना हुई, और स्वयं अपनी शान्ति प्राप्ति या प्राप्त शान्ति की रक्षा का वह अभिप्राय जिसके कारण कि उनके प्रति उसको स्वाभाविक करुणा उत्पन्न हुई है, स्व हित का अभिप्राय है क्योंकि ऐसे अभिप्राय के अभाव में उसे उन जीवों की शान्ति में बाधा पड़ते हुए भी कोई दुःख न होगा।

५ दातार व उनके अन्तरंग अभिप्राय उपरोक्त चारों दानों को देने वाले व्यक्ति अर्थात् दातार भी पात्रों वत् दो प्रकार के हैं। एक साधारण और एक असाधारण। स्वभावतः साधारण दातार का झुकाव भी साधारण करुणा के प्रति अधिक रहेगा और असाधारण दातार का झुकाव असाधारण करुणा के प्रति। इसका कारण उनके अन्तरंग अभिप्रायों की विभिन्नता ही है। साधारण दातारों का स्व व पर हित साधारण है और असाधारण दातारों का असाधारण, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है।

साधारण दातार देता है शारीरिक सुख के लिये, और असाधारण दातार देता है आत्मिक सुख के लिये; साधारण देता है विषय भोगों की प्राप्ति की इच्छा से, और असाधारण देता है शाँति प्राप्ति की इच्छा से; साधारण देता है धन लाभ के लिये, असाधारण देता है धन त्याग के लिए; साधारण देता है रागी बन कर, और असाधारण देता है उदासीन बन कर; साधारण देता है अन्य का उपकारी बन कर और असाधारण देता है निज कर्तव्य समझ कर; साधारण देता है पर कल्याण के लिए, और असाधारण देता है स्व कल्याण के लिए; साधारण देता है लोक प्रशंसा पाने के लिए और असाधारण देता है निज दोष से निवृत्ति पाने के लिये। इसी लिये साधारण व्यक्ति दान देकर इच्छा करता है सभापति बनने की या अखबारों में नाम निकलवाने की या कोई उपाधि प्राप्त करने की या किसी कमरे आदि पर अपने नाम का पत्थर लगवाने की, परन्तु असाधारण व्यक्ति इन सब बातों से निरपेक्ष केवल इच्छा रखता है निज व पर शान्ति की रक्षा की। इस प्रकार दोनों अभिप्रायों में महान

अन्तर है। और इसी लिये इनके फलों में भी महान अन्तर है। साधारण का फल परम्परा में धन व स्वास्थ्य लाभ आदि है और असाधारण का फल केवल शान्ति।

अब हमें यह विचारना है कि हमें कौन सा फल चाहिये, ताकि अपने लिये दान के अभिप्राय का कोई निर्णय किया जा सके। हम शान्ति के उपासक बने हैं अतः निःसंशय शान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिये। तब तो अवश्य ही हमें दान देते हुए साधारण अभिप्रायों का त्याग करके असाधारण अभिप्राय बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। तथा इस प्रकार का दान देना चाहिये, जिसका फल शान्ति हो भोग विलास नहीं।

अभिप्राय सुधारने के सम्बन्ध में यद्यपि ऊपर बताया जा चुका है, परन्तु एक और बड़ा दोष है जो आज के दातारों में देखा जा रहा है, उसके प्रति सावधान करा देना आवश्यक है-वह दोष है लोकेशणा। आज के युग में यद्यपि दान काफी दिया जाता है पर उसमें एक ही भाव मुख्यतः छिपा रहता है। वह यह कि इस दान के द्वारा मेरा नाम, मेरे पिता व पितामह का नाम, मेरी स्त्री व माता का नाम चिरस्थायी बना रहे और लोगों के हृदय में यह अंकित हो जाये, कि मैं बड़ा दानी हूँ धनाढ्य हूँ और धर्मात्मा हूँ। यह अभिप्राय शांति के उपासक के लिये विष है इसमें अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। भो पुरुषार्थी ! विचार तो कर, कि क्या करेगा इस नाम को लेकर ? इसे खायेगा या बिछायेगा, लौकिक व अलौकिक दोनों रीति से इसका लाभ ही क्या है ? एक कषाय का पोषण है अर्थात् दान देने में लाभ की बजाय हानि हो रही है। राग का संस्कार काटने के लिये दान दिया था, और कर बैठा राग का पोषण अर्थात् दिया दिलाया खत्ते में डाल दिया। विचारिये तो सही यदि बाजार में रुपया देकर अपनी आवश्यकतानुसार माल ले लिया तो मैंने क्या दिया ? क्या इसका नाम दान है? नहीं यह तो सौदा है इसमें किसी की क्या चोरी ? इसी प्रकार दान पैसे का दिया और हाथ की हाथ प्रशंसा थैले में डलवा कर घर ले आया तो बताइये उसने क्या दिया ? इसका नाम दान नहीं है। प्रभु ! सम्भल और इन दुष्ट संस्कारों से अपनी रक्षा कर।

६ दान की श्रेष्ठता व अश्रेष्ठता का विवेक

अब लीजिये दूसरी बात कि दान कैसी वस्तु का दिया जाये। इस विषय पर विचारने से भी बड़ी भारी भूल का पता चलता है। किसी भूखे को या शांति के उपासक को क्षुधा निवृत्ति या शांति की रक्षा के निमित्त दिया जाने वाला आहार भी कदाचित् लौकिक व अलौकिक दृष्टि से सार्थक है, क्योंकि इसमें स्व पर हित निहित है। इसी प्रकार औषध व उपाश्रय या वस्त्र आदि का दान भी लौकिक व अलौकिक दोनों दृष्टियों से सार्थक है। परन्तु आज के युग का सर्वोत्तम समझा जाने वाला यह आधुनिक ज्ञान का दान कहां तक सार्थक है, यह विचारणीय है।

लौकिक दृष्टि से देखने पर यह ज्ञान एक दिशा में सार्थक है और दूसरी दिशा में हानि कारक दिखाई दे रहा है। सार्थक इस अर्थ में कि उससे गृहस्थ जीवन में बड़ी प्रगति मिलती है, इसके अभाव में एक गृहस्थ का जीवन एक जंगली के जीवन वत ही रह जाता है। हानिकारक इस

अर्थ में कि उसकी उपज है स्वार्थ व विलास, आवश्यकताओं की बाढ़ व चिंताओं का साम्राज्य, दया व सहानुभूति का ह्रास और क्रूरता का विकास, धर्म व शांति का अनादर और एटम बम का उत्पादन। अलौकिक दृष्टि से देखने पर तो किसी भी प्रकार सार्थक दिखता ही नहीं, सब दोष ही दोष क्योंकि यहां तो किसी भी बात के खरेखोटेपन की कसौटी शांति है, जिसकी कि स्पष्ट शब्दों में उस ज्ञान के द्वारा अवहेलना की जाति है, अपमान किया जाता है। क्योंकि उस ज्ञान को प्राप्त करके आज हमारी सन्तान किस दिशा में जा रही है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। इस शिक्षा से उसे मांस, मछली, अण्डा, व मद्य आदि सेवन करने की प्रेरणा मिलती है। धार्मिक संस्कार बनने के बजाय रहे सहे पहिले संस्कार भी धुल जाते हैं। इस प्रकार की संस्थाओं, स्कूल, कालेज आदि में दिये गये दान का इतना तो फल अवश्य होता है कि उस संस्था पर आपके सम्प्रदाय के या किसी व्यक्ति विशेष के नाम का झंडा लग जाये। पर धर्म प्रचार का मूल लक्ष्य इससे प्राप्त नहीं होता। भला विचारिये तो सही कि ज्ञान का यह विकट रूप किस प्रकार श्रेष्ठ दान कहा जा सकता है? यह श्रेष्ठ दान अवश्य था, लेकिन उस समय जबकि इसके साथ साथ आध्यात्म शिक्षण भी होता था। उसके अभाव में श्रेष्ठ कहने का तो कोई प्रश्न ही नहीं, सम्भवतः इसे दान भी न कहा जा सके, क्योंकि इसमें स्व व पर हित का स्वाभाविक विशेषण लागू नहीं होता। यहां यह न समझिये कि इस आधुनिक ज्ञान का निषेध किया जा रहा है, बल्कि यह समझिये कि इसमें सुधार करने की प्रेरणा दी जा रही है तथा अध्यात्म की अवहेलना के मुकाबले में इसकी अवहेलना करने को कहा जा रहा है।

सौभाग्य से अध्यात्म शिक्षण केन्द्र भी आज हमको उपलब्ध हैं जिनके प्रति दिया गया दान आज व्यर्थ समझा जाता है। वह हैं मन्दिर व शास्त्र भण्डार आदि, जहांकि छात्रों की संख्या भले कम हो, परन्तु उस शिक्षण में जो वहां से मिलता है, लौकिक व पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से स्व व पर हित का विशेषण घटित होता है। क्योंकि वहां से स्व व पर को एक मात्र शान्ति की शिक्षा मिलती है, जो सर्व लोक को कल्याणकारी है। अतः व्यर्थ समझा जाने वाला यह मन्दिर प्रतिमा आदि के निर्माण का दान वास्तव में श्रेष्ठ है। अभिप्राय ठीक बनाकर, योग्य स्थान में, योग्य पात्र को, योग्य दान देना, वट बीज वत्, शान्ति के महान फल का कारण है। अतः भो शान्ति के उपासको! कुछ विवेक बुद्धि बना कर न्याय से कमाई गई इस सम्पत्ति को योग्य दान के द्वारा शांति मार्ग में कुछ सार्थक बना डालो, नहीं तो सब यहीं छोड़ जाना होगा।

तात्पर्य यह कि लौकिक शिक्षण संस्थाओं में, अर्थात् स्कूल व कालेजों में, भले ही वे किसी भी सम्प्रदाय से सम्बन्ध क्यों न रखते हों, ऊंचे प्रकार के धार्मिक शिक्षण का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिये, और वहां के छात्रों के जीवन में पश्चात्य ढंग की हिंसक व विलासता की संस्कृति की बजाय भारतीय ढंग की अहिंसक व पवित्र तथा सरल व सादा संस्कृति का ही शिक्षण होना चाहिये तभी इन संस्थाओं में दिये गये दान का सदुपयोग हो सकेगा। यदि शुद्ध सात्विक संस्कृति को इन संस्थाओं से हानि पहुंचे तो इस दिशा में दिया गया दान श्रेष्ठ व उपयोगी न होगा, अतः सावधान होने की आवश्यकता है आपकी संतान को लौकिक शिक्षण के लिये तो भारतीय सरकार स्वयं पर्याप्त प्रबन्ध कर रही है उसमें सरकार परोक्ष रूप से आपका सहयोग तो लेती ही है।

७ दान का सदुपयोग

यहां यह विचारना आवश्यक है कि आप प्रति वर्ष सामाजिक रूप से कितना दान करते हैं और किस किस दिशा में करते हैं ? वास्तव में दान को देखें तो बहुत होता है, परन्तु उस से उपयोगी स्थायी कार्य कितना किया जाता है यह देखें तो लज्जा से सर झुक जाता है। प्रति वर्ष करोड़ों के दान का फल पर्याप्त नहीं होता है। इसी समस्या पर यहाँ विचार करना है।

आप के दान का एक अच्छा भाग तो उपरोक्त शिक्षण संस्थाओं को जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिवर्ष होने वाले पंच कल्याणक विधानों में विधायकों व दर्शकों का कुल मिल कर कई लाख रुपया समाज का खर्च होता है। नित्य नये नये मन्दिरों के निर्माण में भी लाखों रुपया खर्च हो रहा है। गरज़ यह कि प्रतिवर्ष करोड़ों का दान होता है यह सब ही दान के क्षेत्र अध्यात्म शिक्षण के केन्द्र होने के कारण अत्यन्त इष्ट हैं। इन कार्यों का अभाव होजाने पर तो धर्म कर्म व भारतीय पवित्र संस्कृति का ह्रास ही होगा। आजके इस भौतिक युग में हमारे पास धर्म प्रभावना व श्रमण संस्कृति प्रचार के मात्र यही साधन तो शेष रह गये हैं। इन सभी कार्यों में खर्च सुव्यवस्थित ढंग से होना चाहिये। वह व्यवस्था कैसी हो यही बताया जायेगा।

इसमें तात्पर्य तो केवल व्यर्थ के व्यय को रोक कर एक सुन्दर व्यवस्था बनाने का है, यदि आपको रुचे तो ग्रहण करना, तथा समाज में भी इस सुझाव का अधिकाधिक प्रचार करना, और यदि न रुचे तो इसे एक बालक का स्वप्न जान कर छोड़ देना। जिस प्रकार एक क्रश्चन मिशन, रामाकृष्णा मिशन, व आर्य समाज आदि संस्थाओं में दान के प्राप्त करने व उसके खर्च के लिये सुन्दर व्यवस्था बनी हुई हैं, उसी प्रकार की व्यवस्था यदि जैन व इतर सर्व समाजों में भी हो जायें, तो वे उपरोक्त इष्ट दिशा में कितना कार्य कर सकेंगी, यह बताने की आवश्यकता नहीं। जब प्रत्यक्ष रूप से उपरोक्त मिश्नरीज अल्प मात्र दान से उस व्यवस्था के कारण अपने प्रचार में इतनी सफल होती देखी जाती हैं, तो उनकी अपेक्षा कई गुणे दान से उस व्यवस्था के कारण आपको अपने प्रचार में कितनी सफलता मिलेगी यह बात अनुमान में आजाती है।

मेरा संकेत एक केन्द्रीय व्यवस्था के प्रति है। समाज का एक अखिल भारतीय केन्द्र होना चाहियें, जिस के कार्यकर्त्ता अत्यन्त निःस्वार्थी व नीति निपुण व्यक्ति हों। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रान्त का व जिले का एक २ सामाजिक केन्द्र हो, स्थानीय समाज ज़िले के आधीन, ज़िला प्रान्तीय केन्द्र के आधीन, और सर्व प्रान्तीय केन्द्र भारतीय केन्द्र के आधीन रह कर ही अपने अपने कार्य में प्रवृत्त हों। कोई भी कार्य करने से पहले अपने से ऊपर वाले केन्द्र की आज्ञा व अनुमति लेना आवश्यक हो। किस स्थान पर मन्दिर निर्माण की आवश्यकता है और कहां नहीं, किस स्थान पर किया गया पंच कल्याणक या पूजा विधान अथवा धार्मिक सम्मेलन उपयोगी है और कहां नहीं, किस स्थान पर स्कूल या कालेज की आवश्यकता है और कहाँ नहीं। इन सारी बातों का निर्णय केन्द्र स्वयं करे। प्रतिवर्ष प्राप्त किये जाने वाले कुल दान का कितना भाग उपरोक्त अनुष्ठानों में खर्च किया जाये, कितना भाग स्कूल कालेजों मे खर्च किया जाये, कितना भाग उन स्कूल कालेजों में धार्मिक शिक्षण के प्रति खर्च किया जाये, कितना भाग धार्मिक सम्मेलनों व धर्म प्रचारकों पर खर्च किया जाये इन सब बातों का निर्णय वह केन्द्र करे। सर्व ही धार्मिक दिशाओं में होने वाला खर्च

संतुलित हो, तथा उसका अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके, एक पैसा भी व्यर्थ न जाये। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत अनाथ आश्रम, त्यागी आश्रम, ग्राम उद्धार, खाक आदि पिछड़ी हुई जातियों का उद्धार व साहित्य प्रकाशन आदि अन्य विभागों को भी यथा योग्य स्थान दिया जाना चाहिये।

तात्पर्य यह कि कोई व्यक्ति विशेष अपनी इच्छा से किसी काम में प्रवृत्ति न करे, बल्कि केन्द्र की अनुमति से ही सर्व कार्य किये जायें। दानी महाशय अपना सर्व दान भले एक पैसे का हो या लाख का उस केन्द्र को भेजें, और वह केन्द्र स्वयं उस उस कार्य के लिये यथायोग्य खर्च का अनुमान करके अपने कोष से उतना उतना रुपया उस उस कार्य के लिये भेज दे। यदि ऐसा कर लिया जाये तो नित्य उदित होने वाला व्यर्थ का साहित्य प्रकाशन, अनावश्यक साप्ताहिक व मासिक धार्मिक पत्र तथा अनावश्यक पूजा विधान आदि अवश्य ही बन्द हो जायें और आवश्यक सर्व ही कार्यों में कोई बाधा न पड़े, बल्कि बड़ी आसानी से सर्व कार्य पूरे हो जायें। धार्मिक प्रचार के क्षेत्र में सर्व ही दिशायें संतुलित हो जायें और इस प्रकार दातार का दिया हुआ दान सफल व सार्थक हो जाये।

इतना अवश्य है कि ऐसी व्यवस्था हो जाने पर दातार को स्वयं अपनी इच्छा का बलिदान करना होगा, सर्व जन कल्याण को ही प्रमुख रखना होगा, केन्द्र की अनुमति को स्वीकार करने में ही हित देखना होगा और लोकेषणा को पीछे हटाना होगा। वास्तव में इन स्वार्थ पूर्ण भावनाओं का त्याग ही तो दान है, जो शान्ति पथ के इस छठे अंग का प्रयोजन है। अतः भो भव्य हो! निज पर कल्याणार्थ अब भावनाओं को निर्मल बना कर सारे विश्व में तन मन व धन से इस निर्मल मार्ग का प्रसार करो।
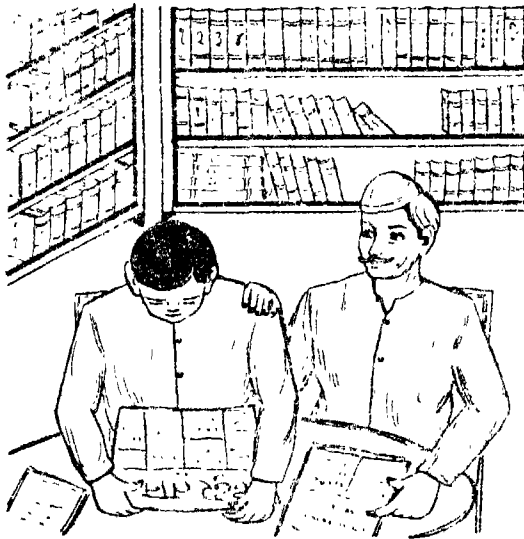
ज्ञान दान का महत्व

युग की आदि में असाधारण दातार राजा श्रेयांस का असाधारण पात्र आदि ब्रह्मा श्री ऋषभ देव को आहार दान।

७ संवर निर्जरा

(विरक्त श्रावक सम्बन्धी)

३१

❀ वैराग्य ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक ११ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ६८

१—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार, २—वैराग्य का प्रेरक शान्ति का वेदन, ३—वैराग्य का बल अभ्यास ।

१ वैराग्य का प्रेरक शान्ति का संस्कार

शान्ति का उपासक गृहस्थ उपरोक्त प्रकरणों में बताये विस्तार के अनुसार अपने जीवन को इस नवीन दिशा की ओर घुमा कर, नये सांचे में ढालने का अभ्यास करते हुए, कुछ ही वर्षों में एक और नई उमङ्ग व उल्लास का अनुभव करने लगता है। एक जागृति सी तथा एक प्रकाश सा अन्तरंग में प्रगट भासने लगता है, जिसके उजाले में आज वह इस योग्य हो जाता है कि अपने वातावरण में छिपी हुई उस अशान्ति को स्पष्ट देख पाये। यद्यपि पहले से भी किसी विश्वास के आधार पर उसमें उसे किंचित् मात्र अशान्ति का भान हुआ करता था, परन्तु इस दिशा में अभ्यस्त हो जाने, तथा उसके फल स्वरूप शांति में वृद्धि हो जाने तथा साथ साथ अन्तरंग में कुछ दृढ़ता व शक्ति के संचार का अनुभव हो जाने पर, आज जिस जंजाल रूप से इसे देखने लगता है, उस प्रकार से पहले कभी देख न पाया था। विचार करते समय कुछ कुछ हटाव सा अवश्य वर्ता करता था, पर उस भोग विषयक सामग्री का साक्षात्कार हो जाने पर उस हटाव को भूल कर बह जाया करता था-उसी की रौ में। इतने वर्षों के अभ्यास के कारण आज इतनी विशेषता उत्पन्न हो जाती है, कि उनके साक्षात्कार के अवसरों में भी उसका वही भाव बना रहता है, जो कि विचारणा के अवसरों में उसने बुद्धिपूर्वक बनाया था। अर्थात संस्कार निर्माण के पूर्व कथित क्रमानुसार इस हटाव का बुद्धि पूर्वक प्रारम्भ किया गया संस्कार आज अबुद्धि की कोटि में प्रवेश कर जाता है और पूर्व में पड़े हुए शान्ति के घातक संस्कारों के साथ युद्ध करने के लिए उन्हें ललकारने लगता है। यह ललकार ही उस बल की परीक्षा है, जिसके सम्बन्ध में कि कहा जा रहा है।

२ वैराग्य का प्रेरक शांति का वेदन कितने ही तीर्थंकर, वीतरागी सन्त योगी जन समस्त राजपाट व देवों जैसी विभूति को छोड़ कर बन को चले गए। क्या आकर्षण था उस बन में ? क्यों छोड़ा उस आकर्षक तथा मधुर सामग्री को, जिसको छोड़ने की बात तो रही दूर, जिसके त्याग सम्बन्धी बात भी आज मुझको सुहाती नहीं। भले ही गुरु जनों के कहने पर में यह कहने लग गया हूं कि इस सम्पत्ति में सुख नहीं दुःख है। पर क्या अन्तरंग में इसके प्रति का इस प्रकार का भाव उठता प्रतीत होता है ? नहीं अन्तरंग में तो उसके प्रति की मिठास पड़ी है। अन्तरंग में तो यह बात सुन रहा हूं कि इनके भोगने में आनन्द है, बड़ी आकर्षक है यह, बड़ी मधुर तथा सुन्दर। यह देखिये मेरा ड्राइङ्ग रूम कितना सुन्दर सजा हुआ है, दिवारों पर ईरानी कालीन टंगे हैं, यत्र तत्र काश्मीर की कारीगरी व काष्ठ का आर्ट टंगा हुआ है, मानों प्रकृति को समेट लाया है इस कमरे में, और यह सुन्दर सोफा सैट मानों राज्य सिंहासन की भी खिल्ली उड़ा रहा है, इधर रखा है चाइना आर्ट, और न जाने क्या क्या ? कितना आकर्षक है यह ? मुझे गर्व होता है अपने किसी मित्र को इस में बिठा कर। कैसे कह सकते हैं कि इसमें दुःख है ? नहीं नहीं, यह तो योगियों की बातें हैं, मेरे लिये तो यही सुखदायक है। कृत्रिम रूप से इसमें दुःख व अशान्ति देखने का प्रयत्न करते हुए भी स्वाभाविक रूप से तो इसमें सुख व शान्ति सी ही भासती है। कैसे त्यागूं इसे ?

"इनके क्या कहने, ये तो महान आत्माएं हैं, तीर्थंकर देव हैं, छोड़ कर चल दिये घर बार व सम्पत्ति को, कष्ट सह सह कर हीतो कर्मों को खपाएंगे, तपश्चरण के बिना मुक्ति किसे मिली है। उस मुक्ति की साधना के लिये इतनी आकर्षक व सुखप्रद सामग्री को भी छोड़ कर चल दिये, धन्य हैं वे।" कुछ ऐसी आवाजें उठा करती हैं-भावुकता वश। बस यह आवाजें ही इस बात की परीक्षा है कि मैं भले शब्दों में योगी जनों को महान कहूं या सुखी, पर उन्हें अन्तरंग से दुःखी ही समझता हूं क्योंकि कोई भी तो सुख का साधन नहीं उनके पास कैसे हो सकते हैं वे सुखी ? हां, भविष्य में मोक्ष जाकर हो जायें तो हो जायें, परन्तु अब तो दुःखी ही हैं बेचारे।

नहीं प्रभु ! भूलता है—वास्तव में यह जो उपरोक्त आवाजें अपने अन्दर से उठती सुनाई दे रही हैं, उनका कारण केवल यही है कि उस अलौकिक चौथी कोटि की शांति का साक्षात्कार अभी कर नहीं पाया। इसी लिये नाम मात्र की उस शान्ति के प्रति अन्तरंग से बहुमान व उल्लास जागृत नहीं हुआ है जिसके अभाव में वह पहला विषय सुख ही सुख भासा करता है तथा उस ही की महिमा गाया करता है। उन योगियों की दशा तुझ से कुछ भिन्न प्रकार की है, उन्होंने केवल भावुकता वश, किसी मोक्ष की या किसी भावी काल्पनिक सुख की अभिलाषा वश, यह महान त्याग किया हो, ऐसा नहीं है। किसी बाहर के दबाव या भय वश, या किसी लोकेषणा वश त्याग किया हो ऐसा भी नहीं है एक शक्ति है जो अन्तरंग से उन्हें प्रेरणा दे रही है, उनके अन्दर एक उल्लास सा, एक उत्साह सा उत्पन्न कर रही है-यह बात करने के लिए और वह शक्ति है शान्ति का उत्तरोत्तर अधिकाधिक वेदन, उसमें तृप्ति व उसके प्रति का बहुमान। भला एक भिखारी को जिसके पल्ले एक सूखी ज्वार की रोटी बंधी है, यदि आप पेट भर खीर परोस दें तो क्या वह ज्वार की रोटी खायेगा ? क्या उसे फैंक न देगा ? बस तो अलौकिक शान्ति के अत्यन्त मधुर व सुगन्धित व्यञ्जन के अनुभव में क्या उस के हृदय में इस धूल का मूल्य रह जायेगा ? क्या इसे भोगेगा ? क्या इसे त्याग न देगा ? क्या इसके त्यागने में दुःख होगा उसे ?

किसी भावी सुख के, या मोक्ष के किसी पदार्थ के, या सर्वज्ञता के, लालच से छोड़ देता हो उसे, यह भी असम्भव है। क्योंकि भविष्य के सुख की आशा के आधार पर वर्तमान का सुख छोड़ना मूर्खता है। मूर्खता क्या, छोड़ा ही नहीं जा सकता। "कल को दिवाली है, बड़े बड़े स्वादिष्ट व्यञ्जन खाने को मिलेंगे।" इस इच्छा के कारण क्या कोई भी ऐसा है जो आज का भोजन छोड़ दे ? "तुम्हारी सेवा से मैं बहुत प्रसन्न हुआ, यह महल मेरी मृत्यु के पश्चात तुम्हीं ले लेना, लो वसीयत किये देता हूं।" किसी सेठ के ऐसा कहने पर, क्या उसका कोई सेवक अपनी कुटिया में तुरत आग लगा देने को तैयार है ? चलो तुम्हें बी० ए० की डिग्री दिला देता हूँ, परन्तु आज सोना न होगा।" ऐसा सुन कर क्या वह सोना त्याग देगा ? वे महात्मा कोई दूसरे देश के वासी या कोई अलौकिक जन हों, और त्याग करना उनके गले मढ़ दिया गया हो, क्योंकि मुक्त होने का सर्टीफिकेट प्राप्त कर चुके हैं, इस लिये त्यागना पड़ता है उन्हें, ऐसा भी नहीं है। बाह्य में तो ऐसी कोई शक्ति दिखाई नहीं देती जो छोड़ने को बाध्य करे और अन्तरंग से इस प्रकार छूटना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार किसी राजा की आज्ञा मात्र से कोई अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं। हाथ का एक छोड़ कर वृक्ष के दो की इच्छा करना बुद्धिमानों का काम नहीं और फिर तीर्थंकर प्रभु बड़े ज्ञानी ठहरे, वे तो कभी ऐसा कर ही नहीं सकते। गृहस्थ में रहते हुए भी उन्हें किसी अनोखी शान्ति का वेदन होने लगता है-पूर्व अभ्यास वश। जिस शान्ति के अलौकिक आकर्षण के सामने इस बाह्य राज्यआदि सम्पदा का तेज मन्द ही नहीं पड़ जाता बल्कि कटु लगने लगता है। वह सब वातावरण अन्दर से कोई जंजाल सा दीखने लगता है वह साक्षात् कुछ ऐसा भासने लगता है कि मानों काटने को दौड़ रहा हो। बस इसी शक्ति की प्रेरणा पर आधारित है उनका त्याग।

३ वैराग्य का बल अभ्यास

तीर्थंकर व महात्मा होने के कारण वह किसी दूसरे देश के वासी हों, दूसरी जाति के हों, ऐसा भी नहीं है। मेरे ही देश के वासी तथा मेरी ही चैतन्य जाति के हैं। जो काम यह कर सकते हैं मैं भी कर सकता हूं परन्तु उनके त्याग को देखकर मुझे जो घबराहट होती है, उसका कारण यही है कि मैं यह समझ बैठता हूं, कि उन्होंने अकस्मात् ही इतना बड़ा साहस कर लिया है, क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उनका केवल वर्तमान भव ही देख पाता हूं। इस वर्तमान के साहस के साथ, भूतकाल में अर्थात् पूर्व भवों में किया गया कितना अभ्यास है, वह नहीं देख पाता। यह बिल्कुल मुझ जैसे गृहस्थ थे कभी, और सम्भवतः मुझ से भी हीन अवस्था में थे अपने पूर्व भवों में वहां से ही इन्होंने धीरे धीरे अन्तरङ्ग में विरक्तता उत्पन्न करके, अभ्यास प्रारम्भ किया था, आज वह जो अकस्मात त्याग करता दिखाई दे रहा है, वही सिद्धहस्त जीव है। अतः भाई ! तू भी मत डर, साहस करके यदि ऊपर बताये प्रकरणों के अनुसार धैर्य पूर्वक अभ्यास करना प्रारम्भ करे, तो अपने आगे आने वाले भवों में अवश्य ही तू भी अकस्मात त्याग करने की शक्ति को उत्पन्न कर लेगा। कटड़ी (भैंस का बच्चा) को उठाते उठाते भैंस उठाई जा सकती है, इसी से अभ्यास की इस मार्ग में बड़ी महत्ता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि "भविष्य में कर लूंगा, आज के निकृष्ट काल में तथा हीन संहनन में तो करना ही सम्भव नहीं", ऐसे विचारों द्वारा शक्ति को छिपाया जाये। यदि आज कुछ न करेगा तो भविष्य में भी कुछ नो कर सकेगा, भले संहनन बढ़ जावे पर उसका प्रयोग तो अधो-गति में जाने के प्रति ही हगा।

इस प्रकार अन्तरंग से विषय भोगों सम्बन्धी सामग्री के प्रति यदि विरक्त भाव करता हुआ साहस पूर्वक धीरे धीरे उनका त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तथा प्राण संयम में कथित हिंसा के विकल्पों (अध्याय नं० २७) का भी त्याग करने का अभ्यास करता रहे, तो एक दिन ऐसा आयेगा कि तेरे मन की वह घुण्डी खुल जायेगी जो दृढ़ता पूर्वक त्याग करने का साहस तुझ में उत्पन्न होने नहीं देती। अर्थात् उन्हीं क्रियाओं को व्रत रूप से तुझे अंगीकार करने नहीं देती व्रत अर्थात् उन उन बातों से अन्तरंग में विरक्तता, उदासीनता व हटाव तथा बाह्य में उनके प्रति प्रवृत्ति करने में ब्रेक लगाने का प्रयत्न। जब तक अन्तरंग से वह घुण्डी या ग्रन्थी नहीं खुलती तब तक भले ही अभ्यास रूप से सब कुछ भी त्याग कर दे, व्रती नहीं कहला सकता और व्रत के बिना आगे बढ़ा नहीं जा सकता, सो ही आगे दर्शाते हैं।

गृहस्थ अवस्था में वैराग्य का थोड़ा २ अभ्यास करते हुए पूर्ण वैराग्य को प्राप्त राजकुमार वर्धमान समस्त राजपाठ के अधिकार धन सम्पदा, इन्द्रिय भोगों को तृप्त करने वाली सामग्री व कुटुम्बीजन को छोड़कर स्वात्म विभूति व अलौकिक निज शान्ति के हेतु बन को चले गये और पंच महाव्रतों को ग्रहण कर केशों का लोच कर रहे हैं।

३२
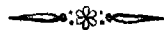
❀ व्रत व शल्य ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक २४ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ६९

१—शल्य का स्वरूप, २—अरगुव्रती, ३—योगियों का पराक्रम, ४—परीषह जय, ५—महाव्रती, ६—गृहस्थी को व्रतों व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन।

१ शल्य का स्वरूप **व्रत धारण करने में बाधक शल्य की बात चलती थी, वह घुन्डी या शल्य क्या है, इसको स्पष्ट करता हूँ। देखिये आज तक आपने मांस खाकर नहीं देखा, आगे भी खाने की सम्भावना नहीं, परन्तु उसको त्यागने के लिये कहा जाये तो अनेकों विकल्प सामने आकर खड़े हो जाते हैं। यदि कल को बीमार हो जाऊं और डाक्टर बतादे मांस खाना तो? व्रत आज तक धारण किया नहीं, अतः यदि भङ्ग हो गया तो? इसी प्रकार अन्य सर्व विषय सम्बन्धी त्याग की बात आपड़ने पर यह 'तो' का भाव बिना किसी के बताये अन्तरंग में उत्पन्न हो जाता है और मेरा कार्य रोक लेता है। मुझे प्रतिज्ञा लेने या व्रत धारण करने की आज्ञा नहीं देता। वह 'तो' ही वह ग्रन्थी है, जिसका नाम आगम भाषा में शल्य है।**

यद्यपि छोटी सी बात दीखती है, परन्तु देखिये कितनी घातक है, कि व्रत लेकर आगे बढ़ने ही नहीं देती, त्याग करते हुए भी त्याग करने नहीं देती। यही तो अन्तर है एक व्रती गृहस्थ व अव्रती गृहस्थ में। परन्तु अभ्यास करते करते जब यह विश्वास हो जाता है कि, इतने दिनों तक इस विषय का प्रयोग इस जीवन में नहीं किया, कोई विशेष बाधा तो आई नहीं, और यदि थोड़ी बहुत आई भी तो उसको जीतने में सफल रहा। अब यदि इस त्याग को व्रत रूप से ग्रहण करले तो कोई कठिनाई न आयेगी, किन्तु एक साहस उत्पन्न होगा, और अन्तरङ्ग की 'तो' को उल्लङ्घ कर उसी अभ्यास रूप त्याग को व्रत की कोटि में ले आयेगा। व्रत को भी अव्रती बनाये रखने वाली इस ग्रन्थी को तोड़ने में बड़े बल की आवश्यकता है। वह बल जिसके प्रगट हो जाने परकि उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि प्राण जायें तो जायें, लोक की सारी बाधायें व पीड़ायें एकत्रित होकर आयें तो भले आ जायें, इस दिशा विशेष में कदापि प्रवृत्ति न करूंगा। देखिये कितना महान अन्तर पड़ गया इस एक छोटीसी घुन्डी के खुलने से। इसी लिए थोड़ा भी त्याग करने वाला निःशल्य व्रती है और बहुत अधिक त्याग करने वाला भी शल्यवान अव्रती है।

२ अणुव्रती **अव्रती से इस प्रकार अभ्यास वश व्रती की कोटि में आकर वह गृहस्थ अहिंसा, सत्य,**

अचौर्य, ब्रह्मचर्य व धन संचय त्याग इन पांच व्रतों को आंशिक रूप से ग्रहण कर लेता है; अर्थात् अहिंसा के सर्व भेदों में से चलने फिरने वाले जीवों की पीड़ा सम्बन्धी यथा योग्य हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार व धन संचय का क्रम से त्याग करने लगता है। अर्थात् पहले संकल्प पूर्वक हिंसा के विकल्पों के त्याग का व्रत लेता है, फिर विरोधी सम्बन्धी का भी व्रत ले लेता है, और फिर क्रम से उद्योगी सम्बन्धी व आरम्भी सम्बन्धी हिंसा के त्याग का भी व्रत ले लेता है। रुपये पैसे का, घर दुकान व जमीन का, सोना चांदी का, कपड़े जेवर का, वर्तन व फर्नीचर का, और भी सर्व परिग्रह का परिमाण बांध लेता है, अर्थात् अमुक अमुक वस्तु इससे अधिक न रखूंगा, प्रति दिन इतने समय से अधिक व्यापार न करूंगा, इतने क्षेत्र से बाहर व्यापार न करूंगा न कराऊंगा, चिट्ठी पत्री भी न लिखूंगा, प्रतिदिन इतने से अधिक न कमाऊंगा, प्रति रुपया इतने से अधिक नफ़ा न कमाऊंगा इत्यादि। इस प्रकार विषय भोगों की लालसा व दैनिक आवश्यकतायें कम हो जाने के कारण बड़ा सन्तोषी जीवन बिताने लगता है। इस प्रकार से व्रतों को ग्रहण करने से अणुव्रती या श्रावक कहलाता है।

इतना करने पर भी वह रुकता नहीं, बराबर क्रम से बढ़ा चला जाता है-पूर्णता पर लक्ष्य रख कर। अधिक २ उपवास करने का अभ्यास करके क्षुधादि बाधाओं को किञ्चित् जीत लेता है। अधिक २ समय तक सामायिक या आत्म चिन्तन में लगा हुआ, अन्य प्राकृतिक बाधाओं को भी किंचित जीत लेता है। भोगों सम्बन्धी नित्य प्रयोग में आने वाली खाद्य व अन्य सामग्री के ग्रहण की सीमा को कम करता हुआ, इन्द्रियों को भी किंचित जीत लेता है, सचित्त पदार्थों के भक्षण का व रात्रि भोजन का पूर्ण त्याग भी कर देता है। पर-स्त्री का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्व-स्त्री का भी त्याग करके मैथुन की बाधा को भी जीत लेता है। अधिक विरक्त हो जाने पर उद्योग को पूर्णतया छोड़ देता है और परिग्रह व घर बार को छोड़ कर मन्दिर में रहने लगता है। अन्य लोगों से बात करनी भी बहुत कम कर देता है, तथा अनेकों व्रत और भी धारण कर लेता है। यहां तक कि अभ्यास बढ़ाते बढ़ाते ऐसी अवस्था में पहुंच जाता है, जबकि पहनने के लिये एक लंगोटी और ओढ़ने के लिये एक चादर से अधिक कुछ भी पास नहीं रखता, पैसे को छूना भी पाप समझता है। माता पिता आदि से कोई नाता नहीं रखता, अर्थात् मुनि वत् हो जाता है, इस दिशा में वह श्रावक की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यहां भी नहीं रुकता, और आगे बढ़ता है, क्योंकि लक्ष्य पूर्णता पर है, उससे कम पर सन्तोष आने वाला नहीं है। बल बहुत बढ़ चुका है शरीर को भी दृष्टि से हट जाने के लिये ललकारता है। परन्तु जब यह देखता है कि शरीर पीछा छोड़ने को तैयार नहीं, तो अन्तरंग से स्वयं इसे त्याग देता है, अर्थात् इसे कह देता है कि देख मैं शान्ति पथ पर बहुत आगे बढ़ा जा रहा हूँ। गरमी, सर्दी, मक्खी, मच्छर व भूख प्यास आदि की अनेकों बाधायें आयेंगी, ऐसे अवसरों पर अब पहले के समान मैं तेरी सेवा न करूँगा, अब मैं तेरा सेवक नहीं, तुझे मेरा सेवक बन कर रहना होगा।

३ योगियों का पराक्रम

देखिये तो योगियों की वीरता। इसी से तो यह मार्ग वीरों व क्षत्रियों का है, भोगों में आसक्त, तथा उन योगियों को कायर बनाने वाले कायर जनों का नहीं। किस का साहस है इस प्रकार शरीर को दास बनाने का। इस वीरता को प्राप्त वह श्रावक लंगोटी व चादर भी छोड़ देता है और निर्भीक सिंहवृत्ति को धार कर ग्राम ग्राम विचरण करने लगता है। बिल्कुल

अपरिचित वातावरण में जाकर रहता है, शरीर पर क्षुधादि की बाधायें आयें तो उनको गिनता नहीं धन्य है वह योगी।

क्षुधा की तीव्र वेदना सहन न कर सकने तथा पूर्ण बल की कमी के कारण, अपनी शान्ति को स्थिर रखने के लिये ही इस शरीर को रिश्वत देने अर्थात् आहार देने के लिये बाध्य हो जाता है, तो भी विवेक को हाथ से जाने नहीं देता अर्थात् याचना का भाव चित्त में नहीं लाता। चुपचाप चला जाता है गली मोहल्लों में या घर की किसी ड्योढ़ी में भी। मुख से कुछ नहीं कहता, यदि स्वतः ही किसी गृहस्थ को उनका शान्त स्वरूप देख कर उनके प्रति कुछ भक्ति उमड़ आवे और उनको आहार देने से मैं कृतार्थ हो जाऊंगा। आज मेरा जीवन सफल हो जायेगा। मै आज धन्य हूँ कि इस शान्त मूर्ति ने मुझ अधम का स्थान पवित्र किया। कुछ इस प्रकार के भाव अन्तरंग में उत्पन्न हो जावें, और आकर उनसे प्रार्थना करे कि प्रभु! आहार ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिये; तब ही उस गृहस्थ के यहां आहार ग्रहण करते हैं अन्यथा नहीं। उसके हाव भाव से तथा उसके वचनालाप से यदि इस बात का आभास हो जाये कि यह गृहस्थ किसी लोभ वश, या श्राप आदि के भय वश, या समाज में मान हानि वश, मुझे आहार देना चाहता है, तो कदापि ग्रहण नहीं करता।

कहां तक वर्णन करूं उन योगियों की महिमा। देखिये उनकी करुणा बुद्धि—एक महीने का भूखा हो तो भी, यदि उस गृहस्थ के द्वार पर कोई कुत्ता आदि जीव या कोई फकीर आदि भोजन की आशा लेकर खड़ा हुआ दिखाई दे जाये, तो तुरंत लौट आते हैं उसके द्वार से, यह विचार कर कि मेरे कारण सम्भवतः यह गृहस्थ इन बेचारों को भोजन न दे। इनको पीड़ा पहुँचा कर मैं भोजन करूँ यह कदापि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त भी यदि यह अनुमान में आ जाये कि उसके कारण गृहस्थ को कोई भी ऐसी वस्तु विशेष जुटानी पड़ी है जो स्वयं वह आज प्रयोग में लाने वाला न था, या यह भोजन उसके लिये ही विशेषतया बनाया गया प्रतीत होता है, तो भी बिना खाये लौट आते हैं उसके द्वार से। इतना ही नहीं बल्कि भोजन देख कर यह अनुमान में आ जाये कि कोई भी पदार्थ इसकी रसोई में ऐसा बना हुआ है जिसमें त्रस जीव का घात अवश्य हुआ होगा तो भी बिना खाये लौट आते हैं, तथा और भी यदि खाते खाते बीच में कोई मरा हुआ छोटा जीव जन्तु आदि या बाल आदि कोई शरीर का अंग पड़ा दिखाई दे जाये तो भी बीच में ही भोजन छोड़ कर चले आते हैं। क्योंकि वह जानते हैं कि इस प्रकार का अयोग्य भोजन लेने से उनकी शान्ति की रक्षा न हो सकेगी, बल्कि परिणामों में कुछ विकार आ जाएगा। शान्ति का उपासक किसी मूल्य पर भी शान्ति में बाधा डालने को तैयार नहीं।

४ परीषह जय — कोटि जिह्वा भी उन महर्षियों की महिमा व सामर्थ्य का बखान करने में समर्थ नहीं हैं। बालों को अपने ही हाथों से नोंचकर फेंक देते हैं, इसलिये कि कहीं इस शरीर के प्रति फिर मुझे ममत्व उत्पन्न न हो जाये। कभी कभी सर्दी की कड़कड़ाती रातों में खुले आकाश के नीचे नदी किनारे जा ध्यान धरते हैं। कभी कभी अग्नि बरसाते सूर्य की किरणों के नीचे ज्येष्ठ की गरमी में पर्वत की चोटी पर जा योग धरते हैं। कभी कभी बरसात की मूसलाधार वर्षा में वृक्ष के नीचे जा आत्म मग्न होकर निज शांति का आस्वादन करने लगते हैं। कितने भी मच्छर काटें उन्हें परवाह नहीं, केवल इसलिए कि कहीं यह शरीर उच्छृंखल न हो जाये। कितना पराक्रम है ऐसे महावीरों का।

शारीरिक ही नहीं मानसिक बाधाओं को भी जो तुच्छ मात्र समझते हैं। किसी को भी कभी श्राप नहीं देते, भले ही उनको गाली देता हो, या उनका तिरस्कार करता हो, या उन्हें मारने को उद्यत हुआ हो। अनेकों ऋद्धियां व दैवी शक्तियां होते हुए भी अपने ऊपर आये हुए बड़े बड़े उपसर्गों व पीड़ाओं को दूर करने का कभी प्रयत्न नहीं करते। ज्ञान आदि अपने गुणों की वृद्धि न हो पाई हो, तो भी केवल एक शान्ति मात्र के उपासक वे योगी कभी इस बात की चिन्ता नहीं करते कि "देखो अमुक व्यक्ति तो बिना तपश्चरण किये या अल्प मात्र तपश्चरण करके भी कितना अधिक विद्वान है, कितने चमत्कार दिखाता है, और इतना तपस्वी व धैर्यवान होते हुए भी मुझे कोई भी शक्ति चमत्कार दिखाने की उत्पन्न न हुई। उसे तो भविष्य सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त हो गया है, पर मुझे अब तक भी नहीं हुआ है इसकी तो ख्याति फैल रही है, पर मेरा कोई नाम भी नहीं लेता।" सर्व के प्रति सर्वदा कल्याण की भावना ही रहती है-ऐसे योगियों के भीतर तथा और भी बहुत कुछ जिसे मैं तो कहने में असमर्थ हूं। ऐसे परम पवित्र पूर्ण त्यागी, यहां तक कि शरीर के भी त्यागी, अत्यन्त पराक्रमी वे नग्न दिगम्बर साधु महाव्रती कहलाते हैं। क्योंकि उनको व्रतों की पूर्णता उपलब्धि है।

५ महाव्रती　वे चलने फिरने वाले जीवों के प्रति ही नहीं बल्कि पृथ्वी आदि वनस्पति पर्यन्त एकेन्द्रिय जीवों के प्रति दया रखते हैं, उन्हें भी अपने किसी कार्य से बाधा होने नहीं देते, कभी भी कड़वा या अहितकारी शब्द उनके मुख से निकलता नहीं, मिट्टी मात्र का ग्रहण भी बिना दिये करते नहीं, स्त्री के साये से भी दूर रहते हैं, वस्त्र का धागा मात्र भी जिनके पास नहीं है। भोजन भी खड़े होकर केवल दिन में एक बार अपने हाथ में रखवा कर खा लेते हैं, फिर पानी भी पीने का विकल्प आने नहीं देते। इत्यादि अनेकों गुण प्रगट हो गये हैं उनमें, तभी तो उनके प्रभाव से उनके आस पास के क्षेत्र में पड़ा दुर्भिक्ष भी टल जाता है, बे मौसम भी धान्य पक जाते हैं। सर्प नेवला आदि विरोधी जीव भी उनकी शान्त मुद्रा देखकर अपना वैर भूल कर शान्त हो जाते हैं। और कहां तक कहूं मुझ अल्प बुद्धि में इतनी शक्ति ही कहां है कि उनके गुणों का वर्णन कर सकूं। शत इन्द्र भी आकर एक एक हजार जिह्वाओं से वर्णन करने लगें तो न कर सकेंगे।

उपरोक्त महिमा सुनकर कुछ घबराया सा क्यों प्रतीत होता है? सम्भवतः विचारता हो कि इतने कष्ट का जीवन कैसे बिताते होंगे और जैसा कि आगे कहा जाने वाला है यदि मुझे भी वैसा करना पड़ा तो कैसे कर सकूंगा, इतना कठिन व कष्टप्रद मार्ग मुझ से न बनेगा, परन्तु घबड़ा नहीं। (पञ्च महाव्रतों का स्वरूप देखो उत्तम संयम अध्याय नं० ३९) तू भी उसी सिंह की सन्तान है, जिसकी महिमा ऊपर वर्णन की गई है। जब तक क्रम पूर्वक बढ़ता हुआ स्वयं वहां नहीं पहुंच जाता, तब तक ही घबराहट है, वहां पहुंचने के पश्चात् आनन्द ही आनन्द, शान्ति ही शान्ति है। भला विचार तो सही वह भी तेरे जैसा ही मनुष्य है, उसका शरीर भी चाम हाड़ का बना हुआ है लोहे का नहीं, कष्ट हुआ होता तो कैसे टिकता ऐसी अवस्था में। रणक्षेत्र में अपने शत्रु को पीछे धकेलते क्षत्री योद्धा के शरीर में अनेकों बाण लगें हों, लहू बह रहा हो, परन्तु उस समय उसको पीड़ा होती है क्या? सर कट जाने पर भी सात व्यक्तियों का घात कर देने की सामर्थ्य है उस योद्धा में। तो यह योगी तो अलौकिक वीर है, उपरोक्त सर्व उपसर्ग व परीषह सहने में उसे कष्ट नहीं होता, क्योंकि उसका उपयोग एक शान्ति का अनुभव करने में केन्द्रित रहता है।

६ गृहस्थी को व्रतों व मुनियों की बात बताने का प्रयोजन

इस प्रकार उपयोग को केन्द्रित करने तथा बाधाओं को थोड़ी २ जीतने का अभ्यास श्रावक अवस्था में यह अच्छी तरह कर चुका है। अतः तू भी यदि धीरे २ अभ्यास करता चले और शक्ति को न छिपाये, तो क्रम से पहले अणुव्रती श्रावक बनकर उस की जघन्य स्थिति से उत्कृष्ट महिमा पूर्ण श्रेणी में पदार्पण करेगा, ऐसा निश्चय है। भय छोड़, यदि शान्ति का उपासक बना है तो शरीर से ममत्व हटा, इस पर्याय में आने वाली बाधाओं से न घबरा। व्रतों में अनेकों दोष लग जाने सम्भव हैं। उन पर से साहस को न गिरने देना, अभिप्राय की रक्षा करते हुए बराबर दोष टालने का यत्न करते रहना, अवश्य सफल होगे। व्रतों में लगने वाले दोष अभिप्राय की सत्यता के कारण दृष्टि में नहीं आते, और अभिप्राय के विपरीत होने के कारण छोटा भी दोष महान बन जाता है क्योंकि उसका सुधार नहीं हो पाता। इसका स्पष्टीकरण आगे 'अतिचार' के प्रकरण में किया जायेगा (देखो अध्याय नं० ४४)।

उपरोक्त व्रतों व परीषह जय की बात तुझे अभी व्रत आदि धारण करने की प्रेरणा के लिए नहीं कही जा रही है, बल्कि यह बताने के लिए कही जा रही है कि शान्ति का मार्ग उतने मात्र पर समाप्त नहीं हो जाता, जितना कि तुझे गृहस्थ में रहते रहते करने के लिये कहा गया है। यदि उतने ही मात्र में सन्तोष धार लेगा तो शान्ति की पूर्णता न हो सकेगी, और पूर्णता की प्राप्ति के अभाव में सम्भवतः तुझे मार्ग पर ही अविश्वास हो जाये, अतः पूर्ण मार्ग जानना आवश्यक है। भले ही शक्ति की हीनता वश उसका अंश मात्र ही जीवन में उतारा जाये, परन्तु यह जानना आवश्यक है कि तेरे वाली उस प्रथम श्रेणी के अतिरिक्त, जिसका अब तक संवर निर्जरा के प्रकरणों में कथन चला आ रहा है, संवर और निर्जरा की दो और श्रेणियां भी हैं जो तेरे वाली से उत्तरोत्तर, ऊंची हैं। वे तेरे में बल की वृद्धि हो जाने के पश्चात् ही धारी जानी सम्भव हैं। उनमें से प्रथम की नं०२ श्रेणी तो श्रावक की है जिसे वानप्रस्थ भी कहते हैं और दूसरी नं० ३ वाली श्रेणी साधु की है जिसे तपस्वी, योगी, मुनि, ऋषि, साधु सन्यासी, आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

श्रावक व साधु का स्वरूप थोड़ा सा इसी प्रकरण में आज बताया गया है। साधु के व्रताचरण का कुछ विस्तार गुरु के प्रकरण में बताया जा चुका है और आगे के प्रकरणों में भी कहा जाने वाला है। या यों कह लीजिये कि साधु की संवर निर्जरा रूप उत्कृष्ट क्रियाओं का रूप बताया जाने वाला है। ऐसे जीवन क्रम में परिणत यह साधु जन ही वास्तव में गुरु कहलाये जाते हैं, जिनकी भक्ति व उपासना की बात गृहस्थ सम्बन्धी संवर के प्रारम्भिक क्रम में बताई गई थी। इसका यह अर्थ भी न समझ लेना कि साधुओं की क्रियायें सर्वथा आपके करने की नहीं हैं, और गृहस्थ की क्रियायें सर्वथा साधु को करने की नहीं हैं बल्कि यह समझना कि ये क्रियायें मुख्यतया साधुओं के और आंशिक रूप में गृहस्थ के करने योग्य हैं। आगे सुन कर आप स्वयं जान जाओगे कि अब तक जो क्रियायें आपको करने के लिये कहा गया है, वे इन्हीं क्रियाओं का अल्प रूप हैं और इन क्रियाओं के अतिरिक्त भी यह सब बताई जाने वाली क्रियायें गृहस्थ के द्वारा आंशिक रूप में पाली जानी शक्य हैं, जोकि उसके जीवन के प्रयोजन सम्बन्धी अनेकों ग्रन्थियां सुलझाने वाली हैं, अतः ध्यान से सुनना।

रानी चेलना का मुनिराज के गले से सर्प निकालना

ध्यान मुद्रा में महाव्रती २८ मूल गुणधारी परम वीतरागी साधू जिन्हें अपने शरीर से किञ्चित भी ममत्व नहीं है। राजा श्रेणिक ने इनके गले में साम्प्रदायिक द्वेष वश मरा हुआ सर्प डाल दिया तब भी निश्चल ध्यान में मग्न रहे, कोई शल्य पैदा न हुई इस दुर्घटना को जानकर, वात्सल्य भाव से ओत प्रोत, वैयावृत्ति में तत्पर चेलना रानी ने बहुत यत्न के साथ गले से मरा हुआ सर्प उतारा। उपसर्ग दूर होने व ध्यान पूरा होने पर समदृष्टि महात्मा ने राजा व राणी दोनों को धर्म वृद्धि दी। यह देख कर राजा श्रेणिक बहुत प्रभावित हुआ और मुनि राज से व्रत ग्रहण किये।

❀ साधु सम्बन्धित संवर ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक १५ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७०

१—गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर, २—साधु धर्म के सात मुख्य अंग गुप्ति आदि, ३—समिति, ४—गुप्ति ।

१ गृहस्थ व साधु की क्रियाओं में अन्तर — शान्ति पथ पर धीरे धीरे प्रगति करते हुए अब मैं इस तीसरी श्रेणी में पदार्पण कर जाऊंगा, अर्थात् साधु बन जाऊंगा, तब मेरा जीवन कैसा होगा यह बात चलती है— अर्थात् साधु (गुरु) का जीवन किस ढङ्ग का होता है। यद्यपि अत्यन्त उत्कृष्ट दशा को प्राप्त उस योगी की महिमा कल वाले प्रकरणों में कुछ आ चुकी है। परन्तु उतनी उत्कृष्ट व कष्ट प्रद सी दीखने वाली अवस्था में वह स्थिति कैसे पाता है, वह कैसी विचार श्रेणियां हैं जिनके आधार पर कि वह इस दशा में भी शान्ति का ही वेदन करता है, तथा वह किस जाति का पुरुषार्थ करता है, ये अनेकों प्रश्न उपस्थित हैं। अतः उसकी जीवन प्रवृत्ति की एक हल्की सी रूप रेखा खेंचने का प्रयत्न करता हूँ।

साधु को मुख्यतः अन्तरङ्ग का पुरुषार्थ अधिक वर्तता है। आपको भी इस गृहस्थ दशा में मुख्यतः अन्तरङ्ग का पुरुषार्थ करने को ही कहा गया है, परन्तु दोनों के प्रयोजन में कुछ अन्तर है। आपको तो मुख्यतः अन्तरंग का करने को इसलिए कहा जा रहा है कि आप बाह्य में अधिक त्याग करने को असमर्थ हैं, और साधु को अन्तरंग के पुरुषार्थ की मुख्यता इसलिए है कि उसे बाह्य का सर्व त्याग हो चुका है और कुछ करने को रहा नहीं। हां, बीच की श्रावक वाली भूमिका में अन्तर व बाह्य दोनों पुरुषार्थ ही आवश्यक हैं। यद्यपि संवर और निर्जरा तत्व की बात चली थी परन्तु वह गृहस्थ के योग्य ही थी। अब आगे के प्रकरणों में साधु सम्बन्धी संवर निर्जरा की बात चलेगी।

साधु की व गृहस्थ की संवर निर्जरा में वास्तवतः कोई अलौकिक भेद नहीं है, केवल जघन्यता व उत्कृष्टता का भेद है। जो क्रियायें आपको जघन्य रूप में बताई गई वही क्रिया या विचार साधु उत्कृष्ट रूप में करता है, इसलिए साधु का धर्म एक जाति का हो और गृहस्थ का दूसरी जाति का, ऐसा नहीं है। प्राण संयम के प्रकरण में आपको संकल्पी हिंसा के अतिरिक्त अन्य हिंसा के भेदों की ओर यत्नाचार वर्तने को कहा गया था। यद्यपि हिंसा के इन भेदों का पूर्ण त्याग तो

श्रावक दशा में ही वह साधु पूर्ण कर चुका है। परन्तु इस शरीर के साथ रहने के कारण उसे जो कुछ भी किंचित् मात्र क्रियायें बाहर में करनी पड़ती हैं, उनमें भी वह अत्यन्त उत्कृष्ट यत्नाचार से वर्तता है, इस यत्नाचार का नाम 'समिति' है। तथा इस शरीर पर पूर्ण नियन्त्रण का प्रयत्न करता हुआ, वचन व काय की क्रियाओं को भी अपने काबू में करता है।

२ साधु धर्म के सात मुख्य अंग

इसके अतिरिक्त अन्तरङ्ग में भी शान्ति की पूर्ण स्थिरता अभी प्राप्त नहीं हो पाई है, अतः कुछ शुभ रागात्मक विकल्प कभी कभी आ ही जाते हैं। उन पर नियन्त्रण पाने के लिए भी अत्यन्त अधिक यत्नाचार से वर्तते हुए मन को काबू में करता है। इन मन, वचन, व काय की क्रिया को काबू में करने को ही 'गुप्ति' कहते हैं। यद्यपि अभ्यास करते करते क्रोध, मान, माया व लोभ कषायों को इतना क्षीण कर दिया है कि कोई दूसरा यह नहीं जान सकता कि इस साधु में उनकी रेखा मात्र भी शेष रही हो। वे कषायें उसके वचनों के द्वारा अथवा मुखादि शारीरिक विकारों के द्वारा बाहर में किंचित् भी प्रगट नहीं होनें पातीं। परन्तु फिर भी वह स्वयं उन्हें अपने मन में कभी कभी उत्पन्न होते हुए अनुभव करता है। पूर्व कथित संस्कार विच्छेद के क्रम में उसकी इस समय की स्थिति आठवें नम्बर की है जहां कि अन्तर में दोष उत्पन्न होते ही, वह उसे वहां ही दबा देने का प्रयत्न करता है और बाहर में वह प्रगट होने नहीं पाता। इनके अतिरिक्त इन्द्रिय व प्राण संयम सम्बन्धी कुछ सूक्ष्म दोषों से बचने के लिए भी वह कुछ विशेष विचार अन्तरंग में रखता है, इन विचारों को मुख्यतः दस श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हें दस लक्षण धर्म कहते हैं।

बिल्कुल नग्न खुले आकाश के नीचे अकेले व किसी की भी सहायता से निरपेक्ष, जीवन बिताने के लिए उसे कितनी शारीरिक व मानसिक बाधायें सहनी पड़ती होंगी, यह यद्यपि गिनाई नहीं जा सकतीं पर फिर भी अनुमान में आ जाने के कारण उनको बाईस कोटि में विभक्त करके बताया जाता है। इन बाईस प्रकार की बाधाओं को 'परीषह' कहते हैं। इन अत्यन्त असह्य पीड़ाओं को शांति पूर्वक झेलने की सामर्थ्य उनको कौन प्रदान करता है ? वह हैं उस ही के अपने अन्तरंग विचार, जो बारह कोटियों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनको बारह 'अनुप्रेक्षा' व बारह भावनायें कहते हैं। उनका शान्ति व साम्यता में रंगा हुआ जीवन 'चारित्र' कहलाता है। उस चारित्र में बाधक संस्कारों को तोड़ने के लिये जो अत्यन्त उत्कृष्ट पुरुषार्थ करते हैं उसका नाम 'तप' है।

इस प्रकार १ समिति, २ गुप्ति, ३ दस धर्म, ४ परीषह विजय, ५ अनुप्रेक्षा, ६ चारित्र, व ७ तप ये सात उसके जीवन के मुख्य अंग हैं। इन अंगों के पहले के छः में संवर की, तथा अन्तिम में निर्जरा की मुख्यता है। यहां संवर का प्रकरण है अतः क्रम से उपरोक्त छः अंगों का वर्णन किया जाएगा :—

३ समिति

इनमें पहला अंग है 'समिति' (अर्थात् सम+इति) जिस का अर्थ है, अन्तरंग में निज शान्ति की प्राप्ति के प्रति, और बाहर में अन्य जीवों की शान्ति की रक्षा के प्रति, प्रयत्न करते हुए सम्यक् प्रकार गमन करना। अतः वास्तविक समिति तो उसे उतनी ही देर रह सकनी सम्भव है, जितनी देर कि वह निज शांति में स्नान करता ध्यानस्थ अवस्था में स्थित रहता है क्योंकि पूर्णतया शांति को

प्राप्ति व अन्य जीवों की रक्षा तभी सम्भव है, अन्य शारीरिक क्रियायें करते हुए नहीं। परन्तु अधिक समय उस अवस्था में स्थिति पाने की सामर्थ्य न होने के कारण वह उस दशा से च्युत हो जाता है, और कुछ शारीरिक व वाचिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करने लगता है। अन्य लौकिक क्रियायें तो आज उससे नहीं होती, क्योंकि उस वातावरण से, अन्तरंग व बहिरंग नाता पूर्णतया टूट चुका है। परन्तु शरीर के साथ लगे रहने के कारण इसे भोजन देने के लिये, या शौचादि क्रियाओं के लिए कदाचित् गमनागमन करना पड़ता है। कभी कभी जिज्ञासु जीवों पर करुणा करके उपदेश देने का भाव भी जागृत हो जाता है। यद्यपि वह अन्य सर्व परिग्रह का त्याग कर चुका है, परन्तु अब भी शौच के लिए एक कमण्डल, मन स्थिर रखने के लिये दो चार शास्त्र, छोटे छोटे जीव जन्तुओं की रक्षा के लिए केवल एक पिच्छी रखता है। इस लिये इन वस्तुओं को उठाने-धरने, सोने-बैठने, गमनागमन आदि की क्रियायें भी उसे करनी पड़ती हैं। इन सर्व शारीरिक व वाचिक क्रियाओं में उसे अत्यन्त यत्नाचार वर्तता है। ऐसी दशा में यत्नाचार की यह प्रवृत्ति ही अन्य जीवों की रक्षा के निमित्त होने के कारण समिति कहलाती है।

१—पृथ्वी पर गमन करते हुए वह बराबर चार हाथ आगे दृष्टि करके चलता है कि कोई चींटी आदि छोटा जन्तु उसके पांव के नीचे आकर या शरीर के किसी भी अंग से आघात पाकर मर न जाये, पीड़ित न हो जाये। यहां तक कि उसके मार्ग में कुछ प्राणी ऐसे बैठे हों कि जो उसके अकस्मात् निकट पहुंचने पर उससे डर कर भागने लगें, तो उस मार्ग को ही छोड़ देता है। ऊपर बताई गई अपने से सम्बन्धित किसी भी वस्तु को उठाते, धरते उस वस्तु तथा स्थान को कोमल पिच्छी से अच्छी तरह शोध या झाड़ कर ही रखता उठाता है, कि कहीं ऐसा न हो कि उस वस्तु के नीचे आकर या उसका आघात पाकर कोई छोटा जन्तु, जिसका उस स्थान पर या वस्तु पर उस समय बैठा हुआ होना सम्भव है, मर न जाये या पीड़ित न हो जाये। ३—मल मूत्र क्षेपण करते समय भी यह यत्न बराबर बना रहता है और इसलिए किसी साफ़ मैदान में ही अच्छी तरह देखकर या शोध झाड़ कर मल क्षेपण करता है, नाली आदि में नहीं, क्योंकि ऐसे गन्दे स्थानों में बड़ी जीव राशि पड़ी हुई होती है, जो कि उस मल से मर जानी या बाधित हो जानी सम्भव है। अपने बैठने उठने के स्थान से यथा योग्य दूरी पर ही क्षेपण करता है, क्योंकि निकट करने से मल की दुर्गन्धि के कारण स्वयं उसे अथवा उसके शिष्यादि को वहां बैठना कठिन न हो जाये, तथा सभ्य व्यक्तियों के लिए ऐसा करना अच्छा भी प्रतीत नहीं होता। कितनी दूर पर क्षेपण करे इसका निश्चय मल की जाति पर से होता है-विष्टा का क्षेपण बहुत अधिक दूर, मूत्र का क्षेपण अपने से कुछ दूर तथा कफ़ आदि का क्षेपण अपने से थोड़ी दूर पर इतना पर्याप्त है, परन्तु तीनों ही अवस्थाओं में गुप्त स्थान होना चाहिये। इन गमनागमन व उठाने-धरने, या मल क्षेपण की क्रियाओं के अतिरिक्त, ४—उपदेश देते समय या अपने किसी शिष्य या अन्य साधु से बात करते हुए भी उसे यह यत्नाचार बराबर बना रहता है, कि उसके मुख से कोई भी शब्द ऐसा न निकलने पाए कि श्रोता के लिए अहितकारी हो, अथवा उसे कुछ बुरा लगे। ५—भोजन ग्रहण करते समय भी बराबर यह यत्नाचार वर्तता है कि भोजन किसी ऐसी वस्तु से अथवा किसी ऐसी रीति से न बनाया गया हो कि उसके कारण किसी छोटे या बड़े जीव को पीड़ा पहुंची हो, अथवा पहुंचने की सम्भावना हो या भोजन लेने से किसी अन्य की उदर पूरणा में बाधा आने की सम्भावना हो। इस दातार पर तो भोजन बनाते समय कोई विशेष भार नहीं पड़ा है, या पड़ता

सम्भव नहीं है इत्यादि। इस प्रकार उत्कृष्ट यत्नाचार में प्रवृत होते हुए उसका जीवन पूर्ण व्रती जीवन है, पूर्ण संयमी जीवन है।

मन, वचन व काय को पूर्ण नियन्त्रित रखने का नाम 'गुप्ति' है। वास्तव में तो इसकी पूर्णता भी ध्यानस्थ अवस्था में ही सम्भव है, जहां शरीर निश्चल, वचन से मौन, मन से अन्तर्जल्प रूप वचनों का अभाव और मन की शान्ति में एकाग्रता पाई जाती है। पर वहां से हट जाने पर वह योगी बराबर यह प्रयत्न रखता है कि, "शरीर को हिलाने जुलाने का काम न करूंगा, यदि करूंगा तो थोड़ा करूंगा और वह भी समिति में बताये अनुसार यत्नाचार पूर्वक करूंगा। २—मौन से रहूंगा और यदि बोलना भी पड़ा तो थोड़ा बोलूंगा और उसमें भी शान्ति व स्व-पर-हित सम्बन्धी बात ही बोलूंगा, वह भी निष्प्रयोजन न बोलूंगा, प्रयोजन वश भी अत्यन्त मिष्ट भाषा में बोलूंगा। क्रोधादि से रंगे शब्दों को तो गृहस्थ दशा में ही त्याग कर चुका था। ३—मन के द्वारा केवल निज शान्ति के अतिरिक्त कुछ न सोचूंगा, यदि सोचना भी पड़े तो अधिक देर तक नहीं सोचूंगा, बीच बीच में लौटकर पुनः पुनः शान्ति को स्पर्श करता रहूंगा, कुछ देर भी सोचने में लौकिक विकल्प न आने दूंगा शान्ति की प्रेरणा सम्बन्धी विकल्प ही आने दूंगा" इत्यादि। इस प्रकार हमारी भांति मन वचन व काय के आधीन न रहकर उनको अपने आधीन बना लेता है। जो काम वह चाहेगा वही उन तीनों को करना पड़ेगा, जो वह न चाहेगा, उसे वे न कर सकेंगे, जो वे कहेंगे उसे वह साधु न करेगा। हमारी भांति वह योगी उनका दास न होगा, बल्कि वह तीनों होंगे उसके दास और इस लिये यह योगी त्रिगुप्ति गुप्त कहलाता है। कितना महान है उनका पराक्रम व बल।

मन, वचन व काय की गुप्ति के साधक योगी।

सर्प का उपसर्ग होने पर भी ध्यान में निश्चल खड़े हैं। सर्प के भय से इन के मन में कोई विकार नहीं, वचन से कोई शब्द उसको भगाने का कहते नहीं, काय भी निश्चल है चाहे सर्प उसे काटे या अन्य भी कोई आपत्ति आये।

३४

❀ उत्तम क्षमा ❀

मुज़फ्फ़रनगर दिनांक १५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७१

१—दश धर्मों में एकत्व, २—क्षमा, व क्रोध का अर्थ ३—आदर्श गृहस्थ की क्षमा, ४—साधु के अन्तरंग शत्रु, ५—चार विकट परिस्थियों में उठने वाले परिणाम, ६—गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा ।

१ दश धर्मों में एकत्व वीतरागी साधु की बात चलती है कि उनके अन्तरङ्ग में किसी भी जाति की कषाय उत्पन्न हो जाने पर स्वभावतः ही उसमें किस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं, यह प्रकरण है। उन परिणामों को मुख्यता से दस जाति में विभक्त किया जाता है। उत्तम १. क्षमा, २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. शौच, ५. सत्य, ६. संयम, ७. तप, ८. त्याग, ९. आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य । ये दसों परिणाम क्रमशः १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ, ५. हास्य, ६. शोक, ७. भय-जगुप्सा, ८. रति-अरति, ९. चोरी और १०. मैथुन रूप कषायों के विरोधी हैं। ये दशों धर्म कोई पृथक पृथक नहीं हैं किन्तु एक ही धर्मात्मा में यथायोग्य अवसरों पर स्वभावतः जो परिणाम उत्पन्न हुआ करते हैं, उन परिणामों का विश्लेषण करके ही यह दस भेद किये गये हैं। इसी कारण इनको दस लक्षण धर्म कहा है। अन्तरमुखी साधु जनों को ही मुख्यतः इतने उत्कृष्ट परिणाम वर्तते हैं, पर किसी धर्मी गृहस्थ के जीवन में इस जाति के परिणाम उठते ही न हों ऐसा नहीं है। कुछ जघन्य अंश में वहां भी इस जाति के परिणाम किसी २ अवसर पर हुआ करते हैं। पहले बताये गये गृहस्थ सम्बन्धी संवर निर्जरा तत्वों में, इनका कथन नहीं किया गया है, वहां भी इनको यथा सम्भव रूप में लागू कर लेना। अर्थात् आप यथाशक्ति उन पूर्व क्रियाओं के अतिरिक्त इनको भी अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करना। अशान्ति से आपकी रक्षा करने के लिये यह विशेष रूप में सहायी होंगे। इन दसों भावों के साथ उत्तम विशेषण लगा कर निर्देश किया है, इसका अर्थ यह है कि इन परिणामों का आधार कोई भी लौकिक तत्व नहीं है, बल्कि जीव अजीव तत्व में कथित वस्तु स्वभाव व स्व पर भेद विज्ञान है जो शान्ति का आश्रय है, लौकिक भोग सामग्री का आश्रय नहीं है।

२ क्षमा व क्रोध का अर्थ प्रथम उत्तम क्षमा की बात चलेगी। क्रोध अग्नि को बुझाने के लिये क्षमा के अतिरिक्त और कोई शीतल धारा नहीं है। क्षमा का अर्थ ही शान्ति है, परिणामों में क्रोध न आना ही क्षमा है। वास्तविक क्रोध है वह भूल, जिसके कारण अपनी महिमा, अन्तरंग में जागृती होत

नहीं। भोगादि सामग्री में अपने सुख का आभास करके, अविनाशी शान्ति की अवहेलना करना अनन्ता क्रोध है। "पर पदार्थों का मैं कुछ कर सकता हूं, और पर की सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता", ऐसी धारणा के द्वारा अपनी शक्ति का तिरस्कार करना, उसके प्रति अनन्ता क्रोध है। प्रभो! अपनी शक्ति को पहिचान, दूसरे की ओर देखना छोड़, अपने लिये प्रयास कर, अपनी शक्ति से प्रयास कर। दूसरे से सहायता मांग कर भिखारी मत बन।

गृहस्थ व साधु के जीवन में महान अन्तर है, इसलिये उनकी क्षमा में भी महान अन्तर है। गृहस्थ अवस्था में रहते हुए व्यक्ति को अनेकों अवसर क्रोध के आ जाते हैं, साधु को इतने नहीं आते। अल्प दशा के कारण गृहस्थ को तीव्र क्रोध भी आ जाता है परन्तु साधु को अव्वल तो ऐसा कोई संयोग ही प्राप्त होता नहीं जो तीव्र क्रोध में निमित्त पड़े और यदि कदाचित आ भी पड़े तो वह उसे बाहर प्रकट होने नहीं देता, अन्दर ही अन्दर उसे शान्त कर देने का प्रयत्न करता है। क्रोध बाहर में प्रगट हुआ तो साधु काहे का ?

अब पहले सुनिये गृहस्थ की उत्तम क्षमा। क्षमा कई प्रकार की हो सकती है। एक वह क्षमा, जो किसी प्रतिद्वन्दी के द्वारा किसी भी प्रकार अपनी क्षति हो जाने पर, उससे बदला लेने की शक्ति का अभाव होने के कारण, चुप साध कर करली जाती है। परन्तु अन्तरंग में अभिप्राय यह पड़ा रहता है "कि यदि शक्ति होती तो मजा चखा देता इसको, अच्छा, अब न सही, फिर देख लूंगा।" इस प्रकार अन्तरंग में कटु द्वेष की ज्वाला में भुनते हुए भी, बाहर से कह देना कि जा तुझे क्षमा किया इसी के अन्तरंग वह-क्रोध भी आ जाता है, जो अंतरंग में न जाने कब से चले आये द्वेष के रूप में पड़ा रहता है, और बाहर में उस व्यक्ति से खूब मित्रता सरीखी दिखाता है, सहानुभूति दर्शाता है, इत्यादि इसको कीना कहते हैं। इस प्रकार के दिखावटी भाव को तो लोक में भी क्षमा नहीं कहते, इस प्रकरण में तो कैसे कहें क्षमा वह तो प्रकट क्रोध से भी अधिक घातक है, क्योंकि बहुत लम्बे समय तक बराबर अन्तर में द्वेष बना रहता है।

दूसरी प्रकार की भी क्षमा है, जो प्रतिद्वन्दी को खूब मार पीट कर अपने अरमान निकाल लेने के पश्चात उसे छोड़ कर तथा "जा माफ किया, फिर ऐसा न करना" ऐसे करने में आती है। वह भी सच्ची क्षमा नहीं है, कहने मात्र की है, क्योंकि शक्ति अनुसार जो कुछ करना था वह कर लिया। क्रोध निकाल लिया, फिर क्षमा क्या किया ? यह भी द्वेष की कोटि में आ जाती है, परन्तु पहले के द्वेष और इस द्वेष में महान अन्तर है। पहले द्वेष की अपेक्षा इस द्वेष की शक्ति कम है। क्योंकि यह उतने ही समय मात्र के लिये रह कर समाप्त हो जाता है, पीछे मिलने पर उस व्यक्ति से कोई विशेष घृणा नहीं होती।

३ आदर्श गृहस्थ की क्षमा

असली क्षमा वह है जिसमें द्वेष का-नाम न हो, गृहस्थ को वह कैसे होती है—देखिये कर्तव्य परायण गृहस्थी के लिये अपना कर्तव्य निभाते हुए भी द्वेष करने की आवश्यकता नहीं। प्राण संयम के अन्तर्गत विरोधी हिंसा की बात आई है (देखो अध्याय नं० २७ प्रकरण नं०२१) जो कि संयमी गृहस्थ अवसर आने पर कर गुजरता है, परन्तु गौर करके देखने पर वहां आपको द्वेष दिखाई न देगा। विरोधी हिंसा में जैसा कि बताया जा चुका है, शत्रु से युद्ध द्वेष वश नहीं किया

जाता बल्कि आत्म रक्षा या निज सम्मान की रक्षा वश किया जाता है और इसलिये यदि कदाचित् शत्रु को जीत लिया जाये, तो उसे तंग नहीं किया जाता, बल्कि शान्ति पूर्वक समझा बुझा कर तथा कुछ उपयोगी शिक्षायें देकर तुरन्त छोड़ दिया जाता है। उसकी दृष्टि केवल आत्मरक्षा की थी सो वह हो गई, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये था, इसलिये वह अवसर बीत लेने के पश्चात् वह व्यक्ति पहले की भांति ही शान्त दीखने लगता है। यदि पहले मित्र था तो अब भी मित्र दीखता है और यदि पहले सामान्य मनुष्य दीखता था, अर्थात् न उसमें शत्रु का भाव था न मित्र का तो अब भी वैसा ही दीखता है—यह गृहस्थ की सच्ची क्षमा है।

भारत के वीरों का यही आदर्श रहा है। भगवान राम ने रावण पर चढ़ाई की, परन्तु अन्तिम समय तक यही प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार युद्ध न करना पड़े तो ठीक। शक्ति की कमी हो इसलिये नहीं, बल्कि इसलिये कि अन्तरंग में रावण के प्रति कोई द्वेष न था। उन्हें अपने सम्मान की रक्षा के लिये सीता दरकार थी, और कुछ नहीं, उन्हें रावण की स्वर्णमयी लंका की बिल्कुल इच्छा न थी और इसलिये अंतिम समय तक यही सन्देश भेजते रहे-रावण के पास, कि सीता लौटा दो तो हम युद्ध न करेंगे, हमें तुमसे कोई शत्रुता नहीं है, पर रावण न माना तो क्या करें सम्मान की रक्षा तो उस समय कर्तव्य थी ही, यदि उस समय उस कर्तव्य को पूरा न करते तो कायर थे। परन्तु ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर मुनि का इस प्रकार का कर्तव्य नहीं है। क्योंकि ऐसी दशा में साधक को सब समान है आत्म सम्मान शान्ति मात्र है, शान्ति में बाधक उनके अपने परिणाम ही उनके शत्रु हैं, इसलिये यदि युद्ध करते हैं तो अन्तर परिणामों से, बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं,क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई शत्रु है ही नहीं। वह यदि बाहर में किसी व्यक्ति से युद्ध करें तो कायर हैं। दशा भेद हो जाने से कार्य में भेद पड़ जाता है। अपना कर्तव्य पूर्ण करने को वह (राम) यद्यपि रावण से लड़ा, परन्तु जीत लेनें के पश्चात् उससे अनुचित व्यवहार न किया, उसका सम्मान किया तथा लक्ष्मण को उसे गुरु स्वीकार करने की आज्ञा दी। सीता मात्र को लेकर वापिस आ गयें, लंका की एक वस्तु भी न छुई, उन्हें आवश्यकता ही न थी किसी पदार्थ की। बताइये क्या राम को द्वेष था रावण से ? यह थी एक गृहस्थी की क्षमा।

पृथ्वीराज न सात बार मुहम्मद गौरी को युद्ध में बन्दी बनाया, परन्तु हर बार उसे समझा कर छोड़ दिया, उसका कुछ भी न छीना। आत्म रक्षा करनी अभीष्ट थी-हो गई, आगे कुछ नहीं किया क्योंकि मुहम्मद गौरी से कोई द्वेष न था। पृथ्वीराज वीर था, क्षमा उसका भूषण था, उसे अपने बल पर विश्वास था, अपनी क्षमा के कर्तव्य को भूल कर वह कायर बनना नहीं चाहता था। यह था भारत के वीरों का आदर्श-क्षमा कायरों को शोभा नहीं देती, यह वीरों का भूषण है। भले ही आज का युग उसे भ्रम वश पृथ्वीराज की भूल बताता हो, और उसके इस महान कृत्य को भारत की पराधीनता का कारण बताता हो, परन्तु जगत की यह बात स्वार्थ में से निकल रही है, कर्तव्य में से नहीं पामरता में से निकल रही है वीरता में से नहीं। जिस क्षमा को कायरता कहा जाता है वह सच्ची वीरता थी। भारत का ह्रास पृथ्वीराज की इस क्षमा के कारण नहीं हुआ, बल्कि हुआ जयचन्द की स्वार्थता के कारण से, कर्तव्य शून्यता के कारण से। दोषी की दृष्टि में दोष नहीं दीखता, वह गुण में से दोष निकालने का प्रयत्न करता है। आज के स्वार्थी व कायर लोगों की दृष्टि भी दोष खोजने के लिये पृथ्वीराज की ओर जाती है, पर जयचन्द की ओर नही, जो कि वास्तव में दोषी था।

४ साधु के अन्तरंग शत्रु

यह हुई गृहस्थ की उत्तम क्षमा, अब सुनिये साधु की क्षमा। उपरोक्त प्रकार किसी से युद्ध ठानने की स्थिति से वह निकल ही चुका है, और न उसके पास कोई पदार्थ ऐसा है, जिसका अपरहण करने के लिये कोई उसे तंग करे, इसलिए क्रोध के बहुत ही कम अवसर उसे प्राप्त होते हैं। यहां उन साधु नाम धारी व्यक्तियों का कथन नहीं, जो अपने शिष्यों पर या अपने सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियों पर बात बात में रुष्ट हो जाते हैं, उसे तो हम साधु कहते ही नहीं हैं चाहे नग्न क्यों न हो। संज्वलन कषायोदय के आधार पर अपने इस क्रोध की पुष्टि करना भी शोभा नहीं देता। संज्वलन कषाय बहुत मन्द होती है, वह कभी बाहर में प्रगट होने ही नहीं पाती, क्योंकि गृहस्थ दशा में ही कषायों के संस्कारों का बहुत अंशों में विनाश कर चुका है। एक साधक गृहस्थ को भी, बात बात पर क्रोध या अन्य कषाय उत्पन्न नहीं होती, तो साधू को कैसे हो सकती है।

परन्तु फिर भी आहार आदि के अर्थ चर्या करते हुए कदाचित् नगर में जाना पड़े, और कोई अज्ञानी जनकृत या पशुकृत उपसर्ग या बाधा आ पड़े, तो हो सकता है कि क्रोध आ जाये। और उस महान योगेश्वर में तो आत्म शक्ति भी अतुल है, भले हो शरीर से निर्बल दीखता हो, पर बड़ी बड़ी ऋद्धियों का स्वामी है। चाहे तो एक दृष्टि डाल कर भस्म करदे उसे, या शाप देकर उसे कष्ट सागर में डुबो दे, परन्तु सच्चे योगियों का कर्तव्य नहीं। यदि अपनी ऋद्धियों का प्रयोग बाहर में किसी प्राणी पर करता है, तो वह योगी नहीं कायर है। योगी किसी को शाप नहीं दिया करते, ऋद्धियां होते हुए भी प्रयोग नहीं किया करते। स्व व पर कल्याण के लिए यदि करना भी पड़े तो कदाचित् कर भी ले, परन्तु किसी प्राणी को दोषी हो या निर्दोषी, किसी भी उचित व अनुचित कारण वश वह पीड़ा नहीं पहुँचाते, भले प्राण चले जायें। वे सिंह बन कर निकले हैं, शरीर को ललकार कर निकले हैं, इन प्राणों का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। वह लौकिक नहीं अलौकिक युद्ध लड़ते हैं, जो बड़े से बड़ा योद्धा भी लड़ने में समर्थ नहीं। वह अलौकिक शत्रुओं को जीतते हैं, जिन्हें कोई जीतने में समर्थ नहीं। उन कायरों पर क्या वार करे, जिसे कर्तव्य, अकर्तव्य व हित अहित का भी विवेक नहीं। उसके शत्रु बाहर दीखने वाले मनुष्य व पशु नहीं हैं, चाहे साक्षात् शरीर को भक्षण क्यों न करते हों, इसको अग्नि में क्यों न ड़ालते हों, उबलते हुए तेल के कढ़ाये में क्यों न फंकते हों, कुत्तों से क्यों न नुचवाते हों, शरीर को कितनी भी बड़ी से बड़ी पीड़ा क्यों न पहुँचाते हों, वे उन्हें शत्रु देखें ही क्यों, क्योंकि जिसे वह क्षति पहुँचा रहे हैं, वह उस शरीर को अपना मानते ही नहीं और जो चैतन्य उसका है वह उसे क्षति पहुँचा ही नहीं सकते।

उसके वास्तविक शत्रु तो अन्तरङ्ग के उसके कषायानुरंजित परिणाम ही हैं, जो उसे वास्तव में क्षति पहुँचा सकते हैं, अर्थात् उसकी शान्ति भंग कर सकते हैं। उस योगी का बल कायर व्यक्तियों पर नहीं चलता, इन अत्यन्त सुभट शत्रुओं पर चलता है। क्या किसी क्षत्रिय की खड्ग किसी स्त्री पर या नपुंसक पर उठती है? भले उसके प्राण चले जायें, पर क्या वह इनके प्रति युद्ध ठानता है, इनको अपना पराक्रम दिखलाता है? धन्य हैं वे, उनकी दृष्टि विलक्षण है, वे प्राणियों या वस्तुओं को उस दृष्टि से नहीं देखते जिससे कि हम देखते हैं और इसीलिये आश्चर्य होता है उनके साहस पर। वे सर्व को वस्तुपने की दृष्टि से देखते हैं, उनकी दृष्टि में वह चैतन्य है और शरीर जड़, जिससे उनका कोई नाता नहीं। उनकी दृष्टि में लोक की कोई शक्ति उन्हें बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं,

क्योंकि वह अछेद्य हैं, अविनश्वर हैं, अदाह्य हैं अर्थात् वे जल नहीं सकते। जब वे छिद भिद सकते ही नहीं, जल सकते ही नहीं, तो कोई कैसे उन्हें छेदे भेदे या जलाये। छेदना भेदना तो रहा दूर, उसे कषाय उत्पन्न कराने की शक्ति भी किसी अन्य में नहीं है। वे स्वयं क्रोधादि करें तो करें,कोई अन्य नहीं करा सकता। यहीतो है वस्तु की स्वतन्त्रता, जो स्व पर भेद के प्रकरण में दर्शायी जा चुकी है। (देखो अध्याय नं०१२) विचारिये तो सही कि यदि आप मुझे गाली दें या मारें, और मैं क्रोध न करूँ, तो क्या आप जबरदस्ती मुझे कह कर क्रोध करा सकते हैं? आप मेरी इच्छा के विरुद्ध क्रोध नहीं करा सकते।

देश भक्तों को अंग्रेजों ने जेल में ठोका, अनेकों कष्ट दिये, परन्तु क्या उनमें इतनी सामर्थ्य थी, कि उनसे जबरदस्ती उनकी अन्तरङ्ग देशभक्ति के भाव को छुड़ा देते? मानतुंग आचार्य को अड़तालीस तालों के अन्दर बन्द किया, परन्तु क्या कोई उनके अन्दर जागृत हुई प्रभु भक्ति पर प्रतिबन्ध लगा सका? आज यदि मैं आपको कहूँ कि आपको क्रोध करना पड़ेगा, तो क्या आप करेंगे? महात्मा बुद्ध को एक व्यक्ति ने खूब गालियाँ सुनाई पर वे सुनते रहे मुस्कराते हुए शान्त भाव से, अब वह व्यक्ति चुप हो गया तो बोले कि "भाई ! यदि कोई वस्तु मैं तुम्हें दूं और तुम न लो, तो वह वस्तु किसकी ?" "जिसने दी उसकी।" तो बस आपने मुझे जो शब्द दिये, मैंने तो उन्हें लिया नहीं, क्योंकि मुझे क्रोध आया नहीं, यदि क्रोध आ जाता तो सम्भवतः कह दिया जाता कि मैंने उन्हें स्वीकार किया है। तो अब बताओ यह शब्द किसके ठैरे, आपके या मेरे ?" वह व्यक्ति शर्मिन्दा हो गया। शब्दों में यदि शक्ति होती तो उन्हें क्रोध आ जाता। ऐसी दृष्टि में कोई अन्य उन्हें बाधा पहुंचा सके, यह शक्ति किसी में नहीं, अपनी ही किसी कमज़ोरी के कारण कदाचित् क्रोधादि आते हैं। अतः वह कमजोरी ही उनका शत्रु है, उसके प्रति ही उनका युद्ध है, उनको ही अपना पराक्रम दिखाता है।

मुज़फ्फरनगर—दिनांक १६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७२

५ चार विकट परिस्थितियों में उठने वाले परिणाम

(१) उत्तम क्षमा की बात चलती है। वह महा भाग्य दिव्यचक्षु योगीजन अपने अन्दर के शत्रुओं को कैसे जीतते हैं। देखिये अलौकिक जीवों के अलौकिक विचार यदि कदाचित् उनका नग्न वेश देख कर कोई अज्ञानी कटु वचनों के बान चलाने लगें, "देखो बैल सरीखा निर्लज्ज पशु कैसे चला जा रहा है, असभ्य कहीं का नाम मात्र को मनुष्य है मूढ़ बुद्धि, ढोंग रचे फिरता है, देखो तो कितना भोला दीखता है ऊपर से, लुच्चा कहीं का", इत्यादि अनेकों वचनों द्वारा तीखे बाण ही फेंक रहा हो मानों कलेजे को छलनी करते निकले जा रहे हों। तो वे परम योगेश्वर उस समय इस प्रकार विचार करते हैं कि "अरे चेतन ! क्यों कलकलाहट सी हो गई है तेरे अन्दर इन शब्दों को सुनने मात्र से ? बस इसी बिरते पर निकला है संस्कारों से युद्ध करने ? अभी तो तुझे कुछ पीड़ा भी होने नहीं पाई, शरीर पर भी कोई आघात हुआ नहीं। फिर यह व्याकुलता सी क्यों?

बता तो सही कहां लगे हैं यह वचन तुमको ? बायें बायें ऊपर नीचे किधर भी तो चिपके दिखाई नहीं देते। कैसे मानता है अपने को घायल ? तू चैतन्य, ब्रह्म, अछेद्य व अभेद्य। इसका घायल होना तो असम्भव ही है, परन्तु यहां तो यह शरीर भी घायल नहीं हुआ। तुझे पीड़ा क्यों होने लगी ? क्या शब्दों में इतनी शक्ति है कि बिना आघात पहुंचाये तुझे पीड़ित कर दें ? परन्तु ऐसा होना तो असम्भव है। ऐसा माने तो तेरे में और लोक के अन्य जीवों में अन्तर ही क्या रहा ? तू किस प्रकार अपने को शान्ति पथ का पथिक कह सकता है।

केवल इन दो चार शब्दों मात्र से तू क्यों अपनी शान्ति को अपने हाथ से लुटा रहा है ? इतनी दुर्लभता से प्राप्त करके, इसे मुफ्त में ही दिये जा रहा है। कहां गई तेरी बुद्धि, कहां गया तेरा विवेक, अपने हित को क्यों नहीं देखता ? इस समय विश्व में सर्वत्र ही तो किसी न किसी के द्वारा कोई न कोई शब्द बोला जा रहा है। उनके द्वारा क्यों विह्वल नहीं हो रहा है ? यह भी तो विश्व में रह कर ही बोल रहा है, उन असंख्यात शब्दों में एक यह भी सही। जब उनके द्वारा तुझे बाधा नहीं हो रही, तो इसी के द्वारा क्यों हो। जहां यह कटु शब्द बोले जा रहे हैं, वहां इस विश्व में कहीं न कहीं मिष्ट व प्रशंसा के शब्द भी तो बोले जा रहे हैं। यदि सुनना है तो उनको क्यों नहीं सुनता ?"

और फिर वह भी तो झूठ नहीं कह रहा है, दोष तुझमें होंगे तभी कहता है। वह तो बड़ा उपकार कर रहा है तुझे तेरे दोष दिखाकर सावधान कर रहा है। कितना दयालु है वह ? निष्कारण तेरा रोग दूर करने की भावना करता है ? और यदि अनहोने दोष कह रहा है तो भी तो अच्छा ही है कि भविष्य में वह दोष उत्पन्न न हो जायें; ऐसी भावना द्वारा, पानी आने से पहले ही पुल बांधने को कह रहा है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है ?" ऐसे और भी अनेकों इसी जाति के शीतल विचारों द्वारा, उस अवसर में अपने को शान्त रखता है, क्रोधाग्नि को उठने से पहले ही शमन कर देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(२) यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ पड़े कि कोई उसके शरीर को पीटने लगे, थप्पड़ मुक्के मारने लगे, तो भी वह वीर शान्ति को हाथ से नहीं जाने देता। विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ, क्यों पीड़ा होती है, क्या कोई बाधा पहुंची है तुझे ? तू तो अब भी अपनी सर्व शक्तियों को समेटे पूर्ण गुप्त अपने ज्ञान दुर्ग में बैठा है क्या तुझे भी कहीं थप्पड़ लगा है ? लगा है तो बता, कहां पीड़ा हो रही है तुझे ? क्या ज्ञान में ? पर ज्ञान में पीड़ा होने का क्या काम, वह तो जानता मात्र है। कहां चोट लगी है तुझे ? क्या शरीर की चोट को अपनी चोट समझ बैठा है ? अरे ! कहां चला गया तेरा विवेक ? यदि शरीर की चोट को चोट माने तो, इस खम्बे पर पड़ी चोट को भी अपनी चोट माननी चाहिये। क्या अन्तर है शरीर में तथा इस खम्बे में ? वह भी जड़ और यह भी जड़। यदि क्रोध आ जाता तो अवश्य माना जा सकता था, कि तुझे चोट लगी है। पर क्रोध उत्पन्न करने वाला तो तू स्वयं ही है। ये बेचारे प्राणी तुझको क्रोध कैसे उत्पन्न करायें ? कौन सा ऐसा हथियार है उनके पास ? और फिर यदि शरीर को कुछ बाधा पहुँची भी तो क्या हुआ, इसका विनाश तो न हुआ ? तेरे संयम में तो बाधा न पड़ी, तेरा मार्ग तो न रुक पाया, जितने दिन भी यह है उतने दिन तक तो

तू पुरुषार्थ कर ही सकता है। क्यों इतने मात्र से निराश सा हुआ जाता है ? इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों द्वारा क्रोध पर प्रतिबन्ध लगा देता है, उठने से पहले ही उसे दबा देता है। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

(३) और यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ जाये कि कोई प्राण ही लेने को उद्यत हुआ हो। करोंत से चीरने को तैयार हो, बन्दूक ताने सामने खड़ा हो, अन्ध कूप में धकेलने को तैयार हो, आधा जमीन में गाड़ कर दही छिड़क दी गई हो शरीर पर-उसे कुत्तों से नुचवाने के लिए, पकते हुए तेल के कढ़ाये में धकेलने को तैयार हो, कोल्हू में डाल दिया हो इस शरीर को, तोभी वह निर्भीक सिंह वत् विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ है, क्या सोच रहा है, क्यों भयभीत सा दिखाई देता है ? क्या इसलिये कि मृत्यु आने वाली है ? अरे तो आने दे, कौन बड़ी बात है, मृत्यु आना तो स्वभाव ही है। और फिर इस जर्जरित शरीर को छीन कर एक नये शरीर को प्रदान करने वाली मृत्यु से भय काहे का ? इसमें अनिष्टता काहे की ? यह तो तेरा सबसे बड़ा मित्र है, जो नवीन शरीर प्रदान करके तुझे तेरी साधना में सहायता देने को उद्यत हुआ। कितना बड़ा उपकार कर रही है यह तेरा ? यदि मृत्यु से ही डर लगता है तो अपनी वास्तविक मृत्यु से क्यों भय नहीं खाता, जो क्षण क्षण प्रति तुझे हो रही है, एक कषाय हट कर दूसरी, दूसरी हट कर तीसरी और तीसरी हट कर चौथी। क्षण प्रति क्षण जो तेरी शान्ति का घात कर रही है, तेरा शरीर तो शान्ति है, यह चमड़ा तो नहीं। इसकी मृत्यु तेरी मृत्यु कैसे हो सकती है ? शान्ति की मृत्यु तो यह करने को समर्थ नहीं है। वह तो तू स्वयं ही है, यदि तू क्रोध करे तो तेरी मृत्यु अवश्य हो जायेगी। पर वे बेचारे रंक तो इतना करने को समर्थ नहीं हैं। वह तो स्वयं तू ही है। यह तेरे घातक कैसे हो सकते हैं। जो तुझे जानते ही नहीं वे बचारे तेरा घात क्या करेंगे ? और तुझे जो अविनश्वर ज्ञान पुञ्ज जानते हैं वह तेरा घात क्या करेंगे ? वे बेचारे अज्ञानी स्वयं नहीं जानते कि वह क्या करने जा रहे हैं। इन पर द्वेष कैसा ? क्या बालकों की अज्ञान क्रिया पर से बालकों पर भी कभी द्वेष हुआ करता है। ये भी तो बालक ही हैं जिन्होंने अभी आँख खोल कर देखा ही नहीं जो यह जान सकते कि वह स्वयं कौन हैं।

"और फिर यदि इन्हें यह कार्य करने से प्रसन्नता ही मिलति हो तो, इसमें तेरा क्या हर्ज है ? लोग तो बड़ा २ दान देकर, बड़ी २ सेवाएं करके, बड़े २ कष्ट झेल कर, किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करते हैं और यह बिना कुछ किये सहज ही इस शरीर के साथ खेल खेलकर प्रसन्न हो रहे हैं। तो इससे अच्छी बात क्या है ? लोग तो किसी को प्रसन्न करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने तक को तैयार हो जाते हैं और यह बेचारा फोकट में ही प्रसन्न हुआ जा रहा है तेरा सर्वस्व तो शान्ति है, उसे हरण करने ही को तो यह समर्थ नहीं, और फिर भी प्रसन्न हुआ जा रहा है। तो इससे अच्छी बात और क्या है ?"

"क्या विचारता है, कि यह तेरा शत्रु है ? परन्तु भो चेतन ! कहां गई तेरी बुद्धि ? क्या हो गया है आज तुझे ? क्या नींद आ रही है ? अरे तुझे कोई बड़ा रोग हो जाये, तू सड़क के किनारे पर पड़ा हो, और कोई अपरिचित पथिक तुझे देख कर अपनी मोटर में बैठा कर हस्पताल में ले जाये। डाक्टर से कहे कि "डाक्टर साहब मेरा सर्वस्व ले लीजिये, पर इसे अच्छा कर दीजिये।" तो बता उस

व्यक्ति से तुझे द्वेष होगा कि प्रेम ? बस कषायों से पीड़ित तू एक रोगी, यह दयालु जीव निःस्वार्थ सेवी, अपना सर्व पुण्य लुटाकर भी तुझे इस रोग से मुक्ति दिलाने आया है, तेरा सर्व भार अपने सर पर लेने आया है। भला द्वेष का पात्र है या करुणा का।

(४) और भी, यदि घर में तेरे पुत्र को बौरान हो जाये, और पागल पने में तेरे कान काटने लगे, तो उस पर तुझे दया आयेगी या द्वेष ? बस ये बेचारे बौरान से ग्रसित जीव स्वयं इस रोग से पीड़ित हैं। स्वयं अपने द्वेष व क्रोध में जले जा रहे हैं। यदि रोग की तीव्रता से पागल होकर वे इस शरीर को काटते हैं, तो करुणा के पात्र हैं या द्वेष के ? ज़रा तो विवेक कर। अपने उपकारी के प्रति द्वेष करते क्या तुझे लाज नहीं आती, कृतघ्नी बनना चाहता है ? और फिर यह बेचारे तुझे कुछ कह भी तो नहीं रहे हैं, इस खिलौने से खेलते हैं, बालक जो ठहरे, खिलौने ले लेकर तोड़ना तो बालकों का स्वभाव ही है। यदि यह इस शरीर रूपी खिलौने को तोड़ने का खेल खेल रहे हैं तो इनका दोष भी क्या है ? खेलने दे इन्हें, तुझे क्या ? तेरी शान्ति तो तेरे पास है, उसे तो छीनते नहीं बेचारे।" और इस प्रकार के अनेकों विचारों द्वारा क्रोध को जीतते हैं। प्रगट होने से पहले ही छिपा देते हैं। यह है योगी की उत्तम क्षमा।

और यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ जाये कि शिष्य मण्डली में से या अन्य सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में से कोई एक शिष्य या व्यक्ति अनुकूल न चले, या आज्ञा का उलंघन करे, या अभिप्राय से विपरीत कार्य करने लगे। अथवा कोई जड़ पदार्थ अपने अनुकूल न बन सके तो कुछ कुछ हृदय में सन्ताप सा उत्पन्न होने लगता है। "अरे यह मेरी आज्ञा से बाहर जा रहा है। अरे! जिस प्रकार मैं कहता हूं उस प्रकार क्यों नहीं करता ? अपनी मर्ज़ी से क्यों करता है ? इत्यादि।" तो ऐसे अवसरों पर वह योगी इस प्रकार विचारने लगता है, कि "भो चेतन! कहां खो आया आज बुद्धि ? किसको अपने अनुकूल चलाना चाहता है ? अपने को या इसको ? इसको अपने आधीन करना तो तेरी सामर्थ्य से बाहर है। क्या पहले निर्णय नहीं कर चुका है (देखो अध्याय नं० १२) ? स्वपर भेद ज्ञानी कहलाता है और फिर भी दूसरे को अपने अनुकूल करना चाहता है। लोक में सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, तू उनको परतन्त्र बनाना चाहता है। अपने आधीन क्यों करना चाहता है ? तू भी स्वतन्त्र है, ये भी स्वतन्त्र हैं, जिस प्रकार चाहे करें। तू इन्हें रोकने वाला कौन है ? इन पर तेरा क्या अधिकार है ? यदि अनुकूल ही परिणमाना है तो अपने को क्यों नहीं परिणमाता ? अपने ऊपर तो तेरा पूरा अधिकार है। क्यों अपनी शान्ति के प्रतिकूल इस क्रोध के आवेश में बहा जा रहा है ? रोक! रोक! बस अब इन परिणामों को रोक। इसके प्रति तो इतना ही कर्तव्य था कि इसके कल्याणार्थ कोई हित की बात इसे बता दी, सो तेरा कर्तव्य पूरा हुआ, अब यह चाहे जैसा करे इसकी मर्ज़ी। लोक में अनन्तानन्त जीवराशि भरी पड़ी है, किस किस को अपनी आज्ञा में चलायेगा।

६ गृहस्थ को भी ऐसा करने की प्रेरणा

परम धैर्य के धारी अत्यन्त पराक्रमी उन योगियों को तो यह विचार कभी २ कठिन अवसरों पर आते ही हैं, अतः उन्हें तो उत्कृष्ट क्षमा है ही। परन्तु यह क्षमा धारना उनका ही काम हो और आपका न हो ऐसा नहीं है। यथा योग्य अवसरों पर भले कुछ

हीन रूप में सही, आपको भी इस अल्प गृहस्थ अवस्था में इसी प्रकार के विचारों द्वारा अपने क्रोध को दबाने का प्रयत्न करना चाहिये। किसी से भी द्वेष करना शान्ति के उपासक का काम नहीं और यदि आज भी किसी बड़े या छोटे से द्वेष है, तो इस उत्तम क्षमा की बात को सुनकर उसके उगलने का प्रयत्न करना चाहिये। आपको अपना कर्तव्य देखना है, दूसरों का नहीं। अतः "वह तो बराबर मेरे साथ बुराई किये जा रहा है, मैं कैसे उसके प्रति माध्यस्थ हो जाऊं ? कैसे द्वेष त्याग दूं ?" इस प्रकार के विचारों को त्याग कर, अपने हित के लिये उपरोक्त क्षमा वर्धक परिणामों के आश्रय पर, अपने शत्रु को भी आज आपको क्षमा कर देना योग्य है। मत विचारिये, कि वह आपको क्षति पहुंचावेगा, बल्कि यह विचारिये कि यह आपका द्वेष या आपका कीन्ना ही आपको क्षति पहुंचा रहा है। प्रतिवर्ष क्षमा-वणी का दिन मनाते हैं। 'क्षमा क्षमा सब गहो रे भाई' का राग अलापते हैं, मानों दूसरों को सुनाते हों ! प्रभो ! स्वयं सुनने का प्रयत्न कीजिये, दूसरे को सुनाने का नहीं, दूसरा कुछ भी करे उधर मत देखिये किन्तु देखिये कि आप क्या करते हो। शान्ति का मार्ग लौकिक दृष्टि से विपरीत है, उस दृष्टि में इसका रहस्य आ ही नहीं सकता। साधारण जन क्या जानें इसकी महिमा।

उत्तम क्षमा के प्रतीक एक योगी जिन के समक्ष में जाति विरोधी जीव भी शान्त व क्षमा शील हो जाते हैं।

❀ उत्तम मार्दव ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक १७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७३

१—पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा, २—आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम, ३—लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें।

शान्ति सरोवर भगवान आत्मा ! आज अत्यन्त सौभाग्य वश शान्ति सागर वीतरागी गुरुओं की शरण को प्राप्त होकर भी यदि कषायोद्रेक में ही जलता रहा, तो कोई लाभ न होगा इस महान व दुर्लभ अवसर से, अतः अब जिस किस प्रकार भी अन्तर दाहोत्पादक इन कषायों से युद्ध कर। उत्तम मार्दव से आक्रमण कर, घबरा नहीं इस हथियार का सामना करने की शक्ति इन कषायों में नहीं है। इनकी एक झलक मात्र से यह गीदड़ टोली दुम दबा कर भागती दिखाई देगी। एक बार तो देख इसका पराक्रम और यह हथियार तेरे पास न हो, ऐसा भी नहीं है। तेरी आयुध शाला में ऐसे हथियारों की कमी नहीं, किसी से मांग कर लाने की आवश्यकता न पड़ेगी। इनका प्रयोग करने मात्र की ही देर है, विश्वास करके साहस पूर्वक एक बार प्रहार कर। तेरे पराक्रम की परीक्षा का अवसर आया है, वीरता को कलंकित न करना।

१ पर की महिमा का निषेध और अपनी महिमा की प्रेरणा

मार्दव अर्थात् मृदु परिणाम, कोमल परिणाम, अभिमान के विरोधी परिणाम को कहते हैं। आज तक तो पर पदार्थों को अपना मानता हुआ कुल, जाति, रूप, धन, बल ऐश्वर्य, तप, ज्ञान आदिक की महिमा को गिनता हुआ, इनमें से रस लेता हुआ, इनके कारण ही अपनी महानता मान कर गर्व करता हुआ चला आ रहा है। झूठा है यह गर्व जिसका कोई मूल्य नहीं, कोई आधार नहीं। इन पर-पदार्थों से अपनी महिमा व बड़प्पन की भिक्षा मांगने में ही गर्व करता आ रहा है। "इनका मैं स्वामी हूँ, इनको मैं करता हूँ, मेरे द्वारा ही इनका काम चल रहा है, यह सब मेरे लिए ही काम कर रहे हैं, यह सब मुझ में से ही अपना बल लेते हैं, यदि मैं न हूँ तो यह किसी काम के नहीं, मेरे आधार पर ही टिके हुए हैं, इनको मैं [illegible] हूँ, यह मेरा बड़ा काम साधते हैं; इनके द्वारा ही मेरी महिमा हो रही है; इनके लिये ही मैं इतना परिश्रम कर रहा हूँ; इनमें से ही मुझे आनन्द मिलता है; इनके आधार पर ही मेरी सर्व महत्ता है; लोग मेरी इस विभूति को देख कर नत मस्तक हो जाते हैं, मेरी महिमा का बखान करते हैं।" इस प्रकार झूठी कल्पनाओं के अन्धकार में आज तू अपनी वास्तविक महिमा को भूल बैठा है, अपनी विभूति को न गिनकर भिखारी बन बैठा है। अपने कुल को, अपनी जाति को, अपने रूप को, अपने

धन को, अपने बल को, अपने ऐश्वर्य को, अपने तप को, अपने ज्ञान को तथा अन्य अनेकों बातों को बिल्कुल भुला बैठा है। अपनी इस महिमा की अवहेलना करके दूसरों की महिमा में अपनी महिमा मानना अनन्ता अभिमान है, अपनी महिमा के प्रति अत्यन्त कठोरता है। एक दृष्टि भी अन्तर की ओर जाये तो अपनी विभूति के दर्शन हो जायें, अपनी महिमा का भान हो जाये, उसके प्रति बहुमान प्रगट हो जायें, पर द्रव्यों का अभिमान हट जाये, निज का अभिमान हो जायें, अपनी पूर्ण महिमा का साम्राज्य प्राप्त हो जाये, यह भिखारी पना जाता रहे।

लोक में भी दो प्रकार के अभिमान कहने में आते हैं। एक स्वाभिमान और दूसरा सामान्य अभिमान अर्थात् पराअभिमान। "मैं उत्तम कुल का हूँ क्योंकि मेरा पिता बड़ा आदमी है। इत्यादि" तो पराभिमान है, क्योंकि पिता आदि पर की महिमा में झूठा अपनत्व किया जा रहा है। परन्तु "मेरा यह कर्तव्य नहीं, क्योंकि मेरा कुल ऊंचा है।" यह स्वाभिमान है क्योंकि अपने कर्तव्य की महिमा का मूल्याङ्कन करने में आ रहा है। पर-अभिमान निन्दनीय और स्व-अभिमान प्रशंसनीय गिनने में आता है। इसलिए वास्तविक अभिमान करना है तो स्वाभिमान उत्पन्न कर अर्थात् निज चैतन्य विलास के प्रति महिमा उत्पन्न कर, जितनी चाहे उतनी कर।

२ आठ मदों के आधार पर पृथक पृथक मार्दव परिणाम

"मैं उच्च कुलीन हूँ, मैं सूर्य वंशी हूँ, वह महान वंश जिसमें भगवान आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने अवतार लिया, जिसमें षट् खण्ड स्वामी भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए, जिसमें यम विजेता महान तपस्वी बाहूबलि उत्पन्न हुए। इसलिए सबको मेरा सम्मान करना उचित है, मैं भगवान की सन्तान हूँ और आप सबसे ऊंचा हूँ।" अरे रे! क्यों अपने कुल के प्रति इतना कठोर हो गया है तू? तनिक तो दया कर, बिल्कुल रंक बन गया है, भगवान की सन्तान होने का गर्व करता है, पर भगवान होने का नहीं। तू चिदानन्द ब्रह्म पूर्ण परमेश्वर स्वयं भगवान है, उसकी महिमा, उसकी उच्चता स्वीकार न करके, दूसरों से अपनी उच्चता स्वीकार कराने चला है। साक्षात् भिखारी बन कर भगवान के कुल को लाञ्छन लगाने वाले ओ चेतन! तू उच्च कुलीन है कि नीच कुलवाला? स्वयं तू ऋषभ है षट् खण्ड का ही नहीं त्रिलोक का अधिपति है, सर्व विभावों का विनाश करने की शक्ति रखने वाला तू स्वयं यम है, इन अल्प मात्र मनुष्यों से ही नहीं तू त्रिलोक वन्द्य है, तू स्वयं भगवान है अपनी महिमा के प्रति गर्व कर, कठोरता छोड़, उसका और अधिक अपमान मत कर, स्वयं अपना सम्मान करना सीख, तब बनेगा वास्तव में उच्च कुलीन।

"मेरी जाति बहुत ऊंची है, मेरे मामा की आज्ञा अनेकों देश स्वीकार कर रहे हैं, मेरे नाना इतने दानी थे, मेरी माता बड़ी विदुषी है" अरे! क्या हुआ यदि तेरी माता तेरे मामा और नाना बड़े थे? तुझे इनसे क्या, तू तो यह देख कि तू कौन है? उन्होंने बड़े कार्य किये तो वह बड़े कहलाये। तू बड़ा कार्य करेगा तो तू बड़ा कहलायेगा। नीचे काम करने से कौन ऊंचा बन सकता है? अपने प्रभुत्व को ठुकरा कर नाना मामा से अपने प्रभुत्व की भिक्षा मांगने वाले भो चेतन! तनिक विचार कर कि तू महान है कि भिखारी? भगवती सरस्वती जिस की माता हो, वह तुच्छ बुद्धि धारियों को अपनी माता बनाये, आश्चर्य है। सहज आनन्द जिसका मामा हो, वह चिन्ता की चिताओं

में जलते इन मनुष्यों को मामा समझे, खेद है। भगवन् ! आंख खोल, अपनी ज्ञान चेतना जाति को पहिचान, उसके प्रति बहुमान उत्पन्न कर, कठोरता छोड़, चेतन जाति पर गर्व कर, जितना चाहे कर।

"मैं बड़ा रूपवान हूँ। गली में मुझे जाता देख कर स्त्रियां अपना सर्व काम छोड़ कर बरामदों में आकर खड़ी हो जाती हैं, राह चलने वाले पथिक रुक जाते हैं।" अरे रे! कौन से रूप की बात कहता है ? इस चमड़े के रूप की बात, तब तो अवश्य ही तू बड़ा रूपवान है। ले एक बार इस दर्पण में मुंह देख ले, इसमें १० साल आगे का रूप दिखाई दे जायेगा। देख कितना सुन्दर है ? क्यों डर क्यों गया ? तेरा ही तो रूप है जिस पर गर्व करता था। ज़रा मक्खी के पंख समान की पतली सी इस झिल्ली को उतार कर देख इसका रूप। क्यों कैसा लगता है ? ज़रा शौच गृह में जाकर देख इसका रूप। कैसा मन भाता है ? भोले प्राणी! अपने सच्चिदानन्द रूप को भूल कर इस चमड़े पर लुभाते क्या लज्जा नहीं आती ? आ यदि अपना सौन्दर्य देखना है, तो देख यहां, जहां विश्व मोहिनी यह शान्ति सुन्दरी तेरे गले में वर माला डालने को तैयार खड़ी है। इसका अपमान करके तू कैसे अपने को रूपवान कह सकेगा ? प्रभु ! अन्य ओर से दृष्टि हटा, कठोरता तज, इस सुन्दरी को मृदुता से स्पर्श कर, यह है तेरा असली रूप। इस पर अभिमान कर, जितना चाहे कर।

"मैं बड़ा धनवान हूँ, बड़े बड़े व्यापारी मेरे द्वार पर मस्तक रगड़ते हैं, सारी मण्डी का भाव मेरे हाथ में हैं। मेरे पास ५०० गांव हैं, यह देखो करोड़ों के हीरे जवाहरात, खज़ाना भरा पड़ा है, कुबेर भी मुझ से शर्माता है।" अरे रे ! किस पर गर्व करता है ? इस धूल पर जो कल ही न जाने कहां को विलय हो जाने वाली है। अपने वास्तविक चैतन्य धन को भूल कर इस धूल से क्या अपने बड़प्पन की भिक्षा मांगते लाज नहीं आती तुझे ? जाग चेतन जाग ! इधर देख इस चैतन्य कोष को, जिसके एक कोने में सम्पूर्ण लोक समाया हुआ है। लक्ष्मी के सेवक वे सब भिखारी, तेरे ऋणी हैं। तीन लोक की सम्पूर्ण विभूति को एक समय में भोग लेने की शक्ति रखने वाले भो ज्ञान पुञ्ज ! इस अपने ज्ञान की महिमा को स्वीकार कर और धूल की महिमा की पकड़ को छोड़, इसी का नाम है मृदुता या मार्दव परिणाम। उस आन्तरिक स्वानुभव ज्ञान के प्रति बहुमान उत्पन्न कर, चाहे जितना कर।

"मैं बड़ा बलवान हूँ, बड़े बड़े पराक्रमी वीर मेरा लोहा मानते हैं, मेरे एक इशारे पर आज विश्व कांप उठता है। किसकी शक्ति है कि मुझको जीत सके ?" अरे! हंसी आती है तेरी बात पर, पामर कहीं का। 'मेरी माता वन्ध्या थीं', ऐसा सुनकर कौन न हंस पड़ेगा। आश्चर्य है कि एक इस तनिक से अभिमान के द्वारा जीता हुआ तू विश्व विजयी होने का दावा करता है। अपने अन्दर तो झांक कर देख कि काल की विकराल दाढ़ में बैठा हुआ तू भले हंस रहा हो, पर कितनी देर के लिये। अभी जबाड़ा बन्द हो जायेगा और तेरा यह अभिमान सर्व जगत पर स्वतः प्रगट होकर यह घोषणा करेगा कि कितना बली है तू। शर्म कर काल की पहुँच से दूर अपने यथार्थ बल को भूल कर इस शरीर से मांगे हुए बल पर फूला फिरता है। कहां गई तेरी बुद्धि ? उधर देख अपने अनन्त बल की ओर, जिस ओर आन्तरिक शान्ति में तन्मयता पड़ी है, निज आनन्द का आधिपत्य पड़ा है और जहां लोक की सर्व विपदायें व चिन्तायें खड़ी रो रही हैं। एक बार प्रगट हो जाने पर जिसमें कभी

कमी नहीं आती, उसकी महिमा जागृत कर। जिससे कि यथार्थ बली बन जाये उस पर अभिमान कर, जितना चाहे उतना कर।

"मेरा बड़ा ऐश्वर्य है। २००० हाथी, ४००० घोड़े, १००० रथ, इतनी तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज, टैंक, लाखों सेवक, मोटरें कारखाने, और न जाने क्या क्या अला बला। मेरी आज्ञा सारे देश पर चलती है, मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का किसी में साहस नहीं है। चारों ओर सेवक और सेविकाओं से, सेवित इस राज्य वैभव को भोगते हुए आज मेरे से इन्द्र भी शर्मा रहा है।" किस ऐश्वर्य को कहा जा रहा है प्रभो! उसी को, जो एक बम पड़जाने पर न जानें कहां को चला जायेगा। उसका जिसके लिये कि सम्भवत: रात को तुझे नींद भी न आती हो। किसने भ्रमा दिया है तुझे? इतना भोला तो न बन, कि चाहे जो ठग कर ले जाये, आंखों में डाले एक मुट्ठी मिर्च और सर्वस्व हर कर ले जाये। अपने चित्प्रकाश को भूलने के कारण आज तेरी आँखें चुंधिया गई हैं, इसकी झूठी आभा में इधर देख आनन्द नगर के अपने आधिपत्य को, जहाँ शान्ति तेरी दासी है, ज्ञान तेरा मन्त्री है, अनन्त बल तेरी सेना है, और सुख तेरा पुरोहित है। अभिमान ही करना है तो इसके प्रति कर, उस धूल में क्या पड़ा है। इसमें तो मिलेगा सकल साम्राज्य और उससे मिल रहा है दासत्व। अतुल ऐश्वर्य के अधिपति ब्रह्म! भिखारी मत बन।

"मैं बड़ा तपस्वी हूँ। ज्येष्ठ की दोपहर में धूप के अन्दर पत्थर की तपती शिला पर घण्टों बैठा रहता हूँ। पोष माघ की कड़कड़ाती ठण्डी रातों में श्मशान भूमि में योग साधना करता हूँ। महीनों का उपवास, नीरस भोजन तथा अनेकों कठिन से कठिन तप करता हूँ। अनेकों परीषह सहता हूँ।" कैसा तप? शरीर को तपाने का? अरे रे! प्रतीत होता है कि लोक के संताप से संतप्त तेरा अन्तष्करण ही मानों भाप बनकर उड़ गया है। अपने को न तपा कर दूसरे को तपाने में कौन महिमा है? भट्टी के सामने बैठा लुहार सारे दिन लोहा तपाया करता है। क्या अन्तर है उस लोहे में तथा इस शरीर में। क्या भूल गया स्व पर के भेद में बताई गई सब बातें? निज स्वरूप में प्रतपन करने का नाम तप है, उसमें ताप उत्पन्न कर, उसमें स्थिरता धार, शान्ति के संभोग में दृष्टि लगा, उसके प्रति महिमा जगा, उसके गुणगान गा, तब हो सकेगा तेरा माहात्म्य, अब काहे का महात्म्य? अब तो रंक है, शरीर के दर का भिखारी, इसमें से अपनी महिमा की खोज करने वाला।

"मैं बड़ा ऋद्धि धारी हूं, मुझ में बड़ी शक्तियां है। चाहूं तो एक दृष्टि से जगत को भस्म कर दूं। एक शाप का वचन कह कर राव से रंक कर दूं, एक आशीर्वाद के द्वारा तुझे कृतकृत्य कर दूं। आकाश में उड़ जाऊं, मकड़ी के जाले पर से पांव रख, कर गुजर जाऊं, बैठे बैठे सुमेरू को स्पर्श कर दूं, मक्खी जैसा शरीर बना लूं, इत्यादि कहां तक बखान करूं अपनी महिमा का, अपने चमत्कार का।" अपने मुंह से अपनी प्रशंसा करते क्या लाज नहीं आ रही है तुझे, तथा महिमा गान करने से पहले इतना तो समझ लेता कि किसकी महिमा का बखान है, तेरी या इस चमड़े की। चमड़े की महिमा से तू महिमा वन्त कैसे कहला सकेगा? इससे तो कुछ शिक्षा ले, यह तो आज लज्जित करने आया है तुझे अपने चमत्कार दिखा कर, कि देख योगी! तेरे योग को मैं फीका किये

देता हूँ। देख मेरी महिमा! क्या है तेरे पास जो इसके सामने रखे? बता तो सही क्या उत्तर देगा कि क्या है तेरे पास? बस पड़ गया सोच में, अरे! विश्व के अधिपति अपनी महिमा को भूलकर इसकी महिमा के ही चमत्कार दिखाने लगा। फिर कैसे जाने कि तेरे पास क्या है? इधर देख तेरे पास वह कुछ है जिसके सामने इन बेचारी तुच्छ शक्तियों व ऋद्धियों की तो बात नहीं, तीर्थंकर पद भी तुच्छ है। देख उस शांति की ओर जिसमें पड़ी है अतीव तृप्ति, सन्तोष व साम्यता, जिसके वेदन में अन्य सब कुछ तुच्छ है। इस शांति का अधिपति होकर अब इन तुच्छ शक्तियों की महिमा का बखान छोड़, इस शान्ति पर गर्व कर और जितना चाहे उतना कर।

"मैं बड़ा ज्ञानी हूं, बड़े बड़े तार्किकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दूं, मेरे तर्क का कोई उत्तर भी देने में समर्थ नहीं, बड़े बड़े शास्त्र मेरे हृदय में रखे हैं, जो बात कहो निकाल दूं। अमुक आचार्य ने अमुक शास्त्र में अमुक बात अमुक पृष्ठ पर लिखी है, देख लो खोल कर, बड़े बड़े पण्डित मेरा लोहा मानते हैं। दो दो घन्टे धारा प्रवाही बोल सकता हूं, तर्क अलङ्कार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धान्त, अध्यात्म और सर्वोपरि करणानुयोग की सूक्ष्म कथनी मेरे लिए बच्चों का खेल है?" किस ज्ञान पर अभिमान करता है चेतन! अपने अतुल ज्ञान प्रकाश को देख जिसमें तीन लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासते हैं। इन मात्र दो चार शब्दों के तुच्छ ज्ञान का क्या मूल्य है तेरे अतुल प्रकाश के सामने? यदि शान्ति के प्रति बहुमान जागृत न हुआ, तो यह शास्त्र ज्ञान काम भी क्या आयेगा, केवल गधे पर पुस्तकों के भार जैसा है। यह तो देख कि इन शब्दों को याद करने के लिये तुझे कितना परिश्रम करना पड़ रहा है। हर समय की चिन्ता कहीं भूल गया तो सर्व विद्वत्ता मिट्टी में मिल जायेगी। उस शाश्वत् चैतन्य विलास को क्यों नहीं देखता, जिसमें सहज ही सर्व विश्व समाया हुआ, जिसे याद रखने को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, शान्ति में रमणता के अतिरिक्त जहां कुछ नहीं है। उस अपने स्वाभाविक ज्ञान की महिमा करे तो त्रिलोकाधिपति बन जाये, इसलिये प्रभो! अब विवेक धार कर इस शाब्दिक ज्ञान की महिमा को छोड़।

७ लोकेषणा दमन सम्बन्धी विचारणायें

मेरे मुख से निकले हुए इन दो चार शब्दों को सुनकर, मेरे गुरुदेव का साक्षात्कार न होने के कारण कुछ भ्रम वश, यह जो "वाह वाह, कितना सुन्दर उपदेश दिया है। आज तक ऐसा नहीं सुना था।" इस प्रकार के वाक्य आप अपने उद्गारों व भक्ति आदि के आवेश में कह रहे हैं, उनको सुन कर आज मेरे हृदय में क्या तूफान आ रहा है? मानों मुझे उड़ा ले जाने का प्रयत्न कर रहा हो-कहीं मेरी शान्ति से दूर। नहीं नहीं भगवन्! मैं एक क्षण को भी इसका विरह सहन नहीं कर सकता। रक्षा कीजिये प्रभु! रक्षा कीजिये। इस महा भयानक लोकेषणा राक्षसी से मेरी रक्षा कीजिये, इस ख्याति की चाह से मुझे बचाइये। मुझ पामर तुच्छ बुद्धि में क्या शक्ति है, कि एक शब्द भी कह सकूं। तुतला कर बोलना भी जिसने अभी सीखा नहीं है, वह अभिमान करे प्रवचन करने का। धिक्कार है मुझे जो आपके प्रवचन को, आपकी मिष्ट वाणी को मैं अपनी बताऊं। यह चोरी मुझ से न हो सकेगी भगवन, मैं श्रोता हूं वक्ता नहीं।

इन दो चार पच्चीस पचास व्यक्तियों के मुख से निकले इन दो चार शब्दों से ही तू गद्गद् हुआ जा रहा है। क्या विचारा है कभी तूने कि क्या रस आया इनमें से? इन शब्दों में है क्या? और

यदि सत्य होते, तब भी भले कुछ मान लेता, पर इनमें तो सत्यता भी भासती नहीं। फिर भी झूठा अहङ्कार क्यों? कभी विचारा है तूने, कि इस लोक का तू कितनेवां भाग है, जहां अनन्तानन्त जीव बसते हों, वहां तेरी कौन गिनती है। जगत का एक छोटा सा कीट और इसके अतिरिक्त मूल्य ही क्या है तेरा? बीस पच्चीस व्यक्ति जान गये और मान बैठा है कि मानों सर्व लोक में ही ख्याति फैल गई है। तुच्छ बुद्धि जो ठैरा, कूप मण्डूक जो ठैरा। जरा विश्व में दृष्टि पसार कर तो देख कि कौन जानता है तुझे। दूर की तो बात नहीं, यह तेरे प्रदेशों में स्थित जो अनेकों कीटाणु पड़े हैं, इन्हीं से जाकर पूछ कि क्या वह जानते हैं, कि तू कौन है? उन बेचारों को भी छोड़, स्वयं अपने से तो पूछ कर देख कि क्या तू भी जानता है स्वयं को? जानता होता तो यह अभिमान न होता, इन शब्दों की महिमा को न गिनता, अपने अन्तर चैतन्य विलास पर ही गर्व करता। यदि बाह्य की ही कुछ बातों के कारण अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा समझता है तो एक बार अपने और दूसरे के जीवन को जिस प्रकार मैं कहता हूं उस प्रकार देख। जीवन में बीत गई भूत कालीन अनेक भवों की अवस्थायें, वर्तमान की एक अवस्था, तथा भविष्यत् में आने वाली अनेक भवों की अवस्थायें। आपका पूर्ण जीवन भी इन अवस्थाओं से भरा पड़ा है और उस दूसरे का जीवन भी। दोनों के जीवनों की पूर्ण अवस्थाओं को डोरे में पिरो कर पृथक पृथक दो माला तैयार कर, इन दोनों मालाओं को अपने सामने खूंटी पर टांग कर देख कि कौन सी बड़ी है और कौन सी छोटी। कौन सी अच्छी है और कौन सी बुरी। बड़ी तो नहीं क्योंकि दोनों की अवस्थायें बराबर हैं। अच्छी बुरी भी नहीं, क्योंकि दोनों ही हारों में सुन्दर व असुन्दर अच्छी व बुरी, पापात्मक व पुण्यात्मक अवस्थायें पड़ी हुई हैं, भले आगे पीछे पड़ी हों। आगे पीछे हो जाने मात्र से तो हार अच्छे और बुरे नहीं कहे जा सकते। फिर किस प्रकार अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा मानता है।

और इस प्रकार वह योगी अनेकों विचारों के प्रवाह में बहा देता है दुष्ट अभिमान को। उतने उत्कृष्ट रूप में न सही, परन्तु क्या थोड़े बहुत रूप में भी तू अपने जीवन में यह बात नहीं उतार सकता? उस राक्षस से अपनी रक्षा के लिए, मेरे लिए नहीं।

आठ प्रकार के मद विशेषतः ज्ञान के मद से रहित जैन सिद्धान्त के एक उच्च कोटि के विद्वान अपने अध्ययन कक्ष में।

३६
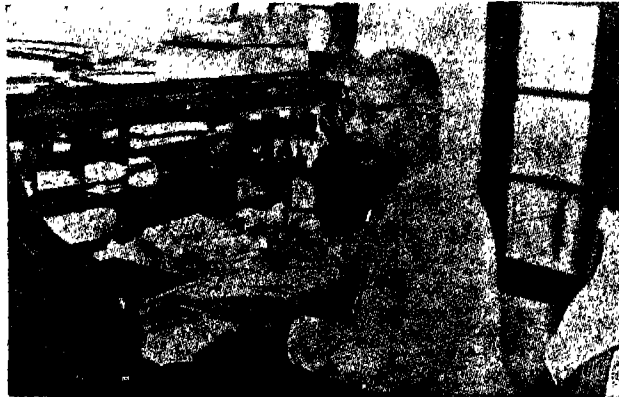
❀ उत्तम आर्जव ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक १८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७४

१—आर्जव का लक्षण, २—गृहस्थ की क्रियाओं में माया, ३—साधु की क्रियाओं में माया, ४—माया जीतने के लिए कुछ विचार।

१ आर्जव का लक्षण

हे सरल स्वभावी भगवान आत्मा? धन शरीर व भोगादि में इष्टानिष्ट बुद्धि के कारण अनेकों खोटे अभिप्राय धर धर के मैं सदा तेरा अनिष्ट करता चला आया हूं। मुझे क्षमा कर दीजिये भगवन्! अब तक मैं अज्ञानी था, हिताहित से बिल्कुल अनभिज्ञ। आज उत्तम आर्जव धर्म युक्त परम वीतरागी गुरुवर से आर्जव धर्म का उपदेश सुन कर मेरी आंखें खुल गई हैं। आर्जव धर्म का प्रकरण है ऋजु भावं आर्जवं – ऋजु अर्थात् सीधा सरल, आर्जव कहिये सरल भाव, वक्रता माया चार रहित परणति। जैसा अन्तरंग अर्थात् मन में करने का अभिप्राय हो वैसा ही बाहर में भी अर्थात् वचन व काय से भी कहना या करना। अन्तरंग व बाह्य क्रिया में अन्तर न होने का नाम ही सरलता है, तथा अन्तरंग अभिप्राय में कुछ और रखते हुए, बाहर में कुछ और ढंग से बोलना या करना वक्रता है, कपट है, माया है। कपट या वक्रता राग भाव से आते हैं, यह अन्तरंग की बात है। यदि अन्तरंग में सरलता होगी तो बाह्य क्रिया में भी वक्रता न होगी, अतः अन्तरंग परणति की टटोल करते रहना आवश्यक है यदि वीतरागता व शान्ति की अभिलाषा है तो पद पद पर कुटिलता से अपनी रक्षा करना कर्तव्य है।

२ गृहस्थ की क्रियाओं में माया

हर क्रिया की परीक्षा अभिप्राय पर से होती है। क्रिया व अभिप्राय में अन्तर है, तो वह क्रिया संवर रूप नहीं हो सकती, केवल आस्रव रूप होगी, क्योंकि विकल्प दमन का प्रयोजन उस पर से सिद्ध न होगा। अपने गृहस्थ जीवन में तो मैं रात दिन इस प्रकार की मायापूर्ण क्रियाओं का अनुभव करता ही हूं, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी मैं बहुत कुछ क्रियायें ऐसी करता हूं, जो माया के रङ्ग में रङ्गी होती हैं। निम्न दृष्टान्तों पर से इन सब क्रियाओं में पड़ी उस कुटिलता या वक्रता का परिचय मिल जाता है।

१—किसी अपने साथी को कदाचित् मैं बड़े प्रेम पूर्वक सिनेमा दिखाने का निमन्त्रण देता हूं इस अभिप्राय से कि यदि अधिक पढ़ता रहा तो कहीं ऐसा न हो कि परीक्षा में मुझसे अधिक नम्बर ले जाये।

२—अपनी माता के साथ मेरे घर पर आये हुए किसी बालक को मैं सुन्दर सुन्दर

खिलौने व मिठाई लाकर देता हूं इस अभिप्राय से कि, इसकी माता यह विश्वास करले कि मुझे उससे व उसके बालक से बड़ी सहानुभूति व प्रेम है।

३—अपने मालिक की दुकान पर मैं बड़े परिश्रम से दिन रात एक करके काम करता हूं इसलिये, कि धीरे धीरे इसकी दुकान से नित्य प्रति जो चोरी करता हूं, वह प्रगट न हो जाये।

४—किसी व्यक्ति को बड़ी सहानुभूति पूर्वक "यह वस्तु तुम्हारे योग्य है इसलिये ले आया हूं" ऐसा कहता हुआ सुना जाता हूं केवल इस अभिप्राय से, कि जिस किस प्रकार भी इसे खरीद ले, पीछे इसके काम आये या न आये।

इत्यादि अनेक प्रकार की छल मिश्रित क्रियायें सुबह से शाम तक नित्य ही करता रहता हूं जिनसे सर्व ही परिचित हैं। अब धार्मिक क्षेत्र की माया मिश्रित कुछ क्रियाओं को देखिए।

१—अन्तरंग में शरीर को ही पोषण करने का या भोगों में से ही रस लेने का अभिप्राय रखते हुए, बराबर बाहर में यह कहता रहता हूं कि "शरीर मेरा नहीं है, मुझसे पृथक अन्य द्रव्य है, भोगों में सुख नहीं है, मुझे तो शान्ति चाहिए।"

२—खूब सुरताल से तन्मयता के साथ भगवान की पूजा करता हूं इस अभिप्राय से, कि लोग मुझे धर्मात्मा समझें, मेरे पुत्र का नाता किसी बड़े घर में हो जाये।

३—भगवान की प्रतिमा स्थापन कराता हूं, मन्दिर बनवाता हूं इस अभिप्राय से, कि अधिक धन लाभ हो।

४—खूब दान देता हूं इस अभिप्राय से, कि लोक में प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे धनिक समझें, कोई आशीर्वाद दे दे या भोग भूमि में चला जाऊं।

इत्यादि अनेक प्रकार से अभिप्राय की कुटिलता के कारण अमृत में विष घोल कर, अपने हाथों अपने पांव में कुल्हाड़ी मारा करता हूं, अपने हाथों अपने घर में आग लगाया करता हूं, अपने हाथों व्याकुलता के साधन जुटाता हूं और मजे की बात यह कि शान्त होना चाहता हूं, धर्म करना चाहता हूं।

४ साधु की क्रियाओं में माया

गृहस्थ दशा तक ही इस कुटिल भाव का बल चलता हो, सो नहीं। यथायोग्य रूप में भूमिकानुसार उत्कृष्ट साधु की वीतराग दशा में भी यह कुटिलता अपना जोर चला कर उसे डिगाने का प्रयत्न किया करती है। परन्तु वास्तव में पद पद पर सावधानी वर्तने वाले, कुशल सारथी के रथ में बैठे, कुशल वैद्य के निरीक्षण में रहने वाले, उन पर भले वह कुछ प्रभाव डालने में समर्थ हो जाती हो, पर उन्हें उनके पद से नहीं डिगा सकती। इस कुटिलता से अपनी रक्षा करने के लिए ही किसी योग्य आचार्य कि अध्यक्षता में रह कर साधु जन सन्तुष्ट होते हैं।

जैसे शारीरिक रोगों का निदान करने में वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार आत्मिक रोगों अर्थात् जीवन में लगे अनेक दोषों की सूक्ष्म दृष्टि से खोज करने में आचार्य प्रभु समर्थ हैं जिस प्रकार

शारीरिक रोग के प्रशमनार्थ खूब सोच समझ कर उस रोग के अनुसार वैद्य औषधि देता है, उसी प्रकार खूब विचार करके उस उस आत्मिक दोष के प्रशमनार्थ उसी के अनुसार आचार्य प्रभु शिष्यों को प्रायश्चित देते हैं। जिस प्रकार एक ही रोग होते हुए भी रोगी की शक्ति की हीनाधिकता के कारण वैद्य हीनाधिक मात्रा में औषधि देता है, अर्थात् बालक को कम बड़े को अधिक, दुर्बल को कम व हृष्ट पुष्ट को अधिक मात्रा में देता है, उसी प्रकार एक ही दोष होते हुए भी दोषी शिष्य की शक्ति की हीनाधिकता के कारण आचार्य हीनाधिक प्रायश्चित देते हैं। जिस प्रकार हीनाधिक औषधि देने में वैद्य को किसी से प्रेम और किसी से द्वेष कारण नहीं है। उसी प्रकान हीनाधिक प्रायश्चित देने में आचार्य को किसीसे राग और किसी से द्वेष कारण नहीं है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि रोगी के हितार्थ होने के कारण अमृत है, उसी प्रकार कड़ा भी प्रायश्चित शिष्य के अन्तर शोधन का कारण होने से अमृत है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि को रोगी स्वयं वैद्य के पास जाकर जिद करके लाता है, उसी प्रकार कड़े से कड़ा प्रायश्चित भी साधु जन स्वयं आचार्य के पास जाकर जिद करके लाते हैं। जिस प्रकार रोगी औषधि में अपना हित समझता है, उसी प्रकार साधु भी प्रायश्चित में अपना कल्याण देखते हैं, उसे दण्ड नहीं समझते। इसलिए बड़े उत्साह से अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं, तथा अपने जीवन को उस प्रायश्चित के द्वारा स्वयं दण्डित करते हैं।

(१) ऐसे कल्याणकारी प्रायश्चित् से डर कर कदाचित् आचार्य से अपनी दुर्बलता बताते हुए अर्थात् "कमजोर हूँ, खाना नहीं पचता है, पीछे कई दिन तक ज्वर रह चुका है। इत्यादि" अनेक प्रकार की बातें बना कर अपना दोष गुरु के सामने प्रगट करता है इस अभिप्राय से, कि किसी प्रकार प्रायश्चित न मिले और मिले तो कम मिले।

(२) "मेरे दोष कोई जानने न पावे", इस अभिप्राय से गुरु से प्रश्न करता है कि यदि ऐसा दोष किसी से बन जावे तो उसका क्या प्रायश्चित है ?

(३) जो दोष दूसरों पर प्रगट हो चुके हैं, उन्हें ही गुरु से कह देता है, अन्य अन्तरङ्ग के दोषों को नहीं कहता इस अभिप्राय से, कि यह दोष तो सब जान ही गये हैं, कह कर अपनी बड़ाई ही कर ले।

(४) सकल दोषों को ज्यों का त्यों कह देता है, उनके द्वारा दिया गया प्रायश्चित भी हर्ष से स्वीकार कर लेता है, उसका पालन भी ठीक रीति से करता है परन्तु इस अभिप्राय से, कि अन्य संघ पर मेरी सरलता की छाप पड़ जाये

(५) नमक का त्याग कर देता है इस अभिप्राय से, कि खूब खीर, मिठाई व हलवे का भोजन मिलेगा।

(६) अन्न का त्याग कर देता है इस अभिप्राय से, कि खूब मेवा व फल खाने को मिलेंगे।

५ माया जीतने के लिए कुछ विचार इत्यादि अनेक कुटिल अभिप्रायों को रख कर ऊंची भूमिका में भी कदाचित् कुछ क्रियायें हो आती हैं। उस समय वे परम योगेश्वर विचार करते हैं कि "भो चेतन !

तेरा स्वरूप तो शान्ति है। दूसरे के लिए इसका विनाश क्यों करता है? शरीर की रक्षा के लिये शान्ति को क्यों कुएँ में धकेलता है? गुरुदेव तो करूणा बुद्धि से तेरा दोष निवारण करने के लिये यह प्रायश्चित दे रहे हैं, द्वेष वश तो नहीं, इसमें तो तुझे इष्टता होनी चाहिये न कि अनिष्टता, इसके ग्रहण में तो उल्लास होना चाहिये न कि भय। प्रायश्चित दाता गुरुवर के प्रति तो तुझे बहुमान होना चाहिये, कि निःस्वार्थ ही केवल करुणा बुद्धि से प्रायश्चित रूप औषधि प्रदान करके, वह तेरे ऊपर महान अनुग्रह कर रहे हैं क्यों दोषों को छिपाने का प्रयत्न करता है? इससे तो तेरी ही हानि है—यह दोष एक दिन संस्कार बन बैठेंगे, जिन संस्कारों का कि विच्छेद तू बराबर बड़े पुरुषार्थ से करता चला आ रहा है। सब करा कराया चौपट हो जायेगा।"

"अरे फिर यदि कोई तेरे दोष जान ही गया तो कौन बुरा हुआ? वह तुझे क्या बाधा पहुँचा सकेगा? थोड़ी निन्दा ही तो करेगा, तब तो अच्छा ही होगा—संस्कारों की शक्ति और क्षीण हो जायेगी। और तुझे चाहिये ही क्या? तेरा मन चाहा तुझे देता है, उससे भय खाने की क्या बात, वह तो तेरा हितैषी ही है। फिर अनहुए दोष तो नहीं कहता, झूट तो नहीं बोलता, तूने जो दोष बताये हैं, वही तो कहता है, इसमें कौन बुराई है। वह तो उन दोषों को पुनः पुनः दोहरा कर तुझे सावधान करने का प्रयत्न कर रहा है, कि तुझ से ऐसा दोष बना था, अब न बनने पावे। बता क्या बुराई हुई? महान उपकार किया और इस उपकार से भय खाना ठीक नहीं, जो कहना है स्पष्ट कह डाल, निर्भय होकर कह, छिपा मत।" इस प्रकार विचार करता हुआ मन को सम्बोधता है।

"अरे! आत्मख्याति स्वरूप भगवन! इस बाहर की ख्याति पर क्या जाता है? दो दिन में विनश जायेगी, छोड़ जायेगा यह शरीर तो कौन सुनेगा इसे, दो दिन के लिये क्या रीझता है इस पर और फिर तेरी ख्याति तो शान्ति में रस लेने से है, न कि इन शब्दों में। अपनी ख्याति की महिमा भूल गया है, तभी इन तुच्छ शब्दों की महिमा का आदर करता है। भव भव में ख्याति देने वाली, तीन लोक में ख्याति फैलाने वाली, अपनी सहज ख्याति की अवहेलना मत कर। इस बाह्य ख्याति के कारण एक दोष पर दूसरा दोष मत लगा, सदा से दोषों का पुञ्ज बना आ रहा है, अब इनमें और वृद्धि मत कर। निज शान्ति की ओर देख, उसकी महिमा का गान कर। तनिक सी इस ख्याति की भावना के लिये प्रायश्चित से मत घबरा, यह तेरी शान्ति की रक्षा करेगा।"

"अरे अलौकिक स्वाद के रसिक भगवन! भगवन होकर भी इन रङ्क जीवों से मिठाई, फल, मेवा खीर आदि की भिक्षा मांगते क्या तुझे लाज नहीं आती? जिह्वा इन्द्रिय को काबू में करने के प्रयोजन से त्याग किया जाता है, न कि उसे पुष्ट करने के लिये। अपने इस कुटिल अभिप्राय से डर चार आने का अन्न छोड़ कर दस रुपये का भोजन करे, और साधु बनना चाहे, शान्ति का उपासक बनना चाहे। यह कैसे सम्भव है? यदि अन्तरङ्ग स्वाद का बहुमान है, तो क्यों इस धूल में स्वाद खोजता हुआ अपने को ठग रहा है, किसी का कुछ न जायेगा, तेरा ही तो सर्वस्व लुट जायेगा। अरे! अपने ऊपर स्वयं प्रहार करते हुए क्यों तुझे भय नहीं लगता? यह देख उस ओर, पड़दे की ओट में, कौन खड़ी मुस्करा रही है? मानों तेरी खिल्ली उड़ा रही है—"चला है साधु बनने, मुझे जीतने, पता नहीं मेरा नाम माया है जिसने सब जग खाया है। अरे! तुझ बेचारे में कहां सामर्थ्य, कि मेरी ओर

आंख उठा कर भी देख सके, रङ्क कहीं का।" प्रशंसा के शब्द सुनाई देते हैं, पर इन शब्दों को नहीं सुनता, भूल गया अपने पराक्रम को। उठ जाग, गरजना कर "मुझे शान्ति चाहिये और कुछ नहीं, मैं निन्दा की परवाह करता नहीं, मुझे स्वाद की प्रवाह नहीं,मेरी शान्ति को घातने वाली कोई भी शक्ति मेरे सामने आये मुझे परवाह नहीं।" फिर देख कहां जाती है यह कुटिला माया, और कहां जाती है इसकी हंसी।

इस प्रकार के अनेकों विचारों द्वारा अन्तरङ्ग के उस सूक्ष्म अभिप्राय को काट फेंकता है वह योगी, तथा परम धाम, शान्ति धाम को प्राप्त कर, बन जाता है वही, जिस लक्ष्य को लेकर कि चला था। उत्कृष्ट रूप से न सही, पर क्या आंशिक रूप से भी मैं अपने लौकिक व धार्मिक जीवन में आने वाली इस माया को, इन विचारों के द्वारा क्षति नहीं पहुंचा सकता ? इसमें मेरा ही तो हित है, गुरुदेव का तो नहीं। यह है कुछ पुरुषार्थ, कुछ भावनाएं जिनसे कि आर्जव धर्म की रक्षा की जा सकती है, माया परणति से बचा जा सकता है।

सरल परिणामी, दरिद्रता से पीड़ित एक विद्वान ब्राह्मण एक रात्रि को राजा भोज के महल में चोरी करने को चला गया। राजा के शयन.गार से कुछ माल उठाकर चलता तो अन्तरंग विवेक के कारण रुक जाता इसी उधेड़बुन में रात्रि बीत गई। सेवक व रानियां राजा के पास उपस्थित हुए तो डर के मारे वह राजा के पलंग के नीचे हो गया। राजा स्वरचित एक श्लोक के तीन चरण बार २ बोल रहे थे:—

चेतो हरः युवतयः सुहृदोनुकूलाः, सद्बान्धवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः।
वल्गन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरंगाः..............................

मेरे पास देवांगना सम रानियां, आज्ञाकारी मित्र, परिवार और सेवक हैं तथा चिंघाड़ते हुए मस्त हाथी और हिनहिनाते घोड़े सब सुख सामग्री हैं, तो चौथा चरण ब्राह्मण ने पुरा कर दिया— सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति। नेत्र बन्द होने पर ये सब कुछ काम नहीं आते।

सुनते ही राजा का मद चूर २ हो गया ब्राह्मण की सरल परणति व विवेक से प्रसन्न होकर उसे बहुत सा धन प्रदान किया। यह है फल सरलता का।

३७

❀ उत्तम शौच ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक १६ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७५

१—सच्चा शौच अन्तर मल शोधन, २—गङ्गा तीर्थ की सार्थकता, ३—गृहस्थ दशा में लोभ की प्रधानता व पराक्रम, ४—धार्मिक क्षेत्र में लोभ की प्रधानता व लोकेषणा, ५—यथायोग्य नमस्कारादि क्रियाओं के नियम की सार्थकता।

१ सच्चा शौच अन्तर मल शोधन — साम्य रस पूर्ण पावन गङ्गा में स्नान करके परम पावनता को प्राप्त हे परम पावन गुरुदेव! मुझे भी पावनता प्रदान कीजिये। आज तक पावन अपावन के विवेक से हीन मैं, अज्ञान वश भोग सामग्री रूप मल में हाथ डाल डालकर बालक वत् इस को चाटता रहा, इसमें से स्वाद लेता रहा इस ही में अपना हित व कल्याण खोजता रहा। आज आपकी शरण में आ जाने पर अपने वास्तविक स्वाद का भान हो जाने पर भी, अपने अशुचि हाथ व मुंह धोकर, यदि शुचिता उत्पन्न न करूं, आपके जीवन में प्रवाहित इस साम्य रस गङ्गा में स्नान करके पवित्र न बनूं, तो कब बनूंगा? सदा ही विष्टा का कीड़ा बना रहूँगा। उत्तम शौच धर्म का प्रकरण है।

"शरीर व इन्द्रिय भोग सम्बन्धी धनादि जड़ पदार्थ व पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थ तथा अन्य सर्व पदार्थों को यहां तक कि परमाणु मात्र को भी मैं अपने काम में ले आऊं, उसमें से स्वाद ले लूं, उसे बुलालूं, उसे भेज दूं, उसे मिलालूं या सम्बन्ध विच्छेद कर उसे बनाद्रूं या बिगाड़ दूं।" इस प्रकार की अहङ्कार बुद्धि अशुचि है, अपवित्रता है। "यह सर्व पदार्थ मेरे इष्ट हैं या अनिष्ट हैं, मेरे लिए उपयोगी हैं कि अनुपयोगी हैं, मेरे लिए हित रूप हैं कि अहित रूप हैं," इस प्रकार की रागद्वेषात्मक कल्पनायें ही वह अशुचि है, जिसको धोने की सुध ही आज तक प्राप्त नहीं हुई। निज महिमा कि अवहेलना करता हुआ, सदा उनकी महिमा गाता आया हूँ। महा अशुचि बना हुआ चलते-चलते, भटकते-भटकते न जाने किस सौभाग्य से आज इस साम्य रस गङ्गा का पवित्र तीर मिला है। भगवन! एक डुबकी लगा लेने की आज्ञा दीजिये।

ऐसी डुबकी कि फिर बाहर निकलने की आवश्यकता ही न पड़े। उस नमक की डली की भांति कि जिसे सागर की थाह लाने के लिये डोरे से बांध कर लटकाया गया हो; कुछ देर पश्चात

डोरा खींच कर यदि उससे पूछें कि कितना गहरा है यह सागर, तो वहां कौन होगा जो इस बात का उत्तर देगा, डोरा तो खाली ही पड़ा है; नमक की डली घुल चुकी उसी समुद्र की थाह में। लेनें गई थी उस सागर की थाह और घुल गई उसके साथ। उसी प्रकार निज महिमा के प्रति बहुमान पूर्वक, अन्तरंग में उछलते उस शान्त महासागर में एक बार डुबकी लगा कर लेने जाये उसकी थाह, तो कौन होगा वह जो बाहर आकर तुझे बताये कि यह शान्ति इतनी महिमावान है, स्वयं ही लय हो जायेगा उसमें। साम्यता, सरलता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, शान्ति, सौन्दर्य व आन्तरिक महिमा, सब उसी गङ्गा के, उसी महा सागर के, भिन्न भिन्न नाम हैं। इसमें स्नान करने से वास्तविक पवित्रता आती है, वह पवित्रता जो अक्षय है, ध्रुव है।

आन्तरिक मैल को धोना वास्तविक पवित्रता है, तेरी निज की पवित्रता है शरीर की पवित्रता तेरी पवित्रता नहीं, वह झूठी है, इसको धोने से, मल मल कर स्नान करने से, तेरा शौच नहीं, स्वयं उसका भी शौच नहीं, तेरा तो कहां से हो। अथाह सागर के जल से धोकर भी क्या इसे पवित्र किया जाना सम्भव है? हरिद्वार में बहने वाली पवित्र गङ्गा की धार में इसे महीनों तक डुबाये रखने से भी क्या इसकी पवित्रता सम्भव है? जैसे विष्टा का भरा घड़ा क्या ऊपर से धोने से पवित्र हो सकता है? बढ़िया साबुन मलिये, पर इसमें शुचिता आनी असम्भव है। यदि गङ्गा जल में स्नान करने अथवा साबुन रगड़ने मात्र से इसकी पवित्रता स्वीकार करते हो तो, जरा इतना तो बताओ कि जब स्नान करने के पश्चात् यह पवित्र हो चुके, तब यदि मैं एक लोटा गंगा जल का डाल दूं इस पर और उस जल को थाल में रोक लूं, तो क्या उस जल को आप पीने के लिये तैयार हो जायेंगे? और इसी प्रकार उस पवित्र शरीर पर दुबारा लगाये गये साबुन के झाग क्या अपने शरीर पर पोतने को तैयार हो जाओगे? नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हो कि गंगा में स्नान करने से मैं पवित्र हो गया, मेरा शरीर पवित्र हो गया।

२ गंगा तीर्थ की सार्थकता

परन्तु एक ऐसा भी उपाय है, कि हरिद्वार की गंगा में स्नान करने से यथार्थ पवित्रता प्राप्त हो जाय। वह पवित्रता जो अन्तरंग मल को, राग द्वेष कषायों को, लोभ को धो डाले और जिसके कारण बाहर का यह शरीर भी पवित्र हो जाये। इतना पवित्र कि तब इस पर डाला हुआ पानी आप पीना अपना सौभाग्य समझने लगें, उसे मस्तक पर चढ़ाने को आप धन्य मानने लगें। वह मार्ग निहित है उस लक्ष्य में, जो कदाचित् मुझे अर्थात् मेरे उपयोग को ले जाये वहां, जहां से यह गंगा निकल रही है, और जिसके कारण इसे पवित्र माना जा रहा है, तीर्थ माना जा रहा है। इसका जल सड़ता नहीं, इसलिये पवित्र नहीं है, बल्कि इसलिये पवित्र है कि यह उस स्थान से चली आ रही है जहां कि इस युग के आदि ब्रह्मा ऋषभ देव ने स्वयं यथार्थ शौच या आन्तरिक स्नान किया था अर्थात् जहां बैठ कर तपश्चरण द्वारा उस महा योगी ने अन्तर के रागद्वेष प्रवर्धक लोभ का संहार किया था। हिमालय की ऊंची ऊंची चोटियों से गिरती, पत्थरों से टकराती, कल कल नाद करती, अनेकों छोटे बड़े नालों में से प्रवाहित होती हुई, हरिद्वार में यह एक धार बन जाती है। यह मुझे उस परम पावन योगेश्वर के शुचि जीवन की याद दिलाती है, जिसने कैलाश पर सारा आन्तरिक मल धो-कर इसी गंगा में बहा दिया था और इस प्रकार अपने जीवन में पूर्ण शान्ति उत्पन्न करके जिस आदि ब्रह्मा या शिव में आदर्श शान्ति गंगा का जीवन में अवतरण किया था। यदि उस पवित्र जीवन

की याद करके, मैं भी अन्तर मल शोधन के प्रति प्रवृत्ति करूं, और अन्तरङ्ग अशुचि को उस महान योगी वत् धो डालूं, तब गङ्गा का स्नान, वास्तविक स्नान कहलाया जा सकता है इस शरीर मात्र को धोने से पापों का शमन होना असम्भव है किन्तु अन्तर उपयोग को शान्ति स्रोत में डुबा देने से, सर्व पापों के बाप लोभ का शमन होता है।

इस प्रकार का उत्तम स्नान करते हुं वह परम दिगम्बर वीतराग योगेश्वर, जिनकी कि यह बात चलती है। इस उत्तम शौच से उनका अन्तर मल धुल जाने के कारण, उनका शरीर भी पवित्र हो जाता है, इतना पवित्र कि इसके स्नान का जल मेरे लिये चरणामृत है, जिसका पीना या मस्तक पर चढ़ाना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। बाहर से अत्यन्त मलिन, वर्षों से स्नान रहित व वस्त्र मन्जन रहित, इस शरीर में भी इतनी शुचिता आ जाती है-उस उत्तम स्नान से-अर्थात् लोभ शोधन से।

३ गृहस्थ दशा में भी लोभ की प्रधानता व पराक्रम

यहां सर्व कषायों में लोभ ही प्रधान बताया जा रहा है, लोक में भी लोभ को पाप का बाप बताया जाता है और यह कहना सत्य भी है। क्योंकि देखिये तो इस लोभ का प्राबल्य, जिसके कारण कि ब्राह्मण पुत्र ने सब विवेक को तिलाञ्जली दे दी, कुल मर्यादा छोड़ दी, और वेश्या के हाथ से रोटी का टुकड़ा मुंह में लेकर खा गया, और साथ में कुछ तमाचे भी और इस प्रकार समझ गया वह उपरोक्त लोकोक्ति की सत्यता। तुझ को वैसा भी करने की आवश्यकता नहीं, अपने जीवन को पढ़ना मात्र ही पर्याप्त है। बता तो सही चेतन ! कि यह सुबह से शाम तक की भाग दौड़, कलकलाहट, बेचैनी व चिंताओं का मूल क्या है ? यदि धन के प्रति लोभ न होता, यदि आवश्यकतायें अधिक न होतीं, यदि सन्तोष को पाया होता, धन संचय का परिमाण कर लिया होता, तो क्या आवश्यकता थी इतनी कलकलाहट की व भाग दौड़ की, और क्या आवश्कता थी चिन्तित होने की ? यह लोभ के आश्रित रहने वाली कोई लालसा विशेष ही तो है, जो कि इस निस्सार धन की ओर तुझको इस बुरी तरह खींचे लिये जा रही है, कि तुझे स्वयं को भी पता नहीं कि कितना कमा चुका है, कितना कमाना है कब तक कमाना है, और कितना साथ ले जाना है ? इस लालसा के आधीन होकर जितना कुछ आज तक सञ्चय किया है, क्या कभी उस सर्व पर एक दृष्टि डाल कर देखने तक का भी अवकाश मिला है तुझे ? अरे ! इतनी कलकल में रहते हुए अपने परिश्रम का फल, वह जो कि तुझको अत्यन्त प्रिय है, देखने तक की सुध नहीं, भोगने की तो बात क्या ?

मुहम्मद गज़नवी की बात तो याद होगी। सात बार सोमनाथ पर आक्रमण किया, सारा जीवन लूट मार में खोया, हाय सम्पदा ! हाय सम्पदा ! के अतिरिक्त जिसे कुछ न सूझा। खूब धन इकट्ठा किया परन्तु क्या उस दिन को टाल सका जो हम सबको ढंढोरा पीट पीट कर सावधान किया करता है, कि भाई ! मैं आ रहा हूँ। कुछ तैयारी कर लेना चलने की, कुछ बान्ध लेना मार्ग के लिये, सम्भवतः आगे चल कर भूख लग जाये। परन्तु इस लालसा की हाय हाय में कौन सुने उसकी पुकार और उसके आने पर रोना और झींकना, अनुनय विनय करना। भाई ! दो दिन की मोहलत दे दो किसी प्रकार, कुछ थोड़ा बहुत बना लूंगा, अब तक तो बिल्कुल खाली हाथ बैठा हूं, भूखा मरना पड़ेगा आगे जाकर, दया करो, उस समय आती है बुद्धि कि क्या किया है आज तक और क्या करना

चाहिये था। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियां चुग गई खेत। वह दिन तो मोहलत देना जानता ही नहीं। अन्तिम समय गज़नवी बिस्तर पर अन्तिम श्वास ले रहा है। सारा चित्रपट जीवन मानों बड़ी तेज़ी से घूम रहा है उसके हृदय पट पर, बेहाल व बेचैन, कौन है इस सारे विश्व में जिसको सहायता के लिए पुकारे।

धन के अतिरिक्त, और है ही क्या यहां ? लाओ सारा धन, मेरी आंखों के सामने ढेर लगा दो। आज मैं रोना चाहता हूं, जी भर कर, अपने लिये नहीं दूसरों के लिये, कि अरी भूली दुनिया ! देख ले मेरी हालत, और कुछ पाठ ग्रहण कर इससे। मुट्ठी बांध कर आया था खाली हाथ जा रहा हूं। इस दिन पर विश्वास न आता था, सुना करता था, पर हंस देता था। मैंने तो भूल की, पर आप अपनी भूल को सुधार लो, इस दुष्ट लोभ से अपना पीछा छुड़ायें और जीवन में ही कुछ पवित्र व्यञ्जन बना कर तैयार कर लें, ताकि रोना न पड़े तुम्हें।

देखिये इस लोभ की सामर्थ्य, कि जिसके आधीन हो मैं न्याय अन्यायसे नहीं डरता, बड़े से बड़ा अनर्थ करता भी नहीं हिचकिचाता, इतना ही नहीं अन्याय करके उसे न्यायसिद्ध करने का प्रयत्न करता हूं। "अजी मैं तो गृहस्थी हूं, झूठ बोले बिना या सरकारी टैक्स मारे बिना, या ब्लैक किये बिना, या अधिकार से अधिक काम किये बिना कैसे चल सकता है मेरा काम? मैं कोई साधु थोड़े ही हूं, आप तो बहुत ऊंची बातें कहते हैं। भला इस काल में ऐसी बातें कैसे चल सकती हैं? न्याय पर बैठे रहें तो भूखे मरें।" इत्यादि अनेकों बातें, परन्तु प्रभो ! करता रह अन्याय, कोई रोकता नहीं तुझे, तेरी मर्जी जो चाहे कर, गुरुवर तो केवल तुझे उस दिन की याद दिला रहे हैं। इस जीवन के लिए इतना किये बिना नहीं सरता, उस जीवन की ओर भी तो देख, वह भी तो तेरा जीवन ही है किसी और का नहीं, वहां के लिए बिना किये कैसे चलेगा ? 'न्याय पर बैठे रहने से भूखा मरना पड़ेगा', यह तो केवल उस लालसा का पोषण करने का बहाना है। क्या सन्तोषी जीवित नहीं रहते ? इतनी बात अवश्य है कि सन्तोष आने पर लालसा के प्राण समाप्त हो जाते हैं और तू लालसा को जीवित देखना चाहता है। तेरे भूखा मरने का प्रश्न नहीं है, हां लालसा के भूखा मरने का प्रश्न अवश्य है। परम वीतरागी शुचिता की तो बात नहीं, इतनी शुचिता तो धारण कर ही सकता है। कुछ तो इस लोभ को या लालसा को दबाने का प्रयत्न कर ही सकता है, ब्लैक मार्केट से हाथ खेंच।

देखिये इस लोभ का पराक्रम कि जिसकी पूर्ति के लिये अनेकों प्रकार के छल कपट आदि की प्रवृत्ति रूप माया को पोषण मिलता है, जिसकी किंचित् पूर्ति हो जाने पर मान को पोषण मिलता है, तथा जिसकी पूर्ति में किंचित् बाधा आ जाने पर क्रोध को पोषण मिलता है। अर्थात शेष तीनों कषायों को बल देने वाला यही तो है, यदि यह दुष्ट न हो, तो न है आवश्यकता मायाचारी की, न रहता है अवकाश मान व क्रोध को। क्रोध कषाय तो स्थूल है, बाहर में प्रत्यक्ष हो जाती है, परन्तु लोभ छिपा २ अन्तरङ्ग में कुछ काम करता रहता है और शेष तीनों की डोर हिलाता रहता है। इसके जीवन पर ही सर्व कषाओं का जीवन है और इसकी मृत्यु पर सर्व कषायों की मृत्यु। यद्यपि सर्व कषाय व अन्तर दोषों का शोधन करना शौच है परन्तु सबका स्वामी होने के कारण एक इसके शोधन को ही शौच कहा जा रहा है, हाथी के पांव में सबका पांव।

४ धार्मिक क्षेत्र में लोभ कि प्रधानता

यह तो हुई गृहस्थ दशा में धन सम्बन्धी स्थूल लोभ शोधन की प्रेरणा। अब चलती है धार्मिक क्षेत्र में प्रगट होने वाली, पहले भी अनेकों बार दृष्टि में लाई गई लोकेषणा

व लोकेषणा अर्थात् ख्याति सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ शोधन की बात, जो सम्भवतः धन सम्बन्धी लोभ से भी अधिक भयानक है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सर्व भूमिकाओं में स्थित शान्ति के उपासक धर्मी जीवों को पद पद पर इसके प्रति सावधानी वर्तने की अधिकाधिक आवश्यकता है, क्योंकि जब तक इसका किंचित् भी संस्कार बीज रूप से अन्तरङ्ग में पड़ा है, यह दुष्ट अंकुरित हुए बिना नहीं रहता। सन्यासी को ऊंची से ऊंची दशा तक भी इसमें अंकुर फूट ही पड़ता है। तनिक सी असावधानी वर्तने पर, दीवार पर लगे हुए पीपल के अंकुर वत् यह कुछ ही समय में एक मोटा वृक्ष बन जाता है, जो सारे मकान को खिला देता है, फिर बिना सम्पूर्ण मकान गिराये उसका निर्मूलन असम्भव हो जाता है। अर्थात् संवर प्रकरण में बताये गये तथा जीवन में उतारे गये, सारे किये कराये को खण्ड २ कर देता है।

५ यथायोग्य नमस्कार आदि क्रियाओं की सार्थकता

शान्ति के इस सरल मार्ग पर बराबर कुछ पथिक चले आ रहे हैं, कुछ तेजी से और कुछ धीमे, कुछ आगे और कुछ पीछे। बहुत कुछ आगे निकल चुके हैं, मानों क्षितिज को भी पार कर गये हैं, जिन पर आज मेरी दृष्टि भी नहीं पड़ती और कुछ मेरे निकट में ही थोड़ा आगे बढ़े चले जा रहे हैं। अपरिचित मार्ग में चलने वाले इन पथिकों का स्वाभाविक रूप में ही अपने से आगे वाले के प्रति कुछ बहुमान सा जागृत हो जाता है जो अकृत्रिम होता है। किसी की प्रेरणा से नहीं बल्कि स्वयं आगे बढ़ने की जिज्ञासा में से अंकुरित हुए इस बहुमान वश, वह अपने से आगे वाले उस पथिक को डरते डरते ही पुकार उठता है; कि प्रभो! तनिक ठहर जाओ, मेरा भी हाथ पकड़ कर तनिक सहारा दे दो, पर उस बेचारे को यह क्या पता, कि उस आगे वाले की भी ठीक यही दशा है। वह अपने आगे वाले को अपना हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर रहा है और वह तीसरा अगले चौथे को। प्रत्येक की पुकार में उसका अपना स्वार्थ छिपा है, जिसके कारण कि उसको यह भी विचारने का अवकाश नहीं, कि यदि उसकी प्रार्थना को सुनकर यह आगे वाला रुक जाये, या उसका हाथ पकड़ने के लिये पीछे मुड़कर देखने लगे, तो कितना बड़ा अनिष्ट हो जायेगा। इससे आगे वाला सम्भवतः इतनी ही देर में इतना आगे निकल जाये, कि फिर वह दृष्टि में भी न आये अथवा पीछे को देखते हुए और आगे चलते हुए उसको कोई ऐसी ठोकर लग जाये, कि नीचे गिर कर उसका सर ही फट जाये।

पीछे व आगे वाले दोनों पथिकों को अपनी अपनी क्रिया का फल मिलता है, पीछे वाले की क्रिया या पुकार का फल आगे वाले को नहीं मिल सकता। अतः इसकी पुकार स्वयं उसके लिये तो अत्यन्त हितकर है, पर आगे वाले के लिये वह अहित रूप बननी सम्भव है। वह आगे वाला अपनी अल्प शक्ति को देखते हुए यदि अपनी रक्षा के लिए स्वयं पीछे मुड़कर न देखे तो उसे कोई बाधा नहीं पड़ सकती, परन्तु यदि कदाचित् किसी भी आवेश में पीछे मुड़कर देख ले तो, प्रभु ही जानें कि क्या हो? उसका सब किया कराया मिट्टी में मिल जाये। ठीक है कि आगे जाकर शक्ति बढ़ जाने पर उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है, कि बड़े से बड़े प्रलोभन की ओर भी वह दृष्टि उठाकर नहीं देखता। परन्तु अल्प अवस्था में उसे अवश्य सावधानी रख कर चलना होता है। पीछे वाले का कर्तव्य है कि अपने लिये न सही, पर आगे वाले के हित के लिये वह उसको आवश्यकता से अधिक पुकार पुकार कर उसे पीछे मुड़ने पर बाध्य करने का प्रयत्न न करे।

यह तो केवल दृष्टान्त हुआ, इसका तात्पर्य इस उत्तम शौच के मार्ग में आने वाली ख्याति की भावनाओं का प्रशमन करना है। उत्कृष्ट बल को प्राप्त साक्षात् गुरुओं के अभाव के कारण आज स्वभावतः ही शान्ति के जिज्ञासु भव्य जनों का बहुमान, दृष्टि में आने वाले उन तुच्छ जीवों की ओर बह निकलता है, जिनके जीवन में गुरु प्रसाद से किंचित् मात्र चिह्न उस शान्ति, या पवित्रता, या शुचिता के उत्पन्न हो गये हैं। उस बहुमान वश उस तुच्छ जीव के प्रति उसके द्वारा नमस्कार-आदि कुछ ऐसी क्रियायें प्रकट हो जाती हैं, जो अधिक शक्तिशालि व ऊंची भूमिका में स्थित जीवों के ही योग्य थीं। यद्यपि उनका यह बहुमान कृत्रिम नहीं, और न ही किसी की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है, स्वयं उसके लिये वह हितकारी भी है, परन्तु उसे क्या पता, कि इन क्रियाओं से उस छोटे से जीव का कितना बड़ा अहित हो रहा है, लोकेषणा के अंकुर का सिंचन हो रहा है। यद्यपि किसी के ऊपर यह नियम लादा नहीं जा सकता, कि देखो जी अमुक व्यक्ति के प्रति बहुमान उत्पन्न न करना, या नमस्कारादि न करना, परन्तु स्वपर के उपकारार्थ उनसे यथा योग्य करने की प्रार्थना अवश्य की जा सकती है और यह बात उसे समझाई भी जा सकती है, कि भले ही तेरा बहुमान व विनय सच्चा है, तेरे लिये हितकारी है, पर इस-आगे वाले के लिये किंचित् अहितकारी है। इनकी शक्ति अभी तक इतनी नहीं है, कि इन क्रियाओं को देख कर उसमें लोकेषणा उत्पन्न न हो, अतः अपने लिये न सही पर इस आगे वाले के लिये तू इन क्रियाओं में कुछ कमी कर दे, इतनी कि तेरा काम भी चल जाये और इसके काम में भी बाधा न पड़े। इसलिये गुरु देवों ने नमस्कारादि क्रियाओं सम्बन्धी कुछ नियम बना दिये, कि साधु को साष्टांग नमस्कार के द्वारा, उत्कृष्ट श्रावक के चरणस्पर्श के द्वारा, तथा जघन्य व मध्यम श्रावक को यथा योग्य अंजुलिकरण के द्वारा ही अपने अपने बहुमान का प्रदर्शन करना योग्य है। ऊंचे के योग्य नमस्कार नीचे के प्रति करना योग्य नहीं।

इस प्रकार आन्तरिक ख्याति की महिमा जागृत करके धन सम्बन्धी व ख्याति सम्बन्धी लोभ का दमन करने वाला वह महा पराक्रमी योगी ही उत्तम शौच करता है, उत्तम स्नान करता है; शान्ति गङ्गा में स्नान करता हुआ उसके साथ तन्मय हो जाता है, ऐसा कि फिर वह शान्ति भङ्ग न होने पावे; पवित्र हो जाता है इतना कि फिर उसमें अपवित्रता आने न पावे। उनके जीवन को अपना आदर्श बनाकर चलने वाले भो पथिक! तू भी यथाशक्ति स्नान करके किंचित् शुचिता या निर्लोभता उत्पन्न कर।

चौपाई—उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पाप को बाप बखाना।
आशा--पास महा दुख दानी, सुख पावै संतोषी प्राणी॥
(पं० द्यानत राय)

३८

❀ उत्तम सत्य ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक २० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७९

१—सत्य में अभिप्राय की मुख्यता, २—पारमार्थिक सत्य—पर पदार्थों में कर्ताबुद्धि का अभाव, ३—हित मित प्रिय वचन ही सत्य है, ४—दश प्रकार वचन सत्य, ५—शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक ।

१ सत्य में अभिप्राय की मुख्यता

पर पदार्थों के प्रति अहङ्कार बुद्धि रूप असत्य संस्कारों के विजेता हे सत्य स्वरूप प्रभु! मुझको भी सत्य जीवन प्रदान करें। आज उत्तम सत्य धर्म की बात चलती है। सत्य किसे कहते हैं व असत्य किसे, इस बात का निर्णय किये बिना,'जैसा देखा सुना गया हो, वैसा का वैसा कह देना' लोक में सत्य कहा जाता है। परन्तु यहां उत्तम सत्य की बात है साधारण सत्य की नहीं। उत्तम सत्य परीक्षा करने की कसौटी शान्ति है, सर्व जीव हित है। जैसा कि पूर्व प्ररूपित सर्व संयम सम्बन्धी अथवा अन्य कोई भी क्रिया सम्बन्धी प्रकरणों में सर्वत्र एक अभिप्राय की मुख्यता दर्शाई गई है, उसी प्रकार यहां भी अभिप्राय की मुख्यता है। सत्य असत्य का निर्णय अभिप्राय पर से किया जा सकता है-स्व पर हित का अभिप्राय रख कर की जाने वाली मन, वचन, काय की क्रिया सत्य है, और स्व पर अहितकारी अभिप्राय रख कर या हिताहित का विवेक किये बिना ही की जाने वाली क्रिया असत्य है।

वचन में ही सत्य या असत्य लागू होता हो, ऐसा भी नहीं है। मानसिक विकल्पों में, वचनों में, व शारीरिक क्रियाओं में इन तीनों में ही सत्य व असत्य का विवेक ज्ञानी जन रखते हैं। लोक में तो केवल वचन सम्बन्धी सत्य की ही बात चलती है, और यहां तो तीनों सम्बन्धी सत्य की बात है। मानसिक विकल्प में किसी के प्रति हित की भावना प्रगट होना, सत्य मानसिक क्रिया है और अहित की भावना अथवा हिताहित के विवेक शून्य भावना प्रगट होना असत्य मानसिक क्रिया है। अपने या अन्य के हित का अभिप्राय और सत्य मानसिक विकल्प पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से असत्य होते हुए भी सत्य है और अपने या अन्य के अहित का अभिप्राय और असत्य मानसिक विकल्प पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से सत्य होते हुए भी असत्य है। इसके अतिरिक्त स्व पर हितकारी वचन भी यदि कटु है, तो दुखदायक होने के कारण असत्य है। अतः हित रूप तथा मिष्ट वचन बोलना ही सत्य वाचिक क्रिया है। स्व पर हित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया सत्य है और स्वपर के अहित का अभिप्राय और मनो विकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया असत्य है।

अब इन तीनों क्रियाओं के कुछ उदाहरण सुनिये, जिन पर से कि उपरोक्त सर्व कथन का तात्पर्य समझ में आ जाये।

पहले अभिप्राय की सत्यता पर विचारिये, तीनों का स्वामी यह अभिप्राय ही है। अभिप्राय में पारमार्थिक सत्य आ जाने पर तीनों क्रियायें स्वतः एव सत्य हो जायेंगी। अभिप्राय की असत्यता के कारण ही मेरे जीवन में क्रोधादि कषायों का, राग द्वेष का व चिन्ताओं का प्रवेश हो जाता है, अतः स्वपर भेद विज्ञान हुए बिना वास्तव में अभिप्राय में पारमार्थिक सत्य आना असम्भव है। शरीर, धन व कुटुम्बादि का उपकार या अपकार मैं कर सकता हूँ, या इनके द्वारा मेरा उपकार या अपकार हो सकता है, ऐसा निश्चय बने रहना पारमार्थिक असत्य है, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। वस्तु तो स्वतन्त्र है, स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है, वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णय न होने के कारण ही मेरे मन में यह विकल्प उठा करते हैं कि, कुटुम्ब का पोषण मैं न करूं तो कैसे हो इस द्वेषी व शत्रु का विरोध न करूं तो कैसे हो? एक विकल्प में से अंकुरित हो उठता है दूसरा विकल्प, यह कि धन न कमाऊँ तो कुटुम्बादि का पोषण कैसे हो? इन विकल्पों के आधार पर हो रही है आज की सर्व वाचिक व शारीरिक क्रियायें, जिनके कारण मेरा जीवन चिन्ताओं में जला जा रहा है।

२ पारमार्थिक सत्य-पर पदार्थों में कर्ता बुद्धि का प्रभाव

पर पदार्थ मेरे आधीन वर्तने चाहियें, ऐसा अभिप्राय रखते हुए भी, मजे की बात यह है कि जब अपने सम्बन्ध में सोचने बैठता हूँ तो-कुटुम्बादि के बिना मेरा कैसे गुजारा हो, इनके बिना कौन मेरी सेवा करे, यह न आता तो मुझे क्रोध न होता, इस प्रकार के विचारों द्वारा अपने को दूसरों के आधीन बना डालता हूँ। मैं दूसरों का काम करूँ, और दूसरे मेरा काम करें, दूसरे मेरे बिना कुछ नहीं कर सकते और मैं दूसरों के बिना कुछ नहीं कर सकता, अर्थात् दूसरे मेरे आधीन हैं और मैं दूसरों के आधीन हूँ। इस प्रकार अपने को व दूसरों को परतन्त्र बना कर स्वतन्त्रता का व्यापार कैसे किया जा सकता है, शान्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है, विकल्प कैसे रोके जा सकते हैं? जो तू करने की इच्छा करता है, वह करना तो तेरे आधीन नहीं है, स्वतन्त्र रूप से कभी स्वतः ही तेरी इच्छा के अनुकूल हो जाता है और कभी प्रतिकूल। अनुकूल हो जाने पर यह मैंने किया' इस प्रकार का मान, और प्रतिकूल हो जाने पर 'यह ऐसा क्यों हुआ?' इस प्रकार का क्रोध। इस प्रकार बीत रहा है मेरा जीवन बिलकुल गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते की तरह, जो स्वतः चलती गाड़ी को समझ रहा है कि मेरे बल पर चल रही है और स्वतः गाड़ी के ठहरने पर क्रोध के मारे भौंकने लगता है। इस प्रकार अपना कार्य करने में मैं असमर्थ हूँ, अर्थात् निज आत्मा का कार्य, अनेक प्रकार के विकल्पों से हट कर निर्विकल्प व शान्त हो जाने का कार्य मैं करता नहीं हूँ। 'दूसरा कोई निमित्त आये तो मेरा कार्य करे', ऐसा अभिप्राय रखता हुआ पुरुषार्थ हीन बना हुआ हूँ तो शांति कैसे मिले।

जो कुछ मैं कर नहीं सकता, अर्थात् दूसरे का कार्य, वह करने को तो मैं पुरुषार्थ मानता हूँ और जो कर सकता हूँ, अर्थात् शान्ति में स्थिति, उसको मैं अकर्मण्यता कहता हूँ। वास्तव में

पुरुषार्थ का यह स्वरूप है ही नहीं। इस असत्य अभिप्राय के कारण, पर में कुछ करने का पुरुषार्थ करते हुए, पर में तो कुछ कर नहीं पाता, हाँ अपने में ही कुछ विकल्प या चिन्तायें अवश्य कर लेता है इस पुरुषार्थ हीनता को छोड़ कर सत्य अभिप्राय प्रगट करे, तो पुरुषार्थ का ढलाओ 'पर' से हट कर 'स्व' पर आ जाये, सब विकल्प मिट जायें, शान्ति मिल जाये, जीवन सत्य बन जाये, उत्तम सत्य का पालन होने लगे।

उपरोक्त सत्य के अनेकों दृष्टान्त देखते हुए भी भो भव्य ! क्यों तेरा अभिप्राय नहीं फिरता ? पैदा होते ही एक झाड़ी में फैंक दी गई कन्या पीछे भारत सम्राट जहांगीर की पत्नी नूरजहां हो गई। किसने किया उसका पोषण ? विमान से गिरे हनुमान की किसने की रक्षा ? 'यह संस्था मेरे बिना न चलेगी', यह कहते २ अनेकों चले गये, पर वह संस्था ज्यों की त्यों चल रही है। कौन करता है उसकी रक्षा ? पिता के अनेकों उपाय करने पर भी सौभाग्यवती मैना सुन्दरी का भाग्य किसने बनाया ? अरे भाई ! 'मेरे द्वारा कुटुम्ब का पोषण होता है', इस मिथ्या अभिमान को छोड़। 'सब स्वतन्त्र रूप से अपना पोषण आप कर रहे हैं, अपना भाग्य स्वयं साथ लेकर आते व जाते हैं, मैं उनमें कुछ नहीं कर सकता', ऐसा सत्य अभिप्राय बना। यह ही है वास्तविक सत्य, पारमार्थिक उत्तम सत्य धर्म।

मन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाओं के उदाहरण, अभिप्राय में ही अन्तरभूत हो चुके हैं। अर्थात् उपरोक्त अभिप्राय के कारण मन में उठने वाले, 'पर' मे करने धरने आदि के विकल्प असत्य मनो विकल्प है और स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन जाने पर निज में शान्ति वेदन का कार्य सत्य मनो विकल्प है।

३ हितमित प्रिय वचन ही सत्य है

अब वचन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रिया के उदाहरण सुनिये। जैसा देखा सुना या अनुभव में आया हो केवल वैसा ही कह देना वास्तव में सत्य की पहिचान नहीं है। स्वपर हितकारी, परिमित व मिष्टवचन ही सत्य हैं और इसके विपरीत असत्य। जैसे कोई व्यक्ति मुझ से कदाचित् आपकी चुगली करता हो और आप पीछे मुझ से पूछें, कि यह क्या कह रहा था ? तो उस समय जो कुछ चुगली के शब्द उसने मुझसे कहे थे, वे ज्यों के त्यों आप से कह देना यहाँ शान्ति के मार्ग में सत्य नहीं है, असत्य है और 'आपके सम्बन्ध में कुछ बात नहीं थी', कुछ और ही बात कहता था, अथवा आप की प्रशंसा में इस प्रकार कहता था', ऐसा बोल देना भी यहां सत्य है। क्योंकि पहली बात से आपके हृदय में क्षोभ आ जाने की सम्भावना है और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच द्वेष बढ़ जाने की सम्भावना है, अतः पहला वचन अहितकारी होने से असत्य है। दूसरे वचन के द्वारा आपको सन्तोष आयेगा और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच पड़ा वैमनस्य भी कुछ कम हो जायेगा, अतः हितकारी होने के कारण यह दूसरा वचन सत्य है। यह है वचन की सत्यता व असत्यता की परीक्षा। साथ २ इतना आवश्यक है कि वह वचन मधुर हितकारी होना चाहिये और संक्षिप्त ताकि तीसरा व्यक्ति सुनकर यह संशय न करने लगे, कि यह परस्पर बात कर रहे हैं या अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं।

४ दश प्रकार ,वचन सत्य' लौकिक व्यवहार चलाने के अर्थ भी अनेकों अभिप्रायों के आधार पर वचन बोले जाते है, जो कि अभिप्राय की सत्यता से सत्य और अभिप्राय की असत्यता के कारण असत्य समझ जाने चाहिये। १. जैसे अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं में से किसी एक व्यक्ति या वस्तु की ओर लक्ष्य दिलाने के अभिप्राय से बोला जाने वाला वचन नाम सत्य है। भले ही उस नाम द्वारा प्रदर्शित होने वाले गुण उसमें हों या न हों। जैसे इन्द्रियों को न जीतने वाला भी मैं आपके द्वारा 'जिनेन्द्र' नाम से पुकारा जाता हूँ परन्तु यदि यही नाम इन्द्रियों को जीतने वाले ऐसे जिनेन्द्र भगवान के अभिप्राय से, मेरे सम्बन्ध में कोई प्रयुक्त करने लगे, तो वही वचन असत्य होगा।

२. चित्र या प्रतिमा में किसी की आकृति या रूप को देख कर "यह चित्र उस व्यक्ति का है।" ऐसा न कह कर, 'यह अमुक व्यक्ति है', ऐसा कह देना भी सत्य है। परन्तु इस प्रतिमा या चित्र को कोई वास्तव में व्यक्ति ही समझ कर, यह वचन कहे तो वही वचन असत्य होगा।

३. किसी पदार्थ में भी किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करके, उसे वह पदार्थ बता देना सत्य है। जैसे कि शतरंज के पासों में आकारादि भी न दीखने पर, "वह हाथी है" इत्यादि कह देना सत्य है। परन्तु कोई इस पासे को वास्तविक हाथी समझ कर इसे हाथी कहे, तो वही वचन असत्य होगा।

४. (१)जैसे कि छिन्न भिन्न करने मात्र से किसी बनस्पति को अचित कह देना सत्य है, क्योंकि आगम की ऐसी ही आज्ञा है। यद्यपि सम्भव है कि छिन्न भिन्न कर लेने पर भी इसमें अनेकों जीव विद्यमान हों, परन्तु इसको वास्तव में वैसा ही समझ लेना अर्थात् सर्वथा अचित्त समझ लेना या समझ कर उसे उचित कहना असत्य है।

(२) प्रमाणिक व्यक्तियों या आगम के विश्वास के आधार पर अनेक सूक्ष्म, दूरस्थ व अंतरित पदार्थों के सम्बन्ध में यह कहना "कि यह ऐसे ही है," सत्य है। जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात्कार न होने पर भी "द्रव्य छः ही हैं" यह कहना सत्य है। परन्तु बिना किसी आधार के युक्ति आदि द्वारा किञ्चित् भी निर्णय किये बिना, केवल पक्षपात वश ऐसा कह देना असत्य है।

५. अनेक कारणों से उत्पन्न हुए कार्य को किसी एक कारण से उत्पन्न हुआ कह देना सत्य है, जैसे कि 'किसान के द्वारा खेती बोई गई,' यह कहना सत्य है। परन्तु अन्य सब कारणों को भूल कर, 'केवल किसान ने ही खेती बोई', ऐसा कहना असत्य है।

६. अनेक पदार्थों से मिल कर बने किसी पदार्थ को एक नाम से कह देना सत्य है। जैसे कि चन्दन, कुंकुमादि से बने पदार्थ को धूप कहना सत्य है। परन्तु धूप नाम का कोई पृथक सत्ताधारी पदार्थ समझ कर धूप कहना असत्य है।

७. अनेक देशों में अपनी २ भाषा के आधार पर, एक ही पदार्थ को अनेक नामों से कहा जाना सत्य है। जैसे भारत में कहे जाने वाले 'ईश्वर" को इङ्गलैण्ड में "गौड" शब्द से कहा जाना सत्य है। परन्तु 'ईश्वर पृथक है, और गौड पृथक है' ऐसा अभिप्राय रख कर कहे जाने वाले वही शब्द असत्य हैं।

८. किसी बात की सम्भावना को देखते हुए, 'ऐसा हो सकता है', ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि "आज विश्व में युद्ध हो जाना सम्भव है", यह कह देना सत्य है। पर "युद्ध अवश्य होगा ही" ऐसा अभिप्राय रख कर वही वचन कहना असत्य है।

९. किसी की उपमा देकर, "यह पदार्थ तो बिल्कुल वही है", ऐसा कह देना सत्य है। जैसे कि जवाहर लाल नेहरू जैसी कुछ आकृति व कुछ संस्कार देख कर, "यह बालक तो जवाहर लाल है ऐसा कह देना तो सत्य है। परन्तु बिल्कुल जवाहर लाल मान कर ऐसा कहना असत्य है।

१० किसी कार्य को करने का संकल्प मात्र कर लेने पर, 'मैं यह काम कर रहा हूं' ऐसा कहना सत्य है। जैसे कि देहली जाने की तैयारी करते हुए, 'मैं देहली जा रहा हूं' यह कहना सत्य है। परन्तु वास्तव में 'इस समय रेल में बैठे हुए 'मैं देहली जा रहा हूं', ऐसा अभिप्राय रख कर बोला हुआ वही वचन असत्य है।

इस प्रकार अनेक जाति के वचन अभिप्राय के हेर फेर से अपने लौकिक व्यवहार में सत्य व असत्य होते हुए देखे जाते हैं।

५ शारीरिक क्रियाओं में सत्यासत्य विवेक

वचन की भांति शरीर के कोई भी, स्व पर अहितकारी संकेतादि या इन्द्रिय व प्राण संयम में कथित कोई भी असक्तता या हिंसादि सम्बन्धी क्रियायें, असत्य शारीरिक क्रियायें हैं। और स्व पर हितकारी व संयमित क्रियायें सत्य शारीरिक क्रियायें हैं।

दोहा—कठिन वचन मति बोल, पर-निन्दा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जग में सुखी॥
(पं० द्यानत राय)

३६

❀ उत्तम संयम ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २१ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ७७

१—यम व नियम, २—पंचेन्द्रिय जय, ३—पंच महाव्रत, ४ पंच समिति, ५—सप्त शारीरिक क्रियायें, ६—षट आवश्यक ।

१ यम व नियम भव भव के दुष्ट संस्कारों का यमन करने वाले हे अन्वर्थ संज्ञक यमराज वीतराग प्रभु ! मुझे यम प्रदान कीजिये। प्रतिक्षण होने वाली विकल्पात्मक अन्तर्मृत्यु को जीत कर, मृत्यु की सर्वदा के लिए मृत्यु कर देने वाले मृत्युञ्जय पद को प्राप्त हे यमराज ! मुझको भी अपनी शरण में लीजिये। ओह! कैसी अनोखी बात है कि जिस यमराज से जगत कांपता है, आज उसकी शरण में जाने की प्रार्थना की जा रही है। विस्मय मत कर प्रभु ! यमराज से डरने वाला मोह से ग्रसित जगत वास्तव में जानता ही नहीं कि यमराज कौन है ? लोक में तो यमराज का अत्यन्त भयानक काल्पनिक चित्रण खेंचा गया है, पर ऐसा वास्तव में नहीं है। यमराज का तो स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है, अत्यन्त शान्त है, लोक में अमृत वर्षाने वाला है। दुष्ट संस्कारों का यमन करके जिन्होंने मृत्यु की भी मृत्यु कर दी है, ऐसे वह मृत्युञ्जय सिद्ध प्रभु ! वास्तविक यमराज हैं, उनकी शरण में जाने की बात है। अर्थात् स्वयं यमराज बनने की बात है, भय को अवकाश नहीं, उत्साह उत्पन्न कर। आज संयम का प्रकरण चलता है।

संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार यमन कर देना, मार देना-संस्कारों को। वैसे तो संयम के सम्बन्ध में अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है परन्तु अभी भी पर्याप्त नहीं है। यम भी दो प्रकार का है—एक संस्कारों की पूर्ण मृत्यु रूप, और दूसरा किञ्चित् मृत्यु रूप। पूर्ण यम को यम और किञ्चित् यम को नियम कहा जाता है। अर्थात् अत्यन्त पराक्रमी जीवों द्वारा संस्कारों का जीवन पर्यन्त के लिए धुतकारा जाना यम है और शक्तिहीन जीवों के द्वारा उनका एक सीमित समय के लिय १५ मिन्ट के लिये या आध घण्टे के लिये, या एक घन्टे के लिये, या पांच सात दिनों या महीनों, या वर्षों के लिये किञ्चित् अंश रूप में धुतकारा जाना नियम कहलाता है। अब तक जितना भी कथन चला था वह सब नियम था, क्योंकि यह तो मन्दिर के अनुकूल वातावरण में आध पौन घण्टे मात्र तक की सीमा के लिये करने में आता था, या बिना व्रत लिये अर्थात् पहले व्रत के प्रकरण में बताए 'तो' रूप शल्य के बिना निकले केवल अभ्यास रूप में किया जा रहा था। उसी अभ्यास के

कारण शक्ति की वृद्धि हो जाने पर वह नियमी यमी बन जाता है, अर्थात् योगी व संन्यासी बन जाता है। तब उसके बल व पराक्रम के क्या कहने ?

इस दशा को प्राप्त होकर वह यमी सम्पूर्ण बाह्य में प्रगट होने वाले स्थूल संस्कारों की शक्ति का विच्छेद कर देता है, और पुनः वह अंकुरित न होने पावें इस प्रयोजन वश, अनेकों कड़ी प्रतिज्ञायें धारण करता है। जीवन जाये तो जाये पर यह प्रतिज्ञा अब भङ्ग न होने पायेगी, ऐसी दृढ़ता है आज उसकी अन्तर्गर्जना में, वह यमराज बनने को निकला है। वीरों का वीर यद्यपि पहले ही से इन्द्रियों को वश में कर चुका था, और प्राणियों को भी पीड़ा देने का उसे अवसर प्राप्त न होता था पर आज उसका वह इन्द्रिय व प्राण संयम पूर्णता की कोटि को स्पर्श कर चुका है।

२ इन्द्रिय जय घर बार राज्य पाट आदि को लात मार पूर्ण संन्यासी बनकर, बन में अकेले वास करने वाले वे योगी, बाहर में तो सम्पूर्ण इन्द्रिय विषय का त्याग कर ही चुके हैं, पर अन्तरंग में भी उनको पूर्णतया जीत चुके हैं। स्पर्शन इन्द्रिय को ललकारते हुए उसने नग्न वेष धारण किया है कि देखूं तो किस प्रकार गरमी, सर्दी, मक्खी मच्छर आदि की बाधा आ जाने पर मुझको मेरे कार्य से विचलित करने में समर्थ हो सकेगी। नासिका इन्द्रिय के सामने आज वह सीना ताने खड़ा है, विष्टा के ढेर के सामने से गुजर जाए, पर क्या मजाल कि नाक या तेवड़ी में विकृति आ जाये। नेत्र इन्द्रिय को तो मानों मार ही डाला है यदि रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर देव कन्यायें भी आज आकर उनके सामने नृत्य करने लगें, तो उन के मन में किञ्चित् भी विकृति नहीं आने पाती, आज वह सुमेरु सम अचल है। कर्ण इन्द्रिय आज खड़ी रो रही है कैसे भी प्रशंसा के शब्द कहे या कोई गाली दे या मधुर राग की ध्वनि आने लगे, पर आज इस बेचारी की बात कौन पूछे ? उनको तो आज उन में से मानों कोई भी शब्द सुनाई ही नहीं दे रहा है, वह सुन सकते हैं केवल शान्ति की पुकार और कुछ नहीं।

यद्यपि उपरोक्त प्रकार नेत्र व कर्णेन्द्रिय को पूर्णतया वश में कर लेने के पश्चात् आज इन्द्रियों में सबसे प्रबल उपस्थ इन्द्रिय को भी वह पूर्णतया जीत चुके हैं। परन्तु अब भी एक इन्द्रिय ऐसी शेष है, जो कभी कभी कुछ धूर्तता करती देखी जाती है और वह है जिह्वा इन्द्रिय। इतनी उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त कर लेने पर भी, यह अपनी धूर्तता नहीं छोड़ती। कितनी प्रबल है यह ? उपस्थ इन्द्रिय से भी प्रबल और इसी कारण शान्ति के पथिक को पहले से ही खान पान सम्बन्धी वस्तुओं में रोक लगाने का अभ्यास करने को कहा जाता है। परन्तु इस यमी के सामने कहां तक चलेगी इसकी धूर्तता। यदि उसका वश चले तो अन्य इन्द्रियों के विषयों की भांति इस इन्द्रिय के विषय-भूत भोजन का भी वह सर्वथा त्याग कर दे और उसका यह अभिप्राय हर समय बना भी रहता है, कि वह समय कब आये कि इस इन्द्रिय को पूर्णतया धुत्कार दे। परन्तु क्या करे शक्ति की हीनता वश, अपने साथ में पाली हुई इस बला की इतनी सुननी ही पड़ती है, तो भी क्या हुआ, वह जिह्वा इन्द्रिय की एक भी चलने नहीं देता। जिसकी इसे रुचि है, वह पदार्थ वह ग्रहण ही नहीं करता, कुछ और ही जो इसे नहीं रुचता, ग्रहण कर लेता है। स्वादिष्ट पदार्थ अव्वल तो लेता ही नहीं, और कदाचित् मिल भी जावे तो अपने उपयोग में मग्न, वह उस ओर लक्ष्य ही नहीं करता; उसे यह भी

पता नहीं लगता कि क्या खाया है। जैसे कि अपना शास्त्र लिखने की धुन में पं० टोडर मलजी बराबर छः महीने तक अलोना भोजन करते रहे, पर यह भी पता न चला कि अलोना खाया कि सलोना। माता उसका दृढ़ उपयोग देख कर चकित रह गई और पंडित जी को उस समय तक उस अलोने पने का भान न हुआ, जब तक कि छः महीने पश्चात् उनका शास्त्र पूर्ण न हो गया। वह योगी इस जिह्वा को काबू में रखने के लिये इसे रूखा ही भोजन देता है, पौष्टिक नहीं देता। इस प्रकार जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद को तो जिसने पूर्णतया जीत लिया है, ऐसा वह महाभाग्य यमी आज पूर्ण इन्द्रिय विजयी बना हुआ, सिंह की भांति अपना पराक्रम दिखा रहा है, धन्य है उसका बल।

३ पंच महाव्रत इन्द्रिय संयम के अतिरिक्त पूर्व में धारे गये प्राण संयम के अन्तर्गत १२९६० विकल्पों का पूर्णतया त्याग करके, अर्थात् जो कुछ भी उनमें कमी रह गई थी, उसको भी दूर करके, वह आज पूर्ण रूपेण प्राण संयमी है। मनुष्य से लेकर चींटी पर्यन्त चलने फिरने वाले जीवों की तो बात ही क्या, वह आज पंखा झलना भी पाप समझता है क्योंकि इससे वायुकाय के जीवों को बाधा होती है। घास का छोटा सा तिनका तोड़ना तक स्वीकार नहीं। क्योंकि इससे बनस्पति काय का जीव पीड़ित होता है। क्या बतायें उसकी दयालुता, आज पृथ्वी व जल तक की बाधा को वह सहन नहीं कर सकता, और इसीलिये कदापि जल में गमन नहीं करता व आवश्कता पड़ने पर पृथ्वी को भी खोदता नहीं। धन्य है उसकी आदर्श करुणा, आदर्श अहिंसा।

आज वचन पर पूर्ण काबू पा चुका है वह, भूल कर भी किसी छोटे या बड़े जीव के प्रति उसके मुख से कभी अहितकारी या कटु वचन नहीं निकलता। अव्वल तो उसको किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं, एक तिनका मात्र भी ग्रहण करने का अवसर उसके जीवन में आता नहीं। हां इस शरीर को संयम के साधनार्थ कायम रखने के लिये कदाचित् भोजन की आवश्कता पड़ती है, सो भी गृहस्थ के द्वारा भक्ति व बहुमान पूर्वक दिया हुआ ग्रहण करता है अन्यथा नहीं भले ही तीन महीने का उपवास हो। वृक्षों पर से फल फूल स्वयं तोड़कर खाने का तो प्रश्न ही नहीं; सामने थाली पुरसी रखी हो और कोई देने वाला न हो तो भी उसे कभी छूए नहीं। स्त्री का तो पहले ही पूर्णतया त्याग कर दिया था, नेत्र इन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय व उपस्थेन्द्रिय के विजेता उस महा सुभट में, अब उसका विचार भी आने को अवकाश नहीं, इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचारी है। घर बार, राज पाट, स्त्री पुत्र, धन धान्यादि की तो बात नहीं, निर्भीक वृत्ति धारण की है जिसने, ऐसा योगी वस्त्र के ताने मात्र का भी त्याग करके यथाजात नग्न रूप में विचरण करता है और इस प्रकार परिग्रह असयम के अंकुर को भी समूल उखाड़ फेंका है-उसने। पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य, व पूर्ण परिग्रह-त्याग व्रतों को जीवन पर्यन्त के लिये धारण करने वाला वह महायमी पञ्च महाव्रती है।

४ पंच समिति व्रतों की यहां ही पूर्णता हो गई हो ऐसा नहीं, अत्यन्त सूक्ष्मता में उतर कर देखने वाले वे योगी इतना नहीं भूले कि उनके साथ एक बला लगी हुई है-शरीर, जिसके कारण उनको आहार करना पड़ता है, तथा इस अपराध के फल स्वरूप शौचादि का दण्ड भी भोगना पड़ता है। इन दोनों कार्यों के निमित्त इस भार को साथ उठाये फिरना पड़ता है तथा कुछ बोलना पड़ता है।

इनके इन अपराधों से अपनी रक्षा करने के लिये जो यह पीछी, कमण्डल व शास्त्र तीन वस्तुयें रह गई हैं-उनके पास, इन्हें उठाना रखना भी पड़ता है। इन सब कार्यों में किसी न किसी रूप में प्राणियों को बाधा हो जाने की सम्भावना है। अतः प्राण संयम के अन्तर्गत उपरोक्त पांच महाव्रतों की रक्षा करने के लिये वे सर्व क्रियाओं में अत्यन्त सावधानी से वर्तते हैं और इनकी दृढ़ता के अर्थ जन्म पर्यन्त के लिये पांच समितियों के पालन की प्रतिज्ञा लेते हैं। १. चार हाथ आगे देख कर छोटे २ जीव जन्तुओं को बचाता हुआ ही गमन करूंगा। २. कभी भी मुख से अनिष्ट व कटु वचन न निकल जाये, इसलिये वचन तोल कर ही बोलूंगा। ३. भोजन को खूब परीक्षा करके ग्रहण करूंगा, क्योंकि हो सकता है कि उसमें कोई छोटा जीव गिर कर अपने प्राण खो बैठा हो,या उसके बनने में किन्हीं जीवों कोबाधा हुई हो। ४. पीछी, कमण्डल व पुस्तकों को तथा इस शरीर को स्थान शोध कर ही उठाऊं या धरूंगा कहीं ऐसा न हो कि वहां पर पहले से बैठा कोई प्राणी इनसे दब जाने के कारण पीड़ित हो जाये। ५. मल मूत्र को भी स्थान शोध कर ही क्षेपण करूंगा। अन्य भी अनेकों प्रकार से व्रतों की रक्षा के लिये हर समय कटि बद्ध रहूंगा। ये पांच प्रतिज्ञायें पांच समिति कहलाती हैं।

५ सप्त शारीरिक क्रियायें

इतना ही नहीं इस शरीर के कारण होने वाले दोषों को पूर्णतया जीतने के लिये वह इस पर बराबर दृष्टि रखते हैं कि कहीं उच्छृंखल न होने पावे। इसलिये इसके प्रति राग न करते हुए कभी स्नान नहीं करते, कभी दांतों को नहीं धोते। यह बातें जो लोक में निन्दनीय समझी जाती हैं, उनके लिये प्रशंसनीय हैं, जो हमारे लिये दोष हैं वह उनके लिये गुण हैं। वह पूर्ण वीतरागी हैं और हम रागी, इसीसे उनकी भावना को पहुँच नहीं पाते, वे अज्ञानी इन बातों के कारण उस योगी की निन्दा करने लगते हैं—यह महा मलीन व्यक्ति कहीं मुझ से छू न जायें, ऐसा अभिप्राय रखते हैं। परन्तु हे जिज्ञासु परम पवित्र उनकी आन्तरिक भावना को पहिचानो। वह अपने कर्तव्य को शान्ति की तुला में तोलते हैं, शरीर के सौन्दर्य की तुला में नहीं। शरीर का काम करने जाते हैं तो अपना काम छोड़ना पड़ता है अर्थात् राग करना पड़ता है, जिसके लिये वह किसी कीमत पर भी तैयार नहीं। यही वो मल थे जिनके कारण शरीर के प्रति का राग रोका जा सकता था, सो पूर्णतया रोक दिया।

भोजन के प्रति का राग तोड़ते हुए इसे एक दिन में एक ही बार भोजन देते हैं और वह भी खड़े खड़े तथा बर्तनों में नहीं हाथ में ही रखवा कर, क्योंकि बर्तनों में परोसे गये भोजन को खाने में रुचि अनुसार किसी पदार्थ को पहले, किसी अन्य योग्य पदार्थ के साथ मिला कर, तथा दूसरे पदार्थ को पीछे, इस प्रकार क्रम की सम्भावना है, जिससे जिह्वा सम्भवतः पुष्टि पा जाये। परन्तु अपनी रुचि से निरपेक्ष, दातार द्वारा अपनी मर्जी से मिला जुला कर हाथ में दिये गये भोजन को, एकमेक करके गले के नीचे उतार लेने में वैसे क्रम की सम्भावना नहीं है। बैठ कर खाने में भी आराम के साथ खाया जाने के कारण स्वाद के प्रति दृष्टि जानी सम्भव थी, तथा स्वाद ले लेकर अधिक देर तक खाते रहना सम्भव था, पर खड़े रह कर खाने में तो दण्ड सरीखा पूरा करना है, इसलिये स्वाद से निरपेक्षता बनी रहती है। अथवा खड़े रह कर खाने से जंघा शक्ति की परीक्षा भी साथ २ हो जाती है, और यह भी पता चल जाता है कि अब यह शरीर जवाब देने वाला है। अतः इससे पहिले कि यह

जवाब दे, योगी स्वयं सावधान होकर इसे जवाब दे देते हैं, अर्थात् जंघा बल को घटी हुई देख कर वह समाधिमरण धर लेते हैं जिसका कथन आगे आयेगा। (देखो अधिकार नं० ५२)।

मन व बुद्धि से सब काम होते हैं, ये दोनों शरीर के आश्रय से काम करते हैं। यदि शरीर स्वस्थ है तो मन बुद्धि भी स्वस्थ रहते हैं यदि चौबीसों घण्टे शरीर काम करता रहे तो स्वस्थ नहीं रहता फिर मन व बुद्धि भी स्वस्थ नहीं रह सकते, अतः कुछ देर सो कर इसे आराम देना आवश्यक हो जाता है। योगी के लिये यह भी एक दण्ड है क्योंकि उसे निज कार्यों में रुकना पड़ता है अतः वे सोते समय भी अत्यन्त सावधान रहते हैं। बराबर करवट बदलते रहने में रात के समय चल कर आये या उस स्थान पर बैठे अनेकों जीव करवट के नीचे आ कर मर सकते हैं, जिससे कि प्राण संयम में दोष लगता है अतः संयम की रक्षार्थ तथा आराम से सोने में कहीं वह योगी अधिक देर तक अचेत न रहने पावें इसलिये एक करवट ही सोते हैं। लेटने के पश्चात् करवट नहीं बदलते, तथा निरन्तर अधिक समय तक न सो कर, बीच बीच में जाग २ कर अपना काम बराबर करते रहते हैं, कभी आध या पौन घण्टे से अधिक एक बार नहीं सोते। इतना ही नहीं, इस शरीर की सहन शीलता के लिये प्रति दूसरे, तीसरे या चौथे मास सिर मूंछ व दाढ़ी के बालों को अपने हाथों से उखाड़ कर फेंक देते हैं, अर्थात् केश-लुंचन करते हैं। शरीर से उदासीन व निरपेक्ष बने रहने के लिये, जीवन पर्यन्त इन सात क्रियाओं को इस रूप में करने की प्रतिज्ञा लेते हैं। धन्य है उनकी शरीर से निरपेक्षता व साहस।

६ षट् आवश्यक यह तो सब शरीर व इन्द्रिय को वश में करने की बात हुई परन्तु मन के प्रति भी वह असावधान नहीं हैं। उसे जीतने के लिये अर्थात् उसे जहां तक हो सके अधिकाधिक समय के लिये शान्ति में तल्लीन रखने का प्रयास करते रहते हैं। इसलिये निश्चित रूप से दिन में तीन बार सामायिक करते हैं, रात को बीच बीच में जाग कर समता भाव जागृत रखने का विचार करते हैं। दिन में तीन अवसरों के अतिरिक्त भी अनेकों बार उसी प्रकार के विचार करते रहते हैं, यहां तक कि चलते२ व भोजन करते हुए भी अनेकों बार शान्ति में तन्मय हो जाते हैं। जीवन की अन्य प्रवृत्तियों में भी वन्दक व निन्दक आदि इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में राग द्वेष न करके साम्यता को ही धारण किये रहते हैं, शान्ति को भङ्ग नहीं होने देते।

इस शान्ति में लगने वाले दोषों के लिये अर्थात् कदाचित् राग आ जाये तो उसके लिये,सदा आत्म ग्लानि पूर्वक अपनी निन्दा करते हैं। शान्ति के आदर्श प्रभु को, दिन में तीन बार नियम से तथा अन्य भी अनेकों बार शान्त रस में तल्लीनता रहने के लिये स्तुति व वन्दना करते रहते हैं। बाहर में दीखने वाले स्थूल दोष तो उन्हें प्रायः लगते ही नहीं, हां कदाचित् अन्तरंग में रागादि के कारण कोई सूक्ष्म दोष लग जावे, तो उस पर मन में खेद प्रगट करते हैं। तथा विचार में आगे को उनके प्रति सावधानी रखने की प्रतिज्ञा करते हैं, अर्थात् प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करते हैं। शेष समय जो बचे उस में शान्ति का उपदेश देकर या सुनकर या पढ़कर स्वाध्याय करते हैं। इन छः आवश्यक क्रियाओं में सदा तत्पर रहते हैं जो कि उन्हें पर वश होने से बचाती हैं अर्थात् उसमें राग आने के लिये अवकाश ही आने नहीं देतीं।

इस प्रकार पंच महाव्रत, पांच समिति, पंचेन्द्रिय जय, षट् आवश्यक आन्तरिक क्रियायें और सप्त शारीरिक क्रियायें करते हुए, वह इन अठाईस महान गुणों के धारी, महाभाग्य यमी, बराबर अपने मार्ग पर निर्भीक वृत्ति से, सिंह वृत्ति से बढ़ते जाते हैं, और एक दिन वास्तव में यमराज बन जाते हैं। गृहस्थ के योग्य इसी जाति की यथा योग्य क्रियाओं का वर्णन तत्सम्बन्धी संयम के प्रकरण में आ चुका है। मुझे भी यमराज बनने के लिये यम रूप से न सही, नियम रूप से उस संयम की शरण अवश्य लेनी चाहिये।

उत्तम संयम व तप के योगेश्वर जिनके आगे बड़े २ मुकुटधारी राजा नत मस्तक होकर अपने को धन्य मानते हैं।

४०

❀ उत्तम तप ❀

मुजफ्फरनगर—दिनांक २२ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ७८

१—तप में दु:ख नहीं होता, २—तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद, ३—तप से शरीर की सार्थकता, ४—किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है, ५—अनशन, ६—अवमौदर्य, ७—वृत्ति परिसंख्यान, ८—रस परित्याग, ९—विविक्त शय्यासन, १०—कायक्लेश, ११—छ: अन्तरंग तप।

१ तप में दुख नहीं होता

आज तप धर्म का प्रकरण चलता है, तप शब्द सुन कर ही कुछ भय सा लगता है। 'मुझे तप करना पड़ेगा', यह बात सुनना भी मैं सहन नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ ऐसा विश्वास है, कि तप करने में बड़ी भारी पीड़ा होती होगी, बड़ी वेदना होती होगी। धूप में खड़े होकर आतापन योग करने वाले योगियों की अथवा महीनों के उपवासों द्वारा शरीर को कृश करने वाले योगियों की दशा को देख कर मानों मेरा हृदय कांप उठता है, और पुकार उठता है कि बड़ा कठिन है यह मार्ग असिधारा के समान है; मुझसे न चलेगा। इस प्रकार घबरा कर इस दिशा की ओर लखाने का भी साहस नहीं होता। अथवा ऐसा विचार आने लगता है कि क्या लाभ है, इस प्रकार के कठिन तपश्चरण से ? शरीर को जलाने व सोखने में कौन सा धर्म है ? पीड़ाओं का सहना क्या कोई अच्छी बात है ? और एक प्रकार की घृणा होने लगती है तप से।

परन्तु भूलता है प्रभु ! वास्तव में ऐसी बात है ही नहीं। तप में पीड़ा होती ही नहीं, इसमें है शान्ति, आल्हाद और उल्लास। पहले कहे अनुसार, तप में भी दो क्रियायें बराबर चलती हैं—एक अन्तरंग क्रिया और दूसरी बाह्य क्रिया। अन्तरंग क्रिया है अपने उपयोग का शान्ति के प्रति झुकाव शान्ति में प्रतपन, इच्छाओं व विकल्पों का दमन, चिन्ताओं से मुक्ति और बाह्य क्रिया है शारीरिक पीड़ा का सहना। तेरे उपरोक्त भय का कारण यही है कि तूने केवल बाह्य क्रिया देखी है अन्तरंग नहीं। वास्तव में उपयोगात्मक अन्तरंग क्रिया के बिना बाह्य क्रिया निरर्थक हुआ करती है। यदि तूने अन्तरंग क्रिया को लक्ष्य किया होता, तो यह शङ्का ही न उठती कि तप में पीड़ा होती है। कारण कि पीड़ा को अनुभव करने वाला उपयोग ही तो है और उपयोग एक समय में दो दिशाओं में काम नहीं कर सकता। इसलिये यदि उपयोग अन्तरंग शान्ति में केन्द्रित कर दिया जाये, तो बताओ पीड़ा का अनुभव कौन करेगा, और पीड़ा किसे होगी ?

सुख दशा में उपयोग को किसी दिशा विशेष में केन्द्रित कर देने पर तो आपको किसी भी दूसरी घटना का ज्ञान होने नहीं पाता। जैसे यहां प्रवचन सुनते हुए, यहाँ पर टंगा यह क्लाक कब टन टन कर जाता है, आपको पता भी लगने नहीं पाता। परन्तु शरीर में पीड़ा होने पर भी यदि इसे किसी एक दिशा में केन्द्रित कर दिया जाये तो पीड़ा का वेदन नहीं होता। जैसे बुखार हो जाने पर यदि रेडियो सुनने में उपयोग लगा दें, तो बुखार का पता नहीं चलता। जिस प्रकार कि अपने शत्रु दल को पीछे धकेलने में तत्पर बराबर उसकी क्षति करने वाला योद्धा, रणक्षेत्र में कदाचित् अपने शरीर में लगे घाव की पीड़ा का वेदन नहीं कर पाता, उसी प्रकार शान्ति के अल्हाद में केन्द्रित कर दिया है उपयोग जिसने, तथा बराबर संस्कारों की क्षति करने वाले योगी को बाहर की शारीरिक बाधाओं का पता भी नहीं चलता, मानों कुछ हो ही नहीं रहा हो।

१ तप का प्रयोजन पीड़ा वेदन के संस्कार का विच्छेद

तप का प्रयोजन, जैसा कि पहले गृहस्थ सम्बन्धी तप के प्रकरण में बताया जा चुका है-संस्कारों का विच्छेद करना है। संस्कार दो प्रकार के हैं-एक वे जो अन्तरंग में इच्छायें व अभिलाषायें उत्पन्न करके मेरी शान्ति का घात करते हैं और दूसरे वे जो शरीर में पीड़ा हो जाने पर मुझे शान्ति में स्थिति पाने नहीं देते। गृहस्थ की निर्बल दशा में दूसरी जाति के संस्कारों के विरुद्ध युद्ध ठाना जाना असम्भव था। अतः पहली जाति के संस्कारों से युद्ध ठान कर, अभिलाषाओं व अन्तरंग विकल्पों को उत्पन्न करने वाले संस्कारों का विच्छेद करने रूप तप का ही मुख्यता से, पहले के निर्जरा प्रकरण में कथन आया है। अब यहां दूसरी जाति के संस्कारों के विच्छेद करने रूप तप को कहा जायेगा, जिसे प्रधानतया योगी जन ही करते हैं, क्योंकि निचली दशा से शक्ति बढ़ाते बढ़ाते अब यह इतने बलवान हो गये हैं, कि बड़ी से बड़ी शारीरिक पीड़ा के प्रति भी युद्ध ठान कर उसे जीत सकते हैं।

इन संस्कारों को जीतने के लिए वह जान बूझ कर पीड़ाओं को निमन्त्रण देते हैं। अर्थात् जान बूझ कर ऐसा वातावरण बना लेते हैं, या ऐसे वातावरण में चले जाते हैं, जहां कि शरीर को पीड़ा हो, मानों कि शत्रुओं को ललकार कर आज वह उनके साथ युद्ध करने को उद्यत हुए हैं। अपने अन्दर जिस जाति की कमी या निर्बलता देखते हैं उसी जाति की पीड़ा को सहन कर 'शान्ति का विच्छेद न हो, विकल्प न उठे, विह्वलता न आए,' ऐसा प्रयास करते हैं। उससे उत्पन्न होता है एक उल्लास व उत्साह और उससे मिलती है शक्ति। वह कैसे सो सुनिये।

दृष्टान्त लीजिये—आपको उपवास करते डर लगता है, मेरे कहने से आज एकाशना कर लिया कोई विशेष बाधा न हुई, साहस बढ़ा। 'अरे कुछ विशेष बाधा तो हुई नहीं, अब की चतुर्दशी को उपवास करूंगा, ऐसी धारणा बना कर उपवास कर लिया। कुछ थोड़ी सी पीड़ा अवश्य हुई, पर किसी प्रकार निकल ही गई। अगली चतुर्दशी आई, 'अरे पहली बार भी तो कर लिया था, कोई विशेष पीड़ा नहीं हुई थी, अब की बार भी करले, और पुनः धार लिया उपवास। पीड़ा हुई पर पहले से कम, अब की बार उसे गिना ही नहीं, साहस और बढ़ गया। अगली बार और उत्साह से और उससे अगली बार और अधिक उत्साह से करता गया ; एक दिन बाधा सर्वथा विलीन हो गईऔर टूट गया पीड़ा वेदन का संस्कार। इस प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर हमने देखा कि आगे आगे के अवसरों में

संशय कम होता गया और बल बढ़ता गया। बस बल की इस वृद्धि का नाम ही तप है। इसके पूर्ण बढ़ जाने पर तीन लोक की बड़े से बड़ी बाधा भी पीड़ा का वेदन कराने में समर्थ न हो सकेगी। उस समय कह सकेंगे कि संस्कारों का पूर्णतया विनाश हो गया है, अर्थात् निर्जरा हो गई है। संस्कारों का मूल नाश हो जाने पर विकल्पों को उत्पन्न होने के लिये प्रेरणा कौन दे? और विकल्पों के अभाव में शान्ति ही शान्ति, लक्ष्य बिन्दु की पूर्ण प्राप्ति। बस यही तो चाहिये, यह है तप का प्रयोजन व उस का लाभ।

३ तप से शरीर की सार्थकता है

शरीर भले ही तपश्चरण के द्वारा क्षीण होता जाये, पर योगीजन को इसकी क्या परवाह। आप कारखाना लगाते हैं, उसमें मशीनें फिट करते हैं, तो किस लिये? "यदि मशीन को चलाया तो घिस जायेंगी", क्या ऐसा अभिप्राय रख कर माल बनाना बन्द कर देते हो? घिसे तो घिसे, टूटे तो टूटे, माल तो बनना ही है, नहीं तो मशीनें हैं किस लिये? टूट जायेंगी तो मुरम्मत कर लेंगे, अधिक घिस जाने पर मुरम्मत योग्य नहीं रहेंगी तो बदल कर और नई लगा लेंगे। यही तो अभिप्राय रहता है या कुछ और? बस तो शरीर के प्रति योगी का भी यही अभिप्राय है। आप तो इसे मशीन न समझ कर इसे "मैं" रूप में ही मानते हैं, इसीलिये इसके घिसने या टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से डरते हैं। पर योगी इसे मशीन समझते हैं। जिसे उन्होंने शान्ति रूपी माल तैयार करने के लिये लगाया है। अतः वे इसके घिसने व टूटने अर्थात् रोग व मृत्यु से नहीं डरते, यह घिसे अर्थात् क्षीण हो तो हो, टूट जायें तो टूट जाओ। यह है ही किस लिये? जब तक मरम्मत के योग्य है, अर्थात् शान्ति के काम में कुछ सहायता के योग्य है, तब तक इसकी मरम्मत करके इसे भोजनादि आवश्यक पदार्थ दे देकर इससे अधिक से अधिक काम लेना। जिस दिन मरम्मत योग्य न रहेगा अर्थात् बुढ़ापे से अत्यन्त जर्जरित हो जायेगा, उस दिन इसे छोड़ देना, अर्थात् समाधिमरण धर लेना। (देखो अधिकार ४२) और नया शरीर मिल जायेगा, फिर उससे पुनः वही शान्ति का माल तैयार करने का धन्धा करना, कारखाना बन्द न होने देना। यह है योगी का तप से प्रयोजन, शरीर होने का यथार्थ फल।

४ किसी दिशा में भी तप को लागू किया जाना सम्भव है

बस इस प्रकार का अभिप्राय धार कर वह योगी अब स्थिरता का चारजामा कस, तप के हथियार सजा, निकल आता है युद्धस्थल में और ललकारता है एक एक शारीरिक पीड़ा को-जान बूझ कर उत्पन्न करता है उन्हें, जान बूझ कर प्रवेश करता है उनमें। और तो सर्व आवश्यकतायें व इच्छायें पहले ही त्याग चुका है, केवल एक आवश्यकता शेष रह गई है और वह है भोजन सम्बन्धी। इसलिये उनके सर्व ही संस्कार आज एकत्रित होकर इस ही दिशा में तो अपना बल दिखा सकते हैं और वह योगी भी इसी के आधार पर ही तो सर्व अभिलाषाओं के संस्कार विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ कर सकता है। अतः भोजन की मुख्यता से इन तपों का वर्णन किया जायेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि यह भोजन सम्बन्धी अभिलाषाओं पर ही लागू होने वाले हैं? नहीं प्रत्येक अभिलाषा पर यथायोग्य रूप से लागू किये जा सकते हैं। हमारी तो आवश्यकताओं की शाखायें बहुत हैं, किसी शाखा पर भी लागू करके हम उस जाति के संस्कार का विच्छेद कर सकते हैं। जैसे कि 'योगी का आहार छोड़ कर उपवास करना,' और इसी प्रकार आप यदि कर सकें तो 'एक दिन या कुछ महीनों के लिये अपना धनोपार्जन छोड़ कर लोभ की

इच्छा का त्याग रूप उपवास करना', एक ही तो बात है—पहले से छूटती है भोजन की अभिलाषा, और दूसरे से छूटती है धन की अभिलाषा। इस प्रकार किसी भी दिशा में लागू किये जा सकते हैं तप के भेद।

५ अनशन भोजन ग्रहण की अभिलाषा सम्बन्धी संस्कार को वे योगी जन, एक दिन, दो दिन, दस दिन महीना तक के उपवास धारण करके तोड़ डालते हैं,(ऊंची अर्थात् वज्रवृषभनाराच संहनन के शरीरधारी योगी वर्ष भर तक का उपवास कर सकते हैं) अर्थात् उपवास के दिनों में जल की एक बूंद भी ग्रहण नही करते, और बराबर शान्ति में स्थिर बने रहते हैं। उपवास नाम भोजन मात्र के त्याग का नहीं है बल्कि 'उप' अर्थात् निकट में 'वास', अर्थात् वास करने का नाम अर्थात् अपनी आत्मा अथवा शान्ति के निकट में वास करने का नाम उपवास है। भोजन छोड़ कर व्याकुलता हो जाये, और दिन बीतने की प्रतीक्षा करने लगे कि कब दूसरा दिन आये और मुझे भोजन मिले, तो उसे उपवास नहीं कहते। अतः योगी जन उपवास के समय तक भोजन पान न मिलने पर शान्ति से च्युत नहीं होते और इस प्रकार तोड़ डालते हैं क्षुधा से पीड़ित हो जाने के संस्कार को। क्षुधा हो तो हो पर वह अपने बल के आधार पर उसे गिनते ही नहीं, अर्थात् उपयोग के शान्ति में स्थिर रहने के कारण उस ओर देखते ही नहीं। यह है तप का पहला भेद।

६ अवमोदर्य दूसरा संस्कार है—पूरी वस्तु मिलने पर कारण वश पूरी का ग्रहण न कर सके, थोड़ी का ग्रहण करके ही, शेष के छूट जाने पर पीड़ित कर देने वाला संस्कार। जैसे कि दुकान बिल्कुल न खोलना तो आप कदाचित् स्वीकार कर लें, परन्तु किसी ग्राहक को आधा सौदा देकर, दुकान में होते हुए भी शेष आधा सौदा, जिसमें साक्षात् लाभ होने वाला है, कारण वश बेचने से इन्कार करना पड़े। बिल्कुल न बेचने से आधा बेचना अखरता है। इसी प्रकार बिल्कुल न खाने से अल्प मात्र ही खाकर छोड़ देना कठिन है। योगी जन इस संस्कार का मूलोच्छेद करते हैं, पहले आधे पेट भोजन ग्रहण कर के, फिर क्रम से एक एक ग्रास कम करते हुए, केवल एक ग्रास मात्र में सन्तोष धारण करके और फिर आगे भी उस ग्रास को कम करते २ केवल एक चावल मात्र का ग्रहण करके। अत्यन्त अल्प भोजन या एक चावल, वह इसलिए नहीं लेते कि क्षुधा में कोई अन्तर डाल देगा, बल्कि इसलिए लेते हैं कि क्षुधा के साथ साथ वह अल्प ग्रहण में पीड़ा सम्बन्धी संस्कार टूट जाये। इस तप के द्वारा युगपत दो संस्कार जीते जा रहे हैं—एक क्षुधा और दूसरा इच्छा पूर्वक अल्प ग्रहण करके पीड़ा अनुभव न करना।

७ वृत्ति परिसंख्यान तीसरा संस्कार है—किसी वस्तु की प्राप्ति वा अप्राप्ति के सम्बन्ध में भले उस समय तक साम्यता बनी रहे, जब तक कि उसकी प्राप्ति कि आशा नहीं हो जाती। परन्तु प्राप्ति की आशा हो जाने पर ग्रहण न कर सके और साम्यता बनी रहे, यह बहुत कठिन है। इस संस्कार को वह योगी तोड़ता है-कुछ अटपटी आखड़ियां लेकर, निज स्थान से भोजन के लिये चलते समय अपने मन में ही, कुछ अटपटी सी बात विचार लेते हैं, जिसका पूरा होना बहुत कठिन हो और उसे अपने मन में ही रख लेते हैं। स्पष्ट रूप से, या किसी अन्य बहाने से, वचन के द्वारा, या किसी शारीरिक संकेत के द्वारा, या किसी भी अन्य क्रिया के द्वारा अपने उस अभिप्राय को किसी पर भी, यहाँ तक कि अपने शिष्य पर भी प्रगट नहीं करते। वह अभिप्राय अकस्मात ही काकतालीय न्याय वत् पूरा हो जाये तो

आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं। जैसे कि 'आज सर्प मिलेगा तो आहार ग्रहण करेंगे नहीं तो नहीं।' अब किसी को क्या पता कि इनके मन में क्या है। श्रावक लोगों को अपने अपने द्वार पर प्रतिग्रह (स्वागत) के लिये खड़ा देखते हैं, पर मौन पूर्वक अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते न देख कर-लौट आते हैं-बिना आहार लिये, जब कि सब की भावना यह थी की किसी प्रकार यह मेरे घर आहार कर लें तो मेरा जीवन सफल हो जाये। वे बेचारें कुछ नहीं जान पाते कि योगी क्यों लौट गये हैं। इस प्रकार बराबर महीनों तक नगर में अहारार्थ आते हैं और लौट जाते हैं, न प्रतिज्ञा पूरी होती है न वह आहार लेते हैं, किसी को क्या पता कि क्या प्रतिज्ञा की है- इस योगी ने। पता हो तो एक सपेरे को ही ला बिठायें अपने घर के सामने। योगी अपनी साम्यता की परीक्षा करता रहता है, कि प्रतिज्ञा पूरी न होने पर उसे कुछ विकल्प तो नहीं आ रहा है। यदि आते हैं तो कड़ी आलोचना द्वारा उन्हें दबाते हैं। 'मिले तो अच्छा न मिले तो अच्छा, दोनों ही बराबर हैं', ऐसे अभिप्राय पर बराबर दृढ़ बने रहते हैं और इस प्रकार क्षुधा के साथ साथ इस तीसरे संस्कार को भी तोड़ डालते हैं। यह है तप का तीसरा भेद।

८ रस परित्याग भोजन के विकल्प सम्बन्धी एक चौथा संस्कार भी है-और वह है स्वाद की ओर का झुकाव। भोजन करते समय क्षुधा निवृत्ति का प्रयोजन तो प्रायः याद भी नहीं रहता, केवल स्वाद लेने मात्र की ओर ही लक्ष्य चला जाता है और खाने लगता है-उस भोजन को-खूब स्वाद ले लेकर। स्वाद लगे तो हर्ष न स्वाद लगे तो विषाद। इस दुष्ट संस्कार के प्रति वह ज्ञानी बड़े सावधान रहते हैं, आज से ही नहीं, गृहस्थ दशा में पहले पग से ही, वह इस प्रबल संस्कार के साथ लड़ते चले आ रहे हैं। अनेकों बार पहले भी इसके सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है, परन्तु इस योगी ने इसे निर्मूलन करने का दृढ़ संकल्प किया है। स्वाद की मुख्यता मनुष्य के भोजन में छः पदार्थों से बन जाती है इन्हें रस भी कहते हैं—नमक, मीठा या शक्कर, घी, तेल, दूध, दही। यह छः रस ही भोजन को स्वादिष्ट बनाया करते हैं। इनमें से कोई एक न हो तो स्वाद ठीक नहीं बैठता। और दो तीन आदि यहां तक कि छहों से रहित भोजन तो घास के समान लगने लगता है। बस योगी महीनों व वर्षों के लिये इस में से किसी एक या दो या छहों का त्याग करके, जब कभी आहार लेने की आवश्यकता पड़े तब घास वत् ही भोजन करके इस खड्डे को पूरा कर लेते हैं और इस प्रकार रस सम्बन्धी इस संस्कार को भी जीत लेते हैं।

इस रस परित्याग का ऐसा विकृत रूप नहीं है जैसा कि आज देखने में आता है। एक रस को छोड़ कर अन्य रस में अधिकता कर देने से वह रस जीता नहीं जा सकता। जैसे नमक के त्याग में तो मीठे पदार्थों का भोजन कर लेना, और मीठे के त्याग में नमकीन पदार्थों का, अथवा शक्कर के मीठे के त्याग में मुनक्का का मीठा बना कर प्रयोजन सिद्ध कर लेना, और दूध के त्याग में बदामों का दूध बना कर। इस प्रकार एक पदार्थ की बजाये, दूसरे पदार्थ का ग्रहण रस त्याग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीरस में जो अरुचि है उसका परित्याग नहीं किया जा सका है, भोजन को जिस किस प्रकार भी रसीला बनाने का प्रयोजन ही रहा। अतः रस परित्याग उसे कहते हैं कि नमक के त्याग में अलोना ही खाये, और मीठे के त्याग में मुनक्का आदि का प्रयोग न करें, दूध भी फीका ही पीले, इत्यादि। सच्चे योगी कृत्रिमता नहीं किया करते, उनका त्याग या तप दूसरों को दिखाने के

लिये नहीं, अपने हित के अर्थ तथा अपने संस्कारों को तोड़ने के अर्थ होता है। यह है भोजन सम्बन्धी चौथा तप।

यद्यपि उपरोक्त तपों का वर्णन योगीयों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से दर्शाया गया है, परन्तु इससे यह अर्थ न लेना, कि योगी लोग इतने उत्कृष्ट प्रकार के ही तप धारण करते हैं। जैसे गृहस्थ दशा में शक्ति की अपेक्षा रखते हुए धीरे धीरे बढ़ना होता है, परन्तु अभिप्राय में उत्कृष्टता रहती है; वैसे ही यहां भी शक्ति की अपेक्षा रखते हुए ही धीरे धीरे बढ़ना होता है, परन्तु अभिप्राय में उत्कृष्टता रहती है। योगी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में इन तपों को जघन्य रूप से ही पालता है और गृहस्थ भी यदि चाहे तो अपनी शक्ति अनुसार इनको पालने का अभ्यास करे तो शान्ति प्राप्ति के इच्छुक को लाभ ही होगा।

मुजफ्फरनगर दिनांक २३ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ९७

सर्व बाह्य व अन्तरङ्ग संग से विमुक्त हे एकान्त वासी गुरु देव ! मुझको भी विकल्पों से विमुक्त करके निज एकान्त शान्ति का आवास प्रदान कीजिये। तप के प्रकरण में भोजन सम्बन्धी चार संस्कारों को तोड़ने के लिये चार तपों की बात चल चुकी। इतने पर ही संस्कारों का अन्त नहीं हो जाता, उनकी बड़ी सेना अनेक भागों मे विभाजित है। एक रण कुशल सैनिक वत् यह योगीराज किसी से भी गाफिल नहीं है, इन्होंने एक सच्चे क्षत्रिय की भांति सारी बाधाओं को ललकारा है, आमने सामने युद्ध करने को वह सीना तान खड़े हैं। आह हा ! कितना सुन्दर भास रहा है आज-उनका रूप अनेकों जाति के तप रूपी हथियार सजाये, ध्यान का कवच पहने, शान्ति के घोड़े पर सवार, आज मानों साक्षात् यमराज ही बन कर निकले हैं,

९ विविक्त शय्यासन जन सम्पर्क में आकर, अनेकों इधर उधर की व्यर्थ बातों में, देशों के परस्पर युद्ध व नवीन २ वैज्ञानिक खोजों के समाचार सुनने में, या चोरों व अपराधियों की कथायें सुनने में, या स्त्रियों की सुन्दरता आदि की चर्चा सुनने में, किसी की निन्दा सुनने में, इन अनेक प्रकार की कथाओं या चर्चा की ओर क्यों मेरा चित्त आकर्षित होता है ? अकेला अधिक देर तक बैठा रहने में क्यों अट-पटा सा लगने लगता है ? यह कुछ ऐसा संस्कार है जिसको तोड़े बिना अबाधित शांति को बनाये रखना असम्भव है। योगी जन इस संस्कार को तोड़ने के लिए जन सम्पर्क से बचते हैं, और एकान्त में वास करते हैं। किन्हीं गहन वनों में, पाहड़ की कन्दराओं में, वृक्ष की कोटरों में, किसी सूने घर में या खण्डहरों में वास करते हैं, ताकि कोई उनके पास आने न पाये। उन्हें यह पता है कि शान्ति मार्ग से अपरिचित बेचारे लौकिक जन के पास, यह उपरोक्त बातें करने के सिवाय और है ही क्या ? व्यर्थ समय गंवाना है उनके साथ बातें करके तथा अनेकों विकल्प खड़े हो जाते हैं उनकी बातें सुन कर। विकल्पों से बचने के लिये तो घर छोड़ा और फिर वही विकल्प यहां इस दूसरे मार्ग से प्रवेश करने लगे। योगी जन कैसे सहन कर सकते हैं, इस अपनी महान हानि को ?

१० कायक्लेश इनके अतिरिक्त और भी एक संस्कार है यह कि क्षुधा, तृषा, सम्बन्धी शरीर के अन्दर की बाधा के अतिरिक्त शरीर पर बाहर से आघात करने वाली भी अनेकों बाधायें हैं जैसे गरमी

की बाधा, सर्दी की बाधा, बरसात की बाधा, डांस, मच्छर, मक्खी, भिड़, ततैये की बाधा, तथा सिंहादि क्रूर पशुओं अथवा दुष्ट मनुष्यों कृत अनेकों प्रकार की असह्य बाधा। इनके अतिरिक्त भयानक शब्दों तथा भयानक दृश्यों से भय खाने की बाधा, व एक आसन पर अधिक देर तक बैठे रहने की बाधा, इत्यादि और भी अनेकों बाधायें हैं, कहां तक गिनायें कदाचित् दुर्भाग्य वश इन बाधाओं के आ पड़ने पर, इतनी शक्ति मुझ में कहां कि शान्ति को स्थिर रख सकूं। यद्यपि यह जानता हूं कि इन बाधाओं से शरीर को हानि पहुँचे तो पहुँचे, मुझे कोई हानि नहीं पहुँच सकती। क्योंकि मैं तो चैतन्य व शान्ति मर्ति, अविनाशी व अविकार, अमूर्तिक पदार्थ हूं, इनमें से किसी बाधा में भी मुझे स्पर्श करने की सामर्थ्य नहीं। परन्तु इस विश्वास को जीवन में उतारने के लिये अपने को असमर्थ पा रहा हूं। कोई भी एक संस्कार ऐसे अवसरों पर जबरदस्ती मेरे उपयोग को शान्ति से हटा कर इन बाधाओं में उलझा देता है तो मैं बजाये शान्ति के, पीड़ा का वेदन करने लगता हूं, कर्तव्य अकर्तव्य को भी भूल बैठता हूँ।

योगीजन इस दुष्ट संस्कार का निर्मूलन करने के लियें आज अपना पराक्रम दिखाने निकले हैं। स्वतः ही वह बाधायें आयें, इसकी प्रतीक्षा किए बिना स्वयं जान बूझ कर इन बाधाओं में प्रवेश कर जाते हैं या नवीन बाधायें उत्पन्न कर लेते हैं, और वहां उस अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में रह कर अभ्यास करते हैं-शान्ति में स्थिरता रखने का। अनुकूल वातावरण में तो स्थिर रह सकते थे पर प्रतिकूल में स्थिर रहें तब मजा है और इसलिए कभी जाकर खड़े होते हैं ज्येष्ठ को अग्नि बरसाती धूप में, जहां नीचे रेत मानों अंगारे ही बने पड़े हों, और खड़े रहते हैं या बैठ जाते हैं-घण्टों के लिये उस अग्नि में-शान्ति में अडिग रहते हुए। इस प्रकार के आतापन योग द्वारा खण्ड खण्ड कर देते हैं-गरमी में बाधा पहुँचाने वाले उस संस्कार को।

इसी प्रकार पोष की तुषार बरसाती रातों में सारी सारी रात नदी के तीर खड़े हुए ध्यान मुद्रा धारण करके सर्दी में बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं, तथा मूसलाधार बरसात में वृक्ष के नीचे, पत्तों पर गिरने के कारण और भी अधिक बिखरी हुई बौछाड़ों में, घण्टों शान्ति में स्थिर बैठे रह कर, बरसात में बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं। बरसात की रातों में वृक्ष के नीचे योग धारण करके मच्छरों की बाधा सम्बन्धी संस्कार को उखाड़ फेंकते हैं। एक ही आसन पर कई घण्टों या पहरों खड़े रह कर या बैठ कर शान्ति में स्थिर उस योगी को देख कर आसन में बाधा सम्बन्धी संस्कार भी कांप उठता है-और अपना रास्ता मापता है।

जहां सिंह की गर्जनाओं, हाथी की चीत्कारों, गीदड़ों की चीख पुकारों, अजगरों की फुंकारों, प्रलय काल की आंधी वत् तीव्र पवन के झोंकों से टूट कर गिरने वाले वृक्षों की गड़ गड़ाहटों, पत्तों की सरसराहटों, दिशाओं से आने वाली सायें सायें की दिल दहला देने वाली आवाजों, आंधी से ताड़ित नदियों में क्रुद्ध नागों वत् उछलते हुए जल की गर्जनाओं से वातावरण ने मानों अत्यन्त भयानक रौद्र रूप धारण किया है; ऐसे महा भयानक व विकट बनों में दिन रात ध्यान में निश्चल रहने वाले उन पराक्रमी योगियों के सामने, इस भय के संस्कार का क्या बस चले। इसी प्रकार अन्य भी अनेकों प्रकार लोक को बड़े से बड़ी बाधा को जान बूझ कर निमन्त्रित करके भिड़ जाते हैं उनसे।

११ छह प्रकार का अन्तरंग तप

यह तो हुई बाह्य की कुछ शारीरिक बाधाओं सम्बन्धी संस्कारों के जीतने वाले तपों की बात। इतने पर ही सीमा नहीं आ जाती, वे अन्तरंग में नित नये नये रूप धारण

कर करके उठने वाले विकल्पों के प्रति भी ग़ाफ़िल नहीं हैं। उनका मूलोच्छेद करने के लिये जागृत स्वामी की तरह सदा सावधान रहते हैं। (१) तनिक सी राग या द्वेष सूचक कोई भी आहट अन्दर में मिली, कि उन्होंने उसे ललकारा। और उसके ऊपर निन्दन व गर्हण की मार। बेचारे इन चोरों के प्राण वैसे ही सूखते हैं-इनके घर में प्रवेश करते हुए। यदि कोई भूला भटका घुस भी जाये, तो फिर क्या था कि पकड़ लिया उसे, और मारा प्रायश्चित व दण्ड की मारों से, निकाल दिये उस बेचारे के प्राण, ताकि न जीवित रहेगा और न फिर आने का प्रयत्न करेगा। अर्थात् अन्तरंग में कोई दोष उत्पन्न हो जाये, तो स्वयं तो आत्म ग्लानि पूर्वक अपने को धिक्कारते ही हैं, इसका अभ्यास तो गृहस्थ अवस्था से करते आ रहे हैं, परन्तु गुरु से जाकर भी इन दोषों का भण्डा फोड़ देते हैं और एक कुशल वैद्य वत् गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित या दण्ड को बड़े उत्साह से सहर्ष अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं कभी तो कई २ महीनों के उपवास; सारी सारी रात के लिये ध्यान में निश्चल योग; कभी अपनी दीक्षा का छेद,अर्थात् कक्षा में से नीचे उतारे गये क्षात्र वत् अपने से पीछे के दीक्षित साधु की श्रेणी को स्वीकार करता और इस प्रकार अन्य भी अनेकों बड़े बड़े शारीरिक व मानसिक कष्टों का आलिंगन करते हैं। कभी कभी तो संघ को छोड़कर वर्षों तक के लिये किसी दूसरे साधु संघ में जाकर रहना स्वीकार कर लेते हैं, जहां कोई उनसे परिचित नहीं। वहां कौन जाने कि यह इतने बड़े विद्वान हैं, कि अपने संघ में इनका बड़ा सम्मान था ? वहां कौन पूछे उनकी बात ? फिर भी अभिमान कषाय के दण्ड स्वरूप सहर्ष वहां शान्ति पूर्वक रहते हैं। इस प्रकार यथायोग्य दोषों के अनुसार प्रायश्चित स्वीकार करके अन्तरंग के दोषों का भी निर्मूलन कर देते है।

(२) अन्तरंग में प्रगटी अपनी शान्ति व अन्य गुणों के प्रति, तथा बाह्य में गुरु के प्रति बहुमान व विनय उत्पन्न करके इन गुणों में बराबर उन्नति करते जाते हैं (३) कदाचित् शान्ति से च्युत हो जाने पर, पुनः पुनः उपयोग को वहां ही स्थिर करते हुए अपनी वैयावृत्ति करते हैं तथा संघ में अन्य साधुओं को शारीरिक या आन्तरिक रोग व पीड़ा हो जाने पर, यथायोग्य अपनी शक्ति प्रमाण उनकी सेवा में तत्पर रहकर अन्य की वैयावृति करते हैं, जिससे कि अन्य के तथा अपने महान गुणों की रक्षा हो। (४) शान्ति में स्थिरता न होवे तो, उपयोग को रोके रखने के लिये गुरु वाक्यों अर्थाय् शास्त्रों को पढ़कर या पढ़ा कर, सुनकर या सुनाकर, पूछ कर या विचार कर, स्वाध्याय करने में समय बिताते हैं। समय को ख़ाली नहीं जाने देते। (५) अन्तरंग में बराबर शरीर की अनिष्टता सम्बन्धी विचार करते हुए, शरीर व तत्सम्बन्धी परिग्रह अर्थात् विकल्पों को त्यागते हैं। (६) अधिक से अधिक समय तक यथा शक्ति ध्यान में अर्थात् साम्यता व शान्ति में स्थिर बने रहते हैं।

गृहस्थ सम्बन्धी तप के प्रकरण में सामायिक के अन्तर्गत जो अनेकों प्रकार की कल्पनाओं व धारणाओं का कथन किया है, यहां ध्यान के प्रकरण में भी समझना। सामायिक और ध्यान वस्तुतः एक ही बात है, अन्तर केवल इतना ही है कि सामायिक में स्थिरता कम होती है; वहां ज्ञान व कर्म धारा मिश्रित रूप में पड़ी रहती है, जबकि यहां ध्यान में ज्ञान की शुद्धज्ञानधारा में ही स्थिति होती है, (देखो अधिकार नं० १३,) सामायिक में विकल्प आते हुए बुद्धि में पकड़े जाते हैं, ध्यान में स्थिरता अधिक होती है, विकल्प यदि कदाचित् आवें भी तो इतने सूक्ष्म होते हैं कि स्वयं उस योगी की बुद्धि भी उन्हें पकड़ नहीं पाती अर्थात् एकाग्रता अधिक है, यहां तक कि यदि वह बराबर उन विचारों

में एकाग्र होने का अधिकाधिक अभ्यास करता रहे-तो एक दिन बड़े वेग के साथ ऊपर चढ़ने लगता है। ध्यान के अत्यन्त उज्ज्वल व शुक्ल स्थान को प्राप्त होकर विशुद्धि में अनन्त गुणी वृद्धि करता हुआ ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेता है, कि अब अन्तर में अचेत पड़े निद्रा व सूक्ष्म क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, कामवासना आदि संस्कारों का भी क्रम से मूलोच्छेद कर देता है बाह्य के स्थूल संस्कारों का पहले से ही नाश कर चुका था, अब अन्तरङ्ग के भी सूक्ष्म संस्कारों का नाश करके संस्कार रहित हो निश्चल शान्ति अर्थात् पूर्व में स्थिर किये गये लक्ष्य बिन्दु को प्राप्त कर लेता है। इस परम धाम में प्रवेश करके अब वह सदा शान्त रहेगा, कभी भी अब वह वहां से च्युत न हो सकेगा। क्योंकि च्युत करने वाले कारण जो संस्कार या बन्ध तत्व वहाँ अब हैं नहीं; नए नए विकल्पों अर्थात् आस्रव को कौन प्रेरणा दे, और आस्रव के बिना अशान्ति या संसार होता नहीं अतः अब वह मुक्त हो गये हैं।

निज स्वभाव-शान्ति के साधक, सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, सम्यक्तप—चार आराधना के आराधक श्री देश भूषण व श्री कुल भूषण योगिराज एक समय कुन्थलगिरि पहाड़ पर ध्यानस्थ बैठे थे। वहां के निवासी एक दैत्य ने अपने दुःस्वभाव के कारण उन पर अनेक उपसर्ग किये परन्तु वे कायक्लेश तप के अभ्यासी थे अतः निज शान्ति में मग्न आत्मध्यान में निश्चल जमे रहे जिसके फल स्वरूप सभी प्रकार के संस्कारों से मुक्ति पाकर केवलज्ञान प्राप्त किया, पश्चात संसार के आवागमन से मुक्त हो गये। यह था फल उत्तम तप धर्म का।
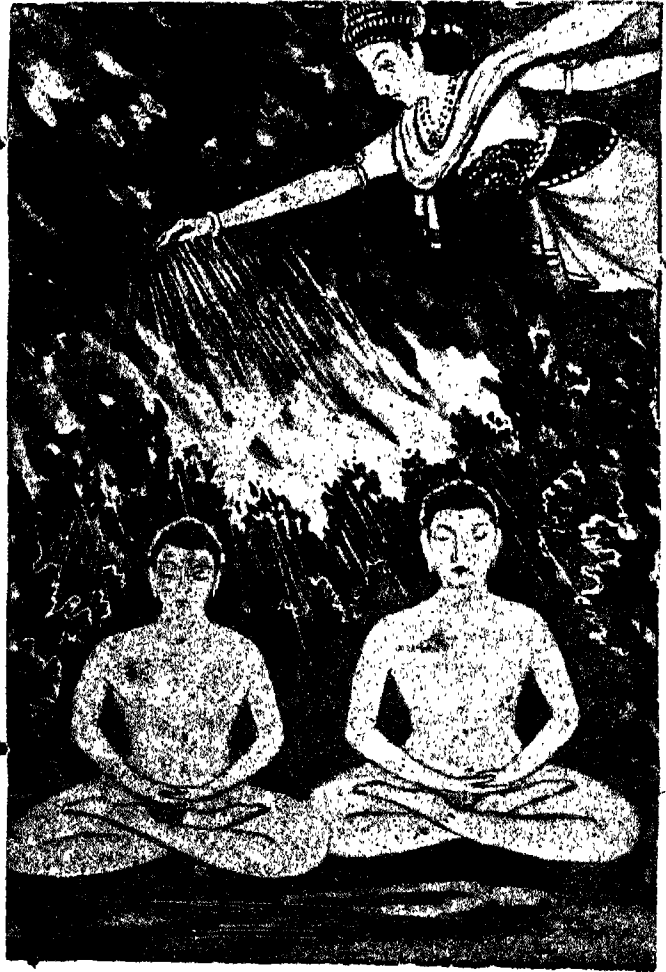
❀ उत्तम त्याग ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २४ अक्तूबर १६५६

प्रवचन नं० ८०

१—ग्रहण व त्याग के जीवन में अन्तर, २—ग्रहण में दुःख, ३—त्याग का प्रयोजन शान्ति ४—त्याग का प्रयोजन भूखों को दान, ५—विलासता की रो में पड़ा भारत, ६—गुरुदेव का त्याग शान्ति का सन्देश ।

१ ग्रहण व त्याग के जीवन में अन्तर **अहो त्याग के प्रतीक वीतरागी गुरुदेव ! सर्व बाह्य परिग्रह तथा अन्तरंग विकल्पों व अभिलाषाओं के पूर्ण त्याग के आदर्श ! मेरे जीवन में भी शान्ति प्रदायक यह त्याग प्रदान करो ।** अचिन्त्य है महिमा इस त्याग की, शान्ति की खान है यह । धन धान्यादि के ग्रहण में आज हम कुछ सुख की महिमा देखते हैं, पर एक वह जीवन भी है जो इसमें साक्षात् दुःख देखता है । जिस प्रकार अभिप्राय के फेर से विष भी अमृत भासने लगता है । क्रोध कषाय जागृत होने पर मृत्यु भी इष्ट हो जाती है । कितना बड़ा अन्तर है दोनों के जीवन में, एक वह जीवन है जिसमें से यह पुकार निकल रही है कि 'और ग्रहण कर', 'और ग्रहण कर', और एक वह जीवन जो मूक भाषा में कह रहा है कि 'और त्याग कर', 'और त्याग कर ।' एक वह जीवन जो कह रहा है कि 'धनादि सम्पदा में सुख है, इसमें ही सुख है,' और एक वह जीवन जो कह रहा है कि 'इसमें ही दुःख है, इसमें ही दुःख है ।' एक वह जीवन जो कह रहा है कि 'इसके बिना मेरा काम न चलेगा,' और एक वह जीवन जो कह रहा है कि 'इसके रहते हुए मेरा काम न चलेगा ।' एक वह जीवन जो कह रहा है कि धन चाहिये, धन चाहिये, और एक वह जीवन जो कह रहा है कि 'शान्ति चाहिये, शान्ति चाहिये ।' अहो ! अभिप्राय का महात्म्य । एक नुकते के हेर फेर से 'खुदा' से 'जुदा' हो जाता है । ऊपर का नुकता नीचे कर देने मात्र से उर्दू में लिखा 'खुदा' शब्द 'जुदा' पढ़ा जाता है । इसी प्रकार शान्ति पर से अभिप्राय को हटा कर सम्पदा पर लगा देने से सच्चिदानन्द से व्याकुलता की विकराल दाढ़ का ग्रास बन जाता है ।

२ ग्रहण में दुःख यह कैसे अनुभव में आवे कि ग्रहण में दुःख है ? जब तक एक क्षण को भी किंचित् मात्र निराकुलता का स्वाद न चखे, तब तक कैसे पता चले कि इसमें दुःख है । भले गुरु देव के कहने पर कह दूं कि हां हां यह दुःखों का मूल है, पर अन्तरङ्ग में तो ऐसा नहीं भासता । कैसे भासे ? निराकुलता से व्याकुलता में जाये तो पता चले कि व्याकुलता में आया हूं पर व्याकुलता को छोड़ कर व्याकुलता ही में जाऊं तो कैसे पता चले कि व्याकुलता है । यदि धन उपार्जन की व्याकुलता को छोड़,

उसकी रक्षा की व्याकुलता में घुस गया तो बात तो ज्यों की त्योंही रही। उल्लू अन्धकार में ही जाता है, क्या पता बेचारे को कि यह अन्धकार है, उसके लिये तो वही प्रकाश है। यही तो हालत है मेरी आज, कैसे पता चले कि ग्रहण में दुःख है, कुछ थोड़ा सा त्याग करके देखूं तो पता चले कि इतने से त्याग से जब कुछ शांति आई है, तो पूर्ण त्याग करके इस योगी को कितनी शान्ति आई होगी। आज मुझे त्याग में कष्ट प्रतीत होता है, इसीलिये तो योगी के जीवन को कष्ट का जीवन मानता हूं। किंचित् त्याग करके देखूं तो पता चले कि त्याग मूर्ति उन योगीश्वरों का जीवन कितना सुखी है।

एक साधु था, बड़ा सन्तोषी, घर घर जाता, एक एक रोटी मांगता और ६-१० घरों से अपना पेट भर लेता, कभी थोड़ा पानी चुल्लू में लेकर पी लेता और दिन भर, भजन करता, प्रभु के गुण गान गाता। बड़ी शान्ति में बीत रही थी, एक भक्त कहने लगा कि महाराज! यदि खाते खाते प्यास लग जाये तो क्या करो? अतः एक सस्ता सा कटोरा ला देता हूं। साधु ने विचारा, कि चलो एक कटोरे से क्या बिगड़ेगा मेरा, ला देने दो, इसका भी चित्त प्रसन्न हो जायेगा। कटोरा आ गया और एक दिन शिवालय से निकल कर, जंगल की ओर संध्या के लिये जाते समय, कटोरा रह गया शिवालय के बाहर। याद आया तब जबकि ध्यान में बैठ गया, बस फिर क्या था ध्यान नदारद, कटोरा ही कटोरा रह गया। "यदि कोई ले जायेगा तो," झुंझलाहट सो उठी साधु को, "अच्छा लिया कटोरा', सब कुछ ही खो बैठा इसके पीछे। चलो पहले 'इस कटोरे का ही इलाज कर आऊं, फिर करूंगा ध्यान।' आया द्वार पर, कटोरा पड़ा था, पत्थर लेकर तोड़ा मरोड़ा फेंक दिया। उधर से भक्त भी आ निकला। पूछा कि "क्या बिगाड़ा है इस बेचारे ने आपका जो इस प्रकार पीछे पड़े हो इसके।" "बिगाड़ा ही नहीं, सर्वस्व लूट लिया है-इसने-मेरा, तू क्या जाने बेटा! कि क्या किया है इसने।" साधु ने उत्तर दिया, और एक सन्तोष की सांस लेकर चला गया पुनः जंगल की ओर।

त्याग से ग्रहण में आकर ही पता चला साधु को कि कितना दुःख है ग्रहण में, इस प्रकार ग्रहण से त्याग में आकर ही पता चल सकता है कि कितना सुख है त्याग में। योगी का जीवन कष्ट में नहीं शान्ति के झूले में झूलता है, अभिप्राय बदल चुका है, शान्ति के स्वाद के सामने कौन पड़े इस जंजाल में। चुपड़ी खाने वाले को कैसे रुचे कच्चे चने चबाना? कोई ढेर भी लगा दे उनके सामने स्वर्ण या हीरों का तो आकर्षण की तो बात ही नहीं, उसे उपसर्ग समझें। उन पर दया करके, 'हाय, बिचारे ठिठुर रहे हैं सर्दी के मारे, एक कम्बल उढ़ा दो इन्हें', ऐसा विचार कर अपने शरीर पर से कम्बल उतार कर उनके शरीर पर डाल दो, और समझ बैठो अपने हृदय में-कि चैन पड़ गई होगी इन्हें। यह उनसे पूछो कि क्या बीत रही है उनके-हृदय पर, एक बड़ा भारी उपसर्ग आ पड़ा है मानों। उनकी शान्ति घाती गई है, विकल्प उठ गये हैं।

३ त्याग का प्रयोजन शान्ति

राज पुत्र भर्तृहरि व शुभ चन्द्र दोनों भाई वैरागी हो गये, पर अभिप्रायों में महान अन्तर था। दोनों ही ने स्वयं राज्य छोड़ा, सम्पदा छोड़ी, अन्दर में भर्तृहरि यही समझता रहा कि उसमें सुख है, और शुभ चन्द्र समझ गया कि उसमें दुःख है। फलितार्थ शुभ चन्द्र करने लगे शान्ति रस की सिद्धि, भर्तृ करने लगे स्वर्ण रस की सिद्धि, दोनों ही सफल हो गये, अपने २ प्रयोजन में। शुभ चन्द्र को शान्ति रस के साथ २ मिल गई उसकी दासी भी, अर्थात् स्वर्ण बनाने की ऋद्धि भी, और भर्तृहरि को मिला केवल दास स्वर्ण रस। शुभ चन्द्र को ऋद्धि मिलने पर भी उसने

उसकी ओर आंख न उठाई और भर्तृहरि के हर्ष का पारावार न रहा। भाई की खोज कराई और यह जान कर कि नग्न बने बड़ी दरिद्रता की दशा में जीवन बिता रहे हैं, दया पूर्वक आधी तुम्बी स्वर्ण रस की भेज दी उनके पास। वीतरागी को आवश्यकता ही कहाँ थी उसकी, ठोकर मार दी और तुम्बी लुढ़क गई। यह समाचार सुन कर भर्तृहरि और भी दुःखी हुआ, चल पड़ा स्वयं शेष आधी तुम्बी ले कर, और रख दी भाई के चरणों में। पुनः ठुकरा दी, रो पड़ा भर्तृहरी, '१२ वर्ष की तपस्या योंही बह गई। भाई ! यह क्या किया ? दरिद्रता ने तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल ही हरली है-मैं नहीं जानता था।' बस अब बरसने लगा अमृत शुभचन्द्र के मुख से "भर्तृहरि जाग, स्वर्ण चाहिये तो राज क्यों छोड़ा था, शान्ति लेने निकला था कि स्वर्ण ? स्वर्ण ही चाहिये तो ले भर ले जितना चाहे" और एक चुटकी रज को अपने तलवे के नीचे से निकाल कर फेंक दी पहाड़ पर, पर्वत स्वर्ण का बन गया। "ग्रहण में से शान्ति निकालना चाहता है भर्तृहरि, शान्ति ग्रहण में नहीं त्याग में है। शान्ति चाहिये तो मुझ जैसा बनना होगा, जिसके पास अटूट स्वर्ण होते हुए भी उसका ग्रहण नहीं करता", और रच गया यह ग्रन्थ, जो आपके सामने है- 'ज्ञानार्णव'। भर्तृहरि की आँखें खुल गई, ग्रहण का अभिप्राय जाता रहा, त्याग का अभिप्राय जागृत हुआ और आज उसकी वैराग्य शतक आदि अनेकों वैराग्य रस पूर्ण कृतियें भारत में बहुत ऊंची दृष्टि से देखी जाती हैं।

४ त्याग का प्रयोजन भूखों को दान

दूसरी दृष्टि से भी इस त्याग की महिमा देखिये। गुरु देव ने कर दिया सर्वस्व त्याग इसलिये कि दूसरे इससे लाभ उठायें, उन्हें स्वयं उसकी आवश्यकता नहीं, तो दूसरे भी क्यों वंचित रहें इससे, जिनको कि इसकी आवश्यकता है। अर्थात् कर दिया सर्वस्व का दान-उनको जो झोली फैलाये खड़े पुकार रहे थे उनके सामने, "हाय पैसा, हाय धन।" एक सेठ साहब ने सड़क पर जाते एक साधु को दया करके एक पैसा दे दिया। साधु सोचने लगा कि क्या करूं इसका ? किसी मांगने वाले के साथ में जाता तो कुछ काम आता उस बेचारे के, मेरे किस काम का है। अच्छा देखो कोई भिखारी आयेगा तो दे दूंगा उसे, इतने में दिखाई दिया सिकन्दर का लश्कर। बड़े वेग से चला जाता था घोड़े दौड़ाये, बस फेंक दिया साधु ने उसी ओर जो सिकन्दर के मस्तक में जा लगा। वह चौंका, "किसने फेंका है यह तुच्छ पैसा ? पकड़ लाओ इस साधु को", वह गर्जा। साधु आया, "क्यों जी तुमने फेंका है यह पैसा ?" "हां"। "क्या समझ कर ?" अब साधु बोला, विचारा था कि कोई भिखारी है बेचारा, भूखा है, अपना देश छोड़ कर यहां आया है, अपनी भूख मिटाने। चलो यह पैसा भी इसे ही दे दो, काम आयेगा इसके। मुझे क्या करना है इसका ?" सिकन्दर की आंखें खुल गई, पर हमारी आंखें आज तक न खुलीं।

अपने को सच्चा दानी मानने वाले भो चेतन ! क्या सोचा है कभी कि तू दानी है कि भिखारी ? इतना मिलते हुए भी जिसकी भूख जिसकी तृष्णा, जिसकी अभिलाषा शान्त न हो रही हो, वह क्या देगा किसी को ? जिसको तू भिखारी समझता है, उसका पेट तो तुझसे बहुत छोटा है, फिर तू दानी कैसे बना ? तू तो उससे बड़ा भिखारी है। 'और ला, और ला', की ध्वनि से मानों तेरा सर चकराया जा रहा है, घुमेर आ रही है, उल्टा दीख रहा है—भिखारी को दानी और दानी को भिखारी मानता है। दानी देखना है तो देख उस योगी को जिसने सर्वस्व डाल दिया है तेरी झोली में, सर्वस्व त्याग दिया है तेरे लिये। दानी बनना चहाता है तो त्याग कर, ग्रहण नहीं, त्याग भी निः-स्वार्थ त्याग, अपनी शान्ति के लिए सर्व सम्पदा का त्याग, या किंचित मात्र का त्याग।

५ विलासता की रौ में पड़ा भारत

गुरुओं का आदर्श-त्याग भारत धरा के कण कण में समाया हुआ है और इसीलिये आज यह देश विश्व को त्याग का पाठ पढ़ाने चला है । 'सेना में कमी करो, हथियारों में कमी करो, दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता समझो, किसी की स्वतन्त्रता पर बुरी दृष्टि न डालो", इसी प्रकार के अनेकों उपदेशों द्वारा आज भारत सरकार विश्व को त्याग का आदर्श दिखाने चली है । पर खेद है, कि स्वयं उससे उल्टी दिशा में जा रही है—दूसरों को त्याग का उपदेश देने वाली यह सरकार, स्वयं दूसरों से ग्रहण का उपदेश ले रही है, और बही चली जा रही है विलासता की ओर-भूल कर अपने योगियों का उपदेश-आदर्श त्याग ।

एक ही ध्वनि है चारों ओर । "जीवन स्तर को ऊंचा उठाओ, स्टैण्डर्ड आफ लिविङ्ग में वृद्धि करो ।" परन्तु गुरुओं के आदर्श को भुला बैठने वाले बेचारे, क्या जानें कि जीवन का स्तर किसे कहते हैं ? जिस ओर वह जा रहे हैं, वह जीवन का स्तर है कि मृत्यु का, शान्ति का स्तर है कि व्याकुलता का, सन्तोष का स्तर है कि अभिलाषाओं का, निश्चितता का स्तर है कि चिन्ताओं का । खेद है कि मृत्यु के स्तर को जीवन स्तर समझ बैठने वाला आज का भारत उन्नति की ओर नहीं अवनति की ओर जा रहा है और मजे की बात यह कि दूसरों को उपदेश देने चला है शान्ति का । शान्ति, विलासता या ग्रहण में नहीं है भाई ! त्याग में है । जितना ग्रहण उतनी अशान्ति और जितना त्याग उतनी शान्ति, यह है यहाँ की महान आत्माओं का उपदेश । उसे सुनो और अपनाओ और देखोगे कि जीवन शान्त हो जायेगा ।

अपने जीवन में उतारे बिना दूसरों को उपदेश देना अनधिकृत चेष्टा है । एक स्त्री किसी साधु के पास जाकर बोली कि, "मेरा लड़का मीठा बहुत खाता है । तंग आ गई हूँ । कोई उपाय बताइये" । साधु बोला कि तीन दिन पीछे आना, वह तीन दिन पीछे आई तो फिर बोला सात दिन पीछे आना । वह सात दिन पीछे आई तो फिर बोला दस दिन पीछे आना और इस प्रकार दो महीने बीत गये, स्त्री निराश होती गई । पर दो महीने पश्चात् साधु बोले कि अपने लड़के को मीठा देना बन्द कर दो, उसका सुधार हो जायेगा । स्त्री को यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ । "कौन नई बात बताई है महाराज ने ? दो महीने पहले ही क्यों न कह दिया था आपने ? इतने दिन व्यर्थ ही पीछे २ घुमाया ।" "ऐसा नहीं है देवी! इतने दिनों तक मैं खाली नहीं बैठा, तेरे लिये उपाय ही सोचता रहा—अपने जीवन में उतार कर और जब यह देख लिया है कि बिना मीठे से काम चल सकता है तभी कहा है तुझे कि मीठा न देना ।" अतः भो प्राणी ! अपने जीवन में त्याग का आदर्श उतारे बिना, दूसरे को त्याग का उपदेश देना तो तुझे शोभा नहीं दे रहा है भले थोड़ा ही जीवन में उतार, पर जितना कुछ जीवन में उतारा जाये उतना ही दूसरों को उपदेश देना कार्यकारी है ।

आदर्श त्याग की शरण में जाकर तेरा ग्रहण की रौ में बहते हुए जाना क्या शोभनीक है ? क्या इसे त्यागी गुरु का आश्रय कहा जा सकता है ? कुछ तो ले ले गुरु देव से, भले धन न छोड़ पर घर के अड़ंगे को तो कम कर सकता है । उसमें लौकिक रीति से भी तेरा लाभ ही है, भले उसे भी किसी को मुफ्त में मत दे, मोल बेच दे, उसका रुपया बना कर अपने पास ही रख पर उसे कम करके देख तो सही । बीस कुर्सियों में से केवल दो रख, बाकी को बेच डाल, और फिर देख, यदि कुछ शांति मिलती है तो आगे और त्याग देना, नहीं तो आठ के बजाये बारह और खरीद लेना ।

६ गुरु देव का त्याग गुरुदेव का त्याग इस से भी अधिक है, अनुपम है, उसकी महिमा अचिन्त्य है। यह शान्ति का सन्देश धन वस्त्रादि का त्याग व दान तो तुच्छ सी बात है, वह तो उस वस्तु का त्याग कर रहे हैं अर्थात् दान दे रहे हैं, जो कोई नहीं दे सकता। किसी एक को नहीं, समस्त विश्व को दे रहे हैं, शब्दों में नहीं जीवन से दे रहे हैं, रोम रोम से दे रहे हैं—शान्ति का सन्देश, शान्ति का उपदेश, शान्ति का आदर्श, जिसके सामने तीन लोक की सम्पत्ति धूल है, उच्छिष्ट है, वमन है, उसका कोई मूल्य नहीं।

खेद है अपनी दशा पर, कि अपना ही वमन जानते हुए भी मैं उसी को फिर से ग्रहण करन के पीछे दौड़ा चला जा रहा हूं। जिस वस्तु को एक बार नहीं अनन्तों बार ग्रहण कर करके छोड़ दिया वह वमन नहीं तो क्या है? कौन सी वस्तु यहां ऐसी दिखाई दे रही है जो तेरे लिये नई है? देव बन बन कर, इन्द्र बन बन कर, चक्रवर्ती व राजा बन बन कर कौन सी वस्तु ऐसी रह गई है जो तूने न भोगी हो? भूल गया है आज तू अपना पुराना इतिहास, इसी से नई लगती है यदि याद करे तो जान जाये कि हर भव में तूने इसे ग्रहण किया और हर भव में इसने तेरा त्याग किया। तू एक एक करके इसे ग्रहण करता, इसका पोषण करता, और यह पुष्ट होकर एक दम तुझे आंखें दिखा देती। ऐसे कृतघ्नी को पुनः तू ग्रहण करने चला है-आश्चर्य है। अब तो आंखें खोल और इससे पहले कि यह तुझे त्यागे, तू इसे त्याग दे।

यह है उत्तम त्याग धर्म, जो त्याग के लिये नहीं बल्कि शान्ति के ग्रहण के लिये है। शान्ति के अभिप्राय से रहित किया गया त्याग दुख का कारण है, उसकी यहां बात नहीं है।

नीचे चित्र में देखिये—अध्यात्म वेत्ता, निजानन्द रस भोक्ता, नाटक समयसार के रचियता, सन्तोष के धनी पंडित बनारसी दास जी का प्रशंसनी उत्कृष्ट त्याग—

एक रात्रि को दो चोर उनके घर में घुस गये। माल बान्ध कर एक ने दूसरे को गठरी उठवादी, एक खड़ा रह गया, गठरी भारी थी कौन उठवाये। पंडित जी भी यह सब देख रहे थे, उन्होंने स्वयं आकर चोर को माल की गठरी उठवादी। घर जाकर चोरों को मालूम हुआ कि यह धन पंडित जी का है तो दोनों ने गठरी वापिस लाकर आँगन में रख दी और क्षमा मांगने लगे तो फिर पंडित जी ने चोरों को यह कहकर माल वापिस दे दिया कि तुम्हें इस की आवश्यकता है, मेरे पास तो फालतू ही है।
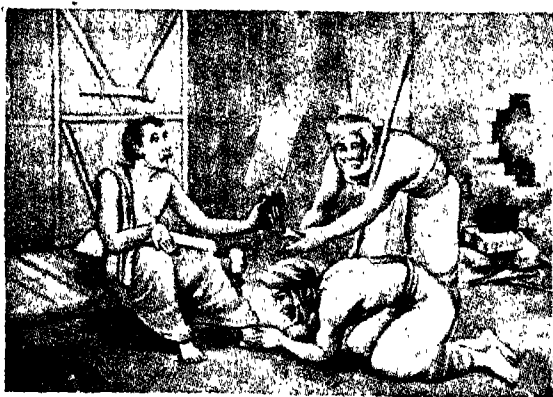
उत्तम त्याग कह्यो जग सारा।
औषध, शास्त्र, अभय, अहारा।।
निहचै राग द्वेष निखारे।
ज्ञाता दोनों दान संभारे।।
(पं० द्यानतराय)

४२

❀ उत्तम आकिंचन्य धर्म ❀

मुजफ्फरनगर—दिनांक २५ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८१

१—अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी, २—स्वतन्त्रता का उपासक एक योगी-महात्मागांधी, ३—शान्ति के उपासक को कुछ नहीं चाहिये, ४—दृढ़ संकल्प की महत्ता, ५—षट्कारकी कल्पनाओं की विपरीतता, ६—यहाँ कोई तेरा नहीं, ७—सच्चा त्याग।

अहो ! सम्पूर्ण बाह्य व अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग करके, यथार्थ आकिंचन्य अवस्था को प्राप्त गुरु देव ! आपकी महिमा गाने को कौन समर्थ है ? आकिंचन्य धर्म की बात चलती है— आकिंचन्य अर्थात् 'किंचित मात्र भी मेरा नहीं है, ऐसा अभिप्राय महान धर्म है, मेरा स्वभाव है। अपने से अतिरिक्त कोई भी अन्य पदार्थ मेरा होना स्वभाव नहीं है, इसलिये शान्ति के उपासक का यह अभिप्राय धर्म है। शान्ति मेरा स्वभाव है, मुझे वही चाहिये और कुछ नहीं। 'उस शान्ति को छोड़ कर अन्य कुछ भी नहीं चाहिये', यह है गर्जना उस योगी की, शान्ति के उपासक की।

१ अभिप्राय के अनुसार अनेकों योगी

परन्तु योगी कौन ? सभी तो योगी हैं। योगी का अर्थ है जुट जाने वाला, किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कमर कस के जुट जाने वाला योगी होता है। हम सभी तो कमर कस के किसी लक्ष्य के प्रति जुटे हुए हैं। तो क्या हम योगी हैं ? हां अवश्य ! परन्तु उपरोक्त योगी जैसे नहीं, अन्तर है अभिप्राय में। हमारा लक्ष्य है, 'मुझे तीन लोक की सम्पत्ति चाहिये, इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नहीं है, इसके सामने धर्म कर्म भी मुझे चाहिये नहीं।' और उपरोक्त योगी का लक्ष्य है, 'मुझे शान्ति चाहिये, इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किंचित मात्र भी मुझे सहन नहीं, इसके सामने धन कुटुम्बादि भी मुझे चाहिये नहीं।' कितना महान अन्तर है योगी और योगी में। एक का लक्ष्य है असम्भव रूप तृष्णा जो कि असाध्य है और दूसरे का लक्ष्य है शान्ति के अनुभव की तृप्ति जो कि साध्य है। विचार तो सही, कि क्या तीन लोक की सम्पति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? मृग तृष्णा में ही दौड़ता २ मर जायेगा, सब कुछ यहीं छोड़ जायेगा, पुनः जन्मेगा, फिर उसी लक्ष्य को रख कर दौड़ता हुआ मर जायेगा, फल निकला केवल जन्म मरण और अशान्ति, मृग तृष्णा की दाह। दूसरे का लक्ष्य है सच्चा साध्य—वर्तमान में प्रयास करेगा, किंचित शान्ति प्राप्त होगी मर जायगा पर उसे साथ लेकर आयेगा, आगे जन्मेगा फिर प्रयास करेगा,

उसे साथ ले गई हुई शान्ति में वृद्धि करेगा और दो चार बार में पूरी शान्ति प्राप्त कर लेगा। इसलिये उपरोक्त दो योगियों में से एक योगी झूठा है और दूसरा सच्चा। अभिप्राय पर से ही पहिचान की जा सकती है।

३ स्वतन्त्रता का उपासक एक योगी— महात्मा गांधी

आज के युग में भी एक योगी हुआ महात्मा गांधी। वही उपरोक्त पुकार थी— मुझे स्वतन्त्रता चाहिये, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, तीन लोक के प्रलोभन मेरे सामने आयें, परन्तु मेरी पुकार बदलने न पायेगी। स्वतन्त्रता भी कम न चाहिये, पूरी चाहिये। किसी को भी किंचित् मात्र हस्तक्षेप करने की आज्ञा मैं न दूंगा। किंचित् मात्र भी अंग्रेजों की सत्ता को मैं स्वीकार न करूंगा, उनके बच्चे बच्चे को मेरा देश छोड़ना होगा, मेरी स्वतन्त्रता छोड़नी होगी।' लक्ष्य साध्य था, क्योंकि स्वतन्त्रता मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और इसलिये इस गर्जना का प्रभाव समस्त विश्व ने देखा। यदि आवाज़ यह हुई होती कि 'मुझे सर्व विश्व पर सत्ता चाहिये, इससे किंचित् मात्र भी कम मुझे स्वीकार नहीं है।' तो आप ही बताइये कि क्या यह पुकार सच्ची होती? बस तो प्रभु! अपनी धन की पुकार को बदल कर कोई सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। यदि वास्तव में शान्ति का उपासक है, शान्ति को लक्ष्य में लिया है तो सच्चे अभिप्राय से इसकी साधना कर।

३ शान्ति के उपासक को कुछ नही चाहिए

यह गर्जना सच्चे योगियों में उठ रही है, शान्ति के उपासकों में उठ रही है, "मुझे शान्ति चाहिये, इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी नहीं; धन धान्य, घर, जायदाद, पुत्र, मित्र, स्त्री, विषय सामग्री, वस्त्र इत्यादिकों की तो बात नहीं, वह तो पहले ही त्याग बैठा हूँ, मुझे शरीर भी नहीं चाहिए, इसके लिए आहार भी नहीं चाहिए। इतना ही नहीं अपनी शान्ति में किंचित् मात्र भी बाधा मुझे सहन नहीं, अतः यह नित्य उठने वाले संकल्प विकल्प नहीं चहियें। संस्कार नहीं चाहियें, इनके बच्चे बच्चे को मेरा देश छोड़ कर निकलना होगा, मेरी शान्ति छोड़ कर भागना होगा। तीन लोक का बड़े से बड़ा प्रलोभन भी मेरी गर्जना को बदल नहीं सकता।" ओह! कितना बल है इस गर्जना में, और कितनी दृढ़ता, मानों आज सारा विश्व कांप उठा है इसे सुनकर, यह शान्ति प्राप्त करके ही हटेगा, एक दिन अवश्य देखने में आयेगा इसका प्रभाव। शान्ति चाहिये तो तू भी इतनी प्रबल गर्जना उत्पन्न कर जिसमें बल हो तथा दृढ़ता।

४ दृढ़ संकल्प की महत्ता

देखिये दृढ़ता की महिमा—एक सूखे से पतले दुबले निर्धन ब्राह्मण चाणक्य के बन में चलते चलते पांव में घुस गई कुशा। बस गर्जना निकल पड़ी, 'चाणक्य के पांव में घुसने का साहस कैसे हुआ तुझे? किंचित् मात्र भी तेरी सत्ता इस वन में न रहने पायेगी, तेरा बीज नाश कर दूंगा' लगा सारे वन की कुशा को खोद २ कर उसकी जड़ में मट्ठा डालने और तब तक चैन न ली जब तक कि सर्व नाश न कर दिया उसका। नन्द राजा के मन्त्री ने भी देखा उसका यह दृढ़ संकल्प, मन ही मन में विचारने लगा, 'इसकी सहायता से अवश्यमेव मेरा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा—अर्थात् नन्द राजा से अपने अपमान का बदला ले सकूंगा।' चाणक्य के पास पहुंचा और बोला, 'चलिए ब्राह्मण! आज नन्द राजा के घर ब्रह्मभोज है और ले जाकर बैठा दिया उसे राजा की रसोई में।' विलासी राजा नन्द आया, 'अरे यह काला कलूटा सूखा सा नर कंकाल कहाँ से आया यहां? निकाल दो इसे बाहर।' अपमान करके चाणक्य को बाहर निकाल दिया गया, परन्तु एक गर्जना उत्पन्न हुई

उस वृद्ध संकल्पी ब्राह्मण में, नन्द ! इस अपमान का दण्ड भुगतना होगा, किंचित् भी तेरा शेष न छोड़ूंगा, ले यह शिखा तभी बंधेगी, जब कि तेरा बीज भी नाश हो जायेगा।' ओह ! कितना बल था उसकी गर्जना में और कितनी दृढ़ता, समस्त विश्व ने देख लिया उसका प्रभाव, नन्द का सर्वस्व नाश कर दिया गया। सत्ता आई सम्राट चन्द्रगुप्त के हाथ में, जिन्होंने पीछे दिगम्बर योग धारण करके वही उपरोक्त गर्जना उत्पन्न की अपने अन्दर, 'मुझे शान्ति चाहिये इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी नहीं'। और विश्व ने देख लिया उसकी गर्जना का प्रभाव।

परन्तु इस गर्जना का आधार क्या वह है जो कि कल के वक्तव्य में आपने समझा—अर्थात् सर्वस्व का त्याग विश्व के लिये सर्वस्व का दान ? नहीं ! ऐसा नहीं है। वस्तु के त्यागने का नाम त्याग नहीं, वस्तु के देने का नाम दान नहीं, आकिंचन्य ही यथार्थ त्याग है, दान है, अर्थात् किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है। पहली गर्जना थी, कि शान्ति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मुझे नहीं चाहिए' और अब है, 'शान्ति के अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मेरा नहीं।' 'मुझे नहीं चाहिए' और 'मेरा नहीं' इन दोनों में शब्दों के अन्दर कुछ अन्तर प्रतीत होता है—पहली पुकार में ध्वनित होता है कि 'मैं ले सकता हूं पर नहीं लूंगा।' और दूसरी पुकार में ध्वनित होता है कि 'मैं ले ही नहीं सकता, जब कि मेरा कुछ है ही नहीं। परन्तु वस्तुतः दोनों में अभिप्राय एक है वास्तव में मेरा कुछ है ही नहीं।

५ षट्कारकी कल्पनाओं की विपरीतता

जरा विचार करके देखो तो पता चल जाए, कि यहां वास्तव में मेरा है ही क्या ? मेरी वस्तु वह हो सकती है कि जो सदा मेरी होकर रहे। जिन वस्तुओं को मैं 'मेरी हैं', ऐसा मानता हूं, वह मैं अपने साथ लाया नहीं, साथ लेकर जाता नहीं, यहां रहते हुए भी सदा मेरे साथ रहती नहीं, फिर कैसे उन्हें मेरी कह सकता हूं ? वास्तव में मेरी कहना कल्पना है, जिसके अन्तर्गत छः भूलें पड़ी हुई हैं, इन भूलों का नाम षट् कारक है। व्याकरण म आप सबने पढ़े हैं कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, व अधिकरण। इन छः कल्पनाओं के आधार पर ही मैं वस्तु को मेरी कहने का साहस करता हूं। जैसे कि मैं पुत्रादि का पालन करता हूं, अतः मैं उनका कर्ता हूं। उनका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है, अतः वे मेरे कर्म हैं। मेरे द्वारा उनका पालन होता है, अतः मैं उनका करण हूं। उनके लिये ही मैं सब न्याय अन्याय कर रहा हूं, अतः वे मेरे सम्प्रदान हैं। उनका पालन करना ही मेरा स्वभाव है, अतः मैं उनका अपादान हूं। मेरे आश्रय पर ही उनका जीवन टिक रहा है, अतः मैं उनका अधिकरण हूं और इसलिये वे मेरे हैं। और इसी प्रकार वे मेरी सेवा करते हैं, अतः वे मेरे कर्ता हैं। मेरी सेवा करना उनका कर्त्तव्य है, अतः मैं उनका कर्म हूं। उनके द्वारा ही मेरी सेवा हो रही है, अतः वे मेरे करण हैं। मेरे लिये ही यह परिश्रम कर रहे हैं, अतः मैं उनका सम्प्रदान हूं। मेरी रक्षा करना ही उनका स्वभाव है, अतः वह मेरे अपादान हैं। उनके आश्रय पर ही मेरा यह जीवन सुख से बीत रहा है, अतः वे मेरे अधिकरण हैं। अर्थात् मैं तो उनका कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूं, इसलिये वे मेरे हैं और वे मेरे कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण है इसलिये मैं उनका हूं। इसी प्रकार मैं धन का कर्ता (उपार्जन करने वाला) कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूं अतः धन मेरा है। और धन मेरा कर्ता (रक्षक) कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व

अधिकरण है अतः मैं धन का हूँ। इसी प्रकार अन्यत्र भी इन छः कारणों के द्वारा अनेक पदार्थों के साथ, उनको अपना बना कर व मैं उनका बन कर, सम्बन्ध जोड़ लेता हूँ। यही 'सम्बन्ध' नाम का सातवां कारक है।

इस अकेले 'सम्बन्ध' में छः कल्पनायें आ जाती हैं। इसलिये जहाँ जहाँ 'मेरी व उसकी' इत्यादि सम्बन्ध कारक का प्रयोग करने में आवे वहां वहां उसे अकेला न समझ लेना, उसके अन्तर्गत बिना कहे भी उपरोक्त छः कल्पनायें जान लेना। आज लोक में इन छः कारकों का प्रयोग इस रूप में हम प्रतिदिन करते हैं परन्तु कभी विश्लेषण नहीं कर पाते, कि इस प्रयोग में क्या भूल है। जैसे सुनार ने हथौड़े आदि के द्वारा ग्राहक के लिये स्वर्ण में से, अपनी दुकान में बैठ कर जेवर बनाया। इस वाक्य में छहों बातें पड़ी हैं। सुनार कर्ता है, जेवर कर्म है, हथौड़ा आदि करण है, ग्राहक सम्प्रदान है, स्वर्ण अपादान है, और दुकान अधिकरण है। छहों के छहों पृथक पृथक हैं, किसी का किसी के साथ षट् कारकी रूप से वास्तविक सम्बन्ध नहीं, जैसा कि पहले स्व पर भेद विज्ञान (अध्याय नं० १२-१३) में दर्शा दिया गया है। फिर भी एक दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ता हुआ मिथ्या कल्पनाओं के आधार पर अपने को अन्य का व अन्य को अपने का बनाता हुआ, बराबर व्यग्रता उत्पन्न करता रहता हूँ और मजे की बात यह कि चाहता हूँ शान्ति।

६ यहाँ कोई तेरा नहीं

यदि शान्ति चाहता है तो भाई! इस भ्रम को टाल। वास्तव में कोई भी तेरा नहीं देख इस दृष्टान्त पर विचार कर। एक अफीमची, आलसी—पड़े थे-नदी किनारे-वृक्ष के नीचे। 'अरे! अब कहां जाऊंगा, चलो भूख ही सही, रात तो बीत ही जायेगी यहां, प्रातः की प्रातः देखी जायेगी।" इतने में एक राजा का लश्कर आया, संध्या पड़ रही थी, नदी के किनारे डेरे लगा दिये, आन की आन में जंगल में मंगल हो गया। 'अहा हा! कितना सुन्दर नगर बस गया, कितने दयालु हैं प्रभु! अपने इस भक्त पर दया करके यहां ही नगर बसा दिया। वाह वाह! कितना अच्छा हुआ, अब कहीं भी जाना न पड़ेगा, बस इस नगर में अब मौज से कटेगी।' प्रातः होने पर जब देखा कि रंग ही बदल गया है, तम्बू उखड़ने लगे हैं, कूच का बिगुल बज रहा है, चारों ओर चलने चलने की उछल कूद मच रही है, तो फिर क्या था—मानों प्राण ही निकल गये। एक व्यक्ति से पूछा कि भाई! किधर जा रहे हो? उसने कहा "कौन हो तुम?" अफीमची ने कुछ निराशा भरी आवाज में कहा, "मेरे ही लिये तो भेजा था न प्रभु ने तुम्हें।" "अरे चल चल! कौन तू और कौन तेरा प्रभु, अपनी मर्जी, से आये थे और अपनी मर्जी से जाते हैं। न तुझ से पूछ कर आये न तुझ से पूछ कर जाते हैं, तू कौन होता है हमसे बात करने वाला?" और निराशा में डूबा रह गया बेचारा रोता का रोता।

क्या ऐसी ही दशा हमारी नहीं है? पुत्र उत्पन्न हुआ, "अहा हा! मेरी मुराद पूरी कर दी है प्रभु ने, मेरे नाम को जीवित रखेगा यह" और न जाने क्या २? "खूब दान दो, खूब बाजे बजाओ, आज मेरा भाग्य जागा है।" और जिस दिन तम्बू उखड़ने लगे—पथिक जाने लगा तब? "अरे रे! किधर जाते हो? "कौन हो तुम" "मेरे लिये भेजा था न प्रभु ने तुम्हें?" 'हट हट, कौन

और तू कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्ज़ी से आया था और अपनी मर्ज़ी से जाता हूं, न तुझ से पूछ कर आया न तुझ से पूछ कर जाता हूं, तू कौन होता है मुझसे बातें करने वाला ?' और निराशा में डूबे रोने लगे-आप। इतने विषाद का क्या कारण है, क्या सोचा है कभी ? क्या उस पुत्र का जाना कारण है ? ऐसा मानना तेरी भूल है, पुत्र का जाना विषाद का कारण नहीं, और न ही उसका आना विषाद का कारण था, अर्थात् 'जो यह न आता तो आज क्यों विषाद होता', ऐसा मानना ही भूल है। वास्तविकता तो यह है कि यदि तू उसके अन्दर उस समय, 'मेरे लिये भेजा गया है, मेरा नाम जीवित करेगा' ? और इसी प्रकार अन्य षटकारकी भूलें न करता, तो आज यह विषाद न होता। इसी प्रकार लक्ष्मी के आने जाने के सम्बन्ध में भी समझ लेना। दृढ़तया यह निश्चय किये बिना, कल्पना मात्र से नहीं बल्कि वास्तव में, कोई भी पदार्थ षट् कारकी रूप से मेरा है ही नहीं, वह उपरोक्त गर्जना निकलनी असम्भव है।

७ सच्चा त्याग ऐसा दृढ़ निश्चय होने के पश्चात् समझ में आ जायेगा कल के त्याग का रहस्य। मेरा कुछ है ही नहीं, तो किसका त्याग ? किसी वस्तु का तीन काल में एक समय के लिये ग्रहण ही नहीं हुआ, तो किसका दान ? न कुछ त्याग न कुछ दान, केवल मिथ्या बुद्धि का त्याग, मिथ्या बुद्धि का दान, बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है-त्याग का अभिप्राय। 'मैंने विश्व के लिये दान करदी या त्याग दी', इस अभिप्राय में तो पड़ा है अभिमान, उस वस्तु का स्वामित्व, अर्थात् 'मेरी थी मैंने त्याग दी', ऐसा त्याग वास्तविक त्याग नहीं है, शान्ति का मार्ग नहीं है, कुछ त्याग की नकल मात्र है।

देखो ! किसी समय मेरा एक लोटा आपके घर आया और पड़ा रहा वहां ही। मैं मांगना भूल गया और आप देना भूल गये, प्रयोग में लाते रहे और यह भी विश्वास हो गया कि वह आपका ही है। साल भर पश्चात् आपके घर में किसी कार्य वश आया, पीने का पानी मांगा, संयोग वश वही लोटा सामने आया। "भाई साहब ! क्षमा करना, क्षोभ न लाना, यह लोटा तो मेरा है, यह देखो इस पर तो मेरा नाम खुदा है, साल भर से भूला हुआ था" और आपने भी नाम देख कर निश्चय कर लिया कि हां "मेरा ही है।" "क्षमा करना भाई साहब ! बड़ी भारी भूल हुई मेरी, कहें तो नया मंगा दूं, नहीं तो यही ले जाइये।" यही तो कहेंगे आप उसके उत्तर में या कुछ और ? अब इसी के सम्बन्ध में दूसरी कल्पना कीजिये—कोई भिखारी आता है आपके घर, और आप दया करके वही लोटा दे देते हैं उसे। लोटे के त्याग की दो कल्पनायें आपके सामने हैं—एक मुझे देने की और एक भिखारी को देने की। दोनों कल्पनाओं में ही आप देने वाले हैं, और वही लोटा दिया गया है। विचारिये कुछ अन्तर है दोनों त्यागों में, मुझे जो दिया उसको तो दिया ही क्या, आपका था ही नहीं।, भिखारी को दिया, सो अपना करके देने के कारण हो गया अभिमान—"मैंने उस पर एहसान किया है" यह काहे का त्याग ? पहला वस्तु स्वरूप के आधार पर है और दूसरा भ्रम व भूल के आधार पर। एक में निर्विकल्पता है, और दूसरे में अभिमान का विकल्प, एक में शान्ति है और दूसरे में अशान्ति, इसलिये पहला त्याग सच्चा है और दूसरा त्याग झूठा।

यदि शान्ति की इच्छा है तो सच्चा त्याग कर, सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। "यहां किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है, किसको ग्रहण करूं और किसको छोड़ूं, शान्ति ही मेरा स्वभाव मेरा, धन है, वही

मुझे चाहिये, अन्य कुछ मेरा नहीं है, वह मुझे चाहिये भी नहीं। अपनी स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है वही मुझे चाहिये, अन्य को परतन्त्र बनाना मेरा अधिकार नहीं, अतः परमाणु मात्र को भी परतन्त्र बनाने की मुझे इच्छा नहीं। अपने में षट्कारकी रूप से मैं कुछ कर सकता हूं, अतः अपने में ही कुछ करना चाहता हूं, पर में षट् कारकी रूप से कुछ कर नहीं सकता, अतः पर में कुछ करना भी नहीं चाहता।" इत्यादि—यह है सच्ची गर्जना या सच्चा अभिप्राय, सच्चा आकिंचन्य धर्म।

वास्तव में तो योगी जनों ने ही इसे जीवन में ढाला है। पर आप भी अपने अभिप्राय को उपरोक्त रीति से बदल कर किंचित् उस धर्म के उपासक बन सकते हैं, अर्थात् ऐसा अभिप्राय बन जाने के पश्चात् उन उन वस्तुओं में भले रमणता करो, 'पर यह मेरा अपराध है', ऐसी बात अन्तरङ्ग में स्वाभाविक रूप से आती रहेगी, बस यही आपका आकिंचन्य धर्म है।

यह संवर का प्रकरण चल रहा है। पुण्य पाप रूप आस्रव से आते हुए कर्म प्रवाह को योगी जन प्रशम भाव व संयम धारण करके द्रव्य व भाव संवर द्वारा रोकते हैं। संवर रूपी वृक्ष के गुप्ती रूप तने पर समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय रूप शाखाएं फूटती हैं, पुण्य आते हैं। शुद्ध भाव रूप, पश्चात् मुक्ति रूप फल लगता है। ऐसा माहात्म्य है संवर तत्व का।

· ४३

—: उत्तम ब्रह्मचर्य :—

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८२

१—ब्रह्मचर्य का लक्षण, २—ब्रह्मचारी का लक्षण, ३—ब्रह्मचारी मार्ग का अनुक्रम,
४—ब्रह्मचारी के मार्ग की दस स्थितियाँ।

सच्चिदानन्द ब्रह्म में रमणता करके पूर्ण पर ब्रह्म पद को प्राप्त, हे सिद्ध प्रभु ! मुझे ब्रह्मचर्य प्रदान कीजिये। गरम घी के छींटों से दाह को प्राप्त हुए व्यक्ति की तरह अनादि काल से इन विषय भोगों की दाह को प्राप्त, मैं आज अत्यन्त सन्तप्त हो आपकी शरण में आया हूं। मेरा दाह शान्त कीजिये नाथ ! निज शान्ति के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में रमण करता मैं, आज तक व्यभिचारी बना रहा अब ब्रह्मचारी बनने की अभिलाषा लेकर, पूर्ण ब्रह्म की शरण में आया हूं।

१—ब्रह्मचर्य का लक्षण

आज ब्रह्मचर्य की बात चलती है, लोक में जिसकी बहुत महिमा है। लोकों की दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिये इतना ऊंचा स्थान क्यों ? क्या केवल स्त्री मात्र का त्याग कर देने पर इसका इतना ऊंचा स्थान है ? यह तो बात कुछ गले उतरती प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्त्री का त्याग करके अन्य विषयों में खूब रमण करने वाले, न्याय अन्याय का विवेक न रखने वाले, अत्यन्त कषायवान तथा विलासी जीवों के प्रति बहुमान उत्पन्न होता नहीं देखा जाता। क्यों ? क्या उसे स्त्री का त्याग नहीं ? और यदि है, तो क्या वह ब्रह्मचारी नहीं ? नहीं वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं है, क्योंकि ऐसा होता तो स्वतः ही उसके प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना न रहता। अतः ब्रह्मचारी का लक्षण केवल स्त्री त्यागी नहीं है, इसका लक्षण उतना ही व्यापक है जितनी कि उसकी महिमा। ब्रह्मचर्य के प्रकरण में जहां स्त्री के त्याग की बात को लक्ष्य में रखकर कहा गया है वहां पुरुष को सम्बोधन किया गया है उपलक्ष में स्त्रियों को पति अथवा पुरुष के त्याग की बात समझनी चाहिये।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवन आत्मा को, उसमें चरण अर्थात् रमण करना, आचरण करना अर्थात् निज शान्ति में स्थित रहने का नाम ब्रह्मचर्य है। शान्ति के घातक जो संकल्प

विकल्प या राग द्वेषादि हैं, उनमें चरण करने, रति अरति रूप भाव करने का नाम अब्रह्म है, व्यभिचार है, काम भाव है, वेद कषाय है या यों कहिये कि राग द्वेषादि का कारण जो पांचों इन्द्रिय सम्बन्धी विषय वासना व सामग्री उसमें चरण करना, रमण करना सो व्यभिचार है। कल आकिंचन्य धर्म की बात के अंतर्गत यह बताया गया था, कि लोक में मेरी शान्ति के अतिरिक्त कोई भी मेरा पदार्थ नहीं, किसी को करने या भोगने का मुझे अधिकार नहीं। अतः किसी पदार्थ को इष्टानिष्ट समझ कर, करने या भोगने का प्रयत्न करना अपराध है,व्यभिचार है। अतः अंतरंग विकल्पों के अभाव व निज शांति की अपेक्षा तो ब्रह्म की उपासना कहो या ब्रह्मचर्य, एक ही अर्थ है और पर पदार्थों में रमण व बाह्य सामग्री के त्याग की अपेक्षा व्रत कहो, त्याग कहो, दम कहो, संयम कहो, इन्द्रिय जय कहो, या ब्रह्मचर्य कहो एक ही अर्थ है। इसीलिये ब्रह्मचर्य शब्द के प्रति लोक में इतना बहुमान है।

२ ब्रह्मचारी का लक्षण

लोक में यद्यपि ब्रह्मचर्य की व्याख्या केवल स्त्री त्याग पर से की जाती है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यहां स्त्री शब्द का अर्थ सम्पूर्ण भोग सामग्री से है, क्योंकि वह लक्ष्मी नाम से पुकारी जाती है, अतः लक्ष्मी में रमणता का नाम व्यभिचार है, और लक्ष्मी के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य है और भी इसमें दो पहलू से विचार करना चाहिये एक ग्रहण की दृष्टि से दूसरा त्याग की दृष्टि से। ग्रहण की दृष्टि से निज स्वभाव में रमण अर्थात् निरपेक्ष ज्ञान व निज शान्ति स्वभाव में आचरण, त्याग की दृष्टि से पर पदार्थ, पर भाव, पर परणति, पर के ज्ञान में रमण व आचरण का त्याग। इस धर्म में यद्यपि सभी कषायों के त्याग की बात है परन्तु वेद कषाय (काम वासना) व पंचेन्द्रिय के विषय के त्याग की विशेषता है। ब्रह्मचर्य की व्याख्या कर देने के पश्चात् यह देखना है कि ब्रह्मचारी कौन है ? क्या केवल मनुष्यणी का सम्पूर्ण त्याग कर देने वाला या लक्ष्मी का सम्पूर्ण त्याग कर देने वाला ब्रह्मचारी है ? ऐसा नहीं है, ब्रह्मचारी में पड़ा यह 'चारी' शब्द मार्ग का द्योतक है। अर्थात् ब्रह्मचारी कहते हैं ब्रह्म के मार्ग में गमन करने वाले को, अर्थात् हीनाधिक रूप से लक्ष्मी के त्यागी को। पूर्ण त्यागी तो वास्तव में 'चारी' नहीं हो सकता, वह तो 'ब्रह्म' ही हो जायेगा। पूर्णता के पश्चात मार्ग का अन्त हो जाता है फिर मार्गी या चारी नहीं कहा जा सकता। अतः पूर्ण ब्रह्म के लक्ष्य पर पहुंचने के लिये, हीनाधिक रूप से लक्ष्मी का त्याग करने वाला अर्थात् त्याग के मार्ग पर चलने वाला ब्रह्मचारी है।

३ ब्रह्मचारी के मार्ग का अनुक्रम

यदि प्रश्न करें, कि कितने त्यागी को ब्रह्मचारी कहें ? तो इसके लिये कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। जिस प्रकार कि मद्य पीने की आदत को छोड़ने के लिये जो प्रयास कर रहा है, उसे कब जाकर मद्य का त्यागी कहें ? वास्तव में पहले दिन ही, जबकि उसने एक घूंट ही कम की थी, वह त्यागी की कोटि में आ गया था, भले लोग उसके त्याग को न जान पावें। धीरे धीरे जब मद्यशाला में भी जाने का त्याग कर देगा, तब ही लोक जान पायेगा कि यह त्यागी है, परन्तु लोगों की दृष्टि में आ जाना त्याग का माप दण्ड नहीं है। मार्ग के ऊपर पहला पग रखते ही व्यक्ति पथिक बन जाता है, पथ पर आगे पीछे चलने वाले व्यक्ति, भले ही लक्ष्य की निकटता व दूरता के कारण अगले व पिछले कहलायें, परन्तु ऐसा कोई नहीं-जिसे हम पथिक न कह सकें, पथिक सब हैं, भले आगे वाला हो या पीछे वाला। बस इसी प्रकार यहां त्याग सम्बन्धी ब्रह्मचर्य के मार्ग में भी लागू

कर लेना, जिस दिन त्याग का अभिप्राय किया, उस दिन वह त्यागी की कोटि में आ गया। ज्यों ज्यों त्याग करता जायेगा, आगे बढ़ता जायेगा, अधिकाधिक उत्तम विशेषण को धारण करता जायेगा, जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त इस ब्रह्मचर्य के मार्ग में भी, अन्य प्रकरणों में कथित मार्ग वत् क्रम पड़ता है। क्रमानुसार केवल उत्तमता के विशेषण में अन्तर पड़ता है, ब्रह्मचर्यपने में नहीं। प्रथम क्षण में भी ब्रह्मचारी है और अन्तिम क्षण में भी ब्रह्मचारी, अभिप्राय त्याग का होना चाहिये।

सर्वत्र अभिप्राय की मुख्यता है। त्याग के अभिप्राय रहित किसी कारण वश स्त्री व लक्ष्मी की प्राप्ति न हो सके, उसे ब्रह्मचारी नहीं कह सकते, और थोड़ा या अधिक त्याग के अभिप्राय: सहित स्त्री या लक्ष्मी में रमण करता हुआ भी, ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। स्त्री या लक्ष्मी का पूर्ण त्यागी ही ब्रह्मचारी हो, ऐसा भी नहीं है। अल्प त्यागी भी यथा योग्य रूप से ब्रह्मचारी है। अन्य प्रकरणों की तरह यहां भी ब्रह्मचारी की परीक्षा विषयों के त्याग पर से करनी है, विषयों के ग्रहण पर से नहीं यदि ग्रहण पर से करने लगोगे तो बात गले न उतरेगी। वर्तमान क्रिया को न देख कर जितना त्याग किया है उसको देखना। त्याग का नाम ही ब्रह्मचर्य है, अंश मात्र में भी विषय में रमणता का नाम ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता। ग्रहण की ओर से देखिये, तो मुनि को भी ब्रह्मचारी न कह सकोगे क्योंकि आहार ग्रहण का नाम ब्रह्मचर्य नहीं। जितना त्याग हुआ है उतना ही ब्रह्मचर्य है, स्त्री त्याग के पश्चात बाहर में स्पष्ट त्याग दिखाई दे जाने पर, लोक में ब्रह्मचारी कहा जाता है, उसमें भी त्याग की ओर देख कर ही निर्णय किया गया है। देखो एक भील ने केवल कौवे का मांस खाना छोड़ दिया और अन्य जन्तुओं का मांस खाता रहा तो भी वह किंचित त्याग की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ समझा गया है। परन्तु इसका निर्णय त्याग की ओर से हुआ अन्य मांस के ग्रहण की ओर से नहीं। एक चाण्डाल ने केवल चतुर्दशी को हत्या करने का त्याग किया, परन्तु अन्य दिन हत्या करता रहा। उसका वह त्याग उसे लाभदायक हो या, इसका निर्णय भी त्याग की ओर से ही किया गया, अन्य दिनों की हत्या की ओर से नहीं।

४ ब्रह्मचारी के मार्ग की दस स्थितियां

(१) उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण करने के लिये जिसका त्याग करना अभीष्ट है, ऐसे सम्पूर्ण वस्तु समूह या लक्ष्मी का विश्लेषण करना होगा। सम्पूर्ण सामग्री या लक्ष्मी को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक वह जिस पर कि, राज्य की व लोक की दृष्टि में मेरा अधिकार है, अर्थात् जो मेरे स्वामित्व में है और दूसरी वह जिस पर राज्य व लोक की दृष्टि में मेरा कोई अधिकार नहीं, अर्थात जो दूसरों के स्वामित्व में हैं। यद्यपि आकिंचन्य धर्म में बताए अनुसार सम्पूर्ण सामग्री का षट्कारक रूप से त्याग करना अभीष्ट है, पर प्रथम ही क्षण में ऐसा होना असम्भव है। अतः त्याग मार्ग पर पग रखते हुए, सम्पूर्ण में से कुछ का त्याग करना होगा। आप ही बताइये उपरोक्त दो भागों में से पहले किस भाग का त्याग करना उचित है, अपने स्वामित्व में रखी लक्ष्मी का कि अन्य के स्वामित्व में रखी का? स्पष्ट है कि अन्य की लक्ष्मी का त्याग पहले होगा, परन्तु अन्य की लक्ष्मी का त्याग तो पहले से ही है। सो भी बात नहीं है भाई! यहां उस अभिप्राय का त्याग मुख्य है जिसके कारण कि मेरी लालायित दृष्टि उसकी ओर

खिच जाती है। साक्षात् रूप से तो उसका भोग मैं कर ही नहीं सकता, या तो चोरी कर सकता हूँ, या केवल देख कर लालसा कर सकता हूँ। अतः ब्रह्मचारी के प्रथम पग में अन्य की वस्तु को चुराने का या उसे देख कर लालसा करने का त्याग हुआ। यह त्याग यद्यपि लोगों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखता, परन्तु वास्तव में यदि विचार करके देखा जाय तो, अपनी लक्ष्मी के त्याग की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है, क्योंकि अन्य की लक्ष्मी मेरी लक्ष्मी से अनन्त गुणी है। सर्व का ही तो त्याग हो गया, रह ही कितनी गई जिसे यदि सम्पूर्ण के बराबर रख कर देखो तो रखी दिखाई भी न दे। इसलिये वह व्यक्ति, जिसने कि अन्य की सम्पत्ति व उनके द्वारा परिणा कर लाई गई, उसके स्वामित्व में रहने वाली स्त्री पर, तथा उनकी कवारी कन्याओं पर विकार भाव से दृष्टि पात करने का त्याग कर दिया है; वह ब्रह्मचारी है भले ही इनके अतिरिक्त अपनी सम्पत्ति व स्त्री में कितना भी रमण क्यों न करे। परीक्षा त्याग पर से करनी है, रमणता पर से नहीं।

आगे त्याग की दूसरी श्रेणी चलती है—साधक यहां निज लक्ष्मी का भी त्याग करना प्रारम्भ करता है। एक दम सारी लक्ष्मी का हर प्रकार से त्याग तो असम्भव है अतः थोड़ा-थोड़ा त्याग प्रारम्भ करता है। अपनी धर्मपत्नी में भी अति गृद्धता का त्याग करता है व ऐसा आचार विचार तथा भोजन पान करता है जो काम भाव का पोषक न हो तथा अपनी सम्पत्ति का भी कुछ भाग पात्रों को आहार, औषध व ज्ञान दान के रूप में त्याग करके देता है। यहां पर स्व पर भेद ज्ञान में बाधक विकल्पों का भी त्याग करता है। त्याग की अपेक्षा ही पहले से श्रेष्ठ है ग्रहण की अपेक्षा नहीं।

तीसरी श्रेणी में—वह भोगों से कुछ अंशों में विरक्त होता है, कुछ संयम ग्रहण करता है, दिन के समय में काम भोग का तो सर्वथा नियम से त्याग कर देता है नियमित त्याग करने से उस प्रकार के विकल्प शान्त हो जाते हैं बुद्धि में स्थिरता पैदा होती है; आत्म ध्यान में स्थिरता प्राप्त करने के लिये नियमित रूप से तीन काल सामायिक करता है।

चौथी श्रेणी में—धन-धान्य, रुपया-पैसा सभी प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर लेता है जिससे उसकी आवश्यकतायें भी सीमित हो जाती हैं बाह्य आरम्भ के व परिग्रह को अधिक एकत्र करने के विकल्प भी नहीं रहते। संयम का स्तर भी पहले से बढ़ जाता है, काम भोग को भी बहुत अंशों में छोड़ देता है। अष्टमी, चतुर्दशी साधारण पर्व तथा अष्टाह्निका, सोलहकरण, दश लक्षण धर्म, रत्नत्रय धर्म विशेष पर्व के दिनों में तथा तीर्थ यात्रा के दिनों में विशेष संयम से रहता है। यहां पर त्याग की मात्रा पहले से भी बढ़ जाती है।

पांचवीं श्रेणी में—त्याग की मात्रा अधिक बढ़ जाती है। धन सम्पत्ति का और भी त्याग कर देता है। अपनी धर्म पत्नी से भी काम भोग का पूर्णतया त्याग कर देता है। अधिक समय धर्म ध्यान में बिताता है। सभी प्रकार के विषय भोगों से अधिक मात्रा में विरक्त हो जाता है। इस श्रेणी में तो लोक में ब्रह्मचारी पद से विभूषित हो जाता है यद्यपि असली अर्थों में पूर्ण ब्रह्मचारी तो नहीं होता क्योंकि पूर्णतया विकल्पों का अभाव यहां नहीं हुआ है।

छठी श्रेणी में—यद्यपि लोकों की दृष्टि में वह पूर्ण ब्रह्मचारी हो गया है, परन्तु नहीं। स्त्री के साथ में लगी लक्ष्मी अभी तक चली आ रही है। अतः उसके त्याग बिना, वह अभी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता। उसे भी छोड़ना होगा। स्त्री के साथ लक्ष्मी का भी यथायोग्य त्याग होता ही आया है। यद्यपि पांचवीं श्रेणी में लक्ष्मी का संसर्ग बहुत कम है, पर है अवश्य। इसमें भी क्रम से और कमी करता हुआ एक लंगोटी व एक चादर के अतिरिक्त अन्य सर्व का त्याग कर देता है। वह भी ब्रह्मचारी है-पांचवीं से ऊंचा।

सातवीं श्रेणी में—यहां भी रुकता नहीं। लंगोटी व चादर का भी त्याग कर देता है, और बन जाता है नग्न साधु। वह भी ब्रह्मचारी है-छठी से ऊंचा।

आठवीं श्रेणी में—यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर अब यह पूर्ण ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके पास स्त्री है न सम्पत्ति। सर्व त्याग हो चुका है। त्यागने को और शेष नहीं रहा। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसके पास कुछ और भी है—वह हैं उसके अन्तरंग विकल्प। अब तक के क्रम पूर्वक किये गये सर्व त्याग के साथ साथ, अन्तरङ्ग विकल्पों का त्याग भी बराबर होता चला आ रहा था। जैसा कि पहले भी कई बार बताया जा चुका है, और पुनः पुनः बताया जा रहा है, कि इस संवर के प्रकरण में, अन्तर विकल्पों के प्रशमन करने का पुरुषार्थ ही मुख्यता से किया जा रहा है। उनके प्रशमन करने के लिये ही, या उनके प्रशमन के फल स्वरूप ही, यह सर्व बाह्य का त्याग है। वह न हो तो इस त्याग का कोई मूल्य नहीं, इसलिये बहुत अधिक विकल्प दब चुके हैं, पर अब भी कुछ शेष हैं जिन्हें त्यागना है। पहले कुछ देर के लिये त्यागता है-और हो जाता है ध्यानस्थ, शान्ति में निमग्न, निर्विकल्प। यह ब्रह्मचारी है-सातवें से ऊंचा, पर पूर्ण नहीं, क्योंकि अभी भी संस्कार शेष हैं, जो थोड़ी देर पश्चात् इसमें फिर विकल्प उत्पन्न कर देंगे।

नवीं श्रेणी में—इन संस्कारों में भी जो अभी तक दबे पड़े थे अर्थात् उपशम रूप थे' काटकर पूर्णशुद्ध, पूर्ण निर्विकल्प, सहज स्वभावस्वरूप परमात्मा भगवान अरहन्त पद को प्राप्त हो जाता है। यहां पर वह पूर्ण शील में बाधक १८००० दोषों से मुक्त हो जाता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाता है। केवल शरीर बाकी रह जाता है किन्तु मोह राग द्वेष का पूर्णतया अभाव हो जाने से इसके सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं रहता।

दसवीं श्रेणी में—मार्ग समाप्त हो जाता है शरीर को भी त्याग देने से लक्ष्य व साध्य को पूर्णतया प्राप्त करके पूर्ण ब्रह्म, सिद्ध प्रभु बन जाते हैं।

यद्यपि आदर्श ब्रह्मचर्य धर्म का पालन तो योगी जन ही करते हैं। परन्तु हम भी अपनी योग्यतानुसार इसका पालन कर सकते हैं। हे शान्ति के उपासक! निज शान्ति की रक्षा के लिये, अत्यन्त दाह को उत्पन्न करने वाले, इस स्त्री संसर्ग का कुछ परिमाण कर। परस्त्री, वेश्या व दासी का तो सर्वथा त्याग होना चाहिये। स्वस्त्री में भी दिन के समय काम भोग का त्याग अवश्य कर। तथा पर्व के दिनों में पूर्ण ब्रह्मचर्य धारण करके आगे बढ़ने का अभ्यास कर।

जैसा कि पहले व्रतों के अन्तर्गत बताया जा चुका है, कि पथिक के मार्ग में अनेकों रुकावटें आती है, व्रतों मे अनेकों बार दोष लग जाते हैं। यहाँ भी उसे भूलना न चाहिये। ब्रह्मचर्य या त्याग धर्म का उपरोक्त रीति से पालन करते हुए, एक साधक को दोष लग जाने की सम्भावना है, यह कषायों की विचित्रता है। उन दोषों का साधक को प्रायश्चित, स्व निन्दा गर्हा द्वारा निर्मूलन करते रहना चाहिये तथा आगे के लिये अत्यन्त सावधान रहना चाहिये।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म के पालने वाले एक ध्यानस्थ योगी

इन योगीराज की दृढ़ता तो देखो—मिथ्यात्व, चार कषाय, नव नोकषाय यह चौदह प्रकार का अन्तरङ्ग परिग्रह अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरंग विकल्पों के त्यागी तथा दस प्रकार बहिरंग परिग्रह के त्यागी जिन्हें ध्यान से डिगाने के लिये स्त्रियां अनेक प्रकार के हाव भाव दिखा रही है, परन्तु वे निश्चल आत्म ध्यान के धारी कब डिगने वाले हैं।

इसी प्रकार सीता जी के जीव ने स्वर्ग से आकर, अत्यन्त राग पूर्वक अपना पहला रूप दिखाकर श्री राम चन्द्र जी को ध्यान से डिगाना चाहा था, परन्तु वे धीर वीर आत्म ध्यान में लीन रहे और मुक्त हो गये।

४४

—: अतिचार :—

मुज़फ़्फ़रनगर—दिनांक २७ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८३

१—धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना २—अतिचार व अनाचार में अन्तर।

१ धार्मिक जीवन में भी दोषों की सम्भावना

देखो इन संस्कारों की विडम्बना कि इतना पुरुषार्थ करते हुए जो आचार विचार में ऊंचा चढ़ जाने पर भी पीछा नहीं छोड़ते। प्रभो! इनसे मेरी रक्षा कीजिये। अब तक के विस्तृत कथन में नीचे से ऊपर २ ही चढ़ने की बात बताई गई है। चढ़ने के पश्चात् गिरने की बात कहीं पर भी आई नहीं। इसलिये ऐसा भ्रम हो सकता है कि 'जो चढ़ा है वह चढ़ता ही चला जायेगा, ज्ञानी कभी भी गिर नहीं सकता।' परन्तु ऐसा नहीं है, परिणामों की बड़ी विचित्रता है। दबे पड़े पुराने संस्कारों के वश यह नीचे भी गिरता है और फिर चढ़ जाता है परन्तु बाहर में वैसा का वैसा ही दिखाई देता रहता है। यह तो रही अन्तरङ्ग परिणामों की बात, वह कदाचित् बाहर में भी विकार को प्राप्त हो जाता है। ऐसा होने पर यदि लक्ष्य वही शुद्धता का बना रहे तो बाहर का विकार भी शीघ्र ही दूर हो जाता है। ऐसी अवस्था को कहते हैं नियमों व व्रतों में अतिचार लगना।

साधक कोई लोहे की मशीन नहीं है, कि एक बार चलाई तो चलती ही रहे। मशीन भी तो कोई ऐसी दिखाई नहीं देती, जो कभी न बिगड़े। शरीर भी कोई ऐसा दिखाई नहीं देता जिसे रोग न आयें। फिर यदि मुझमें अर्थात् जीव में ही कदाचित् कोई बिगाड़ उत्पन्न हो जाये, कोई रोग आ जाये तो कौन आश्चर्य है? वह भी तो अन्य पदार्थों की भान्ति एक पदार्थ है। पूर्ण हो जाने पर भले उसमें रोग न हो, पर आरम्भिक भूमिका में तो अल्प शक्ति वश हो सकते हैं। अतः किसी साधक के जीवन में कदाचित् दोष लग जाए तो उसे धुतकारना या उससे घृणा करना योग्य नहीं। जिस किस प्रकार भी उसका स्थितिकरण करके पुनः उसे मार्ग में स्थापित करना कर्त्तव्य है।

बड़े बड़ों को दोष लगते देखे जाते हैं। बड़े बड़ों से भूलें हो जाती हैं। बड़े बड़े मार्ग से च्युत हो जाते हैं। अरे रे! कितने दुष्ट हैं ये संस्कार? यह सब इन्हीं का तो प्राबल्य है, ग्यारवें गुण स्थान पर चढ़ कर भी, जहां पूर्णता का स्पर्श करने में रह जाता है केवल एक बाल मात्र का अन्तर, वह गिर जाता है ऐसे—गर्त में, जहां से कि न जाने कितने काल तक वह निकल कर शान्ति के

दर्शन भी न करने पायेगा। गहन अन्धकार में, बिल्कुल उसी प्रकार विलीन हो जायेगा, जैसा कि साधना प्रारम्भ करने से पहले पड़ा था। इन संस्कारों से प्रेरित होकर, किस समय कोई बड़े से बड़ा साधक, क्या दोष कर बैठे कुछ पता नहीं।

यदि बड़ा दोष करता है तो वह स्वयं ही साधक की कोटि से निकल जायेगा पुन: स्वयं सचेत होने पर या गुरु के द्वारा सचेत किये जाने पर अपने उस दोष की निन्दा करता हुआ प्रायश्चित ग्रहण करके फिर से साधक बन जायेगा पहले से निम्न श्रेणी का। यदि हल्का सा दोष कर बैठता है तो तुरन्त ही सावधान होकर तथा प्रायश्चित लेकर निर्दोष बन जाता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में दूसरों का कर्तव्य यह है कि उस दोषी को समझा बुझा कर सही रास्ते पर लगावें। परस्पर उपकार करने की भावना रहनी चाहिये क्योंकि सभी को दोष लगने पर प्रमाद वश शिथिलाचारी होने की सम्भावना रहती है।

कुछ दृष्टान्तों के द्वारा इस विषय को समझिये।

१. आज के लौकिक न्यायालयों में भी अपराध का निर्णय अभिप्राय पर से किया जाता है। बड़े से बड़ा अपराधी भी क्षमा कर दिया जाता है, यदि न्यायाधीश यह देख ले, कि उसके हृदय में अपने उस अपराध के प्रति ग्लानि उत्पन्न हो चुकी है, अब वह भविष्य मे उस अपराध को पुन: न करेगा।

२. देखिये किसी बच्चे को दो व्यक्ति पीटते हैं, एक उसकी माता और दूसरा मैं। माता भी किसी कारण वश क्रोध के आवेश में पीटती है, और मैं भी किसी कारण वश सम्भवत: क्रोध के आवेश में पीटता हूं। सम्भवत: माता तो उसे अधिक पीटे, और मैं केवल एक ही थप्पड़ मारूं, परन्तु बच्चा फिर भी माता की गोद की ओर जाता है, मेरी ओर नहीं आता। क्या कारण है? यही कि बच्चा पहिचानता है-माता के अभिप्राय को, वह जानता है कि माता ने अन्तरङ्ग से उसे द्वेष करके नहीं मारा है, मारने के पश्चात् वह पछता रही थी। "हाय हाय! कितनी क्रूर हूं मैं, धिक्कार है मुझे। अपने जिगर के टुकड़े को इस प्रकार मारते हुए कहां चला गया था तेरा मातृत्व? इसी प्रकार न जाने क्या क्या भाव आ रहे थे, और जा रहे थे—उसके अन्दर में। यह भाव कृत्रिम नहीं थे, स्वाभाविक थे। इसका नाम है पश्चाताप व आत्म ग्लानि। इसी के कारण वह मारती हुई भी नहीं मारती। और मेरे अन्दर पड़ा था द्वेष, "किसी प्रकार यह बच्चा फिर मेरे कमरे मे न आये, बड़ा दंगई है, यह उठा वह धर, यह तोड़ वह फोड़। मुझे नही भाता ऐसा दंगई बालक,' यह थे मेरे भाव भले एक ही थप्पड़ मारा हो, परन्तु मैंने अन्तरङ्ग के अभिप्राय पूर्वक मारा था, और इसलिये उस पर मुझे कोई पश्चाताप न हुआ, बल्कि उस क्रिया को अच्छा ही समझा। "चलो बला टली, बिना मारे यह मानने वाला ही न था, लातों के भूत बातों से नहीं मानते,' यह थे मेरे भाव। कितना महान अन्तर है दोनों के भावों में। इसी कारण माता ने मारते हुए भी न मारा, और मैंने थोड़ा मार कर भी बहुत मारा।

३ एक तीसरा दृष्टान्त भी सुनिये। एक व्यापारी की दुकान पर रहता है एक मुनीम। बड़ा ईमानदार है, सेठ साहब को पूर्ण विश्वास है-उस पर, सब रुपया पैसा व देन लेन उसके हाथ में

है। किसी समय एक विचार उठा मुनीम के हृदय में। "यदि थोड़ा-थोड़ा करके रुपया उड़ाने लगूं तो सेठ साहब को क्या पता चल सकता है? बस कर दी चोरी प्रारम्भ। पहले महीने में सौ, और दूसरे में तीन सौ और इसी प्रकार बढ़ता गया। एक समय में २० हजार रुपये उड़ा लिये। सेठ को कुछ खबर नहीं। हिसाब किताब बिल्कुल ठीक। किसी प्रकार भी चोरी नहीं पकड़ी जा सकती थी। परन्तु मुनीम के हृदय की गति किसी और ही दिशा में चली जा रही थी। बाहर में बराबर चोरी कर रहा था, और अन्तरङ्ग में, "अरे! क्या कर रहा है तू? किसके लिये कर रहा है यह इतना बड़ा अपराध? कितने दिन चलेगा यह कुछ। विश्वास घात करना क्या शोभा देता है तुझे? क्या मुंह लेकर जाता है सेठ के सामने? क्या इसी का नाम मनुष्यता है?" और इसी प्रकार अनेकों धिक्कारें निकला करती थीं—बराबर, उसके अन्तस्थल से। चोरी अवश्य करता था, पर उसके हृदय ने कभी उस धन को स्वीकार न किया। बराबर उसकी रक्षा करता रहा। पृथक ही हिसाब खोलकर बैंक में डलवा दिया। एक कौड़ी को भी उसने हाथ न लगाया, मानों धरोहर थी उसके पास। कुछ दिन और बीत गये—अपराधी प्रवृत्ति व इस हृदय के संघर्ष में, और आखिर जीत हृदय की हुई। डेढ़ वर्ष पश्चात् लाकर रख दिया बीस का बीस हजार रुपया सेठ जी के चरणों में। और हाथ जोड़ कर खड़ा रह गया है किंकर्तव्य विमूढ सा। सेठ जी, "अपराधी हूं। मुझ जैसा दुष्ट सम्भवतः लोक में कोई दूसरा न हो। विश्वास घात किया है मैंने। यह आपकी दुकान से चुराया हुआ धन है। आश्चर्य न करें। मैं ही हूं वह चोर जिसने यह कुकर्म किया है। दण्ड दीजिये इस पापी को।

इसी के सामने एक दूसरे चोर को भी देखिये जो उसी दुकान पर से चुरा रहा है, और खा रहा है। मस्त मानों उसके बाप की ही है यह सम्पत्ति। भले साल भर में केवल २०० रुपये ही चुरा सका हो पर उस चोरी में रस ले रहा है। आप ही बताओ दोनों में चोर कौन? २०,००० चुराने वाला या २०० चुराने वाला? सोच में पड़ गये? हृदय की आवाज को छुपाने का प्रयत्न न कीजिये। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है कि आप समझ गये हैं—इस रहस्य को।

२ अतिचार और अनाचार में अन्तर

लीजिये अब इसको सिद्धान्त का रूप दे दीजिये, ताकि भविष्य में शंकायें उत्पन्न करने को अवकाश न रह जाये। व्रती के अपराध दो प्रकार के होते हैं—एक अभिप्राय पूर्वक किया जाने वाला, एक अभिप्राय रहित, प्रमाद वश केवल किसी संस्कार के क्षणिक उदय वश किया जाने वाला; एक अच्छा समझ कर किया जाने वाला, और एक आत्मग्लानि सहित स्वयं हो जाने वाला। इन दोनों में से पहले अपराध का नाम है अनाचार और दूसरे का नाम है अतिचार। अनाचार में निरर्गलता होती है, 'किया तो किया सही। क्या बुरा किया? ठीक ही किया,' ऐसा भाव रहता है। और अतिचार में उस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न रहता है, आत्म निन्दन व ग्लानि रहती है, 'यह तूने बहुत बुरा किया। तुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। अब किया तो किया, भविष्य में तेरे द्वारा ऐसा कार्य नहीं होना चाहिये' ऐसा भाव रहता है। और इसलिये अनाचार तुच्छ मात्र होते हुए भी बहुत बड़ा अपराध है। और अतिचार पर्वत सरीखा होते हुए भी हलका अपराध है।

अभिप्राय की महिमा अपार है। बाहर में अपराध न करने पर भी अभिप्राय में करने की बुद्धि होते ही अपराधी है। और अभिप्राय में न होते हुए स्पष्ट अपराध करता हुआ अपराधी

है शीघ्र ही सुधरने योग्य है। धर्मी जीव के जीवन में लगने वाले अपराध अतिचार रूप होते हैं, अनाचार रूप नहीं। परन्तु बराबर बाहर से आप लोगों की धुत्कारें पड़ती रहें, उसे सांत्वना देने का प्रयत्न न किया जाये तो हो सकता है कि वह अतिचार अनाचार में परिवर्तित हो जाये। वह सोचने लगे कि "लोक में तो निन्दा हो ही चुकी है। कोई तेरे साथ सहानुभूति करने वाला दिखाई देता नहीं। अतः अपराध करने से क्यों घबराता है। जब अपराधी ही बन गया, तो दिल खोलकर कर' इत्यादि। और इस प्रकार कल्याण के पात्र को आप ढकेल दें अकल्याण के गर्त में। कितना बड़ा अनर्थ होगा? अतः भाई! गांठ बान्ध ले इस बात की कि कभी किसी का दोष देख कर घृणा न करेगा। प्रेम पूर्वक समझा बुझा कर उसका दोष टलवाने का प्रयत्न करेगा। और वह यदि न भी माने तो भी उससे द्वेष न करना, माध्यस्थता ही धारना।

बाह्य के अपराधों को न देख कर अभिप्राय को पढ़ना सीखो, अभिप्राय की रक्षा करो। प्रवृत्ति में से दोष धीरे-धीरे स्वतः टल जायेंगे। अभिप्राय न बदल कर प्रवृत्ति में से दोष टालना चाहोगे तो भले कुछ दिन रुके रहें, पूरी आयु पर्यन्त रुके रहें; पर अगले भव में सही, एक रोज तो अवश्य जागृत होकर रहेंगे। अभिप्राय मूल है, और प्रवृत्ति उसकी शाखा। मूल का आघात करना ही बुद्धिमानी है केवल शाखा को काटने से कुछ न होगा। इस गृहस्थ अवस्था में भी भले अपराध प्रवृत्ति में से न टले, पर अभिप्राय में से निरर्गलता व स्वच्छन्दता टल सकती है। यह महान कार्य है, इसे अवश्य कर डालो। अवसर मिला है इससे मत चूको।

❀ परिषह जय व अनुप्रेक्षा ❀

मुज़फ़्फ़रनगर दिनांक २८ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८४

१—तप व परिषह में अन्तर, २—परिषह जय का लक्षण, ३—परिषहों के भेद, ४—अनुप्रेक्षा का महात्म्य व उनके भाने का ढंग, ५—कल्पनाओं का महात्म्य, ६—क्रम से १२ भावनायें।

१ तप व परिषह में अन्तर

एक क्षण को भी शान्ति का विरह सहने में असमर्थ है योगीराज ! आश्चर्य है कि इतने सामर्थ्य हीन को भी पराक्रमी बताया जा रहा है, वीर बताया जा रहा है। ठीक ही तो है। यही तो है महिमा आपकी। शान्ति के व्यापारी जो ठैरे। धन का व्यापारी धन का विरह सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसके उपार्जन में आई अनेकों बाधाओं को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार करता है। एक रण कुशल क्षत्रिय, क्षत्रित्व का अपमान सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसकी रक्षा के लिए बड़े-बड़े प्रहारों को फूलों की चोट के समान भी नहीं गिनता। इसी प्रकार आप भी अपनी सम्पत्ति व गौरव जो शान्ति, उसमें बाधा सहने में असमर्थ होते हुए भी, उसकी रक्षा के अर्थ लौकिक बाधाओं के बड़े-बड़े प्रहारों को तृण सम भी नहीं गिनते। तीन लोक की सम्पूर्ण बाधायें एकत्रित होकर चली आयें आपकी शान्ति को छीनने, तो भी आप उसका पल्ला नहीं छोड़ते। धन्य है आपका बल धन्य है आपका पराक्रम। आप वास्तविक क्षत्रिय हैं, वास्तविक वीर हैं, वास्तविक व्यापारी हैं, वास्तविक रण कुशल योद्धा हैं।

आज परिषह जय की बात चलती है। परिषह का अर्थ है-"परि" अर्थात् चारों ओर से सम्पूर्ण उत्साह के साथ 'षह' अर्थात् बाधाओं को सहना। तप में भी बाधाओं को सहने की बात कही गई है, और यहां भी कही जा रही है। पुनरुक्ति व पिष्ट पेषण सा दिखाई देता है। परन्तु ऐसा नहीं है। तप व परिषह में अन्तर है। तप में जान बूझ कर योगी बाधाओं व कष्टों को निमन्त्रित करता था। और यहाँ है उन बाधाओं की बात, जो मनुष्य व तिर्यंच व प्रकृति आदि के द्वारा स्वतःएव बिना बुलाये आ पड़ें।

२ परिषह जय का लक्षण

तपश्चरण के प्रभाव से शक्ति में अतुल वृद्धि हो जाने पर, आज वह इतना समर्थ है कि, तीन लोक की बाधायें व पीड़ायें भी सिमट कर युगपत उस योगी पर आक्रमण करें तो उसे अहने स्वभाव से विचलित करने में समर्थ न हो सकें—इसका नाम है परिषह जय। बाधायें आने पर शान्ति को खो बैठने तथा विष की घूंट पीने वत् जबरदस्ती उन पीड़ाओं को सहने

का नाम परिषह जय नहीं है, वह तो जय की बजाय हार कही जाने योग्य है। अपनी सम्पत्ति को हारा तो हारा और उसकी रक्षा में जीता तो जीता। बाधाओं को जिस किस प्रकार सह लेने का नाम जीतना नहीं, शान्ति पूर्वक बिना किसी प्रकार खेद के जीतने का नाम है परिषहजय और इस लिये परिषह जीतने में योगी को कष्ट होता नहीं। भले बाहर में देखने वालों को वह पीड़ित भासें परन्तु अन्तरङ्ग में वह शान्ति रस का ही पान किया करते हैं अत: बहुत बड़ी है महिमा उनके पराक्रम की। शत्रु के आने पर चुपके से अपनी सम्पत्ति उसे सौंप दे, तो योद्धा काहे का? इसी प्रकार बाधाओं से घबरा कर शान्ति को चुपके से छोड़ दे, तो पराक्रमी कैसा?

१ परिषह के भेद

इस बात की क्या गिनती, कि कितनी प्रकार की बाधायें उस योगी पर आ सकती हैं? असंख्यात हो सकती हैं। पर जिसके पास वस्त्र भी नहीं, दिशायें ही जिसका वस्त्र है; रहने को जिसके पास घर नहीं, आकाश ही जिसका घर है; रक्षा करने को सेवक व सेना नहीं, शांति ही जिसका सेवक व सेना है; उस बनवासी पर कितनी बाधायें स्वयं ही कभी भी आ सकनी सम्भव हैं; इसका अनुमान नहीं लग सकता। कुछ बाधायें तो ऐसी हैं जिनसे कि प्रतिदिन ही सामना करना पड़ता है-उन्हें और कुछ ऐसी भी हो सकती हैं कि, जिनसे कभी कभी भेंट हो जानी सम्भव है। कुछ शारीरिक भी हो सकती हैं और कुछ मानसिक भी। इन सर्व में से मुख्य बाईस बाधायें कथनीय हैं।

१—क्षुधा, २—तृषा, ३—गरमी, ४—सर्दी, ५—डांस, मच्छर, मक्खी व बिच्छु आदि की, ६—उपवासों से शरीर के अत्यन्त कृश हो जाने पर भी कंकरोली व कंटक पूर्ण धरती पर बराबर विहार करने की, ७—एकासन पर बहुत देर तक बैठने की, या एक करवट पर ही लेट कर सारी रात बिताने की, ८—किसी मनुष्य व तिर्यंच पशु आदि के द्वारा पीड़ित किये जाने की, ९—रोग की, १०—कांटा कंकर आदि चुभने की, ११—शरीर में पसेव आदि झरने पर इसके मलीन व दुर्गन्धित हो जाने की। यह ग्यारह जाति की बाधायें तो ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध शरीर से है। स्वयमेव कोई ऐसी बाधा का कारण उपस्थित होने पर वह अपनी शान्ति से विचलित नहीं होते उनसे बचने का प्रयत्न न करके, किन्ही विचार विशेषों के बल पर उन्हें दबा देते हैं और इस प्रकार बड़े से बड़ी पीड़ा को न गिनते हुए, बराबर निश्चल बने रहते हैं।

१—नग्नता के कारण लज्जा, २—पूर्व में अनुभव किये गये भोगादि का स्मरण, ३—एकान्त में किसी सुन्दर व कामुक स्त्री के द्वारा की गयी हाव भाव व विलास की चेष्टा, ४—भयानक पशुओं की गर्जना से पूर्ण श्मशान आदि भयानक स्थानों में अकेले बैठे रहना, ५—किसी के मुख से निकले गाली व निन्दा के शब्द, ६—लम्बे लम्बे उपवासों से क्षुधा की अग्नि में जलते हुए, अन्तरंग में कदाचित प्रगट हो जाने वाला याचना का या दीनता का भाव। ७—अनन्त गुण भण्डार होते हुए भी यथा योग्य रूप में सत्कार का न मिलना, ८—भोजन की इच्छा होते हुए भी भोजन के संयोग में बाधा पड़ जाना, ९—बहुत ज्ञानी होते हुए भी अन्य द्वारा ज्ञानी स्वीकार न किया जाना, १०—कठिन तपश्चरण करते हुए भी कोई चमत्कारादि शक्ति का न मिलना, ११—तथा कदाचित् इस प्रकार की बाधाओं के कारण श्रद्धान में हलचल पैदा होने की सम्भावना। यह ग्यारह प्रकार की

हैं वे बाधायें, जिनका सम्बन्ध मानसिक विचारों से है। यद्यपि शरीर को इन बाधाओं से कोई पीड़ा नहीं होती, परन्तु ऐसे अवसरों पर अन्तरंग में एक बड़ी तड़पन हो जाया करती है, जो सम्भवतः शारीरिक पीड़ा से कई गुणी अधिक होती है। इन सभी बाधाओं व मानसिक पीड़ाओं को वह योगी, अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ, किन्हीं विचार विशेषों के बल से दबा देता है—इसे कहते हैं परिषह जय।

४ अनुप्रेक्षा का महात्मय व उन के भाने का ढङ्ग

अब प्रश्न यह होता है कि वह विचार विशेष क्या है, और उनमें कौन सामर्थ्य है, जिसके कारण कि बाहर में रक्षा का उपाय किये बिना भी, वह इतनी बड़ी पीड़ाओं को, जिसे सुनकर भी कलेजा हिल जाता है, जिसके अनुमान से भी जगत कांप उठता है, जीत लेता है? वास्तव में ऐसी ही बात है भाई! इसमें आश्चर्य को अवकाश नहीं, क्योंकि विचारणाओं का बल प्रतिदिन हमारे भी अनुभव में आ रहा है। पुत्र वियोग हो जाने पर, मित्र के द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर, कुछ विचार विशेष ही तो होते हैं, जो मेरे अन्तर दाह को कुछ शीतलता पहुँचाते प्रतीत होते हैं। 'जल्दी ही अच्छे हो जाओगे, विश्वास करो', डाक्टर के ऐसा कहे जाने पर, कोई विचार विशेष ही तो होते हैं, जो कुछ सान्त्वना सी देते प्रतीत होते हैं। विचारणाओं में अतुल बल है और फिर अलौकिक जनों को तो विचारणायें भी अलौकिक हैं। उनका आधार कल्पनायें नहीं वस्तु स्वभाव है इसलिये उनके विचारों के होते बाधा दीखनी ही असम्भव है। वह भावनाएं स्वयं साकार होकर उसके सामने आ खड़ी होती हैं, और वह साधक उनके दर्शन में खो जाता है। कौन जाने उन बाधाओं को, कौन वेदन करे उनसे उत्पन्न हुई पीड़ाओं को?

इस प्रकार की विचारणायें तो अनेकों हो सकती हैं। फिर भी समझाने के लिए उनको बारह कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। यद्यपि वस्तु में और भी अनेकों बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में विचार उठाये जा सकते हैं, परन्तु उन सब का समावेश यथा योग्य रीति से इन बारह में ही कर लेना चाहिये। अब उन बारह विचारणाओं का कथन चलेगा। 'इनको बारह वैराग्य भावनायें' भी कहते हैं, क्योंकि इनको विचारने से अन्तरङ्ग विरागता में एक दम कुछ ज्वार सा आ जाता है। इन विचारणाओं को आगम में 'अनुप्रेक्षा' नाम से भी कहा गया है; क्योंकि इनका एक बार ही विचार कर लेना पर्याप्त हो, ऐसा नहीं है, एक ही भावना प्रयोजन वश पुनः पुनः न जाने कितनी बार बराबर भाई जाती रहे। अनुप्रेक्षा का अर्थ है पुनः पुनः चिन्तवन करना और इसलिये उनका नाम अनुप्रेक्षा कहना युक्त है।

यहां इतनी बात अवश्य जान लेने योग्य है कि, जिस प्रकार वैद्य के घर में अनेक औषधियाँ हैं, पर सभी रोगियों को सभी औषधियां दी जायें, ऐसा नहीं होता, बल्कि जो जिस रोगी को योग्य व अनुकूल पड़ने वाली हो, वही औषधि विशेष उसको दी जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बाधा के आने पर बारह की बारह या कोई सी भी एक भावना भानी आवश्यक हो, सो बात नहीं है। बल्कि जिस अवसर पर जो भानी योग्य हो उस अवसर पर वह भानी ही उपयुक्त है। हो सकता है कि किसी बाधा में बारह की बारह की भी आवश्यकता पड़ जाये, कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त इन भावनाओं सम्बन्धी कवियों द्वारा रचित पाठों के पढ़ने का नाम अनुप्रेक्षा नहीं है, क्योंकि केवल पाठ पढ़ने से ही वांछित लाभ नहीं है किन्तु लाभ है मन को केन्द्रित

करके उसे अमुक चिन्तन में उलझाने से। उसमें तो बुद्धि पूर्वक ही, तत्सम्बन्धी दृष्टान्तों को याद करके; अपने जीवन में या अन्य के जीवन में पहले अनुभव की गई या देखी गई, उसी जाति की घटनाओं को याद करके; तथा उन अवसरों पर अपने में प्रगटे या अन्य के साहस को ध्यान में लाकर; यथा योग्य रूप से स्वत: अन्तरङ्ग में विचार उठा कर; पुन: पुन: उसके चिन्तवन में निमग्न हो जाना ही कार्यकारी है। ऐसी विचारणाओं से ही बाधायें जीती जा सकती हैं, केवल पाठ पढ़ने से नहीं। हां ! पाठ भी इस प्रकार की विचारणाओं में सहायक हो सकते हैं।

इन सर्व विचारणाओं में केवल शान्ति की रक्षा का ही अभिप्राय रहना चाहिये। उन विचारणाओं को इष्ट समझें तो भूल होगी, क्योंकि वह स्वयं विकल्प हैं; और विकल्प अशान्ति के कारण होते हैं। उन्हें त्यागने का प्रयोजन लेकर आगे बढ़ा हूं, उनको इष्ट समझने लगूं तो कभी भी उनको त्याग न सकूंगा। उन्हें न त्यागने पर पूर्ण शान्ति कैसे प्राप्त करूंगा ? उल्टा नीचे गिर जाऊंगा। जैसे रोग के प्रशमनार्थ भले वर्तमान में औषधि का प्रयोग करना रोगी प्रारम्भ कर दे, पर सदा उसे सेवन करते रहने का अभिप्राय रख कर नहीं करता। रोग शमन हो जाने पर तुरन्त छोड़ देता है और स्वास्थ्य का भोग करने लगता है। यदि फिर भी औषधि का बराबर सेवन करता ही चला जाये तो उल्टा अधिक बीमार हो जायेगा। रोगीली अवस्था में ही औषधि उपकारी व अमृत है, परन्तु स्वस्थ अवस्था में वही हानिकारक तथा विष है। इसी प्रकार सर पर आ पड़ी पीड़ा के प्रशमनार्थ, वर्तमान में भावनाओं का चिन्तवन करना योगी भले प्रारम्भ कर दे, पर सदा उसे भाते रहने का अभिप्राय रख कर नहीं करता, बाधा व पीड़ा टल जाने पर तुरन्त उस विकल्प को छोड़ देता है, और पुन: उस शान्ति का भोग करने लगता है। यदि फिर भी बराबर भाता ही रहे तो उन विकल्पों के कारण और अधिक अशांत हो जायेगा। बाधाओं की तीव्र व असह्य पीड़ा के आ जाने पर, मन को वैराग्य के विकल्पों में उलझाना ही उपकारी है, परन्तु बाधा टल जाने पर भी विकल्पों में भटका रहे तो योगी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, शान्ति की पूर्णता नहीं कर सकता।

उसमें उठने वाली भावनाओं का यह विकल्प इसलिये बताया जा रहा है, कि उसमें अभी तक भी ऐसा संस्कार विद्यमान है, कि जिसके कारण उसे बाधा, बाधा दिखाई देती है, जिसका कारण है यह कि बाधा आने पर उसे पीड़ा का वेदन होने लगता है, जिनके कारण कि उसे अपनी शान्ति के घात का भय है। यदि संस्कार टूट गया होता, तो क्या आवश्यकता थी इस भय की, और क्या आवश्यकता थी उससे अपनी रक्षा करने की ? क्योंकि वह चैतन्य, निराकार, पर ब्रह्म; शान्ति उसका सर्वस्व व स्वभाव, जिसका तीन काल में भी उससे विच्छेद होना असम्भव; बाहर की बाधायें बेचारी उसे किंचित् भी स्पर्श करने में असमर्थ। फिर क्यों भाये उन भावनाओं को ? शान्ति में स्थित है, बस उसी के भोग में स्थित रहा करे परन्तु ऐसा नहीं होता। कहना आसान है पर करना बहुत कठिन।

यद्यपि बल बढ़ चुका है, परन्तु अभी भी शक्ति में कुछ कमी है। छोटी मोटी बाधाओंकी तो उसे खबर भी नहीं लगती, परन्तु बड़ी भयानक बाधाओं के आ जाने पर, अवश्यमेव ही उसे पीड़ा का वेदन होने लगता है और उसकी शान्ति व साम्यता उसके हाथ से निकल कर मानों भागती प्रतीत होती है।

ऐसे अवसरों पर जिस किस प्रकार भी उस शान्ति की रक्षा करने में तत्पर योगी, किन्ही वैराग्य प्रवर्तक विकल्पों को, उतने समय के लिये जान बूझ कर उठाता है, जितने समय के लिये कि वह पीड़ा शान्त न हो जाये। आगे उन्हीं विकल्पों सम्बन्धी कुछ चित्रण खेंच कर बताने का प्रयत्न करूंगा।

मुजफ्फरनगर दिनांक २६ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८५

कल्पनाओं का महात्म्य

अहो ! त्रिलोक विजयी गुरुदेव की महिमा व उनका पराक्रम। तीन लोक की बड़ी से बड़ी बाधा भी जिनकी निश्चलता को भंग करने में समर्थ नहीं। रत्नों के प्रकाश में व मखमल के कोमल गद्दों पर पला व सुकुमार शरीरी एक दिन तपस्वी होगा, क्या स्वप्न में भी कोई विचार सकता था ? सूर्य के प्रकाश में आने पर जिसकी आंखों से पानी बह निकले, गद्दे के अन्दर कहीं भूला भटका पड़ा एक विनौले का दाना भी जिसे सहन न हो सके, राजा को परोसे गये उत्तम भोजन में से भी जो चुन चुन कर अपने योग्य उत्तम चावल खाये। ओह ! आज वह चला जा रहा है कंकरीली भूमि पर, सूर्य के ताप में, नग्न रूप धारे। कंकरों के चुभ जाने के कारण उसके पांव लहूलुहान हो चुके है, इसका भी जिसे भान नहीं। और अरे विधाता ! यह क्या दृश्य ? मेरा कलेजा दहल गया है जिसको देख कर, हृदय रो रहा है चीख चीख कर, जिह्वा थक गई है रक्षा रक्षा पुकार कर। आज एक गीदड़ी खा रही है धीरे धीरे उस जीवित सुकुमाल को, एक घण्टे दो घण्टे की बात नहीं, बराबर तीन दिन हो गये हैं आज उसे खाते खाते। पर सुकुमाल जीवित है, पूर्व वत् निश्चल शान्ति की उपासना में, पूर्ववत् ध्यानस्थ वैराग्य मुद्रा में यह है एक योगी का पराक्रम। कौन दे रहा है उसे बल इतनी बड़ी पीड़ा पर विजय पाने के लिए ?

आश्चर्य मत कर जिज्ञासु ! उसे वह बल कोई दूसरा नहीं दे रहा है, स्वयं उसका अन्तष्करण दे रहा है, वह बल उसी के पास है-अन्यत्र नहीं। तेरे पास भी वह है, इसी समय है, परन्तु खेद है कि तू उसे जानता नहीं। यदि जान जाये तो इसी अल्प गृहस्थ अवस्था में अपने योग्य अनेक बाधाओं को तृणवत् उल्लंघ जाये। क्यों सोच में पड़ गया ? परन्तु सोच की क्या बात है भाई ! देख वह बल है तेरी अपनी कल्पनायें। कल्पनाओं के आधार पर ही तू दुःखी है, और कल्पनाओं के आधार पर ही सुखी हो सकता है, कल्पनाओं के आधार पर ही वह योगी इतनी बड़ी पीड़ा को जीत गया, और कल्पनाओं के आधार पर ही तू इस समय गृहस्थ सम्बन्धी चिन्ताओं को जीत सकता है। परन्तु वह कल्पना साधारण मात्र कल्पनायें ही नहीं हैं, उनके पीछे छिपा है तेरा वास्तविक स्वरूप, परम सत्य। दुःखों की आधार भी कल्पनायें हैं, परन्तु उनके पीछे है शून्य, अर्थात् वह हैं केवल कल्पनायें बिल्कुल निराधार।

वर्तमान की राग-द्वेष जनक व बाह्य पदार्थों में इष्टानिष्टता जनक इन कल्पनाओं को

बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे तेरी चिर परिचित हैं, नित्य अनुभव में आ रही हैं। वे विशेष कल्पनायें ही जानने योग्य हैं, जिनका आधार कि वस्तु स्वरूप है, लो सुनो।

६ क्रम से बारह भावनायें

(१) क्या सोच रहा है चेतन ? क्यों हो रहा है व्याकुल ? क्या भूल गया है अपना रूप ? सत् चित् व आनन्द स्वरूप, तू तो सत् है शाश्वत है। कौन शक्ति है जो तेरा विनाश कर सके ? क्या इन तुच्छ सी पीड़ाओं से घबरा गया है तू ? याद कर कितनी-कितनी सही हैं, इस से पहले ? कितनी बार मारा गया है, खण्ड-खण्ड किया गया है तू ? पर आज यह 'मैं' कहने वाला तू कैसे जीता जागता स्वयं अपने को देख रहा है, जान रहा है और वेदन कर रहा है ? ओह अब समझा। तेरी दृष्टि क्यों पुनः-पुनः इस माँस के पिंड पर जा रही है ? क्या भूल गया है इसके स्वभाव को ? कितनी बार धोखा दे चुका है यह तुझे ? अब भी विश्वास नहीं आया इसकी कृतघ्नता पर ? अरे भोले ! इसका तो स्वभाव ही है आकर जाना। क्या आज तक निभाया है कभी इसने तेरा साथ ? इसका तो स्वभाव ही है विनश जाना। क्यों व्याकुल होता है इसके पीछे ? भेदा जाता है तो भेदा जाओ। जाने दे इसे तुझे क्या। जाने वाला तो जायेगा ही। तू तो नहीं जा रहा है कहीं ? बस उसे ही क्यों नहीं देखता ? यह खण्डित होता है तो होने दे, इसका स्वभाव ही खण्डित होने का है, तू तो खण्डित नहीं होता। फिर क्यों रोता है ? इस पुतले की बात तो जाने दे, तथा यह जो लोक में इतना बड़ा पसारा दिखाई दे रहा है, उसमें से ही बता, कौन सी वस्तु है जो सदा ज्यों की त्यों रही हो ? आज कुछ रूप है तो कल कुछ और, सारा जगत ही तो परिवर्तन शील है, परिवर्तन करना इसका स्वभाव है। करता रहने दे परिवर्तन इसे, बदलने दे अपने रूप इसे जितने चाहे, तुझे तो कुछ नहीं कहते बेचारे। उन पर से दृष्टि हटा, देख इधर देख, अपने शाश्वत व ध्रुव रूप की ओर। 'यह सब कुछ तो अध्रुव है, 'अनित्य' है, इससे काहे का प्रेम ? इसके लिए काहे की चिन्ता ?

अनित्य भावना

(२) अरे चेतन ! क्या मूर्ख हो गया है ? पीड़ा में उलझ कर बुद्धि खो बैठा है ? प्रभु होकर भीख मांगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? भीख भी किनसे मांगता है। इन रंकों से ? जो स्वयं भिखारी हैं। किनका आश्रय खोजता है ? जो स्वयं निराश्रित हैं किनसे रक्षा की पुकार करता है ? जो स्वयं अरक्षित हैं क्या शरीर कर सकता है तेरी सहायता ? तू तो चेतन

अशरण भावना

(काल रूपी सिंह से कोई बचाने वाला नहीं)

यह बेचारे जड़ । क्या देंगें तुझे? और फिर देख जरा आंख तो मीच, ले अब खोल कर देख ले। कहां गया वह इतनी सी देर में ? स्वयं अपनी रक्षा भी तो नहीं कर सकता बेचारा ? क्या रुपया करेगा तेरी रक्षा या करेगी तेरी सेना या यह दुर्ग, या देव दानव, या यह मंत्र विद्या ? बता तो सही" किसके प्रति है तेरा लक्ष्य ? इनमें से कौन ऐसा दीखता है जो अगले ही क्षण में न बदल जाये ? मृत्यु का ग्रास न बन जाये ? यह बेचारे रंक क्या करेंगें तेरी सहायता ? इधर आ, देख अपने प्रभुत्व की ओर जो त्रिकाली सत् है, शाश्वत है,ध्रुव है,सदा से है और सदा रहेगा। विनाश ही नहीं है जब इसका तो फिर रक्षा किसके लिये चाहिये ? स्वयं रक्षित को रक्षा की क्या आवश्यकता ? यह स्वयं शरण भूत है, अन्य सब अशरण हैं।
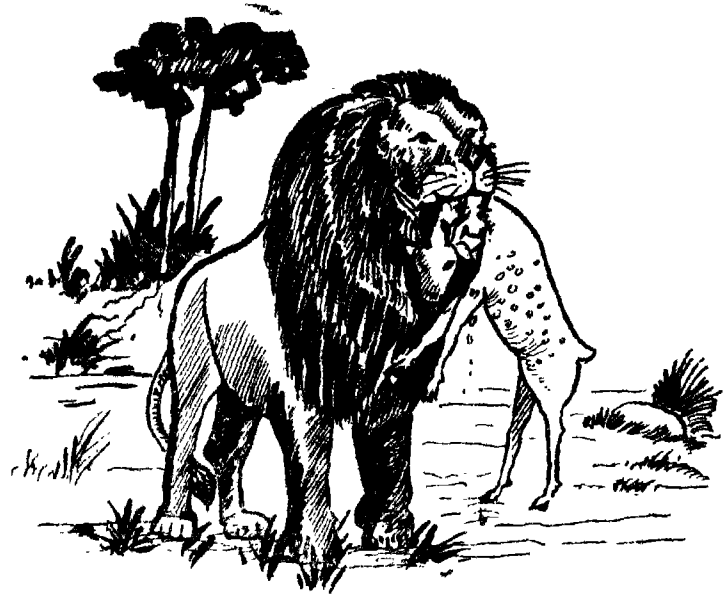
(३) किधर भटक रहा है चेतन ! किसकी ओर खिचा जा रहा है तू ? रुपये की ओर, या इन माता-पिता की ओर, या इस पुत्र व स्त्री की ओर, इनकी ओर नहीं तो फिर किसकी ओर ? अरेरे जाना । रुपये पैसे व स्त्री पुत्रादि इन दोनों की ओर, चक्रवर्तियों की ओर, स्वर्ग के देवों की ओर—इनमें नवीनता व वैभव दिखाई देता है तुझे । भोले प्राणी ! क्या लोक हंसी का भी भय नहीं रहा तुझे ? वमन को चाटते ग्लानि नहीं आती ? पीछे मुड़ कर तो देख जरा कि अनन्त बार बनाया है तूने—इनको अपना और अनन्त बार ही भोगा है तूने—इन्हें । क्या अब भी इनमें नवीनता रह गई है—कुछ ? अनेकों बार ग्रहण कर करके छोड़ा, वमन कर करके चाटा । अब क्या आकर्षण रह गया है इनमें ? क्या कहा तूने ? यह स्थान रहने को अच्छा है । अरे ! कैसी भोली बातें करता है, मानों कुछ जानता ही नहीं ? बता तो सही कि आकाश का कौन सा प्रदेश छोड़ा है, जहां तू अनन्तों बार जा-जा कर न रहा हो ! चर्तुगति में कौन सी ऐसी पर्याय है जो तूने धारण न की हो ? यह है संसार जिसमें नित भ्रमण करता आया है तू । अब इधर आ प्रभु, इधर आ । देख कितना सुन्दर है यह तेरा रूप-पूर्ण शान्त, ज्ञान व आनन्द का पिंड । एक बार भी जिसकी ओर नहीं देखा है आज तक, यह है तेरे लिये बिलकुल नवीन । भोगना ही है तो इसे भोग, नित्य नया-नया करके भोग, पुनः पुनः भोग, सर्वदा भोग, सवत्र भोग, सर्वतः भोग, इसमें बसा है तेरा 'नया संसार' । यह है संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन जिसको विचारने से परिणामों में विशुद्धता व दृढ़ता आती है ।

❀ चतुर्गति रूप संसार सागर ❀

हम तो कबहुं न निज घर आये—
नर पशु देव नरक निज जान्यो पर्यय बुद्धि लहाये।
अमल, अखण्ड, अतुल अविनाशी आतम गुण नहीं गाये ॥
(पं० दौलतराम

चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव
को सुख नहीं किन्तु दुःख ही दुःख है।

(४) क्या विचार रहा है भोले चेतन ! किन में खोज रहा है अपनापन ? किन को कहता है तू मेरा ? क्या मिलेगा इस प्रकार तुझे ? पड़ौसी धन को तू भले के अपना कह कर अपना

चित्त प्रसन्न कर ले, पर इस प्रकार क्या वह तेरा बन जायेगा ? नाहक खिन्न होगा, जबकि वह साफ इंकार कर देगा तुझे, जैसा कि आकिंचन्य धर्म के अन्तर्गत पोसती के दृष्टान्त में बताया गया है (देखो अधिकार नं० ४२ प्रकरण नं० ६)। सर्व ही पदार्थ अपनी मर्जी से आते हैं, अपनी मर्जी से जाते हैं, न तुझ से पूछ कर आते हैं, न तुझ से पूछ कर जाते हैं। तू कौन होता है उनका ? वह कौन होते हैं तेरे ? तनिक तो बुद्धि लगा। रेल में बैठे अपने साथ वाले यात्रियों को भले मामा, चाचा, ताऊ कहकर पुकार, पर इससे क्या वह तेरे मामा आदि बन जाएंगे ? मेरा-मेरा करके व्यर्थ चिन्ताओं को बुला रहा है। वह तुझे अपनायें या न अपनायें पर चिन्तायें अवश्य अपना लेंगी। चन्द्रमा को पकड़ने की इच्छा करेगा तो बता रोने के अतिरिक्त क्या लगेगा तेरे हाथ ? अनहोनी बात हुई है कभी ? असम्भव सम्भव बन सकता है कभी ? क्या कहता है कि यह पुत्रादि तो मेरे हैं ही, मेरी सेवा करेंगे। यह शरीर तो मेरा है ही, मेरे साथ घुला मिला पड़ा है। कहां जा सकते हैं वे मेरी बिना आज्ञा के ? अरे भूले राही ! कहां से आ रहा है तू, कहां जाने का विचार है तेरा, कितनी देर के लिये आया है यहां,—जरा बता तो सही ? कौन है तू विचार तो सही ? कहाँ से आ रहे हैं ये पुत्र मित्र आदि, कहां जा रहे हैं ये, कितनी देर के लिए आये हैं यहां ? जरा इनसे पूछ तो लेता-इन्हें अपना बनाने से पहले। ठग न हों कहीं, लूट न ले जायें तेरी शान्ति को-तेरे अतिथि बनकर ? क्या पहिचाना नहीं इनको ? अरे भोले ! ये वही तो हैं, जो न जाने कितनी बार टकराये तुझे-इसी लम्बी यात्रा में, हर बार नया रूप धारण कर करके, सदा तेरे बन कर आये और अन्य के बनकर चले गये, और तू रह गया रोता का रोता। अब तक नहीं समझा इन ठगों की ठगी। ज्ञानी जीवों की शरण में आया है, प्रकाश पा रहा है, अब तो देख ले आंखें खोलकर, स्वप्न छोड़ दे। भाई ! ये सब पराये हैं, 'पृथक-पृथक' अपना स्वार्थ लिये फिरते हैं, ये तुझसे अन्य हैं तू इन से अन्य है—यह है अन्यत्व भावना।

(५) इधर आ तू भी अपने एकत्व को देख। इनकी भांति तू भी तो इन सब से पृथक ही है। सत्ता धारी भगवान आत्मन् ! क्यों संशय करता है ? अपनी स्वतन्त्र सत्ता को क्यों नहीं देखता ? इन बेचारे रंकों से क्या माँगता है-क्या अपनी प्रभुता की भीख ? अब छोड़ इनका आश्रय, देख इस ओर अपने स्वतन्त्र ऐश्वर्य को, देख अपने-पुराने इतिहास को, सुन अपनी कहानी। अनादि काल से तू अकेला ही तो चला आ रहा है। माना कि मार्ग में अनेकों मिले, पर सभी तो बिछुड़े, एक ने भी तो साथ न दिया। अकेला ही था, अकेला ही रहा, अकेले ही ने सब सुख दुःख भोगे। बता तो सही कि इस स्वार्थी टोली ने कभी बटाये हैं तेरे दुःख ? फिर अब क्यों अपना सुख बांटने की चिन्ता में हैं। सर्प को दूध पिलायेगा तो दुःख उठाएगा। अकेले ठोकरें खाई हैं, अब अकेले ही अपने वैभव को भोग। क्यों लुटाता है इसे--इनके लिये ? अपनी शान्ति का तू ही अकेला स्वामी है, तू ही अकेला उसे भोगेगा, कोई उसे तुझसे छीन नहीं सकता। बंटवा नहीं सकता, अब आकाश पुष्प को तोड़ने की व्यग्रता छोड़, जगत के अन्य पथिकों को अपनाने की बजाय अकेले अपने को अपना ले, तेरी सब व्यथाएं शान्त हो जायेंगी। शरीर का ममत्व भी छोड़ जो इनसे भी अधिक एकमेक हो रहा है तुझसे ? फिर तू जान पायेगा कि किसको हो रही है पीड़ा ? किसको खा रही है गीदड़ी, इस पड़ोसी को या तुझे ? पड़ोसी को खाने दे तुझे क्या ? तू तो सुरक्षित है, यह रहा तू तो अकेला यहां बैठा सब कुछ

इस खेल को देखने वाला। खेल मात्र को देखकर दुःखी क्यों होता है? अग्नि देखने से क्या तेरी आंख जल जायेगी? बस तो इस शरीर को खाया जाता देखकर क्या तू खाया जायेगा? व्यथा को भूल, इधर देख अपने वैभव को जिसके साथ 'अकेला' तू एकमेक हुआ पड़ा है। जहाँ अन्य किसी का प्रवेश नहीं। यह हुई एकत्व भावना।

एकत्व भावना

☞ सुख दुःख, जन्म मरण को यह जीव अकेला ही भोगता है, दूसरा कोई साथ नहीं देता।

(६) अरे! किसके पीछे व्याकुल बनता है? यदि किसी दूसरे को ही अपनाना था तो कोई अच्छी चीज तो छांटता? यहां तो अनेकों भरी पड़ी हैं। क्या यह दुर्गन्धित और घिनावनी वस्तु ही अच्छी लगी तुझे- इन सब में से? अरे प्रभु! अपनी प्रभुता को इतना भूल गया है? इतना गिर गया है, यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता था। तनिक तो लाज कर, कहां तो तू तीन लोक का अधिपति, सुन्दर व स्वच्छ, और कहां यह विष्टा का घड़ा। इसके रोम रोम से बह रहा है मल। दुर्गन्धि के सिवा और है क्या? नहीं विश्वास आता तो एक क्षण भर को इधर आ, ले इस पर से एक मक्खी के पंख के समान पतली सी झिल्ली पृथक करता हूं। अब देख इसे कैसा सुन्दर लगता है यह तुझे? यह छोटी छोटी मक्खियां ही इसे चूंट चूंट कर खा जायेंगी। इसकी सुन्दरता देखनी है तो शौच-गृह में जाकर देख, इसने विश्व के सर्व शुचि पदार्थों को विष्टा बना डाला है। इसके स्नान के जल को कोई पुनः छूने के लिये तैयार नहीं। इस अत्यन्त घिनावनी व 'अशुचि देह' के साथ यारी जोड़ कर, इसकी रक्षा करने के लिये अपना सर्वस्व लुटा रहा है। आश्चर्य है?

मत कीजो जी यारी, घिन गेह देह जड़ जान के ।।

मात, तात, रज वीरज सों यह, उपजी मल-फुलवारी।
अस्थि माल पल नसा जाल की, लाल लाल जल क्यारी।।
कर्म कुरंग थली पुतली यह, मूत्र पुरीष भण्डारी।
चर्म मण्ढी रिपु कर्म घड़ी धन धर्म चुरावन हारी।।
जे जे पावन वस्तु जगत में, ते इन सर्व विगारी।
स्वेद, मेद, कफ क्लेद मयी बहु, मद-गद व्याल पिटारी।।
जा संयोग रोग भव तौलों, जा वियोग शिवकारी।
बुध तासों न ममत्व करें, यह मूढ़ मतिन को प्यारी।।

अशुचि भावना

जिन पोषी ते भये सदोषी, तिन पाये दुख भारी ।
जिन तप ठान ध्यान कर शोषी, तिन परनी शिवनारी ।।
सुरधनु शरद—जलद जल बुदबुद, त्यों झट विनशनहारी ।
यातें भिन्न जान निज चेतन, 'दौल' होहु शम धारी ।।

(७) नित्य नये नये रूप धारण करके प्रगट होने वाले इन विकल्पों में क्या देख रहा है ? भगवन् ! क्या भूल गया है 'आस्रव' के प्रकरण को ? अब पुनः उसे देख ले, (देखो प्रकरण नं० १६—१६) याद आ जाएगी इसकी दुष्टता । इससे अपनी रक्षा कर । इसमें भूल कर आत्मसमर्पण न कर ।

पापास्रव—बन्ध बन्धन व हिंसा में **आस्रव भावना** पुण्यास्रव—म० गाँधी द्वारा रोगी की परिचर्या

(८) अब गुरुदेव की शरण में आया है तो कुछ लाभ उठा। इन विकल्पों में बेक लगा, अब तक आये तो आये, देख आगे न आने पायें। भूला न समझे जो सांझ पड़े घर लौट आये। निज वैभव का आश्रय करके इनका तिरस्कार करदे, इनको दबा दे, 'संवरण करदे'। संवर पर इतने बड़े उपदेश को याद कर।

(९) एक बार इनका तिरस्कार करके देख कहां जाते हैं ये? तिरस्कृत होकर कब तक पड़े रहेंगे तेरे द्वार पर भूखे नंगे, ये बेचारे। आखिर चले जायेंगे एक दिन-छोड़ कर-तेरा संग। जल्दी छूटना चाहता है-इनसे? तब इससे अच्छी तो बात ही क्या है? ले देख अपने पराक्रम को। कर, एक बार गर्जना, पूरे जोर से—"मैं चैतन्य हूं, सत्-चित-आनन्द और पूर्ण ब्रह्म-परमेश्वर। आओ कौन आता है सामने, आज साक्षात् अग्नि बन कर आया हूं मैं। क्षण भर में भस्म कर डालूंगा, जीर्ण कर डालूंगा समस्त संस्कारों को।" युद्ध कर इनके साथ, शान्ति के बल पर, प्रहार कर इन पर शान्ति के शस्त्र द्वारा। वही शांति जो तेरा सर्वस्व है, तेरा स्वभाव है। एक बार की धुड़धुड़ी में झड़ जायेंगे सर्व, वस्त्र पर लगी धूल की तरह हो जायेगी 'निर्जरा' और मिल जायेगी इनसे सर्वदा को मुक्ति—

निर्जरा भावना

कर्मों की निर्जरा हो रही है

निर्जरा हो जाने पर
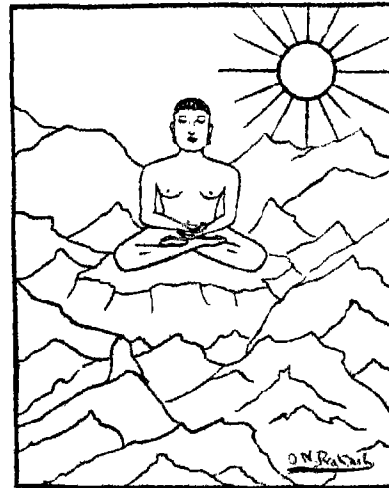
(१०) प्रभो! अपनी महिमा को भूल कर आज कुएं में घुस बैठा है-मेंडक बन कर? क्यों इतना भयभीत हुआ जाता है? क्यों पामर बनता जाता है? अब निकल इस कुएं से बाहर। देख कितना बड़ा है यह विश्व? तुझ जैसे अनन्तों का निवास, तथा अन्य भी अनेकों का घर। सभी ही तो रह रहे हैं यहां-अपनी अपनी मौज में-सर्वत्र की सैर करते; इसकी सुन्दरताओं में लय होते। तू क्यों घबरा गया है इससे? यहां तो कुछ भी भय का कारण नहीं। जिस प्रकार अन्य रहते हैं उसी प्रकार तू भी रह, स्वतन्त्रता के साथ-स्वामी बन कर, ज्ञाता दृष्टा बन कर। देख इसमें सर्वत्र

मुक्त जीवों का स्थान

तीन लोक की धारणा—

स्वार्थ सिद्धि

ऊर्ध्व लोक—नव ग्रैवेयक

१६ स्वर्ग

मध्य लोक

ईश्वर का निवास, देख इसमें एक अद्वैत ब्रह्म, देख इसमें अपनी सृजन शक्ति (अधिकार नं० २७ प्रकरण नं० २४) परन्तु देखना अजायबघर की तरह, अपने घर की तरह नहीं। पीछे सामायिक के प्रकरण में जो सुना था, उसे याद कर (अधिकार नं० २६ प्रकरण न० २८)। बस प्रगट हो जायेगी एक विशाल दृष्टि, जिसका आधार होगा माध्यस्थता व शान्ति और तू बन बैठेगा सर्व 'लोक' का स्वामी, बाहर में नहीं, ज्ञान में। अधोलोक—नरक
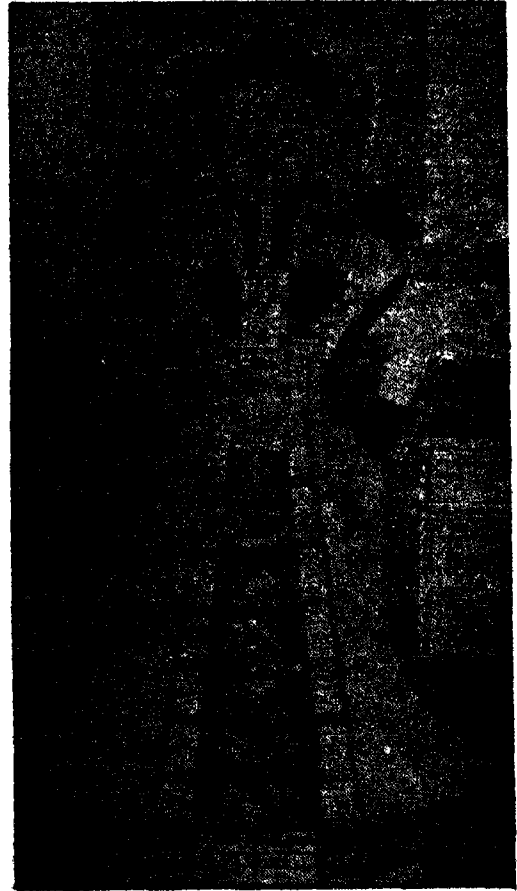
(११) अरेरे चेतन ! अनादि काल से आज तक क्या मिला है तुझे ठोकरों के अतिरिक्त ? दूर दूर भटकता फिरता रहा है आज तक। चांदी सोने की धूल अनेकों बार मिली चाम मांस का पिंड अनेकों बार मिला, कुटुम्बादि अनेकों बार मिले, देवादि के रूप अनेकों बार मिले परन्तु उनमें से क्या मिला तुझे ? आज देख अपने अन्दर। क्या पड़ा है उनका कुछ बचा हुआ भी यहां ? यदि कुछ मिला होता तो कुछ न कुछ तो होता तेरे पास, परन्तु यहां तो शून्य है, कोरा शून्य। क्या मिला और क्या न मिला ? मिलता हुआ भी न मिला ? जो मिलने योग्य था उसे मिल पाया नहीं, जो नहीं मिलने योग्य था उसमें मिलने की कल्पना की, कैसे मिलता तुझे ? आज गुरुदेव की शरण में आकर भी मिला है कुछ नवीन सा—वह जो आज तक न मिला था, वह जिसको लेकर कृत-कृत्य हो गया है तू, वह जिसमें छिपा पड़ा है तेरा वैभव। मानों तेरा सर्वस्व ही मिल गया है आज तुझे, वह जिसके मिलने की आशा भी न थी, जो किसी बिरले को ही मिलता है, बड़े सौभाग्य से, जिसे लेकर और कुछ लेने की चाह ही नहीं रहती, जिसके मिल जाने पर अन्य कोई वस्तु ही

बोधि दुर्लभ भावना

नहीं जंचती। क्यों न हो? उसमें दिखाई जो दे रही है तेरी शान्ति, व तेरा अभीष्ट। अत्यन्त दुर्लभता से प्राप्त इस 'बोधि-दुर्लभ' रत्न के प्रति बहुमान उत्पन्न कर। अब तेरे कल्याण का समय निकट आ रहा है, होनहार बिरवान के चिकने चिकने पात। गुरु के द्वारा प्रदान किये गये, इस रहस्यात्मक ज्ञान से तेरा सर्व अन्धकार विनश जायेगा, और तू बन जायेगा वह जो कि तू है—सत्-चित-आनन्द, पूर्ण ब्रह्म, परमेश्वर।
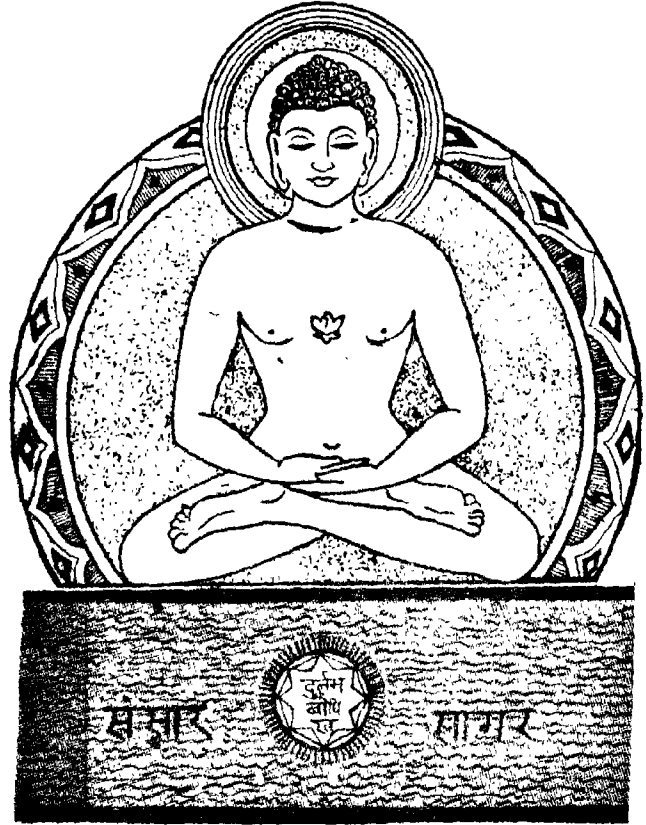
संसार सागर में भ्रमण करते हुए बड़ी मुश्किल से नर जन्म प्राप्त करके आत्म ज्ञान की प्राप्ति हुई है, निज कल्याण का अवसर मिला।

(१२) बस यही तो है तेरा 'धर्म', तेरा स्वभाव, तेरा ऐश्वर्य, तेरा सर्वस्व। आज तक जिसे जान न पाया, जिसकी खोज में दर दर मारा फिरा। वाह! वाह! कितना सुन्दर है, कितना शीतल है यह, भव भव का संताप क्षण भर में विनष्ट हो गया है अब तक के बताये गये इतने लम्बे मार्ग को भली भांति निर्णय करके इस पर दृढ़ता से विश्वास कर, इसके अनुरूप बनने का दृढ़ संकल्प कर और बनने का प्रयास कर। इस प्रकार का ज्ञान श्रद्धान व अनुचरण, बस यही तो है उपाय उस शान्ति की प्राप्ति का, जिसका लक्ष्य लेकर तू भटकता फिरता है यहाँ। कितना सहल है तथा सुन्दर है यह, ले अब धीरे धीरे पी जा इसे। यह है धर्म भावना।

इस प्रकार अनित्यता, अशरणता संसार, पृथकत्व (अन्यत्व), एकत्व, अशुचि, आस्रव, संवर निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ व धर्म इन बारह प्रकार के विकल्पों का आश्रय लेता हुआ, बड़ी से बड़ी बाधाओं को तृणवत् भी नहीं गिनता। यह है वह शक्ति जिसका कि स्वामित्व उसको प्राप्त हुआ है। तू भी अन्य कल्पनाओं के स्थान पर इन कल्पनाओं के स्वामित्व को प्राप्त कर। इन कल्पनाओं का आधार

वस्तु है, पर तेरी कल्पनाओं का आधार कोरी कल्पनायें। यह सार स्वरूप है, और वह सब निःस्सार। तभी तो यह शान्ति में सहायक है। सार से ही सार निकलना सम्भव है, निःसार से निःसारता के अतिरिक्त और निकलेगा ही क्या ?

धर्म भावना—दश धर्म का मनन

धर्म का फल—आत्मा की शुद्धता

४६
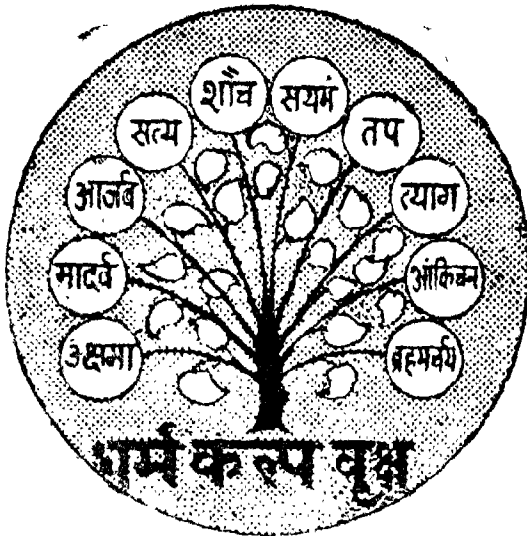
—: चारित्र :—

मुजफ्फरनगर दिनांक ३० अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८६

१—चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध, २—चारित्र में अभ्यास की महिमा, ३—सामायिक आदि पाँचों चारित्रों का चित्रण, ४—अन्तरङ्ग व बाह्य चारित्र का समन्वय।

१ चारित्र का लक्षण व पूर्व कथित प्रकरणों से इसका सम्बन्ध

नित्य ही शान्ति में विचरण करते हुए, शान्ति के साथ क्रीड़ा करने में मग्न, हे वीतरागी गुरुवर ! मुझे भी शान्ति प्रदान करें। आज चारित्र की बात चलती है। चारित्र शब्द सुन कर कुछ ऐसा लगता होगा कि कुछ शारीरिक क्रियाओं सम्बन्धी बात कही जायेगी, कुछ व्रत उपवास आदि की बात कही जायेगी। परन्तु नहीं, वह सब बात तो इतने लम्बे अब तक के कथन में यथा स्थान कही ही जा चुकी है, अब तो अन्तरङ्ग चारित्र की बात चलती है। वह चारित्र जिसको लक्ष्य में रख कर कि मैं साधना करने चला था अर्थात् शान्ति, जिसके लिये कि अपने जीवन को इतने बड़े अभ्यास की श्रेणियों में से निकालता चला आ रहा हूं।

चारित्र नाम है विचरण करने का, अन्तरङ्ग कहिये निज स्वरूप में विचरण करने का नाम चारित्र है, अर्थात् शान्ति में विचरण करने का नाम चारित्र है। इस शान्ति में विचरण करने के लिये अपनाई गई कुछ बाह्य शारीरिक क्रियायें, जैसी कि अब तक संवर व निर्जरा के प्रकरण में बताई गई हैं वे भी चारित्र कही जा सकती हैं, परन्तु ऐसा कहना उपचार मात्र है, शान्ति प्राप्ति को ही लक्ष्य में रख आज तक मैंने इतना बड़ा अभ्यास किया, इतना बड़ा पुरुषार्थ किया, धीरे धीरे अपना जीवन ही बदल डाला। शान्ति के बाधक विकल्पों के प्रशमनार्थ गृहस्थ जीवन में देव पूजा, गुरु उपासना और स्वाध्याय को प्रारम्भ किया। किंचित् इन्द्रिय व प्राण संयम को धारण करके जीवन की निरर्गल प्रवृत्ति में ब्रेक लगाया और साथ साथ अन्तरङ्ग के विकल्पोत्पादक दुष्ट संस्कारों की शक्ति को क्षति पहुँचाने के लिये, अपने अन्तरङ्ग दोषों को पढ़ने का अभ्यास किया जिससे उनके प्रति मुझे स्वाभाविक निन्दन व पश्चाताप वर्तने लगा। इस आधार पर दोषों को टालता हुआ व जीवन में साम्यता लाता हुआ, मैं बिना रुके आगे बढ़ता चला गया। दान द्वारा धन से भी बराबर ममत्व हटाने का अभ्यास करता गया। इस प्रकार हर दिशा से जीवन को समेटता व शान्ति में प्रवेश करता, इस शान्ति के क्षेत्र में अर्थात् गृहस्थ दशा में देव पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान इन छः क्रियाओं को यथा-शक्ति करता हुआ एक नवजात शिशु वत् धीरे धीरे गिरता पड़ता चला गया। धैर्य व आशा ही मुझे बल दे रहे थे, उनके अतिरिक्त और कुछ भी न था-मेरे पास-उस समय।

२ चारित्र में अभ्यास की महिमा

अहो अभ्यास की महिमा ! वह दिन भी आ गया है कि मैं शिशु से वीर बन गया । एक साहसी वीर तथा योद्धा वत्, मैंने योगी जीवन में प्रवेश किया और वहाँ अधिक दृढ़ता से पहले के अभ्यास को अत्यन्त पुष्ट किया। व्रत, समिति, गुप्ति के द्वारा उसे निश्चल व अकम्प बनाया। दश धर्मों से सिंचन कर करके, वैराग्य भावनाओं से पोषण किया गया वह कोमल पौधा, आज एक विशाल वृक्ष बन गया है, जिसे देख कर स्वयं मुझे विश्वास नहीं होता, कि मैंने कहां से चलना प्रारम्भ किया था। अनेकों भव पीछे से प्रारम्भ किये गये उस पुरुषार्थ ने आज मुझे मेरे लक्ष्य के अत्यन्त निकट पहुँचा दिया है। बराबर इस जीवन में विकल्प शान्त होते चले गये, संस्कार नष्ट होते चले गये और तदनुसार शान्ति में वृद्धि होती चली गई। मैंने पहले पग से ही शान्ति का पल्ला आज तक नहीं छोड़ा। हर बाह्य क्रिया के साथ-साथ अन्तरंग क्रिया को भी साथ रखा। यही कारण है कि आज बढ़ते-बढ़ते इस दशा को पहुँच गया हूं कि बुद्धि पूर्वक का मेरा शान्ति में स्थिति पाने का प्रयास आज अबुद्धि पूर्वक की कोटि में प्रवेश कर गया है विकल्पोत्पादक संस्कारों के द्वारा खाली किया गया स्थान, शान्ति के संस्कार ने ले लिया है। एक नवीन संस्कार जीवन में उत्पन्न हुआ अथवा यों कहिये कि शान्ति के सांचे में ढाला गया जीवन आज बाहर निकला ।

३ सामायिक आदि पांचों चारित्रों का चित्रण

(१) आहा हा ! कितना सुन्दर है अब इसका रूप, बिल्कुल ही बदल गया है, मानों यह पहले वाला मैं नहीं हूँ। इसे देखकर मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा है, कि अरे ! क्या स्वप्न में भी कभी ऐसा बन जाने की आशा थी ? परन्तु 'हाथ कंगन को आरसी क्या, सामने पड़ा हुआ यह जीवन, अभ्यास की अचिन्त्य महिमा को दर्शा रहा है। अब मेरा जीवन शान्त है, अत्यन्त शान्त। साम्यता के सांचे में ढला हुआ, यह अब विकल्पों की ओर नहीं दौड़ता, चाहे बाहर से आहार करता हूँ, गमन करता हूँ, शास्त्र लिखता हूँ, या उपदेश देता हूँ। बुद्धि पूर्वक का किया गया सीमित समय का सामायिक या समता का अभ्यास, आज मेरे जीवन का अंग बन गया है। सीमित समय के लिये ही नहीं चौबीसों घण्टों के लिये यह अब समता में ही विचरण करता है। इसे अब सीमित समय के लिये ही सामायिक करने की आवश्यकता नहीं, यह स्वयं सामायिक रूप बन गया है। शान्ति की वह तुच्छ कणिका बढ़ते-बढ़ते अब पूर्णता के इतने निकट पहुँच चुकी है कि मैं नित्य ही जीवन में शान्ति का अनुभव कर रहा हूं। वर्तमान के जीवन के इस अंग कानाम 'सामायिक चारित्र है।'

(२) परन्तु आश्चर्य है ! इन दुष्ट संस्कारों के साहस पर। तप की भट्टी में झोंक कर जिन्हें अच्छी तरह जला दिया गया, जली रस्सी वत पड़े वे आज भी कभी-कभी अपना सिर उठा उठा कर यह सिद्ध कर ही देते हैं, कि अभी भी वे जीवित हैं, भले अन्तिम श्वास ले रहे हों। परन्तु कब तक जीवित रह सकोगे बच्चा ? अब छोड़ो इस दर को, जाओ किसी दूसरे द्वारे मांग खाओ। यहां रहोगे तो भूखा मरना पड़ेगा—अर्थात् जब-जब इनसे प्रेरित हो, अब भी कदाचित विकल्प मुझे उठते प्रतीत होते हैं, अर्थात् शान्ति का छेद होता हुआ प्रतीत होता है, तब-तब ही मैं पहले पुरुषार्थ रूप ही कुछ विशेष सामायिक ध्यान व विचारों द्वारा उस पर काबू पाने का उद्यम करने लगता हूँ। एक क्षण के लिये भी उनसे ग़ाफ़िल नहीं हूं, बराबर आहट लेता रहता हूँ-सचेत गृह स्वामी वत्, जिसके घर में चोर भले प्रवेश कर जाओ परन्तु बिना हानि पहुंचाएं वह स्वयं ही निकल

जायेगा। फल स्वरूप पुनः स्थापन कर देता हूँ इसको-उसी शान्ति में और सामायिक रूप बन कर फिर विचरण करने लगता हूं-शान्ति में।

कभी सामायिक और कभी छेद; पुनः सामायिक में स्थापना और फिर छेद,पुनः स्थापना और फिर छेद। इसी प्रकार सामायिक छेद व स्थापना के झूले में झूलता हुआ आज मैं भी बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा हूँ। लक्ष्य पूर्ण किये बिना सन्तोष करने वाला नहीं हूँ, घबराना मेरा काम नहीं। मेरे हाथ में है वह झंडा, जिस पर लिखा है 'आगे बढ़ो' अजीब है इस समय मेरे जीवन की दशा—चलते, फिरते, आहार लेते, शास्त्र लिखते, उपदेश देते, साथियों से धर्म चर्चा करते, यहां तक कि सोते समय भी बराबर सामायिक-छेद व स्थापना चलता रहता है। कोई निश्चित समय ही सामायिक का हो, अब ऐसी बात नहीं रही। आध या पौन घण्टे से अधिक मेरी साम्यता का छेद कभी भी होने नहीं पाता। आहर-विहार करते समय भी कदाचित विकल्प आया, मैंने इसे पकड़ा, सचेत हुआ, और बस फिर क्या था, भाग गया यह। मैं पुनः समता में स्नान करने लगा, चैतन्य रस का पान करने लगा। शरीर चलने का काम कर रहा है बाहर में, और मैं समता में स्नान कर रहा हूं अन्तरङ्ग में। शरीर लिखने का काम कर रहा है बाहर में, और मैं समता में स्नान कर रहा हूं अंतरङ्ग में। शरीर खाने का काम कर रहा है बाहर नें, और मैं समता में स्नान कर रहा हूं अन्तरङ्ग में। यहां तक कि सोते-सोते बराबर आध आध या पौन पौन घण्टे के पश्चात्, स्वतः हो आंख खुल जाती है, मुझे पुनः शान्ति में स्थापित करने के लिये। और इसी प्रकार विकल्प व शान्ति के झूले में झूलते हुए बराबर आगे बढ़ता चला जा रहा हूं। जीवन के इस अंग का नाम 'छेदोपस्थापना चारित्र है'

(३) इस पुरुषार्थ में परिणाम की विशुद्धि बराबर बढ़ती-बढ़ती आगे तक चली गई। अशुद्धि का परिहार होता गया, अतः इस सर्व अन्तरंग पुरुषार्थ का नाम है 'परिहारविशुद्धि चारित्र'

अरे ! यह क्या ? झूले में झूलते झूलते घुमेर चढ़ गई। और भूल गया सब कुछ ? हो गया बेसुध। चलना, फिरना, खाना, पीना, लिखना बोलना व सोना सब कुछ छूट गया। बाह्य क्रिया की तो बात नहीं, मैं भी हूँ या नहीं, यह भी भान न रहा। मैं जानने वाला और यह विश्व जिसे कि मैं जानूं यह भी भेद न रहा। कौन जाने और किसे जाने ? कौन ध्यावे और किसे ध्यावे ? कौन विचारे और किसे विचारे ? एक अद्वैत अवस्था है। मानों एक रुद्र रूप है, जिसे देखकर कि संस्कारों के अर्ध मृत कलेवर, अब देखो खिसकने लगे। वह देखो निद्रा भागी। हास्य, रति, अरति शोक, भय, ग्लानि व मैथुन भाव भी लगे भागने। जिस ओर जिसकी नाक उठ गई भाग निकले। कितने भय भीत हैं आज यह ? मैंने आज रौद्र रूप धारण किया है, मैं साक्षात रुद्र हूं, भगवान रुद्र। जीवन के इस अंग का नाम है 'शुक्लध्यान की प्रथम श्रेणी'।

(४) क्रोध, मान, माया भी बेचारे क्या करें ? आपस में लगे सलाह मश्वरा करने, सब साथी छोड़ कर चले गये। अकेले क्या करें ? कोई बात नहीं, अपनी बिखरी हुई सेना को एक मोरचे पर संगठित करो और अब अन्तिम बार आक्रमण करके देखो। अब भी कुछ दम है इनमें, यद्यपि मुझे बाधा पहुंचाने में बिल्कुल असमर्थ, परन्तु दूर खड़े खड़े अब भी कुछ करने की ठान ही

रहे हैं। देखें तो कि क्या करते हैं ये—वह देखो क्रोध की टोली आ मिली मान में, और यह दोनों मिल कर आ मिले माया में । अब भी पर्याप्त नहीं है, चलो लोभ को भी साथ ले, तीनों आ मिले लोभ के साथ। अब ठीक है, अब कुछ बल है, लगाओ ज़ोर, 'देखो एक ही बार आक्रमण करना' और लोभ की अध्यक्षता में लगे सर्व ओर से बान बरसने। परन्तु इन बेचारों को क्या पता कि अद्वैतता के इस कवच पर अब इनके बाण असर न करेंगे। बल्कि अद्वैतता के इस बढ़ते हुए तेज में वह स्वयं भस्म हो जायेंगे। वह देखो लगें जलने, सब जल गये परन्तु अब भी खड़ा रह गया एक लोभ, अत्यन्त क्षीण दशा में अकेला।

असमंजस में पड़ा बेचारा मानों विचार रहा है, कि अब क्या करें ? बन्दी हाथ से निकला जाता है। आश्चर्य है इसके साहस पर—सब साथी भाग गये, शेष मारे गये, पर अब भी पीठ दिखाने को तैयार नहीं। सच्चा क्षत्रिय है, मरना स्वीकार पर रण से भागना स्वीकार नहीं। इधर से मेरा अद्वैत तेज बढ़ा, चहुं ओर ताप फैल गया, अग्नि बरसने लगी। ओह ! आज मैं साक्षात् अग्नि देव हूँ-इस लोभ के भग्नावशेष को दग्ध करने के लिये अर्थात् उपरोक्त ही शुक्लध्यान में और एकाग्रता अधिकाधिक बढ़ती गई और सूक्ष्म से अवशेष रहे, इस लोभ कषाय का संस्कार भी भस्म हो गया। पुरुषार्थ के इस उत्कृष्ट भाग का नाम है, 'सूक्ष्म साम्पराय चारित्र'।

(५) संस्कारों की अन्तिम कणिका का निर्मूलन हो जाने के पश्चात् अब मैं अत्यन्त निर्मल हो चुका हूं अब कोई शक्ति नहीं जो मुझे प्रेरित करके किञ्चित् भी विकल्प उत्पन्न करा सके। शान्ति में स्थिरता दृढ़तम हो गई, पूर्णता के लक्ष्य की साक्षात् प्राप्ति हो गई। आखिर जैसा बनने का संकल्प किया था वैसा बन ही गया। अब कभी भी इस अवस्था से छेद को प्राप्त न हूँगा। सर्वदा के लिये शान्त हो गया हूं मैं। जिसको लक्ष्य में रख कर चला था, वह मिल गया, जो बनना चाहता था, वह बन गया। यथाख्यात रूप को प्राप्त हो गया। जीवन के इस आत्यन्तिक शुद्ध भाग का नाम है 'यथाख्यात चारित्र'।

४ अन्तरङ्ग व बाह्य चारित्र का समन्वय

प्रथम भूमिका से ही प्रत्येक क्रिया में यह बताया गया है कि अल्पावस्था में युगपत दो अंश रहा करते हैं—एक अन्तरङ्ग अंश, और एक बहिरङ्ग अंश। बिल्कुल इस प्रकार जिस प्रकार कि किसी चूर्ण के स्वाद में अनेक वस्तुओं के स्वाद युगपत पड़े रहते हैं, जो सब के सब एक ही समय किसी विजातीय स्वाद के रूप में अनुभव करने में आते हैं। यहां शान्ति मार्ग के अन्तर्गत बताई गई सर्व प्रक्रियाओं में दो अंश मिश्रित रूप से कोई विजाति रूप धारण करके ही अनुभव में आते हैं। अतः ज्ञानी बराबर इस स्वाद का विश्लेषण करके यह जानता रहता है कि कौन सा अंश प्रयोजन भूत है और कौन सा अप्रयोजन भूत, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि सर्राफ खोटे स्वर्ण की मिश्रित डली को देख कर बराबर पहिचान लेता है कि इतना अंश काम का है और इतना बेकार। बस इतने पहले से कही गई सब क्रियाओं में अन्तरङ्ग अंश तो काम का है और बाह्य अंश काम का नहीं। काम का न होते हुए भी प्रयोजन वश उसे अल्प भूमिका में अपनाना पड़ता है। परन्तु अभिप्राय में बराबर दोनों का भेद बना रहता है, वहां भ्रम होने नहीं पाता।

उन क्रियाओं में यह अन्तरङ्ग अंश ही वास्तव में चारित्र है, यह सामायिक या समता

स्वरूप है क्योंकि उतना अंश ही शान्ति स्वरूप है। बाह्य क्रिया तो विकल्पात्मक है, अतः यह वास्तव में चारित्र नहीं है; भले अन्तरंग के साथ साथ रहने के कारण उसे भी चारित्र कह डालो, जैसे स्वर्ण के साथ रहने के कारण खोट भी सोना कहला जाता है। आगे आगे की भूमिकाओं में, उन क्रियाओं में रहने वाला यह अन्तरंग अंश बराबर थोड़ा थोड़ा बढ़ता है। जितना जितना यह बढ़ता है, उतना उतना बाह्य अंश कम होता जाता है। एक दिन अन्तरंग अंश पूर्ण हो जाता है और बाह्य अंश बिल्कुल समाप्त हो जाता है। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अशुद्ध घी में दो अंश रहते हैं—एक शुद्ध घी तथा दूसरा डालडा का अंश। यदि किसी भी वैज्ञानिक उपाय द्वारा धीरे धीरे उसमें शुद्ध घी मिलाते चले जायें और डालडा का अंश निकालते जायें तो आगे आगे की उत्तरोत्तर अवस्थाओं में वह अधिक अधिक शुद्ध होता चला जायेगा और एक दिन पूर्ण शुद्ध हो जायेगा। ज्यों ज्यों शुद्ध होता जाये, त्यों त्यों हम भले सारे को शुद्ध कहते रहें, परन्तु वास्तव में शुद्धता तो शुद्ध अंश में ही है। जितनी कुछ भी हीनाधिक अशुद्धता है, वह तो अशुद्धता ही है। इसी प्रकार सर्व क्रियाओं में पड़े बाह्य अंश को अशुद्धता ही स्वीकार करना चाहिये।

अन्तरंग अंश की कुछ पूर्णता हो जाने पर, या पूर्णता के निकट पहुँच जान पर ही, जीवन सामायिक रूप दिखाई देने लगता है। क्योंकि यहां अशुद्धता का अंश बहुत हीन हो गया है, उसका स्वाद अब विशेष नहीं आता। यह सामायिक चारित्र वास्तव में उन क्रियाओं में पड़े हुए उस अन्तरंग अंश का ही वृद्धि गत रूप है, कोई नवीन वस्तु नहीं है। यह अंश प्रथम पग अर्थात् देव दर्शन में ही प्रगट हो चुका था, और अब वही पुष्ट होता होता इतना बड़ा हो गया है।

और इस प्रकार साधक उन क्रियाओं के केवल अन्तरंग अंश में अधिकाधिक स्थिरता धारने का अभ्यास करता हुआ, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, व सूक्ष्म साम्परायिक की श्रेणियों को पार करता हुआ, एक दिन यथाख्यात चारित्र में प्रवेश करता है। आज इसका चारित्र पूर्ण शुद्ध हो गया है।

धर्म नौका

दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके, संसार सागर को पार करने के लिये यदि धर्म रूपी नौका में सवार हुए हो तो सम्यग्दर्शन व सम्यक्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र को दृढ़ता से पालन करो, तभी पार हो सकोगे, अन्यथा यह नौका बीच में ही डूब जायेगी।

—: निर्जरा व मोक्ष :—

मुजफ्फरनगर—दिनांक ३१ अक्तूबर १९५९

प्रवचन नं० ८७

१—निर्जरा का परिचय, २—मोक्ष का लक्षण, ३—मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें, ४—मोक्ष पर अविश्वास, ५—मोक्ष का स्वरूप शान्ति।

१ निर्जरा का परिचय

समस्त संकल्प विकल्पों के मूल संस्कारों का निर्मूलन करके आत्यंतिकी शुद्धता व निर्मलता को प्राप्त, हे पवित्र आत्माओं! क्या मुझ पर दया न करोगे? मुझको भी शक्ति प्रदान कीजिये नाथ! जिससे कि मैं भी इन सर्व दुखद संस्कारों का मूलोच्छेद कर इनसे मुक्ति प्राप्त कर सकूं। आज निर्जरा व मोक्ष इन दो तत्वों का कथन करना है। संस्कारों के साथ युद्ध ठान कर तपश्चरण के द्वारा इनकी शक्ति को बराबर क्षीण करते जाने का नाम निर्जरा है! इसका कुछ कथन विस्तार से गृहस्थ सम्बन्धी निर्जरा व तप के प्रकरण में (अधिकार नं० २९) और उत्तम तप धर्म के प्रकरण में (अधिकार नं० ४०) किया जा चुका है। अतः पुनः दोहराने की आवश्यकता नहीं है

२ मोक्ष का लक्षण

अब मोक्ष की बात चलती है। मोक्ष वास्तव में बन्धन से छूटी हुई अवस्था का नाम है। किसी भी पदार्थ की छूटी हुई—बन्धन से रहित अवस्था, अर्थात् स्वतन्त्र दशा का नाम मोक्ष है। 'मुच्' धातु से बना मुक्ति जिसका अर्थ है छूटना। छूटना किसी बन्धन से ही होता है, जो बंधा ही नहीं उसका क्या छूटना। गाय रस्से से बंधी है, रस्सा खुलने पर उससे मुक्त हो जाती है। सिंह पिंजरे में बन्द है, निकल जाने पर पिंजरे से मुक्त हुआ कहा जाता है। वन में स्वतन्त्र विचरण करने वाले सिंह की क्या मुक्ति? बन्दी-गृह में पड़ा बन्दी ही मुक्त किया जा सकता है, स्वतन्त्र नागरिक नहीं। अतः मोक्ष का अर्थ बन्धन सापेक्ष है, जहां बन्धन नहीं वहां मोक्ष नहीं और जहां बन्धन है वहां मोक्ष भी है। मुझे अन्य पदार्थों की मोक्ष से कोई प्रयोजन नहीं, मुझे तो अपनी मोक्ष खोजनी है। मोक्ष खोजने से पहले अपना बन्धन खोजना होगा।

बाहर में खोजने पर तो कोई बन्धन दिखाई देता ही नहीं। बन्दी तो मैं हूं नहीं, कुटुम्बादि ने भी मुझे पकड़ कर बिठा नहीं रखा है। स्वयं मेरी कल्पनायें ही बन्धन हैं, इन कल्पनाओं से छूटने का नाम मोक्ष है, अर्थात् अन्तरंग में पुष्ट संस्कार जिनसे प्रेरित होकर कि मैं यह संकल्प विकल्प कर रहा हूँ, उनसे छूटने का, उनके विनाश होने का नाम ही मेरी मुक्ति या मोक्ष है। जिसका

उपाय निर्जरा व तप के प्रकरण में आ चुका है अर्थात् संस्कारों से रहित अपनी स्वाभाविक, पूर्ण स्वतन्त्र व शान्त दशा का नाम ही मोक्ष है।

३ मोक्ष सम्बन्धी कुछ कल्पनायें

मोक्ष के सम्बन्ध में जो कल्पनायें अब तक की हैं सब झूठी हैं, क्योंकि वे शान्ति से निरपेक्ष हैं। उन कल्पनाओं का झुकाव शान्ति की ओर न जाकर, जा रहा है लोक के शिखर पर, आकाश के किसी विशेष क्षेत्र की ओर, अथवा अनुमानतः किसी पत्थर की बनी हुई शिला की ओर, अथवा पहले से विराजमान अनेक शुद्ध आत्माओं की ओर, और इसलिए अनेकों संशय व संदेह उत्पन्न हो रहे हैं-उसके सम्बन्ध में। भले मुख से कहता हुआ डरता हूं, कि कहीं गुरु वाणी के प्रकोप का पात्र न बन बैठूं। पर इस प्रकार मुख बन्द कर लेने से हृदय की शंकायें तो टल नहीं जाती ? बिल्ली के आने पर यदि कबूतर आंख मींच ले, तो बिल्ली तो टल नहीं जाती ? अन्तरंग में झुक कर देख, कुछ इस जाति के अनेकों संशय भरे पड़े हैं वहां। क्या रखा है मोक्ष में-न कुछ खाने को न कुछ पीने को, न कुछ बैठने को, न कुछ सोने को, न चलने फिरने को न सैर करने को, न सुन्दर व सुसज्जित महल रहने को, न मोटर हवाई जहाज़ घूमने को, न भाई-बन्धु बोलने को, न सुन्दर स्त्रियाँ भोगने को, कुछ भी तो नहीं है वहां। बैठे रहो वहाँ मुख सीमे, बराबर में अनेकों बैठे रहो, वहाँ, पर सब गुम-सुम, मानों कि पत्थर के बुत घड़ कर बिठा दिये हों वहाँ, यह भी कोई जीवन है ? 'ज्ञान ज्ञान' की रट सुनते हैं, पर क्या करें उस ज्ञान को, ओढ़ें या बिछायें ? किसी को बताया तक न जा सके, कुछ नया आविष्कार निकाला न जा सके, हुआ न हुआ बराबर है। आज इस उन्नति के युग में जब चारों ओर ज्ञान का चमत्कार दिखाई दे रहा हो, ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य ? केवल अन्ध श्रद्धान का विषय है, किये जाओ; परन्तु कब तक ? एक रोज़ तो छोड़ना ही होगा।

४ मोक्ष पर अविश्वास

मुझे नहीं चाहिये ऐसी मोक्ष। वर्तमान में ही क्या कमी है मेरे पास ? बड़े-बड़े महल, कीमती से कीमती वस्त्र व अलंकार, घूमने को मोटर व हवाई जहाज़, बैठने व सोने को खूब गद्देदार डनलप पिलो के सोफ़ा सैट व पलंग, खाने को स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यञ्जन, भोगने को देवांगना सरीखी स्त्री, बाल बच्चे, और क्या नहीं ? इन सबको छोड़कर क्यों एक शून्य स्थान में जाऊं, जहाँ इनमें से कुछ भी नहीं। पड़े रहो अकेले। इतना भी तो नहीं कि अपना गम किसी को सुना दूं। अरे रे ! मोक्ष कहते हैं इसे कोरी कैद है, भगवान बचाये इस मोक्ष से मुझे। भला खाली बैठे रहना कहीं शोभा देता है मनुष्य को ? न भाई ! कोई बहुत बड़ा राजपाट भी दक्षिणा में दे और कहे कि किसी प्रकार मोक्ष ले लो, तो न लूं।

फिर यह नित्य ही मोक्ष की रटना क्यों ? मुझे क्या पता था कि वह मोक्ष इस प्रकार की होगी। मैं तो समझा था कि कोई आकर्षक वस्तु होगी, सारा जगत जिसके गुणगान करता है। सोचता था कि वह कुछ तो होगा ही, परन्तु खोदा पहाड़ और चुहिया भी तो न निकली। भला कौन स्वीकार करेगा जड़ सम बनकर पड़ा रहना, किसे अच्छा लगता है सौफ़ा सैट को छोड़कर पत्थर की शिला पर पड़े रहना, यूं ही अचेत सा और इसी प्रकार की अनेकों कल्पनायें। भला विचारिये तो सही फिर भी इस मोक्ष की यह रटंत क्यों ? इसमें सम्प्रदायिकता के अतिरिक्त और है ही क्या ? कुछ रूढ़ियां व पक्षपात और हंसी आ जाती है आज मोक्ष का नाम सुनकर भी। पुराने ज़माने की बात कहां लाये हो निकाल कर, विज्ञान के इस युग में।

५ मोक्ष का स्वरूप शान्ति मोक्ष का स्वरूप समझे बिना कैसे दबा सकेगा इन विकल्पों को और यह कल्पनायें दबाये बिना क्यों करने लगा इतना बड़ा तपश्चरणादि का परिश्रम। अतः भाई मोक्ष तत्व को जानना अत्यन्त आवश्यक है। क्या इसको जाने बिना या इसकी श्रद्धा किये बिना, अब तक की सारी पढ़ाई बेकार है ? वास्तव में ऐसा नहीं है, अब तक की सारी पढ़ाई एक अलौकिक देन है, उसकी अवहेलना मत कर, मोक्ष का सच्चा स्वरूप जानने का प्रयत्न कर।

लोक शिखर में स्थित, आकाश के किसी टुकड़े का नाम मोक्ष नहीं। मोक्ष शिला का नाम मोक्ष नहीं। वहां पर विराजे पूर्व आत्माओं के सम्पर्क का नाम मोक्ष नहीं। उस तेज से तेज बत् मिल जाने का नाम मोक्ष नहीं। ज्ञान के अभाव का नाम मोक्ष नहीं, जड़ बन कर पड़े रहना भी मोक्ष नहीं। इतना कुछ प्रयास ऐसे मोक्ष के लिये नहीं किया जाता। ऐसा मोक्ष लेना तो बहुत आसान है, खूब भर कर पाप करो, बस मिल जायेगी ऐसी मोक्ष। निगोद का रूप धारण करके पड़े रहोगे सागरों के लिये अचेत-लोक शिखर में उसी पत्थर की शिला पर-उन्हीं पवित्र आत्माओं के सम्पर्क में।

भाई ! मोक्ष इतनी तुच्छ सी वस्तु नहीं, वहां से दृष्टी हटा। मोक्ष को बाहर में मत खोज, अपने अन्दर में देख, उसी प्रकार जैसे कि अब तक आस्रव बंध संवर निर्जरा आदि को देखता आया है। मोक्ष किसी क्षेत्र का नाम नहीं है,बल्कि तेरी अपनी ही किसी दशा विशेष का नाम है,जिसमें न संकल्प है, न विकल्प, न राग है, न द्वेष, न इच्छायें हैं न चिन्तायें न बाह्य पदार्थों का ग्रहण है न त्याग, न उनमें इष्टता है न अनिष्टता; केवल है एक ज्ञायक भाव, जिसमें सर्व प्राणी केवल प्राणी मात्र हैं, न है कोई पुत्र, न है कोई पिता, न है कोई बहन, न है कोई माता, न है कोई मित्र, न है कोई शत्रु, न है कोई राजा, न है कोई रंक, न है कोई बड़ा, न है कोई छोटा, न है कोई ब्राह्मण, न है कोई शूद्र, न है कोई देव, न है कोई तिर्यंच। जहां है एक साम्यता व शान्ति, विकल्प उठने को अवकाश भी नहीं है, क्योंकि प्रेरक संस्कारों का आत्यन्तिक विच्छेद पहले ही किया जा चुका है।

विकल्पों के अभाव में शरीर का निर्माण किस लिये करें ? भिन्न-भिन्न रूप क्यों धारें ? क्यों किसी को पुत्र मित्रादि बनायें ? किसके लिये यह सब जंजाल मोल लें ? किसके लिये धन कमायें ? किसको वस्त्र पहनायें ? किसके लिये भोजन बनायें ? किसको पढ़ायें लिखायें ? किसकी रक्षा करें ? तथा किसके लिये भीख मांगें ? जहां विकल्प ही नहीं वहां इच्छा किस बात की ? जहां शरीर ही नहीं वहां महल, सोफा पलंग, स्वादिष्ट पदार्थ, सुन्दर स्त्री आदिक की आवश्यकता ही कैसी ? मित्रों आदि से बात-चीत करने की आवश्यकता ही क्या ? आवश्यकता के बिना उनके प्रति का पुरुषार्थ कैसा ? पुरुषार्थ के बिना व्यग्रता कैसी ? व्यग्रता के बिना दुःख क्या ? और दुःख के बिना रहा ही क्या ? केवल एक शान्ति जो तेरा स्वभाव है, तेरा सर्वस्व है। इन विकल्पों के नीचे ही तो दबी पड़ी थी वह, कहीं भाग तो न गई थी जो कहीं से लानी पड़ती। ऊपर से यह सब कूड़ा कर्कट फूंक डाला, बस यह देख, यह रही तेरी पवित्रता, शान्ति रानी। और क्या चाहिए था तुझे ? इसी को तो लक्ष्य में लेकर चला था, इसी के लिए तो लक्ष्य बिन्दु बनाया था, इसी के लिए तो इतना लम्बा प्रयास किया था। बस मिल गई वह, अभीष्ट की प्राप्ति हो गई। जो करना था सो कर लिया, जहां जाना था वहां पहुंच गया। कृतकृत्य हो गया, मार्ग समाप्त हो गया। और क्या चाहिये ? और कुछ

चाहिये तो फिर वहीं जाना होगा, विकल्पों में, व्यग्रताओं व चिन्ताओं में, जिनको छोड़ कर कि यहाँ आया है। इस पूर्ण व आत्यन्तिकी तेरी अपनी शान्ति का नाम ही तो मोक्ष है।

यहाँ न खोज कर वहाँ खोजने के लिए गया, तभी तो उस सेठ ने मोक्ष जाना स्वीकार न किया। क्योंकि वहाँ उसे न दीख सके अपने दश पुत्र, और न ही दीख सकें दश कारखाने। क्या करता वहाँ जाकर ? भाई मोक्ष की सच्ची अभिलाषा है तो अभी से इस बाह्य जंजाल से तथा इन सम्बन्धी अन्तरंग विकल्पों से धीरे-धीरे मुक्ति पाना प्रारम्भ कर। जितनी-जितनी इससे मुक्ति पायेगा, उतनी उतनी अन्तरंग में शान्ति प्रगट होगी। बस उतनी उतनी ही मोक्ष हुई समझ। मोक्ष एकदम प्राप्त की जा सके ऐसा नहीं। अन्य सर्व प्रक्रियाओं वत् इसकी प्राप्ति भी क्रम पूर्वक धीरे-धीरे होती है। आंशिक शांति, आंशिक मोक्ष; पूर्ण शांति, पूर्ण मोक्ष; आंशिक निर्विकल्पता, आंशिक त्याग; पूर्ण निर्विकल्पता पूर्ण त्याग; आंशिक निरभिलाषता, आंशिक स्वतन्त्रता, पूर्ण निरभिलाषता, पूर्ण स्वतन्त्रता; इस इतने लम्बे मार्ग में प्रति क्षण मोक्ष ही तो प्राप्त करता रहा है। और उसके अति-रिक्त किया ही क्या ? प्रारम्भिक पग से ही मोक्ष होनी प्रारम्भ हो गई थी, अब वह पूर्ण हो गई है। बस इतना ही तो अन्तर है। अतः इस वास्तविक मोक्ष के प्रति बहुमान उत्पन्न कर।

—: निर्जरा व मोक्ष :—

संस्कारों व विकल्पों का पूर्णतया अभाव हो जाने पर पूर्ण शान्ति अर्थात् मुक्त दशा को प्राप्त जीव जिसमें शरीरांगों के कोई चिन्ह बाकि नहीं रहते, केवल अन्तिम शरीर के आकार रूप आत्म प्रदेश मात्र रह जाते हैं। जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण ऊपर जाकर जहाँ तक कि धर्म द्रव्य मौजूद है, शुद्ध चिदानन्द चैतन्य रूप मुक्त जीव (सिद्ध परमेष्ठी, निकल परमात्मा) सदा के लिये लोक के शिखर भाग में स्थित हो जाते हैं।

यह है जीव, संवर, निर्जरा व मोक्ष तत्वों को उपादेय मान कर ग्रहण करने और अजीव आस्रव व बन्ध तत्वों को हेय जान कर छोड़ने रूप सात तत्वों के दृढ़ श्रद्धान, ज्ञान व आचरण का फल।

८ समन्वय

४८

—: शान्ति पथ का एकीकरण :—

मुज़फ्फरनगर दिनांक २८ अक्तूबर १९५१ (संध्या समय)

प्रवचन नं० ८८

१—धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय, २—श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण, ३—धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता, ४—शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव, ५—अन्तरंग व बाह्य का समन्वय।

१ धर्म व श्रद्धा के लक्षणों का समन्वय

प्रथम ही धर्म के अनेक लक्षण बताते समय (अधिकार नं० ४) **एक लक्षण श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र बताया गया था। उनमें से पहले अंग श्रद्धा का सच्चा स्वरूप दर्शाया गया, और आगे** (अधिकार नं० ८) **में उसके स्वरूप को, अर्थात् श्रद्धा के विषयभूत पदार्थ को भी ७ भागों में विभाजित किया गया है। उसके आगे** (अधिकार नं० ९) **से** (अधिकार नं० ४७) **तक बराबर उन्हीं श्रद्धा के विषयभूत सात तत्वों का स्पष्टीकरण किया गया है। इस प्रकार धर्म के अंग श्रद्धा का कथन पूरा हो गया।**

अब धर्म के दूसरे व तीसरे अंग ज्ञान व चारित्र के सम्बन्ध में कुछ कह कर इस प्रकरण को यहां पर पूरा कर देना चाहिये। यद्यपि अधिक कहने की आवश्यकता अब नहीं रह गई है, क्योंकि प्रत्येक तत्व के विवेचन में इन दोनों अंशों का बराबर समावेश होता चला गया है। पहले भी श्रद्धा की यथार्थता बताते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि श्रद्धा वही है जो जीवन मे उतर आवे, अर्थात् चारित्र के साथ साथ रहने वाली श्रद्धा ही श्रद्धा है। परन्तु फिर भी इन सर्व प्रकरणों में इन तीनों अंगों का समावेश किस प्रकार हो जाता है यह बताना आवश्यक है।

२ श्रद्धा ज्ञान की सप्तात्मकता का एकीकरण

वास्तव में श्रद्धा व ज्ञान के विषय सम्बन्धी सातों तत्वों का शाब्दिक परिचय मात्र ही हो सका है, अर्थात इनका शाब्दिक ज्ञान ही हुआ है, परन्तु इनके रसात्मक रहस्य का अनुभव नहीं हो सका है। यदि हो जाता तो इन सातों तत्वों में भी भेद देखने में न आता और उपरोक्त धर्म के तीन अंगों में भी भेद दिखाई नहीं देता। इसलिए यह शाब्दिक ज्ञान वास्तविक महत्ता को प्राप्त हुआ नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी इस शाब्दिक ज्ञान के बिना श्रद्धा किस की करे, और जीवन में किसे उतारे? इस दृष्टि से देखने पर इस ज्ञान की भी महिमा अपार हो जाती है। परन्तु यह महिमा उसी के लिए है जो इसे जानकर इसके अनुसार अपने जीवन में कुछ परिवर्तन करने का प्रयास करे। केवल शब्दों के जानने में सन्तोष धार ले, तो ज्ञान हुआ और न हुआ बराबर ही है। उल्टा अभिमान का कारण बन कर और भी अनिष्ट कर सकता है।

यहां तक कथित, सात खण्डों में विभक्त, इस विस्तृत वक्तव्य के अनुसार अपने जीवन को ढालने के लिये, इन सातों में परस्पर क्या मेल है, यह जानना आवश्यक है। क्योंकि भले ही जानने में या बताने में, शब्दों की क्रमिकता के कारण इस अखण्ड एक विषय के सात खण्ड बन गये हों, पर जीवन में यह सात खण्ड रूप से उतारा नहीं जा सकता। जैसे कि पहले ही (अधिकार नं० ११) में एक ही श्रद्धा के विषय का प्रयोजन वश विश्लेषण करके सात भागों में विभाजित किया गया, उसी प्रकार अब वह प्रयोजन पूरा हो लेने पर उन सातों खण्डों का एकीकरण करना आवश्यक है, क्योंकि श्रद्धा वास्तव में सात नहीं है, वह तो एक ही है। जैसे रोग का प्रतिकार करने के लिए, वैद्य के द्वारा बताई गई औषधि का जो प्रयोग करने में आता है, उसकी आधार भूत श्रद्धा में भले सात खण्ड पड़ें हों पर वह श्रद्धा एक है। इसी प्रकार इस विकल्परोग के प्रशमनार्थ, जो प्रयास जीवन में किया जाने वाला है, उसकी आधार भूत श्रद्धा में यह सात खण्ड भले पड़े हों पर श्रद्धा एक है। और वह इस प्रकार :—

मैं वास्तव में शान्ति का पिण्ड व चैतन्यात्मक अमूर्तीक पदार्थ हूं। परन्तु अपने को व अपने अन्दर पड़ी शान्ति को भूल जाने के कारण, मैं इन दोनों की खोज शान्ति व अशान्ति विहीन अचेतन—मूर्तीक शरीर तथा धनादि जड़ पदार्थों में करता फिर रहा हूं, बिलकुल उस मृग की भान्ति, जिसकी नाभि में छिपी है गन्ध, पर उसे बाहर में खोजता हुआ, उसे कहीं न पाकर व्याकुल हो रहा है, मैं भी व्याकुल ही बना हुआ हूं। यह जीव व अजीव तत्व की एकता हुई। उपरोक्त भूल के कारण नित्य ही नए नए विकल्प व इच्छायें धारण करके, इच्छाओं सम्बन्धी दुष्ट संस्कारों को और अधिक पुष्ट करके व्याकुलता में प्रति क्षण वृद्धि करता रहता हूं। यह मेरा अपराध है, इसी को आस्रव बन्ध तत्व कहते हैं जीव अजीव तत्व के साथ आस्रव बन्ध का इस प्रकार सम्मेल बैठा लेने पर यह चारों मिल कर एक हो जाते हैं यदि उन्हीं जीव और अजीव में स्व पर भेद विज्ञान प्रगट करके इस भूल को दूर कर दूं तो अपनी शान्ति को बाहर खोजने की बजाय, अन्दर में खोजने लगूं अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य जो अजीव तत्व उस पर से अपना लक्ष्य हटाकर अन्दर में प्रकाशमान जो जीव तत्व उसका आश्रय लूं। और वह वहां है ही, इसलिए अवश्य खोजने में मैं सफल हो जाऊं। बस शान्ति के दर्शन होते ही बाह्य के विकल्प अवश्य

समाप्त होते चले जायें। अधिकाधिक उस शान्ति में स्थिरता धरने से, पूर्व के विकल्प उत्पन्न करने वाले संस्कार कटते चले जायें, और इसी प्रकार करते करते एक दिन संस्कारों व विकल्पों से पूर्णतया मुक्त निर्बाध शान्ति का उपभोग करने लगूं। यही है जीव और अजीव के साथ संवर निर्जरा व मोक्ष तत्व की एकता। सात के दो खण्ड हो गये—एक व्याकुलता उत्पन्न करने सम्बन्धी और दूसरा व्याकुलता दूर करने सम्बन्धी। पहला हेय है और दूसरा उपादेय। इन दोनों को मिला देने से पूर्ण मार्ग की रूप रेखा दृष्टि में आ जाती है। अर्थात् व्याकुलता के कारण भूत उपरोक्त खण्ड को छोड़ कर शान्ति को उत्पन्न करने वाले अगले खण्ड में विचरण करूं तो धीरे धीरे पहला खण्ड कम होता जाये और दूसरा खण्ड बढ़ताजाये। ऐसा करते हुए एक दिन पहला खण्ड विनष्ट हो जायेगा, और दूसरा खण्ड पूर्ण हो जायेगा। बस इस प्रकार इन सातों बातों में हेयोपादेयता का मेल बैठाकर श्रद्धा का एक अखण्ड विषय बनता है।

३ धर्म में दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता

यद्यपि यहां तक इस सप्तात्मक एक अखंड विषय का ज्ञान भी हो गया, और उस के अनुरूप ही शाब्दिक श्रद्धा भी हो गई। परन्तु जीवन का ढलाव भी साथ साथ जब तक उसके अनुरूप न होने लग जाये अर्थात् उसका झुकाव बाह्य द्रव्यों के विकल्पात्मक आश्रय से हटकर अन्तरंग की शान्ति की खोज में न लग जाये, बाह्य द्रव्यों से किंचित उदासीनता न आ जाये, और इस प्रयोजन की सिद्धि के अर्थ प्रारम्भ में अधिकाधिक समय देव पूजा आदि क्रियाओं में देने न लग जाये, तब तक वह श्रद्धा, श्रद्धा नहीं कही जा सकती। अर्थात् इस सप्तात्मक मार्ग को भली भांति युक्ति द्वारा जान कर, इस पर 'ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं' ऐसी दृढ़ श्रद्धा करके अपने जीवन को उसके अनुरूप ढालने या आचरण करने का नाम ही तो शान्ति का मार्ग है। इसमें युगपत ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनों खंड पड़े हुए हैं। यही है शान्ति मार्ग की, या मोक्ष मार्ग की या धर्म मार्ग की त्रयात्मकता। जिसमें ज्ञान श्रद्धा व चारित्र तीनों मिलकर एक हो गये ह। इतना विशेष है कि इन सर्व ही साधन रूप बाह्य की देव पूजा आदि प्रवृत्तियों में, जैसा कि पहिले सर्वत्र ही ज़ोर देकर बताया जाता रहा है, जिस किस प्रकार भी लौकिक राग प्रवृत्तियों से बचकर, निवृत्ति पाकर तथा यथाशक्ति पूजा आदि के स्थूल विकल्पों से भी निवृत्ति पाकर, अन्तरंग में उतरने तथा वहां पड़ी हुई निज शान्ति में प्रवृत्ति पाने की ही प्रधानता सर्वत्र जाननी चाहिये।

४ शाब्दिक श्रद्धा व अनुभव का कार्य कारण भाव

इसी लिये जब तक इस धर्म का वास्तविक फल अर्थात् उस चौथी कोटि की शान्ति का साक्षात् वेदन नहीं हो जाता, तब तक न चारित्र रहस्यात्मक है, न श्रद्धा रहस्यात्मक है, न ज्ञान रहस्यात्मक है। ज्ञान व श्रद्धा का आधार है उपदेश और चारित्र का आधार है शरीर। इसलिये इस स्थिति में रहने वाले यह तीनों ही खंड सच्चे नहीं कहे जा सकते। परन्तु पहली दशा में ऐसा किये बिना उस रहस्य का वेदन होना ही असम्भव है, इसलिये इस प्रकार की झूठी त्रयात्मकता भी कार्यकारी है। प्रारम्भिक भूमिका में इसका बड़ा महत्व है, परन्तु प्रयास कुछ अन्तरंग की प्राप्ति के प्रति अवश्य होना चाहिये। केवल शारीरिक क्रियाओं में संतोष धारे तो उस त्रयात्मकता का कोई मूल्य नहीं।

धीरे-धीरे इस प्रकार जीवन को एक नई दिशा की ओर घुमा कर धैर्य व साहस पूर्वक इस पर आगे बढ़ते जायें, तो एक दिन ऐसा आ जाना सम्भव है, जबकि एक क्षण-मात्र के लिए उस

लक्ष्य का साक्षात्कार हो जावे। उस समय अन्तरंग में क्या चिन्ह प्रकट होंगे सो पहले ही शान्ति के प्रकरण में बताये जा चुके हैं (अधिकार नं० ३) उस समय एक अपूर्व कृतकृत्यता सी उत्पन्न होने लगेगी, एक विचित्र संतोष व हल्कापन सा प्रतीत होगा, और वह ज्ञान श्रद्धा जो इस समय तक शब्दात्मक थी अब एक नया रूप धारण कर लेगी। 'अरे! यह है वह रहस्य, यह हूं मैं साक्षात् रूप से अपने अन्तरंग में विराजमान, शान्ति के वेदन से अत्यन्त तृप्त, सर्वाभिलाष से मुक्त। वाह! वाह! कितना सुन्दर है यह, यह तो है बिल्कुल पृथक, यह रहा, वास्तव में कुछ भी सम्बन्ध है नहीं इन दूसरों से इसका। व्यर्थ ही अब तक व्यग्र बना रहता था, व्यर्थ ही इसकी खोज इतनी कठिन समझता था। यह मैं ही तो हूँ। अरे! वाह-वाह! कितनी विचित्र बात है? आज तक यूं ही मारा मारा फिरता रहा इसकी खोज में। इस शान्ति को छोड़कर अब कहां जाऊं? कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है, 'बस अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। यह था वह जिसकी मुझे इच्छा थी, इत्यादि प्रकार के विकल्प व उद्गार उत्पन्न हो जायेंगे।

बस उसी क्षण से वह श्रद्धा अब इस रूप में न रह जायेगी कि 'गुरु का उपदेश है इसलिये यह ऐसा ही है,' बलिक इस रूप हो जायेगी कि 'मैंने स्पष्ट इसका फल चखा है, इसलिये यह ऐसा ही है।' अब इसका आधार उपदेश को बजाये अनुभव हो गया है। अब यह श्रद्धा पराश्रित नहीं रही, स्वाश्रित हो गई है, शब्दात्मक नहीं रही रहस्यात्मक हो गई है। अब यह श्रद्धा तीन कोटियों को उलंघन करके चौथी कोटि में पहुंच चुकी है, इसलिये इसी का नाम वास्तविक व सच्ची श्रद्धा है। जिसके हो जाने पर ज्ञान भी रहस्यात्मक बन जाने के कारण सच्चा हो गया, और चारित्र भी रसास्वादन रूप हो जाने के कारण सच्चा हो गया है। वास्तव में सच्चे मार्ग का प्रारम्भ इस दशा के पश्चात् ही होता है। पहले की त्रयात्मकता में शाब्दिक ज्ञान की प्रमुखता थी और इस रहस्यात्मक त्रयात्मकता में रसास्वाद रूप अनुभव सम्बन्धी श्रद्धा की मुख्यता है। इसलिये जहां सच्चे मार्ग या धर्म का निरूपण किया जाता है, वहां ज्ञान को प्रथम स्थान न देकर श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया जाता है। अब इस त्रयात्मकता का रूप ज्ञान श्रद्धा व चारित्र न रह कर, श्रद्धा ज्ञान चारित्र बन जाता है क्योंकि ज्ञान की रहस्यात्मकता का कारण अनुभवात्मक श्रद्धा है और आगे आगे चारित्र में प्रेरक होने वाली भी, बजाय गुरु के उपदेश के वही रहस्यात्मक श्रद्धा है। पहले की भांति अब गुरु के कहने के कारण आगे नहीं बढ़ेगा, बलिक इस स्वाद का व्यसन पड़ गया है, इसलिये आगे बढ़ेगा। इसी स्वाद की प्रेरणा से पुरुषार्थ आगे आगे अधिकाधिक उत्तेजित होता जायेगा। और एक दिन श्रद्धा ज्ञान व चारित्र मिलकर तीनों एक शान्ति में निमग्न हो जायेंगे। वहाँ न श्रद्धा होगी न ज्ञान न चारित्र। मैं हूँगा और मेरी शान्ति, एक अद्वैत दशा होगी वह।

५ अन्तरंग व बाह्य का समन्वय

इस सर्व कथन को पढ़ कर या सुन कर किसी को ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है, कि मैं बाह्य क्रियाकाण्ड पर अधिक जोर देता जा रहा हूं, जब कि शान्ति प्राप्ति का सम्बन्ध इस सब क्रिया काण्ड से दूर कुछ अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति से है। सो ऐसा विचारना योग्य नहीं, क्योंकि इतने लम्बे प्रकरण में सर्वत्र ही बाह्य व अन्तरङ्ग की यथा योग्य मैत्री बराबर दर्शाई गई है। अन्तरङ्ग के झुकाव से शून्य केवल बाह्य की प्रत्येक ही क्रिया की निस्सारता बराबर बताई जाती रही है। अतः उसको ध्यान में रखकर ही सर्वत्र इस मार्ग के रहस्य को समझने का प्रयत्न करें।

दूसरी बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि यह सब कुछ उसके प्रति कहा जा रहा है। जो अभी तक लौकिक प्रवृत्तियों में अधिक उलझे रहने के कारण अन्तरंग का स्पर्श करने को समर्थ नहीं हो रहे हैं, अथवा उसमें अधिक देर स्थिति पाने में समर्थ नहीं हो रहे हैं।

तीसरी बात यह है कि इस ग्रन्थ का नाम 'सिद्धान्त प्रदर्शन' नहीं बल्कि 'पथ प्रदर्शन' है। सिद्धान्त प्रदर्शन हुआ होता तो यही कहता कि सर्व अशुभ लौकिक प्रवृत्तियों अर्थात् अशुभ आस्रव की तरह छहों देव पूजा आदि शुभ प्रवृत्तियाँ अर्थात् शुभ आस्रव भी हेय ही हैं। उपादेय तो केवल एक अन्तरंग शुद्ध आत्म स्वभाव ही है। ऐसी बात पहले 'शुभ आस्रव निषेध' के अधिकार में कही भी जा चुकी है।

कहने और करने में या समझने व तद्रूप होने में बहुत अन्तर है। समझने में थोड़ी देर लगती है, पर करने में बहुत। समझने के लिये बुद्धि या ज्ञान मात्र ही पर्याप्त है, अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं, पर करने के लिये किन्हीं साधनों व उपाय विशेषों की आवश्यकता पड़ती है। क्रम पूर्वक इन उपायों में प्रवृत्ति करने का नाम ही पथ है। यह देव पूजा आदि सर्व अंग भी इस पथ के साधन केवल इसलिये स्वीकार किये गये हैं, कि प्रारम्भिक भूमिका में इनको यथाशक्ति करते हुए क्षण भर को कदाचित् अन्तरंग प्रवृत्ति अर्थात् शान्ति के साथ तन्मयता भी बराबर होती रहती है, जैसा कि उन उन प्रकरणों में पहले ही विस्तार के साथ बताया जा चुका है। यदि उस अन्तरंग प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव हो तब तो वास्तव में वे साधन भी नहीं कहे जा सकते।

बन्धुवर ! शब्दों को पकड़ कर दोष ढूंढने का प्रयत्न मत कर। अभिप्राय को पढ़ने का प्रयत्न करना। शब्दों में दोष ढूंढना पक्षपात की उपज है जो अत्यन्त हेय है। प्रयोजनवश भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाना न्याय संगत है। सिद्धान्त प्रदर्शन करते हुए जिस बात को 'होना' शब्द से कहा जाता है, पथ प्रदर्शन करते समय उसी बात को 'करना' शब्द से कहा जाता है, क्योंकि पथ कुछ क्रिया रूप हुआ करता है। क्रिया दो प्रकार की होती है—अन्तरंग क्रिया व बाह्य क्रिया अर्थात् भावात्मक क्रिया व हलन चलन क्रिया। यद्यपि अन्तिम लक्ष्य पर पहुंच कर केवल भावात्मक अन्तरंग क्रिया ही शेष रह जाती है, पर जब तक बाह्य क्रिया का जीवन में से अभाव नहीं हो जाता तब तक दोनों ही क्रियाओं के प्रति 'करने' शब्द का संकेत जाता है। इसलिये पथ प्रदर्शन के निरूपण में अन्तरंग व बाह्य दोनों ओर कुछ करने की प्रेरणा छिपी रहती है। करने का अर्थ भी दो रूप लिये हुए हैं-कहीं से हटना और अन्य कहीं पर जाना, कुछ का त्याग करना और अन्य कुछ का ग्रहण करना इत्यादि। दोनों ही बातों की सर्वत्र परस्पर मैत्री वर्ता करती है।

इसीलिये यहां सर्व ही प्रकरणों में लौकिक क्रियाओं या ग्रहण रूप प्रवृत्तियों से हट कर उन उन क्रियाओं व त्यागों में बुद्धि पूर्वक कुछ प्रवृत्ति करने को कहा गया है। परन्तु यदि सैद्धान्तिक रूप से देखा जाये तो साधक वास्तव में इन क्रियाओं को करता नहीं, बल्कि यह सर्व ही क्रियायें उस से स्वयं सहज रूप से होती हैं। करने और होने में महान अन्तर है। अन्तरंग रुचि से करना तो 'करना' कहलाता है, जैसे किसान के द्वारा खेती बोना। और बिना रुचि के किसी कारण विशेष वश करना पड़ना 'होना' कहलाता है जैसे कैदी के द्वारा खेती बोना। वास्तविक साधक की अन्तरंग रुचि तो यही

रहती है कि किसी प्रकार इन सर्व प्रवृत्तियों को तिलाञ्जली देकर एक मात्र ज्ञायक भाव में स्थिति पाऊं, ज्ञान धारा का आश्रय लूं, परन्तु अन्दर में उठने वाले इस राग का क्या करे ? इससे प्रेरित होने पर, चाहते हुए भी अशुभ से बचने के लिये, तथा किंचित मात्र शान्ति की झलक देखने के लिये, वह इन क्रियाओं को करता है।

यह बात पहले ज्ञानी व अज्ञानी की क्रियाओं में अन्तर बताते हुए (अधिकार नं० १८ प्रकरण नं० ७) में स्पष्ट भी की जा चुकी है। अतः अपनी शंका को दूर करने के लिये पाठक को वह प्रकरण पुनः पढ़ लेना योग्य है। अभिप्राय विशेष वश ऊपर से दीखने वाली यह प्रवृत्ति वास्तव में अन्तरंग में निवृत्ति रूप ही पड़ती है। वही अशुभ से निवृत्ति-शुभ में प्रवृत्ति, तथा खूब उद्यम पूर्वक क्षण भर के लिये क्रिया करते हुये भी उस शुभ विकल्प से निवृत्ति और शान्ति के वेदन रूप अन्तरंग में प्रवृत्ति-यह है अन्तरंग व बाह्य का समन्वय। यह तो हुई प्रवृत्ति रूप देव पूजा आदि की बात और अगले संयम, तप, दान ये तीनों अंग तो साक्षात निवृत्ति रूप ही हैं। प्रयोजन यह कि अन्तर में किया हुआ उन क्रियाओं का निवृत्ति रूप वह सूक्ष्म अंश ही शान्ति पथ का बीज है, वह बाह्य प्रवृत्ति नहीं। वह तो शुभ आस्रव है जिसका निषेध (अधिकार नं० १८) में पहले किया जा चुका है। अल्प दशा में उस प्रवृत्ति के द्वारा निवृत्ति की सिद्धि होने से ही उस प्रवृत्ति को धर्म का या शान्ति पथ का अंग कहा जा रहा है, ऐसा सर्वत्र समझना। प्राथमिक दशा के पथिक को अभ्यास के अभाव के कारण बिना उस प्रवृत्ति के अन्तरंग निवृत्ति होनी सम्भव नहीं, इसीलिये इन क्रियाओं का प्रतिपादन 'पथ प्रदर्शन' में किया गया है।

चौथा प्रयोजन है व्यवहाराभासी उन लोगों को इन क्रियाओं का रहस्यार्थ समझाना, जो केवल रूढ़ि वश ही इनको करते जा रहे हैं। पांचवां प्रयोजन है निश्चयाभासी उन लोगों को आगम कथित इन क्रियाओं में सार दर्शाना, जो कि इनको कोरा क्रियाकाण्ड समझ कर इन से उपेक्षित होते जा रहे हैं। छटा प्रयोजन है स्वच्छन्दाचारी उन साधारण जनों को आगम कथित इन क्रियाओं व धार्मिक अनुष्ठानों का मूल्यांकन कराना, जो कि सर्व धर्म कर्म को पुराने जमाने की कल्पना समझ कर, अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के द्वारा स्वयं अपना अनिष्ट कर रहे हैं।

इस प्रकार इन छहों प्रयोजनों को दृष्टि में रख कर यदि इस ग्रन्थ को पढ़े तो इसमें सर्वत्र ही अन्तरंग सापेक्ष बाह्य और बाह्य सापेक्ष अन्तरंग का अर्थात् निश्चय सापेक्ष व्यवहार और व्यवहार सापेक्ष निश्चय का दर्शन होने लगे। किसी एक ही बात पर, भले वह निश्चय या अन्तरंग की हो अथवा व्यवहार अर्थात् बाह्य की, आवश्यकता से अधिक जोर देना पक्षपात या एकान्त कहलाता है, जिसका निषेध पहले ही किया जा चुका है। अतः स्व व पर दोनों के हित को दृष्टि में रख कर अब भाषा के इस पथ को छोड़, और सरल वृत्ति द्वारा दोनों बातों की सापेक्षता को बराबर दृष्टि में बनाये रख कर ही शान्ति पथ की कोई भी बात मुख से निकाल या समझ।

❀ सम्यक्त्व या सच्ची श्रद्धा के लक्षणों में समन्वय ❀

मुजफ्फ़रनगर दिनांक २९ अक्तूबर १९५९ सन्ध्या समय

प्रवचन नं० ८९

१—पाच लक्षण, २—पांचों लक्षणों में पृथक पृथक शान्ति का समावेश, ३—पांचों लक्षणों की एकता।

धर्म की त्रयात्मकता का एकीकरण कर देने के पश्चात् अब बड़ा प्रश्न और सामने आता है। वह है कि आगम में सम्यक्त्व या शान्ति मार्ग सम्बन्धी सच्ची श्रद्धा के अनेकों लक्षण दिये गये हैं। परन्तु यहां इतने लम्बे प्रकरण में उनमें से एक भी लक्षण कहा नहीं गया है। केवल एक शांति की रट लगाते चले आये हैं तो क्या आगम के इन लक्षणों को मिथ्या मान लें ?

नहीं भाई ! ऐसा भूल कर भी न कहना और उन्हें मिथ्या मानने के लिए अवकाश भी तो नहीं है। तनिक समझ में फेर है, ध्यान देकर समझ, सभी लक्षणों में एक ही बात दृष्टि गत होती है। भिन्न भिन्न रुचि वाले शिष्यों के अनुग्रहार्थ भले ही गुरु जनों ने एक ही बात को भिन्न भिन्न रूपों से कहा हो, परन्तु सब में अभिप्राय एक ही है। जिस प्रकार कि मैं बताता हूं उस प्रकार देख, इन सब में एक शान्ति ही तो नृत्य करती दिखाई दे रही है।

१ पांचलक्षण — सम्यक्त्व सम्बन्धी लक्षण आगम में मुख्यतया चार प्रकार से कर :—

(१) सच्चे देव, सच्चे शास्त्र या सच्चे धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धान।

(२) सात तत्वों पर दृढ़ श्रद्धान।

(३) स्व पर भेद दृष्टि।

(४) स्वआत्मानुभव व स्वात्म रुचि।

(५) इनके अतिरिक्त एक लक्षण वह जो कि मैं करता चला आया हूं। शान्ति के प्रति रुचि व झुकाव।

२ पांचों लक्षणों में पृथक पृथक शांति का समावेश — यद्यपि शब्दों में यह पांचों पृथक पृथक दीख रहे हैं। परन्तु गौर से देखने पर इन पांचों में कोई भेद नहीं है। देखो पहला लक्षण है, सच्चे देव, गुरु व धर्म पर दृढ़ श्रद्धान। इस लक्षण का स्पष्टीकरण करने के लिये मुझे आवश्यकता पड़ेगी यह पूछने की कि तू देव व गुरु किसे समझता है। यदि नग्न शरीर व केश लुंचनादि व अन्य शारीरिक लक्षणों सहित को गुरु, और अद्वितीय तेजः पुञ्ज शरीर धारी व छत्र, चमर आदि सहित को देव मान कर, उन सम्बन्धी दृढ़ श्रद्धा करे तो उसे तो सम्यक्त्व न कहेंगे। क्योंकि उसका नाम देव व गुरु नहीं है? वास्तविक देव व गुरु को जाना ही नहीं है, श्रद्धा किसकी करेगा? कुल परम्परा से नग्न शरीरादि लक्षणों को देख कर देवादि स्वीकार करना तो साम्प्रदायिक श्रद्धा है, अन्ध श्रद्धा है। बिना परीक्षा किये कोई बात स्वीकार करना तो श्रद्धा नहीं। क्योंकि साम्प्रदायिक श्रद्धा तो अपने अपने देव व गुरु के प्रति सबको ही है। यदि कहे कि मेरी श्रद्धा सच्चे देव गुरु के प्रति है, इसलिये यह सच्ची है, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि बिना परीक्षा किये सच्चे व झूठे का पता कैसे चला? तेरे पिता ने कहा है कि वह सच्चे हैं, इसका नाम तो परीक्षा नहीं। देव व गुरु की परीक्षा सम्बन्धी प्रकरणों में इस बात का काफी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। (देखो अधिकार नं० २२ प्रकरण नं०७ तथा अधिकार नं० २३ प्रकरण नं० ५—७) शान्ति या वीतरागता के आदर्श का नाम देव व गुरु है। शान्ति व वीतरागता सम्बन्धी उपदेश का नाम शास्त्र है शान्ति व वीतरागता को प्राप्त करने के मार्ग का नाम धर्म है। बिना शान्ति की पहिचान के कौन देव, कौन गुरु, कौन धर्म व कौन शास्त्र? इसलिए शान्ति का अनुभव हुए बिना देव व गुरु आदिक की श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं कही जा सकती। अतः इस लक्षण में शान्ति के अनुभव की ही मुख्यता है।

दूसरा लक्षण है सात तत्वों पर दृढ़श्रद्धान। अब तू ही बता कि सात तत्व किसे कहता है, और उनकी श्रद्धा किसे मानता है? यदि सात तत्वों के नाम भेद प्रभेद मात्र को जान कर तत्सम्बन्धी श्रद्धा करने को श्रद्धा कह रहा है तब तो वह सच्ची श्रद्धा नहीं है। ऐसी श्रद्धा तो प्रत्येक जैनी को है, पर सब सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इन सात खण्डों में हेयोपादेय बुद्धि बना कर हेय को त्यागने के प्रति झुकाव हो जावे, और उपादेय को ग्रहण करने के प्रति झुकाव हो जावे; मोक्ष या पूर्ण शान्ति का लक्ष्य बिन्दु बना कर अजीव आस्रव बन्ध तत्वों को हेय जान कर छोड़े, और जीव संवर निर्जरा मोक्ष को उपादेय मान कर ग्रहण करे; अजीव आस्रव बन्ध में आकुलता देखें और जीव संवर निर्जरा मोक्ष में शान्ति देखे। ऐसी सात तत्वों की एकत्व रूप श्रद्धा का नाम सच्ची श्रद्धा है। इसका विशेष स्पष्टीकरण कल के प्रवचन में किया जा चुका है। शान्ति के अनुभव के बिना तो वास्तविक रीति से हेयोपादेय का भेद भी नहीं किया जा सकता। भले गुरु के उपदेश के आश्रय पर मानता हो, पर वह तो श्रद्धान शब्दात्मक हुआ, रहस्यात्मक नहीं। अतः इस लक्षण में भी शान्ति के वेदन की ही मुख्यता है?

तीसरा लक्षण है स्व पर भेद दृष्टि। इस लक्षण में व उपरोक्त सात तत्वों वाले लक्षण में विशेष भेद नहीं है। क्योंकि यहां हेय तत्वों को 'पर' में और उपादेय तत्वों को 'स्व' में समाविष्ट कर दिया गया है। 'स्व' अर्थात् मे जीव हूं और संवर निर्जरा के द्वारा प्राप्त शान्ति ही मेरा स्वभाव है, मोक्ष मेरे ही स्वभाव का पूर्ण विकास है। और अजीव 'पर' तत्व है, इसके आश्रय से उत्पन्न होने वाले आस्रव व बन्ध मेरी शान्ति के घातक हैं। अतः अजीव आस्रव बन्ध को 'पर' तत्व समझ कर छोड़ और

जीव संवर निर्जरा तत्व को 'स्व' तत्व समझ कर ग्रहण कर। शान्ति के अनुभव बिना कैसे जाने कि मैं 'जीव' कौन ? जीव को अर्थात् 'स्व' को जाने बिना 'पर' किसे कहेगा ? प्रकाश को जाने बिना अन्धकार किसे कहेगा ? केवल शरीर ही जीव रूप से दिखाई देगा। उसे तो छुड़ाना ही अभीष्ट है। भले जीव का नाम बदल कर, 'मैं आत्मा हूँ, शरीर से पृथक हूं,' ऐसा कहवे पर अनुभव के बिना वह आत्मा क्या, यह तो पता नहीं। शब्दों में आगम के आधार पर भले लक्षण कर दे पर अनुभव के बिना तेरे वे लक्षण अन्धे के तीर वत् ही तो हैं। इसलिए 'स्वपर भेद दृष्टि' में भी शान्ति का अनुभव ही प्रधान है,

चौथा लक्षण है स्व आत्मानुभव। सो तो स्पष्ट अनुभव रूप कहने में ही आ रहा है। स्व आत्मा का अनुभव क्या ? वह भी तो शान्ति का वेदन ही है। अनुभव तो स्वाद का हुआ करता है, सुख व दुःख का हुआ करता है। जैसे सूई चुभने का अनुभव, सूई के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। इसी प्रकार निज का अनुभव निज के ज्ञान से कुछ पृथक जाति का है। ज्ञान में तो वस्तु के आकारादि गुणों की प्रधानता होती है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होना तो अल्पज्ञ को सम्भव नहीं है, परन्तु सुख व दुःख का प्रत्यक्ष होना हरेक को सम्भव है। जैसे अन्धे को सूई का ज्ञान होना तो सम्भव नहीं है, पर उसके चुभने का प्रत्यक्ष वेदन होना सम्भव है। इसीलिए आत्मानुभव का अर्थ ही शान्ति रूप स्वभाव का अनुभव है। स्वात्म रुचि भी इसी का अंग है, उपयोग की रुचि निज शुद्ध स्वरूप में रहना अर्थात् निज शान्ति के अनुभव की रुचि है। पर पदार्थों में जब तक रुचि रहती है तब तक निज स्वभाव शान्ति की प्राप्ति नहीं होती अतः पर पदार्थों की रुचि त्याग कर स्वात्म रुचि का होना स्वात्मानुभव का कारण है अतः स्वात्म रुचि को ही सम्यक्त्व कह दिया। और वही तो मैं भी कहता चला आ रहा हूँ।

३ पांचों लक्षणों की एकता

अब बताओ कि इन पांचों लक्षणों में कहीं भेद दीखता है ? शान्ति का वेदन हो जाने के पश्चात् ही स्वात्म रुचि व आत्मानुभव हुआ कहा जा सकता है। उसके होने पर ही अपना स्वभाव अर्थात् 'स्व' तत्व दृष्टि में आता है। इसके होने पर ही 'पर' तत्व का यथार्थ भान होता है। उसके होने पर ही शान्ति व अशान्ति, निराकुलता, व व्याकुलता सुख व दुःख, उपादेय व हेय का ज्ञान होता है। जिसने आज तक शान्ति ही नहीं जानी उसे क्या पता कि अशान्ति किसे कहते हैं ? उसकी दृष्टि में तो मन्द अशान्ति शान्ति है, और तीव्र अशान्ति, अशान्ति। उपरोक्त प्रकार हेयोपादेय भेद हो जाने पर ही सात तत्वों का भाव समझ में आता है। शान्ति का वेदन हो जाने पर ही, शान्ति के आदर्श देव व गुरु का, तथा शान्ति के उपदेश रूप शास्त्र का, व शान्ति के पथ रूप धर्म का भान होता है। अतः सर्व लक्षणों में एक शान्ति का ही नृत्य हो रहा है।

जिसने शान्ति को नहीं चखा, वह कैसे जान सकता है कि मैं कौन हूँ ? "मैं" के जाने बिना क्या जाने कि जीव या आत्मा किसे कहते हैं। अपने को जाने बिना दूसरे जीवों को कैसे जाने ? जिस प्रकार अपने सम्बन्ध में कल्पनायें करता है, उसी प्रकार दूसरों के सम्बन्ध में करेगा। कैसे जान पायेगा कि जीव तत्व क्या है ? जीव तत्व को जाने बिना अजीव तत्व की क्या पहिचान करेगा ? क्योंकि जीव के सम्बन्ध से यह अजीव तत्व बिल्कुल जीव वत् चेतन दिखाई दे रहा है। जीव की पहिचान के बिना उसमें भेद कैसे करेगा ? शान्ति या निर्विकल्पता के अनुभव बिना विकल्पों की पहिचान क्या करेगा ? विकल्पों की पहिचान बिना आस्रव बन्ध किन्हें कहेगा ? तथा निर्विकल्पता

व शान्ति के वेदन बिना संवर निर्जरा व मोक्ष किसे कहेगा। कोरी कल्पनायें ही करेगा। और इसके अतिरिक्त कर भी क्या सकता है? शान्ति का अनुभवात्मक या रसात्मक स्वरूप जाने बिना, किसे शान्ति का आदर्श कहेगा? किसे देव व गुरु कहेगा? किसे शान्ति का मार्ग व उपदेश कहेगा? किसे धर्म व शास्त्र कहेगा। अतः सर्व लक्षणों में शान्ति का वेदन तथा उसके प्रति के झुकाव रूप श्रद्धा ही प्रधान है।

एक ही की प्रधानता होते हुए भी भिन्न भिन्न अभिप्रायों वाले शिष्यों के प्रतिबोधनार्थ भिन्न भिन्न लक्षण किये गये हैं। शान्ति का नमूना दिखाने के लिये देव गुरु की श्रद्धा कही गई है, क्योंकि मार्ग का श्री-गणेश ही यहां से करना है। शान्ति का नमूना देखे बिना उसके प्रति का झुकाव कैसे होगा, और झुकाव हुए बिना पुरुषार्थ क्या करेगा? झुकाव हो जाने पर भी, यथार्थ उपदेश प्राप्त किये बिना, पुरुषार्थ क्या करेगा? अतः प्राथमिक शिष्य को देव, गुरु, धर्म व शास्त्र की श्रद्धा वाला लक्षण बहुत हितकारी है। क्योंकि इनके प्रति बाह्य की रुचि व श्रद्धा के आधार पर ही, कदाचित् वह यथार्थ शान्ति को स्पर्श कर सकता है। हेयोपादेय को जाने बिना किसके ग्रहण व त्याग का प्रयास करेगा। अतः सात तत्वों की श्रद्धा भी प्राथमिक शिष्य के लिए बड़ी कार्यकारी है। 'स्व पर' में ऊपरी भेद जाने बिना किस के प्रति उदासीन होगा? और किस के प्रति झुकाव करेगा? इसलिये प्राथमिक दशा में ऊपरी 'स्व पर' भेद जानना भी बहुत कार्यकारी है। इस प्रकार देखने पर भी इन तीनों बाह्य लक्षणों में शान्ति का लक्ष्य ही पुकार रहा है।

इस प्रकार पाँचों लक्षणों में शब्दों का भेद होते हुए भी अभिप्राय की एकता है।

—: सम्यक्त्व प्राप्ति :—

स्वपर के भेदज्ञान पूर्वक सम्यक्त्व को प्राप्त करके, पर से अन्यत्व का भाव लिये स्वात्म रुचि-पूर्वक यह राजकुमार शान्ति प्राप्ति के लिये महलों को त्याग कर बन की ओर जा रहे हैं, जहां पर जाकर पुराने संस्कारों को नष्ट करेंगे व नवीन विकल्पों की रोक थाम करेंगे।

५०

❀ सम्यक्त्व के अंग व गुण ❀

मुजफ्फरनगर दिनांक ३० अक्तूबर १९५९ (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ९१

१—धर्मी के अनेकों स्वाभाविक चिन्ह, २—निःशंकता, ३—निराकांक्षता, ४—निर्विचिकित्सा, ५—अमूढ़ दृष्टि, ६—उपगूहन व उपबृंहण, ७—स्थिति करण, ८—वात्सल्य, ९—प्रभावना, १०—प्रशम, ११—संवेग १२—अनुकम्पा, १३—आस्तिक्य, १४—मैत्री, १५—प्रमोद, १६—कारुण्य व माध्यस्थता।

१ धर्मी के अनेकों स्वाभाविक चिन्ह

अहो ! आध्यात्मिक प्रकाश की महिमा ! जिसका लक्ष्य शान्ति की ओर गया, उसका जीवन बदल गया, उसकी विचारणाओं की दिशा ही घूम गई, उसकी रीत ही अटपटी सी भासने लगी। सामान्य जगत को उसकी बातों पर आश्चर्य होता है। वह जगत को और जगत उसे मूर्ख समझने लगता है। परन्तु साधारण व्यक्ति बेचारे क्या जानें, कि उसके अन्तरंग में क्या बीत रही है ? शान्ति का उपासक पद पद पर शान्ति का स्वाद लेने में मग्न हुआ चला जा रहा है-अन्य सब स्वाद का तिरस्कार करता हुआ। उसके ढङ्ग ही निराले हैं, उसके जीवन में अनेकों चिन्ह स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं, जिनको वह बुद्धि पूर्वक नहीं बनाता। लौकिक जन भी उसकी नकल करके अपने जीवन में जबरदस्ती उन लक्षणों को बनाना चाहते हैं, जिससे कि वे भी किसी प्रकार धर्मियों की श्रेणी में गिने जाने लगें। क्या करें बेचारे धर्मी बनने की कोई उत्कण्ठा ही ऐसी है, जो उन्हें यह कृत्रिम स्वांग खेलने को बाध्य करती है। परन्तु उसके द्वारा अपने अन्दर उत्पन्न किये गये वे चिन्ह बिल्कुल पैवन्द सरीखे भासते हैं, उस कौवे वत् जिसने कि मोर के पंख चढ़ा कर अपने को मोर बनाना चाहा। धर्मी जीव के इन लक्षणों को ही सम्यक्त्व के अंग या गुण कहते हैं।

इन लक्षणों पर से धर्मी जीव को या उस जीव को जिसका लक्ष्य शान्ति पर केन्द्रित हो चुका है, भली भान्ति पहिचाना जा सकता है। अन्य भी शान्ति के इच्छुक उसके जीवन में इन गुणों का साक्षात्कार करके अपने इस विश्वास को दृढ़ बना सकते हैं, और वह धर्मी स्वयं भी इन गुणों पर से अपनी परीक्षा कर सकता है, कि कहीं मार्ग से विचलित तो नहीं हो गया ? इनमें से कुछ इस प्रकार हैं--निःशंकता, निराकांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन या उपबृंहण, स्थितिकरण

वात्सल्य, प्रभावना, निरभिमानता, प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यास्थता। आगे इन्हीं का कुछ पृथक पृथक विस्तार करने में आता है।

२ निःशंकता   शांति का उपासक दृढ़तया निश्चय कर बैठा है, कि वह चैतन्य है, निराबाध है, अमूर्तीक है, ज्ञान पुञ्ज है, शान्ति का स्वामी है, कोई भी उसके इन स्वभावों में बाधा डालने को समर्थ नहीं। इसलिये उसमें कोई निर्भीकता सी उत्पन्न हो जाती है, कोई अलौकिक साहस जागत हो जाता है। वह इस थोड़े से कुछ वर्षों मात्र के जीवन में अपने को सीमित करके नहीं देखता, भूतकाल में अनादि से चले आये और भविष्यत काल में अनन्त काल तक चले जाने वाले, सम्पूर्ण जीवनों व रूपों को फैलाकर एक अखंड जीवन के रूप में देखने लगता है। इसलिये मृत्यु उसकी दृष्टि में खेल हो जाती है—एक खिलौना लिया तोड़ दिया, दूसरा लेकर खेलने लगा। बस इसके अतिरिक्त और मृत्यु है भी क्या ? इस शरीर के त्याग का नाम वह मृत्यु समझता ही नहीं, केवल पुराने वस्त्र उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने वत् समझता है, सराय के एक कमरे को छोड़कर दूसरे कमरे में चला जाना मात्र समझता है, जो सम्भवतः पहले वाले से कुछ अच्छा है। मृत्यु उसकी दृष्टि में रूप परिवर्तन मात्र है, विनाश नहीं, उसमें उसे कोई हानि दिखाई देती नहीं। हानि दिखाई देती है केवल एक ही बात में, और वह है उसकी शान्ति में बाधा, उसे सब कुछ सहन है पर शान्ति का विरह सहन नहीं है, अतः उन संकल्प विकल्पों को मृत्यु समझता है, जो क्षण क्षण में आकर उसे बाधित करने का प्रयत्न करते हैं। उसका जीवन शरीर नहीं शान्ति है।

वह हर प्रकार से निर्भय रहता है। (१) उसे लोक में किससे भय लगे। लौकिक कोई भी शक्ति शरीर को बाधा पहुँचा सके तो कदाचित किसी अपेक्षा पहुँचा सके, पर उसकी शान्ति को बाधा पहुंचाने में स्वयं उसके अतिरिक्त कोई समर्थ नहीं। इस जीवन में कोई उसके शरीर को बाधा न पहुंचा दे, इस बात का उसे क्या भय ? (२) अगले भव में कैसा शरीर आदि का वातावरण मिले, इस बात की क्या चिन्ता ? कुछ मिले या न मिले, उसकी शान्ति उसके पास है। (३) शरीर का विनाश उसका विनाश नहीं अतः उसे मृत्यु से क्या डर ? (४) शरीर को ही परवाह नहीं तो रोग आने की क्या चिन्ता ? (५) उसे किसी अन्य के द्वारा रक्षा की क्या आवश्यकता ? (६) उसकी शान्ति स्वयं उसमें गुप्त रूप से सुरक्षित है। उसे किसी गुप्त स्थान में छिपकर इस शरीर की रक्षा का भाव क्यों आये (७) 'अकस्मात् ही कोई बड़ा कष्ट न आ पड़े, बिजली न गिर पड़े, बम न गिर पड़े', इत्यादि भय को कहां स्थान ? इस प्रकार सातों मुख्य भयों से मुक्त निर्भीक-वृत्ति वह, सिंह की भांति बराबर अपनी शान्ति की रक्षा करने में तत्पर हुआ, आगे बढ़ता चला जाता है।

लोक कुछ भी कहे पर वह किसी की सुनता नहीं। उसका एक ही लक्ष्य है—'आगे बढ़ो, शान्ति की ओर', मृत्यु आ जाये कोई परवाह नहीं, मृत्यु से पहले जहां तक हो सके बढ़ो। मृत्यु के पश्चात् अगले जीवन में पुनः वही पुरुषार्थ चालू करो, उस स्थान से आगे जहां कि इस जीवन में छोड़ा है, पीछे मुड़कर देखना उसका काम नहीं। लोग बेचारे सहानुभूति करें, दया दर्शायें, पर वह किसी की नहीं सुनता। जानता है कि इन बेचारों को नहीं पता, कि मैं कहां जा रहा हूँ ? अतः केवल हँस देता है उनकी बातों पर, और चल देता है आगे, वह जानता है कि लोकों की सहानुभूति शरीर के साथ है, उसकी शान्ति के साथ नहीं, अतः उनके कहने पर अपना मार्ग नहीं छोड़ता है। उसके

हाथ में है (Excelsior) 'ऊंचे ही ऊंचे' की पताका, इसकी लाज बचाना ही उसका कर्तव्य है। ओह ! कितनी निर्भीकता ? कोई कृत्रिम रूप से अपने में प्रगट करना चाहे तो क्या सम्भव है ? ऊपरी प्रवृत्तियों में, या शरीरादि की क्रियाओं में भले प्रगट न होने दे पर अन्तर में पड़े भय को कैसे टाले, हृदय तो कांप ही रहा था। यह निर्भीकता ही है उसका निःशंकित गुण। अर्थात् उसे भय की शंका स्वाभाविक रीति से ही नहीं होती। यह शंका हो सकती है कि ज्ञानी को भी भय होता तो देखा जाता है सो प्रश्न का उत्तर आगे निर्विचिकित्सा गुण के अन्तर्गत दिया गया है वहां से जान लेना।

अथवा "मैं जीव ही हूं, शान्ति का पुञ्ज ही हूं, अन्य कुछ नहीं। अन्य से मुझे कुछ लाभ हानि नहीं। इन क्षणिक विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कोई मेरा शत्रु नहीं। विस्तृत रूप से निर्णय किया गया यह देव दर्शन आदि में प्रवृत्ति रूप मार्ग ही मेरा मार्ग है। पूर्ण शान्ति ही मेरी मोक्ष है।" हेयोपादेय तत्वों का इस प्रकार अनुभवात्मक निर्णय हो जाने पर कौन शक्ति है जो उसके इस श्रद्धान में कम्पन करा सके। स्वयं भगवान भी आयें तो वह अपना विश्वास बदलने को तैयार नहीं। उसने अहित को व हित को स्वयं साक्षात् रूप से मुंह दर मुंह खड़ा करके देखा है। कैसे भूले उसे ? उसका श्रद्धान पूर्व (अधिकार नं० ७) में बताये अनुसार चौथी कोटि की श्रद्धा में प्रवेश पा चुका है। अतः 'यह ऐसे है कि ऐसे' इस प्रकार तत्वों में या गुरु वाक्यों में उसे शंका क्यों उपजे ? स्वाभाविक रूप से ही उसकी इस प्रकार की सब शंकायें मर चुकी है। यह भी उसकी निःशंकता का ही दूसरा लक्षण है।

लौकिक जन उसकी देखम देखी गुरु वाक्यों में जबरदस्ती शंका उत्पन्न न करें, ('जिन वच में शंका न धारो' गुरु का ऐसा उपदेश है। 'यदि तत्वों आदि में शंकायें करूंगा, युक्ति व तर्क करूंगा, संशय करूंगा, तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा, अतः चुप ही रहना ठीक है,') ऐसा मानकर तत्व समझने के लिये प्रश्न भी करते डरते है। अरे प्रभु ! सम्यक्त्व है ही नहीं, घाता क्या जायेगा ? शान्ति पर लक्ष्य है ही नहीं, विच्छेद किसका होगा। भले शब्दों में न कहे, पर हृदय में उत्पन्न हुई शंकायें कैसे दबायेगा ? 'यदि ऐसा करूंगा, तो सम्यक्त्व घाता जायेगा' एसा भय ही तो शंका है। वह तो उठ ही रही है। भगवन् ! यह तेरी शंका तो तुझे जागृत करने आई है। सावधान हो। अपने को झूठ मूठ धर्मी मान बैठा है-केवल बाह्य की कुछ क्रियायें करने के आधार पर, सो तेरी कल्पना झूठी है। ऐसा झूठा सन्तोष त्याग। वस्तु कुछ और ही है, उसे तू आज तक जान ही नहीं पाया है, शास्त्र पढ़े है, पर रहस्य नहीं समझा है, अतः उसे समझ, और पूर्व कथित मार्ग पर चल। अपने जीवन को उस सांचे में ढाल, शान्ति का अनुभव कर और तब प्रगटेगी तेरी निःशंकता। यूं नक़ल करने से तुझे क्या लाभ ? जबरदस्ती शंकाओं को दबाने का नाम निःशंकता नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूप से अन्तरंग अनुभवात्मक निर्णय के कारण शंका को अवकाश ही न रहे, इसका नाम ही निःशंकता है। धर्मी को ऐसी ही निःशंकता होती है बनावटी नहीं।

३ निराकांक्षता शान्ति के उपासक को शान्ति के अतिरिक्त किसी बात की अभिलाषा ही नहीं और शान्ति स्वय उसके पास है, बाहर कहीं से आनी नहीं। इन्द्रिय भोगों के प्रति उसे बहुमान नहीं। क्या मांगे बाहर के संसर्गों से ? 'इस लोक में मैं सुखी रहूं, मुझे कोई बाधा न आवे, खूब धन हो, स्त्री

हो, कुटुम्ब हो, ख्याति हो इत्यादि तथा मृत्यु के पश्चात् भी मुझे कोई अच्छी गतियाँ मिलें। मैं नरक पशु आदि गतियों में न जाऊं, देव ही बनूं, या राजा आदि पदों की प्राप्ति हो इत्यादि,' ऐसी आकांक्षायें उसे होती नहीं। उसके लिये सब योनि समान हैं। सब उसी के एक अखण्ड जीवन के भिन्न-भिन्न रूप हैं (अधिकार नं० २१ प्रकरण नं० २४), किसके प्रति आकर्षित हो ? देव गति में ही क्या विशेष आकर्षण है, जो नरक गति में नहीं ? देव गति तो उसकी दृष्टि में है तेतीस सागर की कैद। चाहते हुए भी और शक्ति के होते हुए भी शान्ति पथ पर आगे न बढ़ सके, इससे बडा दुःख और क्या होगा उसे ? हृदय मसोस कर रह जाता है, क्या करे कैद पूरी हुए बिना उसे कुछ करने की आज्ञा नहीं है। नरक गति से भी उसे कोई द्वेष नहीं है, उसे तो शान्ति चाहिये। उसे नरक हो क्या-इससे भी बुरी कोई योनि हो तो स्वीकार है, परन्तु शान्ति मिलनी चाहिये। अतः उसे धन सम्पत्ति या सुन्दर शरीर आदि की, इस भव के लिये या अगले भवों के लिये कदापि आकाँक्षा नहीं होती। बाह्य सुविधा और बाह्य बाधा उसकी दृष्टि में समान है। भोगादि के सुख उसे सुख ही भासते नहीं, आकांक्षा किस की करे ? व्यवहार में या निश्चय में, किसी प्रकार भी उसे आकांक्षा होती नहीं। आकाँक्षा है केवल एक, अपनी शान्ति की रक्षा की, अन्य कुछ नहीं। और तो और 'विदेह क्षेत्र में जाकर प्रभु के दर्शन करने से मुझे कुछ लाभ होगा, अतः किसी प्रकार विदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो जाऊं तो अच्छा,' इस प्रकार की भी आकांक्षा नहीं। उसका प्रभु सर्वदा उसके पास है, नित्य ही वह उसका साक्षात्कार करता है, उसे वह आकाँक्षा भी क्यों हो ? यह है उसका निःकांक्षित गुण।

उसकी देखम देखी लोक भी शब्दों में 'मुझे स्वर्गादि भोग नहीं चाहिये, वर्तमान में भी यह भोग सामग्री मेरे लिए कोई विशेष आकर्षक नहीं, मुझे कुछ आकांक्षा नहीं और यदि स्वर्गादि या भोगादि की आकांक्षा करूंगा तो मेरा सम्यक्त्व घाता जायेगा, इत्यादि,' इस प्रकार भले शब्दों में कहता रहे पर अन्तरङ्ग में पड़े इनके प्रति के आकर्षण को कैसे दबाये ? वहां तो बराबर आकांक्षा छिपी हुई ही है। और रूप में न सही, पर 'विदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो जाऊं तो भगवान के दर्शन से कुछ लाभ उठाऊं', ऐसी आकांक्षा तो मुख पर भी आ ही जाती है। मुख पर लाना भी देखा देखी या सुन सुना कर रोक ले तो, अन्तरंग में पड़ी आकांक्षा का क्या करेगा ? सम्यक्त्व है ही कहां जो कि इस आकांक्षा से घाता जायेगा। प्रभो ! यह उपाय नहीं है इसे दबाने का। यदि नकल ही करके आकांक्षा दबाना अभीष्ट है तो पूर्व कथित मार्ग के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न कर। स्वतः टल जायेंगी सब आकांक्षायें। धर्मी जीवों का निःकांक्षित गुण कृत्रिम नहीं होता, स्वाभाविक होता है। वह नकल करके अपनाया नहीं जाता, जीवन में परिवर्तन करके अपनाया जाता है।

४ निर्विचिकित्सा शान्ति व सुन्दरता में ओत प्रोत वह लोक में सर्वत्र शान्ति ही का प्रसार देखता है। चेतन अचेतन पदार्थों का निर्णय किया है, उस पर दृढ़ श्रद्धान किया है, अपने सर्व लौकिक व्यवहारों में भी उस निर्णय का प्रयोग करने का सर्वदा प्रयास करता रहता है। सर्व विश्व को एक अद्वैत ब्रह्म या ईश्वर के निवास स्थान या अपने द्वारा की गई रचना के रूप में देखता है, (अधिकार नं० २६ प्रकरण नं० २५) इसीलिये पदार्थों को उनके असली रूप से देखता है, उनके क्षणिक इन बाह्य रूपों में सुन्दरता व असुन्दरता उसे दीखती ही नहीं। जड़ हो कि चेतन सर्व में उस उस जाति के रूप को ही देखता है। जड़ के, लोक में दीखने वाले, सुन्दर व असुन्दर सर्व रूपों में केवल जड़त्व का; और चेतन के अनेक मनुष्य, पशु, व धनवान निर्धन, व स्वस्थ रोगी आदि रूपों में केवल चेतनत्व का ही

उसे भान होता है। बाहर के इन रूपों की उसकी दृष्टि में कोई सत्ता नहीं क्योंकि अब है कल नहीं, उसकी क्या सत्ता ? अब सुन्दर है और कल असुन्दर, अब मिष्टान्न है और कल विष्टा, और तीन दिन पीछे फिर अन्न, और फिर मिष्टान्न। इन रूपों का क्या मूल्य ? बहुरूपिये का स्वांग है, वह ज्ञानी इस स्वांग से भली भांति परिचित है। उसे इस स्वांग में क्यों भ्रम होने लगा। इसी लिये उसे मिष्टान्न के प्रती आकर्षण और विष्टा के प्रति घृणा नहीं होती, किसी पुरुष में मित्रता व किसी में शत्रुता का भान नहीं होता, किसी में अपनत्व व किसी में परत्व का भाव नहीं उठता। यही उसका निर्विचिकित्सा गुण है।

तू तो कुछ सोच में पड़ गया है भाई-यह सुन कर। सम्भवत: सोच रहा हो कि गृहस्थ या ऊपर की भी यथा योग्य भूमिकाओं में, ज्ञानी की यथार्थतया यह दशा देखने में तो नहीं आती, क्योंकि कोई भी मिष्टान्न की बजाये विष्टा खाने को तैयार नहीं और गृहस्थ ज्ञानी भी पिता व पथिक में एकत्व मानने को तैयार नहीं। फिर एकता कैसे कहते हो ? तेरा विचार ठीक है भाई ! ऐसा ही है, तनिक गहराई में उतर कर अभिप्राय की परीक्षा कर, बाह्य क्रिया को मत देख। यह प्रकरण सम्यक्त्व अर्थात् श्रद्धा के गुणों का है, चारित्र के गुणों का नहीं। अभिप्राय में साम्यता आ जाने पर तुरत चारित्र में साम्यता आना आवश्यक नहीं। अभिप्राय पूर्व क्षण में ही पूरा हो जाता है, परन्तु उस के अनुरूप जीवन बनाने में बहुत देर लगती है। धीरे-धीरे जीवन या चरित्र भी आगे चल कर, उसके अनुरूप अवश्य बन जाता है। देख गृहस्थ अवस्था में रहते हुए, जो व्यक्ति पिता व पथिक में या मित्र व शत्रु में कुछ भेद व्यवहार करता था, साधु बनने के पश्चात् बिल्कुल नहीं करता, यह गुण क्या उसमें एक दम प्रगट हो गया ? नहीं, गृहस्थ अवस्था में ही साधना के प्रथम क्षण से प्रगट होना प्रारम्भ हुआ था, यहां आकर पूर्ण हुआ। पूर्ण हो जाने से पहले भले तू उसे न देख पाये, पर वह उसके जीवन में किंचित् भी न हो, ऐसा नहीं था। गृहस्थ अवस्था में भी इस प्रकार का भेद व्यवहार करने से वह संतुष्ट नहीं था, उसे अपनी इस प्रवृत्ति के प्रति घृणा थी, वह इसके लिये अपने को धिक्कारा करता था, और बराबर इस भेद बुद्धि को दूर करने का प्रयत्न करता था। उस समय उसके अभिप्राय में साम्यता अवश्य थी, उसी ने बढ़ते बढ़ते चारित्र का रूप धारण किया है।

इस प्रकार योगी होने के पश्चात् भी विष्टा व मिष्टान्न में भेद रहता है, परन्तु अभिप्राय में जाकर देखे तो अभेद ही है। क्योंकि उसे इस बात का दृढ़ निर्णय है कि यह दोनों ही पदार्थ केवल ज्ञेय हैं भोज्य नहीं, भले शक्ति की हीनता व शरीर के राग वश उनको भोगने का विचार आता हो, परन्तु यह विचार अनिष्ट है। बाहर में प्रगट दीखने वाला यह भेद इस राग का कार्य है, अभिप्राय का नहीं। अभिप्राय में तो यही है कि, "कौन दिन आये कि खाने पीने के राग से मुक्त हो जाऊं ?" और बस जिस दिन ऐसी अवस्था में प्रवेश कर जाता है अर्थात् अर्हन्त अवस्था में तो वह अभिप्राय ही पूर्व दृष्टान्त वत् साकार होकर सामने आ जाता है। साधु अवस्था तक उसे पूर्व दृष्टान्त वत्, इस भेद बुद्धि के प्रति बराबर आत्म निन्दन होता रहता है।

विष्टा से तू भी घृणा करता है, और एक ज्ञानी भी, पर महान अन्तर है दोनों की घृणा में। तेरी घृणा के पीछे पड़ा है यह अभिप्राय कि यह घृणा तेरे लिये हितकर है और उस के अन्दर में पड़ा है यह अभिप्राय कि यह घृणा उसका दोष है, त्याज्य है, जितनी जल्दी छूट जाये अच्छा

है। इसी प्रकार एक भंगी व ब्राह्मण में भी, भले वर्तमान राग वश, या पूर्व संस्कार वश वह कुछ भेद करता हो, भंगी से बचने का प्रयत्न करता हो, परन्तु अभिप्राय में अपने इस कृत्य की निन्दा करता है, इसे त्याज्य समझता है, जबकि तू इसे ही अपने लिए हितकारी समझता है। बिलकुल इसी प्रकार निःशंकता गुण में भय रूप ज्ञानी व अज्ञानी की प्रवृत्ति में भी अन्तर समझ लेना।

धर्मी का ऐसा स्वभाव ही है। वह कोई बनावट करके यह बात पैदा नहीं करता है। उसमें अकृत्रिम रूप से स्वतः ही यह भाव उत्पन्न होता है। किसी को देखम देखी या सुन सुना कर शब्दों में कोई इस साम्यता का गुण गान करने लगे, और घृणा न करे तो वह गुण प्रगट हुआ कहा नहीं जा सकता। क्योंकि अन्तरंग में पड़ी घृणा को कैसे निकालेगा? बनावटी रूप से घृणा न करे तो निर्विचिकित्सा गुण नहीं बनता। अभिप्राय में अन्तर पड़ना चाहिये, जो बिना वस्तु स्वभाव समझे नहीं हो सकता। अर्थात् आत्मानुभव हुए बिना नहीं हो सकता।

सर्व साधारण चेतन व अचेतन द्रव्यों में तो उपरोक्त प्रकार घृणा का अभाव हो ही जाता है, परन्तु इसके अतिरिक्त विशेष गुणी जीवों में यही परिणाम कुछ और भी विशेषता धारण कर लेता है। शान्ति के उपासक अन्य जीवों के प्रति उसे इतना प्रेम व आकर्षण हो जाता है, कि यदि कदाचित् ऐसे किसी जीव के शरीर में कोई रोग हो जावे, उसमें से मल आदि बहने लग जावे, उसमें दुर्गन्धि उत्पन्न हो जावे, उसकी ऐसी दशा हो जावे, कि किसी का पास खड़ा होना भी कठिन हो जावे, तो वह धर्मी जीव उस की हर प्रकार से सेवा करने से बिलकुल ग्लानि नहीं करता, बल्कि उसकी सेवा करना अपना सौभाग्य समझता है। उसके मल मूत्र को अपने हाथ पर उठाने में भी उसे संकोच नहीं होता, कफ या नासिका के मल को अपने हाथ में ही धारण कर लेने पर भी ग्लानि नहीं होती। उन पदार्थों के प्रति अल्पावस्था के कारण जो कुछ ग्लानि उसकी प्रवृत्ति में दिखाई देती थी, वह उस पात्र के गुणों के प्रति जो बहुमान उसे उत्पन्न हुआ है, उसमें दब कर रह गई है। यह है उसका निर्विचिकित्सा गुण।

मुजफ्फरनगर दिनांक ३१ अक्तूबर (सन्ध्या समय)

प्रवचन नं० ८१

अहो शान्ति की महिमा! जिसके कारण बिना प्रयास के ही इतने गुण स्वतः प्रगट हो जाते हैं। कितना बड़ा कुटुम्ब है इस शान्ति का? बात चलती है धर्मी जीव के गुणों अथवा उसके लक्षणों की, जिन पर से कि यह निर्णय किया जा सके कि अमुक व्यक्ति धर्मी है कि अधर्मी, अर्थात् शान्ति का उपासक है कि भोगों का? उसके अनेक गुणों में से तीन गुण निःशंकता, निराकांक्षता, व निर्विचिकित्सा की बात कल चल चुकी है। आज अगले कुछ गुणों की बात चलती है।

५ अमूढ़ दृष्टि   अनुभव के आधार पर शान्ति का व शान्ति के आदर्श का दृढ़तया निर्णय हो जाने के कारण, शान्ति के आस्वाद के प्रति अत्यन्त बहुमान उत्पन्न हो जाने के कारण, तथा शान्ति के अतिरिक्त अन्य सर्व प्रयोजन लुप्त हो जाने के कारण, अब उसका स्वाभाविक बहुमान शान्ति के आदर्श ऐसे देव-

गुरु-शास्त्र व शान्ति धर्म के प्रति, अथवा इन देव-गुरु-शास्त्र या धर्म के उपासकों के प्रति ही रहता है, इनके अतिरिक्त अन्य किसी आदर्श रूप देवादि या उनके उपासकों के प्रति नहीं। यह बात कृत्रिम नहीं होती, क्योंकि लोक में भी ऐसा देखने में आता है कि जुवारी का बहुमान जुवारी के प्रति ही होता है, अन्य के प्रति नहीं। देव गुरु व शास्त्र की परीक्षा करते समय यह बात काफ़ी विस्तार के साथ बता दी गई थी। उसमें उसकी दृष्टि भ्रम को प्राप्त होती नहीं। इसी का नाम अमूढ़दृष्टि पना है।

इसका यह अर्थ नहीं कि, उनके अतिरिक्त अन्य सर्व से उसे द्वेष हो जाता हो। अपने पुत्र से प्रेम करने का यह अर्थ नहीं कि, दूसरों के पुत्रों से आपको द्वेष हो। राग व द्वेष के अतिरिक्त एक तीसरी बात भी होती है। जिसे माध्यस्थता कहते हैं। आप सब को भी माध्यस्थ परिणाम का भान है, परन्तु यह पकड़ नहीं है, कि माध्यस्थता उसी का नाम है। देखिये आपके घर के आगे से अनेकों व्यक्ति आ रहे हैं और जा रहे हैं। आप अपने बरामदे में खड़े सबको देख रहे हैं। बताइये उनसे आपको प्रेम है कि द्वेष ? न प्रेम है न द्वेष यह आप भली भाँति जानते हैं। फिर भी उनको क्यों देखते हैं ? इसी का नाम माध्यस्थता है। इसमें न देखने व बोलने का कोई अभिप्राय है, और न निषेध का। बस इसी प्रकार का माध्यस्थ भाव उन अन्य देवों आदि के प्रति उसे रहता है। न उनके दर्शन का कुछ अभिप्राय है और न निषेध का।

इस गुण के सम्बन्ध में ठीक ठीक परिचय न होने के कारण आज साम्प्रदायिक विद्वेष को ही अमूढ़दृष्टि पना ग्रहण करने में आ रहा है, जिसके कारण आज हम अन्य देवी देवताओं की निन्दा व अविनय करने तक को तैयार हो जाते हैं। उनके प्रति मुख करके खड़ा होना भी आज हमें सहन नहीं। या तो ऐसे स्थानों पर जाते हुए ही हम घबराते हैं, और यदि किसी के दबाव के कारण जाना भी पड़े तो उनकी तरफ़ पीठ करके खड़े हो जाते हैं, मानों कि कहीं उनका प्रभाव न पड़ जाये। ऐसा करने में हमें इतना भी विचार नहीं रहता है, कि उनके उपासक जो अन्य भक्तजन हैं, उन्हें हमारी इस प्रवृत्ति को देख कर कितना दुःख होगा। साक्षात् हिंसा होते हुए भी हम उसे गुण मान बैठे हैं ? भगवन् ! इसका नाम अमूढ़ दृष्टि पना नहीं है, यह साम्प्रदायिक विद्वेष है, यह गुण नहीं महान दोष है, अमूढ़-दृष्टि नहीं मूढ़-दृष्टि है। उनके प्रति पीठ घुमाने का अर्थ है, कि आप उन्हें देव आदि मानते हैं साधारण जन नहीं। यदि साधारण जन माना होता तो अपने घर के सामने से गुजरने वाले व्यक्तियों में तथा उन्हें देखने में क्या अन्तर है ? जैसे उन जाते हुए व्यक्तियों को देखते थे वैसे ही माध्यस्थ भाव से उन देव आदि को भी देख लेते, क्या बाधा आती थी ? अतः भगवन् ! अब वीतरागी गुरुओं की शरण में आकर इस साम्प्रदायिक विद्वेष को त्याग। सबके प्रति माध्यस्थता धारण कर।

६ उपगूहन व उपबृंहण

शान्ति पथ पर बराबर आगे बढ़ने वाला जीव, उसमें बाधा पहुँचाने वाले अपने अपराधों के प्रति सदा जागृत रहता है, एक क्षण को भी उनसे गाफ़िल नहीं होता। इसीलिये वह सदा अपने जीवन में दोष ही दोष ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उसको अनेकों गुण प्राप्त हो चुके हैं, पर उनके प्रति उसकी दृष्टि नहीं जाती। पूर्णता के लक्ष्य में उसे कमी ही दिखाई देती है, इस कमी को जिस किस प्रकार भी दूर करना अपना कर्तव्य समझता है। अपने गुण के प्रति दृष्टि

चली जाने से अभिमान उत्पन्न हो जाता है। ओह ! 'मैं इन लौकिक रंक जीवों से कितना ऊंचा हो गया हूँ', ऐसा अभिमान उसे, ऐसी खाई में ढकेल देगा जहां से वह उठने का नाम भी न ले सकेगा।

इसके विपरीत उसे अभी अन्य जीवों के जीवन में गुण ही गुण दिखाई देते हैं। गुणों के प्रति बहुमान जो है उसे, गुणों को अपने जीवन में उत्पन्न जो करना है उसे, गुणों का वह सच्चा ग्राहक है। बाजार में जायें तो स्वभावतः आपकी दृष्टि उन पदार्थों पर ही पड़ती है, जिनकी कि आपको आवश्यकता है, अन्य पर नहीं। उसी प्रकार किसी भी अन्य व्यक्ति के जीवन में उसकी दृष्टि गुणों पर ही पड़ती है दोषों पर नहीं, भले ही उसमें दोष पड़े रहें। उनकी उसे आवश्यकता ही नहीं, क्यों देखे उनकी ओर ?

तात्पर्य यह है कि वह सदा अपने दोषों को देखता है और दूसरे के गुणों को। अपने दोषों को प्रगट करता है और दूसरों के गुणों को। अपने गुणों को छिपाता है और दूसरों के दोषों को। अपनी सदा निन्दा करता है और दूसरों की प्रशंसा। इसलिये दूसरों के दोषों को छिपाने या गोपने के कारण ही उसके इस गुण का नाम उपगूहन है। और साथ-साथ अपने गुणों में वृद्धि करते जाने के कारण इस गुण का नाम उपबृंहण है।

आज हमारे जीवन का अधिक भाग बीता जा रहा है, बिलकुल इससे विपरीत दोष में, अर्थात् अपनी प्रशंसा करते हुए व दूसरों की निन्दा करते हुए। आज दूसरों के अनहुऐ या तृणवत् दोष भी मुझे बहुत बड़े भासते हैं, और अपने अन्दर पड़े हुए शहतीर जितने बड़े दोष भी दिखाई नहीं देते। अपने अनहुए गुण भी प्रगट करते हुए और दूसरों के अनहुए दोषों का भी ढंढोरा पीटते हुए हर्ष मानते हैं। यह प्रवृत्ति बड़ी निकृष्ट है। इसमें अब ब्रेक लगा प्रभु ! अपने हित के लिए दूसरों के लिए नहीं। आत्म प्रशंसा व पर निन्दा करने से दोषों में वृद्धि, और आत्म निन्दा व परप्रशंसा करने से गुणों में वृद्धि होती है। गुरु देव की शरण में आकर गुणों में वृद्धि कर दोषों में नहीं।

७ स्थितिकरण शान्ति के उपासक का लक्ष्य पद पद पर अपनी शान्ति की रक्षा करना है। इसलिये अल्पावस्था में जब जब अपनी शक्ति की हीनता वश वह अपनी शान्ति से च्युत होता है, तब तब ही पुनः उसी में स्थित होने का बराबर प्रयास करता है, ऐसा उसमें स्वाभाविक गुण है। और क्यों न हो ? क्या दुकान में हानि हो जाने पर उसमें लाभ प्रगट करने के लिए, स्वभावतः ही आप अधिकाधिक प्रयास नहीं करते हैं ? यह ही है स्व स्थिति करण।

इतना ही नहीं अपनी शान्ति के आस्वाद से छूट जाने पर उसे जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। चक्रवर्ती के षट् खण्ड का राज्य-छूट जाने पर भी उसे इतनी पीड़ा होती नहीं होगी। इस लिये अन्य शान्ति के उपासकों की पीड़ा भी उसके लिये असह्य है। 'अरे ! इतनी दुर्लभ वस्तु को, अत्यन्त सौभाग्य वश प्राप्त करके भी, यह प्राणी, इन कुछ बाह्य बाधाओं के कारण छोड़ने को तैयार हो गया है, नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, मेरे होते हुए यदि वह शान्ति की रक्षा न कर सका, तो मेरा जीवन निरर्थक है'। तथा इसी प्रकार के अन्य अनेकों विचार स्वतः अन्तर में उठ कर उसे बेचैन बना देते हैं, और उसे उस जीव की यथा योग्य रक्षा करने के लिए बाध्य कर देते हैं, चाहे इस प्रयोग

में उसे कुछ हानि ही क्यों न उठानी पड़े। यदि आर्थिक परिस्थिति के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो धन द्वारा या उसके योग्य अन्य कोई काम देने के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि शारीरिक रोग के कारण वह मार्ग से विचलित हो रहा है, तो योग्य औषधि व शारीरिक सेवा के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करता है। यदि किसी के मिथ्या उपदेश या कुसंगति के कारण मार्ग से च्युत हो रहा है, तो योग्य उपदेश के द्वारा उसे पुनः वहां स्थित करने का प्रयत्न करता है। तथा अन्य भी किन्हीं कारणों वश यदि वह ऐसा कर रहा है तो जिस किस प्रकार यथा योग्य सेवा करने को हर समय उद्यत रहता है। याद होगी आपको वारिषेण ऋषि की कथा। अपने शिष्य पुष्पडाल को मार्ग पर स्थित करने के लिए अयोग्य कार्य करने से भी वह न डरा। यह जानते हुए भी कि इस कार्य से लोक में मेरी निन्दा हो जायेगी, वह उसे अपने महल में ले गया, और अपनी सर्व सुन्दर रानियों को पूरा शृङ्गार करके सामने आने की आज्ञा दी। इस सर्व कार्य में उसका अभिप्राय खोटा नहीं था, केवल पुष्पडाल के मन की शल्य निकालना था। बस इस स्वाभाविक गुण का नाम ही स्थितिकरण है।

हमारी प्रवृत्ति बिलकुल इसके विपरीत है? किसी साधक के जीवन में किंचित् दोष लगा, कि चारों ओर से धुतकारें आनी प्रारम्भ हुई। भगवन्! रोकिये इस प्रवृत्ति को। कषाय की शक्ति विचित्र है, बड़े बड़े नीचे गिरते देखे गये हैं, गिरते को गिराने का प्रयत्न न कीजिये। जिस किस प्रकार भी उसे उठाने का प्रयास कीजिये, उसे धुतकारिये नहीं बल्कि पुचकारिये, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि चलना सीखने वाले अपने बालक को आप पुचकारते हैं, जब कि वह चलता चलता गिर जाता है।

८ वात्सल्य शान्ति की उपासना से उसके अन्दर एक यह गुण भी प्रगट हो जाता है, कि जहां भी किसी अन्य अपनी बिरादरी के व्यक्ति को देखा, अर्थात् किसी भी अन्य शान्ति के पथिक को देखा, कि उसके हृदय में एक अनोखा सा उल्लास उत्पन्न हुआ। जिसका कारण कि स्वयं वह भी नहीं जानता, क्योंकि ऐसा स्वभाव ही है। किसी दूर देश में आपके नगर का कोई साधारण सा व्यक्ति मिल जाये, तो मिलने व बोलने को जी करता है उससे। आपका यह गुण नगर वात्सल्य है, और इसी प्रकार उसका वह गुण शान्ति पथ वात्सल्य है, जिसके कारण एक प्रमोद उमड़ आता है उसके हृदय में। 'इसे मैं सर पर बैठा लूं, या क्या करदूं' ऐसा किंकर्तव्य विमूढ़ सा उसकी ओर आकर्षित हो अन्दर ही अन्दर फूल उठता है। क्यों न फूले? अपनी शान्ति का स्वाद लेते समय भी तो यही हालत होती है—उसकी। उसके इस स्वाभाविक गुण का नाम है 'वात्सल्य'।

उसकी देखम देखी कृत्रिम रूप से भले कोई वात्सल्य या प्रेम प्रगट करना चाहे, परन्तु जब तक उस जीव में शान्ति के दर्शन होते नहीं, तब तक उसकी कृत्रिमता का भान साक्षात् अन्तरंग में होता रहता है। ऐसे कृत्रिम वात्सल्य का नाम वात्सल्य नहीं है।

९ प्रभावना शांति के आस्वादन से प्रभावित होकर, उसका जीवन बराबर उसकी ओर बढ़ता जाता है। किसी ऐसे सांचे में ढलता जाता है, कि जिसे देख कर लोगों को आश्चर्य होता है। कुटुम्बादि व धनादि की तो बात दूर रही, शरीर पर से भी उपेक्षा होती चली जाती है, विरक्तता बढ़ती

जाती है। साम्यता व सरलता आती जाती है, द्वेषादि का पता नहीं पाता। सबके प्रति कल्याण की भावना जागृत हो जाती है। ऊपर बताये हुए सात महान गुण तथा इनके अतिरिक्त अनेकों अन्य गुण प्रगट हो जाते हैं। जीवन अलौकिक बन जाता है, ऐसा कि उन्हें देख कर अन्य जीव भी आकर्षित हुए बिना न रह सके, प्रभावित हुए बिना न रह सके। यह है उसका प्रभावना गुण।

"सर्व जीवों का कल्याण हो। किसी प्रकार शान्ति के प्रति उन्हें भी बहुमान हो", ऐसी शुभाकांक्षा को लेकर वह बाहर में भी अनेक प्रकार के उत्सव व शान्ति के प्रदर्शन करता है। ताकि सर्व साधारण जन उसे देख कर कुछ प्रभावित हों, और हृदय में शान्ति के लिए कोई जिज्ञासा उत्पन्न करें। उसकी देखा देखी लौकिक जीवों द्वारा जो उत्सव आदि मनाये जाते हैं, उसका नाम प्रभावना गुण नहीं है। क्योंकि उनकी उन क्रियाओं में से केवल साम्प्रदायिकता झांक रही है शान्ति नहीं। आज के उत्सव आदि में केवल धन का प्रदर्शन है, जीवन का नहीं। वैराग्य के प्रकरण स्वरूप भगवान के पंच कल्याणक प्रतिष्ठायें भी आज शान्ति व वैराग्य प्रदर्शन से शून्य केवल खेल तमाशा बन कर रह गई हैं, जिसमें ढोल बाजों के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी प्रकार के मेलों पर लाखों रुपया व्यर्थ खोकर भले यह समझ लिया जाये कि धर्म प्रभावना हुई है पर यह धन-प्रभावना धर्म-प्रभावना है नहीं।

१० प्रशम — शान्ति में स्नान करते रहने के कारण उसके जीवन में इतनी सरलता व साम्यता आ जाती है, कि क्रोधादि की तीव्रता तो दूर रहो, लौकिक स्वार्थ का भी अभाव हो जाता है। उसके रोम रोम में शान्ति खेलने लगती है। सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझने लगता है। उसको देख कर दूसरों को भी कुछ शान्ति प्रतीत होती है। ऐसा उसका प्रशम गुण है।

११ संवेग — बाह्य विषय भोगों में अब उसे रस नहीं आता। शान्ति के सामने इनका क्या मूल्य? हलवा मांडा खाने को मिले तो सूखी ज्वार की रोटी कौन खाये? अतः भोग सामग्री से उसे स्वतः ही अन्तरङ्ग से कुछ उदासीनता सी हो जाती है-कृत्रिम रूप से देखमदेखी इस सामग्री का त्याग करने का नाम सच्ची उदासीनता नहीं है। उनका त्याग न करके भी गृहस्थ में रहते हुए ही, उसे इनमें पूर्व-वत् रस आना बन्द हो जाता है, ऐसा वैराग्य या संवेग उत्पन्न हो जाता है। तथा संसार के इस जंजाल से मानों अब उसे कंपकंपी सी छूटने लगती है। घर में संचित पदार्थों का ढेर देख कर उसका कलेजा हिलने लगता है। जिस कमरे को बड़ी रुचि पूर्वक उसने सजाया था, आज मानों वह उसे खाने को दौड़ रहा है। ऐसा संसार के प्रति उसे कुछ भय सा उत्पन्न हो जाता है। उसे ही निर्वेद गुण कहते हैं।

१२ अनुकम्पा — दुःखी जीवों को देख कर स्वतः ही बिना किसी स्वार्थ के उसका कलेजा पसीज उठता है। 'अरे! यह भी तो शान्ति का पिण्ड है। उसे भूल कर बेचारा संतप्त है आज। अवश्य ही इसकी पीड़ा का निवारण होना चाहिये,' इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प उठ खड़े होते हैं। और अपनी शक्ति अनुसार यथा योग्य रूप में, उसकी पीड़ा की निवृत्ति का उपाय करता है। ऐसा उसका स्वाभाविक करुणा व दया गुण है।

१३ आस्तिक्य — शान्ति का साक्षात् वेदन हो जाने पर, 'अरे! यह रहा मैं तो, अन्तरङ्ग प्रकाशमान,

व्यर्थ ही ढूंढता फिरा इधर उधर,' ऐसा भाव प्रगट हो जाता है। उसके सम्बन्ध में अब उसे कोई शंका नहीं होती, चाहे कोई कितना भी कहे, वह दृढ़ रहता है। आँखों देखी बात को कौन अस्वीकार कर सकता है ? बस इसी प्रकार स्वयं अनुभव की हुई अपनी सत्ता के प्रति कौन संशय कर सकता है ? अपनी सत्ता का निर्णय हो जाने पर स्पष्टतया अन्य प्राणियों की सत्ता का निर्णय हो जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उन सब में उसे अपना जातिपना दिखाई दे रहा है। अपने जातिपने से रहित अन्य जड़ या अचेतन पदार्थ की सत्ता का भी अनुभवात्मक व रहस्यात्मक निर्णय हो जाता है। समस्त विश्व की सत्ता का निर्णय ही उसका आस्तिक्य गुण है। 'अस्ति' शब्द का अर्थ है 'होना'। होने पने के निर्णय को अर्थात् पदार्थों की सत्ता के निर्णय को आस्तिक्य कहते हैं। 'जो वेदों को माने सो आस्तिक, जो न माने सो नास्तिक', आस्तिक्य व नास्तिक्य की इस व्याख्या में साम्प्रदायिकता झांक झांक कर देख रही है। यह व्याख्या ठीक नहीं है। वस्तु की सत्ता को स्वीकार करे सो आस्तिक, इसकी सत्ता को स्वीकार न करे सो नास्तिक, ऐसी व्याख्या ही ठीक है।

परन्तु सुन सुना कर 'मैं हूं, जीव है, अजीव है, विश्व है', इत्यादि रूप स्वीकृति भी वास्तव में आस्तिक्य नहीं है। क्योंकि अनुभव के बिना, 'मैं कौन व अन्य कौन', यह जान नहीं पड़ता। केवल अन्धों की भांति टटोल कर भले कहता रहूं, कि यह जीव है, अजीव है इत्यादि।

१४ मैत्री — सर्व विश्व के प्राणियों को शान्ति के निवास रूप में देखता है। उनमें अपनी जाति व बिरादरी को देखता है। उनके दोष अव्वल तो दीखते नहीं, और यदि दोख भी पावें तो उसे उनका रोग समझता है। इसीलिए बजाये द्वेष के करुणा करता है। सबसे प्रेम करता है। सबके कल्यान की भावना करता है। अपकारी का भी हित ही चाहता है। तथा उसे हित मार्ग पर लगाने का प्रयास भी करता है। छोटे बड़े सर्व जीवों में समानता देखता है। सब में उसे अपना ही रूप अर्थात् एक चैतन्य ही दिखाई देता है (देखो अध्याय नं० २७ प्रकरण नं० २४) यह है उसका सर्व सत्व के प्रति मैत्री भाव।

१५ प्रमोद कारुण्य व माध्यस्था — प्रमोद गुण की बात सातवें गुण के अन्तर्गत आ चुकी है। और कारुण्य की बात ग्यारहवें गुण अनुकम्पा के अन्तर्गत कही जा चुकी है। और माध्यस्थता की बात चौथे गुण अमूढ़ दृष्टि के अन्तर्गत कही जा चुकी है।

इन तथा अन्य अनेकों गुणों से विभूषित वह शान्ति का उपासक आज कितना सौम्य हो चुका है ? कोटि जिह्वाओं से भी उसकी महिमा का गान कौन कर सकता है ? 'धन्य हैं वे महा भाग्य', इसके अतिरिक्त शब्द ही नहीं है मेरे पास।

६ परिशिष्ट

५१

—: भोजन शुध्दि:—
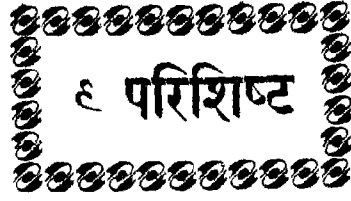
अजमेर दिनांक २४ अगस्त १६६०

प्रवचन नं० ६२

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता—

१—भोजन का मन पर प्रभाव, २—तामसिक, राजसिक व सात्विक भोजन, ३—सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक, ४—पाचन क्रियाओं की सार्थकता ।

(ख) भोजन शुद्धि व बैक्टेरिया विज्ञान—

५—बैक्टेरिया परिचय व उनकी जातियां, ६—पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश व उत्पत्ति क्रम, ७—उत्पत्ति मर्यादा काल, ८—बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार, ९—बैक्टेरिया दूर करने का उपाय, १०—नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम, ११—स्थिति मर्यादा काल ।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान—

१२—मन वचन काय व आहार शुद्धि, १३—द्रव्य क्षेत्र काल भाव शुद्धि, १४—भोजन परोसना, १५—क्रियाओं की शक्यता ।

(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान—

१५—दूध दही व घी की भक्ष्यता, १६—अण्डे व दूध में महान अन्तर, १७—मांस अण्डे की अभक्ष्यता ।

(क) भोजन शुद्धि की सार्थकता

१ भोजन का मन पर प्रभाव

शान्ति अर्थात् आन्तरिक निर्मलता, स्वच्छता व सरलता की प्राप्ति की बात के अन्तर्गत संयम का प्रकरण पहले चल चुका है। क्योंकि जीवन की स्वच्छता का अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग संयम से घनिष्ट सम्बन्ध है इसीलिये यह विषय बहुत विस्तार के साथ बताया गया है। संयम ही वास्तव में शान्ति पथ पर चलने का अभ्यास है। इसके बिना केवल तत्त्व चर्चा करने व शास्त्राभ्यास कर लेने से जीवन शान्त होना असम्भव है। जीवन को शांत बनाने के लिये उन सर्व व्यापारों से इसे रोकने की आवश्यकता है जो कि अशान्ति जनक विकल्पों की उत्पत्ति में कारण पड़ते हैं। इन्द्रिय संयम में इन्द्रियों को रोकने की अर्थात् उन पर नियंत्रण करने की बात कही। प्राण संयम में अपने आस पास रहने वाले अन्य छोटे व बड़े प्राणियों के प्रति अपना कर्तव्य व अकर्तव्य दर्शा कर विश्व व्यापी अन्तर

प्रेम को जागृत करने का प्रयत्न किया गया। और आज बात चलती है भोजन शुद्धि की। क्योंकि भोजन का हमारी मानसिक शुद्धि व अशुद्धि के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है, इसलिए संयम के अन्तर्गत यह एक प्रमुख विषय है।

अध्यात्म प्रमुखता के कारण वहाँ तो यह विषय लिया न जा सका। परन्तु इसको अत्यन्त आवश्यक समझ कर अब अन्त के इस परिशिष्ट में लेकर संयम के प्रकरण की पूर्णता करना योग्य है। यद्यपि वस्तु स्वतंत्रता के अन्तर्गत इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया गया है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुकूल अपनी विचारणाओं को स्थिर करने के लिये तथा दूसरे पदार्थों के आश्रय से इसकी रक्षा करने के लिये, जब तक अत्यन्त उपेक्षित भाव की प्राप्ति होती नहीं, (अर्थात् इस निकृष्ट भूमिका की पर पदार्थों में रमी राग व विकल्पात्मक दशा में), यह अतीव आवश्यक है कि जीवन में किसी भी ऐसे पदार्थ का ग्रहण होने न दिया जाये जिसका कि मन पर खोटा प्रभाव पड़े।

क्योंकि मेरे साथ शरीर का और शरीर के साथ भोजन का घनिष्ट सम्बन्ध है इसलिये भोजन का प्रभाव मन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। भोजन से शरीर व हृदय का निर्माण होता है, इसलिये अशुद्ध आहार से निर्मित शरीर का अंग रूप अशुद्ध हृदय मन में अशुद्ध विचारों का निर्माण न करे यह असम्भव है। लोकोक्ति भी है कि, 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी बोले बानी।' तथा अनुभव में भी आता है कि मांस मदिरा आदि अत्यन्त हेय वस्तु को आहार रूप से ग्रहण करने वाले व्यक्ति, शाकाहारियों की अपेक्षा, अधिक क्रूर व्यभिचारी व विलासी होते हैं।

२ तामसिक, राजसिक व सात्विक भोजन

भोजन की विचारों व जीवन पर प्रभाव डालने की अपेक्षा तीन कोटि क्रम में विभाजित किया गया है—तामसिक, राजसिक व सात्विक; या कहिये निकृष्ट, मध्यम व उत्तम। तामसिक भोजन शान्ति पथ की दृष्टि से अत्यन्त निकृष्ट है क्योंकि इससे प्रभावित हुआ मन अधिकाधिक निर्विवेक व कर्तव्य शून्य होता चला जाता है। तामसिक वृत्ति वाले व्यक्ति अपने लिये ही नहीं बल्कि अपने पड़ौसियों के लिए भी दुःखों का व भय का कारण बने रहते हैं, क्योंकि उनकी आन्तरिक वृत्ति का झुकाव प्रमुखतः अपराधों, हत्याओं, अन्य जीवों के प्राण शोषण, व व्यभिचार की ओर अधिक रहा करता है। राजसिक भोजन का प्रभाव व्यक्ति को विलासिता के वेग में बहा ले जाता है, इन्द्रियों का पोषण करना ही उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। सात्विक भोजन का प्रभाव ही जीवन में सरलता, सादगी, विवेक, कर्तव्य परायणता व सहिष्णुता उत्पन्न करने में समर्थ है।

तामसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो प्राण पीड़न के विवेक से रहित होकर निरर्गल रूप से बनाया गया हो। जिसमें मांस, मदिरा, शहद, अंजीर, लहसन, प्याज, कन्द, मूल, फूल आदि कुछ ऐसे पदार्थों का ग्रहण करने में आया हो जिनकी उत्पत्ति बड़े या छोटे प्राणियों के प्राणों (देखो अधिकार नं० २७ प्रकरण नं० २ व १०) का घात किये बिना नहीं होती। हीनाधिक रूप में ऐसे सर्व पदार्थ मन पर तामसिक प्रभाव डालते हैं, अर्थात् मन में अन्धकार उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण से विवेक व कर्तव्य दिखाई ही नहीं देता। शांति प्राप्ति का तो वहां प्रश्न ही नहीं।

राजसिक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जो इन्द्रियों का पोषण और विलासता अर्थात् स्वाद दृष्टि मात्र से बनाया गया हो। आज के युग में इसका बहुत अधिक प्रचार हो गया है। होटलों व खौंचे वालों की भरमार वास्तव में मानव की इस राजसिक वृत्ति का ही फल है। अधिक चटपटे, घी में तलकर अधिकाधिक स्वाद बना दिये गये, तथा एक ही पदार्थ में अनेक ढङ्ग से अनेक स्वादों का निर्माण करके ग्रहण किये गये, या यों कहिये कि ३६ प्रकार के व्यञ्जन या भोजन की किस्में (Varieties) अथवा पौष्टिक व रसीले पदार्थ सब राजसिक भोजन में गर्भित हैं। ऐसा भोजन करने से व्यक्ति जिह्वा का दास बने बिना नहीं रह सकता और इसलिए शान्ति पथ के विवेक से वह कोसों दूर चला जाता है।

सात्विक भोजन से तात्पर्य उस भोजन से है जिसमें ऐसी ही वस्तुओं का ग्रहण हो जिन की प्राप्ति के लिए स्थूल हिंसा न करनी पड़े। अर्थात् अन्न, दूध, दही, घी, खांड व ऐसी बनस्पतियाँ जिनमें त्रस जीव अर्थात् उड़ने व चलने फिरने वाले जीव न पाये जाते हों। ऐसा भोजन ग्रहण करने से जीवन में विवेक, सादगी, व दया आदि के परिणाम सुरक्षित रहते हैं।

यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि उपरोक्त सात्विक पदार्थ ही तामसिक या राजसिक की कोटि में चले जाते हैं, यदि इनको भी अधिक मात्रा में प्रयोग किया जावे। पूरी भूख से कुछ कम खाने पर अन्न सात्विक है और भूख से अधिक खाने पर तामसिक, क्योंकि तब वह प्रमाद व निद्रा का कारण बन बैठता है। एक सीमा तक घी का प्रयोग सात्विक है पर उससे अधिक का प्रयोग तामसिक या राजसिक हो जाता है। एक स्वस्थ व्यक्ति के लिये एक छटांक घी प्रति दिन युक्त है। पर जिह्वा के स्वाद के लिये अधिक तले हुए पदार्थ जैसे पूड़ी, कचौड़ी, पकौड़ी, शीरा (हलवा) या अन्य मिष्टान्न आदि राजसिक हो जाते हैं, क्योंकि उनमें घी का प्रयोग सीमा से अधिक होता है, तथा वे जिह्वा इन्द्रिय को स्वाद के प्रति लालायित करते हैं। दूध में घी डाल कर पीना तामसिक हो जाता है, क्योंकि ऐसा करने से ब्रह्मचर्य में बाधा पड़ती है। तथा अन्य भी यथा योग्य रीति से समझ लेना। यहाँ तो संक्षेप में ही कथन किया जाना सम्भव है।

यद्यपि तात्विक दृष्टि से, भोजन से मन में विचार नहीं आना चाहिये, परन्तु अनुभव करने पर वह आता हुआ अवश्य प्रतीत होता है भले ही अपनी रागात्मक दशा के कारण से होता हो। जिस किसी प्रकार भी इस अल्प भूमिका में, साधना प्रारम्भ करने के लिए रागोत्पादक निमित्तों से बचना भी कर्तव्य है। ठीक है कि अभ्यास बढ़ जाने पर उन बाह्य पदार्थों का कोई विशेष प्रभाव न हो सकेगा। इसलिये शांति के उपासक को अपने परिणामों की सुरक्षा के लिए भोजन सम्बन्धी विवेक रखते हुए सात्विक ही भोजन करना इष्ट है, तामसिक व राजसिक नहीं।

३ सात्विक भोजन में भी भक्ष्याभक्ष्य विवेक

जैसा कि शान्ति पथ में वृद्धि करने के क्रम में ऊपर ऊपर जाने पर अधिक अधिक उज्ज्वलता प्रगट होती है उसी प्रकार अधिक अधिक भोजन ग्रहण सम्बन्धी विवेक भी होता जाता है। शान्ति पथ की पहली भूमिकाओं में सात्विक का उपरोक्त लक्षण ही संतोष जनक रहता है पर आगे आगे जाने पर उसमें भी अधिक स्वच्छता लाने का विवेक जागृत हो जाता है। अर्थात् उपरोक्त पदार्थों को भी दो भागों में विभाजित कर लिया जाता है, एक

वह जिसमें बहुत अधिक अर्थात् असंख्य (Countless) सूक्ष्म जीव राशि पाई जाती है और एक वह कि जिसमें कम अर्थात् संख्यात (Countable) तक ही पाई जाती है। यहां सूक्ष्म जीव से तात्पर्य उन जीवों से है जो साधारण रूप में नेत्र गोचर नहीं होते पर सूक्ष्म निरीक्षण यंत्र (Microscope) से स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस प्रकार के प्राणी आज की परिभाषा में बैक्टेरिया कहलाते हैं। यह प्रमुखतः स्थावर होते हैं।

यह बैक्टेरिया हर पदार्थ में-वह दूध हो कि दही, घी हो कि मक्खन, फल हो कि फूल पत्ते, यहाँ तक कि जल में भी हीनाधिक रूप में अवश्य पाये जाते हैं। यह जड़ नहीं होते बल्कि प्राण धारी होते हैं। जीव हिंसा की दृष्टि से-अथवा शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से-तथा तामसिक व सात्विक की दृष्टि से असंख्य जीव राशि वाली बनस्पतियाँ या अन्य दूध घी आदि पदार्थ त्याज्य हो जाते हैं और संख्य जीव राशि वाले ग्राह्य। यहाँ यह प्रश्न नहीं करना चाहिये कि यह संख्य राशि वाले पदार्थ भी तो जीव हिंसा के कारण त्याज्य ही होने चाहियें। यद्यपि पूर्णता की दृष्टि से तो वे अवश्य त्याज्य ही होते हैं, परन्तु फिर भी वर्तमान में उनका सर्वथा त्याग करने पर जगत में कोई भी खाद्य पदार्थ न रह जावेगा। तब शरीर की स्थिति कैसे रहेगी और शरीर की स्थिति के अभाव में शान्ति पथ की साधना भी कैसे सम्भव हो सकेगी। अत: वर्तमान की हीन शक्ति वाली दशा में साधक को सर्व पदार्थों को त्याग करके अपने को मृत्यु के हवाले करना योग्य नहीं है। 'जहाँ सारा जाता देखिये तो आधा लीजिए बांट' इस लोकोक्ति के अनुसार अयोग्य व हिंसा युक्त होते हुए भी प्रयोजन वश अधिक हिंसा का त्याग करके अल्प हिंसा का ग्रहण कर लेना नीति है। परन्तु अभिप्राय में यह अल्प हिंसा भी त्याज्य ही रहती है। इसी कारण आगे की भूमिकाओं में ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है साधक इनका भी त्याग करता जाता है। यहाँ तक कि पूर्णता की प्राप्ति के पश्चात् उसे खाने पीने की ही आवश्यकता नहीं रहती।

यहां उस असंख्य जीव राशि वाले पदार्थों का कुछ परिचय दे देना युक्त है। मछली, अण्डा, शराब, मांस, शहद, ये पदार्थ तो साक्षात रूप से हिंसा के द्वारा उत्पन्न होने के कारण सर्वथा अभक्ष्य ही हैं। अभक्ष्य क्या स्पर्श करने योग्य भी नहीं हैं। यह स्वास्थ्यप्रद हों यह मानना भी भ्रम है, विदेशी डाक्टरों का प्रचार है। जन्म से ही जो मांसाहारी हो उस बेचारे को क्या पता शाकाहार के गुणों का। इनके अतिरिक्त बरबन्टी, पीपलबन्टी, गूलर, अन्जीर, कठल, बढ़ल आदि की जाति वाली सर्व बनस्पतियें भी अभक्ष्य हैं, क्योंकि इनमें अनेकों उड़ने वाले छोटे जन्तुओं का निवास रहता है। प्रत्येक वह पदार्थ जो बासी हो जाने के कारण या अधिक पक जाने के कारण या गल सड़ जाने के कारण अपने प्राकृत स्वाद से चलित हो जाता है, उस कोटि में आ जाता है। भले ही पहले वह भक्ष्य हो पर अब अभक्ष्य है। ऐसे पदार्थों में बासी भोजन, अचार, मुरब्बे, खमीरे, चटनी, कांजी बड़े आदि या गली सड़ी बनस्पति तथा अन्य भी अनेकों वस्तुयें सम्मिलित हैं। बनस्पतियों में कुछ ऐसी बनस्पतियाँ जो पृथ्वी के अन्दर फलित होती हैं जैसे आलू, अरबी, गाजर, मूली आदि अथवा बहुत कच्ची सब्जी जैसे कोंपल या बहुत छोटे साईज की भिंडी, तोरी, ककड़ी, आदि या पृथ्वी और काठ को फोड़ कर निकलने वाली बनस्पति जैसे खुम्बी, सांप की छत्री आदि तथा अन्य भी अनेकों आगम कथित वस्तुयें इस कोटि में सम्मिलित हैं। शान्ति पथ गामी को इनके प्रति का विशेष परिज्ञान आगम से प्राप्त

करके इनका त्याग कर देना योग्य है। यद्यपि पकाने या काटने छांटने से यह भी, अल्प संख्यक जीव राशि वाली बनस्पतियों वत्, प्रासुक हो जाती हैं, परन्तु इनको प्रासुक करने में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है। तथा यह अन्तर में कुछ तामसिक वृत्ति की उत्पत्ति का कारण बनती हैं। इसलिए किसी प्रकार भी इनका प्रयोग करना योग्य नहीं है।

४ पाचन क्रियाओं की सार्थकता — रहे सहे भक्ष्य सात्विक पदार्थ कच्चे रूप में खाये नहीं जाते, इसलिये उनको पकाने की आवश्यकता पड़ती है। दूध में से घी आदि निकालने की आवश्यकता पड़ती है। तथा अन्य भी खाना पकाने सम्बन्धी अनेकों आरम्भ करने पड़ते हैं। इसलिए भोजन शुद्धि के प्रकरण में केवल पदार्थों में भक्ष्याभक्ष्य विवेक उत्पन्न कर लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि भोजन पकाने के आरम्भ सम्बन्धी भी कुछ विवेक होना आवश्यक है। क्योंकि ऐसा न होने पर सात्विक पदार्थ भी कदाचित् अपने प्रमाद वश राजसिक व तामसिक बन सकते हैं। तथा अल्प संख्यक जीव राशि वाले भक्ष्य पदार्थ भी अभक्ष्य बन सकते हैं।

वास्तव में भोजन शुद्धि का यह प्रकरण खाना बनाने के सम्बन्ध में कुछ विवेक उत्पन्न करानें के लिये ही ग्रहण करने में आया है। शान्ति पथ का यह प्रमुख अंग है। इसलिये इसके सम्बन्ध में ध्यान पूर्वक विज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें। यद्यपि आप लोगों में से अनेकों ने कुछ व्रतादि या श्रावकाचार रूप प्रतिमा आदि ग्रहण की हुई हैं, तथा आप में से अनेकों को त्यागी जनों व साधुओं के लिये विशेषत: शुद्ध भोजन बना कर देने का अभ्यास भी है, जिसके आधार पर सम्भवत: आप को यह संतोष हो गया हो कि हम तो शुद्ध भोजन बनाने की विधि से परिचित हैं, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। जब तक उन उन क्रियाओं की सार्थकता वैज्ञानिक रूप से समझ में नहीं बैठ जाती, तब तक भले आप रूढ़ि वश वे सब क्रियायें करते हों जो भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में की जानी आवश्यक हैं, तथा अपनी ओर से पूरा पूरा विवेक रख कर भी भोजन बनाते हों, पर फिर भी आप वास्तव में भोजन शुद्ध न बना सकेंगे और वह भ्रम वश शुद्ध समझा जाने वाला भोजन सम्भवत: और अधिक अशुद्ध बन जाये तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

भोजन शुद्धि का ग्रहण रूढ़ि वश अपनाया गया हो ऐसा भी नहीं है, बल्कि इसमें कुछ सार्थकता है। इस विषय में देखी जाने वाली जो व्यक्तिगत छूआ छूत आज दृष्टिगत हो रही है वह भी सार्थक है। इसलिये आप लोगों में से वे व्यक्ति भी जो कि इस भोजन सम्बन्धी आडम्बर को निस्सार सा समझ कर इससे बिलकुल उपेक्षित होते जा रहे हैं, इस विषय को सुनकर अपना भ्रम दूर करने का प्रयत्न करें। यह विश्वास दिला सकता हूं कि युक्ति पूर्वक आधुनिक विज्ञान व डाक्टरों के मतों के आधार पर समझाया जाने वाला यह विषय आपको बहुत रोचक व सार्थक ही प्रतीत होगा।
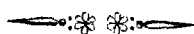
(ख) भोजन शुद्धि व बैक्टेरिया विज्ञान

अजमेर दिनांक २५,२६ अगस्त १९६०
प्रवचन नं० ९३-९४

५ बैक्टेरिया परिचय व उनकी जातियां

अन्तर शुद्धि हो जाने से अन्तर शान्ति में निवास करने वाले हे गुरु देव ! मेरे जीवन में शुद्धि का संचार करें। अन्तर शुद्धि के लिये बाह्य शुद्धि और विशेषतः भोजन शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। कल के प्रकरण में ग्राह्य और अग्राह्य पदार्थों का निरूपण कर चुकने के पश्चात्, भोजन पकाने में क्या क्या सावधानी रखी जानी योग्य है, और क्यों, ऐसा विवेक उत्पन्न कराना भी आवश्यक है। इस प्रकरण को रूढ़ि के रूप में तो आप में से अनेकों जानते व प्रयोग में लाते हैं। आप में से बहुत सी स्त्रियां त्यागियों व मुनियों के लिये चौका लगाने में अभ्यस्त हैं पर वास्तविकता से अनभिज्ञ वे सब ही वास्तव में शुद्ध भोजन बना नहीं पातीं। सो कैसे, यही बात मैं आधुनिक सूक्ष्म जन्तु विज्ञान (Microbiology) को आधार बनाकर समझाने का प्रयत्न करूंगा, जिससे कि उन लोगों का विभ्रम भी दूर हो जाये जो कि इस भोजन शुद्धि के विषय को केवल रूढ़ि समझ कर इसे उपेक्षित दृष्टि से देखते हैं।

भोजन शुद्धि का प्रयोजन उन सूक्ष्म स्थावर जीवों से भोजन की रक्षा करने का है जिन्हें आज का विज्ञान बक्टेरिया नाम से पुकारता है। बैक्टेरिया से भोजन की रक्षा करना तीन दृष्टियों से उपयोगी है—

(१) अहिंसा की दृष्टि से।

(२) शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से।

(३) साधना की दृष्टि से; अर्थात् अपने परिणामों की रक्षा की दृष्टि से

यद्यपि डाक्टर लोग स्वास्थ्य की दृष्टि से ही बैक्टेरिया व उन से बचने के उपाय बताते हैं, पर हम उसी सिद्धान्त को साधना की दृष्टि से ग्रहण करते हैं, जिसमें स्वास्थ्य की रक्षा तो स्वतः ही हो जाती है। यही कारण है कि एक सच्चे त्यागी अर्थात् शुद्ध भोजी को रोग या तो आते नहीं और आते हैं तो बहुत कम।

बैक्टेरिया उस सूक्ष्म प्राणी को कहते हैं जो प्रायः सूक्ष्म-निरीक्षण यंत्र से ही देखा जाना सम्भव है आंखों से नहीं। यह कई जाति के होते हैं। इनकी जातियों का निर्णय इनके भिन्न भिन्न कार्य पर से किया जाता है, क्योंकि जो कार्य एक जाति का बैक्टेरिया कर सकता है वह दूसरा नहीं कर सकता। यह यद्यपि त्रस व स्थावर दोनों जाति के हो सकते हैं। परन्तु जिन भक्ष्य पदार्थों का ग्रहण यहां किया गया है उन में केवल स्थावर जाती के बैक्टेरिया ही होते हैं। त्रस जाति वाले बैक्टेरिया शराब जैसी मादक वस्तुओं में मिलते हैं, जिनका निशेध कि पहिले ही कर दिया गया है।

कुछ बैक्टेरिया तो ऐसे हैं कि यदि दूध में उत्पन्न हो जायें तो दूध की दही बन जाती है। उन को अपनी भाषा में दही के बैक्टेरिया कह लीजिये। इसी प्रकार दही, पनीर, क्रीम, मक्खन, खमीर, मद्य (शराब) आदि पदार्थ विशेषों के भिन्न भिन्न जाति के बैक्टेरिया समझने। वैज्ञानिक लोगों ने इनके भिन्न भिन्न नाम भी रखे हैं पर यहां उन नामों से प्रयोजन नहीं है, यह मुख्यतः स्थावर होते हैं।

कुछ बैक्टेरिया, पदार्थ में उत्पन्न होकर उसे खट्टा बना देते हैं, कुछ दुर्गन्धित बना देते हैं, कुछ उसे नीला, हरा, या भूरे रंग का बना देते हैं, कुछ उस पर फूई पैदा कर देते हैं, और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों बातें जो नित्य ही भोजन सम्बन्धी पदार्थों में देखने को मिलती हैं। इस पर से यह बात समझ लेनी चाहिये कि भोज्य पदार्थ में जो कुछ भी रूप गन्ध व रस आदि से चलित पना होता हुआ दिखाई देता है वह सब सूक्ष्म जीवों अर्थात् बैक्टेरिया की उपज का ही प्रताप है। अतः ऐसा चलित प्रत्येक पदार्थ अहिंसा, स्वास्थ्य व साधना तीनों दृष्टियों से अभक्ष्य हो जाता है।

उपरोक्त जातियों में से कुछ बैक्टेरिया तो मानवी स्वार्थ (अर्थात् स्वाद, या प्रयोजन विशेष) वश इष्ट हैं और कुछ अनिष्ट। स्वास्थ्य को हानिप्रद सर्व बैक्टेरिया अनिष्ट गिनने में आते हैं, और दही व पनीर आदि के बैक्टेरिया इष्ट माने जाते हैं, क्योंकि यह पदार्थ में कुछ इष्ट स्वाद व गन्ध विशेष उत्पन्न कर देते हैं और स्वास्थ्य को हानि नहीं पहुँचाते। डाक्टरी दृष्टि से भले ऐसा मान लें पर साधना की दृष्टि से तो बैक्टेरिया मात्र ही जीव हिंसा के भय से अनिष्ट हैं। फिर भी दो चार जाति के बैक्टेरिया तो इस मार्ग में भी इष्ट ही माने जाते हैं, जैसे कि मक्खन व दही के बैक्टेरिया। अनिष्ट भी इन जातियों के बैक्टेरिया को इष्ट मानने का एक प्रयोजन है, और वह है साधना में कुछ सहायता।

प्रयोग करके देखा गया है कि दूध व दही शरीर में चर्बी (Fat) के अंश की पूर्ति करने के लिये शाकाहारी को अत्यन्त आवश्यक हैं। इन पदार्थों का त्याग कुछ सीमित समय के लिये तो किया जा सकता है पर सदा के लिये नहीं। क्योंकि ऐसा करने पर शरीर शिथिल हो जाता है, उसकी स्फूर्ति जाती रहती है। फल स्वरूप मन भारी रहने लगता है, विचारणायें सो जाती हैं और एक जड़त्व से का भान होने लगता है, जिससे कि साधना करना असम्भव हो जाता है। बस इसीलिये कथंचित अयोग्य भी इन पदार्थों का योगीजनों ने निषेध नहीं किया। फिर भी यदि किसी की शक्ति आज्ञा दे और उसकी साधना बाधित न हो तो यह वस्तुयें त्याज्य ही हैं। 'सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बांट' वाली लोकोक्ति के अनुसार ही इनकी इष्टता का अर्थ समझना, डाक्टरों वत् सर्वथा इष्टता बताने का प्रयोजन नहीं है। साधना की सिद्धि के अर्थ यह मात्र रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। अभ्यास बढ़ जाने पर साधक इन का त्याग कर देता है।

६ पदार्थों में बैक्टेरिया का प्रवेश वा उत्पत्ति — किसी भी पदार्थ में बैक्टेरिया उस समय तक उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि उसमें कोई एक या दो तीन भी बैक्टेरिया बीज रूप में प्रवेश न कर जाये या करा दिये जावें। दही जमाने के लिए दूध में जामन (Adjunct) मिलाना वास्तव में उसमें दही के बैक्टेरिया का बीज रूप से प्रवेश कराना ही है। बस एक बार बीजारोपण हुआ नहीं कि इनकी सन्तान वृद्धि हुई नहीं। बैक्टेरिया संतान की उपज पदार्थ में एक से दो और दो से चार के क्रम से (अर्थात् Fitcion Method से) होती है। प्रत्येक कुछ कुछ मिनट के पश्चात् वे बराबर दुगने दुगने होते चले जाते हैं।

वस्तु में प्रवेश पाने के पश्चात् कुछ देर तक अर्थात् लगभग आध या पौन घंटे तक तो उनकी उपज आरम्भ नहीं होती, जितने प्रवेश पा गये हैं उतने ही रहते हैं, परन्तु इस काल पश्चात् बड़े वेग के साथ इनकी उपज बराबर उत्तरोत्तर मिनटों में वृद्धि को पाती हुई लगभग ५ या ६ घंटों में

ही वृद्धि की चरम सीमा को स्पर्श करने लगती है। यहाँ पहुँच कर उपज में आगे वृद्धि होनी तो रुक जाती है, परन्तु जितनी उपज उत्तरोत्तर मिनटों में यहाँ अब हो रही है उतनी ही रफ़तार से बराबर आगे के ८ या दस घण्टों या एक दो दिन तक चलती रहती है। इतने काल पश्चात् उपज की रफ़तार घटने लगती है, और पांच या छः घण्टों तक उपज शून्य पर पहुँच जाती है, अर्थात् आगे उपज होनी अब बिलकुल बन्द हो जाती है। परन्तु जितने उत्पन्न हो चुके हैं वे अब भी इसमें उस समय तक जीवित रहते हैं जब तक कि या तो इनकी आयु समाप्त न हो जाये और या किन्हीं बाह्य प्राकृतिक अथवा मनुष्य कृत प्रयोगों से यह दूर न कर दिये जायें।

बैक्टेरिया उत्पत्ति रेखा GROWHT CURVE
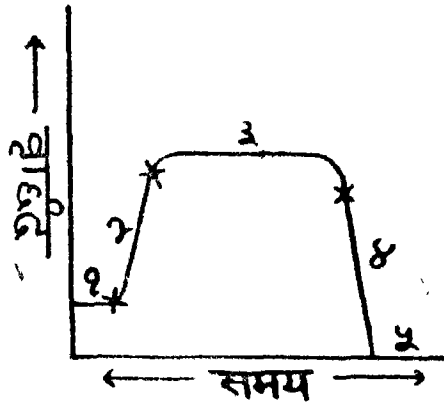
ऊपर दिखाई गई कर्व में नं० १ वह भाग है जिस समय में कि उपज प्रारम्भ ही नहीं हुई है। नं० २ उपज की उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धि को, नं० ३ उत्कृष्ट उपज के प्रवाह को, नं० ४ उपज की हानि को और नं० ५ नवीन उपज के अभाव को प्रदर्शित करते हैं।

७ उत्पत्ति मर्यादा काल

भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में बैक्टेरिया की उत्पत्ति क्रम का यह नं० १ वाला अर्थात् प्रथम आध या पौन घण्टा प्रयोजनीय है। उत्पत्ति क्रम का यह भाग नवीन उत्पत्ति से रहित होने के कारण वस्तुतः शुद्धि की मर्यादा काल (Time Limit) कहा जाता है। आगम में भोज्य पदार्थों की मर्यादा का कथन आता है। उससे तात्पर्य यही पहला कुछ समय है जिसे अन्तर्मुहूर्त या अधिक से अधिक ४८ मिनट स्वीकार किया गया है। हम भी आगे के प्रकरणों में इसे मर्यादा नाम से पुकारेंगे।

मर्यादा में रहते रहते ही वह पदार्थ भक्ष्य हैं। मर्यादा को उलंघन कर जाने पर बैक्टेरिया राशि अधिक उत्पन्न हो जाने के कारण पदार्थ अभक्ष्य की कोटि में चला जाता है। इसलिये इतने समय के अन्दर अन्दर ही किन्हीं भी योग्य बाह्य उपचार विशेषों के द्वारा (अर्थात् गरम करके, उबाल कर या अन्य रीति से) पदार्थ में से बैक्टेरिया के बीज को यदि दूर कर दिया जावे तो आगे इसमें बैक्टेरिया की उत्पत्ति होनी सम्भव न हो सकेगी और पदार्थ की पवित्रता बनी रहेगी। यद्यपि

बीज दूर करने की यह प्रक्रिया हिंसा जनक है तो भी आगे की अधिक हिंसा से बचने के लिये यह अल्प हिंसा ग्राह्य है। ग्राह्य कहने का तात्पर्य वास्तव में ग्राह्य सिद्ध करना नहीं बल्कि वही 'सारा जाता देखिये तो आधा लीजिये बांट' वाला सिद्धान्त है। खाये बिना साधना सम्भव नहीं, और भोजन की प्राप्ति शत प्रतिशत अहिंसा के आधार पर हो नहीं सकती, इसलिए अधिक हिंसा का त्याग करा कर अल्प हिंसा को ग्राह्य बताया है।

भोजन शुद्धि में मर्यादा पर बहुत ज़ोर दिया जाता है, क्योंकि इससे साधना व स्वास्थ्य की रक्षा होती है। इसीलिए जल व दूध को छान लेने व थनों से निकलने के पश्चात् यथा शक्ति तुरत ही अर्थात् अधिक से अधिक पौन घण्टे के अन्दर अन्दर गरम करना या उबाल लेना बतलाया है, क्योंकि इतने समय तक तो केवल संख्यात (Conutable) ही जीवों की हिंसा होती है, परन्तु इससे आगे जीव राशि बढ़ जाने के कारण उन को गरम करने या उबालने से असंख्यात (Countless) जीवों के विनाश का प्रसंग आता है। गरम क्यों किया जाता है इसका कारण आगे के प्रकरण में आने वाला है जहाँ यह बताया जायेगा कि गरमी से बैक्टेरिया दूर हो जाता है।

८ बैक्टेरिया प्रवेश के द्वार

बनस्पति या दूध आदि किसी भी मूल पदार्थ में पहले ही वे बैक्टेरिया विद्यमान हों ऐसा तत्वत: नहीं होता। परन्तु प्राय: पूर्ण पवित्रता सम्भव न होने के कारण तथा वृक्ष, बेल, गाय, आदि के शरीरों में कोई रोग विशेष रहने के कारण उन से प्राप्त मूल पदार्थों में भी अत्यन्त अल्प मात्रा में बैक्टेरिया पहले से विद्यमान होते हैं, जो आगे की सन्तान वृद्धि के लिए बीज का काम कर सकते हैं। परन्तु अत्यन्त अल्प होने के कारण तथा उनसे बचा जाना अशक्य होने के कारण यहाँ उनका विचार प्रधान नहीं है। उन्हीं का विचार करना कार्यकारी है जिनसे बचने के लिये प्रयत्न किया जाना सम्भव हो। इसलिए यहाँ यह जानना इष्ट है कि पदार्थों में बैक्टेरिया कहाँ से व किस प्रकार प्रवेश पाता है।

बैक्टेरिया प्रवेश के प्रमुख द्वार ५ हैं—(१) वायु मण्डल, (२) वह कमरा या घर जहाँ कि खाद्य पदार्थ रखा है, (३) बर्तन, (४) वस्त्र, (५) शरीर। वायुमण्डल में सर्वत्र प्राय: बैक्टेरिया का निवास है, और गन्दे वायुमण्डल में वह बहुत अधिक रहते हैं। वायुण्डल के बैक्टेरिया से पदार्थ की रक्षा करने के लिए यथ.सम्भव वस्तु को ढक कर ही रखना चाहिए, उघड़ा हुआ नहीं। बिनारने से पहले छिलके वाली बनस्पति तथा संवारने से पहले सूखा अन्न भले खुला पड़ा रहे पर इसके पश्चात् नहीं। क्योंकि छिलके वाली बनस्पति या अन्न आदिक प्राकृतिक रूप से छिलके के अन्दर बन्द हैं।

कमरे व घर की भूमि व दीवारों व छतों में बैक्टेरिया बराबर उत्पन्न होते रहते हैं।

मुख्यत: गन्दी व छिद्र सहित (Pores) दीवारों में वे बहुत अधिक पाये जाते हैं। यहां गन्दे शब्द से तात्पर्य है धूल, धुआं, गोबर व अन्य कोई मल मूत्रादि, तथा कोई भी दुर्गन्धित पदार्थों की सन्निकटता। इनकी सन्निकटता से वायुमण्डल दुर्गन्धित व गन्दा हो जाता है, क्योंकि यह गोबर आदि पदार्थ अनन्त बैक्टेरिया के पुञ्ज हैं। उनमें से निकल निकल कर वे बड़े वेग से वायुण्डल में तथा दीवारों आदि के छिद्रों या मसामों (Pores) में प्रवेश पाने व पनपने लगते हैं। दीवारें आदि जितनी

खुरदरी होंगी उतनी ही अधिक बैक्टेरिया राशि वहां अपने रहने का स्थान ढूंढ लेंगी। और जितनी चिकनी होंगी उतनी ही कम राशि को स्थान मिल सकेगा। बहुत अधिक चिकनी व चमकदार दीवारों में बैक्टेरिया प्रवेश नहीं पा सकता क्योंकि उनमें छिद्र या मसाम नहीं होते।

३—बर्तनों में भी यदि कहीं मैल लगा रह जाये या ठीक से न मांजने के कारण उनमें चिकनाहट रह जाये तो वहां बैक्टेरिया की सन्तान, वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। जिस बर्तन में खड्डे पड़ गये हों उस बर्तन में तो प्रायः करके बहुत अधिक बैक्टेरिया राशि पाई जाती है क्योंकि उन खड्डों में मैल एकत्रित हुए बिना नहीं रह सकता। उस मैल में स्वभावतः ही बैक्टेरिया उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि वह मैल बैक्टेरिया का खाद्य है। चिकने, चमकदार, साफ व बिना खड्डों वाले बर्तनों में बैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता और उनको यदि साफ करके गीले ही रख दिये जायें तो उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु सूखों में बिलकुल उत्पन्न नहीं होते।

४-५—बर्तनों की भांति वस्त्र व शरीर में भी समझना। मैले वस्त्र में या मैले शरीर में वह बहुत वेग से पनप उठते हैं, साफ व सूखे वस्त्र में उनकी उत्पत्ति नहीं होती। परन्तु शरीर को तो पवित्र व साफ रखा जाना असम्भव है क्योंकि इसमें से हर समय पसेव आदि रिसते रहते हैं, जिनमें बराबर बैक्टेरिया जन्म पाते रहते हैं। परन्तु वस्त्र के द्वारा उनकी किञ्चत् रोक थाम हो जाती है। इसलिये किसी भी पदार्थ को बिना अच्छी तरह हाथ धोये छूना योग्य नहीं।

इन पांचों पदार्थों के निकट सम्पर्क में आने पर खाद्य पदार्थ में बैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है और वहां उसकी सन्तानोत्पत्ति बड़े वेग से वृद्धि पाने लगती है। इसलिए ऐसे पदार्थों से छूआ हुआ खाद्य पदार्थ अपवित्र माना जाता है। यहां तक कि स्वच्छ वस्त्र, स्वच्छ शरीर व स्वच्छ बर्तन भी यदि ऐसे गन्दे पांचों पदार्थों में से किसी से छू जायें तो उनमें भी तुरत बैक्टेरिया प्रवेश पा जाता है। जिसके कारण स्वच्छ भी व अस्वच्छ अपवित्र हो जाते हैं।

इसी कारण वश वस्त्र व शरीर शुद्धि में छूआ छूत का बहुत विचार रखा जाना योग्य है। वस्त्र व शरीर को धो लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि धुलने के पश्चात् उनकी अन्य अपवित्र व गन्दी वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों के वस्त्रों व शरीरों के स्पर्श से रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्त्र आदि धोने का अर्थ यहां पानी में से निकाल कर सुखा देना मात्र नहीं है, वह तो केवल रूढ़ि है। अच्छी तरह से साबुन या सोडे आदि के प्रयोग द्वारा या उसे सोडे साबुन के पानी में पका कर या भाप (Steam) में पका कर उसका मैल निकाल कर उसे बिलकुल सफेद कर लेना योग्य है। जो लोग साबुन आदि से वस्त्र को सफेद नहीं धोते वे वास्तव में शुद्ध भोजन न बना सकते हैं, और न खा सकते हैं। उनके वस्त्र व शरीर स्वयं जीव राशि के निवास स्थान बने रहते हैं, भले वह त्यागी हों कि ब्रह्मचारी। भले ही अपने को बहुत शुद्ध कहते व मानते हों पर सिद्धान्त का आधार किसी व्यक्ति विशेष की मान्यता नहीं, वस्तु स्वभाव है। गन्दे वस्त्रों में पवित्रता रहनी सम्भव नहीं।

वस्त्रों की इस छूआ छूत को सम्भवतः हम इतने अंश में न निभा सकें जितना कि विदेशी लोग निभाते हैं, इसलिये इसे रूढ़ि न समझना, इसमें बहुत सार है। इसीलिए डाक्टर लोग आपरेशन रूम

में तभी प्रवेश करते हैं जब कि भाप में पका (Sterilised) एक लम्बा कोट पहन लें ताकि सर्व अपवित्र वस्त्र उसके नीचे छिप जायें और वहाँ से बैक्टेरिया निकल कर रोगी के घाव में प्रवेश न करने पायें। यहाँ तक कि मुंह व नाक के आगे भी एक स्वच्छ वस्त्र बांध लेते हैं। तथा साबुन से अच्छी तरह हाथ धोकर ही औजारों को छूते हैं। बिल्कुल इसी प्रकार विदेशों में प्रत्येक उस कारखाने में जहाँ कि भोज्य सामग्री तैयार की जाती है, जैसे कि डेरी फार्म या बेकरी (डबल रोटी व बिस्कुट का कारखाना) में यह नियम बहुत दृढ़ता से पाला जाता है। कारखाने का कोई भी कर्मचारी उस कमरे में जहां कि पदार्थ बनता व रखा जाता है, भाप में पका लम्बा कोट पहन कर, मुंह व नाक के सामने वस्त्र बांध कर तथा साबुन से हाथ धोकर ही प्रवेश करता है, अन्यथा नहीं। इस नियम की उपेक्षा करना वहाँ एक दण्डनीय अपराध है। व्यक्तिगत भोजन शालाओं में भी गृह स्वामिनी या बावरची इसी प्रकार के लम्बे कोट को प्रयोग करते हैं। भाप में पकाने के साधन हम लोगों को उपलब्ध न होने के कारण साबुन से धुले वस्त्रों का प्रयोग करने में ही हमें सन्तोष करना पड़ता है, उत्तम तो भाप में पकाना ही है।

९ बैक्टेरिया दूर करने के उपाय — यदि उपरोक्त पांच बातों के सम्बन्ध में सावधानी बर्ती जाये तो भोजन में बैक्टेरिया प्रवेश होना रोका जा सकता है। परन्तु पदार्थ में पहले से विद्यमान बैक्टेरिया को दूर करना भी उसकी रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि नवीन प्रवेश को रोक दिया जाने पर भी यदि ऐसा न करें तो पदार्थ में बैक्टेरिया की सन्तान वृद्धि रोकी नहीं जा सकती। इसलिए बैक्टेरिया को दूर करने का उपाय भी यहाँ विचारनीय है। यद्यपि यह उपाय करना हिंसा में सम्मिलित होता है परन्तु पहले की भाँति भी अधिक हिंसा से बचने के लिए यह अल्प हिंसा कथञ्चित इष्ट है।

कुछ बैक्टेरिया तो ऐसे हैं जो अल्प मात्र ही गरमी को सहन कर सकते हैं। और कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक भी गरमी को सहन कर सकते हैं। कुछ ऐसे हैं जो बहुत अधिक गरमी में उत्पन्न होते हैं। इसलिए एक समस्या है कि यदि पदार्थ को थोड़ा गरम करते हैं तो सर्व बैक्टेरिया दूर नहीं होते। और यदि अधिक गरम करते हैं तो नं० २ जाति के बैक्टेरीया उत्पन्न हो जाते हैं। इस समस्या को हल करने के लिये दो उपाय विज्ञान बताता है। एक तो यह है कि पदार्थों को कुछ सैकण्डों के लिए बहुत अधिक गरम कर दिया जावे और एक यह है कि अधिक देर तक थोड़ा गरम रखा जाये। मुख्यत: जल व दूध आदि तरल पदार्थों को यदि आध घण्टे तक ६३ डिग्री तापमान पर, या ३ मिनट तक ८० डिग्री तापमान पर गर्म कर दिया जाये तो उसमें रहे बैक्टरिया प्राय: दूर हो जाते हैं। इस प्रक्रिया का नाम पास्चराइजेशन (Pasturisation) है। बड़ी बड़ी डेयरी फार्मों व अन्य कारखानों में तो मशीनों के द्वारा ठीक ठीक तापमान देने के साधन विद्यमान होने के कारण उनके लिये तो वह सम्भव है। पर एक भारतीय साधारण गृहस्थ के लिये यह सम्भव नहीं कि ठीक ठीक ही समय व तापमान दिया जा सके। शक्य कार्य ही किया जाना सम्भव है, इसलिए प्राय: दूध व जल को उबाल लिया जाना चाहिए। पर बराबर घण्टों तक उबलते रहने न दिया जाये, बल्कि दो या तीन उबाल आ चुकने पर अग्नि पर से हटाकर उन्हें ठण्डा करने को रख दिया जाना चाहिए, ताकि गरमवाले बैक्टेरिया उसमें उत्पन्न होने न पावें।

कम तापमान पर उत्पन्न होने वाले नं० १ जाति के बक्टरिया से इसकी रक्षा करने के लिये आवश्यक है कि उस उबले हुए पदार्थ को शीघ्रातिशीघ्र ठण्डा कर दिया जाये। यदि रैफ्रीजिरेटर

(Refrigerator) उपलब्ध हो तो उसमें रख कर, नहीं तो ठण्डे जल में रख कर जितनी जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा किया जाना सम्भव हो, कर देना चाहिये। यदि उसे पास्चराइजेशन के पश्चात् शीत गृह (Cold Storage) में रख कर बहुत अधिक ठण्डा कर दिया जाये तो वह दूध बैक्टेरिया से सर्वथा मुक्त बना हुआ महीनों तक भी खराब नहीं हो सकता। बड़ी बड़ी डेयरी फार्मों में इसी प्रकार दूध को महीनों तक सुरक्षित रखा जाता है। इतने साधन हमारे पास नहीं हैं और न ही महीनों तक रखने की आवश्यकता है इसलिये उबाल कर शीघ्र ही यथा शक्ति ठण्डा करना भी पर्याप्त है। यदि ऐसा भी किया जाये तो भी गरमी के दिनों में २४ घन्टे दूध खट्टा नहीं हो सकता। दही जमाने के लिये भी यदि इस प्रक्रिया को अपनाया जाये तो गर्मी के दिनों में भी दही बहुत मीठी व कड़ी जमती है। वह पानी नहीं छोड़ती तथा फटती नहीं।

परन्तु यह उबालने की क्रिया दूध व जल की प्राप्ति के पश्चात् शीघ्रातिशीघ्र (अधिक से अधिक पौन घन्टे की पूर्वोक्त मर्यादा काल के अन्दर २) करनी चाहिये। क्योंकि मर्यादा काल बीत जाने पर उन पदार्थों में बैक्टेरिया की सन्तान में वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है। अतः तब उबालने का कार्य करने में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है।

१० नवीन उत्पत्ति के प्रति रोक थाम — बैक्टेरिया की उत्पत्ति के लिये चार बातों की आवश्यकता है। वायु, जल, आहार (Nutrient) व तापमान। यदि इन चारों चीजों में से किसी पदार्थ को पूर्वोक्त प्रकार बैक्टेरिया रहित करके वायु रहित (Air-tight and Air-exhausted) डब्बों में सील बन्द कर दिया जाये (अर्थात् डब्बे का मुंह खाम कर दिया जाये ताकि उसमें वायु प्रवेश न कर सके) तो बैक्टेरिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उपरोक्त चार बातों में से वहां हवा नहीं है। इसी कारण डब्बों में बन्द अनेकों विलायती पदार्थ व औषधियां बिना सड़े वर्षों तक ज्यों की त्यों बनी रहती हैं।

यदि किसी पदार्थ को धूप में पूर्णतः सुखाकर किसी ऐसे बन्द डब्बे में या शीशे के जार में रख दिया जाये जिसमें कि नमी प्रवेश न कर सके तो भी वह वस्तु वर्षों तक खराब होनी सम्भव नहीं, क्योंकि वहां चार चीजों में से जल या नमी नहीं है अतः बैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता।

यदि किसी स्थान पर आहार के योग्य कोई पदार्थ न हो तो वहां बैक्टेरिया उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि चारों चीजों में से वहाँ आहार का अभाव है। इसी कारण मैले बर्तनों में व कपड़ों में ही बैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव है, स्वच्छ व साफ में नहीं, क्योंकि तनिक सा भी मैल बैक्टेरिया के लिये पर्याप्त आहार है।

यदि किसी पदार्थ को अत्यन्त शीत में रखा जाये तो बैक्टेरिया की उत्पत्ति सम्भव नहीं, क्योंकि चार चीजों में से वहाँ योग्य तापमान का अभाव है। इसी कारण रेफ्रीजिरेटर या शीत गृह (Cold Storage) में रखी हुई बनस्पति व अन्य पदार्थ वर्षों बिगड़ते नहीं।

बस अपने भोजन की रक्षा करने के लिए भी हम इस सिद्धान्त को काम में ला सकते हैं। भले ही हमारे पास पूर्ण साधन उपलब्ध न होने के कारण हम पदार्थ को पूर्णतः बैक्टेरिया की उपज से सुरक्षित न रख सकें पर यथा शक्ति हीनाधिक रूप में कुछ रक्षा अवश्य कर सकते हैं। उपरोक्त

चार चीजों में से वायु, जल, व योग्य तापमान यह तीन चीजें तो सर्वत्र वायुमण्डल में विद्यमान हैं। पर आहार केवल खाद्य पदार्थ में ही है, अन्य पदार्थों में नहीं। इसलिये खाद्य पदार्थों में ही उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। पर गन्दगी व मैल के कारण भूमि दीवारों व वस्त्रों आदि में भी उनकी उपज होती रहती है। इन पदार्थों में उनकी उपज यथा सम्भव रोकी जा सकती है, यदि स्वच्छता का विचार रखा जाये तो।

११ स्थिति मर्यादा काल

खाद्य पदार्थों में भी गीले खाद्य पदार्थों, जैसे बनस्पति व पके हुए भोजन, में तो चारों चीजों की उपस्थिति होने के कारण उनकी उत्पत्ति सर्वथा रोकी नहीं जा सकती, परन्तु सूखे अन्न, खाण्ड, नमक, घी व तेल आदि में यदि नमी का प्रवेश न होने दिया जाये तो वहां उनकी उत्पत्ति रोकी जा सकती है। अन्नादिक को धूप में सुखा कर तथा घी, तेल आदि को उबाल कर नमी दूर की जा सकती है। परन्तु वायुमण्डल में से मुख्यतः वर्षा ऋतु में यह पदार्थ स्वतः नमी खींच लेते हैं। इसलिये सुखाने के पश्चात् इन्हें लोहे, धातु, या कांच आदि के बन्द बर्तनों में ही रखा जाना योग्य है। बोरी में या मिट्टी के बर्तनों में रखने से इनमें नमी का प्रवेश रोका नहीं जा सकता। डब्बों के ढक्ने भी बहुत टाईट होने चाहियें। ढीले ढकनों में से नमी प्रवेश कर जाती है। ढकनों को उघाड़ा हुआ छोड़ना भी इस दिशा में अत्यन्त बाधक है।

पके हुए पदार्थों को यद्यपि बैक्टेरिया की उत्पत्ति से सर्वथा सुरक्षित तो नहीं रखा जा सकता, पर यदि बाहर से बैक्टेरिया इसमें प्रवेश न होने दिया जाये तो बीजारोपण के अभाव के कारण इनको कुछ काल तक अवश्य बैक्टेरिया की उपज से रोका जा सकता है। वस्तुतः तो ऊपर कथित सर्व अन्न खाण्ड आदि पदार्थों में भी सर्वथा के लिए उनकी उपज को रोक दिया जावे, यह हमारे लिये शक्य नहीं है, क्योंकि वायु व नमी का सर्वथा अभाव करने या डब्बों में बन्द कर लेने के साधन हमारे पास नहीं हैं। इसीलिए भोजन शुद्धि को बनाए रखने के लिए गुरुओं को अनुमान से काम लेना पड़ता है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में प्रायः कितने काल पश्चात् बैक्टेरिया उत्पत्ति आरम्भ हो जाती है, यह अनुमान करके गुरुओं ने पदार्थों का मर्यादा काल हमारे लिये सीमित कर दिया है। उस काल के पश्चात् बैक्टेरिया की उपज हो जाने के कारण वे भक्ष्य पदार्थ ही अभक्ष्य की कोटि में चले जाते हैं। इसको मर्यादा काल कहते हैं। जैसे आटे की मर्यादा सर्दी में ७ दिन, गरमी, में ५ दिन और वर्षा ऋतु में ३ दिन बताई है। इसी प्रकार खाण्ड की मर्यादा सर्दी में एक महीना, गरमी में १५ दिन, वर्षा ऋतु में एक सप्ताह है। रोटी व पकी हुई दाल की मर्यादा ६ घण्टे, पकी हुई भाजी की मर्यादा १२ घण्टे, तले हुए पदार्थों की मर्यादा २४ घण्टे और इसी प्रकार अन्य सर्व पदार्थों की मर्यादा आगम में बताई हैं, वहाँ से जान लेना। इतने काल के अन्दर ही यह पदार्थ सावधानी पूर्वक प्रयोग में लाये जाने चाहियें, इतने काल पश्चात् नहीं।

उपरोक्त मर्यादायें वास्तव में उस समय में स्थापित की गई हैं जब कि आज के जैसे साधन नहीं थे, आटा आदि पदार्थ मिट्टी के घड़े में रखे जाते थे, जिनमें से नमी प्रवेश कर जाती थी। पर आज उनकी अपेक्षा कुछ अच्छे साधन उपलब्ध हैं। इसलिये वस्तुतः वायु शून्य (Airtight) डब्बों व कांच के बर्तनों में सूखे पदार्थों को रख कर और रेफ्रीजिरेटर में पके हुए गीले भोजन को रख कर

यद्यपि वस्तुओं की उपरोक्त मर्यादा एक सीमा तक बढ़ाई जा सकती है, परन्तु प्रमाद व शिथिलता से अपनी रक्षा करने के लिए आगम कथित मर्यादाओं को स्वीकार किये रखना ही योग्य है। क्योंकि अधिक मर्यादा को तो कम करके ग्रहण करने में कोई दोष नहीं आता, परन्तु यदि कदाचित् अपने अनुमान से काम लेकर छद्मस्थता के कारण यथार्थ मर्यादा से कुछ अधिक ग्रहण कर ली गई तो भोजन शुद्धि बनी न रह सकेगी, और एक महान दोष का प्रसंग आयेगा। अतः उपरोक्त आगम कथित मर्यादायें ही स्वीकार करनी चाहियें।

(ग) भोजन शुद्धि व चौका विधान

अजमेर—दिनांक २७ अगस्त १९६०

प्रवचन नं० ६५

१२ मन वचन काय व आहार शुद्धि

अत्यन्त पवित्र शान्ति का भोग करने के लिए बाह्य में भी शुद्ध ही भोजन का ग्रहण आवश्यक है। भोजन शुद्धि के सम्बन्ध मे अनेकों बाते सिद्धान्त रूप से तो पहले प्रकरणों में समझा दी गई। आओ अब उनका प्रयोग अपनी चर्या मे करके देखें। किस रूप में वह हमारी चर्या में हमको सहायता दे सकती है।

भोजन शुद्धि के सम्बन्ध में चार बातें मुख्यतः विचारनीय हैं। (१) मन शुद्धि, (२) वचन शुद्धि, (३) काय शुद्धि, (४) आहार शुद्धि। इन चार शुद्धियों को मुख से उच्चारण करना तो हम सब जानते है और किसी भी त्यागी या सन्यासी को भोजन कराते समय "मन शुद्ध, वचन शुद्ध, काय शुद्ध, आहार जल शुद्ध है, ग्रहण कीजिए," इस प्रकार के मन्त्रोच्चारण करने की रूढ़ि को पूरा करना तो हम कभी भी भूलते नहीं, और वह अतिथि भी आपके यह शब्द सुनकर सन्तुष्ट हो जाता है। पर न तो आप और न वह यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि यह मन्त्र वचनों तक ही समाप्त हो गया है, या चर्या में भी कुछ आया है। प्रभो ! कुछ विवेक धारण कीजिये, रूढ़ि मात्र कार्यकारी नहीं, जीवन के कल्याण का प्रश्न है, बड़ा महत्वशाली है। शान्ति का सौदा करने चले हैं, पद पद पर बाधा हैं, सबसे सुरक्षित रहना है, अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। यह चारों बात वचनों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहियें, बल्कि जीवन में उतरनी चाहियें। आओ इन चारों का अर्थ बताये, उसे समझ कर चर्या में लाने का प्रयत्न करना।

मन-शुद्धि कहना तभी सार्थक है जब कि आपके मन में उस अतिथि के प्रति भक्ति हो। आप दण्ड समझ कर भोजन न दे रहे हों, बल्कि अपना सौभाग्य समझ कर, अपने को धन्य मान कर दे रहे हों। यदि कदाचित् मन में ऐसा विचार आ जाये कि मैं इसको भोजन दे कर इस पर कोई एहसान कर रहा हूं, या ऐसा विचार आ जाए कि किसी प्रकार यह बला थोड़ा घना खा कर जल्दी से टल जाए तो अच्छा, तो आपका मन शुद्ध नहीं है, अशुद्ध है। आपके मन की यह अशुद्धता वास्तव मे भोजन में विष घोल देती है। उससे प्रभावित आपका भोजन शुद्ध नहीं अशुद्ध है, जैसे लोकोक्ति है कि 'थाली परोसी पर उसमें थूक कर।'

वचन-शुद्धि कहना तभी सार्थक है जब कि उस अतिथि के प्रति आपके मुख से अत्यन्त मिष्ट भक्तिपूर्ण ही शब्द निकलें। आपकी भाषा से प्रेम टपकता हो, दण्ड या क्रोध नहीं। केवल अतिथि के प्रति ही नहीं बल्कि किसी भी अन्य घर वाले के प्रति या चौके में रहने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति झुंझलाहट के या उतावल के शब्द 'जल्दी कर, जल्दी परोस, पानी ला' इत्यादि नहीं निकलने चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः घबरा कर उस व्यक्ति से कोई ऐसा कार्य जल्दी में बन बैठे जिससे कि अतिथि को भोजन छोड़ देना पड़े। धैर्य सन्तोष व शान्ति की अत्यन्त मन्द भाषा ही योग्य है, अन्यथा भोजन अशुद्ध हो जायेगा।

काय-शुद्धि कहना भी तभी सार्थक है जब कि आपने शरीर को भली भाँति रगड़, धो व पोंछकर इस पर से मैल उतार कर इसे स्वच्छ व पवित्र कर लिया हो। इसमें कहीं भी किसी प्रकार की ग्लानि का भाव जैसे कोई घाव, फोड़ा, फुन्सी, मैल, मल, मूत्रादि का स्रवन विद्यमान न हो। इसके अतिरिक्त आपके शरीर पर नीचे के वस्त्र (Under Wear) या ऊपर के वस्त्र सब ही स्वच्छ व पवित्र हों। नीचे के वस्त्र (कच्छा बनियान आदि) तो मैले हों और ऊपर के (धोती आदि) स्वच्छ, ऐसा नहीं करना चाहिए। वस्त्र साबुन से धुले हुए बिलकुल सफेद होने चाहिए। इसके अतिरिक्त चौके में घुसने से पहले पाँव को बहुत अच्छी तरह ऐड़ी से पञ्जे तक रगड़ कर काफी पानी में धो लेना चाहिए, ताकि पांव के तलवे पर कुछ भी लगा न रह जाये। पांव का तलवा अत्यन्त निकृष्ट स्थान है यह ध्यान रखना चाहिए। एक आध चुल्लु मात्र पावों के ऊपर डाल कर पांवों धोने की रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं। चौके में प्रवेश करते ही पहले हाथों को अच्छी तरह रगड़ कर तीन बार धोना चाहिये। स्नान करने व स्वच्छ वस्त्र पहनने के पश्चात् यह सावधानी रखनी चाहिए कि आपका शरीर या आपका वस्त्र घर के किसी भी अन्य पदार्थ वस्त्र पर्दा, चिक, चादर, मेजपोश व दीवार व किवाड़ आदि से छू ने न पाए। छू आ छूत के इस विवेक का प्रयोजन वास्तव में व्यक्तिगत घृणा नहीं बल्कि बैक्टरिया के प्रति सुरक्षा का भाव है। यदि व्यक्तिगत घृणा को अवकाश दिया तो मन शुद्धि बाधित हो जाएगी, यह ध्यान रहे। इस प्रकार सारी बाते चर्या मे आने पर ही काय शुद्धि कही जा सकती है, अन्यथा नहीं।

आहार-शुद्धि के अन्तर्गत चार बातें आती हैं। आहर शुद्धि कहना तभी सार्थक है जब कि यह चार बातें पूर्ण रीति से चर्या में आ चुकी हों। वह चार बातें हैं—(१) द्रव्य शुद्धि (२) क्षेत्र शुद्धि (३) काल शुद्धि (४) भाव शुद्धि। इन चारों की व्याख्या ही अब क्रम से की जाती है उन्हें धारण करने का प्रयत्न करना।

१३, द्रव्य क्षेत्र काल व भाव शुद्धि

(१) द्रव्य शुद्धि का अर्थ है प्रत्येक उस पदार्थ की अर्थात् भोज्य पदार्थ की शुद्धि जो कि भोजन बनाने के लिए प्रयोग में आ रहे हों। मुख्यतः निम्न पदार्थों की शुद्धि द्रव्य शुद्धि में सम्मिलित है :—

१—अन्न शुद्धि। २—जल शुद्धि। ३—दुग्ध शुद्धि। ४—घृत व तेल शुद्धि। ५—खाण्ड शुद्धि। ६—बनस्पति शुद्धि। ७—ईंधन शुद्धि।

१. अन्न शुद्धि में आते हैं गेहूँ, चावल दाल मसाले व सूखे मेवा आदि। इन सर्व पदार्थों

को भली भांति सूर्य प्रकाश में बीन कर इनमें से निकली जीव राशि को सुरक्षित रूप से किसी कोने में क्षेपण करें, मार्ग में नहीं। मार्ग में ही उन्हें छोड़ देना महान अनर्थ है क्योंकि वहां वे बेचारे पांव के नीचे आकर रौंदे जाते हैं। फिर इनको स्वच्छ जल में धोलें, ताकि इन पर लगा गोबर मल मूत्रादि का अंश, अथवा इनके ऊपर विद्यमान बैक्टेरिया को साफ किया जा सके। धोकर इन्हें धूप में सुखा लें, बिना धुले अन्न, मसाले आदि का प्रयोग योग्य नहीं है। चावल व दाल को हाथ की हाथ धोकर रांधा जाता है, इसलिए इनको पहले से धोकर सुखाने की आवश्यकता नहीं। गेहूँ आदि को सूख जाने के पश्चात् हाथ की चक्की में पीस लें। पीसने से पहले चक्की को अच्छी तरह झाड़ लें ताकि उसमें कोई क्षुद्र जीव रहने न पावे। चक्की पोंछने के लिए तथा चक्की में से आटा निकालने के लिए जो कपड़े प्रयोग में लाये जावें वे धुले हुए स्वच्छ होने चाहिएं, मैले नहीं। आटा सूर्य के प्रकाश में स्वच्छ वस्त्र पहन कर व हाथों को धो पोंछ कर पीसना चाहिए। पिसा हुआ आटा बन्द डब्बे में, यदि हो सके तो शीशे के जार में रखना चाहिये, ताकि बाहर की नमी को वह खेंचने न पावे। इसी प्रकार मसाले को भी धो सुखा कर सफाई से कूट पीस कर रख लेना चाहिए। नमक को भोजन बनाते समय हाथ की हाथ ही पीसना योग्य है, क्योंकि उसकी मर्यादा बहुत ही अल्प है। मेवा में मुनक्का आदि प्रयोग में लानी है तो सावधानी पूर्वक उसके बीज निकाल देने चाहियें, क्योंकि बीज को ग्रहण करने में कुछ दोष आता है। पदार्थ रखने के डब्बे ऐसे होने चाहियें जिसमें चींटी आदि का प्रवेश न हो सके। बिना धुले अन्न को भी शोध कर उसमें कोई ऐसा पदार्थ डाल कर रखना चाहिए जिससे कि आगे उसमें जीव राशि उत्पन्न न होने पावे– मिट्टी में पारा मिला कर उसकी टिकिया बना लें, और प्रत्येक छोटे बड़े डब्बों में यथा योग्य रूप से उन्हें डाल दें, तो इस प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

२. अब लीजिये जल शुद्धि। जल शुद्धि में दो बातें आती हैं। एक जल को छानना तथा दूसरी जल में से निकले जीवों की रक्षार्थ जिवानी करना। जल छानने में छलने सम्बन्धी विवेक अत्यन्त आवश्यक है—छलना १० गिरह चौड़ा और १। (सवा) गज लम्बा होना चाहिए ताकि दूहरा होकर वह १० गिरह चौकोर बन जाये। छोटा सा कपड़े का कोई टुकड़ा छलना नहीं कहलाता, रूमाल या पहना हुआ कपड़ा धोती आदि छलनें के रूप में प्रयोग नहीं करना चाहिये। छलना केवल जल छाननें के काम के लिये अलग ही रखना चाहिये। यह मील के सूत का नहीं होना चाहिए, बलिक हाथ के कते सूत का ही होना चाहिये, क्योंकि हाथ का कता सूत रूएं वाला होता है, मील का नहीं होता। छलना मोटे खद्दर का होना चाहिये, पतले कपड़े का नहीं, खादी भण्डार से इस प्रकार का हाथ का बुना मोटा खद्दर उपलब्ध हो सकता है। छलना अत्यन्त स्वच्छ होना चाहिये, मैला नहीं और इसीलिये प्रत्येक तीसरे चौथे दिन उसको साबुन सोडे से धोना आवश्यक है। छलने को जल छाननें के पश्चात् तुरत ही सुखाना चाहिये, क्योंकि अधिक देर गीला रहने से उसमें बैक्टेरिया की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिए ऐसे गीले पड़े छलने में से छने हुए जल के ऊपर कुछ झाग से तैरते हुए देखे जाते हैं। कोरपान वाला कपड़ा छलने के रूप में या चौके के किसी भी काम में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि मील की कोर पान में अन्न या चर्बी होने के कारण वह अशुद्ध है। साधारण रीति से घर पर धोकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये, धोबी के यहां दो भट्टियों पर जब तक वह न धुल जाए तब तक प्रयोग में लानें योग्य नहीं होता तथा धोबी का धुला प्रत्येक कपड़ा भी बिना अपनें हाथ से घर पर धोए प्रयोग में लाना नहीं चाहिए। जिवानी करने में भी इतनी सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि जिवानी का पानी भूमि या

कुएं की दीवार आदि पर न पड़े, बल्कि सीधा कुएं के पानी में पड़े।

३. दुग्ध शुद्धि के सम्बन्ध में आवश्यक तो यह है कि पशु को भली प्रकार स्नान कराके दुहा जाये ताकि उसके शरीर पर लगी धूल व गोबर आदि से निकलकर बैक्टेरिया दूध में प्रवेश न कर सकें। इसी प्रकार दुहने वाले को भी स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहन लेने चाहियें। बर्तन भी चमकदार व स्वच्छ मंजा हुआ होना चाहिए। दुहने से पहले हाथ व थन अच्छी तरह धो लेने चाहियें, ताकि बर्तन, कपड़े व हाथों से भी बैक्टेरिया का प्रवेश दूध में न हो सके। दूध निकालते ही बर्तन को अच्छी प्रकार ढक देना चाहिये, ताकि वायुमण्डल से भी बैक्टेरिया का प्रवेश न हो सके। यह सब बातें वास्तव में वही निभा सकता है जिसके अपने घर पर पशु हो, पर आज की विकट परिस्थिति में यह सब बातें पूर्णतः निभाई जानी असम्भव हैं। इसलिए जितनी अधिक से अधिक निभानी शक्य हों निभानी चाहियें। कम से कम बर्तन अवश्य अपना ही होना चाहिए क्योंकि बाजार वालों के बर्तन स्वच्छ मंजे हुए नहीं होते। मापने का बर्तन भी अपना ही होना चाहिए। दुहने वाले के हाथ व पशु के थन कम से कम अवश्य अपने छने हुए स्वच्छ पानी से धुलवा दिये जाने चाहियें। घर ला कर उसे अवश्य दूसरे बर्तन में छान लेना चाहिए।

जल व दूध दोनों को जल्दी से जल्दी आग पर रख देना चाहिए, ताकि उनमें रहे थोड़े बहुत बैक्टेरिया भी दूर हो जायें, और उनमें उनकी सन्तान वृद्धि न होने पाये। यदि शाम तक रखना अभीष्ट है तो तीन बार उबाल दे कर दूध को अग्नि पर से उतार लेना चाहिये और जल्दी से जल्दी अधिक से अधिक ठण्डा करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि जल्दी ही प्रयोग में लाकर समाप्त कर देना हो तो ठण्डा करने की कोई आवश्यकता नहीं, आग पर ही रखा रहे तब भी कोई हर्ज नहीं। जल के सम्बन्ध में तीन विकल्प हैं— यदि छः घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग में लाकर समाप्त कर देना हो तो उसमें छानने के पश्चात् तुरत ही पिसी हुई लौंग हरडें या जीरा आदि अन्य कोई मसाला थोड़ा सा डाल देना चाहिए, ताकि जल का रङ्ग व गन्ध बदल जाए। मात्र २ या ४ साबुत लौंग डाल कर रूढ़ि पूरी करना योग्य नहीं, जल का रङ्ग व गन्ध न बदले तो डालने का कोई लाभ नहीं। यदि १२ घण्टे के अन्दर अन्दर प्रयोग में ले आना हो तो जल को इतना गरम कर लेना चाहिए जिसमें कि हाथ दिया जा सके, बहुत कम गरम करके सन्तोष नहीं करना चाहिए। यदि २४ घण्टे तक काम में लाना हो तो उसे भात उबाल गरम करना चाहिए। पीने का पानी उबाल कर ही प्रयोग में लाना योग्य है, क्योंकि खाना बनाने व भाजी आदि में डाला गया पानी तो खाना बनाने में उबल ही जाता है, पर पीने में कच्चा पानी स्वास्थ्य को कुछ बाधा पहुँचा सकता है, उबले हुए पानी के सर्व दोष दूर हो जाते हैं। दूध या जल को गरम करने के लिए ४८ मिनट की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए बल्कि जितनी जल्दी हो सके गरम करना चाहिए, क्योंकि जितनी भी जल्दी गरम हो सके उतनी कम हिंसा होती है, अधिक देर हो जाने पर बैक्टेरिया की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। जल को कुएं से लाते ही तुरत उपरोक्त तीनों विकल्पों में से कोई न कोई अवश्य पूरा करना चाहिए, उसे खाली छोड़ना योग्य नहीं।

दही जमाने के लिए जामन का व दूध के तापमान का बहुत अधिक विचार रखना चाहिए। आग के निकट रख कर दही जमाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से दही

फट जाती है व खट्टी हो जाती है। गरमी के दिनों में दही वाला बर्तन बराबर ठण्डे पानी में रखना चाहिए, और सर्दी के दिनों में उसे किसी स्वच्छ कपड़े में लपेट कर रखना चाहिए। ठण्डे पानी में रखने के लिए ऐसा करना चाहिए कि किसी मिट्टी के बड़े मुंह के बर्तन में थोड़ा पानी डाल कर उसके अन्दर दही के बर्तन को उसके किनारे से कुछ नीचे तक डुबा कर रख दें ताकि वह पानी गरम न होने पावे, ठण्डा ही बना रहे।

जामन के सम्बन्ध में बहुत विवेक की आवश्यकता है—जामन मीठी दही का ही होना चाहिए, खट्टी का नहीं, क्योंकि खट्टे जामन से दही भी खट्टी हो जाएगी। जामन फटा हुआ नहीं होना चाहिए। जामन में से दही का पानी (Whey) निचोड़ कर निकाल देना चाहिए, क्योंकि वह खट्टा होता है। जामन को दो तीन बार स्वच्छ पानी में धो लें तो और भी अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने से उसमें से रहा सहा सब खटास निकल जाता है। जामन को धोने के लिए जामन वाले बर्तन में थोड़ा जल डाल कर हिला दें, फिर जल को नितार कर निकाल दें। जामन के प्रयोग का सरल उपाय तो यह है कि कच्चे गोले के ऊपरी छिलके की कटोरी को दूध में डाल कर उसकी दही जमा दें, अगले दिन उसे निकाल कर सुखा दें। अब जब भी जामन देना हो दूध में इस कटोरी को डुबा दें और दही प्रयोग करते समय इसे निकाल कर फिर सुखा दें। परन्तु ऐसा करने के लिए यह अवश्य जानना चाहिये कि इस प्रकार एक कटोरी आधा सेर दूध को जमाने के लिए पर्याप्त है। अधिक दूध जमाने के लिए इसी हिसाब से अधिक कटोरियें डाली जानी चाहियें। नया जामन बनाने के लिए आधी छटांक दूध में थोड़ा जीरा डाल दें, तीन या चार घण्टे के पश्चात् वह जम जायेगा, इसको जामन के रूप में प्रयोग कर सकते हैं। टाटरी या अमचूर आदि से जमाना ठीक नहीं क्योंकि उससे दही फट जाती है। गरमी में जामन थोड़ा दिया जाता है, और सर्दी में अधिक, अनुमान से काम लेना होता है। अधिक देर में जमानी अभीष्ट हो तो थोड़ा जामन दिया जाता है, और थोड़ी देर में जमानी अभीष्ट हो तो अधिक।

४. घृत शुद्धि के लिए यह विवेक रखना आवश्यक है कि उपरोक्त शुद्ध दही को बिलो कर उसमें से निकला मक्खन तुरत ही आग पर रख देना चाहिये। दो तीन दिन तक रखने का तो प्रश्न ही नहीं, १० मिनट की प्रतीक्षा करनी भी योग्य नहीं, क्योंकि इसमें बैक्टेरिया की उत्पत्ति बड़े वेग से होती है। फिर भी अधिक से अधिक पौन घण्टे की मर्यादा के अन्दर अन्दर अवश्य गरम कर लेना योग्य है इससे अधिक काल बीत जाने पर वह अभक्ष्य की कोटि में चला जाता है। इस प्रकार से बने हुए घी को अष्ट पहरा घी कहते हैं। क्योंकि दूध से घी बनने तक केवल ८ पहर या २४ घण्टे ही लगे हैं। ऐसा अष्ट पहरा घी ही शुद्ध है। इसको भी बराबर प्रतिमास उबाल कर पुन: पुनः नितारते रहना चाहिए। ताकि बैक्टेरिया का बीज वहां उत्पन्न न होने पावे। आप देखेंगे कि प्रत्येक बार कुछ न कुछ छाछ अवश्य निकल जाती है।

तेल शुद्धि के लिए सरसों या तिल आदि को अपने घर पर स्वच्छ जल से धो कर सुखा लें। फिर कोल्हू को अपने स्वच्छ जल से अच्छी प्रकार धुलवा कर उसमें पीड़ दें। इस प्रकार प्राप्त किया गया तेल ही शुद्ध है।

५. खाण्ड शुद्धि के लिए चाहिए तो यह कि गन्ने का रस निकालने से पहले कोल्हू को

धोकर साफ कर लें। रस पड़ने वाला व रस पकने वाला दोनों बर्तन बाल्टी या कड़ाहा आदि धुले हुए साफ ही होने चाहियें। गन्नों को अच्छी तरह झाड़ व शोध कर कोल्हू में डालें। हाथ अच्छी तरह धोकर काम करना चाहिए। खांड खांची के द्वारा नहीं मशीन के द्वारा निकालनी चाहिए। उसे सफेद करने के लिए हाइड्रो का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि हाइड्रो हड्डियों से बनता है, खांड या बूरा को सफेद बनाने के लिए इसको बहुत प्रयोग में लाया जाता है, अब गुड़ शक्कर में भी कुछ लोग इसे लगाते हैं। परन्तु इस प्रकार की खाण्ड बनाना हर एक के लिए सम्भव नहीं। सम्भव ही बात अपनाई जा सकती है। इसलिए आज की परिस्थिति में बाजार की खाण्ड (Sugar) भी ग्रहण कर ली जा सकती है। परन्तु यह विवेक अवश्य रहना चाहिए कि वह खाण्ड गुड़ या शक्कर हाइड्रो वाली नहीं होनी चाहिए। बाजार से आई हुई खाण्ड को घर पर पुनः स्वच्छ जल में पका कर उसकी बूरा कूट लेनी चाहिए। ऐसा करने से उसकी पहली सब अशुद्धियां दूर हो जाती हैं। इस शुद्ध खाण्ड को ऐसे डब्बे में रखना चाहिए जिसमें चींटी का प्रवेश न हो सके। शीशे के जार में रखना श्रेयस्कर है।

६. बनस्पति शुद्धि में यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कोई भी बनस्पति बिनारने से पहले या चौके में प्रवेश करने से पहले अपने स्वच्छ जल से एक बार अच्छी तरह रगड़ रगड़ कर धो लें, ताकि उसके बाहर लगे अशुद्ध जल व अन्य छूआ छूत व बैक्टेरिया सम्बन्धी सर्व दोष दूर हो जायें।

७. ईंधन शुद्धि में लकड़ी को अच्छी तरह झाड़ कर प्रयोग में लाना चाहिए। बीझी लकड़ी का प्रयोग करना योग्य नहीं। आणों (गोहे) का प्रयोग चौके में नहीं होना चाहिए।

२—अब क्षेत्र शुद्धि सम्बन्धी बात चलती है। क्षेत्र शुद्धि के अन्तर्गत आपकी पाकशाला अत्यन्त स्वच्छ व साफ धुली धुलाई होनी चाहिए। वह स्थान अन्धयारा नहीं होना चाहिए। दीवारें धुएं से काली हो जायें तो चूना करा लेना चाहिए। फर्श चिकनी सीमेन्ट की हो तो अच्छा, नहीं तो गारा से लिपी हुई होनी चाहिए। लीपने में गोबर का प्रयोग करना योग्य नहीं। पाकशाला में जाले आदि लगे नहीं होने चाहियें। छत पर धुला हुआ स्वच्छ चन्दोवा बंधा रहना चाहिए। चन्दोवा इतना बड़ा हो कि चूल्हा, बर्तन व पकाने खाने व परोसने वाला सब उसके भीतर ही रहें, बाहर नहीं। चन्दोवा मैला नहीं होना चाहिये।

बर्तन सूखे मंजे होने चाहियें। खड्डे वाले बर्तनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। बर्तन खब चमकदार होने चाहियें। उन पर चिकनाई लगी रहनी नहीं चाहिए। बर्तन पोंछने का या हाथ पोंछने का या रोटियां रखने के छलने व कपड़े आदि साबुन से धुले हुए अत्यन्त स्वच्छ रहने चाहियें, तनिक भी मैले कपड़े का प्रवेश चौके में नहीं होना चाहिए। बर्तन का प्रयोग करने से पहले उसे स्वच्छ जल से एक बार धो व पोंछ लेना चाहिए। पटड़े व पंखे आदि जो भी चौके में लाये जायें धो कर ही लाए जायें। इनको चौके से बाहर ही धो लेना योग्य है, बिना धुला पंखा प्रयोग में लाना योग्य नहीं, पंखे को धो कर सुखा लेना चाहिए, गीला का गीला प्रयोग करने से भोजन में उससे उड़ने वाले पानी के छींटे पड़ने का भय है।

शुद्ध द्रव्य व अशुद्ध (उपरोक्त विवेक रहित बनाया गया) साधारण द्रव्य को साथ साथ

रखना या पकाना योग्य नहीं। घी मसाले व आटा आदि उतना ही लेना चाहिए जितना कि प्रयोग में आकर बाकी न बचे। घी मसाले आदि के पूरे के पूरे बर्तन या डब्बे भोजन बनाते समय पास में नहीं रखने चाहियें, क्योंकि ऐसा करने से सम्भवतः उनमें अन्न व नमी का अंश चला जाये, जिससे कि उनमें बैक्टेरिया की शीघ्र उत्पत्ति होने लगे। भोजन बना कर बचा हुआ घी आटा आदि पुनः मूल पदार्थ में नहीं मिलाना चाहिए, क्योंकि याद रहे कि इस बचे हुए पदार्थ में अन्न का अंश आ चुका है जो पदार्थ में पड़ कर सारे पदार्थ को बिगाड़ देगा। पृथक पृथक वस्तुओं को देगची से निकालने के लिए पृथक पृथक चमचे रखने चाहियें, एक का चमचा दूसरे में नहीं देना चाहिये।

बने हुए सब पदार्थों के बर्तन किसी चौकी पर या पाटे पर या किसी ऊंचे स्थान पर सजा कर रखने चाहिएं, ताकि इधर उधर से आया हुआ पानी उनके नीचे न जा सके। जिस स्थान पर आपका पांव आता हो वहाँ पके हुए पदार्थ का बर्तन नहीं रखना चाहिए। यदि नीचे ही बर्तन रखने पड़ें तो राख बिछा कर रखने चाहियें, ताकि उतने उतने स्थान में पांव के आने का भय न रहे। बेलन कभी पाँव पर नहीं रखना चाहिए। रोटी बेल कर उसे परात में ही रखना चाहिए। अपना हाथ भूमि से स्पर्श नहीं होने देना चाहिए, यदि हो जाये तो धोना चाहिए। इत्यादि अन्य भी अनेकों प्रकार से छूआ छूत का विवेक बनाये रखना योग्य है। मक्खियों के प्रवेश के प्रति जितनी भी सावधानी सम्भव हो करनी चाहिए। चिड़िया कबूतर आदि के प्रवेश के प्रति भी यथा सम्भव रोक थाम करनी चाहिये।

३—काल शुद्धि के अन्तर्गत चौके सम्बन्धी कोई कार्य रात को या अन्धेरे में नहीं करना चाहिए। कम से कम इतना प्राकृतिक प्रकाश अवश्य होना चाहिए कि पदार्थ स्पष्ट दिखाई दे जाये। बिजली व दीपक के प्रकाश में काम करना योग्य नहीं, क्योंकि दीपक पर आते हुए या स्वाभाविक रूप से अन्धयारे वायुमण्डल में घूमने वाले छोटे छोटे उड़ने वाले प्राणियों के भोजन में पड़ जाने की सम्भावना है।

४—भाव शुद्धि के अन्तर्गत आपके चित्त में क्रोधादि कषाय या उतावल के भाव नहीं होने चाहिएं। भक्ति व शान्ति, सौभाग्य व उल्लास रखना चाहिए। जल्दी जल्दी काम करने की दौड़-धूप में अवश्यमेव कोई ऐसी गड़बड़ बन जाती है कि अतिथि के आहार में बाधा अर्थात् अन्तराय आ जाता है। पटड़ा आदि सरका कर खेंचना नहीं चाहिये, उठाकर रखना चाहिये। क्योंकि खेंचने से जीव हिंसा होना सम्भव है।

१४ भोजन परोसना उपरोक्त सर्व प्रकार की सावधानियां बड़े विवेक पूर्वक निभानी योग्य हैं। स्थान, बर्तन व वस्त्र की स्वच्छता का विशेष विचार रखना चाहिए। भोजन परोसते समय भी सावधानी रखनी चाहियें। प्रत्येक वस्तु—दाल, भाजी, भात, दूध, पानी आदि को गौर से देख कर परोसना चाहिए, ताकि इसमें बाल, चींटी आदि कोई ऐसा पदार्थ न रह जाये जिसके थाली में चले जाने पर अतिथि को अन्तराय होने की सम्भावना हो। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए दाल व भाजी आदि को कटोरी में डालने के पश्चात्, चमचे के द्वारा ऊपर उठा उठा कर कटोरी में पुनः पुनः धीरे धीरे गिराया जाता है, ताकि उसकी पड़ने वाली धार में बाल आदि दिखाई दे जाये। खाण्ड या नमक मिर्च आदि को भी

किसी थाली आदि चौड़े बर्तन में फैला कर बीन लेना चाहिये। रोटी को परोसने से पहले उसके चार टुकड़े करके प्रत्येक टुकड़े का पुड़त उठा कर भीतर भली भाँति गौर से देखना चाहिए। रोटी तोड़ना रूढ़ि मात्र नहीं है। कभी कभी बाल रोटी में बेला जाता है और वह उस समय पता चलता है जब कि टुकड़ा मूंह में आ जाये। इसलिए रोटी को धीरे धीरे सावधानी पूर्वक देखते हुए ही तोड़ना चाहिए, ताकि यदि अन्दर बाल हो तो तोड़ते समय अटक जाये। जल्दी से व झटके से तोड़ने से तो बाल भी टूट जाता है और उसका पता लगने नहीं पाता। इसी प्रकार पुड़त उठाना भी रूढ़ि मात्र नहीं है। भीतर गौर से देखना चाहिए कि वहां कोई बाल व सुरसी आदि तो लगी नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र सावधानी रखनी योग्य है।

१५ क्रियाओं की शक्यता

यहाँ यह शंका होनी सम्भव है कि इस प्रकार की सर्व क्रियायें करना तथा बैक्टेरिया से सर्वथा बचा जाना क्या एक साधारण गृहस्थ के द्वारा शक्य भी है? ठीक है भाई! कथन पर से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि मानों एक साधक को जकड़जन्द कर दिया गया हो, तथा विकल्प जाल में उलझा कर उसे मूल तत्व से वञ्चित किया जा रहा हो, क्योंकि यह सब कुछ बिल्कुल उसी रूप में होना शक्य नहीं है, जिस प्रकार का कि रूप खेंच कर बताया गया है। परन्तु यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि सर्व ही प्रकरणों में इस बात पर जोर दिया गया है, कि 'सारा जाता देखिये तो आधा लीजिए बांट' वाली लोकोक्ति को ध्यान में रख कर चलना है, अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार जितना भी सम्भव हो सके करना कर्तव्य है। प्रमादी बनना योग्य नहीं। जिस प्रकार अध्यात्मिक सिद्धान्त बनाते समय यही बताया जाता है कि मैं तो पूर्ण शुद्ध हूँ। सम्पूर्ण विकल्प समूह से दूर उस ही में सर्वदा निवास करना योग्य है, परन्तु बिल्कुल उसके अनुरूप वर्तमान में किया जाना सम्भव नहीं। किया तो शक्ति के अनुसार हो जाता है, परन्तु जानने में उत्कृष्ट पराकाष्ठा आती है। अर्थात लक्ष्य को उत्कृष्ट ही रख कर यथा शक्ति प्रवृत्ति करना ही न्याय है। इसी प्रकार यहां भी समझना। भोजन सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म भी दोष को तथा उससे बचने के उपाय को जान कर यथा-शक्ति उससे बचने का प्रयास करते रहना ही न्याय है। यही इस अधिकार का प्रयोजन है।

अथवा आगम कथित भोजन शुद्धि सम्बन्धी सर्व ही विकल्पों की आधुनिक रीति से सार्थकता दर्शाना इस अधिकार का प्रयोजन है, जिससे कि यह सर्व आचरण कोरी रूढ़ि मात्र सा प्रतीत न हो। अथवा उन व्यक्तियों को, जो कि भोजन शुद्धि आरम्भ को वर्तमान में कर रहे हैं, उनकी क्रियाओं में कुछ त्रुटियें दर्शा कर उन्हें सावधान करना प्रयोजन है, जिससे कि इस ओर थोड़ा सा ध्यान देकर वह भोजन शुद्धि सम्बन्धी बड़े बड़े दोषों से अपनी रक्षा कर सकें। पथ के सर्व ही अंगोपांगों का जीवन में योग्य स्थान रहना चाहिए, अन्यथा प्रमाद का दोष आता है। और हम सब अप्रमत्त तो हैं ही नहीं, अतः यथाशक्ति प्रमाद को दूर करना ही कर्तव्य है।

❀ ❀

(घ) भोजन शुद्धि में दूध दही को स्थान

अजमेर—दिनांक २८ अगस्त १९६०

प्रवचन नं० ९५

१५ दूध दही की भक्ष्यता

आज दूध व दही के सम्बन्ध में एक संशय की ध्वनि चारों ओर से आती सुनाई दे रही है, जो दूध व दही को अण्डे के समान बता रही है, या सर्वथा अभक्ष्य। अतः यह विषय भी कुछ विचारनीय है।

जीव हिंसा के सम्बन्ध में विचारने से तो वास्तव में सर्व ही पदार्थ अभक्ष्य हैं। क्योंकि कोई भी पदार्थ सर्वथा बैक्टेरिया रहित नहीं है। सैद्धान्तिक रूप से देखने पर यद्यपि बनस्पति या दूध आदि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जिन में कि पहिले से बैक्टेरिया नहीं होता। पर वातावरण की शत प्रतिशत शुद्धि असम्भव होने के कारण, वहाँ से वह तुरत प्रवेश पा जाता है, इसी लिये सर्व ही पदार्थों को व्यवहार में बैक्टेरिया सहित कहा गया है। इसलिये किसी की शक्ति आज्ञा दे और वह भोजन मात्र का ही त्याग करके जीवन चला सके या साधना कर सके तो उत्तम है। पर ऐसा सम्भव नहीं है, इसलिये यह विकल्प तो उठाना ही योग्य नहीं।

दूसरा विकल्प यह है कि यदि आहार ग्रहण ही किया जावे तो ऐसा होना चाहिए जिसमें अल्प मात्र ही हिंसा हो, अधिक नहीं। इस प्रयोजन के अर्थ हीनाधिक हिंसा का माप दण्ड स्थापित करना होगा, जिसके लिए खाद्य पदार्थों को कुछ श्रेणियों में विभाजित करके देखना योग्य है।—

(१) एक श्रेणी तो उन पदार्थों की है जिसमें चलने फिरने व उड़ने वाले प्राणियों (Animal Life), जिसे हम त्रस जीव कहते हैं, का सद्भाव हो, जैसे मांस, अण्डा, शराब, शहद, अन्जीर गूलर, फूल गोभी आदि।

(२) दूसरी श्रेणी, उन पदार्थों की है जिसमें त्रस जीवों का तो नहीं पर बहुत अधिक मात्रा में (असंख्यात या अनन्त (Countless) स्थावर जीवों (Plant Life) या बैक्टेरिया का सद्भाव हो। जैसे आलू, अरवी गाजर, मूली, अदरक, कच्ची कोंपल, पुष्प आदि।

(३) तीसरी श्रेणी उन पदार्थों की है जिनमें अल्प मात्र ही अर्थात् संख्यात या (Countable) स्थावर जीवों का ही सद्भाव हो-जैसे घिया, तोरी, केला संतरा आदि बनस्पति व दूध, दही, घी आदि पशुओं से प्राप्त पदार्थ (Organic Material)।

इन तीनों में पहली दो श्रेणियां तो सर्वथा अभक्ष्य हैं क्योंकि उनके प्रयोग में अधिक हिंसा का प्रसंग आता है। नं० ३ की श्रेणी के भी दो भाग हैं। पहला बनस्पति भाग वस्तुतः दूसरे भाग से अधिक शुद्ध है—ग्लानि की अपेक्षा से भी व जीव हिंसा की अपेक्षा से भी। क्योंकि एक तो दूध में बनस्पति से अधिक बैक्टेरिया होते हैं, तथा उत्पन्न हो जाते हैं, दूसरे वह ग्लानिमयी

मांस पेशियों में पड़ी नसा जाल में से बह कर आता है। बनस्पति भाग में भी सारी बनस्पतियाँ समान हों सो नहीं। जीव हिंसा की अपेक्षा उनको भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—एक शुष्क रहने वाला अन्न और दूसरा हरित बनस्पति। इस प्रकार भक्ष्य रूप से ग्रहण किये गये कुल पदार्थों के तीन भाग हो जाते हैं।

१—अन्न, २—हरित बनस्पति, ३—दूध दही।

इन तीनों में भी यदि भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया जावे तो नं० ३ बहुत दूषित है, नं० २ उससे कम और नं० १ उससे कम। यहां दूषित से तात्पर्य सर्वथा दूषित नहीं है, बल्कि हीनाधिक हिंसा की अपेक्षा है। अब रही ग्राह्य और अग्राह्य की बात, सो व्यक्ति विशेष की शक्ति पर आधारित है। यह ध्यान रहे कि यहाँ एक मध्यम मार्ग का विचार हो रहा है जिससे कि जीवन भी बना रहे, साधना में बाधा भी न हो और जीव हिंसा भी कम से कम हो।

यदि कोई व्यक्ति केवल सूखे अन्न पर निर्वाह कर सके और उसकी साधना बाधित न हो तो अत्यन्त उत्तम है, उसको हरित व दुग्ध का त्याग कर देना चाहिए। यदि अन्न व बनस्पति से काम चला सके तो कभी भी दूध ग्रहण करना नहीं चाहिए, पर अनुभव करने पर यह प्रतीति में आता है कि इन दो पदार्थों के अतिरिक्त शरीर को कुछ चिकनाई व अन्य आवश्यक विटामिन की भी आवश्यकता है, जो दूध में मिलते हैं, बनस्पति में नहीं इसीलिए यदि अधिक काल तक दूध का प्रयोग न किया जावे तो शरीर शिथिल हो जाता है, विचारणायें बाधित हो जाती हैं, बुद्धि सोने लगती है, साधना भङ्ग हो जाती है। यह यद्यपि अपनी ही कमजोरी है पर इसी कमजोर हालत में साधना करना अभीष्ट है। इसलिए तीनों में सबसे निकृष्ट होते हुए भी दूध दही आदि के ग्रहण की आज्ञा गुरुओं ने दी है। यहां इतना विवेक अवश्य रखना चाहिये कि यह प्रयोजन वश रिश्वत देकर काम निकालने वत् है। वास्तव में तो यह दूध अग्राह्य ही है। यदि किसी की शक्ति बढ़ जाये तो सबसे पहले उसे दूध का ही त्याग करना चाहिए, बनस्पति के त्याग का नम्बर उससे पीछे आना चाहिए। समाधि मरण के प्रकरण में जो अन्न का त्याग पहले व दूध का पीछे बताया है वह दूसरी अपेक्षा से है। शारीरिक शक्ति बढ़ने की वहां अपेक्षा नहीं है, बल्कि आहार घटाने की अपेक्षा है। अन्न की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होने के कारण दूध का त्याग वहां पीछे होता है।

१६ अण्डे व दूध में महान अन्तर

यहां एक और प्रश्न होता है कि शक्ति की हीनता वश रिश्वत देने ही की बात है, तो अण्डे व मांस की रिश्वत देना भी योग्य हो जायेगा। ऐसा वास्तव में नहीं है, क्योंकि शरीर के लिए सर्व आवश्यक अङ्ग खाद्य पदार्थों की उस अन्तिम श्रेणी में विद्यमान हैं। आज का विज्ञान उसको सिद्ध करता है। दूध व घी में मांस व अण्डे से अधिक विटामिन मौजूद हैं अतएव शरीर के लिए तो मांसादि की आवश्यकता है नहीं, हाँ स्वाद के लिये हो तो हो। स्वाद के लिये किया गया ग्रहण रिश्वत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह भोग में गर्भित है। दूसरे वे पदार्थ पहले ही अधिक हिंसा के कारण अभक्ष्य बता दिये गये। साधक को भक्ष्य ही पदार्थ ग्रहण करने चाहियें। प्राण जायें तो भी अभक्ष्य का ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि उनके ग्रहण से साधना में सहायता मिलने का तो प्रश्न ही नहीं, पर बाधा अवश्य आ जाती है, जैसे कि पहले बता दिया गया कि वह तामसिक भोजन है

सात्विक नहीं। उनका प्रभाव जीवन पर बड़ा विषैला होता है अतः जीव हिंसा, साधना, व तामसिक पना इन तीनों बातों के कारण मांस व अण्डा, दूध व घी से नहीं मिलाए जा सकते।

एक प्रश्न और है कि भले ही मांस को त्रस जीव (Animal Life) की हिंसा के कारण अभक्ष्य कहलें पर अण्डा तो ऐसा नहीं है क्योंकि अण्डे भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्राण सहित और एक प्राण रहित। अर्थात् एक वह जिसमें से कि बच्चा निकल सकता है और एक वह जिसमें से बच्चा नहीं निकलता। प्राण रहित अण्डा तो भक्ष्य मानना ही चाहिए, पर प्राण सहित भी भक्ष्य ही है क्योंकि उसमें भी प्राण बहुत पीछे से आते हैं, पहले से विद्यमान नहीं होते। पहले तो केवल कुछ पीला पीला पानी सा ही होता है।

भाई! तनिक विवेक से काम लो। जिह्वा के वश में होकर ऐसी अयोग्य बात करनी युक्त नहीं। आज तो विज्ञान का युग है। आज भी तू ऐसा कह रहा है, आश्चर्य है। सूक्ष्म निरीक्षण यन्त्र (Microscope) में दोनों ही जाति के अण्डों का वह पीला सा पानी क्या देखा है कभी? यदि नहीं तो एक बार देखने का प्रयत्न कर, या मुझ पर विश्वास कर। वह पीला पीला दीखने वाला पानी वास्तव में त्रस जीवों (Animal Life) के पुञ्ज के अतिरिक्त और कुछ नहीं। भले ही इन चक्षुओं से दिखाई न दें पर यन्त्र में वह भागते दौड़ते व कृमि कृमि करते स्पष्ट दिखाई देते हैं। वह भी एक दो नहीं होते, असंख्यात (Countless) होते हैं। अण्डे में प्राणी पीछे से आता हो, सो भी बात नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो अंडा कभी बड़ा न हो पाता। तात्पर्य यह है कि दूध व अंडे में आकाश पाताल का अन्तर है।

दूध यद्यपि नसों में से आता अवश्य है पर उसमें पाए जाने वाले बैक्टेरिया त्रस नहीं हैं, बनस्पति काय के (Plant Life) हैं। यह मैं अपनी तरफ से कह रहा हूँ ऐसा नहीं है। सूक्ष्म प्राणी विज्ञान (Biology Science) ऐसा कहती है। दूसरे वह भी संख्यात मात्र ही होते हैं, असंख्यात नहीं। इसलिए अंडा तामसिक है, और दूध सात्विक। दही जमाने के लिए भी यद्यपि जान बूझ कर दूध में जामन के द्वारा कुछ बैक्टेरिया विशेष प्रवेश करा कर उसमें उनकी सन्तान वृद्धि कराई जाती है, पर फिर भी वह भक्ष्य है, क्योंकि उनकी संख्या संख्यात मात्र को उलंघन कर नहीं पाती। फिर भी दूध की अपेक्षा दही में बैक्टेरिया अधिक होते हैं, यह सत्य है। और इसलिए दूध की अपेक्षा दही त्याज्य है। पर घी बनाने के लिए दही जमाना आवश्यक है इसलिए उनका ग्रहण किया गया है। आजकल मशीन के द्वारा दही जमाये बिना ही क्रीम बना कर घी निकाला जाये तो, दही वाले घी की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। परन्तु उसकी मर्यादा कम होती है। क्योंकि दो महीने के पीछे ही उस में विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है। अतः उस घी को अधिक समय तक रखना योग्य नहीं है।

दूध बछड़े का भाग होने के कारण भी अग्राह्य हो ऐसा नहीं है, या उसमें चोरी का दूषण आता हो सो भी नहीं है। क्योंकि पहली बात तो यह कि सारा का सारा दूध बछड़ा पी नहीं सकता, यदि पीवे तो पेट अफर जावे। दूसरे यह कि जब तक दांत नहीं निकलते तब तक तो अवश्य दूध उसका भाग है पर दांत निकलने के पश्चात् भूसा व अन्न भी साथ साथ दिया जाना चाहिए। दांत प्राकृतिक

चिन्ह हैं, इस बात के कि उसे अब भूसे आदि की आवश्यकता पड़ गई है। इसलिए जितना अन्न या भूसा उसे दे रहे हैं उतना दूध आप ले लें तो चोरी का दोष नहीं लग सकेगा। तीसरे आप मुफ्त में दूध लेले हो सो भी बात नहीं। आप गाय व उसकी सन्तान को सुरक्षा देते हैं, उसकी आवश्यकताओं का भार अपने सर पर लेते हैं। इसलिए गाय अपना सर्वस्व आप को स्वयं प्रसन्नता पूर्वक अर्पण कर रही है, तभी तो सन्ध्या को जंगल से स्वयं आपके घर पर लौट आती है, अन्यत्र नहीं जाती अर्थात् उसने स्वयं आपकी सुरक्षा के बदले में अपना दूध प्रसन्नता पूर्वक आपको देना स्वीकार किया है। बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि प्रसन्नता पूर्वक किसी अन्य की कन्या, विवाह के पश्चात्, इस निश्चय के आधार पर कि आप उसकी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, अपना सर्वस्व आपको अर्पण कर देती है। जिस प्रकार उसके भोगने में चोरी नहीं, इसी प्रकार गाय का दूध लेने में चोरी नहीं। पर इतना विवेक अवश्य रखना चाहिए कि बछड़े को पेट भर भोजन दिया जाए तथा जितनी उसे आवश्यकता है उतना दूध भी। दांत निकलने से पहले आधा और पीछे चौथाई दूध बछड़े को दिया जाना पर्याप्त है।

ईशरी—दिनांक ३० जनवरी १९६२

प्रवचन नं० ९७

१७ मांस व अण्डे की अभक्ष्यता

यहां तक तो दूध और दही आदि की बात हुई, पर अब दूसरी ओर भी देख, उस दिशा में जिस दिशा में कि तुझे कुछ स्वार्थ वश और कुछ जिव्हा के दासत्व वश यह भी दिखाई नहीं देता, कि जिस वस्तु की तू वकालत कर रहा है, वह आखिर है क्या, तथा उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है ? कौन नहीं जानता कि मांस के उन लाल लाल टुकड़ों में किसी निरपराध बेजबान की आहें छिपी पड़ी हैं। यदि स्वार्थ ने तुझे इतना अन्धा बना दिया है तो आ मेरे साथ, मैं दिखाता हूं तुझे उसका रूप।

देख सामने उस व्यक्ति को जो उस बकरी का कान पकड़ कर खेंचता हुआ उसे जबरदस्ती किसी ओर ले जा रहा है, और वह बकरी बराबर पीछे की ओर हटने को जोर लगा रही है, मानो वह किसी मूल्य पर भी उस के साथ जाने को तैयार नहीं। कल भी यही बकरी देखी थी, जब कि यह इसी व्यक्ति के साथ प्रेम पूर्वक खेल रही थी, तथा स्वयं इसके पीछे २ भागी चली जा रही थी। आज क्या विशेषता है ? चलो इससे पूछें तो सही। अरे पूछें किससे, उसका करुण क्रन्दन स्वयं बता रहा है, कि वह तुझ से रक्षा की भिक्षा माँग रही है। अरे ! एक बार उसकी आंखों में आंखें डाल कर देख तो सही, क्या कह रही है वह तुझ से। अश्रु पूर्ण उन आँखों में छिपा हुआ है भय व न्याय की दुहाई तथा करुणा की पुकार—, "भो पथिक ! तू बाल बच्चों वाला है, और मैं भी बाल बच्चों वाली हूं। तेरे बच्चे को एक सूई भी चुभे तो तू बेकल हो जाता है, पर आश्चर्य है कि तू मेरी ओर आंख उठा कर भी नहीं देखता। अरे देख, आगे आगे वह मेरे दोनों बच्चे खिंचे जा रहे हैं, वह मां मां पुकार रहे हैं। ओ क्रूर मानव ! दया कर, दया कर, ईश्वर से डर। अरे पथिक तेरी आँखों के सामने तेरे बच्चों को कत्ल कर दिया जाये तो क्या गुज़रेगी तेरे हृदय पर ? मैं बेज़बान हूँ, कौन

सुनें मेरी पुकार। अरे मानव ! इस से पहिले कि मैं अपने जिगर के टुकड़ों को लहू में नहाता देखूं, तू मेरी आंखें फोड़ दे।"

"अरे विधाता ! क्या कोई नहीं है यहां मेरी सुनने वाला ? क्या तू भी सो गया है, लोग कहते हैं कि तू सर्वत्र है, लोग कहते हैं कि तू सब का प्रतिपालक है, पर कहां है तू, कहां गई तेरी प्रतिपालकता ? अरे मानव ! तेरे बच्चे से कितना भी बड़ा अपराध हो जाये तब तो तू बड़े बड़े न्यायालयों में उसका न्याय कराके उसे छुड़वा देता है, पर मेरी ओर नहीं देखता। बता तो क्या अपराध किया है मैंने, जिसका दण्ड कि मुझे यह मिल रहा है ? आज मेरे बच्चों को मेरी आंखों के सामने बध किया जायेगा और फिर......... । निरअपराधी पर इतना बड़ा जुल्म होता हुआ तू किन आंखों से देख रहा है। मैं तो मानती हूं कि तू अन्धा है।"

"अरे मानव ! मैं गिड़गिड़ाती हूं मिन्नत करती हूं, तू मेरे बच्चों को छोड़ दे, उन के मुख से निकली हुई 'माँ' की पुकार मैं कैसे सुनूं ? अरे बेटा ! तू जिस 'मां' को पुकार रहा है वह स्वयं दुष्टों के हाथ में पड़ी है। जहां रक्षक ही भक्षक है वहां पुकार किसको सुनायें ? खेत ही बाड़ को खाने लगे तो उसकी रक्षा कौन करे ? राजा तो ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता है, पर स्वार्थ के गहन अन्धकार में आज वह भी अपना कर्तव्य भूल गया है। किस से करें रक्षा की प्रार्थना, किस के द्वार पर करें न्याय की दुहाई ?"

"हिरनी का रुदन देख कर राजा सुगुप्तगनि ने जीवन पर्यंत शिकार खेलना छोड़ दिया। उस के पास तो हृदय था, और इसी लिये उसे सारे जीवन उस हिरनी की छल छलाई आंखें चारों ओर दिखाई देती रहीं, मानों उस से पुकार कर रही हों कि तू मनुष्यों का ही नहीं हमारा भी राजा है। तू ही अन्याय करेगा तो न्याय किससे करायेंगे ? परन्तु बेटा ! आज के मानव के पास हृदय है ही कहां ? अतः तेरा चीखना पुकारना बेकार है। मनुष्य तो मनुष्य ईश्वर भी गहरी निद्रा में सो गया है। चुप रह, चुप रह, मानव की इस चार अंगुल की जिव्हा के लिए तू चुप चाप अपना बलिदान करदे, और ले मैं भी आ रही हूँ पीछे पीछे।"

"और, यह क्या ? हाय हाय विधाता ! क्या इतना क्रूर हो गया है मानव ? माँ, मां माँ,......... ? बस बस अब नहीं देखा जाता। चल मित्र चल, यहां से जल्दी निकल चल, मेरा सर चकराता है।" क्यों घबरा गया इतने में ही ? जरा आंखें खोल, देख उस ओर, पृथ्वी पर पड़ा उसका धड़ किस प्रकार तड़प रहा है, और दूसरी ओर देख उस व्यक्ति को जो रक्त टपकती वह तलवार लिए मानों अपनी विजय पर फूल रहा है। उस बेजबान के निश्चेष्ट मुख की ओर अट्टहास करता हुआ वह कह रहा है, कि देखो मेरी वीरता ?

ओ निर्दयी मानव ! उस से जवाब मांगता है ? मुझ से मांग इसका जवाब। और मैं मांगूंगा तुझ से इसका जवाब, उस दिन जब कि तेरी भी यही दशा होगी, यमराज के हाथों ; मैं मांगूंगा तुझ से इसका जवाब उस दिन, जब कि सन् १९४७ की भाँति तेरे बच्चों की भी यही हालत होगी। डर डर, ओ क्रूर मानव डर, इस बच्चे से नहीं तो उस दिन से डर। जिव्हा ही सर्वस्व नहीं है।

मछली भी मांस से पृथक नहीं की जा सकती। पहले मेरी आंखों से देख उस ओर उस मछली को जो कि उस कान्टे में फंसी पृथ्वी पर पड़ी तड़प रही है देख उसकी आंखों की ओर और पढ़ने का प्रयत्न कर, कि मूक भाषा में ही वह तुझ से दया की भीख मांग रही है। ओ मानव ! अपनी इस जिव्हा के पोषण के स्वार्थ में अन्धा हो जाने के कारण तुझे कैसे दिखाई दे उस के हृदय की तड़फन और कैसे सुनाई दे उसकी यह मूक भाषा ?

जङ्गल में विचरण करने वाले, तण भोजी इन सुन्दर सुन्दर पशुओं व पक्षियों को, उन की माता की गोद से छीन कर, जिन अपने निर्दयी हाथों से, तू उनको गोली का निशाना बनाता है, तथा उनके कलेजे को विदारण करता है, काश कि एक बार उन्ही हाथों को अपने तथा अपनी सन्तान के कलेजे पर रख कर उस धड़कन का अनुमान लगाने का प्रयत्न करता, जो पद पद पर तुझे इस दुष्कृत से बाज़ रखने के लिए उपदेश दे रही है, कि भो आज के निर्दयी मानव ! मानवता संहार में नहीं प्यार में है।

प्रभु के नाम लेने की पवित्र प्रभात बेला में कोई तो अपने जीवन को पवित्र बना रहा है, और कोई लहू में हाथ रंग कर उसे धरातल को पहुंचा रहा है। कोई तो अपने बच्चों को गोद में खिला रहा है, और कोई इन बेज़बान बच्चों को माता की गोद से छीने जा रहा है। कोई तो अपने बच्चों को चूम चूम कर अपने हृदय को ठण्डा कर रहा है और कोई तलवार की तीखी धार को इन बच्चों के रक्त से रंग कर माताओं के हृदय में संताप उपजा रहा है। कोई तो अपने बच्चों के मस्तक पर काला तिलक लगा रहा है कि कहीं नज़र न लग जाए और कोई इन बच्चों को तलवार के घाट उतार रहा है।

अण्डों को मुर्गी के नीचे से हटा कर, एक बार उसकी आंखों में झांक कर भी देखले प्रभु ! कि वह क्या कह रही है तुझ से। जगत का रक्षक बन कर आने वाले ओ निर्दयी मानव ! जिसे तू सफ़ेद २ पत्थर का टुकड़ा समझ कर उठाए लिये जा रहा है, वह मेरे जिगर का टुकड़ा है। प्रसूति-ग्रह में से ही तुरत जन्मे बालक को उसकी माता से दूर कर देने पर वह माता कितनी तड़फेगी इस बात का अनुमान लगा ले। इस सफ़ेद पत्थर में मेरी आशायें पड़ी हैं, इस में वह छोटा सा कोमल हृदय पड़ा है जिसे १५ दिन तक मैंने गर्भ में रख कर पाला है—दया कर, दया कर।

इतनी ही नहीं, इधर आ और भी कुछ दिखाता हूं। देख सामने खड़ी इस गाय को किस बेदर्दी से, भीगी हुई छड़ियों से पीट रहा है। जानता है क्यों ? इस के चमड़े को नरम बनाने के लिये ताकि सुन्दर क्रोम के रूप में तेरे पांव की शोभा को बढ़ाए। देख इस ओर, उस गाय का पेट चीर कर उसके गर्भ में से उस के जीवित बालक को निकाला जा रहा है। जानता है क्यों ? इस बालक के नरम नरम चमड़े से तेरे लिये मनी बैग बनाई जायेगी। देख इस ओर, कितना राक्षसीय व्यवहार हो रहा है इस बेज़बान गाय के साथ। जीवित ही इसके शरीर को जलते हुए भाप के फ़व्वारों से उबाला जा रहा है। जानता है किस लिए ? ताकि फूले हुए इस के नरम चमड़े से तेरे लिये हैंड बैग तय्यार की जायें। देख वह बेचारी किस प्रकार तड़फ रही है, अरे अरे ! यह क्या ? बस प्रभो बस और न दिखा। वह देख ऊपर से लोहे के तीखे कान्टों का यह फंदा नीचे उतरा और उबाले हुए उस जीवित

चमड़े को उस के शरीर पर से उधेड़ कर, उसे अपने साथ ही लेता हुआ ऊपर चढ़ गया। जीवित गाय का लोथड़ा तड़फता रह गया। इधर देख 'फ़र' से बना यह मुलायम कोट, तथा कम्बल। क्या कुछ सुनाई देता है तुझे इस में? क्यों सुनाई दे, तेरे कानों में तो स्वार्थ के डट्टे लगे हैं। सुन इस में छिपा हुआ सैंकड़ों बेज़बान हृदयों का करुण क्रन्दन। छोटी छोटी सैंकड़ों लोमड़ियों ने बलिदान किया है अपने जीवनों का, तेरे इस एक कोट या एक कम्बल को बनाने के लिये।

कहां तक कहूं, कलेजा दहल रहा है जिस एक एक वस्तु में से मुझे चीख पुकारें सुनाई दे रही है, आश्चर्य है कि तू उन का सुख पूर्वक उपभोग करता हुआ आनन्द मना रहा है क्या सन् ४७ का नज़ारा भूल गया है। माताओं की आंखों के सामने ही मनुष्य के बच्चों को उबलते तेल के कड़ाहों में छोड़ दिया गया। क्या एक क्षण के लिए भी समर्थ है वहां रहने को? क्या तुझे आनन्द आया था उस समय? यदि नहीं? तो इन बेज़बानों के साथ वही व्यवहार करते हुए तुझे आनन्द कैसे आ रहा है?

हे भारत वासी! तू कहता है कि तुझे अपने देश से प्यार है, वह तेरी माता है। अरे! तो इसी प्रकार वह इन बेज़बानों की भी तो माता है। वे सब तेरे मां जात भाई हैं प्रभो! इन से प्यार कर। भारत पवित्र भूमि है, क्योंकि यह उन पवित्रात्मा योगी जनों की जननी है, जिन्हों ने विश्व को शान्ति का सन्देश सुनाया था। यदि तुझे इस पर गर्व है तो अपने दुष्कृत्यों से इसके गौरव को कलङ्कित मत कर, इसे अपवित्र मत कर, इस का सर नीचे न झुका।

महात्मा गान्धी का पुत्र बीमार पड़ गया, डाक्टर ने मांस खाने को बताया, पर गान्धी के दृढ़ संकल्प में से एक ही उत्तर निकला—"यद्यपि शरीर की रक्षा के लिए बहुत कुछ किया जाता है तथा करना चाहिये, पर सब कुछ नहीं, मानव विवेक भी कुछ महत्व रखता है। पुत्र के प्राणों के लिये मैं विवेक बेचने को तय्यार नहीं, पुत्र ही सर्वस्व नहीं है।

मछली और अण्डे को मांस से भिन्न जाति का बताने वाले मानव! कुछ विवेक उत्पन्न कर। यदि अन्य से नहीं तो प्रकृति से डर। प्रकृति ने तुझे शाकाहारी बना कर भेजा है, मांसाहारी नहीं। इसके नियम को भंग मत कर।

देख प्रकृति की गोद में पलने वाले चित्र विचित्र प्राणियों की ओर। दो जाति के पशु दिखाई देते हैं—मांसाहारी और शाकाहारी। सिंह, बिल्ली, कुत्ता आदि मांसाहारी पशु हैं और गाय, घोड़ा, बन्दर आदि शाकाहारी पशु हैं। तू कौनसी जाति का बनना चाहता है? क्या कहा, मांसाहारी जाति का? अरे! ऐसा कहने से पहले प्रकृति से तो पूछ लिया होता। देख वह स्वयं कह रही है कि भोले मानव! तुझे मैंने शाकाहारी बना कर भेजा है, मांसाहारी नहीं। देख, मांसाहारी पशुओं के शरीर को अन्य ढंग का बनाया है, और शाकाहारी को अन्य ढंग का। मांसाहारी पशुओं के नाख़ून तीखे बनाये हैं और शाकाहारी के चपटे। मांसाहारी के दांत नुकीले बनाये हैं और शाकाहारी के चपटे। मांसाहारी के पंजे गुदगुदे बनाए हैं, और शाकाहारी के कठोर। क्योंकि उस ही प्रकार के पंजे से शिकार पर झपटना, उसी प्रकार के नख से उसे फाड़ना तथा उसी प्रकार के दांतों से उसे खाना

सम्भव है। शाकाहारी के कठोर व चपटे अवयव इस काम के लिये उपयुक्त ही नहीं हैं। यही कारण है कि शाकाहारी पशु कभी भूल कर भी मांस नहीं खाते। देख ले अब अपने शरीर के अवयवों को और निर्णय कर कि तू कौन सी जाति का पशु है।

सर्व ही वस्तुएं तेरी भोज्य नहीं हैं। प्रकृति ने तुझे अन्न, बनस्पति व दूध प्रदान किया है, उसके नियम को उल्लंघन मत कर। मछली व अण्डा भी मांस की जाति से पृथक नहीं किये जा सकते, क्योंकि वे भी बेज़बान प्राणी हैं। वे बोल नहीं सकते, इसका यह अर्थ नहीं कि उनके हृदय में तेरी भांति अरमान न हों। वे भी जीना और जीवन का आनन्द लेना चाहते हैं। तेरे पास बुद्धि बल है, जिसका होना तभी सार्थक है, जब कि तू अपनी रक्षा के साथ साथ इन बेज़बानों की रक्षा भी करे।

क्या कहा, बीमारी में खा लेने में तो कोई हर्ज नहीं है ? सो भाई ! यदि शाकाहारी पशु ऐसा कर लेते हों तो तू भी ऐसा करले, अन्यथा तो ऐसा करना प्रकृति से विरोध करना होगा। माँस मछली व अण्डा आदि ही जीवन के रक्षक नहीं हैं, अपना पुण्य व आयु जीवन के रक्षक हैं।

स्वयं अपने जीवन की घटना सुनाता हूं। २३ साल पहिले की बात है--टी० बी० हो गई, थर्ड स्टेज अर्थात् अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो गया। हड्डियों के ढांचे के अतिरिक्त कुछ न रहा। माता पिता निराश होकर मीरज इलाज कराने को ले गये। वहां अमेरिकन मिशनरी का एक बहुत बड़ा सैनिटेरियन है। उस समय भारत में केवल दो ही ऐसे सैनिटेरियन थे—मीरज में व मैदनापली में। पहुंचते ही सबसे पहली समस्या यही आई। डाक्टरों ने कहा कि मांस व अण्डा खाना पड़ेगा अन्यथा न बचोगे। परन्तु दृढ़ संकल्प से निकला हुआ एक ही उत्तर था—शरीर सर्वस्व नहीं है। यदि सदा के लिये जीवित रखने को गारंटी करते हो तो स्वीकार है अन्यथा अस्वीकार। परन्तु यह कैसे सम्भव है ? बस तो मेरे द्वारा मांस का ग्रहण भी सम्भव न समझना। माँस अण्डा तो बहुत दूर, में काड लिवर आयल भी न लूंगा, लिवर एक्स्ट्रैक्ट भी ग्रहण न करूंगा। हम तुम्हें दवाई में मिला कर दे देंगे। विश्वास करो या न करो परन्तु मैंने उन के हस्पताल की दवाई का भी त्याग कर दिया। बाज़ार से सील बन्द आई हुई दवाई का ग्रहण करता था। गर्ज़ यह कि मैंने विवेक की हर प्रकार से रक्षा की, और आज में आपके सामने स्वस्थ दशा में बैठा हूं। इतना ही नहीं, मेरे पड़ोस में चार रोगी और थे जिन से मेरा परिचय हो गया था। उन में से काठियावाड़ में सुरेन्द्रनगर का निवासी एक जैन बन्धु था। वह भी मेरी भांति माँस न खाता था। आज वह भी जीवित है, पर शेष तीन पड़ोसी जिन्हों ने डाक्टर के कहने से माँस स्वीकार कर लिया था, अब नहीं हैं। आपको यह सुन कर आश्चर्य होगा कि हम दोनों दस दस महीनों में ही अच्छे हो गये और इसे देख कर डाक्टरों को स्वयं आश्चर्य हुआ, और वे तीनों दो दो वर्ष तक बराबर हस्पताल में पड़े रहने पर भी बच न सके।

अतः भाई कुछ विवेक जागृत कर, मानवीय कर्तव्य को पहिचान, प्राकृतिक नियम को भंग न कर। दया धार, शरीर ही सर्वस्व नहीं है। दूसरों की आहों व चीत्कारों को अपनी हंसी का आधार मत बना। दूसरों की चिताओं पर अपने जीवन का प्रासाद मत खड़ा कर। अपने पेट को दूसरों के मृत शरीरों के लिये कबर न बना। प्रेम कर सब से, छोटे व बड़े से, मानव व पशु से, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपनी सन्तान से करता है।

मांस, मछली व अण्डा खाना तो दूर, उसे छूना भी योग्य नहीं, उसकी ओर देखना भी योग्य नहीं। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये पूर्वोक्त भक्ष्य पदार्थों में अर्थात् वनस्पति व दूध में तेरे लिये प्रकृति ने सर्व ही प्रमुख अंग अर्थात् विटेमिन प्रदान किये हैं। मांस अधिक बलवर्धक है, इस कल्पना को छोड़ दे, क्योंकि दोनों ही जाति के पशुओं में उत्कृष्ट बलधारी देखे जाते हैं। मांसाहारी पशुओं में सिंह और शाकाहारी पशुओं में हाथी, यह दोनों समान बलधारी हैं। अन्तर है तो इतना ही कि सिंह के बल का प्रयोग होता है केवल हिंसा की दिशा में और हाथी के बल का प्रयोग होता है देश व देश वासियों के उपयोगी कार्यों में। सिंह क्रूर है और हाथी सौम्य। सिंह भय का कारण है, और हाथी प्यार का। बता इनमें से किस की प्रकृति भाती है तुझे—सिंह की या हाथी की? यदि हाथी वत् सौम्य बनना चाहता है तो शाकाहारी बन मांसाहारी नहीं। मांस में मछली और अण्डा सम्मिलित हैं यह नहीं भूलना चाहिये। मनुष्य के लिये शाकाहार ही बलवर्धक और सौम्यता वर्धक है।

अतः भो मानव! प्रतिज्ञा कर; मेरे लिये नहीं अपने हित के लिए, अपनी संतान के हित के लिये, अपने देश के हित के लिये, कि आज से मांस, मछली व अण्डा तथा अन्य भी इसी प्रकार के पदार्थों की ओर आंख उठा कर भी न देखेगा, भले ही प्राण क्यों न जाते हों। बल वृद्धि के लिए रोग शमन के लिये भी कभी इनका ग्रहण न करेगा, क्योंकि शरीर ही सर्वस्व नहीं है, विवेक का भी कुछ मूल्य है, दया का भी जीवन में कोई स्थान है।

● मनुज प्रकृति से शाकाहारी ! ●

मनुज प्रकृति से शाकाहारी, मांस उसे अनुकूल नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल फूल नहीं हैं॥
वे जीते हैं अपने श्रम पर, होतीं उनके नहीं दुकानें।
मोती देते उन्हें न सागर, हीरे देती उन्हें न खानें॥
नहीं उन्हें है आय कहीं से, और न उनके कोष कहीं हैं।
नहीं कहीं के 'बंकर' बकरे, नहीं 'क्लर्क' खरगोश कहीं हैं॥
स्वर्णाभरण न मिलते उनको, मिलते उन्हें दुकूल[1] नहीं हैं।
अतः दुखी को और सताना, मानव के अनुकूल नहीं है॥१॥
कभी 'दिवाली' 'होली' में भी, मिलती उनको खीर नहीं है।
कभी 'ईद' औ 'क्रिसमस' में भी, मिलता उन्हें पनीर नहीं है॥
फिर भी तृण से क्षुधा शान्त कर, वे सन्तोषी खेल रहे हैं।
नंगे तन पर धूप जेठ की, ठंड पूस की झेल रहे हैं॥
इतने पर भी चले कभी वे, मानव के प्रतिकूल नहीं हैं।
अतः स्वाद हित उन्हें निगलना, मानव के अनुकूल नहीं है॥२॥
नदियों का मल खाकर खारा, पानी पी जी रहीं मछलियां।
कभी मनुज के खेतों में घुस, चरतीं वे न मटर की फलियाँ॥
अतः निहत्थी जल-कुमारियों, के घर जाकर जाल बिछाना।
छल से उन्हें बलात् पकड़ना, नंगे तन पर छुरी चलाना॥

दुराचार है, अनाचार है, यह छोटी सी भूल नहीं है।
अबलाओं पर दृष्टिपात भी, सज्जन के अनुकूल नहीं है ।।३।।

भोले मृग ये कभी स्वप्न में—भी न मनुज को देते गाली।
पहुँच मनुज की भोजन शाला, में न छीनते व्यंजन-थाली ।।
किन्तु मनुज घुस उनके घर में, सहसा गोली मार गिराता।
खा जाता है भून कलेवर, आंगन में मृग-चर्म बिछाता ।।
यह अपराध मेरु सा गुरुतर, बन सकता यह तूल[2] नहीं है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल फूल नहीं हैं ।।४।।

कभी प्रसव के लिये न चिड़ियां, खोजा करती हैं सत खण्डे।
किसी वृक्ष पर बना घोंसला, से लेती है अपने अण्डे ।।
धूल भरे उन हीरों को नर, देता तो सौगात नहीं है।
और उन्हें कर लेता भक्षण, क्या यह अनुचित बात नहीं है ।।
अण्डे उनके नन्हे मुन्ने, वंश-वृक्ष के मूल वही हैं।
वे ही उनके राजा बेटा, वे मेवा फल फूल नहीं हैं ।।५।।

मनुजों को भी कभी पकड़ने, को फिरते लङ्गूर नहीं हैं।
पाकर पास मनुज की आहट, भग जाते वे दूर कहीं हैं ।।
पर अब इन्हें पकड़ने को भी, मानव वन वन घूम रहा है।
इन्हें तड़फते मरते लख कर, वह 'अमेरिका' झूम रहा है ।।
वानर नर से कहीं बड़ा है, वह संजीवनि-मूल[3] नहीं है।
अतः मारकर मर्कट, जीना—मानव के अनुकूल नहीं है ।।६।।

क्योंकि मनुज को खत लुटाते, गेहूँ मक्का, धान चने हैं।
औ, फल देने हेतु किमिच्छक—दानी से उद्यान तने हैं ।।
अतः बना पकवान भखो तुम, फल खाकर सानन्द जियो तुम।
मेवा से लो सभी विटामिन, बल वर्द्धक घी दूध पियो तुम ।।
तुम्हें पालने में असमर्था, धरती मां की धूल नहीं है।
अतः अन्न फल मेवे रहते, माँस तुम्हें अनुकूल नहीं है ।।७।।

मित्र! मांस को तज कर उसका, उत्पादन तुम आज घटाओ।
बनो निरामिष[4], अन्न उगाने – में तुम अपना हाथ बटाओ ।।
तजो, शिकारी! ये बन्दूकें, नदियों में अब जाल न डालो।
और चला हल खेतों में तुम, अब गेहूँ की बाल निकालो ।।
शाकाहारी और अहिंसक—बनो, धर्म का मूल यही है।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल फूल नहीं हैं ।।८।।

श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश' (नागोद)

1 वस्त्र, 2 रूई सेमल के डोडों की, 3 जीवन देने वाली जड़ी बूटी, 4 मांस रहित भोजन करने वाले।

५२

:— सल्लेखना :—

अजमेर—दिनांक २६ अगस्त १९६०

प्रवचन नं० ६८

१—शान्ति के उपासक की गर्जना, २—सल्लेखना आत्म हत्या नहीं, ३—साधक व शरीर का सम्बन्ध, ४—अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन, ५—साम्यता, ६—आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर,

१ शांति के उपासक की गर्जना — अहो शान्ति के उपासक की अलौकिक घोषणा, "जीऊंगा तो शान्ति से और मरूंगा तो भी शान्ति से।" एक अंग्रेजी का उपासक कहता है 'हंसना हो तो अंग्रेजी में और रोना हो तो भी अंग्रेजी में।' इसे कहते हैं आदर्श या लक्ष्य-बिन्दु, ध्रुव संकल्प, आन्तरिक वीर्य। "लोक की बड़ी से बड़ी बाधा भी मुझे मेरे आदर्श से विचलित करने में समर्थ नहीं। अब तक स्वामी बन कर जीया हूं, आगे भी स्वामी बन कर ही जीऊंगा, एक क्षण को भी दासत्व स्वीकार करना मेरे लिये असम्भव है। शरीर जायेगा तो और मिल जायेगा, पर शान्ति गई तो फिर न मिलेगी, और यदि शरीर सदा के लिए बिदाइगी लेकर जाता है तो इससे अच्छी बात ही क्या। न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी, न शरीर रहेगा और न रहेंगे इसके सम्बन्ध के यह बचे खुचे विकल्प, जो मार्ग में आ आकर मेरी शान्ति में रोड़ा अटकाते हैं। और मुझे चाहिये ही क्या ? मैं शान्ति का उपासक बन कर निकला हूं, शरीर का नहीं, शरीर गया तो मैंने कुछ नहीं खोया, पर शान्ति गई तो मैंने सब कुछ खो दिया।"

२ सल्लेखना आत्म हत्या नहीं — लौकिक मानव बेचारा क्या समझे इस गर्जना के मूल्य को, वह तो ठहरा शरीर का उपासक। उसकी दृष्टि में तो शान्ति का कुछ मूल्य ही नहीं शरीर ही तो उसका सर्वस्व है, शरीर गया तो उसका सब कुछ चला गया। बल्कि शरीर क्या उसके लिये तो शरीर की अपेक्षा भी धन अधिक प्रिय है, धन गया तो सब कुछ गया, उसके पीछे खाना नहाना आदि सब कुछ गया, मानों पागल हो गया और अन्त में वही मृत्यु की गोद, जहां जा कर कि सब को विश्राम मिल जाता है। धन के पीछे खाना नहाना छोड़ कर या अरुचि पूर्वक जबरदस्ती थोड़ा बहुत खा कर पागलों की भांति बराबर शरीर को कृश करता हुआ एक दिन मृत्यु से आलिंगन कर लेता है, तब तो मानव उसे आत्म हत्या नहीं कहता। परन्तु जब एक शान्ति का उपासक अपनी शान्ति की रक्षा के अर्थ प्रसन्नता पूर्वक शरीर से उपेक्षा धारण करके मृत्यु का सत्कार करने जाता है तो उसे वह आत्म हत्या कह देता है। क्या कारण ? यही न, कि उसकी दृष्टि में धूल मिट्टी ही धन है शान्ति नहीं। बस उसी प्रकार शान्ति के उपासक का शान्ति ही धन है, धूल मिट्टी नहीं। जिस प्रकार तेरी धारणा तेरी ह

दृष्टि में सत्य है शान्ति के उपासक की दृष्टि में नहीं, बस उसी प्रकार उसकी धारणा भी उसकी दृष्टि में सत्य है, भले तू उसे सत्य न समझता हो। अपने सम्बन्ध में कोई भी निर्णय करने का अधिकार जब तू उसे नहीं देता, तो भला विचार तो सही कि अपनी दृष्टि के निर्णय करने का अधिकार वह तुझे क्यों देने लगा। तेरी बात लौकिक है और उसकी अलौकिक। दोनों की दिशायें एक दूसरे के विपरीत हैं। अतः भाई! उसकी इस घोषणा का मूल्य उस ही की दृष्टि से मापने का प्रयत्न कर, इसमें अपनी दृष्टि की टांग न अड़ा, यहाँ सब स्वतन्त्र हैं।

देख एक वीर योद्धा का आदर्श, यदि शत्रु देश पर चढ़ कर आए तो अपना तन मन धन सर्वस्व होम दे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये। जीऊंगा तो स्वामी बन कर, दास बन कर जीना मुझे स्वीकार नहीं, प्राण जायें तो जायें और कूद पड़ता है जान बूझ कर युद्ध की आग में, इस लिये कि या तो तेजवान बन कर निकलूंगा या भस्म हो जाऊंगा। तब तो उसकी इस साहस पूर्ण क्रिया को आत्म हत्या न कह कर वीरता कहता है। परन्तु एक शान्ति का उपासक योद्धा, अपने शान्ति देश पर शरीर की शिथिलिता के द्वारा किये गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिये जब इससे दृढ़ संकल्प पूर्वक युद्ध करने या अपना सर्वस्व अर्पण करने जाता है तब उसे आत्म हत्या की उपाधि प्रदान करता है। क्यों? इसीलिये न कि बाहर का देश तो तुझे दीखता है, उसमें तो तेरा कुछ स्वार्थ है, पर अन्तरङ्ग का शान्ति देश तुझे इष्ट नहीं है, इसी से उस का तेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।

शत्रु देश पर चढ़ आये तब कायर लोग तो भय के मारे छिपने को स्थान ढूंढने लगते हैं। रजाई में मुंह छिपा कर अपने को सुरक्षित करने का असफल प्रयास करते हैं। पर वीर जन तो ऐसे अवसरों की मानों प्रतीक्षा ही करते हों, ऐसे अवसर उनके लिये मानों सौभाग्य का सन्देश ले कर आये हों। और इसीलिये उसका मन हर्ष से फूल उठता है, साहस जागृत हो जाता है, भुजायें फड़कने लगती हैं, और बेधड़क हाथ में तलवार लेकर निकल जाता है, घर के बाहर, अपने भाग्य को आजमाने, या यों कहिये कि अपनी वीरता की परीक्षा करने, जो कि उसकी दृष्टि में सर्वस्व है। बस उसी प्रकार शरीर पर किंचित् भी बाधा या मृत्यु आई देख कर कायर व शरीर के दास लौकिक जन तो छिपने को ढूंढने लगते हैं कोई स्थान, लेने लगते हैं डाक्टर की शरण, गिड़गिड़ाने लगते हैं उसके सामने भिखारियों की भांति, कि किसी प्रकार मृत्यु से उसे बचाले। पर शान्ति का उपासक वह वीर तो मानों पहले से ही तैयार बैठा था, मृत्यु का सत्कार करने के लिये, क्योंकि लौकिक जनों की भाँति उसका विश्वास पोच न था। यही तो अन्तर है लौकिक व अलौकिक जनों में। अलौकिक वह शान्ति का पुजारी तो जानता है कि मृत्यु का ग्रास बनना ही इस शरीर का धर्म है, और शान्ति की रक्षा करना मेरा। पर लौकिक जन भले शब्दों में कुछ भी कहें परन्तु अन्तःकरण में यही विचारते रहते हैं, कि मृत्यु भले किसी अन्य को चबीना बना ले पर उसको तो नहीं बना सकती, क्योंकि उसके पास बुद्धि व धन है। भाई! एक क्षण को यह अहंकार छोड़ कर उस अलौकिक दृष्टि को पहचानने का प्रयत्न कर, जिससे कि यह तेरा संशय, जो कि सल्लेखना और समाधिमरण को आज आत्म हत्या बता रहा है, दूर हो जाये।

३ साधक व शरीर का सम्बन्ध — सल्लेखना कहते हैं सत्—लेखना अर्थात् अपने शान्ति स्वभाव को देखना या उसको ही अपना जीवन समझते हुए बखना। शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका

शरीर हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उसके लिये इस चमड़े के शरीर का क्या मूल्य ? पड़ा है तो पड़ा रहे, जावे तो जाये, पड़ा रहने से विशेष लाभ नहीं, और इसके जाने से कोई हानि नहीं। इसीलिये तो अपने जीवन काल में वह शरीर को दास बना कर रखता है, लौकिक जनों की भाँति उसका दास बन कर नहीं रहता। वह शरीर से स्पष्ट कह देता है कि, "देख भाई! तू आया है तो आ, मैं तेरे आने में कोई रोड़ा नहीं अटकाता, परन्तु एक शर्त है, कि यदि तुझे मेरे साथ रहना है तो जरा सम्भल कर रहना होगा। तेरी वह पुरानी टेव जो लौकिक जनों पर तू आज़माता है यहां न चलेगी, तेरी शक्ति यहां काम न कर सकेगी और इस अपनी घोषणा की सत्यता का उसे विश्वास दिला देता है तपश्चरणादि अनुष्ठानों के द्वारा। जब शरीर को यह विश्वास हो जाता है कि यह ठीक ही कहता है, तो कुत्ते की भांति दुम हिलाता हुआ उसका दासत्व स्वीकार कर लेता है। उसके कार्य में उसकी सहायता करता हुआ उसके साथ रहने लगता है, जिसके बदले में वह शान्ति का उपासक उसको योग्य आहार आदि के रूप में कुछ वेतन देना स्वीकार कर लेता है। पर यह बात पहले ही बता देता है कि देख भाई मैं स्पष्टतः तेरे हृदयंगम करा देना चाहता हूं, कि यह वेतन मैं तुझे उसी समय तक दूंगा जब तक कि तू मेरे काम में अर्थात् मेरी शान्ति की साधना में मेरी कुछ न कुछ थोड़ी या बहुत सहायता करता रहेगा, मैं तेरे स्वभाव से भली भांति परिचित हूँ, मैं इस बात को भूला नहीं हूं कि तू मृत्यु का पुत्र है। तू सब लौकिक प्राणियों को अपने बाहरी प्रपंच में फंसा कर अन्त में उन्हें धोखा दे जाया करता है, भले ही उसने तेरी कितनी सेवायें की हों, पर उस समय तू तोते की भाँति आंखें फिरा कर मानों सब कुछ भूल जाता है। तेरे सब वायदे वेश्या के वायदों वत् बन कर रह जाते हैं, और उसको साफ़ जवाब दे कर उसके सर्वस्व अर्थात् शान्ति का अपहरण करके उसे रोता झींकता छोड़ तू अपना रास्ता नापता दिखाई देता है। बस तो समझले कि तेरा वह दाव मुझ पर न चलेगा, तुझे वेतन उसी समय तक दूंगा जब तक कि तू मेरा दास बना मेरी कुछ सहायता करता रहेगा, जिस दिन भी तूने ज़रा आंख दिखाई कि मैं तुझे वेतन देना बन्द कर दूंगा। फिर भले ही रोना कि चीखना या जगत के जीवों की गवाही लेकर मानवी न्यायशालाओं में आत्महत्या की दुहाई देना, मैं एक न सुनूंगा। जो तुझे यह शर्त स्वीकार हो तो रह और नहीं तो अभी से जहाँ जाना है चला जा, मैं तुझे रोकूंगा नहीं।"

ऐसी निर्भीक गर्जना भला शरीर को सुनने का अभ्यास कहां? वह तो जानता है केवल दूसरे को दास बनाना। स्वयं दास बनना उसने सीखा ही कब है? पर क्या करे, इस योगी के सामने पेश पड़ती न देख दासत्व स्वीकार किये बिना और कोई चारा उसे दिखाई नहीं देता, इसलिये ही जीवन काल में, वह उस योगी की साधना में सदा सहायक रहता है। स्वाध्याय करने में, तत्व चिंतन में, आत्म ध्यान में, शान्ति के वेदन में, गुरुओं के दर्शन करने में, उनका उपदेश सुनने में, अन्य जनों के कल्याण करने की भावनाओं में व अन्य शान्ति के कार्य क्षेत्रों में वह सदा उसका, स्वामी भक्त सेवक की भांति, साथ निभाता चलता है, ताकि उस योगी को उसके प्रति कोई सन्देह न रह जाये। सम्भवतः वह सोच रहा हो कि योगी के हृदय पर अपनी सेवाओं की छाप जमा कर उसके चित्त को अपनी स्वामी भक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास दिला दे और कदाचित् ऐसा हो जाये तो एक दिन उससे उसके इस कर्तव्य का बदला चुका ले। अर्थात् मृत्यु के अन्तिम समय में उसके घर में डाका डाल कर उसका शान्ति धन चुरा कर सदा के लिये उससे विदाई ले जाये।

४ अन्तिम समय में शरीर को सम्बोधन

परन्तु शरीर की वह उपरोक्त धारणा वास्तव में भ्रम पूर्ण है। योगी सदा जागृत रहते हैं, एक क्षण को भी इसके प्रति से असावधान नहीं होते। जहां भी जरा बुढ़ापे के चिन्ह इस पर प्रगट हुए, या किसी असाध्य रोग ने इसे आ घेरा, या कुछ अन्य दुराशियों के कारण यह साधना में कुछ बाधक बनने लगा, या इस में शिथिलता आती दिखाई देने लगी, स्वाध्याय व ध्यान आदि में पूर्ववत् साथ निभाता प्रतीत न हुआ, तब ही योगी उसे वह पहले लिया वायदा याद दिला कर सम्बोधने लगता है। कि, "देख भाई! परस्पर में हुए उस वायदे के अनुसार हमारा और तेरा नाता अब टूटता है, बुरा न मानना, हमें तेरे प्रति कोई द्वेष नहीं है, बल्कि कुछ करुणा ही है, तूने इतने दिन हमारा साथ निभाया उसके लिये धन्यवाद। मैं जानता हूं कि तेरा दिल अब मुझे छोड़ कर जाने को सम्भवत: न भी हो, पर तू क्या करे, तू तो पराधीन ठेहरा। तेरा स्वामी यम का हरकारा तेरे सर पर खड़ा है, तुझे तो उसके साथ जाना ही है, क्योंकि तू उसका भोज्य है। मैं यदि उससे तेरी रक्षा करने को समर्थ होता तो अवश्य करता, पर क्या करूं यह मेरी शक्ति से बाहर है और सम्भवत: अब भी मैं तुझे वेतन देता रहता यदि इस प्रकार करने से तेरी रक्षा हो सकती होती, परन्तु यह असम्भव है। इसलिये इस अवसर पर आहार आदि देना तुझे तो कोई लाभ न पहुंचा सकेगा, पर मुझे हानि अवश्य पहुंचा देगा, क्योंकि आहारादि के विकल्प उत्पन्न कर के यदि तेरी सेवा में मैं जुट जाऊं तो मेरी ध्यानाध्ययन आदि शान्ति की साधना बाधित हुए बिना न रहे और तू तो जानता है कि शांति मुझे कितनी प्रिय है। अत: भाई! अब मुझे क्षमा करना, जीवन काल में जो दोष तेरे प्रति मुझ से बने हैं उसके लिये भी तुम मुझे क्षमा करना, और मैं भी इस अवसर पर तुम्हारे सब दोषों को क्षमा करता हूं। जाओ भाई जाओ, तुम अपने स्वामी का आश्रय लो, यही तुम्हारा कर्तव्य है और मैं अपनी निधि को सम्भाल करूं, सब को अपना अपना कर्तव्य निभाना ही योग्य है, अच्छा विदायगी।"

५ साम्यता

इस प्रकार सरलता, शान्ति व साम्यता पूर्वक शरीर पर से अपना लक्ष्य हटा कर अन्तरध्यान में लीन होने का अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्ति में खो जाता है। उसे इस समय जगत के किसी प्राणी के प्रति या किसी भी पदार्थ के प्रति, पीछी कमण्डलादि के प्रति या शास्त्र के प्रति या शरीर के प्रति न कोई राग भाव या प्रेम भाव होता है और न द्वेष भाव। शरीर से या किसी साधु से या शिष्य से या गुरु से या यदि गृहस्थी है तो कुटुम्ब से कोई भी बदला लेने की या उन्हें दु:ख देने या सताने की भावना हो, ऐसा भी नहीं है। इसलिये जिस प्रकार शरीर को सम्बोध कर शान्ति पूर्वक उससे विदाई ली उसी प्रकार कुटुम्बादि को सम्बोध कर सब को शान्ति प्रदान कर देता है उसके उस समय के मधुर सम्भाषण से किसी को भी कोई कष्ट हो यह तो सम्भव ही नहीं है, हां सबको शान्ति ही मिलती है। जिसके अन्दर में शान्ति पड़ी है वह दूसरों को भी शान्ति के अतिरिक्त और क्या दे सकेगा।

सबको इसी प्रकार सम्बोधता है, "भो मेरे साथियो! मैं तुम सब का बहुत आभारी हूं, इस जीवन में आपने मेरी बहुत सेवायें की हैं, उनके बदले में आपको देने को तो मेरे पास कुछ नहीं, हां क्षमा चाहता हूं। भाईयो! तुम्हारे हृदय में मेरे प्रति कोई राग या प्रेम भाव पड़ा है तो उसे निकाल देना, क्योंकि मिलना और बिछुड़ना इस लोक का स्वरूप ही है, सदा के लिये कौन मिल कर रहा

सकता है। सराय के पथिकों वत् यह सम्मेल था, अब इसे भुला देना, याद रखने का प्रयत्न न करना। हम कहां से आये थे, हमें स्वयं पता नहीं, अब कहां जा रहे हैं, हमें स्वयं पता नहीं। किनका साथ छोड़ कर यहां आये थे, हमें स्वयं पता नहीं, आपका साथ छोड़ कर अब किनका साथ पकड़ेंगे, यह भी पता नहीं। और आप भी यह सब कुछ नहीं जानते, इसलिये सदा साथ बने रहने की भावना का आप त्याग करो। हम शान्ति की शरण जाते हैं, प्रभु तुम्हें भी शान्ति प्रदान करें। हमारी सबके प्रति क्षमा है, हमें भी सब क्षमा करना।"

६ आत्म हत्या व सल्लेखना में अन्तर

अब तनिक विचार कर देख तो सही कि क्या अन्तर है आत्म हत्या और इस सल्लेखना में। भाई ऊपर की क्रियाओं पर से अनुमान लगाने का प्रयत्न कर, अन्दर की भावनाओं को टटोल। ऊपर से तो निःसन्देह कुछ आत्म हत्या सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दर में उतर कर देखते हैं तो आकाश पाताल का अन्तर पाते हैं। सल्लेखनागत योगी में है, सब के प्रति साम्यता और आत्महत्यागत अपराधी में है द्वेष या क्रोध की पूर्ति की भावना। योगी सबको शान्ति प्रदान करके जाता है, और अपराधी सब को दाह उपजा कर जाता है। योगी के अन्दर है शान्ति का सौम्य स्वाद, और अपराधी के अन्दर में है द्वेष की भड़कती ज्वाला, जिसमें वह स्वयं भड़ाभड़ जल रहा है। योगी के मुख मण्डल पर है मुस्कान व आशा, और अपराधी के मुख पर है क्रोध व निराशा। इसीलिए नियम से योगी के आगे आने वाला जीवन तो होता है शान्ति पूर्ण, और अपराधी का क्रोध व द्वेष पूर्ण। योगी तो आगे भी पुनः शान्ति की साधना के प्रति ही झुकता है, और अपराधी क्रोध के वश पड़ा अपराधों के प्रति ही झुकता है। योगी के आगे आगे आने वाले जीवनों में बराबर शान्ति की वृद्धि होती है और अपराधी के आगे आगे के जीवनों में क्रोध की। योगी तो अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ, प्रकाश की ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है। दो या चार जीवनों के पश्चात् ही योगी की साधना तो पूर्णता को स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह तो पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है, पर अपराधी कषाय व चिन्ताओं के सागर रूप इस संसार में सदा गोते खाता रहता है। वर्तमान के प्रत्यक्ष दीखने वाले लक्षणों में तथा अगले जीवनों के इन आने वाले लक्षणों में महान अन्तर देख लेने पर भी, क्या यह शंका बनी रह सकती है कि सल्लेखना आत्म हत्या है ? नहीं यह शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है, एक सच्चे वीर का महान पराक्रम है। इससे पहिले कि शरीर उसे जवाब दे, वह स्वयं उसे शान्ति व साम्यता पूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उस ही में लय हो जाता है। इसीलिये इसका नाम समाधिमरण भी कहने में आता है, समाधि अर्थात् निज शान्ति स्वभाव के साथ एकमेक हो कर उसमें लय हो जाना। इसे पण्डित-मरण भी कहते हैं, अर्थात् बुद्धि पूर्वक अपने हानि लाभ को देखते हुए शरीर में राग भाव को छोड़ कर उसका त्याग करना।

इस युग के एक आदर्श साधु गुरुवर १०८ आचार्य शान्ति सागर जी ने जीवन के अन्तिम दिनों में यम सल्लेखना ग्रहण कर के एक महत्वपूर्ण आदर्श उपस्थित किया है। आपने आंखों की ज्योति क्षीण होने पर ही, ठीक २ संयम न पल सकने के कारण उचित समय पर सल्लेखना ग्रहण की तथा अन्तिम समय तक अत्यन्त शान्ति पूर्वक आत्मध्यान में लीन रहते हुए इस नश्वर देह का त्याग किया। सल्लेखना के समय का यह चित्र भादों कृष्ण पक्ष वि० सं० २०१२ का है—

❀ शान्ति गीत ❀

(क्षु० जिनेन्द्र वर्णी)

मधु मादक रस पी पी चेतन, मधुर मधुर गायन हम गायें।
शान्ति सुधा के शीतल सर में, डूब डूब संगीत सुनायें ॥टेक॥

क्यों चिन्ताएं जोड़ रहा है, भार व्यर्थ का ओढ़ रहा है।
देख सम्पत्ति औरन की तू, खुद से क्यों मुख मोड़ रहा है॥
यां सब छलिया रैन बसेरा, क्यों भ्रमर बन भोर रहा है।
तू तूही है, और और है, क्यों औरन पे तू ललचाये ॥१॥

बन्दि बना औरन को अपना, बन सकता स्वाधीन न कोई।
जो छीने है पर की सम्पत, खो लेता निज वैभव वह ही॥
यह जग है प्रतिक्रिया-शाला, जैसी करनी भरनी सोई।
ओ! छोड़ सभी को निज बन्धन से, स्वराज्य पति तू भी हो जाये॥२॥

निज पर का सब भेद भुला कर, चर्चा ज्ञान विज्ञान बिसरा कर।
ललित विकृत का भाव मिटा कर, कर्म कलाप प्रपञ्च हटा कर॥
मोह क्षोभ के बन्धन कट कर, नाम रूप से पृथक छूट कर।
आ अपने में भीतर रम कर, मधुशाला रमनीक बनायें॥३॥

रस पी पी मन नाच रहा है, जग को उर में साज रहा है।
मधु मधुशाला मधुबाला खुद, भाव अभिन्न में राज रहा है॥
सब अपने में आप सभी में, अद्भुत लीला राच रहा है।
यह लीला सम-भाव मिलन की, यह लीला सब नित्य मनायें॥४॥

● ● ● ●

❀ संसार वृक्ष ❀

यह संसार वृक्ष है—इस का वर्णन पृष्ठ १७-२१ में किया गया है। संसार की जन्म मरण रूप ८४ लाख योनियों में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ यह प्राणी जब मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है तो संसार को बढ़ाने वाले विषय भोगों में लिप्त हो जाता है। तथा संसार से पार करने वाले परोपकारी सद्गुरु के सदुपदेश की भी अवहेलना करता है। और अनेक संकट सहन करता हुआ मनुष्य जन्म को खो देता है तथा मर कर चतुर्गति रूप संसार में ही भ्रमण करता रहता है—ऐसी दयनीय अवस्था है संसारी जीव की।
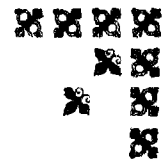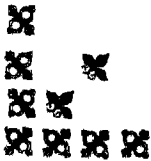
❀ तोहे राम मिलेंगे ❀

(श्री जय भगवान एडवोकेट)

हृदय के पट खोल रे। तोहे राम मिलेंगे ॥टेक॥

श्रद्धा कमल खिला मानस में
अन्तर ज्योति जगा रे
करुणा से भर जीवन अपना
मैत्री पथ अपनारे ॥१॥

राम बसे हैं तेरे उर में
ज्यों पुष्पों में गन्ध रे
ढका हुआ है माया आञ्चल
इसके पार लखा रे ॥२॥

अहं ममत हैं जीवन घातक
इन की बली चढ़ा रे
देह सम्पत ना तेरे साथी
इन से नेह हटा रे ॥३॥

जीवन लीला सारी तेरी
निज कर्मन की गति रे
देख रहा फिर क्यों बाहर में
तू अपने में लख रे ॥४॥

पाताल गगन सब ढूंढ लिया
ढूंढ लिया कण कण रे
तुझ बिन इनमें सार न कुछ भी
आ अपने ही घर रे ॥५॥

अजर अमर तू सुख का सागर
शोभा सुषमा निधि रे
निरख निरख तू अपनी महिमा
खुद में आप समा रे ॥६॥

❀ तेरी महिमा ❀

क्यों तृषायुत? क्यों चिन्तित तू? क्यों आशा हत? क्यों याचक तू? टेक॥

मधु अमृत से भरा हुआ तू
शान्ति सुधा का सागर
ज्ञान ज्योति से जगमग जगमग
आलोकों का आकर ॥१॥

जग की सारी लालिम लीला
शोभा सुषमा तुझ से
कालचक्र के युग युग की है
गौरव गाथा तुझ से ॥२॥

देव असुर नर पशु अरु पंछी
मीन मकर कृमि भौरे
अग्नि वायु जल भूमि बनस्पति
रूप विविध हैं तेरे ॥३॥

ह्रास उदय उत्कर्ष पतन के
इतिवृत्तों का कर्ता
भव्य विभूति अतुल वैभवमय
तू भविष्य का धर्ता ॥४॥

ब्रह्म ईश का वास तुही है
ऋद्धि सिद्धि का साधक
सब मूल्यों का अंकन तुझ से
सत्य असत का मापक ॥५॥

ज्ञान कला विज्ञान व दर्शन
दान अतुल हैं तेरे
धर्म कर्म और रीत नियम जग
सब कल्पन हैं तेरे ॥६॥

सत्यमहा मार्ग अरु ज्योति, तू पौरुष का धाता
पुण्य पाप सुख दुख तथ्यों का, तू है लोक विधाता ॥७॥